172

आचार्य
श्रीविजयवल्लभसूरि
स्मारक ग्रंथ

५०८

श्री महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन

५००२

श्री पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
के पुत्र पद्मकुमार द्वारा भेंट।

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि
स्मारक ग्रंथ

श्री पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
के पुत्र पद्मकुमार द्वारा भेंट।

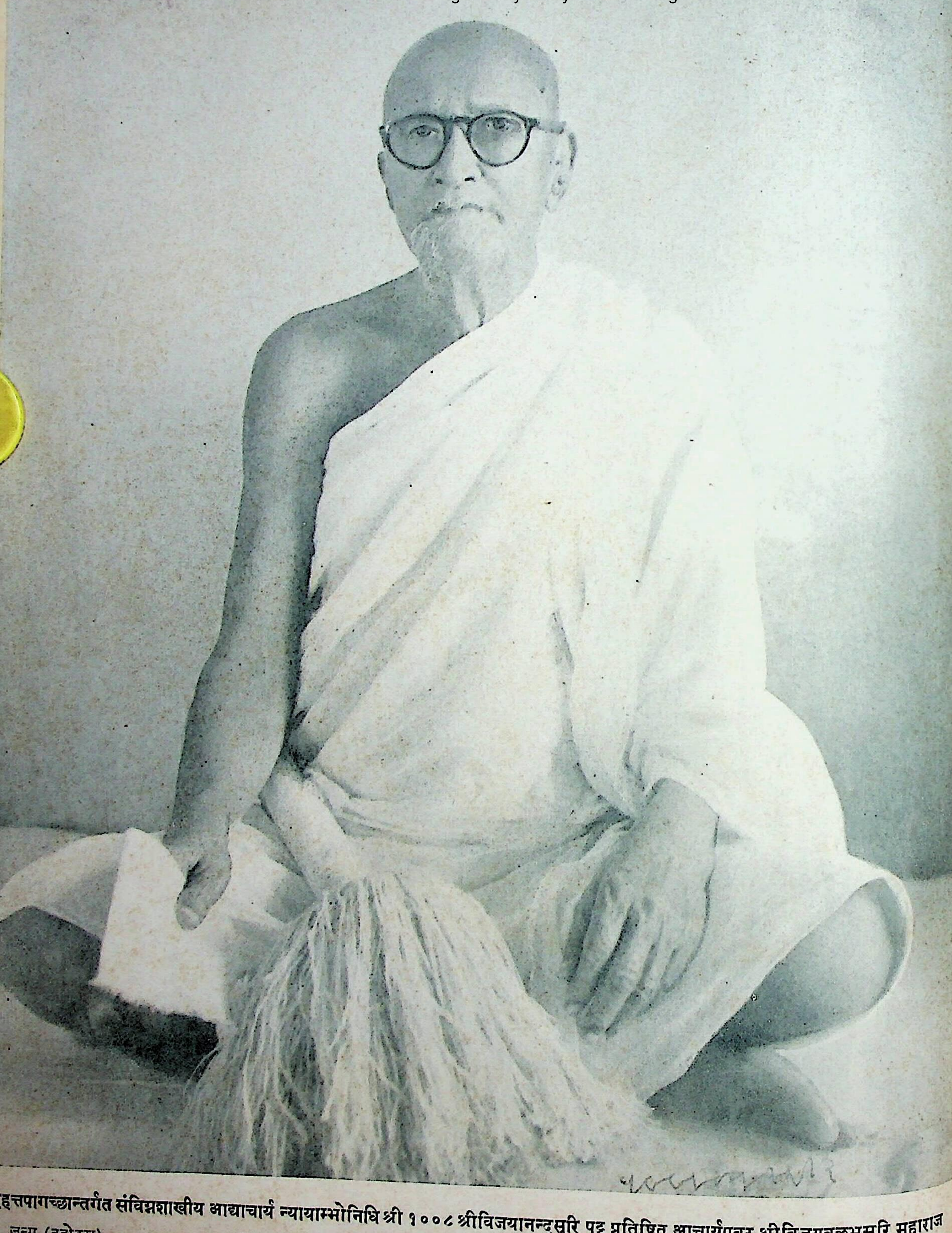

हत्तपागच्छान्तर्गत संविग्नशाखीय आद्याचार्य न्यायाम्भोनिधि श्री १००८ श्रीविजयानन्दसूरि पट्ट प्रतिष्ठित आचार्यप्रवर श्रीविजयवल्लभसूरि महाराज

जन्म (वडोदरा)
र्तक सुदि २, १९२७

दीक्षा (राधनपुर)
वैशाख सुदि १३, १९४३

आचार्यपदारोहण (लाहोर)
मागशर सुदि ५, १९८१

स्वर्गगमन मंगळवार रात्रीना २-३२ मिनिटे
भादरवा वदि १०, २०१०

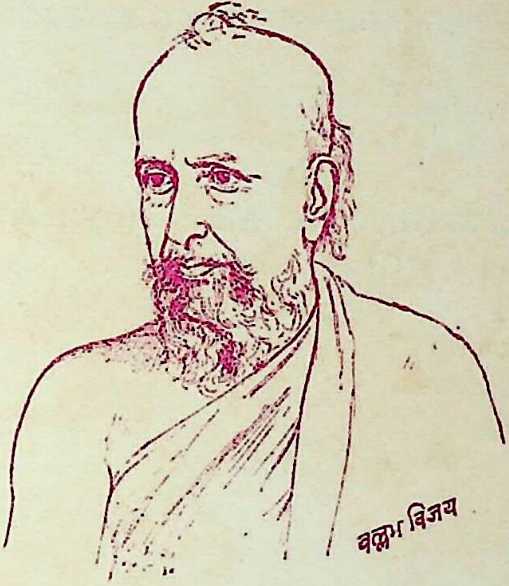

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

श्री महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन

ĀCĀRYA VIJAYAVALLABHASŪRI COMMEMORATION VOLUME

Published by
SHRI MAHAVIRA JAINA VIDYALAYA
Gowalia Tank Road
Bombay 26

1956

Price
Rupees seventeen and annas eight

Printed by V. P. Bhagwat at Mouj Printing Bureau, Khatau Wadi, Bombay 4 and Published by Shri Chandulal Sarabhai Modi and Shri Chandulal Vardhman Shah, Honorary Secretaries, Shri Mahavira Jaina Vidyalaya, Gowalia Tank Road, Bombay 26.

आमुख

जैन श्रीसंघनी विभूतिसमा ज्ञान-तपोमूर्ति जैनशासनप्रभावक सूरिप्रवर आचार्यभगवान श्रीविजयवल्लभसूरि महाराजश्रीना स्मारक ग्रंथनुं आमुख लखवुं ए महासद्भाग्यनी वात छे.

विजयवल्लभसूरि एटले—जेमणे अनेकानेक-महागुणभंडार अनुपमेय परमगुरुदेव श्रीविजयानंदसूरि गुरुनां परमपावन चरणोनी अनन्यभावे सेवा करी हती, जेमणे ए गुरुवरना अतल जीवनसागरने अवगाहवा प्रयत्न कर्यो हतो, जेमणे ए गुरुदेवनी गंभीर जीवनगंगामांथी उदात्त भावनाओ अने विचारोनां निर्मळ नीर खोबले खोबले पीधां अने पचाव्यां हतां, जेमणे हंस बनीने ए आराध्य गुरुना मानससरोवरमांथी अवसरे अवसरे ऊछळीने किनारे आवेलां अतुल धीरज, समता, कार्यदक्षता, दीर्घदर्शिता, खंत अने आहोपुरुषिका रूप मोतीओनो चारो चर्यो हतो—एवी एक विभूतिस्वरूप जैनसंघनी विरल व्यक्ति अथवा परमाराध्य गुरुदेव श्रीविजयानंदसूरि महाराजनी छायामूर्ति.

आवी विरल व्यक्ति जैनशासन अने जैन श्रीसंघने सांपडे, ए जैनशासन अने जैन श्रीसंघना महान अभ्युदय अने सौभाग्यनी ज वात गणाय. आजे ए तेजोमूर्ति महाविभूति आपणी नजर सामेथी दूर होवा छतां एनी झळहळती जीवनज्योतिना पुंज स्वरूपे आपणाथी दूर नहीं, पण आपणी सामे ज दिव्य हास वेरती बेठी के ऊभी होय एम ज आपणने भासे छे.

पूज्यचरण आचार्यभगवान् श्रीविजयवल्लभसूरि महाराजश्रीना जीवननुं शांत अने गंभीरपणे चिंतन के स्वरूप अवलोकन करिए तो जणाशे के एमां जीवनसाधना, धर्मसाधना, शासनसेवासाधनाने लगतां अनेक पुरुषार्थ-पूर्ण योग्यतानां बीजो पड्यां हतां; पछी ए बीजो भले जीवननी परिस्थिति अने प्रवाहने अनुसारे विकस्यां, अर्धविकस्यां के अणविकस्यां रह्यां होय; आम छतां ए वातमां तो लेश पण शंकाने स्थान नथी के ए जीवन एक महातेजोराशि हतुं. ए तेजोराशिए जैनप्रजाने घणा घणा अज्ञात मार्गोनुं ज्ञान अने भान कराव्यां छे.

पूज्यपाद ज्ञानतपोमूर्ति आचार्यभगवान श्रीविजयवल्लभसूरि महाराजश्रीनुं जीवन जेवुं व्यापक अने समृद्ध हतुं तेवो ज तेमनी जीवनस्मृति-यादगीरीने ताजी करतो आ स्मारक ग्रंथ पण व्यापक अने समृद्ध बन्यो छे. आ आखा ग्रंथमां मात्र शरूआतनां अमुक पानां ज पूज्य आचार्य महाराजश्रीना साहजिक-अनलंकारिक जीवनचरित्रे रोक्यां छे, ते सिवायनो आखो ग्रंथ विद्वद्भोग्य अने प्रजाना चैतन्यने पोषता विविध लेखो अने विपुल चित्रादि सामग्रीथी समृद्ध छे.

प्रस्तुत स्मारक ग्रंथ गुजराती, हिंदी अने अंग्रेजी एम त्रण विभागमां वहेंचाएलो छे. ए त्रणे विभागना विद्वान संपादको खरेखर प्रेरणा पामेल समर्थ लेखको अने संशोधको छे. ए दरेक विद्वानोना

व्यक्तित्वथी हुं अंगत रीते संपूर्णपणे परिचित होई, खातरीथी कही शकुं छुं के ए बधाय संपादको सुयोग्य संपादको छे. आवी व्यक्तिओनी कीमती सेवा मेळववा माटे स्मारक ग्रंथना योजको खरेखर ज भाग्यशाळी छे एम कहेवामां हुं जराये अतिशयोक्ति नथी करतो.

स्मारक ग्रंथ माटे माननीय लेखकोए सामग्री पण ठीक ठीक पूरी पाडी छे. त्रणे विभागमांनी लेखसामग्री बे विभागमां वहेंचायेली छे. पहेला विभागमां पूज्यपाद आचार्यमहाराजश्रीना जीवनप्रवाहने स्पर्शता लेखो अने कविताओनो संग्रह छे. बीजा विभागमां विद्वद्भोग्य विपुल साहित्यसामग्री छे. आ विभागमां अहिंसा, अनेकांतवाद, कर्मवाद अने योग जेवा तात्त्विक लेखो आवेल छे. शिक्षण अने भाषासाहित्य विषयक लेखो पण छे. शिल्प, स्थापत्य, मूर्तिविधान, प्राचीन मंदिरो, चित्रकळा वगेरेनो परिचय आपती लेखमाळा पण आ विभागमां छे. प्राचीन आचार्यो, गुरुपरंपरा, ग्रंथपरिचय, राजाओ, सिक्काओ, महावीरजीवन वगेरेने लगती ऐतिहासिक सामग्री पण आवी छे. देव-देवीओ, यक्ष-यक्षिणीओ, तीर्थंकरो, जैनसाध्वीओ अने आचार्योनी मूर्तिओ विषयक लेखो पण आमां समाया छे. आ रीते अतिसमृद्ध विविध साहित्यसामग्रीनो आमां समावेश थयो छे. आ प्रकारनी विविध सामग्रीवाळा आ स्मारक ग्रंथनी महत्तामां आपेल विविध चित्रसामग्री अने तसवीरोए घणो महत्त्वनो उमेरो कर्यो छे.

उपर जणाव्युं ते प्रमाणे आ यादगार स्मारक ग्रंथने जे महत्ता वरी छे तेमां विद्वान संपादको, लेखको अने विविध सामग्री पूरी पाडनार महानुभावोए अने खास करीने स्मारक ग्रंथना योजक महानुभाव सज्जनोना अथाग खंतभर्या परिश्रमे मोटो भाग भजव्यो छे. एटले स्मारक ग्रंथना योजको खरेखर गर्व लई शके तेवो आ स्मारक ग्रंथ बन्यो छे.

अंतमां स्वर्गवासी गुरुदेव श्रीआचार्यभगवाननी पवित्र सेवामां स्मारक ग्रंथना योजको अने सहकारीओ साथे हुं पण ए पवित्र गुरुदेवनी सेवामां मारी आंतरिक सेवांजलि आदरपूर्वक अर्पण करूं छुं.

मुनि पुण्यविजय

निवेदन

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

पूज्य उमास्वाति महाराजे मोक्षमार्गनी आराधना माटे मुख्य त्रण वस्तुओ उपर भार मूक्यो छेः सम्यग्दर्शन, ज्ञान अने चारित्र्य. मानवदेह पामी आपणे जो कांई प्राप्त करवानुं होय तो ते आ ज छे. जीवनने ऊर्ध्वगामी बनावी मोक्षप्राप्तिनो ए ज एक राजमार्ग छे.

पण आवा आ राजमार्ग पर कोई कोई वखत भयंकर अंधारां छवाई जाय छे त्यारे पोतानी ज्ञानरुपी ज्योतथी तेने अजवाळवा कोई महाप्रतापी धर्मपुरुषनी जरुर ऊभी थाय छे. आवो एक धर्मपुरुष पोतानी जीवन-सुवास प्रसरावी आपणी वच्चेथी हमणां ज विदाय थयो. तेनुं नाम हतुं आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी. ए साचा अर्थमां धर्मपुरुष हता. समाजमां प्रसरेला अज्ञानरुपी अंधकारने दूर करवा माटे तेमणे जे कांई कर्युं ते अद्‌भुत हतुं, बीजा कोईथी भाग्ये ज बनी शके एवुं हतुं. समाज परनुं तेमनुं आ ऋण कदी न विसरी शकाय तेवुं छे. सामूहिक अने व्यक्तिगत रीते एमणे करेला उपकारो कदी न भूली शकाय एवा छे.

आपणी संस्कृतिना संरक्षको छे अरिहंतो, सिद्धो, आचार्यो, उपाध्यायो अने साधुओ. एमणे आपणी उज्ज्वळ प्रणालिकाने वधु उज्ज्वळ बनावी छे—आपणा सांस्कृतिक विकास अने चिंतनमां महत्त्वनो फाळो आप्यो छे. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी आवा सिद्धो-संतोमांना एक हता. अर्वाचीन समाजना सांस्कृतिक विकास माटे तेमणे अथाक प्रयत्नो कर्या अने तेओ सिद्धिने वर्या. तेमना आ कार्यनुं मूल्यांकन कोई रीते थई शके तेम नथी, छतां एमना ए महान कार्यने एक नानीशी अंजलि अर्पवाना नम्र प्रयासरुपे आ ग्रंथ प्रगट करवानुं अमे साहस कर्युं छे. समाजना उत्कर्ष माटे आचार्यश्रीए शा शा प्रयत्नो कर्या, तेमनो आ उपकार केटलो मोटो हतो, एनो यत्किंचित ख्याल आ ग्रन्थ आपशे एवुं अमारुं मानवुं छे. आ ग्रन्थने आचार्यश्रीना नाम अने कामने गौरव अर्पे एवो बनाववाना सजाग प्रयत्नो संपादको अने प्रकाशकोए कर्या छे. आ प्रयास केटले अंशे सफळ थयो छे ए तो समाज अने वाचकवर्गे ज कहेवुं रह्युं.

कोई पण महापुरुषना जीवननी समीक्षा करवानुं काम सहेलुं नथी. आचार्यश्री माटे पण आम ज बन्युं छे. एमां वळी ए महान आत्माना अनेक उपकारो आपणा समाज पर छे एटले ए समीक्षानुं काम वधु मुश्केल बने छे. आपणने—एमणे आपणा पर करेला अनेक उपकारो-अनुग्रहोने लीधे—एमना गुणोनुं ज दर्शन थाय ए स्वाभाविक छे. परिणामे आ ग्रंथमां एमनां गुणगान ज आपनी नजरे पडे तो ते क्षम्य ज गणाशे.

आचार्यश्रीने जे प्रवृत्तिओ अतिप्रिय हती एमां श्री महावीर जैन विद्यालय मुख्य छे. श्री महावीर जैन विद्यालयना प्रेरणादाता, प्रोत्साहक अने प्रणेता आचार्यश्री हता. आ संस्थानी अनेक स्मृतिओ आचार्यश्री साथे संकळायेली छे, परिणामे आ ग्रंथ प्रगट करवानुं ठर्युं अने आजे अनेकोना आशीर्वाद साथे ए बहार पडे छे. आचार्यश्रीए जीवनना छेल्ला केटलाक महिना आ संस्थामां पसार कर्या हता अने आ संस्थाने तथा तेना कार्यवाहकोने एमनी सेवानो लाभ मळ्यो हतो. तेमांथी सांपडेली प्रेरणानुं एक स्वरुप आ ग्रंथमां छे.

आचार्यश्रीनुं समग्र पण टूंकुं जीवनदर्शन कराववानो नम्र प्रयास आ ग्रन्थमां थयो छे, अने ते साथे जैनसंस्कृति अने संशोधनने लगतुं सारुं एवुं साहित्य पण रजू करवामां आव्युं छे. आ ग्रन्थ ए रीते आचार्यश्रीना

जीवननी मीठी सुवास लईने आवे छे, अने ए साथे एवो पाठ पण शीखवे छे के जो कोई पण मानवी योग्य रीते पुरुषार्थ करे तो भव्य सिद्धि प्राप्त करी शके.

आ ग्रंथनुं कार्य सरळ रीते हाथ धरवा नीचे जणावेल सभ्योनी एक समिति श्री महावीर जैन विद्यालयनी व्यवस्थापक समितिए नीमी हती :

१. श्री परमानंद कुंवरजी कापडीआ
२. श्री प्रसन्नमुख सुरचंद्र बदामी
३. श्री फुलचंद शामजी
४. श्री रतिलाल चिमनलाल कोठारी
५. श्री कान्तिलाल उमेदचंद बरोडिया
६. श्री चिमनलाल जेचंद शाह
७. श्री सेवंतीलाल चिमनलाल शाह
८. श्री कान्तिलाल डाह्याभाई कोरा
९. श्री चंदुलाल वर्धमान शाह
१०. श्री चंदुलाल साराभाई मोदी

समितिना आ सभ्योए ग्रन्थने तैयार करवामां समय अने शक्तिनो जे भोग आप्यो छे ते बदल तेमना हार्दिक आभारी छीए.

गुजराती विभागनुं संपादनकार्य डॉ० भोगीलाल जे. सांडेसरा, एम्. ए., पीएच्. डी., डॉ० उमाकान्त प्रे. शाह, एम्. ए., पीएच्. डी. अने श्री नागकुमार ना. मकाती, बी. ए., एल्एल्. बी. ए, हिंदी विभागनुं संपादन प्रा० पृथ्वीराज जैन, एम्. ए. ने अने अंग्रेजी विभागनुं संपादन डॉ० मोतीचंद्र, पीएच्. डी. (लंडन), डॉ० जगदीशचंद्र सी. जैन, एम्. ए., पीएच्. डी. अने श्री चिमनलाल जे. शाह, एम्. ए. ए करेल छे. प्रस्तुत ग्रन्थने समृद्ध बनाववा माटे तेओए जैन इतिहास, साहित्य, कळा अने तत्त्वज्ञानना विषयो पर लेखो मेळववा भारतना तेम ज परदेशना विद्वानोनो संपर्क साध्यो हतो अने सारो एवो सहकार पण मेळव्यो. आ बदल बधा विद्वान लेखको अने त्रणेय विभागना संपादकोनो अमे अंतःकरणपूर्वक आभार मानीए छीए.

आचार्यश्रीना जीवनचरित्र विभाग आ स्मारक ग्रंथनुं एक महत्त्वनुं अंग छे, अने ते तैयार करी आपवा माटे श्री पी. के. शाह, एम्. ए. ना अमे खास ऋणी छीए. प्राप्त थएली सामग्री लक्षमां लेतां ग्रंथनुं कद धार्या करतां खूब ज वधी गयुं छे अने तेथी केटलीक सारी कृतिओ स्थळसंकोचने लीधे संपादकोने छोडी देवी पडी छे. आ माटे लेखको अने कलाकारोनी क्षमा याचीए छीए, अने तेओए आपेल सहकार बदल आभारी छीए.

ग्रन्थनी उपयोगिता वधारवामां आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरि, मुनिश्री पुण्यविजयजी तथा मुनिश्री यशोविजयजी तरफथी मार्गदर्शन, प्रेरणा अने सहकार मळेल छे. मुनिश्री पुण्यविजयजीए ग्रन्थनी प्रारंभिक तैयारीथी मांडी छेवट सुधी प्रेरणा अने अपूर्व सहकार अर्पी ग्रन्थनी उपयोगिता घणी वधारी छे. तेओश्रीए लखेल आमुख ग्रन्थना कीर्तिकळश रूप बने छे. स्थापत्य अने चित्रकळानी सामग्री श्री आर. भारद्वाज, श्री जगन महेता, श्री बाबुभाई भावनगरी, श्री बाबुभाई मिस्त्री, डॉ० उमाकान्त शाह, अने बीजा अनेक भाईओ तरफथी मळी छे ते माटे संस्था तेओनी ऋणी छे. ग्रन्थनुं आवरण पट तैयार करी आपवामां चित्रकार श्री सी. नरेने जे मदद करी छे ते बदल हार्दिक आभार मानीए छीए. कलासामग्री अंगे गुजरातना सिद्धहस्त कलाकार श्री रविशंकर रावळ तरफथी खूब सहकार मळेल छे. स्वास्थ्य बराबर न होवा छतां ग्रन्थना सुशोभन पाछळ तेओए जे परिश्रम लीधो छे ते बदल अमे तेमना हंमेशना ऋणी छीए. आर्कीओलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया तेम ज पटना, वडोदरा अने मुंबई म्युझियमना क्युरेटर तरफथी चित्रसामग्री अंगे घणो सहकार मळ्यो ते बदल संस्था तेमनो अत्यंत आभार माने छे.

श्रीहेमचंद्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर (पाटण), श्रीविजयनेमिसूरि ज्ञानभंडार (अमदावाद), श्रीभ्रातृचंद्रसूरि ज्ञानभंडार (अमदावाद) अने श्री शान्तिनाथ प्राचीन ताडपत्रीय जैन ज्ञानभंडार(खंभात)ना कार्यवाहकोए

ऐतिहासिक प्रतोनां चित्रो; अने श्रीनेमिनाथजी अने श्रीऋषभदेवना जन्म अने जीवनघटनानी बे सुवर्णाक्षरी प्रतोना ब्लॉक श्री साराभाई नवावे आपी ग्रन्थनी उपयोगिता वधारी ते माटे तेमनो सर्वेनो अमे आभार मानीए छीए. दरेक लेखने अंते मथुराना जैन शिल्पनी ऐतिहासिक विविध सूचक चित्रसामग्री मूकेल छे. आ सामग्री माटे आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डियाना अमे खास ऋणी छीए.

मुद्रणकाम ए ग्रन्थनुं महत्त्वनुं अंग छे, अने आ कार्य श्री मौज प्रिन्टिंग ब्यूरोना श्री विष्णु पी. भागवते खास चीवटथी पार पाडेल छे. आ माटे श्री भागवत अने तेमना सहकार्यकर्ताओनो आभार मानवानी अमे सहर्ष तक लईए छीए. प्राचीन ऐतिहासिक प्रतोना रंगीन चित्रोनुं मुद्रणकार्य सुंदर रीते करवा माटे अमदावादना दीपक प्रिन्टरीना श्री नटुभाई रावतनो पण हार्दिक आभार मानीए छीए. ते ऊपरांत श्री एन्. ए. गोरे, श्री जीवनलाल जानी, श्री शंकरराव दामले, श्री नरेन्द्र रावळ, श्री नवीनचंद्र अं. शाह, श्री के. पारसमल अने श्री प्रवीणचंद्र के. शाहना ग्रन्थना संपादन तथा मुद्रणकार्यमां सहकारी थवा माटे आभारी छीए.

आवो विपुल ग्रन्थ अनेक बंधुओना हार्दिक सहकारना परिणामे ज तैयार करी शकाय. आ ग्रन्थ माटेनी सामग्री एकठी करवाथी मांडी प्रकाशन माटे दिनरात चिन्ता सेवनार अने तनतोड महेनत करनार अनेक व्यक्तिओ छे. आ सौनो व्यक्तिगत उल्लेख करवानुं न बनी शक्युं होय तो अे माटे अमे तेमनी क्षमा मागीअे छीअे. टूंकमां, जेणे जेणे आ कार्यने सफळ बनाववामां मदद करी छे ते सौनो अमे अंतःकरणपूर्वक आभार मानीए छीए.

गुरु प्रत्येनी भक्तिथी जन्मेला आ प्रयासमां जो कांई क्षति रहेवा पामी होय तथा जाण्येअजाण्ये कोईने पण अन्याय थयो होय, उत्सूत्रप्ररूपणा थई होय तेम ज मुद्रणदोष रही गयो होय तो ते माटे अमे सौ कोईनी क्षमा याचीए छीए.

अंतमां आचार्यश्रीना जीवननी प्रेरणा झीलीने जन्मेली आ कृति सौ कोईनो आदर पामशे अने अन्य जीवोनो आत्मोत्कर्ष साधवामां मददरूप नीवडशे एवी अभिलाषा अने श्रद्धा साथे अमे विरमीए छीए.

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

गोवाळीआ टॅंक रोड : मुंबई, २६
फागण सुदि १५, सं. २०१२

चंदुलाल साराभाई मोदी
चंदुलाल वर्धमान शाह
मंत्रीओ, श्री महावीर जैन विद्यालय

: संपादक मंडळ :

गुजराती विभाग

डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा, एम्. ए., पीएच्. डी.
डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.
श्री नागकुमार ना. मकाती, बी. ए., एल्‌एल्. बी.

* * *

हिन्दी विभाग

प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री

* * *

अंग्रेजी विभाग

डॉ. मोतीचंद्र, एम्. ए., पीएच्. डी. (लंडन)
डॉ. जगदीशचंद्र जैन, एम्. ए., पीएच्. डी.
श्री सी. जे. शाह, एम्. ए.

* * *

: प्रकाशक :

चंदुलाल साराभाई मोदी
चंदुलाल वर्धमान शाह
मंत्रीओ
श्री महावीर जैन विद्यालय

अनुक्रमणिका

आमुख	मुनिश्री पुण्यविजयजी	
प्रकाशकनुं निवेदन		

गुजराती विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

		पृष्ठ
१. श्रीवल्लभगुरुसङ्क्षिप्तचरित्रस्तुतिः	मुनिश्री पुण्यविजयजी	१
२. आचार्यश्रीने अंजलि	प्रा. रमण कोठारी, एम्. ए.	३
३. राजलहंसने	श्री पादराकर	४
४. हे आर्षद्रष्टा!	श्री शांतिलाल बी. शाह	५
५. वल्लभ-हरियाळी	प्रा. हिरालाल र. कापडिया, एम्. ए.	६
६. श्रीमद् विजयवल्लभसूरिजीने अंजलि	श्री मावजी दामजी शाह	७
७. सूरीश्वरने स्मरणांजलि	श्री कल्याणचंद्र के. झवेरी	८
८. नमी रहुं—	श्री नवीनचंद्र अंबालाल शाह	९
९. अमर वल्लभ	श्री प्रवीणचंद्र जेचंद महेता	१०
१०. सूरिजीनो जीवनसूर	डॉ. जयंत एम्. पटणी, एम्. बी., बी. एस्.	११
११. आपणा श्रीवल्लभ गुरुदेव	आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरि	१३
१२. तीर्थंकरोना चरणे उच्चारेल मातानुं वचन सार्थक	मुनिश्री इंद्रविजयगणि	१६
१३. युगवीरनां संस्मरणो	मुनिश्री जनकविजयगणि	१९
१४. स्वर्गस्थ आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी	दि. ब. कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी	२२
१५. युगवीरनो अंतिम दृष्टिनिर्देश!	श्री पादराकर	२३
१६. प्राचीन ज्ञानभंडारना उद्धारक	श्री मोहनलाल दीपचंद चोकसी	२७
१७. युगद्रष्टा आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी	श्री पी. के. शाह, एम्. ए.	३२
१८. साधुसंस्थाना कीर्तिकळश	आचार्यश्री विजयउमंगसूरि	९७
१९. युगद्रष्टाना हस्ताक्षर		९९
२०. वल्लभवाणी		१००

लेख-संग्रह

१. भारतीय कळामां जैन संपूर्ति	श्री रविशंकर म. रावळ	१
२. जैन धर्म अने जैन संस्कृतिनी केटलीक लाक्षणिकताओ	प्रा. अमृतलाल सवचंद गोपाणी, एम्. ए., पीएच्. डी.	१२
३. जैन अभ्यासमां नवीन दृष्टिनी आवश्यकता	प्रा. केशवलाल हिं. कामदार, एम्. ए.	१६
४. भाषाना विकासमां प्राकृत-पालिभाषानो फाळो	पं. बेचरदास दोशी	२०
५. जैन परंपरानुं अपभ्रंश साहित्यमां प्रदान	प्रा. हरिवल्लभ चु. भायाणी, एम्.ए., पीएच्.डी.	३१
६. जैन साहित्यनां पदो विषे विचारणा	प्रा. चंद्रकान्त एच्. महेता, एम्. ए., एलएल्. बी., पीएच्. डी.	४१

		पृष्ठ
७. प्रथमानुयोगशास्त्र अने तेना प्रणेता स्थविर आर्यकालक	मुनिश्री पुण्यविजयजी	४९
८. श्वे. गुरु विमलसूरिनी प्रश्नोत्तर-रत्नमाला	पं. लालचंद्र भगवान गांधी	५७
९. ब्रह्मविहार—जैन अने जैनेतर दृष्टिए	प्रा. जयंतीलाल भाईशंकर दवे, एम्. ए.	६६
१०. श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा	डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.	७०
११. प्रकाशानुं एक प्राचीन शिल्प	श्री शिवलालदास शंभुभाई देसाई	७३
१२. श्री पंचासरा पार्श्वनाथना मन्दिर विषेना केटलाक ऐतिहासिक उल्लेखो	डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा, एम्. ए., पीएच्. डी.	७६
१३. गुजरातनुं प्रथम इतिहासकाव्य	प्रा. जयन्त प्रे. ठाकर, एम्. ए., कोविद	८४
१४. सोलंकी राजवीओनो त्यागधर्म	श्री चुनीलाल वर्धमान शाह	९३
१५. यक्षपूजानी ऐतिहासिकता	श्री कनैयालाल भाईशंकर दवे	९६
१६. महाराजा जयसिंह सिद्धराजना चांदीना सिक्का	श्री अमृत पंड्या	१०२
१७. हेमचन्द्राचार्य : एमनुं जीवन अने कवन	प्रा. रमणलाल सी. शाह, एम्. ए.	११२
१८. 'खुश्फहम' सिद्धिचंद्रगणिकृत नेमिनाथ चतुर्मासकम्	डॉ. मंजुलाल र. मजमुदार, एम्. ए., एल्एल्. बी., पीएच्. डी.	११७
१९. भावलिंगनुं प्राधान्य	डॉ. भगवानदास म. महेता, एम्.बी., बी.एस्.	१२०
२०. 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्—सम्यग्दर्शनम्' एटले शुं?	श्री 'संतबाल'	१२६
२१. मनुष्य एकलो नथी	श्री दलसुख मालवणिया	१२८
२२. वादिदेवसूरिनुं जन्मस्थान कयुं?	श्री गोकुळभाई दोलतराम भट्ट	१३२
२३. 'अमारि' पालनना बे अप्रकट ऐतिहासिक लेखो	श्री नागकुमार मकाती, बी. ए., एल्एल्.बी.	१३४
२४. वडनगरनी शिल्पसमृद्धि	श्री रमणलाल नागरजी महेता	१३७
२५. ब्रह्म व्रतेषु व्रतम्	श्री मनसुखलाल ताराचंद महेता	१४१
२६. धर्म अने संस्कृति	मुनिश्री कल्याणचंद्रजी	१४९
२७. श्रीमहावीर परमात्मानुं व्यापक जीवन	श्री फतेहचंद झवेरभाई शाह	१५३
२८. निर्ग्रंथ सिद्धांतनी उत्तमता	डॉ. वल्लभदास नेणसीभाई	१५७
२९. जैन जातकोना चित्रप्रसंगोवाळी कल्पसूत्रनी सुवर्णाक्षरी प्रत	श्री साराभाई मणिलाल नवाब	१६१
३०. चित्र-परिचय		
१. केटलाक प्राचीन जैन शिल्पो	डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम्. ए., पीएच. डी.	१६८
२. जैन साध्वीजीओनी भव्य पाषाण-प्रतिमाओ	मुनिश्री यशोविजयजी	१७२
३. पाटणना जैन मंदिरमांनो एक सुन्दर काष्ठपट	मुनिश्री यशोविजयजी	१७४
४. ऐतिहासिक वस्त्रपट	मुनिश्री यशोविजयजी	१७५
३१. 'सुपासनाहचरियं'नी हस्तलिखित पोथीमांनां रंगीन चित्रो	मुनिश्री पुण्यविजयजी	१७६
३२. श्रीयशोविजयोपाध्याय अने तेमणे लखेली हाथपोथी नयचक्र	मुनिश्री पुण्यविजयजी	१८१

हिन्दी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

		पृष्ठ
१. जागृति के देवदूत श्री वल्लभ	श्री रामकुमार जैन, बी. ए., बी. टी., न्यायतीर्थ	१
२. युगवीर आचार्य श्रीविजयवल्लभ : जीवनज्योति	प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम. ए., शास्त्री	२
३. पंजाब केसरी का पंचामृत	श्री ऋषभदासजी जैन	६
४. भारत की एक महान् विभूति	महता श्री शिखरचन्द्र कोचर, बी. ए., एल्एल्. बी., आर. जे. एस., साहित्यशिरोमणि	१५

लेख-संग्रह

१. जैन पुराण-कथा का लाक्षणिक स्वरूप	श्री वीरेन्द्रकुमार जैन	१
२. पालि-भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म	डॉ. गुलाबचंद चौधरी, एम्.ए., पीएच्. डी.	६
३. पिप्पल गच्छ गुर्वावलि	श्री भंवरलालजी नाहटा	१३
४. संस्कृति निर्माता युगादिदेव	श्री शान्तिलाल खेमचंद शाह, बी. ए.	२३
५. स्याद्वाद पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार	श्री मोहनलाल मेहता, एम्.ए., शास्त्राचार्य	२७
६. जैन साधना का इच्छायोग	कविरत्न श्रद्धेय श्री अमरचन्द्रजी महाराज	३३
७. भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद	श्री नरेन्द्रकुमार भानावत, साहित्यरत्न	३५
८. संजय का विक्षेपवाद और स्याद्वाद	पं. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य	३९
९. श्री आत्मारामजी तथा ईसाई मिशनरी	प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री	४४
१०. जैन दृष्टि से साधनामार्ग	श्री ऋषभदासजी	५०
११. धर्मोत्तर के टिप्पण के कर्त्ता मल्लवादी	श्री दलसुखभाई मालवणिया	५३
१२. प्राचीन भारत में देश की एकता	डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, एम्. ए., पीएच्. डी., डी. लिट्.	५५
१३. भट्टारक कनककुशल और कुँअरकुशल	श्री अगरचंदजी नाहटा	६५
१४. जिनप्रतिमा और जैनाचार्य	पं. हंसराजजी शास्त्री	७५
१५. तिरुवल्लुवर तथा उनका अमर ग्रंथ तिरुक्कुरल	पं. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायशास्त्री	८२
१६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य	डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.	९१

अंग्रेजी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

1. *The Great Ācārya*	Shri Chimanlal J. Shah, M.A.
2. *A Dedicated Soul*	Shri K. D. Kora, M.A.

लेख-संग्रह

			पृष्ठ
1.	*Structural Evolution and the Doctrine of Karma*	Dr. Hari Satya Bhattacharya, M.A., B.L., Ph.D.	1
2.	*The Figures of the Two Lower Reliefs on the Pārśvanātha Temple at Khajurāho*	Dr. Klaus Bruhn, Ph.D.	7
3.	*The Message of the Religion of Ahiṁsā*	Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S. (Retd.)	36
4.	*Some Aspects of Jaina Monastic Jurisprudence*	Dr. S. B. Deo, M.A., Ph.D.	41
5.	*Materials Used for Jaina Inscriptions*	Prof. D. B. Diskalkar, M.A.	55
6.	*Jamāli: His Life and Point of Difference from Lord Mahāvīra*	Prof. Prithvi Raj Jain, M.A., Shastri	61
7.	*The Concept of Arhat*	Prof. Padmanabh S. Jaini,, M.A., Tripiṭakācārya	74
8.	*Historical Position of Jainism*	Dr. J. S. Jetley, M.A., Ph.D.	77
9.	*Jainism: Its Distinctive Features and Their Impact on our Composite Culture*	Prof. Kr. De. Karnataki, M.A.	82
10.	*Fundamental Principles of Jainism*	Dr. B. C. Law, M.A., B.L., Ph.D., D. Litt., F.R.A.S.B., F.R.A.S. (Hony)	87
11.	*A 13th Century Inscribed Metal Bell from Pātaṇ (N. Gujarat)*	Dr. M. R. Majumdar, M.A., LL.B., Ph.D.	112
12.	*What Jainism Offers to the World*	Shri C. S. Mallinath	115
13.	*Digambara Jaina Tīrthaṅkaras from Maheshwar and Nevāsā*	Dr. H. D. Sankalia, M.A., Ph.D. (London)	119
14.	*Glory of Jainism*	Shri Chimanlal J. Shah, M.A.	121
15.	*Jayā-Group of Goddesses*	Dr. Umakant P. Shah, M.A., Ph.D.	124
16.	*A Rare Sculpture of Mallinātha*	Dr. Umakant P. Shah, M.A., Ph.D.	128
17.	*Ācārya Haribhadra's Comparative Studies in Yoga*	Dr. N. M. Tatia, M.A., D. Litt.	129
18.	*Dhūrtākhyana in the Niśītha-cūrṇī*	Dr. A. N. Upadhye, M,A., D. Litt.	143
19.	*The Place of Jainism in Indian Thought*	Dr. Felix Valyi	152
20.	*A Historical Outline of the Languages of Western India*	Prof. K. B. Vyas, M.A., F.R.A.S.	157
21.	*Jainism—A Way of Life*	Shri B. P. Wadia	169

चित्र परिचय

बृहत्तपागच्छान्तर्गत संविग्नशाखीय आद्याचार्य न्यायाम्भोनिधि श्री १००८ श्रीविजयानन्दसूरिपट्टप्रतिष्ठित आचार्यप्रवर श्रीविजयवल्लभसूरि महाराज

गुजराती विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (१४)

१ न्यायांभोनिधि श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजी (श्री आत्मारामजी) ३६

२–३ प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी, मुनि श्रीचतुरविजयजी ४०

४–५ मुनिश्री हर्षविजयजी, पंन्यास श्रीसंपतविजयजी ४१

६–७ मुनि श्रीहंसविजयजी, आचार्य श्रीविजयललितसूरि ४८

८ आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी, प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी अने मुनिसमुदाय (पाटण सं. १९८४) ४९

९ मुनि श्रीचतुरविजयजी, प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी, आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी मुनि श्रीहंसविजयजी, पं. संपतविजयजी (पाटण सं. १९८५) ५६

१० अमदावादमां मुनिसंमेलनमां एकत्रित थयेल मुनिसमुदाय (सं. १९९० इसवी सन १९३४) ५७

११–१२ (१) ता. ७ थी ९ नवेंबर १९५२ ना रोज श्री महावीर जैन विद्यालयमां योजायेल संमेलन प्रसंगे विराजमान आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि अने मुनिमहाराजो
(२) संमेलनना छेल्ला दिवसे प्रवचन करता आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि ६८

१३–१४ (१) संमेलनना छेल्ला दिवसे श्री महावीर जैन विद्यालय तरफथी प्रमुख श्री मनसुखलाल ए. मास्तरने आवकार आपतां श्री खीमजी भुजपुरीआ आचार्यश्रीनी अनेकविध सेवाओने अंजलि आपी रह्या छे.
(२) आचार्यश्री श्री महावीर जैन विद्यालयमां विराजमान होई ता. १५-१०-१९५२ ना रोज शेठ श्री कस्तुरभाई लालभाई वंदनार्थे आव्या ते प्रसंग ६९

लेख-संग्रह (५७)

१ धरणाशाहे बंधावेल चतुर्मुख जिनप्रासादनुं गगनचुंबी शिखर, राणकपुर, १५ मी सदी

२ धरणाशाह अने रतनाशाहे बंधावेल चतुर्मुख देरासरनुं भव्य प्रवेशद्वार, राणकपुर, १५मी सदी

३ तीर्थाधिराज शत्रुंजय, पालिताणा

४ कुंभारियाजीना श्रीपार्श्वनाथ भगवानना देरासरनी भमतीनां चौद स्वप्न अने देव-देवीओ कोतरेल स्तंभ अने द्वार

५ राणकपुरना चतुर्मुख जिनप्रासादना कलामय स्तंभोपरनी अद्‌भुत कोतरणी

६ विमलवसही, आबु : रंगमंडप अने देवकुलिकाओनुं एक दृश्य

७ हठीसिंगना देरासरनो उपरनो भाग, अमदावाद, १९मी सदी

८ मालादेवी मंदिरनुं भौंयतलियुं अने पडशाळ, ग्यारासपुर, भीलसा

९ शेठ हठीसिंगे बंधावेल देरासरनुं कलामय प्रवेशद्वार, अमदावाद, १९मी सदी

१० लुण-वसहीना रंगमंडपमां प्रभुदर्शनलीन साध्वीजीओ, आबु, १३मी सदी

११ जैन स्तंभ, चितोडगढ, इ. स. आशरे ११००

१२ कुंभारियाजी महावीरस्वामी देरासरनी सात छतो पैकीनी नटारंभ दर्शावती चोथा नंबरनी छत

१३–१४ (१) श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा, सन्मुखदर्शन
(२) श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा, पृष्ठभाग ७०

१५–१६ (१) श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा
(२) लोहानिपुर(पटणा पासे)थी मळेल मौर्यकालीन जिनप्रतिमा ७१

१७ प्रकाशानुं एक प्राचीन शिल्प ७४

१८–१९ (१) श्रीपंचासरा पार्श्वनाथ मंदिरनी वनराज चावडानी मूर्ति
(२) श्रीपंचासरा पार्श्वनाथ मंदिरनी ठ. आसाकनी मूर्ति ७५

२०–२७ वडनगरनी शिल्पसमृद्धि १३८–३९
  १ युगल-शर्मिष्ठा तळावनी पाळ पर जडेलुं शिल्प
  २ आमथेरमातानां मंदिरमांनुं सप्तमातृकानुं शिल्प
  ३ अरजण-बारीनी उत्तरे भींत परनी शिल्पपट्टिका
  ४ ठाकरडावासनी नजीक पडेली नरवराहनी प्रतिमा
  ५ गौरीकुंडनी दीवालमां जडी दीधेल राजवंशीनी सवारी
  ६ हाटकेश्वर मंदिरनी भींत परनी नर्तकी
  ७ हाटकेश्वर मंदिर परनुं पांडवोनां रथनुं शिल्प
  ८ हाटकेश्वर मंदिर परना स्वाहा (!) अने गण

२८–२९ (१) श्रीनेमिनाथजीनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो (रंगीन चित्र) १६४
(२) श्रीऋषभदेवनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो (रंगीन चित्र) १६६

३०-४४ १ राजगृही वैभारगिरि उपरनी गुप्तकालीन नेमिनाथ प्रतिमा
२ राजगृहीनी सोनभंडार गुफामांना चौमुखजीनी सातमा-आठमा सैकानी संभवनाथजी कायोत्सर्ग मूर्ति
३ ई. स. ५२५-५५० आसपासनी श्रीजिनभद्र वाचनाचार्य प्रतिष्ठित श्रीऋषभदेवनी धातुप्रतिमा
४ ई. स. १०५३-६३ वच्चे प्रतिष्ठित थएल धातुनुं समवसरण
५ लीलवादेवा पासेथी मळेली प्राचीन पश्चिम भारतीय कलानी धातुप्रतिमा—श्री पार्श्वनाथजीनी त्रितीर्थी
६ लीलवादेवा पासेथी मळेल श्री पार्श्वनाथजीनी त्रितीर्थी प्रतिमानो सं. १०९३ नो लेख
७-८ वडोदराना दादापार्श्वजीना दहेरासरमांनी विक्रमना अगियारमा सैकाना उत्तरार्द्धनी त्रितीर्थीक धातुप्रतिमा
९ ई. स. १०९४-९५ मां भरायेल आदिनाथजीनी चोवीसी
१० महाअमात्य तेजपाल तथा अनुपमादेवी
११-१२ आबु-विमलवसही अने लूणवसहीना रंगमंडपनी छत
१३ आबु लूणवसहीना छत उपर गिरनार अने द्वारिका नगरी तथा समवसरणनां दृश्यो
१४ राणकपुरनो सहस्रफणा पार्श्वनाथनो पाषाणपट
१५ राणकपुरना चौमुखजी मंदिरना पाषाणपर कोतरेल नंदीश्वर द्वीपनो बावन जिनालयनो पट १६८-१६९
४५-४७ जैन साध्वीजीओनी पाषाण-प्रतिमाओ
१ सं. १२०५नी साध्वीजीनी प्रतिमा
२ सं. १२५५नी साध्वीजीनी प्रतिमा
३ सं. १२९८नी साध्वीजीनी प्रतिमा १७२
४८ पाटणना जैन मंदिरनो एक सुदर काष्ठपट १७३
४९ श्रमण भगवान महावीरनो मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक १७४
५० न्यायाचार्य उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना जीवनकाळनी विचारणामां अभूतपूर्व प्रकाश पाडतो वि. सं. १६६३ मां चीतरायलो ऐतिहासिक वस्त्रपट १७५
५१-५४ वासभवनमां पृथ्वीमाता साथे भगवान सुपार्श्वनाथ (रंगीन चित्र)
सोमा राजकुमारी साथे भगवाननुं पाणिग्रहण (रंगीन चित्र)
सहसाम्रवन उद्यानमां भगवानना दीक्षा (रंगीन चित्र)
श्रीसुपार्श्वनाथ भगवानना मोक्षप्राप्ति (रंगीन चित्र) १७६-१७७

५५ श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामीना प्रथम दिन्न गणधरनुं वनमां आगमन अने पर्षदा समक्ष धर्मोपदेश (रंगीन चित्र) १७८
५६ भगवान श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामीनुं निर्वाणकल्याणक (रंगीन चित्र) १८०
५७ सिंहवादिगणि क्षमाश्रमणकृत नयचक्र टीका—उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षरमां १८२

हिन्दी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (२)

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि महाराज
चातुर्मास स्थलादि का विवरण १८

लेखसंग्रह (१२)

१ श्रमण-बेळगोळमां चंद्रगिरि अने इंद्रगिरिनी वच्चे इ. स. ९८१–९८३ आसपास प्रतिष्ठित, गोमटेश्वर (बाहुबली) नी महाकाय प्रतिमा—एकज शिलामांथी घडेली छे. ऊंचाई आशरे ५६ फूट ६ इंच छे.

२–१२ १ पार्श्वनाथ भगवान, उदयगिरि गूफा, भीलसा
२ गर्भद्वार, विमलवसही, आबु, बारमी सदी
३ कुंभारियाजीना पार्श्वनाथ भगवानना देरासरमां अजितनाथ भगवान कायोत्सर्ग मुद्रामां—नीचे सं. ११७६नी सालनो लेख छे
४ भव्य जैन शिल्पमूर्तिओ, ग्वालियर
५ शान्तिनाथ बस्तीनी दीवालपर आवेली शिल्पसमृद्धि, जिनानाथपुर
६–९ लूणवसही-आबु : स्तंभो परना गणधरो : तेरमी सदी
१० शेठ हठीसिंगे बंधावेल जिनप्रासादनी दीवालपरनी कलामय शिल्पमूर्ति, अमदावाद (१९मी सदी)
११ राणकपुरना चतुर्मुख जिनप्रासादनी दीवालोपरनी शिल्पसमृद्धि, १५मी सदी

अंग्रेजी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (१)

आचार्य विजयवल्लभसूरि

लेख विभाग (३०)

१ नर्तिका : सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनुं विश्वविख्यात रंगीन चित्र : जैनाश्रित कळानो एक नमूनो

२–३ १ सहस्रकूटनुं धातुनुं शिल्प, पाटण : १८मी सदीनी आसपास
२ राणकपुर, चतुर्मुख जिनप्रासादनी छतनुं संयोजना चित्र
४–५ १ उदयगिरिनी रानीगुंफानी केवाळनो नमूनो
२ कंकालीटीलाना बोद्धस्तूपना कलाविधाननो नमूनो
६ विमल-वसहीनी एक छतनी अनन्य कोतरणी : आबु, बारमी सदी
७ पार्श्वनाथ जिनप्रासाद, खजुराहो १४
८–९ पार्श्वनाथ जिनप्रासादनी शिल्पसमृद्धि, खजुराहो १५
१० ऋषभनाथ, खजुराहो (म्यूझियम) ३२
११ ऋषभनाथ, खजुराहो ३३
१२ आदीश्वरप्रभुनी मुखमुद्रा : धातुप्रतिमा : अकोटा संग्रह (गुप्त समय) ४०
१३ चामरधारिणी : धातुप्रतिमा, अकोटा (आठमी सदी आसपास) ४१
१४ १३मा सैकानो कोतरेल घंट (पाटण) ११२
१५–१७ (१) भर्तृहरीनी गुफामां प्रभावलीनी मूर्ति, महेश्वर
(२) तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रामां, महेश्वर
(३) पार्श्वनाथ, नेवासा ११३
१८–२० (१) भगवान मल्लिनाथनी अप्रतिम शिल्पप्रतिमा १२८
(२) अंबिका देवी, विमल-वसहीमांना रंगमंडपनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा, (बारमी सदी) १२९
(३) सिंहारूढ अंबिका (?), लूण-वसहीनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा, तेरमी सदी १२९
२१ श्रीउदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्यनी प्रतिमानुं गुर्जरेश्वर महामात्य वस्तुपाळना हस्ताक्षरवाळुं पानुं १४२
२२ सं. १२९४ मां लखाएल ताडपत्रीय प्रतमां मळेली श्री हेमचंद्राचार्य अने १४२
गुर्जरेश्वर कुमारपाळनी चित्राकृतिओ १४२
२३ १५मी सदीमां कापडपर चितरायेल वर्धमान विद्यापट १४३
२४ श्री विनयविजयोपाध्यायना हस्ताक्षर (लोकप्रकाश ग्रंथनी प्रथम नकलमांनी) १४३
२५ लाख उपर दोरेलुं सोनेरी चित्र
२६ महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षर (जंबुस्वामीरास) १४३
२७–३० (१) नर्तिका : सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनुं विश्वविख्यात रंगीन चित्र : जैनाश्रित कळानो एक नमूनो १५६
(२) उदयगिरिनी गणेशगुफानी केवाळनो नमूनो
(३) खंडगिरि उपरनी जैन गुफा
(४) उदयगिरिनी रानीगुफानी केवाळनो नमूनो १५७

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

: श्रद्धांजलि अने जीवन :

गुजराती विभाग

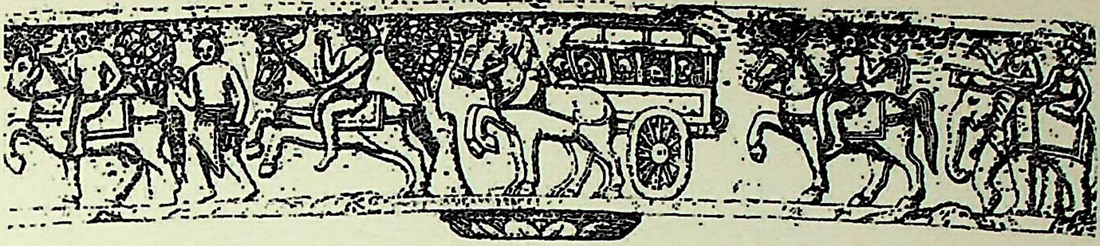

॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

श्रीवल्लभगुरुसङ्क्षिप्तचरित्रस्तुतिः

बाल्यभावात्तदीक्षाय आबाल्यब्रह्मचारिणे ।
ब्रह्मतेजोऽलङ्कृताय नमो वल्लभसूरये ॥ १ ॥

विजयानन्दसूरीन्द्रपादसेवाप्रभावतः ।
प्राप्तज्ञानादिकौशल्यः जयतात् सूरिवल्लभः ॥ २ ॥

शान्तो धीरः स्थितप्रज्ञो दीर्घदर्शी जितेन्द्रियः ।
प्रतिभावानुदारश्च जयताद् गुरुवल्लभः ॥ ३ ॥

ज्ञातं श्रीवीरधर्मस्य रहस्यं येन वास्तवम् ।
धारितं पालितं चापि जयतात् सूरिवल्लभः ॥ ४ ॥

श्रीवीरोक्तद्रव्यक्षेत्रकालभावज्ञशेखरः ।
अतज्ज्ञतन्मार्गदर्शी जयताद् गुरुवल्लभः ॥ ५ ॥

जागरूकः सदा जैनशासनस्योन्नतिकृते ।
सर्वात्मना प्रयतिता जयतात् सूरिवल्लभः ॥ ६ ॥

जैनविद्यार्थिसज्ज्ञानवृद्धयै विद्यालयादिकाः ।
संस्थाः संस्थापिता येन जयताद् गुरुवल्लभः ॥ ७ ॥

पाञ्चालजैनजनताधारस्तद्धितचिन्तकः ।
तद्रक्षाकारी प्राणान्ते जयतात् सूरिवल्लभः ॥ ८ ॥

साधर्मिकोद्धारकृते पञ्चलक्षीमसूत्रयत् ।
रूप्याणां मुम्बईसङ्घाद् जयताद् गुरुवल्लभः ॥ ९ ॥

विजयानन्दसूरीशहृद्गता विश्वकामनाः ।
प्रोद्भाविता यथाशक्ति जयतात् सूरिवल्लभः ॥ १० ॥

जीवनं जीवितं चारु चारित्रं चारु पालितम् ।
कार्यं चारु कृतं येन जयताद् गुरुवल्लभः ॥ ११ ॥

मुनि पुण्यविजयः ।

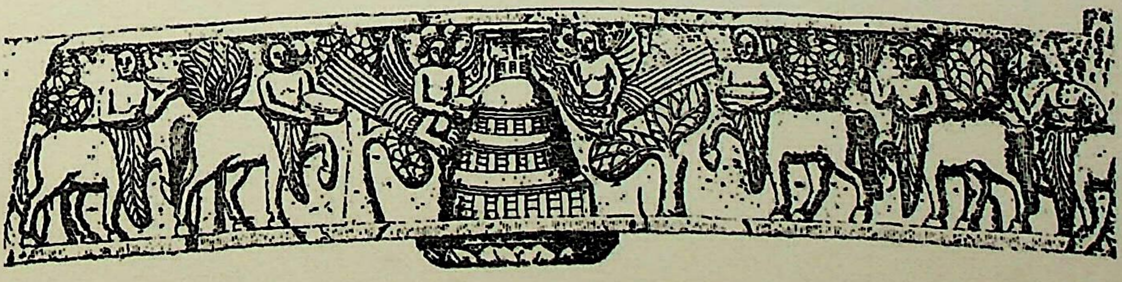

આચાર્યશ્રીને અંજલિ

[પહેલી પુણ્યતિથિએ]

(ઝૂલણા)

ભવ્ય જિનશાસને,
નવવિધાયક બની,
જનમિયો વીર વલ્લભસૂરિ તું.

સમય વરતી ગયે,
નૂતન પરખી લીધે,
નિત નવાં વ્હેણ પ્રગટ્યાં થકી તું.

ક્રાંતિનો દૂત તું,
શાંતિ દૂતે ય તું,
ધર્મ વિવાદમાં ના ખૂંપ્યો તું.

જૈન જૈનેતરે,
ધર્મ વિજયી ખરે,
'શત્રુહીન' વિરલ પદ પામિયો તું.

સકલ આ વિશ્વની,
તમસ ભૂમિ મહીં,
દિવ્ય પેગામદાતા ઋષિ તું.

તિમિર ગહ્વર સમા,
વિશ્વના ગહનમાં,
અમર કો દિવ્ય જ્યોતિ ખરે તું.

ધર્મ તેં દાખવ્યો,
ધર્મ તેં આચર્યો,
ધર્મ જીવન્તની મૂર્તિરૂપ તું.

વીર વલ્લભ! તને,
સકલ શાસન નમે,
તારી આ પુણ્યતિથિએ નમું હું.

રમણ કોઠારી

રાજલહંસને

[ભક્તિ સ્મરણાંજલિ]

વીરધર્મ માનસસરના ઓ રાજલહંસ! રસાળા !
નિજગુણ શતદલ પદ્મ સોહાગી, આત્મયોગી મર્માળા !
નયણે વયણે અમૃતધારા !

સંયમ મૌક્તિક સ્વરૂપરમણતા, નિજાનંદે ચરનારા !
શુભ્ર સભર ચારિત્ર પાંખથી, પ્રભુપથમાં ઠરનારા !
નય-નિક્ષેપ-સ્વગુણ ઠરનારા !

ઊડેલ વટપુર સરવરિયેથી, ગુર્જર તટ વહેનારા !
અદ્‌ભુત **આત્મારામ** મહાજળ, કાંઠડીયે ઠરનારા !
ગુરૂપદ પંકજ પરિમલ ધારા !

યુગ યુગનો આત્મા-આત્મામાં, અંતર્ગત થાનારા !
આત્મજ્યોતથી જગવલ્લભ, લખ-અલખ-લક્ષ ફરનારા !
ગંગ શારદ રસ રેલવનારા !

જ્ઞાનયોગ-તપત્યાગ તિતિક્ષા, આત્મવિલોપન હારા !
સવિ જીવ શાસન રસી કરવા, ન્યોછાવર થાનારા !
પલ-પલ અપ્રમત્ત અવતારા !

લઘુતા રગરગ-દૃષ્ટિ અનભો, મસ્ત નિજાનંદ ધારા !
બાલબ્રહ્મ તેજલ જ્યોતિ, માનવ કરુણા ઝબકારા !
પરખે પ્રેમ પાન પાનારા !

ઊડી! ઊડી પૃથ્વી પાવન કર, વીર સન્દેશા વ્હેનારા !
માનસસરના મોંઘા હંસલ, ૐ અર્હમ્ ઉચ્ચરનારા !
માનવ ઉત્થાને મથનારા !

હંસ વિહાર વિરામ સટે, મુંબાપુર પદ ધરનારા !
કાન્તિ–ભક્તિ સરવર કાંઠલડે, ઘડી–અધઘડી ઠરનારા !
ઊડ્યા ઓ ઊડ્યા, ઊડી જાનારા !

જીવનકાર્યના પૂર્ણવિરામે, મહપ્રાયાણ જાનારા !
મુક્તિ – રાજલહંસી મળવા, ઉતાવળા થાનારા !
કોઈ ન એને રોકણહારા !

ફફડાવી નિજ પાંખ, ઊડી, ગુંબજ ગેબી છબનારા !
સંત શ્રેષ્ઠ સૂરિ સરવર છોડી, મહાજળમાં મળનારા !
વલ્લભ અનંત આથમનારા !

પલપલ સ્મરણ-ગુણી તુજ ગુણગણ-અશ્રુખુદ્દ કરનારાં !
સ્મરણાંજલિ મણિમાળ ચરણ તુજ ૐ શાંતિ ધરનારાં !
વાહન શારદ હંસલ્લ પ્યારા !

પાદરાકર

હે આર્ષદ્રષ્ટા !

જીવન–જ્યોત બુઝાઈ કિંતુ, આત્મ–જ્યોત ઝળહળતી,
અંધારાં અમ મારગ માંહે, પથદર્શક થઈ રે'તી,
પ્રકાશનો તું પુંજ ખરેખર, લખ લખ તેજે ચમકે,
જન–મન–ગણ અંતર–આકાશે દિવ્ય સ્વરૂપે દમકે.

આર્ષદૃષ્ટિએ પરખી લીધાં, નવયુગનાં એંધાણો !
તેથી તો તેં જ્ઞાનરત્નનો ખુલ્લો મૂક્યો ખજાનો :
"કેવળ ધનના ઢગલા ઉપર ધર્મ–ધજા નહિ ફરકે,
'જય જય'ના ખાલી નારાથી આત્મ–તેજ નહિ પ્રગટે !

ક્ષુધા થકી પીડાતા જનને, કહો જ્ઞાન શા ખપનું ?
દુઃખથી સિઝાતા માનવને મુક્તિનું શું સપનું ?!
સમાજનો પ્રત્યેક માનવી સુખે રોટલો ખાશે,
ત્યારે એનું હૈયું સાચા ધર્મ મારગે જાશે !

વિશ્વ–ધર્મનું નામ લઈ વાડામાં શીદને રાચો ?
કૂપમંડુક શા ગચ્છભેદના વર્તુળમાં શેં નાચો ?
ખૂણામાં પેસીને શીદને મહાવીર નામ પુકારો ?
'મહાવીર તો કેવળ જૈનોના'—એવું શીદ મનાવો ?!

મહાવીરના સંતાનો સૌએ આવો હાથ મિલાવી,
એક અવાજે મહાવીરનો સંદેશો રહો ગજાવી;
પછી જુઓ કે સવી જીવ શાસનના રસિયા થાશે,
સત્ય–પ્રેમ–અહિંસાનાં ગીતો સારી દુનિયા ગાશે."

આમ વહાવી 'વલ્લભ' તેં તો કરુણાવંતી વાણી,
દ્રવ્ય–ક્ષેત્ર ને કાળ–ભાવને સત્વર લીધાં પિછાણી;
સમાજના રોગોની તેં તો ખરી ચિકિત્સા કીધી,
આત્મ–શુદ્ધિ કરવાને કાજે મહાઔષધિ દીધી.

*

વિજયવંત તુજ નામ અમોને અખૂટ પ્રેરણા આપો,
તારી પ્રેમ–સુવાસ સદા યે ઘટઘટ માંહે વ્યાપો !

શાંતિલાલ બી૦ શાહ

વલ્લભ-હરિયાળી

જગે જળે જ્યાં ક્રાન્તિ-જ્વાળા, વર્ણ રહે શું સખણા રે;
બંડ ઉઠાવ્યું મધ્યસ્થોએ, અંતિમ નાયક બનતો રે.

અદ્‌ભુત એના બળને નીરખી, આદ્ય અંતસ્થે અર્પી રે;
નિજ જે પુત્રી રંભારૂપે, 'પ્રસારિણી' સમ નામે રે.

લગ્ન થયાં ત્યાં એ તો રંગે, ફરી વળી શુભ કાયે રે;
'જય જય' જનતા સત્વર વદતી, જોડી જોઈ નવલી રે.

સપ્તમ અક્ષર નામે જે તે, સ્વાગત અર્થે દોડે રે;
પાય થયો ત્યાં એનો સીધો, હર્ષ હૃદે ના માતો રે.

નવના અંકે સગપણ માની, કાયા કીધી બમણી રે;
ચતુર્થ અંશે સંગતિ સાધી, અભિધા લગભગ બનતી રે.

વર્ણ-રુદ્રાંકી સંઘ સિધાવે, ઓષ્ઠાક્ષરને દ્વારે રે;
એના કુળનો એક નબીરો, ભેટે એને ધીરો રે.

આશિષ અર્પી વર્ણાધીશે, કાર્ય સધાયાં સર્વે રે;
સૂરિશ્વરની પદવી લાધી, જૈન જગત અજવાળી રે.

વિદ્યાવલ્લભ વિદ્યા કાજે, સાધન સાચાં સર્જે રે;
પરદાદાને પગલે ચાલે, પંચનદે બહુ વિહરે રે.

ગૃહસ્થ-મિત્રે ધર્મે વત્સલ, યાવચ્ચન્દ્ર દિવાકર રે;
રચી હરિયાળી રસિક-તનૂજે, દાર રમાના વચને રે.

સહસ્ર યુગ્મે કકુભ સંગે, વિક્રમ કેરા વર્ષે રે;
ભાદ્રપદે શુકલેતર પક્ષે, ચતુર્થ તિથિ ગુરુવારે રે.

હીરાલાલ ર૦ કાપડિયા

શ્રીમદ્ વિજયવલ્લભસૂરિજીને અંજલિ

—હરિગીત છંદ—

અજ્ઞાનમૂલક જૈનજનતાને જગાડી જેમણે,
નિસ્તાર વિદ્યાવિણ નથી એ તત્ત્વ શોધ્યું એમણે;
ચિન્તન કર્યું એ રોગના પ્રતિકાર અર્થે જેમણે,
સ્થાપી હતી બહુ જ્ઞાન—પરબો દીર્ઘ નજરે એમણે.

જડવાદકેરા વમળમાં વિદ્યાર્થીજન અટવાઈ જશે,
સદ્‌ધર્મની વિદ્યા મળે તો વમળ પણ વિખરાઈ જશે;
વિદ્યાતણાં સદ્ધામવિણ સંસ્કારિતા આવે નહિ,
એ કાજ વિદ્યાલય રચે ગુરુરાજ રે મુંબઈ મહીં.

શાસનપતિ મહાવીરનું વીરતાભર્યું અભિધાન છે,
તીર્થેશના એ નામ માટે સૂરિને બહુ માન છે;
એ વાત જૈન સમાજકેરાં ધ્યાન પર લાવ્યા હતા,
નિર્ણય કરી એ નામનો ઉપયોગ આદરતા હતા.

નવયુગમાં વિદ્યા વગર કો ઉન્નતિ પામે નહિ,
એ વાત યુગવીર સૂરિનાં મનમાં સજાગ વસી રહી;
ગુરુમંત્ર વિજયાનંદ આપે દીર્ઘદૃષ્ટિ વાપરી,
"વિદ્યાતણાં ધામો બધે ઉઘડાવજે વલ્લભ ફરી."

આજે તમારા યત્નથી વિદ્યાલયો શોભી રહ્યાં,
વટપ્રદ, અમદાવાદ ને પૂનામહીં સ્થિર તો થયાં;
વિદ્યાર્થીઓને ધર્મના સંસ્કાર પણ મળતા રહે,
ગુરુદેવની સેવા કરે જીવન સફળતાને વરે.

એ ચાર વિદ્યાલય છતાં ચાળીશ એમાંથી બનો,
ગુરુરાજ અમ પર આજ છે ઉપકાર અતિશે આપનો;
જનતા કહે સ્વર્ગે ગયા પણ કામથી જીવી રહ્યા,
છો ધન્ય વલ્લભસૂરિવર! જીવન સફળતાને વર્યા.

માવજી દામજી શાહ

સૂરીશ્વરને સ્મરણાંજલિ

વલ્લભ માનવજીવનમાં, વલ્લભ સંયમ સાર,
વલ્લભ ચારિત્રે શોભતા, વલ્લભ સંત્ સરદાર;
વલ્લભ શ્રદ્ધા ધર્મની, વલ્લભ સ્યાદ્દવાદનો સાર,
વલ્લભ સમકિત ધ્યાનમાં, વલ્લભ શુદ્ધ વિચાર.

*

વલ્લભ ગુજરાતે જનમિયા, વલ્લભ પંજાબે પ્રાણ,
વલ્લભ કેસરી ગર્જના, વલ્લભ જીવન લ્હાણ;
વલ્લભ મંદિર સ્થાપના, વલ્લભ ચૈત્ય વિશાળ,
વલ્લભ વિજય-આચાર્યનો, વલ્લભ વાણી રસાળ.

*

વલ્લભ સરસ્વતી સાધના, વલ્લભ જ્ઞાન પ્રચાર,
વલ્લભ વિદ્યાલય 'મહાવીર'ના, વલ્લભ સંઘનો સાથ;
વલ્લભ યુગ શિરોમણિ, વલ્લભ શાસ્ત્ર સુજાણ,
વલ્લભ કીર્તિ અખંડ છે, વલ્લભ આગમ સાર.

*

વલ્લભ જ્યોતિર્ધર યુગના, વલ્લભ દૃષ્ટિ વિશાળ,
વલ્લભ વિશ્વબંધુત્વના, વલ્લભ હૃદયે ઉલ્લાસ;
વલ્લભ મહાવીર પંથના, વલ્લભ મહારથી મહાન,
વલ્લભ શાસન જીનના, વલ્લભ જયવંત સુકાન.

*

વલ્લભ જીવન સાધના, વલ્લભ પદ નિર્વાણ,
વલ્લભ સિદ્ધિ પામતા, વલ્લભ વંદન હજાર;
વલ્લભ સ્મૃતિ સંતની, વલ્લભ ભક્તિ સુવાસ,
વલ્લભ સ્મરણ-કલ્યાણના, વલ્લભ મુક્તિ સુવાસ.

કલ્યાણચંદ્ર કે૦ ઝવેરી

નમી રહું —

નમું હે વિભૂતિ! વિમલ તવ પાદે પ્રણયથી,
પ્રતિભા દિવ્યા એ સહૃજનતણું કેન્દ્ર બનતી;
હમેશાં સોહાતું મધુર મુખડું સૌરભભર્યું,
તથા ચક્ષુઓમાં નવીન દૃષ્ટિનું કૈં અમી હતું!
તમારી ગિરામાં શબ્દ શબ્દે ફૂલ ઝરતાં,
વહાવી અંગાંગે પ્રણયઝરણાં – વલ્લભ બન્યા;
તથાપિ ના ભીંજ્યા જગઉદધિના વારિ ગહને,
રૂપાળા કાસારે જયમ કુસુમ નિર્લેપ જ રહે!

તમે નિત્યે સીંચ્યાં જીવનતરુએ તો ય મધુરાં,
તમે માંડી મીઠી પરબ રમણી પંથ મજલે;
પ્રસાર્યો જ્યોતિ વા ઘનતિમિર પંથે થઈ પૂષા,
અને એવી રીતે મૃત જીવનમાં ચેતન ભર્યાં.
તમારી દૃષ્ટિઓ અમ જીવનનાં ધ્યેય બનજો!
તમારી સૃષ્ટિઓ અમ જીવનનાં સ્વર્ગ બનજો!

નવીનચંદ્ર અંબાલાલ શાહ

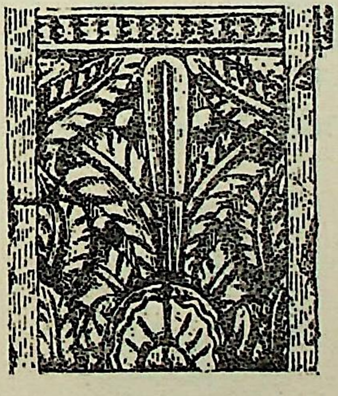

અમર વલ્લભ

અમર તું મરણે રે ધર્મ–ધુરંધર ધોરી,
ધર્મને કાજે રે તેં વાત ન રાખી અધૂરી.

ગુજરાનવાલા ગુરુકુળ કરીને, ગુરુગુણ જગમાં ગાયો;
મહાવીર વિદ્યાલય વિરચીને, વલ્લભ ડંકો બજાવ્યો …… અમર૦

શ્રાવક – શ્રાવિકા ઉન્નતિમાં સંઘ ઉન્નતિ સમજાવી;
સાધુ – સાધ્વીના ય જીવનમાં, ધર્મ-ધજા ફરકાવી …… અમર૦

ગુજરાતી તુજ ગુણના રાગી પંજાબી બડભાગી;
સર્વજનો તુજ દર્શન કરતાં, અમૃત પીયે અમાપી …… અમર૦

દૃઢતા શક્તિ અણનમ તારી, કાર્યકુશળતા ભારી;
લીધું કાર્ય તેં પાર જ પાડયું, એવો તું પ્રતાપી …… અમર૦

સર્વ ધર્મની તુલના કરીને, સાચો રાહ તેં ઝાલ્યો;
સત્ય ઉચ્ચરતાં જીભ ન અટકી, એવો તું ભેખધારી …… અમર૦

કોઇ કહે પંજાબ કેસરી, કોઈ ગુણાનુરાગી;
કોઈ વદે છે: પુણ્યપ્રતાપી, કોઈ તિમિરતરણી …… અમર૦

શું કહું તુજને મહા તપસ્વી! જાણ ન પડતી મુજને;
સંત કહું કે મહંત કહું, કે કહું સુકૃત કરણી …… અમર૦

વચને વચને ફૂલડાં ઝરતાં, દર્શને ચેતન ઊછળે;
તુજ જીવનનો અમીરસ પીતાં, પ્રેરણા નવનવ પ્રગટે …… અમર૦

વંદન તુજને વિશ્વવિભૂતિ, વંદન મહાવ્રતધારી;
ધર્મને કાજે તેં તો ગુરુજી, ગાત્રો દીધાં ગાળી …… અમર૦

આતમરામી ગુરુગુણગામી, કીર્તિ જગમાં જામી;
અમર થયો તું આ જીવનમાં, વદે 'પ્રવીણ' શીશનામી …… અમર૦

પ્રવીણચંદ્ર જેચંદ મહેતા

સૂરિજીનો જીવનસૂર

ભારત !
અનોખો ને અદ્‌ભુત
કેવો ભાગ્યવાન દેશ ! કે
તુજ કુંખે અવતર્યા યુગેયુગે
માર્ગદર્શક મહાત્માઓ;
રામ ને શ્રીકૃષ્ણ
ગૌતમ, વર્ધમાન ને મોહને
નિજ જીવનની પારદર્શકતાએ
દાખવ્યા સૌને અનુસરવા
સત્ય, માનવપ્રેમ ને અહિંસા.
માનવજીવન સુપથે વાળી
વિશ્વે સુખશાંતિ પાથર્યા.

ગુજરાત !
ગર્વિલી ગુજરાત !
તેં પણ ભેટ ધર્યા ભારતને
પ્રાતઃસ્મરણીય માનવરત્નો,
દુર્લભ પામવા ફરી ફરી.
મહારત્નો એ જોડ વલ્લભ રત્નો,
એક પ્રકાશ્યો રાજક્ષેત્રે
અન્યે અજવાળ્યું ધર્મક્ષેત્ર.
રાજક્ષેત્રે હાક વગાડી
ત્રાહ્ય પોકારાવી રાજશાહીને;
જનતાનાં રક્તે વિલાસતાં,
બ્રિટિશ રાજ રમકડાંઓને
સુણાવ્યું કે—
“માતૃભૂમિની એક્તા ખાતર
તાજ અને દંડ માતૃચરણે ધરો;
સમાજ એવો રચો કે
ઊંચનીચના ભેદ ન રહો.”
ને
સેંકડોમાં છૂંદાયેલો ભારત
ફરી એક ને અખંડ થયો,
વલ્લભ ! એ તુજ પ્રતાપે.

જૈનભારત !
તેં પણ દીઠો ધર્મક્ષેત્રે,
સમય ધર્મ પિછાનતો,
જૈન જાગૃતિ ઝંખતો,
અહોનિશ ઉત્થાન રટતો,
જૈનબાલનાં દુઃખે દ્રવતો,
કલ્યાણનાં કાર્યો કથતો,
જીવનભર એકતા ઉદ્‌બોધતો,
નીડર અને અહિંસક
વીરનો સત્ય અનુગામી,
શાસનનો સાચો ઉદ્ધારક
દૂરંદેશી અને સર્વદર્શી
પંજાબકેસરી, વલ્લભસૂરિ.

વીર સંતાનો !
આપણાં સદ્‌ભાગ્ય કે,
ભૂલેલાને સુપંથે વાળવા,
સમયધર્મ સમજાવવા,
અંધશ્રદ્ધાએ વિપથગામીને
સત્ય દાખવી પ્રકાશ પાથરવા,
ચીલાની ચાલે ન ચડતાં
સત્ય દર્શન દાખવવા,
વલ્લભવીર શ્રમણ
આપણ વચ્ચે સાધુરૂપે પ્રકાશ્યા.

ગુરૂદેવ ! આચાર્ય વલ્લભ !
અમારા અનંત અહોભાગ્ય
અમ ભાંડુઓનાં અહોભાગ્ય
અહોભાગ્ય જૈન સમાજના, કે
સત્ય સચોટ સમજાવટે
જ્ઞાન–પિપાસા સંતોષવા
માર્ગ મોકળા થયા, ને
પામ્યા અર્વાચીન જ્ઞાન, જે
અલભ્ય ને અનિવાર્ય હતું.
નૂતન વિદ્યાની પરબો મંડાવી

જ્ઞાન જળે સિંચ્યા,
જૈનબાલની જ્ઞાનતૃષા છીપી;
ને
પછાત રેʼવા સર્જાયેલ સમાજે
વૈદ્ય, વકીલ ને ઈજનેર ભાળ્યા.

પંજાબકેસરી !
કેસરી કહેવાણો પણ
કાળજું હતું કોમળ;
જૈન સમાજનું દુઃખ દેખી
હૃદયે અંગાર જળતો,
સમાજની અવદશાએ
ધર્મની અધોગતિ પિછાણતો,
ધર્મ ને સમાજોત્થાનની
જીવનભર ચિંતા સેવી;
તેથી
જૈન-જગત જગાડવા
જીવનભર અહાલેક જગાવ્યો.

યોગીવર !
જીવનનાં આરે બેઠે
કદી જંપ ન કીધો,
ગામ, પૂર, નગર ને ગલીએ
ડોળી બેસી ઘમ્યો, ને
અમર આદેશ આપ્યો :
"જાગ, જૈન જાગ,
સત્ય સ્વામિવાત્સલ્ય સમજી
સંપત્તિનો સદુપયોગ કર ને
નિરુદ્યમીને ઉદ્યોગ આપ,
નિરક્ષરતા નિવારવા
ગામેગામે જ્ઞાનપરબ માંડ,
નિરાધારનાં દુઃખ નિવાર ને
સ્ત્રી–શિક્ષણ અંગે ધર,
વિધવાઓનાં વિલાપ હર ને
સમાજનું આરોગ્ય સુધાર,
તો જ
સ્વામિવાત્સલ્યે તેજફુવારા ઊડશે ને
લક્ષ્મી નિજ ગજવાહને ઝુલાવશે.
શ્રાવક અને શ્રાવિકા
ચતુર્વિધ સંઘના બે પાયા,
પાયાની પુરણી પાકી
તેટલી શાસનની સ્થિરતા.
નિર્ધન નિર્જ્ઞાની જૈન
પાતાળ પેટ પહોંચેલ દેહે
શી કરશે ધર્મની સેવા ?
કેમ કરશે સમાજોદ્ધાર ?
જૈન શાસન જયવંતુ કેમ થશે ?
માટે
શાસનનાં સુપુત્રો !
સત્યધર્મ ને રાજપ્રવાહો પારખી,
સંપત્તિનો સદુપયોગ સેવો
ને
બદલો વાપરવાનાં વહેણ.
અંધશ્રદ્ધા ને અંધભક્તિએ
ન અથડાતાં ભટકાતાં કે દોરાતાં
વિચારો નિજ દિલનાં ઊંડાણે, ને
સત્ય રાહ શોધી અને ગ્રહી
વીરના વીર પુત્રો !
નીડર બની આગળ વધો;
એ જ અંતિમ ઇચ્છા ને આશા.

જયંત એમ. પટણી, એમ. બી., બી. એસ.

* * *

આપણા શ્રીવલ્લભ ગુરુદેવ

આચાર્ય વિજયસમુદ્રસૂરિ

આ પૃથ્વી પર અનેક મનુષ્યો જન્મ્યા, ઠીક લાગે તેમ જીવ્યા અને અંતે મૃત્યુને શરણ થયા. જગત કેટલાંનાં તો નામ પણ જાણતું નથી, તેઓ ક્યારે જન્મ્યા અને ક્યારે ઢળી પડ્યા તેની કોઈએ નોંધ પણ નથી લીધી; જ્યારે બીજી બાજુ એવી કેટલીક વ્યક્તિઓ થઈ ગઈ જેનું નામ લેતાં એક પ્રકારનો અલૌકિક આનંદ થાય છે, હૃદય પ્રફુલ્લિત બને છે. કારણ કે એ વ્યક્તિઓ પોતાની પાછળ એવી સૌરભ મૂકતી ગઈ હોય છે કે જેની ફોરમ સદાય ફોર્યા કરે. આવી વ્યક્તિઓ જીવન જીવવાની નવીન દૃષ્ટિ અર્પે છે: સુખ પ્રાપ્ત કરવાની અદ્ભુત જડીબુટ્ટી દર્શાવે છે.

પૂ૰ વિજયવલ્લભસૂરિ એવી વ્યક્તિઓમાંના એક હતા. તેમની પાસે તેમની પોતાની આગવી પ્રતિભા અને દિવ્ય શક્તિ હતાં. દુ:ખ અને આપત્તિઓમાં સપડાયેલ સમાજને જાગ્રત કરવાની તમન્ના હતી. પવિત્ર જીવન જીવી દુનિયાને અમૂલ્ય પેગામ પહોંચાડવાની તીવ્ર અભિલાષા હતી.

બાળપણથી જ તેમનાં લક્ષણો ભિન્ન તરી આવતાં. કંઇક નૂતન પ્રગતિ કરવાની અને કોઈ અજાણ તત્ત્વની ખોજ કરવાની તેમને પ્રથમથી જ તમન્ના જાગેલી; અને આ તમન્નાએ જ અનેક વિઘ્નો છતાં તેમને બાળપણમાં જ દીક્ષિત બનાવી દીધા. ભરયુવાનીમાં તેઓ ત્યાગી, વૈરાગી બન્યા. દુનિયા તરફ નિહાળવાની એક પવિત્ર સ્વતંત્ર દૃષ્ટિ કેળવી. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' એ તેમનું જીવનસૂત્ર બન્યું, ને એ જીવનસૂત્રને સદાય દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખી જૈન-જૈનેતરના ભેદભાવ વિના ગરીબ હોય કે અમીર, રાજા હોય કે રંક, અધિકારી હોય કે અનધિકારી, વણિક હોય કે બ્રાહ્મણ, હિન્દુ હોય કે મુસલમાન—સૌને વીતરાગ દેવનો શુભ સંદેશ સંભળાવ્યો. હજારોને માંસ–મદિરા અને દુરાચારનો ત્યાગ કરાવ્યો. પંજાબ, રાજસ્થાન, ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, મધ્યપ્રાંત, મહારાષ્ટ્ર આદિ પ્રદેશોમાં વિચરી પોતાનાં જ્ઞાન શક્તિ તેમ જ ચારિત્ર્યબળ દ્વારા પંજાબના પ્રાણ, રાજસ્થાનના નૂર, ગુજરાતનું ગૌરવ, સૌરાષ્ટ્રના આદર્શ અને મહારાષ્ટ્રના માનનીય બન્યા. પંજાબને સુધાર્યો, રાજસ્થાનને જગાડ્યો, ગુજરાતમાં ગર્જના કરી, સૌરાષ્ટ્રને ઉજાળ્યો અને મહારાષ્ટ્રને ઉગાર્યો. ધાર્મિક તેમ જ સામાજિક પ્રગતિ અર્થે ખૂબ શ્રમ લીધો. દેશદેશાન્તરોમાં ઘૂમી પ્રવચનો કર્યાં અને જ્ઞાનની પરબો ઊભી કરી. મુંબઈમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરી અને ત્યારપછી અમદાવાદ, પૂના તેમ જ વડોદરા ખાતે તેનો વધુ વિકાસ થયો. વરકાણામાં પાર્શ્વનાથ જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરી. આમ આવી જ્ઞાનપરબો ઊભી કરી તેમણે સૌને અમૃત જેવાં મીઠાં નીર પાયાં. આખી જૈન વિદ્યાર્થી આલમ તેમના આ ઉપકારને કદી વીસરી શકશે નહિ.

પૂ૰ ગુરુજીએ માત્ર કેળવણી માટે જ પ્રયત્ન કર્યો એમ નથી, જૈનશાસનની ઉન્નતિ અર્થે બીજાં અનેક કાર્યો પણ તેમણે કર્યાં. ઉપધાન, ઉજમણાં, અંજનશલાકા, પ્રતિષ્ઠા, જીર્ણોદ્ધાર, નવાં મંદિરો, ઉપાશ્રયો, ધર્મશાળાઓ આદિના ઉત્તેજન માટે સહાયતા મેળવી. ભિન્ન ભિન્ન સ્થળોએ પ્રવચનો કરી તેમણે પોતાના સંદેશને પહોંચાડ્યો. તેમનાં પ્રવચનોમાં સચ્ચાઈનો રણકો હતો, તેમની વાણીમાં અમૃતની મીઠાશ હતી, એમની પ્રતિભામાં અદ્ભુત તેજ હતું. એ અલૌકિક બળે અને અદ્ભુત પ્રતિભાએ અનેક ચમત્કારો ઉપજાવ્યા. એ ચમત્કારોને આપણે જાદુ નહિ કહીએ, પણ ચારિત્ર્યનો પ્રભાવ ગણીશું. પૂ૰ ગુરુજી

જાતે પણ તેને ચમત્કાર તરીકે ન ઓળખાવે, પણ આપણી સામાન્ય દૃષ્ટિ તેમાં આશ્ચર્ય જુએ એ સ્વાભાવિક છે. એવા કયા પ્રસંગો હતા કે જેને લીધે આપણે ઊંડા વિચારમાં પડી જઈએ છીએ ?

પૂ૦ ગુરુજીનો આશીર્વાદ કદી નિષ્ફળ જતો નહિ. એકવાર ચોપાટી પર તેઓશ્રી પ્રવચન કરી રહ્યા હતા. એવામાં એક માણસે પાસે આવી ગુરુજીને પ્રણામ કર્યા અને પૂછ્યું: ‘આપ મને ઓળખો છો ?’ ગુરુજીએ કહ્યું: ‘ના ભાઈ.’ ત્યારે પેલાએ કહ્યું: ‘હે પ્રાણવલ્લભ, તમે તો મારા પ્રાણદાતા છો. હું મેરઠ જિલ્લાનો રહીશ છું. વકીલનો ધંધો કરું છું. એકવાર કોઈ ગુના અંગે મને ફાંસીની સજા થઈ. આવી કરુણ પરિસ્થિતિ મારી પત્નીથી સહન ન થઈ શકી અને આશીર્વાદ માટે તે આપની પાસે દોડી આવી. આપ પણ ગળગળા થઈ ગયા અને આશિષ દીધી કે ‘દેવગુરુધર્મપસાયે સબકુછ અચ્છા હો જાયેગા’ અને આપનો આશીર્વાદરૂપી વાસક્ષેપ લઈ તે મારી પાસે આવી. અંતે હું બચી ગયો અને મને જીવનદાન મળ્યું.’ આ વાત સાંભળી ગુરુજીને આનંદ થયો અને પેલા ભાઈ પણ જેના આશીર્વાદથી પોતે બચી શક્યો એ ગુરુનાં દર્શન થવાથી પરમ આનંદ અનુભવી રહ્યા.

બીજો પ્રસંગ : એકવાર પૂ૦ વિજયવલ્લભસૂરિ પાલીતાણામાં હતા તે દરમિયાન એક દિવસ સુપ્રસિદ્ધ સંગીતકાર લાલા ઘનશ્યામજીને સર્પે દંશ દીધો. છેલ્લી ઘડીઓ હતી, કારણ કે ઝેર પ્રસરતું જતું હતું. એવામાં ઘનશ્યામજીના મિત્ર રતનચંદજી પૂ૦ ગુરુજી પાસે આવ્યા અને બધી હકીકત વિગતવાર જણાવી. ગુરુદેવે તો હંમેશની જેમ આશીર્વાદ આપ્યા અને કહ્યું : ‘સબકુછ અચ્છા હો જાયેગા.’ શ્રી રતનચંદજી વાસક્ષેપ લઈ પાછા આવ્યા અને તેનો જેવો ઉપચાર થયો એવું ઝેર ઊતરવા લાગ્યું અને લાલા ઘનશ્યામજીએ જાણે નવું જીવન પ્રાપ્ત કર્યું ! ત્યારપછી તો ઘનશ્યામજી ગુરુજીના પરમ ભક્ત બનીને રહ્યા.

ત્રીજો પ્રસંગ : સં૦ ૧૯૯૨માં શંખતરા નગરમાં અંજનશલાકાની પ્રતિષ્ઠા કરાવી પાછા ફરતાં તેઓ એક વાર પંજાબમાં આવેલા પસુર ગામમાં રોકાયા. આ ગામ હાલ પાકિસ્તાનમાં છે. ત્યાં સખત ગરમી પડતી હતી. તેમને પાણીનું એક ટીપું પણ મળ્યું નહિ, તેમનો આવકાર પણ ન થયો; આથી ગામ છોડી તેમને તુરત જ આગળ વિહાર કરવો પડ્યો. કોણ જાણે કેમ પણ તે વખતે ત્યાંના કૂવાઓનું પાણી ખારું બની ગયું. ત્યારપછી સં૦ ૧૯૯૮માં તેઓ જ્યારે ફરી પાછા એ જ ગામમાં આવ્યા ત્યારે તેમનું ભાવભીનું સ્વાગત થયું. લોકોએ ભક્તિભાવથી સ્તુતિ કરી. કારણ ગમે તે હોય પણ નવાઈભરી રીતે કૂવાઓનું પાણી સાકર જેવું મીઠું બની ગયું અને ઊંડા ઊતરી ગયેલા કૂવાઓમાં પૂરતું પાણી આવ્યું. સુકાઈ ગયેલી નદીમાં પાણીનો ભરપૂર પ્રવાહ વહેવા લાગ્યો ! આવી ઘટનાઓથી લોકોમાં ખૂબ આશ્ચર્ય પેદા થતું.

ચોથો પ્રસંગ : બડૌત નગરમાં સં૦ ૧૯૯૬માં ત્યાંના જૈન મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરાવવાની હતી, માહ મહિનાની કડકડતી ઠંડી પડતી હતી, પરંતુ પ્રતિષ્ઠાનો ઉત્સવ હોવાથી લોકોનો ઉત્સાહ માતો ન હતો. રથયાત્રાની પૂરી તૈયારીઓ થઈ ગઈ હતી. આજુબાજુનાં ગામોમાંથી અનેક લોકો આવેલા. દિગંબર જૈન હાઈસ્કૂલના મેદાનમાં આત્મવલ્લભનગરની રચના રચાઈ હતી. અનેક વેપારીઓએ પોતાના સ્ટૉલો ઊભા કર્યા હતા. ઝવેરાત, સોનાચાંદીના કીમતી દાગીના, અનેક જાતનાં વાસણો, જરીથી માંડી રેશમી, સુતરાઉ વગેરે જાતજાતનાં કાપડની હારબંધ દુકાનો ખડી થઈ ગઈ હતી. રમતગમતો માટે પણ યોગ્ય વ્યવસ્થા થઈ હતી. બધું વાતાવરણ આનંદ અને ઉમંગથી સભર હતું. પણ કમનસીબે એટલામાં સર્વત્ર વાદળો ઘેરાઈ વળ્યાં. અંધારું ઘોર થઈ ગયું. વીજળીના ચમકારા થવા માંડ્યા અને જાણે હમણાં પ્રલય સર્જતું તાંડવ-નૃત્ય મચી જશે એવી ભીતિ પેદા થઈ. બધી કીમતી ચીજોનો નાશ થઈ જશે અને પ્રતિષ્ઠાનો

ઉત્સવ નહિ ઊજવી શકાય એવી ચિંતાઓ થવા માંડી. સૌ પ્રભુને પ્રાર્થના કરવા માંડ્યા. મુસલમાનોએ પણ બંદગી શરૂ કરી. આ વખતે જૈનોએ પૂ૦ ગુરુજી તરફ મીટ માંડી. સૌ તેમની પાસે ગયા અને હતાશ હૈયે પૂછવા લાગ્યા: ‘ શું આપણો ઉત્સવ ભાંગી પડશે ? ’ પણ ગુરુદેવે તો સ્મિત કરી જવાબ આપ્યો: ‘ સબ કુછ અચ્છા હો જાયેગા. ’ અને ખરેખર બધું જ સારું થઈ ગયું. મેઘ ગાજ્યા પણ વરસ્યા નહિ. આકાશ ધીમે ધીમે સ્વચ્છ થઈ ગયું. મુસલમાનોના હૃદયમાં પલટો થયો અને જે પહેલાં મસ્જિદ પાસેથી રથયાત્રા પસાર થવા દેવાની આનાકાની કરતા હતા તે પણ હવે વિના સંકોચે રજા આપવા તૈયાર થયા. એ બધો ગુરુજીનો પ્રભાવ હતો. ભયનું વાતાવરણ શમી ગયું અને સર્વત્ર આનંદની લહરીઓ પ્રસરી. મંગળ ગીતો ગાવાં શરૂ થયાં. શરણાઈઓના સૂર વહેવા લાગ્યા.

પાંચમો પ્રસંગ: ભારત-પાકિસ્તાન એવા ભાગલા પડ્યા તે સમયે ગુરુદેવ ગુજરાનવાલામાં બિરાજમાન હતા. હવે તેમણે ગુજરાનવાલા છોડી આગળ વિહાર કરવાનું નક્કી કર્યું. આ વાતની મુસલમાનોને ખબર પડી એટલે તેમણે આ ભાવડા (પંજાબમાં જૈનોને મુસલમાનો ભાવડા કહી સંબોધતા) લોકોને લૂંટવાનું નક્કી કર્યું. ગુજરાનવાલાથી ત્રણ માઈલ દૂર આવેલ મોતી નહેરના પુલ નીચે ઝાડીમાં હથિયારો સહિત બધા મુસલમાનો સંતાઈ ગયા. આ વાતની ગુરુદેવને ખબર પડતાં તેમણે તે દિવસે વિહાર કરવાનો વિચાર પડતો મૂકીને આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળના વિશાળ મેદાનમાં રોકાઈ જવાનો નિર્ણય કર્યો. આ સમયે એક શીખ સરદાર મિલિટરી ટૂકડી સાથે ત્યાંથી પસાર થઈ રહ્યો હતો; અને તેને ખબર પડતાં તે ગુરુદેવ પાસે આવ્યો. ગુરુદેવને તેણે નમસ્કાર કર્યા. મુસલમાનોની હેરાનગતિની વાત સાંભળતાં તેમણે આગળ જવાનું પડતું મૂકી પ્રથમ ગુરુદેવ તેમ જ તેમના સાધુસમુદાયને જવાના સ્થળે સુખરૂપ પહોંચાડ્યા. આવી અણધારી મદદ મળી રહે એ કાંઈ ઓછી નવાઈની વાત નથી.

આવા અનેક કટુમીઠા પ્રસંગો ગુરુદેવના જીવનમાં બન્યા હતા, પરંતુ કોઈપણ પ્રસંગે તેમણે હૃદયનું ધૈર્ય ગુમાવ્યું નથી. તેમનામાં વેરઝેર ન હતાં. સર્વ પ્રતિ દયાભાવના હતી. દરેક પ્રતિ સમાન દૃષ્ટિથી જોવાની વૃત્તિ કેળવી હતી. જ્યાં વેરઝેર ને રાગદ્વેષ ભાળ્યાં ત્યાં તેમણે તે દૂર કરી સંગઠન સ્થાપવાનો પ્રયત્ન કર્યો. જૈન-જૈનેતર એવો ભેદ તેમણે કદી રાખ્યો નથી. તેઓશ્રીના વિશાળ હૃદયમાં માનવતા રોમે રોમે પ્રસરેલ હતી. તેઓ તો સત્યના ચાહક હતા. એટલે જે સત્યનો ચાહક એ એમનો ચાહક. જીવનમાં જે સત્ય તેમને લાધ્યું તે તેમણે બીજાને દર્શાવવાનો પ્રયત્ન કર્યો. બધા જ સુખી થાય એવી ઉચ્ચ ભાવનાથી પ્રેરાઈને તેમણે કેટલાંક ચિરસ્મરણીય કાર્યો કર્યાં. પ્રભુ, આવા પવિત્ર આત્માઓની પ્રતિષ્ઠા દિવસે દિવસે બઢતી જ રહો.

તીર્થંકરોના ચરણે ઉચ્ચારેલ માતાનું વચન સાર્થક

મુનિશ્રી ઇંદ્રવિજયગણિવર્ય

સાચા મહાપુરુષનું જીવન શરૂઆતથી જ મહાન હોય છે. તેની મહાનતાનાં ચિહ્નો બાળપણથી જ એક યા બીજા સ્વરૂપે દેખા દે છે. ભારતની એક ભવ્ય વિભૂતિ અને ગુજરાતનું ગૌરવ એવા પંજાબકેસરી પૂ૦ શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના જીવનમાં પણ એમ જ બન્યું હતું. પોતાની નાની વયમાં જ માતાથી તેમને વિખૂટા પડવાનું આવ્યું—માતાએ સ્વર્ગ પ્રતિ પ્રયાણ કર્યું, પણ તે સમયે તેમણે ઉચ્ચારેલા ઉદ્‌ગારો ખરેખર ભાવિની આગાહીરૂપ જ હતા. પોતાના લાડીલા છગનનું જીવન તેણે તીર્થંકરના ચરણોમાં અર્પી દીધું.

માતાના એ પવિત્ર ઉદ્‌ગારો તે સપૂતે સાર્થક કર્યા. શરૂઆતથી જ અસાર સંસાર પ્રતિ એક પ્રકારની ઘૃણા ઉત્પન્ન થઈ. જીવનનું સમગ્ર દૃષ્ટિબિન્દુ વૈરાગ્ય, સંસ્કાર અને ચારિત્ર્યમાં કેન્દ્રિત બન્યું. પોતાના વડીલ ભાઈના તેમ જ અન્ય સગાસંબંધીના વિરોધ, આનાકાની અને અટકાયત છતાં તેણે પોતાના ધ્યેયમાંથી પાછી પાની ન કરી; અને તે ધ્યેયને પહોંચવામાં જ પોતાના જીવનની સાર્થકતા માનીને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના પવિત્ર ચરણોમાં તેણે પોતાનું શિર ઢાળી દીધું અને આમ તે છગન મટી વલ્લભ બન્યા.

જે માનવીના હૃદયમાં કંઈક નિશ્ચિત અભિલાષા હોય છે તેને તે અભિલાષા પ્રતિ પહોંચવા કોઈ યોગ્ય માર્ગ મળી જ રહે છે. જેના હૃદયમાં આકાંક્ષાનું બીજ પડ્યું હોય છે તે કોઈક દિવસ પાંગરીને વિશાળ વૃક્ષનું સ્વરૂપ અવશ્ય ધારણ કરે છે. પૂ૦ શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિના હૃદયમાં આધ્યાત્મિક પ્રગતિની તમન્ના જાગી હતી અને તે તમન્ના–અભિલાષા–આદર્શને પહોંચવા તેમને યોગ્ય પંથ મળી ગયો. તેજસ્વી વ્યક્તિત્વવાળા પૂ૦ આત્મારામજી જેવા ગુણસંપન્ન અને ચારિત્ર્યવાન ગુરુ મળ્યા અને તેમની છાયા નીચે પૂ૦ શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિએ પોતાનું જીવનનાવ હંકારી મૂક્યું. તેમની નાવડીને યોગ્ય સુકાની મળી ગયો.

જૈનશાસનની પ્રગતિ અર્થે જેમણે પોતાનું સમગ્ર જીવન ખર્ચી નાખ્યું એ આત્મારામજીની દોરવણી નીચે તેમણે જૈન ધર્મના મહાન ગ્રંથોનું અધ્યયન આદર્યું. સાચા ગુરુના તે સાચા શિષ્ય બન્યા. ગુરુની શ્રદ્ધા અને પ્રીતિ તેમણે પ્રાપ્ત કરી. જૈન ધર્મનાં મૂળ તત્ત્વો અને ગૂઢ રહસ્યોને પામવા તેમણે અથાગ જહેમત ઉઠાવી. પૂ૦ આત્મારામજીને આગમોનું સારું એવું જ્ઞાન હતું. ષડ્‌દર્શનનો ઊંડો અભ્યાસ હતો. આ બધા જ્ઞાનનો નમ્ર, વિનયી અને શાણા શિષ્યે યોગ્ય લાભ લીધો અને તે જ્ઞાનરૂપી પીયૂષની ધારા સર્વત્ર વહેવડાવવા જબરદસ્ત ભેખ લીધો. ગામેગામ ને શહેરેશહેર ફરી ગુરુના સંદેશની સૌરભ પ્રસારી દીધી અને સર્વત્ર ઉમંગ અને પાવિત્ર્યની લહરી લહેરાઈ રહી.

જૈનધર્મના પાયામાં રહેલા સિદ્ધાંતો અને સત્યોને જો સારી રીતે સમજવામાં આવે તો અવશ્ય લાગે કે જૈનધર્મ ખરેખર એક ઉચ્ચ ધર્મ છે. એ ધર્મને પ્રચારક દૃષ્ટિએ નહિ પણ સર્વોદયની દૃષ્ટિએ ફેલાવવાની પૂ૦ સૂરિજીના હૃદયમાં અનેક ઊર્મિઓ પ્રવર્તી રહી હતી. એ ઊર્મિઓને અમલમાં મૂકવા તેમણે માત્ર આધ્યાત્મિક કે બિનસાંસારિક દૃષ્ટિ ન રાખતાં સાથે સાથે વ્યાવહારિક દૃષ્ટિ પણ ધ્યાનમાં રાખી. જૈન સમાજની ઉન્નતિમાં તેમણે જૈનધર્મની ઉન્નતિ પણ નિહાળી. જગતમાં વ્યાવહારિક રીતે જૈનસમાજને આગળ લાવવાનું તેમને યોગ્ય લાગ્યું. ખરેખર આ એક દીર્ઘદૃષ્ટિ હતી. એ દીર્ઘદૃષ્ટિના

ફળ આજે આપણને મળ્યાં છે. એ ઊર્મિએ આપણને અંબાલામાં જૈન કૉલેજ, ફાલનામાં કૉલેજ તથા વરકાણા હાઈસ્કૂલ આપી; મુંબઈમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જેવી ભવ્ય સંસ્થા અને અમદાવાદ, પૂના તેમ જ વડોદરામાં તેની જ મજબૂત શાખાઓ અર્પી. આ ઉપરાંત પ્રગતિનાં શિખર સર કરતી બીજી અનેક સંસ્થાઓ અસ્તિત્વમાં આવી અને પરિણામે જૈન બાળકોમાં જ્ઞાનની અતિ ઉજ્જવળ શિખા પ્રગટી ઊઠી.

આ બધાને વટાવી જાય એવી એક રમ્ય ઊર્મિ તેમના હૃદયમાં ઊછળી રહી હતી અને તે હતી એક વિશાળ જૈન યુનિવર્સિટી સ્થાપવાની. આપણે ઇચ્છીએ કે તેમની એ ઊર્મિ પરિપૂર્ણ કરવા આપણે અથાગ પ્રયત્ન આદરી કટિબદ્ધ થઈએ.

મહાન વ્યક્તિઓ તેમના ગુણોથી જ મહેકી ઊઠતી હોય છે. તેમના એ ગુણોમાં અજબ પ્રકારની આકર્ષક શક્તિ હોય છે. એ ગુણોની છબી તેમની પ્રતિભામાં સારી રીતે પ્રતિબિંબિત થયેલી હોય છે. સામાન્ય રીતે એવી માન્યતા છે કે તીર્થંકરો જ્યાં વિહાર કરે ત્યાં કંટકો પણ પોતાનાં મુખ શરમથી નીચાં ઢાળી દે અને તેમનો માર્ગ આપોઆપ સાફ થઈ જાય. તેમનામાં રહેલા ગુણો જ જાણે તેમના દૂતનું કાર્ય કરતા હોય અને તે દૂતો તેમના આગમનનો સંદેશો સર્વત્ર પહોંચાડી દે. તેથી જ એક કવિ ગાય છે કે :

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपि वसतां सतां ।
केतकीगंधमाघ्रातुं स्वयमायान्ति षट्पदाः ॥

કેતકીમાં કુદરતી રીતે જ મીઠી સુગંધ રહેલી હોય છે, પણ એ સુગંધનો પ્રચાર કરવા કેતકી ક્યાંય મુસાફરી કરવા જતી નથી——તેની સુગંધથી આકર્ષાઈને ભ્રમરો પોતે જ ત્યાં આવતા હોય છે. તેવી જ રીતે મહાન પુરુષો પોતે પોતાની આત્મપ્રશંસા કરવા ક્યાંય જતા નથી, તેમના ગુણો જ તેમના દૂતો તરીકેનું કાર્ય કરે છે, અને એ ગુણોથી જ અન્ય જનો તેમના પ્રતિ ખેંચાય છે. આ રીતે ગુણોનો અતિ કીમતી પ્રભાવ છે. જેટલા ગુણો વધુ તેટલા તે વધુ મહાન. પૂ૦ સૂરિજી જ્યાં જતા ત્યાં તેમના ગુણોની સૌરભથી સમગ્ર વાતાવરણ મહેકી ઊઠતું. સર્વત્ર આનંદ, ઉમંગ અને ઉત્સાહ પ્રવર્તી રહેતો. તેમના ગુણોમાં રહેલી અજબ ચમકથી માત્ર જૈનો નહિ પરંતુ જૈનેતરો પણ એટલા જ આકર્ષાતા.

સદ્ગુણી પુરુષોની વાણીમાં અપૂર્વ માધુર્ય હોય છે. તેમના મુખમાં કટુ વાણી કદી પ્રવેશ કરી શકતી નથી. કડવી વાત પણ એટલી મીઠાશથી તેઓ કહે છે કે એમાં કડવાશનો અંશ પણ રહેતો નથી. આગમમાં પણ કહ્યું છે કે :

महुरं निउणं थोवं, कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं ।
पुव्विं मइसंकलियं, भणंति जं धम्मसंजुत्तं ॥

મહાન વ્યક્તિઓ પોતાનાં વચન અતીવ મધુર રીતે, તેના અર્થની સંકલના જાળવી, ખૂબ વિવેકપૂર્વક અને બુદ્ધિપૂર્વક બોલતા હોય છે—તેમાં અભિમાનનો ઓછાયો પણ હોતો નથી.

પૂજ્ય ગુરુદેવનું હૃદય પણ ખૂબ સુકોમળ હતું. તેમની વાણીમાં અપૂર્વ માધુર્ય અને અલૌકિક આકર્ષણ હતું. તે વાણી અંતરની વાણી હતી અને તેથી જ તેમાં સનાતન સત્યોનું સિંચન થતું.

જેમના જીવનમાં ખરેખર પોતાનું કંઈક સ્વતંત્ર સત્ત્વ હોય છે તેનું તેજ પથરાયા વિના રહેતું નથી અને તે તેજમાં આવતી બીજી ચીજો પણ પ્રકાશિત થાય છે. મહાન પુરુષો ઠોકીઠોકીને કહેતા હોય છે કે આપણે પણ એમના જેવું જીવન જીવી શકીએ; તેમણે મેળવેલી સિદ્ધિઓ આપણે પણ પ્રાપ્ત કરી શકીએ. આમ મહાન વ્યક્તિઓનાં જીવનમાંથી નિત્યે પ્રેરણાનાં ઝરણાં વહેતાં હોય છે. એ ઝરણાંમાં

જેઓ સ્નાન કરે છે તેઓ પવિત્ર થઈ બહાર નીકળે છે. પૂ૦ વિજયવલ્લભસૂરિનું સમસ્ત જીવન પ્રેરણાદાયી હતું. તેમના જીવનમાં એવાં કેટલાંય છૂપાં તત્ત્વો પડ્યાં હતાં કે જો તેમાંનું એકાદ હાથ લાગે તો આપણું જીવન પણ સાર્થક બને. આપત્તિથી તેઓ કદી ડગ્યા નથી. શારીરિક વ્યાધિઓ પણ તેમણે હસતે મુખે સહન કરી; અને એ તો કોઈ ભવના કર્મનું ફળ છે એમ કહી તે ફળ હિંમતથી ભોગવવાની અપૂર્વ શક્તિ કેળવી. તેમની આ બધી સિદ્ધિઓ અને શક્તિઓમાંથી જૈન સમાજે અને ખાસ કરીને તેમના શિષ્યગણે ઘણી પ્રેરણા મેળવી છે.

વિરાટનું કદી વર્ણન થઈ શકતું નથી. ગમે એટલા શબ્દો હોય, ગમે એવી ભાષા હોય પણ વિરાટની સરખામણીમાં એ બધું અલ્પ જ છે. એમની જીવનસરિતા એટલી વિશાળ હોય છે કે આપણી દૃષ્ટિ બધી બાજુ પહોંચી શકતી નથી. તટ પર ઊભા રહી જેટલું પામીએ તેટલું સાચું. એમનાં ઊંડાણ અગાધ અને અતાગ હોય છે. આપણે તો તેમના ચરણમાં ઢળી એટલું જ ગાઈએ કે :

महान्त एव जानन्ति महतां गुणवर्णनम् ।

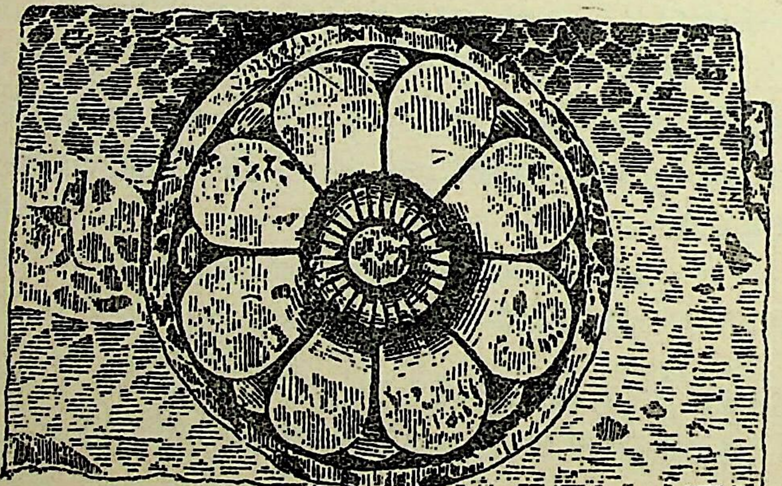

યુગવીરનાં સંસ્મરણો

મુનિશ્રી જનકવિજયગણિવર્ય

ज्ञानामृतेन लोकानां कष्टोच्छेदविधायिने ।
ऐदंयुगीनवीराय नमो वल्लभसूरये ॥

જગતમાં મહાપુરુષોનું જીવન સ્વપરકલ્યાણ કરવાવાળું હોય છે અને તેથી જ તે એક આદર્શ જીવન હોય છે. જો માનવીની દૃષ્ટિ સમક્ષ કોઈપણ જાતનો આદર્શ ન હોય તો તેનો પૂર્ણ વિકાસ થતો નથી એટલું જ નહિ, પણ તેનું જીવન અંધકારમય બને છે. મહાપુરુષના આદર્શ જીવનને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખતાં આપણને આત્મસ્વરૂપનું દર્શન થાય છે, આપણી નબળાઈઓ અને ક્ષતિઓનું સ્પષ્ટ જ્ઞાન થાય છે; પરિણામે આપણે એ ક્ષતિઓને દૂર કરી જીવનનું યોગ્ય ઘડતર કરવા પ્રયત્ન કરીએ છીએ. વસ્તુતઃ મહાપુરુષોનું જીવન આપણામાં સંસ્કારનું સિંચન કરે છે, દૃષ્ટિને વિસ્તૃત બનાવે છે અને એવી રીતે એક દીવાદાંડીરૂપ બને છે.

જેમનું જીવન એક આદર્શ જીવન હતું એવા અનેક મહાપ્રતાપી, મહાતેજસ્વી અને મહાપ્રભાવક ધર્મધુરંધર સૂરિપુંગવો જૈન સમાજમાં પણ થઈ ગયા. અન્યનું જીવન ઘડવામાં અને સન્માર્ગે વાળવામાં તેઓએ પોતાનો અમૂલ્ય ફાળો આપ્યો છે. અંધકારમય જીવનમાં જ્યોતિ પ્રસારી નૂતન વાતાવરણ પેદા કરવામાં પોતાની અખૂટ શક્તિ ખર્ચી છે.

પૂજ્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી એ મહાપુરુષોમાંના એક હતા. તેમનું જીવન પણ અનેક વ્યક્તિઓ માટે માર્ગદર્શક દીવાદાંડીરૂપ બન્યું હતું. ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, મેવાડ, મારવાડ અને વિશેષરૂપે પંજાબમાં પગપાળા સફર કરી તેમણે શિક્ષણની સંસ્થાઓ ઊભી કરી, સંગઠન સાધવા ઉપદેશ આપ્યો અને ધાર્મિક આદેશ આપી જ્ઞાનની જ્વલંત જ્યોત પ્રગટાવી.

તેમનું જીવન અનેકવિધ હતું. અનેક અનુભવોથી સભર હતું. એ સમગ્ર જીવનચરિત્રને સમજવું અને આલેખવું અતિ કઠિન છે. સામાન્ય જનની કલમ તો અમુક પાસાં જ તપાસી શકે. આથી હું આપણને જેમાંથી કંઈક માર્ગદર્શન અને બોધ મળે એવી થોડીક ઘટનાઓ કહીને જ વિરમીશ. એ ઘટનાઓનાં સંસ્મરણો મારા જીવનમાંથી કદી વિસ્મૃત નહિ બને.

પોતાની વાત બીજાને સારી રીતે સમજાવવાની પૂ૦ સૂરિજીમાં કેવી દિવ્ય શક્તિ હતી તે માટે એક ઘટના બસ થશે. એકવાર વિહાર કરતાં કરતાં તેઓ પંજાબના એક ગામમાં આવ્યા. એક અતિ વિદ્વાન અને તેજસ્વી અકંગ સાધુ તરીકેની તેમની પ્રતિષ્ઠા જૈન સમાજમાં હતી જ; તેથી ધર્મના સિદ્ધાંતોની કંઈક ચર્ચા કરવા કેટલાક બ્રાહ્મણો ગુરુદેવ પાસે આવ્યા. સામાન્ય રીતે બ્રાહ્મણો સ્નાનાદિ ક્રિયાઓમાં તેમ જ શરીરશુદ્ધિની બાબતમાં સહજ રીતે વિશેષ ધ્યાન આપતા હોય છે, જ્યારે જૈન સાધુઓ સ્નાન કરતા નથી—તે ન કરવા પાછળ અહિંસાની દૃષ્ટિ રહેલી છે. બ્રાહ્મણોને આ વાતની ખબર હતી અને તેથી તે વિષય અંગે તેમણે ગુરુદેવ પાસે ચર્ચા કરી. ગુરુદેવે અતિ શાંતિપૂર્વક પોતાની વાત સમજાવવા પ્રયત્ન કર્યો. તેમણે કહ્યું કે માત્ર બાહ્ય શરીરશુદ્ધિ પૂરતી નથી. ગમે એટલી બાહ્ય શારીરિક શુદ્ધિ હોય પણ જો

આંતરિક શુદ્ધિ ન હોય તો તે શરીરશુદ્ધિનું કંઈ બહુ મૂલ્ય નથી. પોતાના વક્તવ્યને પુષ્ટ કરવા તેમણે પુરાણુમાંથી એક સુંદર દષ્ટાંત આપ્યું :

એકવાર પાંડવો અડસઠ તીર્થની યાત્રા કરવા નીકળ્યા. તે સમયે કૃષ્ણુ ભગવાને તેમને એક તુંબડી આપી અને તેને પોતાની સાથે યાત્રા કરાવવા માટે સૂચન કર્યું. બાર વર્ષ સુધી પરિભ્રમણ કરી પાંડવો પાછા આવ્યા. તે વખતે કૃષ્ણ ભગવાને પેલી તુંબડીનો ભૂકો કરી સૌ સભાજનોને વહેંચ્યો. તે મોંમાં નાખતાં સભાજનોનું મુખ બગડી ગયું અને તેઓએ તે થૂંકી નાખ્યો. કૃષ્ણુ ભગવાને આશ્ચર્ય સાથે પાંડવોને પૂછ્યું: “શું તમે આ તુંબડીને તીર્થસ્નાન નથી કરાવ્યું?” પાંડવોએ તુરત જવાબ આપ્યો : “એક નહિ પણુ અનેકવાર તીર્થસ્નાન કરાવ્યું છે!” પાંડવોનો આવો જવાબ સાંભળી કૃષ્ણુ ભગવાને તેમને નીચેનો ઉપદેશ આપ્યો :

आत्मानदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु, पाण्डुपुत्र, न वारिणा शुध्यति आन्तरात्मा ॥

“હે પાંડુપુત્રો, જેમાં સંયમરૂપી પાણી છે, સત્યરૂપી પ્રવાહ છે, શીલ તટ અને દયારૂપી ઊર્મિ છે એવી આત્મારૂપી નદીમાં સ્નાન કરો, બાકી બાહ્ય સ્નાનથી અંતરઆત્માની શુદ્ધિ થતી નથી.”

ગુરુદેવનું ઉપર્યુક્ત દષ્ટાંત અને ઉપદેશ સાંભળી બ્રાહ્મણો ખુશ થઈ ગયા. ગુરુદેવે આત્મશુદ્ધિ પર ભાર મૂક્યો. તેમણે કહ્યું : “જૈન સાધુની પાસે સત્ય, અહિંસા, બ્રહ્મચર્ય, અપરિગ્રહ, તપ, ત્યાગ વગેરે હોવાથી તે હંમેશ માટે પવિત્ર જ હોય છે!”

બીજી એક ઘટના છે : એકવાર ગુરુદેવ ફરતા ફરતા અમૃતસરમાં આવ્યા. તેમની પ્રતિભા કેટલી અસરકારક હતી તેનો પરિચય તે વખતે થયો. ત્યાં તેમની પાસે એક વેદાંતી બ્રાહ્મણ આવ્યો અને તેણે ‘ब्रह्मं सत्यं जगत् मिथ्या ।’ એ સિદ્ધાંતનું પ્રતિપાદન કરવા બે કલાક સુધી તેમની સાથે ચર્ચા કરી. ગુરુદેવ હંમેશાં નમ્રતાથી વાત કરતા. પ્રતિવાદી ગમે એવા તર્ક કરે તો પણ તેઓ પોતાનો કાબૂ કદી ન ગુમાવતા. બધી ઇન્દ્રિયો પર તેમણે સંપૂર્ણ વિજય પ્રાપ્ત કર્યો હતો. ચર્ચા દરમ્યાન ગુરુદેવનું મુખ્ય વક્તવ્ય એ હતું કે “જો બ્રહ્મ જ સત્ય હોય અને માયાદિથી સભર જગત મિથ્યા હોય તો આકાશપુષ્પની માફક કંઈપણ કાર્ય થઈ શકે નહિ. જ્યારે હકીકત એ છે કે માયાજનિત જગતમાં કાર્ય પ્રત્યક્ષ દેખાય છે; તો તે જગત મિથ્યા કેવી રીતે?”

ગુરુદેવની આ સમજાવટથી પેલા વેદાંતી બ્રાહ્મણ પર ખૂબ અસર થઈ. ગુરુદેવના વ્યક્તિત્વથી તે અંજાઈ ગયો. તેને એમ જ થયું કે આવા વ્યક્તિત્વવાળી વિભૂતિ આ પહેલાં તેણે કદી જોઈ જ ન હતી. તેથી તેણે પૂ૦ ગુરુદેવની ભાવપૂર્વક સ્તુતિ કરી અને પોતાનું શિર તેમનાં ચરણોમાં નમાવી દીધું. તેના અંતરમાંથી ભાવનાનો સ્રોત વહેવા લાગ્યો :

यद्वाक्यामृतपायिनां प्रतिदिनं नित्यं सुधा नीरसा
यद्वाक्यार्थविचारणादभिगतो स्वर्गोपि कारागृहं ।
यद्वाणीविषयात्मपूर्णमनसां तुच्छं जगत् तूलवत्
तस्मै श्रीगुरुवल्लभाख्यमुनये नित्यं नमस्कुर्महे ॥

“ જેમનાં વાક્યરૂપ અમૃતનું પાન કરનારને સુધા નીરસ લાગે છે, જેમનાં વાક્યના અર્થનો વિચાર કરવાથી સ્વર્ગ પણ જેલખાનું લાગે છે, જેમની વિશદ વાણીથી વાસિત મનવાળાને જગત રૂની માફક તુચ્છ લાગે છે એવા શ્રી ગુરુ વલ્લભ નામવાળા મુનિને હંમેશાં નમસ્કાર કરું છું. ”

એક ત્રીજી ઘટના : અખંડ હિંદુસ્તાનના ભારત અને પાકિસ્તાન એમ ભાગલા પડ્યા. તે સમય એક કટોકટી અને ભયંકરતાનો સમય હતો. સર્વત્ર લૂંટફાટ, મારામારી અને આગની બૂમરાણ સંભળાતી હતી. માણસમાંથી જાણે માણસાઈ દૂર ચાલી ગઇ હતી ! ‘ ખૂન સામે ખૂન ’ અને ‘ વેર સામે વેર ’નાં સૂત્રો પોકારાઇ રહ્યાં હતાં. આવા કટોકટીના સમયે પૂજ્ય ગુરુદેવ ગુજરાનવાલા શહેરમાં હતા. એ શહેર પાકિસ્તાનમાં ગયું હોવાથી ત્યાંથી અનેક હિંદુઓ હિજરત કરી રહ્યા હતા, અને તેને સ્થાને ત્યાં મુસ્લિમોનાં જૂથનાં જૂથ ધસી રહ્યાં હતાં. સમગ્ર વાતાવરણ અગ્નિકાંડ, અત્યાચાર અને લૂંટફાટથી કલુષિત બન્યું હતું. આવે સમયે પૂ૦ ગુરુદેવે સમગ્ર સંઘને શાંતિ અને ધીરજ જાળવવા ઉપદેશ આપ્યો અને જાહેર કર્યું કે : “ જ્યાં સુધી સંઘનો એક પણ બાળક અહીં હશે ત્યાં સુધી માત્ર જીવ બચાવવા ખાતર હું અહીંથી એક ડગલું પણ નહિ ભરું ! ” ગુરુદેવનું આ વચન સાંભળી સંઘની શ્રદ્ધા વધી ગઈ. સૌને ખાતરી થઈ કે પૂ૦ સૂરિજીમાં અજબ પ્રકારની ધીરજ, શાંતિ અને સહનશીલતા હતી. તેમનામાં પરોપકાર અને બલિદાનની તીવ્ર ભાવના હતી. પરને માટે સ્વાર્પણ કરવાની ઊંડી ધગશ અને તમન્ના હતી.

પૂ૦ ગુરુદેવ અને તેમના શિષ્યોનો ઉપાશ્રયમાં વસવાટ જોઈ એક દિવસ કેટલાક યુવાન મુસલમાનો ક્રોધે ભરાયા. તેમને થયું કે ‘ગુજરાનવાલામાંથી બધા હિંદુઓ અને શીખો ચાલ્યા ગયા તો હજુસુધી આ ભાવડાઓ (પંજાબમાં જૈનોને ભાવડા કહે છે) કેમ ગયા નથી ? જાણે પોતાની માલિકી હોય તેમ નિરાંતે શાંતિથી બેઠા છે !’ તે સમયે એક વૃદ્ધ શાણા મુસલમાને પેલા યુવાનોને સલાહ આપી : “ ભાઈઓ, એ વૃદ્ધ ફકીરને સતાવવામાં સાર નથી. તે હંમેશાં ખુદાના નામની માળા જપે છે. એના પ્રતાપથી જ આ ભક્તગણ શાંતિથી બેઠો છે. એને છેડવાથી એના કરતાં તમને વધારે નુકસાન થશે; માટે એનું નામ લેશો નહિ ! ” પણ એ બુઢ્ઢા વડીલની સલાહ કોણ સાંભળે ? મુસલમાનોએ એક કાવતરું રચ્યું. એક દિવસ વહેલી સવારે ઉપાશ્રયની પાછળ આવેલ ઘરોમાંથી એક યુવાન મુસલમાન આવ્યો અને તેણે ત્રણ બૉમ્બ નાખ્યા. ઉપાશ્રય, મંદિર તથા પાછળ આવેલાં મુસલમાનોનાં ઘરો સળગી ઊઠયાં. અગ્નિની પ્રચંડ જ્વાળાઓ આકાશ સુધી પ્રસરી રહી. પણ આશ્ચર્યની વાત એ હતી કે પૂ૦ ગુરુદેવ કે તેમના શિષ્યમંડળને કશી જ હાનિ થઈ નહિ. ઊલટું, બૉમ્બ ફેંકનાર યુવાન ગોળી લાગવાથી તત્ક્ષણ મૃત્યુ પામ્યો. આવા ચમત્કારમાં આપણને અતિશયોક્તિ લાગે પણ મહાપુરુષોના જીવનમાં એવા પ્રસંગો બનતા હોય છે. તેઓ માત્ર નિમિત્તરૂપ હોય છે પણ સમાજ પર તેની જબ્બર અસર પડતી હોય છે.

આ બધી ઘટનાઓ પરથી એટલું સ્પષ્ટ રીતે ફલિત થાય છે કે પૂ૦ ગુરુદેવનું વ્યક્તિત્વ ખરેખર નિરાળું હતું. જ્ઞાન, શ્રદ્ધા અને બુદ્ધિનું તેમનામાં અલૌકિક તેજ હતું. તેમના વિચારો, આદર્શો અને સિદ્ધાંતોમાં પ્રગતિનું અકથ્ય બલ હતું. તેથી જ તેમને યાદ કરતાં હૃદયમાં ભક્તિના મધુર સૂરો રેલાઈ રહે છે :

दुःखाब्धौ मज्जतां सर्वजनानां शांतिदायिने ।
जैनशासनस्तंभाय नमो वल्लभसूरये ॥

સ્વર્ગસ્થ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

દી૦ બ૦ કૃષ્ણલાલ મોહનલાલ ઝવેરી

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનો વિકાસ, એ પ્રશંસાયુક્ત વિદ્યાલય સ્થપાયું ત્યારથી અત્યાર સુધી, હું જોતો આવ્યો છું. કેટલીએ વખત ત્યાં હાજર રહી મેં વ્યાખ્યાનો આપ્યાં છે અને એને જૈન કોમના ઉદ્ધારની એક સંસ્થા તરીકે લેખતો આવ્યો છું. આપણા સમાજનું એક મોટું અંગ જૈન કોમ છે, અને તેનો ઉદ્ધાર તે આખા સમાજના ઉદ્ધારનો એક સંસ્કારી ભાગ છે, એટલે તે દીર્ઘદૃષ્ટિથી પૂજ્યપાદ સૂરીશ્વરજીએ એનો પાયો નાખ્યો, ને દરેક ક્ષેત્રમાં તેને આગળ વધાર્યું. તેમનો જેટલો પાડ માનીએ તેટલો થોડો. મુંબઈમાં સ્વ૦ શ્રીયુત સર રમણભાઈ મહિપતરામ નીલકંઠના પ્રમુખપણા નીચે ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ સંમેલન થયું હતું તે આ વિદ્યાલયમાં થયું હતું, અને એ રીતે એ વિદ્યાલયે ગુજરાતી સાહિત્યની જે સેવા બજાવી છે તે માટે તે સાહિત્ય પણ એનું ઋણી છે, તો પછી એના પ્રેરકનું કેમ જ ન હોય?

ભારતની સંસ્કૃતિની એકે દિશામાં જૈનોએ પોતાનો ફાળો ન આપ્યો હોય એમ નથી, કારણ એઓ પણ ભારતપુત્રો છે, પછી ભલે તેઓ વૈદિક સંપ્રદાયના અનુયાયીઓ ન હોય. સાહિત્ય, કલા, સ્થાપત્ય, તત્ત્વજ્ઞાન—કયા ક્ષેત્રમાં જૈનો પાછા પડ્યા છે? જૈનોનું પોતાનું રામાયણ છે: કલાકેન્દ્રો છે: જૈનોનાં દહેરાં ને મંદિરો જ્યાં જુઓ ત્યાં એમની કલાના વિષયની ઉચ્ચ ભાવનાની સાબિતી આપે છે. તત્ત્વજ્ઞાનમાં પણ તેમ જ છે.

જૈનોની સંસ્કૃતિની પશ્ચાદ્‌ભૂમિના આ જમાનાના પ્રદર્શક તરીકે આચાર્યશ્રી જે કાંઈ કરી ગયા છે તેથી એ ક્ષેત્રમાં એમનું નામ ને એમનું કાર્ય અમરત્વ પામ્યાં છે, એમાં શંકાને કશું સ્થાન નથી.

યુગવીરનો અંતિમ દૃષ્ટિનિર્દેશ!

શ્રી. પાદરાકર

રોમરોમ, શાસનસેવાના ચોળમજીઠે રંગાયા.
માન અને આરામ ભાન સૌ–પ્રભુ–ગુરુ ચરણે અર્પાયાં.
નૂતન દૃષ્ટિથી સૃષ્ટિ–સમષ્ટિ, જેને હૈયે પરખાયાં.
‘અંતિમ દૃષ્ટિનિર્દેશે’–સન્દેશ મણિમય દેવાયા.

“ કર્તવ્ય પ્રતિપાલનની બાણશય્યામાં આરામ-પુષ્પો પથરાયાં હોતાં નથી. ”

જૂની સાધુ પેઢીના જોગંદરોની જમાતમાંથી એકલી-અટૂલી પડી ગયેલી એક મહાન વિભૂતિ, માનવતાને ઢૂંઢતી, સંસ્કૃતિને શોધતી, માનવને દેવ બનાવવા મથતી, ભગવાનનું શાસન જ નહીં—માનવમાત્રને રોટલે-ઓટલે અને વસ્ત્રે તૃપ્ત થઈ સ્વકર્તવ્ય કરતા જોવા તલસતી, વિરાટ વિશ્વની જોખમી હૈયારખી (દીવાલનો કંદોરો) પર પગ દેતી વિચરી રહી છે.

સ્વર્ગલોકથી બીજા સ્વર્ગસમી તત્સમયના આદર્શ રાજવી ગાયકવાડ સયાજીરાવના વડોદરના આંગણે એ ઉતરી. ઘડિયાળી પોળને ઘડિક ગૌરવાન્વિત બનાવી. પણ પૃથ્વીને પાટલે દેવોની સ્થિરતા કેટલી ? અલ્પાતિઅલ્પ જ ને ? એ તો હતી મહાન કેશરીકુળની વિભૂતિ ! એને અજકુળમાં રહેવાં ન જ શોભે ! અને ‘આત્માએ આત્મનને પરખ્યો’ તેમ જ વિશ્વના વિરાટ–જુગજૂના–જોગંદર એવા શ્રીવિજયાનંદ–આત્મારામ, આ વિભૂનિને આત્મ જ્ઞાનબોધ દ્વારા દર્શન દે છે—આત્માનું નિજ સ્વરૂપ બતાવી દે છે—એ કેશરી આ બાલ કેશરીને—સ્વકુળ–કેશરીકુળનાં દર્શન કરાવી અજના ટોળામાંથી સ્વ–કેશરી–ગુરુકુલવાસમાં લઈ જાય છે.

વડોદરાના વીરક્ષેત્રસમા ઉદ્યાનમાંની પિતા-માતા કુળ માધવી લતાપર ૧૯૨૭ના કાર્તિક શુક્લ દ્વિતીયાના એક સુભગ દિવસે એક બટમોગર કલિકા પ્રકટી; અને સંસાર તેમ જ ત્યાગનાં રસરસાયણે પુષ્ટ બનતી એ કલિકા મોટી થતી ચાલી; અને સૌને યે વલ્લભ બનતી ગઈ. અંગસૌષ્ઠવ અને મનનાં માર્દવ, જ્ઞાનનાં તેજલ જ્યોતિ અને ગુણની ગરિમાનાં વર્તુલ એ સંસારવાટિકામાં જ પ્રકટવા લાગ્યાં અને શિક્ષકો, સદ્દગુરુઓ, ઉપાધ્યાયો અને આચાર્યો સંસારવ્યવહારના સંસ્કારોને, તપ-ત્યાગ-તિતિક્ષાનાં અમૃતછાંટણે ભૂંસવા લાગ્યા. સૌ પોતપોતાનાં મહાત્યાગનાં હૈયાંહીર એને પાવા લાગ્યા અને એ બાલકલિમાં પરાગના પ્રાણ અને આત્મગુણનાં સૌરભ સિંચી રહ્યા, અને સોળ વસંત વીતતાં તો એની સોળ સોળ પાંખડીઓ ખીલી ઊઠી—ત્યાગ-સંયમ-વિરાગના ધ્વનિ ઊઠવા લાગ્યા. આ તો ભવભવનાં મહાપુણ્યધનને લઈ આવેલ જોગી હતો, જગતમાં સંસારી ખેલ ખેલવા નહોતો આવ્યો એ ! મહાભિનિષ્ક્રમણના અવસરે તો દેવોને યે ડોલવું પડે. અને—અને એક મહાન્ જોગંદર—મહાન વિરાટ મહામાનવ–વટોદરના ચોકમાં એને લેવા આવી ઊભો—આહલેક જગવ્યા અને એ આહલેકનાં આવાહન અદ્દભુત હોય છે—અવ્યર્થ હોય છે. એણે પ્રથમ તો સંસારની સર્પિણી માયા-ભોગવિલાસ અને ભાગ્યના ભંગાર—જન્મ-જરા–મરણનાં ઝંઝાવાતો અને એનાં જ્ઞાનગુણના વિકાસમાં અનંત અવ્યાબાધ મુક્તિસુખની પ્રાપ્તિ અર્થે પુરુષાર્થનાં દર્શન કરાવ્યાં. સ્વર્ગ–નર્ક, બંધ અને મુક્તિ, અનંત દુખના સાગર તેમ જ અનંત આત્મ-સુખના સંભારનું ભાન કરાવ્યું. અને જગદુદ્ધરણનાં કર્તવ્યની હાકલનાં હાર્દનાં ઘેન

એની કમળશી કોમળ અંતરઆંખડીને પોપચે પરસી-પરસીને ભર્યાં. એ ગૂઢ વિચારમંથનમાં ડૂબ્યો. મૂળથી જ તો જોગીઓની જમાતનો જ એ મહાન જોગીડો ને? સંસારીઓ–અજકુળ-માં એને કેમ ગોઠે? મહાન્ આત્માઓ પોતાની આત્મજ્યોતિ જ્યારે કોઇ સુભાગી પ્રાણાત્મામાં રેડે છે ત્યારે તે મહાન્ જ બની રહે છે. એ પહોંચ્યો રાધનપુર—પ્રાતઃસ્મરણીય શ્રી આત્મારામજી મહારાજના ચરણે સર્વસમર્પણપૂર્વક અર્પાઈ ગયો. નાનકડો છગન જગ-વલ્લભ બની ગયો, અને પછી તો કોહિનૂર પામનાર ઓછો જ કાચના કટકે લોભાય? પરમ સત્ય, આત્મતત્ત્વ, પંચમહાવ્રત અને ત્યાગવિરાગનું મહત્ત્વ માપી લેનારને સંસારમાંથી માત્ર સાચી કર્તવ્યનિષ્ઠા જ લેવી બાકી હતી તે લઈ ૐ અર્હમ્ ઉચ્ચારતાં ચાલી નીકળ્યા સંસારક્ષિતિજને પેલે પાર! થયો જોગીઓની જમાત ભેગો અને દેવોને યે દુર્લભ એવાં પંચમહાવ્રતોથી એ વિભૂષિત બન્યો. શાસનદેવીનો લાડીલો બન્યો. શિવસુંદરીનો ઉમેદવાર બન્યો. ગુરુનો, જૈનાલમનો અને વિશ્વનો વલ્લભ બની રહ્યો.

આમ્રમંજરીના આહાર કોયલને મીઠું રસભર્યું ગાતી કરી મૂકે છે. આપણા શ્રીવલ્લભને ગુરુકુલ-વાસમાં ગુરુદેવની પરબે જે જ્ઞાનઅમૃત પીવા મળ્યાં તે એણે ધરાઈ ધરાઈ પીધાં અને જ્યારે વાણી મારફતે ભવ્યાત્માઓને ઉપદેશ દેવા લાગ્યા ત્યારે એ વાણીય જીવતી વાણી બની ગઈ. એમાં ધનુષ્યનો ટંકાર, શાસ્ત્રના સારના સંભાર, પ્રભુપ્રણીત તત્ત્વનો રણકાર, ત્યાગ-વૈરાગ્યના અંબાર સાથે આચારક્રિયાના સાર છવાઈ રહેવા લાગ્યા. ગુરુદેવ તો આષાઢીલા મેઘગર્જન સ્વરાવતા વીરનાં ઉપદેશો દેતા વિચરી રહ્યા હતા. ગુજરાત–સૌરાષ્ટ્ર–પંજાબના પાદવિહારોમાં શ્રીવલ્લભ નિત્ય ગુરુકુળવાસી જ હતા.

જૈનશાસનનો વિરાટ સ્તંભ, વિદ્વત્તા–તત્ત્વજ્ઞાન, સંવેગરસરસાયણ, ત્યાગ–તપ–તિતિક્ષા, શાસ્ત્રનું પારગામીપણું, એથી સોહંતા શાસન-સમ્રાટ એવા શ્રીમદ્ આત્મારામજીસૂરીશ્વરજીની છત્રછાયા પૂરાં નવ વર્ષ અને ચોવીશ દિવસ એકધારી એમના શિર પર છવાઈ રહે છે. કટ્ટર ગુરુભક્ત તે દરમિયાન નિજ દક્ષતાથી, ગુરુદેવની પળેપળની દિનચર્યા, વાણીનાં વહન, ચર્ચા અને વાદવિવાદ, સત્યનાં પ્રરૂપણ અને નયનિક્ષેપનાં નિરૂપણ, આચારવિચાર, લેખન અને સંલેખન, જ્ઞાન અને આત્મભાન, ધર્મઉદ્ધરણનાં ધ્યાન અને તત્વપ્રાપ્તિનાં તાન, એ સૌ પોતાનાં ક્ષયોપશમ, ગુરુભક્તિ, બુદ્ધિની તિક્ષ્ણતાના કટોરે પીતા જાય છે. દિલનાં દ્વાર, વૃત્તિઓનાં વહેણ અને બુદ્ધિનાં બળ ખીલે છે–ખૂલે છે–ઝળકા ઊઠે છે. ઈયળ–ભ્રમરી ન્યાયે જાણે શ્રીવલ્લભ બીજા આત્મારામજી બનતા જાય છે અને ગુરુ રીઝી પોતાની અખૂટ આત્મસમૃદ્ધિ નિજાશિષો સાથે શિષ્યને આપી હળવા ફૂલ બની જાય છે અને એ સૌ જાગતા રહી જાળવવાની જવાબદારીનું ભાન કરાવે છે. પરિણામે જ્યારે આ જોગંદર અમરપથ પ્રયાણની વાટે ચાલી નીકળવા તૈયાર થાય છે ત્યારે તેમના અંતિમ શબ્દો શું હતા? 'અંતિમ આદેશ નિર્દેશ' શો હતો? **'મેરી પીછે વલ્લભ પંજાબકો સમાલેગા.'** કેટલા બધા આત્મવિશ્વાસથી નીકળ્યા હશે એ શબ્દો? અને ગુરુ જતાં ભાંગી પડતા શિષ્યે એ નિર્દેશ ઝીલ્યો—વિશ્વના ધર્મસમરાંગણનો એ વીર, એ ગુરુદીધા આદર્શને ખાતર કર્તવ્ય, સતત જાગૃતિ, કટ્ટર આચાર, પ્રખર પરિભ્રમણ અને પરમ શાંતિ સહિત એ નિર્દેશને સફળ બનાવી, શિષ્યે શિરસાવંદ્ય કરેલ ગુરુઆજ્ઞાનું પાલન કર્યું છે, એ વિશ્વે જોયું, જાણ્યું, અનુભવ્યું. પણ એ હતો અંતિમ આદેશ નિર્દેશ? આત્મસ્વરૂપ બનેલ વિજયવલ્લભસૂરિજીએ તો **આદેશ** અંતિમ પળેય નથી આપ્યો. માત્ર **દૃષ્ટિનિર્દેશ જ** અંતિમ પળે શિષ્યને આપ્યો છે. એ દૃષ્ટિ! હજારો લાખો સંદેશાઓના તેજસ્વી શર છૂટતાં અને અપાતાં જોયાં છે તેને જ એનું જ્ઞાન ને ભાન છે. ઝીલનાર એને **ફલિત** કરવા ફના થઈ જાય એવાં હતાં એ દૃષ્ટિનિર્દેશનાં આખરી વસિયતનામાનાં દાન.

આપણા મહાન્ પૂર્વાચાર્યો અને વર્તમાનકાલીન આચાર્યો પ્રત્યેક કાંઈ ને કાંઈ જીવનકાર્ય લઈ ને જ આવતા હોય છે. કોઈ તીર્થોદ્ધાર, કોઈ આગમ ઉદ્ધાર, કોઈ મહાત્યાગ પ્રચાર, કોઈ યોગ અધ્યાત્મ-

જ્ઞાનના પરમપ્રકાશ પાથરનાર, કોઈ જ્ઞાનપ્રચાર તો કોઈ ક્રિયાચાર ઉદ્ધાર કરવા આવ્યા હતા—આવે છે. મહાન્ આચાર્યો, જીવનકાર્યનાં જ્યોતિ પ્રકટાવવાના ભગીરથ કાર્યનો આરંભ, ત્યાગજીવનની ઉષા-આરંભે જ આરંભી દે છે અને પ્રાયઃ તે પૂર્ણ કરવા છેલ્લા શ્વાસપર્યંત પ્રયત્નશીલ રહે છે—તે પછી જ વિરમે છે. ત્યારે શાંતિ, આત્માનંદ ને સંતોષની જે આભા અંતિમ પળે એમના વદન પર રમે છે એ દેવોને યે દર્શનીય હોય છે. વડોદરાના નીલવર્ણી સરવરિયે પ્રકટેલું, રાધનપુરમાં વિકસેલું, પંજાબમાં પૂર્ણ પરિમળ પાથરતું આ દિવ્ય શતદલપદ્મ એટલે જ શ્રીમદ્ વિજયવલ્લભસૂરિજી.

એ જ દિવ્ય જ્યોતિનાં પ્રાકટ્ય પૂર્વભવનાં પુણ્યોદયે–મહાત્યાગરૂપે–એને વધુ જ્યોતિર્મય બનાવે છે. અવિરત આત્મભોગ અને ગુરુકૃપા એને અદ્ભુત જ્યોતિર્ધર નિર્માણ કરે છે. એ દિવ્ય જ્યોતિમાં પ્રકાશનાં પરિવર્તનશીલ, ક્રાન્તિકર, શાસનકલ્યાણકર માનવોદ્ધારનાં દિવ્ય દર્શન કરાવનાર દીપ-દર્શન તે આપણા જગવલ્લભ! લઘુ આત્મારામજી! જૈન સમાજનો મહાનિધિ! એ જ્યોતિ પૂજ્ય આચાર્યદેવની આસપાસ કેટલાંયે મહાજ્યોતિનાં વર્તુલો રમતાં કરી મૂકે છે? પૂ૦ બુટેરાયજી મહારાજ, પૂ૦ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયધર્મસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ બુદ્ધિસાગરસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ સાગરાનંદસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વરજી આદિ અનેક મહાજ્યોતિર્ધરોનાં મહાજ્યોતિ આ જ્યોતિને મહાજ્યોતિવંત–સજીવ–બનાવે છે! એમનાં સ્વાનુભવના રશ્મિ, એમને પ્રતિભાવંત, ઉદ્યોતકર, ચેતનવંત બનાવે છે! મહાન્ જોગંદરોના વારસ-વારસે મળેલ અનંતઆત્મરિદ્ધિ સાથે જગત્કલ્યાણની મહામૂલી પાદયાત્રાએ નીકળી પડે છે. એ જાય છે—ચાલ્યા જાય છે. સાથેના પરિવારને એને આંબી લેવા દોડવું પડે છે. જગત્ જોયાં કરે છે—કોઈ ઑલિયો ચાલ્યો જાય! અને એણે નિર્ણય કર્યો: "પ્રાણાર્પણે પણ મારું શાસન ચેતનવંતુ બનાવી દઉં! અજ્ઞાનનાં પડલ ઉતારવા પાઠશાળાઓ–હાઈસ્કૂલો–કોલેજો–ગુરુકુળો ખોલી દઉં! જૈન જનતાને માટે બેન્કો ઉઘડી પડે, આધિ-વ્યાધિ-ઉપાધિથી થાકયાના વિરામ માટે ધર્મશાળાઓ પ્રકટાવી દેવાય! જૈન કૉલેજ તો ઠીક, જૈન યુનિવર્સિટીની જ્યોતિ ઝબકાવી દઉં! ફીરકાફીરકાના ભેદની દીવાલો જમીનદોસ્ત કરું! ભગવાન મહાવીરના દીકરાઓનાં હૃદયમાં જડ ઘાલી બેઠેલ દષ્ટિવિષશૂળ ખેંચી કાઢું! ઉપાશ્રયની ચાર દીવાલોની બહાર વીરનો સંદેશ લલકારું! વિશ્વધર્મસમાન જૈનધર્મને વિશ્વમાં–વિદેશોમાં ફેલાવી દઉં! મારા વીરની જયંતી જગતના ચોકમાં ઉજવાતી કરું! નવકાર ગણનાર જૈન બચ્ચો—અયાચક જૈન નાગો ભૂખ્યો હોય, સીઝાતો હોય ત્યાં સુધી આ પાત્રમાં આણેલી ગોચરી કેમ વપરાય? રેશમી ગરમ શાલો કેમ ઓઢાય? ઉદ્યોગ-ધંધા વિના અટવાતી જૈનાલમને ઉદ્યોગ-ધંધે લગાડી સુખી કેમ બનાવાય? લક્ષ્મીનંદનો મહોલાતે મહાલે પણ સામાન્ય જનનું શું? માનવતા મરતી જાય છે એમાં સ્વાર્પણ વડે સંજીવન મંત્ર ફૂંકી માનવતા પાછી કેમ લાવી શકું?

જૈન શ્વે૦ કોન્ફરંસ જેવી જૈન સમાજની પાર્લામેન્ટ, જૈન મહાપરિષદ્, પૂર્ણ તંદુરસ્ત, ધર્મ અને ધર્મસ્થાનોની રક્ષક, કેળવણી અને જ્ઞાનપ્રચારક, અને જૈન સમાજના સર્વાંગી વિકાસ માટે સૌ કાંઈ કરી છૂટનાર કેમ બનાવી દઉં? ગોડીજીનો ઉપાશ્રય–જ્ઞાનભંડાર–જ્ઞાનપ્રકાશન–આત્માનંદસભા એ સૌ પરમ સુંદર અને ઉપયોગી કેમ બને? કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવન્ હેમચંદ્રાચાર્યકૃત ત્રિશષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર—જૈન તત્ત્વાદર્શ—શત્રુંજયમાહાત્મ્ય જેવા અનેક ગ્રંથોને હિન્દીમાં અને અંગ્રેજીમાં તૈયાર કરાવી જૈનદર્શનની જ્યોત વિદેશોમાં કેમ ફેલાવું? મારું રાષ્ટ્ર—અવતારભૂમિ ભારત—એની સેવા કરવા સૌને કેમ જગાડું? શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય માટે અને કૉન્ફરંસ માટે વ્યાખ્યાનો આપી આપી લાખોનાં ફંડ થયાં છે તેની યોગ્ય વ્યવસ્થા કેમ કરાવી શકું? કેટલાય બગભક્તો, સ્વાર્થી ખુશામતીઆ અને તકસાધુઓને ખુલ્લા પાડ્યા સિવાય એમને કેમ સુધારી કર્તવ્યપથે દોરું? આવા આવા અનેક મનોરથો સેવતા એ મહામાનવની

નજર સામે ગુરુદેવ આવી ઊભે છે—જ્યારે એમનો **હીરકમહોત્સવ** ઉજવાય છે—વિરાટ મેદની એમને બિરદાવે છે ત્યારે એ મહાસંત શું બોલે છે?

" હીરકમહોત્સવ ઊજવવા તૈયાર થએલા ભાઈઓ! મારી આ વાણી ધ્યાનમાં રાખો:

" આત્મકલ્યાણઅર્થે સાધુધર્મ સ્વીકારનાર મારા સરખા આત્માને જીવન-મરણ પર સમદૃષ્ટિ જ હોય. એ નિમિત્તે એકાદો 'સ્મારક ગ્રંથ' પ્રકટ થાય કે 'શત વર્ષાયુ જીવો' એવા આશીર્વાદ મળે એની કિંમત માહારે મન ઝાઝી નથી. જાણ્યું. વિચાર્યું અને હૃદયમાં દૃઢ કર્યું અને યથાશક્તિ આચરણમાં મૂક્યું એ મારો આચાર. એનાં મૂલ્યાંકન તો જ્ઞાની જ કરી શકે. × × × × × "

આ પુરુષ! મહાસંત! આચાર્યશિરોમણિ! એ યુગદૃષ્ટા જ્યારે યુગસ્રષ્ટા બને છે ત્યારે એનું સર્જન કેટલું વિપુલ, સમૃદ્ધ અને વિશ્વોપયોગી હોઈ શકે તે સમજાય છે? જીવનની પળેપળ, શરીરનું રોમેરોમ, વિચારના પરમાણુયે પરમાણુ અને સાધુતાનું સર્વસ્વ જેણે શાસન-માનવ-પ્રભુ અને ગુરુસેવામાં સમર્પી દીધું, જીવનમરણ સરખાં માણ્યાં એવા નરોત્તમ-નરસિંહને પામીને જૈન સમાજ શું ધન્ય નથી બન્યો?

અને ગયેલ ચક્ષુનાં તેજલ જ્યોતિની પુનઃપ્રાપ્તિપ્રસંગે એ જૈન સમાજને સંગઠનની નવી દૃષ્ટિ આપી દે છે અને ઈશ્વરસ્વરૂપ થવા જ જાણે જતા હોય તેમ એ મરીનડ્રાઈવના (શ્રી કાન્તિલાલભાઈના) ઈશ્વરનિવાસમાં જાય છે. અંતિમ પ્રયાણની તૈયારી કરતા હોય તેમ પળપળનાં જીવનલેખાં લે છે. પ્રેમ અને પ્રભુતાના પયગામો પાઠવે છે. ભારતના મહામંત્રીઓને કર્તવ્યબોધ આપે છે. આવતી કાલનો જૈન સમાજ રચવા રાત-દિવસ મંથન કરે છે. પળનો યે પ્રમાદ એને પોસાતો નથી. ભગવાન મહાવીરના ઝંડા હેઠળ સૌને ઊભવા અને એ ઝંડો વિશ્વભરમાં લહરે એ જોવા એ તલસે છે. એ પંજાબનો વાઘ, ગુજરાતનો પ્રાણ, સૌરાષ્ટ્રનો સિંહ અને સૌનો લાડકવાયો એ મહાપ્રાણ! વીર વલ્લભ! લહેરિયાં લેતા સાગરકિનારે, સાગરનાં કર્તવ્યસંગીત ગુંજતાં મોજાં સંભળતો, તેમાંથી જેને ભગવાન મહાવીરના સમવસરણની દેશનાનો માલકોશ રાગ સંભળાય છે એવો એકતાર બનેલો—સ્વરૂપમાં લીન, આત્માનંદમાં મસ્ત, કર્તવ્યપૂર્ણતાનો સંતોષ અનુભવતો, જૈનશાસનને પ્રભુતાના પગથારે ઊભેલું નીરખતો, એ મહાન્ આચાર્યદેવ! સૂરિપુરંદર! અનેકનો તારક અને નિજગુણનો વિચારક, મધ્યરાત્રે જ્યારે અંતિમ વિદાયપળ આવે છે ત્યારે—અનેક અણપૂર્યા અભિલાષોની યાદ—અનેક મહાકાર્યોની મીમાંસાવાણી તો વિરમી હતી—પ્રભુસ્મરણ અને ચારે શરણ જ્યારે એમના મન-વાણી-કાયાનો કબજો લેતા હશે, દેવલોક પ્રવાસનાં દેવવિમાન દેખાતાં હશે, શિષ્ય સમુદાય નિકટ ન હશે, ભક્તગણ નિંદ્રિત હશે, વિશ્વ વિરામ લેતું હશે—ત્યારે અમરધામના મહાપ્રયાણે પગલું ઉપાડતો એ **વિરાટ**—મહામાનવ—લાખોનો ગુરુ કાંઈક કહેવા માગતો હશે! મૃત્યુ એમને ખોળામાં લેવા માગતું હશે! અને એ મૃત્યુને રમાડતા હશે! અને જીભનું કામ નેત્રને સોંપ્યું હશે! એ—એ—**અંતિમ દૃષ્ટિનિર્દેશ**—નેત્રસંકેત—આત્માનાં કહેણ—અભિલાષાઓના ઉદ્ગમ! શાં શાં હશે? એ કોણે ઝીલ્યા હશે? પણ ગુરુ વિજયાનંદસૂરિના એ નિર્દેશ **આત્માના વલ્લભે** ઝીલ્યા તેમ આ સમુદ્ર-કાંઠડે કરાયેલો દૃષ્ટિનિર્દેશ **શ્રીસમુદ્રસૂરિજીએ** તો ઝીલવો અને તે સફળ કરવો જ રહ્યો—એ જ એમની કુલપરંપરા—કુલ**પ્રણાલિકા**—જીવનકાર્ય—જીવનસાધના થઈ પડે છે. શાસનદેવ, એ મહાન્ આત્માના **અંતિમ નિર્દેશ** પૂર્ણ કરવા શ્રી સમુદ્રસૂરીશ્વરજીને અનંત આત્મબળ આપો અને ગયા છતાં હૈયે હૈયે હિંચી રહેલ યુગવીર વલ્લભ અમર રહો! સાંભળો સાગર ગાય છે: જય વલ્લભ! કોયલ કુંજે છે: જય વીર વલ્લભ! અને જનતા ગાજી ઊઠે છે: જય જગવલ્લભ! અને માટે જ એનાં પુણ્ય-સ્મરણાર્થે આ સ્મારક-ગ્રંથનાં પ્રાકટ્ય પણ એનાથી ન રીઝનાર એ સંતના શબ્દો તો "કર્તવ્યતત્પરતા, સ્વાર્પણ અને શાસનનાં ઉત્થાન" માગે છે. આપો! ભારતના શાસન-સંતાનો! યુગવીરને એ નજરાણું જ વહાલું હતું. એને એ જ સમર્પો, ને તમે માનવમાંથી દેવ બનશો! ॐ શાન્તિઃ

પ્રાચીન જ્ઞાનભંડારના ઉદ્ધારક

શ્રી મોહનલાલ દીપચંદ ચોકસી

“પૂર્વાચાર્યોંએ જે જ્ઞાનને વિસ્મૃત થતું બચાવવા અર્થે અથાગ પરિશ્રમ સેવી આ રીતે તાડપત્રોનાં પાનાં ઉપર સ્થિર કર્યું તેની આ વિષમ દશા ખરેખર અસહ્ય છે. ગુરુદેવ, આપ તો કહેતા હતા કે આ ખંભાત નગરે એક કાળે સ્તંભતીર્થ તરીકે અત્યંત ખ્યાતિ પ્રાપ્ત કરેલી અને ત્યાં જૈનોની વિપુલ સંખ્યા હતી; અને આજે પણ ત્યાં ધર્મીજનોની વસતિ સારા પ્રમાણમાં છે, પરંતુ આજે આ ભંડારોની આવી પતિત પરિસ્થિતિ નિહાળ્યા પછી સખેદ કહેવું પડે છે કે કાં તો એ ધર્મ બાહ્યાડંબર રૂપે હોવો જોઈએ અથવા તો પૂર્વજોના વારસામાં ઊતરી આવેલ, છતાં પ્રેમ વિહોણો, માત્ર નામરૂપ બની ગયો હોવો જોઈએ. તે વિના સ્વપરપ્રકાશક એવા આ વિપુલ સાહિત્યની આમ અવગણના ન થાય.”

“ચરણવિજય, ઉતાવળો ન થા. પાટણ અને અમદાવાદ તો તેં જોયાં છે. ત્યાં જૈનોની સંખ્યા મોટા પ્રમાણમાં હોવાં છતાં કેટલાય જ્ઞાનભંડારોનાં તાળાં આજે પણ અણઊઘડ્યાં છે! સાંભળવા મુજબ કેટલુંયે ઉત્તમ સાહિત્ય કીડાઉધાઈના આહાર રૂપે પરિણમેલ છે. એ સર્વનાં ઊંડાણમાં ઊતરતાં એક વાત દીવા જેવી સ્પષ્ટ જણાય છે કે આપણા સંઘમાં વત્તાઓછા પ્રમાણમાં દરેક સ્થળે મતમતાંતરો છે. તદુપરાંત જ્ઞાન પ્રતિ સાચી શ્રદ્ધા કે નિષ્ઠા અને તેને પામવાની તીવ્ર ઝંખના ખાસ જોવા મળતી નથી. આ ખંભાત પણ તેમાં અપવાદરૂપ નથી જ.”

“પૂજ્ય ગુરુમહારાજ, પાટણ, અમદાવાદ, વડોદરા, લીંબડી અને જેસલમેર સિવાય બીજે ક્યાંય તાડપત્ર પર લિખિત સાહિત્ય હોય એમ મેં આજસુધી સાંભળ્યું નથી. પરંતુ ખંભાત જેવા નગરમાં અને તે ય વળી એકાદ શેરીના અંધારિયા ઓરડામાં આવું ભવ્ય સાહિત્ય છુપાયું છે એ જાણી અત્યંત આશ્ચર્ય થાય છે. પણ વધારે આશ્ચર્ય તો એ સાહિત્ય પ્રત્યે સેવાયેલી બેદરકારીનું છે. આટલી બધી પ્રતોને સમાવવા માત્ર એક જ પુરાણો ખખડધજ થઈ ગયેલો ગંજો છે! એમાંનાં બાંધેલાં પોટલાં એકવાર બહાર કાઢી અંદર મૂકીએ ત્યાંસુધીમાં તો કેટલા ય ગ્રંથોનાં પાનાંની કિનારીઓ તૂટી જાય! અને આ રીતે આ સાહિત્ય વિનષ્ટ થતું જ જાય.”

“વત્સ ચરણ, તારું આ કથન અક્ષરશઃ સાચું છે. આ પ્રાચીન નગરીમાં મારી સાથે તું પ્રથમ વાર પગલાં માંડે છે, અને તેથી કેટલીક બાબતો વિષે તને આશ્ચર્ય ઊપજે એ અસ્થાને નથી. મેં સ્વર્ગસ્થ ગુરુદેવ ન્યાયાંભોનિધિ શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી સાથે જુદાં જુદાં નગરોમાં અનેક વાર વિહાર કર્યો છે; અને તે દરમ્યાન આપણાં જિનાલયોની તેમ જ જ્ઞાનભંડારોની અઘટિત દશા નિહાળી છે. એ જોઈને મને તેમ જ ગુરુદેવને અત્યંત દુઃખ થયેલું. આ દુઃખ સ્વરચિત પુસ્તકમાં ગુરુદેવે વ્યક્ત કરેલ છે. તીર્થંકર દેવોનો ધર્મ આજે વણિકોના હાથમાં આવી પડેલ છે એટલે એમાં નથી તો ક્ષાત્રતેજ જણાતું કે નથી વીરતાનો પડઘો પડતો. કેવળ વણિકવૃત્તિસૂચક ઉપરછલ્લો આડંબર દૃષ્ટિગોચર થાય છે. વર્તમાનયુગના શ્રાવકોમાં નથી જ્ઞાન પ્રત્યે સાચું બહુમાન કે નથી જ્ઞાનપ્રચારની પવિત્ર દૃષ્ટિ! કેવળ છે જિહ્વાનો સ્વાદ અને મોટાઈ માટેની મમતા! જ્ઞાનની પ્રગતિ કરવાને બદલે ભૌતિક ચીજોના સ્થૂલ રસાસ્વાદ અર્થે તેમના ધનનો વ્યય થઈ રહ્યો છે!

સનાતન સ્વર્ગીય સુખ પ્રાપ્ત કરવાની દૃષ્ટિ ઉવેખી દુન્યવી ક્ષણિક સુખ ઝડપી લેવા તે વધુ તત્પર બન્યા છે!"

"ગુરુદેવ, આપે તો એ પવિત્ર વ્યક્તિના સમાગમમાં અનેક વર્ષો વ્યતીત કર્યાં છે, અને અંતકાળે પણ તેમણે આપને આદેશ આપેલ કે 'મેરી પીછે પંજાબકા શ્રીસંઘકી ભાળ વલ્લભ કરેંગે' અને એ મુજબ આપ યથાશક્તિ જહેમત ઉઠાવી રહ્યા છો. પંજાબ, મારવાડ અને મુંબઈ જેવાં ધામોમાં આપે જે શિક્ષણસંસ્થાઓ ઊભી કરી છે એ એના ઉદાહરણરૂપ લેખાય. દેશકાલને અનુરૂપ શિક્ષણ લીધા વિના જેમ જૈન સમાજની ઉન્નતિ શકય નથી, તેમ પૂર્વાચાર્યોએ અતિ પરિશ્રમે તૈયાર કરેલ અને આ રીતે સંગ્રહી રાખેલ સાહિત્યનો યોગ્ય રીતે પ્રચાર કર્યા સિવાય, તેમ જ તેનું પુનરુત્થાન કર્યા સિવાય જૈન ધર્મની સાચી પ્રભા વિસ્તરે તેમ નથી. આ બધું આપ તો સારી રીતે જાણો છો. વળી આપશ્રીની વાણીમાં તૂટેલા તાર સાંધવાની અદ્દભુત શક્તિ છે. આપની પ્રતિભાથી આપે ઘણા કલહ મિટાવ્યા છે; અને સંઘમાં એક પ્રકારની શાંતિ, વ્યવસ્થા અને એકતા આવવા પામી છે. તેથી જ અહીંના આગેવાનોને એકત્રિત કરી, તેમને સમજાવી, આપના હાથે આ ભંડારનો પુનરુદ્ધાર થાય એવી મારી અભિલાષા છે. વિહારની ઉતાવળ છતાં વિષમ દશામાં આવી પડેલ આ સાહિત્યને સડવા દઈ આગળ જવું મને ઉચિત નથી લાગતું."

* * *

ઉપર્યુક્ત વાર્તાલાપ સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી અને તેમના સ્વર્ગસ્થ શિષ્ય મુનિશ્રી ચરણવિજયજી વચ્ચે ખંભાત મુકામે થયેલો. એમાં જે તાડપત્રો પર લખેલ પ્રતોના ભંડારની વાત છે તે ત્યાંના ભોયરાપાડા નામના લત્તામાં આવેલ પ્રાચીન એવા શ્રી શાંતિનાથના જ્ઞાનભંડારની છે. ભંડારના મકાનની પાછળના ભાગમાં શ્રી શાંતિનાથ ભગવાનનું દહેરાસર છે, અને એથી આ ભંડાર એ નામે ઓળખાય છે. બાજુના ભાગમાં પૂર્વે એક ઉપાશ્રય હતો જે આજે ખંડિત હાલતમાં છે. સ્વ૦ શ્રી મોહનલાલ દલીચંદ દેશાઈએ 'જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ' નામનો જે દળદાર ગ્રંથ લખ્યો છે તેમાં આ પુરાણા ઉપાશ્રય તેમ જ જ્ઞાનભંડાર સંબંધી સારો એવો ઉલ્લેખ કર્યો છે. પૂર્વે આ ઉપાશ્રયમાં સ્થિરતા કરી નામાંકિત મુનિવરોએ ગ્રંથરચના કર્યાની નોંધો ઉપલબ્ધ થાય છે. કિંવદંતી મુજબ અહીં ચોમાસું રહેલ એક પ્રભાવિક આચાર્યે ચમત્કાર દર્શાવ્યાની વાત પણ સંભળાય છે. એ ગમે એમ હોય પણ એટલું તો ચોક્કસ છે કે સ્તંભતીર્થનો આ જૂનામાં જૂનો ભંડાર છે, અને ડૉ૦ પિટર્સન આદિ વિદ્વાનોનાં લખાણ મુજબ તાડપત્રો પર લખાયેલી એમાં સંખ્યાબંધ પ્રતો હતી. કેટલીક ચોરાઈ ગઈ અને કેટલીક કાળનો ભોગ બની. તેમ છતાં આજે નાનામોટા કદની મળી લગભગ બસો પ્રતો મોજૂદ છે. તેને સાચવવા માટે હાલમાં સુંદર વ્યવસ્થા કરવામાં આવી છે. જ્યાં બેસવું નહોતું ગમતું ત્યાં સરસ રીતે કબાટ ગોઠવવામાં આવ્યા છે અને એથી કોઈ અભ્યાસી કલાકોના કલાકો ત્યાં બેસે તો પણ કંટાળે એમ નથી. આ જીર્ણોદ્ધારના મૂળમાં આચાર્યશ્રીની દીર્ઘદૃષ્ટિ અને પ્રતિભા ઝળહળી રહી છે. તે જીર્ણોદ્ધાર કેવી રીતે થયો તેનું એ સંક્ષિપ્ત વિહંગાવલોકન કરી જઈએ તો અસ્થાને નહિ લેખાય.

વિહાર કરતાં કરતાં આચાર્યશ્રી ખંભાત આવી પહોંચ્યા. અહીં વધારે રોકાવાની તેમની ઇચ્છા નહોતી. શિષ્ય ચરણવિજયજીને ખંભાતનાં જિનાલયોનાં દર્શન કરવાની તીવ્ર મહેચ્છા હતી અને એ અભિલાષા પૂર્ણ કરવા તેઓ અહીં આવેલા. એવામાં આ પ્રાચીન ભંડાર જોવાનો તેમને યોગ સાંપડયો. આ ભંડારની પરિસ્થિતિ જોઈ ગુરુ-શિષ્ય વચ્ચે થયેલો સંવાદ આપણે ઉપર જોઈ ગયા. શિષ્યની વાતમાં

સૂરિજીને તથ્ય જણાયું અને તેમણે આ પુરાણા ભંડારનો પુનરુદ્ધાર કરવાનો નિર્ણય કર્યો. તપાસમાં ઊંડા ઊતરતાં માલૂમ પડયું કે કામ ધારવા જેટલું સહેલું નહોતું. આમાં માત્ર પૈસાનો જ સવાલ નહોતો. તે સ્થળના હક્ક સંબંધે કોર્ટ સુધી વાત પહોંચેલી, પણ તેનો વહીવટ જેના હાથમાં હતો તેના જ હાથમાં રહ્યો. એટલે સંઘના મોટા ભાગે તેના પ્રતિ દુર્લક્ષ સેવ્યું, અને તેથી જ ખંભાત જેવી જૈનપુરીમાં ધર્મમાર્ગે હજારો રૂપિયા ખર્ચાતા હોવા છતાં આ સ્થાનની દશા કચ્છના રણ જેવી રહી!

ગુરુદેવે વહીવટદાર તેમ જ તેમના વંશજનો માલિકીહક્ક કાયમ રહે અને જ્ઞાનભંડારની સ્થિતિમાં સુધારણા થાય એવી એક યોજના તૈયારી કરી, અને સૌથી પ્રથમ તે વહીવટદાર સમક્ષ મૂકી. સૂરિજીની પ્રતિભાની અને એ યોજના પાછળની પવિત્ર દૃષ્ટિની પેલા ગૃહસ્થ પર ઊંડી છાપ પડી. સૂરિજીની વાત તેને ગળે ઊતરી અને તેણે એ યોજનાનો સ્વીકાર કર્યો. વહીવટદારો તરફથી બે અને સંઘના બીજા નવ એમ કુલ અગિયાર સભ્યોની સમિતિ નીમી, જ્ઞાનભંડારનો સમગ્ર વહીવટ આ સમિતિને સોંપવામાં આવ્યો અને સમિતિએ તે કામ સારી રીતે પાર પાડ્યું. આ રીતે મુનિશ્રી ચરણવિજયજીની ઇચ્છા કાર્યરૂપે પરિણમી, પણ આ પ્રયાસનું ફળ જોવા તે જીવ્યા નહિ. જીર્ણોદ્ધારનું કાર્ય પૂર્ણ થાય એ પહેલાં તેઓ સખત માંદગીમાં પટકાઈ પડ્યા. અનેક ઉપચારો છતાં કંઈ ફેરફાર ન થયો અને તેથી આચાર્યશ્રીએ સારી દવાઓ માટે તેમ જ હવાફેર અર્થે વડોદરા તરફ વિહાર કર્યો, પણ ત્યાં તેઓ વધુ દિવસ ટક્યા નહિ. જીર્ણોદ્ધારની સુધારણા થઈ પણ તેમના સ્વાસ્થ્યની સુધારણા ન થઈ; અને એક દિવસ સૂરિજીને નવીન પ્રેરણા અર્પનાર એ આત્મા સ્વર્ગગમન કરી ગયો.

પરંતુ શ્રી ચરણવિજયે પ્રગટાવેલી જ્યોત બુઝાઈ ન ગઈ. બીજાં કામોને પડતાં મૂકી સૂરિમહારાજ પુનઃ ખંભાત આવ્યા. ત્યાં તેમણે મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરી અને ચોમાસું પણ ત્યાં જ ગાળ્યું. આ રીતે એક જૂનું સ્થાન નવા સ્વાંગ સજી ઝળહળતો પ્રકાશ આપી રહ્યું! વ્યાખ્યાન સમયે દરરોજ તેઓ આ શાંતિનાથ-જ્ઞાનભંડારની વાત મૂકતા. તેમની દિવ્ય વાણીમાં એવું અપૂર્વ જોમ હતું કે તે આમ-જનસમૂહને અતીવ સ્પર્શી ગઈ. મકાનને સુધારવા પૂરતી રકમ મળી. છ કબાટ તૈયાર કરી આપનાર ગૃહસ્થો મળ્યા અને દરેક પ્રતના માપના લાકડાના દાબડા તૈયાર કરી આપવા અનેક નરનારીઓ ઉત્સુક બન્યાં. આ રીતે આચાર્યશ્રીએ જૈનસમાજમાં એક નવીન જાગૃતિ આણી, નૂતન જ્યોતિનો આવિર્ભાવ કર્યો, અને પુરાણા જ્ઞાનકોશના ઉદ્ધારનાં મંગલાચરણ કર્યાં.

પૂરતા પૈસા વગેરે મળતાં વહીવટકર્તાઓમાં જોર આવ્યું અને તેમણે વધારે ઉત્સાહથી કાર્ય પાર પાડવા તૈયારી કરી. સૌથી પ્રથમ ખંડેર મકાનને નવું સ્વરૂપ મળ્યું. ત્યારપછી લાકડાના દાબડાઓમાં દરેક પ્રતને સુરક્ષિત રીતે ગોઠવવામાં આવી અને આમ સર્વના સહકારથી કાર્ય પાર પડ્યું.

જૈનો તેમ જ જૈનેતરો, પૂર્વાચાર્યોનો આવો પ્રાચીન વારસો નજરે જોઈ શકે એ દૃષ્ટિએ, જ્ઞાનપંચમીના પર્વદિને ત્યાં પૂજા ભણાવવાની સૂરિજીએ શરૂઆત કરાવી. એ સમયે તાડપત્રોની પ્રતો દર્શનાર્થે બહાર મુકાવી. આ પ્રથા આજે પણ ચાલુ છે અને તેથી અનેક જણને પૂજનનો તેમ જ દર્શનનો લાભ મળે છે. મંદિરનો અને પ્રાચીન સાહિત્યનો આ રીતે આચાર્યશ્રીના હાથે ઉદ્ધાર થયો. તેમનું આ પગલું ખંભાતના ઇતિહાસમાં ચિરસ્મરણીય બની રહેશે.

ચોમાસું પૂરું થયું. આચાર્યશ્રીએ અન્ય સ્થળે વિહાર કરવાની તૈયારી કરી. તે સમયે મળવા આવેલા સમિતિના સભ્યોને તેમણે સંદેશ પાઠવ્યો: “મહાનુભાવો! પ્રતો સુરક્ષિત સ્થાને મુકાઈ ગઈ એટલે તમારું કાર્ય પૂર્ણ થયું એમ ન માનતા. એ સર્વનું વ્યવસ્થિત સૂચિપત્ર તૈયાર કરાવવું જોઈએ.

એમાં જે અપ્રકાશિત હોય તે વહેલી તકે પ્રગટ કરાવવા યત્ન કરવો જોઈએ. એ માટે આજના સાધનોનો ઉપયોગ ધ્યાનમાં રાખવો ઘટે. યાદ રાખજો કે તીર્થંકર પ્રભુની વાણી કે જેનો સંગ્રહ આપણા પૂર્વાચાર્યોએ આ રીતે તૈયાર કર્યો છે, એ કેવળ તાળાચાવીમાં પૂરી રાખવા માટે નહીં, પણ દેશકાળનાં એંધાણ પારખી એનો પ્રચાર વિશ્વભરમાં કરવા સારુ છે. એ અમૃતવાણીનાં વહેણ જે જે દિશામાં વહેશે તે તે પ્રદેશમાં એ અજવાળાં પાથરશે, સાચી શાંતિના સર્જક નીવડશે. વીતરાગની ઉપદેશધારા જેટલા વિશાળ સમૂહને સ્પર્શશે તેટલાનું એકંદરે કલ્યાણ કરનાર જ બનશે. આ કાર્ય અભ્યાસી મુનિવરોની સહાયથી કરાવજો. અવકાશ મેળવી એ માટે મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીની સલાહ લેશો. આજની પદ્ધતિએ સૂચિપત્ર તૈયાર કરવાના કાર્યમાં એ નિષ્ણાત છે. તાડપત્ર પર લખાયેલ ભાષા વાંચવામાં અને એ ઉપરથી એની સાલવારી નક્કી કરવામાં એ દક્ષ છે. જ્ઞાનપંચમીની પૂજા ચાલુ જ રાખજો.”

સૂરિજીએ જે સંદેશ આપ્યો એનો સમિતિએ સારી રીતે અમલ કર્યો, અને એ રીતે આ પ્રાચીન જ્ઞાનભંડારમાં રહેલ અણમોલ ખજાના સંબંધી જે માહિતી બહાર આવી તે આગમપ્રભાકર મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીના શબ્દોમાં જ રજૂ કરું એ વધારે ઉચિત લેખાશે. પૂર્વે જણાવ્યું તેમ જે પાનાં અસ્તવ્યસ્ત હતાં અને જે ડબ્બાઓમાં કેટલીક તૂટક પ્રતો હતી એ સર્વને મહારાજશ્રી પાસે પાટણ મોકલવામાં આવી. એમાંથી તેમણે જે શોધ કરી તે આ પ્રમાણે છે :

“પ્રસ્તુત જ્ઞાનભંડારના વિવેકી કાર્યવાહકોએ મારા ઉપર વિશ્વાસ રાખી તેમને ત્યાં પડેલા અસ્તવ્યસ્ત ગ્રંથો અને વેરવિખેર થઈ ગયેલાં તાડપત્રીય પાનાંઓનો સંગ્રહ મારી પાસે મોકલાવ્યો. આ સંગ્રહમાંથી કેટલાયે ગ્રંથો એવા મળી આવ્યા છે જેની બીજી નકલો ક્યાંય જોવામાં નથી આવતી. દા૦ ત૦ (૧) વિક્રમ સંવત ૧૨૩૨માં આચાર્ય જિનભદ્રરચિત ‘ઉપદેશમાલાકથા’ સંક્ષેપ (૨) કમલપ્રભાચાર્યકૃત ‘ષડાવશ્યકસૂત્રવૃત્તિ’ (૩) ‘અષ્ટપ્રકારીપૂજાકથા’ (રત્નચૂડનૃપકથા તથા વિજયચંદ્રકેવલીચરિત્રથી ભિન્ન) (૪) ‘ધમ્મિલ્લચરિત્ર’ (ધમ્મિલ્લ હિંડી આધારે રચેલું) (૫) ‘દાનપ્રકાશ’ આદિ, આ રીતે અલભ્ય-દુર્લભ્ય ગ્રંથો મળી આવ્યા છે. આમાંના કેટલાક અપૂર્ણ હોવા છતાં અપૂર્વતાની દૃષ્ટિએ અતિ મહત્ત્વના હોઈ જાળવી રાખવા જ જોઈએ.

“આ જ્ઞાનભંડારમાં આચાર્ય ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્ય, અપરનામ સંઘપતિ વસ્તુપાલચરિત્ર, આચાર્ય દેવભદ્રકૃત કથારત્નકોશ, રામદેવકૃત પંચસંગ્રહદીપક, આચાર્ય જિનભદ્રકૃત ઉપદેશમાલાકથા, અમમસ્વામી ચરિત્ર (એ ભાગમાં હાલ પ્રગટ થયેલ છે), સુંદસણા ચરિત્ર (મુદ્રિતથી ભિન્ન), શૈવમુનિકૃત સુભાષિતરત્નકોશ, જયમંગલાચાર્યકૃત કવિશિક્ષા, રવિગુપ્તકૃત લોકસંવ્યવહાર નામક અંક આદિ ગ્રંથો ઘણા જ મહત્ત્વના છે જેની બીજી નકલો આ જ્ઞાનભંડાર સિવાય બીજે ક્યાંય જોવામાં નથી આવી.

“આ ઉપરાંત વસુદેવહિંડીના ખંડો, ભુવનસુંદરી કથા, દામોદરકૃત શુંભલીમતશાસ્ત્ર, જ્ઞાતાધર્મકથાંગ આદિ અંગ ચતુષ્ક સટીક (સં૦ ૧૧૮૪માં લખાયેલ) વઈરસામિ ચરિઉ (અપભ્રંશ), શાન્તિનાથ ચરિત્ર, નિશિથ કલ્પ-વ્યવહાર આદિ છેદ આગમો અને એની ભાષ્યચૂર્ણિ ટીકા આદિ છે.

“શતક કર્મગ્રંથની ચૂર્ણિ કે જેની નકલો બીજે મળે છે અને જે છપાઈ પણ ચૂકયો છે તે છતાં આ જ્ઞાનભંડારમાંની એની પ્રતિની વિશેષતા એ છે કે એના અંતમાં ‘कृतिराचार्य श्री चन्द्रमहत्तरसिताम्बरस्य शतकस्य ग्रन्थस्य चू ……’ આ ઉલ્લેખવાળો પાનાનો ટુકડો છે. આ ટુકડો અસ્તવ્યસ્ત પાનાંના ઢગલામાંથી શોધી મૂળ પ્રત સાથે જોડી દીધો છે.

“ આ સિવાય સંઘાચાર ભાષ્યવૃત્તિની પ્રતિ જે ભંડારમાં છે તેમાં ગ્રંથકારની પ્રશસ્તિ છે જે બીજી પ્રતોમાં મળતી નથી, આ પ્રમાણે સાહિત્યની દૃષ્ટિએ આ ગ્રંથનું ખૂબ જ મહત્ત્વ છે. પ્રાચીન ચિત્રકળાની દૃષ્ટિએ પણ તેનું ઘણું મહત્ત્વ છે. એકંદરે આ જ્ઞાનભંડાર દરેક રીતે મહત્તાથી ભરપૂર છે. છેવટે આ જ્ઞાનભંડારમાં એક અતિ મહત્ત્વની વસ્તુ છે તે તરફ સૌનું ધ્યાન દોરું છું. આ જ્ઞાનભંડારમાં ગુર્જરેશ્વર મહામાત્ય શ્રી વસ્તુપાલે પોતે સ્વહસ્તે લખેલી ધર્માભ્યુદય કાવ્યની એક પ્રતિ છે. મહામાત્ય વસ્તુપાલ જેવી સર્વમાન્ય ઐતિહાસિક વ્યક્તિના હસ્તાક્ષરોનું દર્શન આજપર્યન્ત બીજે ક્યાંય થયું નથી, પરંતુ ખંભાતના જ્ઞાનભંડારે આપણને એ મહત્ત્વની અને અપૂર્વ વસ્તુ પૂરી પાડી છે. ”

ઉપર જોયું તેમ આ પ્રાચીન જ્ઞાનભંડારને લગતું મહત્ત્વનું કાર્ય પૂજ્યપાદ ન્યાયાંભોનિધિ જૈનાચાર્ય શ્રી ૧૦૦૮ વિજયાનંદસૂરિના પટ્ટધર આચાર્ય મહારાજ સ્વર્ગસ્થ શ્રી ૧૦૦૮ વિજયવલ્લભસૂરિએ કર્યું છે. આ જ્ઞાનભંડારને ચિરાયુષ્ય બનાવવા માટે નવેસરથી ડબ્બાઓ, કબાટો વગેરે દરેક વસ્તુઓ તૈયાર કરાવી એને પુનર્જીવન અર્પણ કર્યું છે, એટલું જ નહિ પણ જ્ઞાનભંડારનાં પુસ્તકોનો સદુપયોગ થાય અને વિદ્વાન સંશોધકોને જ્ઞાનભંડારની પ્રતો મળી શકે તેવી સુવ્યવસ્થા કરવા માટેનો અતિ આદરપાત્ર સુંદર પ્રબંધ કરવાનું યશઃપ્રદ કાર્ય કર્યું છે. આવા શાસન પ્રભાવક સૂરિપુંગવને ભૂરિભૂરિ વંદન હો.

ભંડારનું પ્રથમ સૂચિપત્ર ઉ. ક્ષમાવિજયજી મહારાજે તૈયાર કરી આપેલ જે સં૰ ૧૯૯૫માં પ્રગટ થયેલ. એ ઘણું સંક્ષિપ્ત હતું. ત્યારપછી કાંઈક વિશદ સ્વરૂપમાં આચાર્ય મહારાજ શ્રી ૧૦૦૮ વિજયકુમુદસૂરિએ તૈયાર કરી આપેલ જે આજે વપરાશમાં લેવાય છે. સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રીની સૂચના મુજબ આગમપ્રભાકર મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીને વિનંતી કરી સં૰ ૨૦૦૯માં ખંભાત બોલાવવામાં આવેલ. તેઓશ્રીએ ભંડારની સર્વ પ્રતોને આદિથી અંત સુધી જોઈ વિસ્તૃત સૂચિપત્ર તૈયાર કરેલ છે જે થોડા સમયમાં પ્રગટ થનાર છે. આ ભંડાર માટે સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રીએ સમિતિ નીમી કાર્ય શરૂ કરાવ્યું. ત્યારપછી સંખ્યાબંધ પ્રતો જુદાજુદા મુનિ મહારાજોને આપવાનો પ્રબંધ થયો. કેટલાકે એ ઉપરથી હસ્તલિખિત પ્રતો તૈયાર કરાવી, જ્યારે કેટલાકે છપાવી. આ સર્વના મૂળમાં સદ્ગત સૂરિજીની દીર્ઘદૃષ્ટિ અને શાસનપ્રભાવનાની ઊંડી ધગશ ઝળહળી રહેલી દૃષ્ટિગોચર થાય છે.

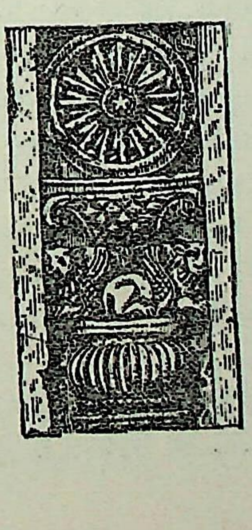

યુગદ્રષ્ટા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

શ્રી પી. કે. શાહ, એમ. એ.

શ્રમણ ભગવાન શ્રી મહાવીરના શાસનમાં સર્વ જીવોને માટે સદાયે માંગલ્યની વાંછના થઈ છે. તેમણે પ્રરૂપેલા ધર્મ-સિદ્ધાંતો જૈન શ્રમણો જનતા સમક્ષ યુગોથી રજૂ કરતા આવ્યા છે. તે દ્વારા જનતાને સદ્ધર્મની પ્રેરણા તેઓ આપતા રહ્યા છે. કર્મ અને સ્યાદ્વાદનો સિદ્ધાંત પ્રરૂપનાર જૈનધર્મ અનેકાંતવાદી છે. અનેકાંત માત્ર તાત્ત્વિક જ નહિ, વ્યાવહારિક શુદ્ધિ માટે પણ છે. જો તે આપણાં જીવનદર્શન અને દૃષ્ટિ ન વિકસાવે તો માનવું રહ્યું કે અનેકાંતને આપણે અપૂર્ણ રીતે સમજ્યા છીએ. અનેકાંત જીવનને ઉદાર દૃષ્ટિ આપે છે અને જૈન સ્થવિરોના ઇતિહાસમાં યુગપ્રવર્તકોએ સમાજની આવતી કાલનો ખ્યાલ રાખીને સમાજને સદા યોગ્ય માર્ગદર્શન આપ્યું છે. પૂ૦ ભદ્રબાહુસ્વામીથી માંડી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ સુધી જૈનદર્શનની વિશિષ્ટ પરંપરા રહી છે. એમના અભિનવ માર્ગદર્શનને કારણે જૈનસાહિત્ય, સંસ્કાર અને ધાર્મિક જીવન ખૂબ સમૃદ્ધ બન્યાં છે. પ્રભાવક સ્થવિરોએ જીવનની મંગલ વાંછના કરી છે અને સાથોસાથ સમાજના દૃઢ વ્યવહારને નવવારિથી સિંચી જીવંત બનાવ્યો છે.

જૈન સંસ્કૃતિની દૃષ્ટિએ અનંતકાળ અનંત જીવો ચોરાશી લાખ યોનિમાં ભમતા આવે છે, ભમે છે અને ભમશે. કાળ નિરવધિ હોવા છતાં માનવ પોતાના જીવનની અવધ કાળના ગજથી માપે છે. તે જન્મે છે, જીવે છે, કર્મો કરે છે, આરાધે છે, વિરાધે છે અને અંતે પોતે વિસર્જન પણ પામે છે. દુન્યવી ક્ષુલ્લક સ્વાર્થો, અહંતા, અને અયોગ્ય જિજીવિષા જેવા ભાવો માનવીને માનવ તરીકે પણ જીવવા ન દેતાં, તેને અતિ સામાન્ય, વામણો બનાવી દે છે.

ઘણા માનવીઓના જીવનમાં આમ બને છે, છતાં કેટલાક પુણ્યશાળીઓ એવા હોય છે કે જે માનવી તરીકે જીવી જાય છે અને બીજા અનેક માનવોને તેવી રીતે જીવવા પ્રેરણા આપે છે. આવા માનવીઓ સંસ્કૃતિ અને ધર્મની વિસ્તૃતિના નિમિત્ત બને છે. જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની આપણી પરંપરામાં અનેક માનવીઓ આવી ગયા. તેમણે સમાજને નવી દિશા બતાવી. શ્રમણ ભગવાન મહાવીરની સતત પરંપરામાં શ્રી સુધર્માસ્વામી આઠ વર્ષનો કેવળજ્ઞાનનો પર્યાય પામી મહાવીરસ્વામીના નિર્વાણના વીસ વર્ષે કાળધર્મ પામ્યા. તેમની પાટે શ્રી જંબુસ્વામી આવ્યા અને વીર સંવત ૬૪માં તેઓ નિર્વાણ પામ્યા. એમની પછી શ્રી પ્રભવસ્વામી આવ્યા. ત્યાર બાદ શ્રી શય્યંભવસૂરિ આવ્યા અને તેમણે દશ-વૈકાલિક સૂત્રની રચના કરી. તેમના પટ્ટધર શ્રી યશોભદ્ર અને તેમના બે શિષ્યો શ્રી ભદ્રબાહુ અને શ્રી સંભૂતિવિજય થયા. શ્રી ભદ્રબાહુના કાળધર્મ પછી તેમની પાટે આવ્યા શ્રી સ્થૂલીભદ્ર અને તેમના બે શિષ્યો શ્રી આર્યમહાગિરિ અને શ્રી આર્યસુહસ્તિ. શ્રી આર્યસુહસ્તિ અને શ્રી સંપતિનો સમાગમ એ જૈન ઇતિહાસની જ્વલંત કથા છે. સ્થવિરોમાં શ્રી આર્યવજ્રસ્વામી છેલ્લા પૂર્વધર થયા. છેલ્લે શ્રી આર્યવજ્રસેન પટ્ટધર થયા. અને એ રીતે શ્રમણોની પરંપરા ચાલુ રહી.

શ્રી દેવર્દ્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણના પ્રમુખપદે વિ૦ સં૦ ૫૧૦માં વલ્લભીપુરમાં જૈન સિદ્ધાંત ગ્રંથોના ઉદ્ધાર માટે સ્થવિરોની એક પરિષદ ભરાઈ. એ પહેલાંનાં સો વર્ષે દાર્શનિક ક્ષેત્રમાં શ્રી મલ્લવાદીએ જૈન

ધર્મનો પ્રચાર કરેલ. બાર વર્ષના દુકાળોને કારણે ઉત્તરનો જૈન ધર્મ પૂર્વ, પશ્ચિમ અને દક્ષિણ ભારતમાં વિસ્તરતો હતો એ ઇતિહાસસિદ્ધ હકીકત છે.

ગૂર્જર ભૂમિમાં જૈન સંસ્કૃતિનો વિકાસ

આજે આપણે જેને ગુજરાતની સંસ્કૃતિ તરીકે ઓળખીએ છીએ તેના મૂળ પોષક બે શહેરો : વલ્લભી અને ભિન્નમાલ. ભિન્નમાલની સંસ્કૃતિ વિશાળ અને વિસ્તૃત હતી. ઇતિહાસકાર કનીંગહામના મતે ભિન્નમાલ વલ્લભીથી ત્રણસો માઇલના અંતરે હતું. ભિન્નમાલનું વર્ણન પ્રભાવકચરિત્રમાં છે. આપણાં શ્રીમાળી, પોરવાડ વગેરે કુળોનું વર્ણન તેમાં છે, અને તેમનું નિવાસસ્થાન તે આ નગર. સંસ્કૃતનો મહાકવિ માઘ આ નગરમાં થઈ ગયો. વિ૦ સં૦ ૯૬૨માં શ્રી સિદ્ધર્ષિ મુનિએ ‘ઉપમિતિભવપ્રપંચકથા’ અહીં જ લખી હતી. શ્રી ઉદ્યોતનસૂરિનું ‘કુવલયમાળા’ અહીં જ લખાયું. ભિન્નમાલની જ્વલંત પ્રતિભા વિ૦ સં૦ ૧૨૦૦ સુધી રહી. વલ્લભીપુરની ઐતિહાસિક હકીકતો સં૦ ૭૬૬ સુધીની મળે છે. વલ્લભીપુરના વિનાશકાળે વનરાજ ચાવડાના શાસનની સ્થાપના થઈ ચૂકી હતી. ચાવડાની રાજધાની પંચાસર. પંચાસરના જયશિખરી પર ભુવડનું આક્રમણ, રૂપસુંદરીનું વનગમન, શ્રી શીલગુણસૂરિએ આપેલ આશ્રય. આ ઈ૦ સ૦ ૭૨૬ એટલે કે વિ૦ સં૦ ૮૦૨માં અણહિલવાડની વનરાજે સ્થાપના કરી. પંચાસરમાં પાર્શ્વનાથનું ચૈત્ય તૈયાર કરાવ્યું. ભિન્નમાળનું પતન અને પાટણનો ઉદય—આ ઇતિહાસની હકીકતો છે. વનરાજનો મંત્રી જામ અને જૈન મંત્રી વસ્તુપાલ. આ બધી જૈન મંત્રીઓની પરંપરા છે. ચાવડા વંશ ઈ૦ સ૦ ૬૯૬થી ઈ૦ સ૦ ૯૫૨. સોલંકીઓનો વંશ ઈ૦ સ૦ ૯૪૨થી ઈ૦ સ૦ ૧૨૪૨. સોલંકી રાજા મૂળરાજનું શાસન વિ૦ સં૦ ૯૯૮થી ૧૦૫૩ સુધી. મૂળરાજના આ શાસન સમયમાં દક્ષિણમાં ચાલુક્ય રાજા તૈલપ હતો અને માળવામાં મુંજ હતો. મૂળરાજની ગાદીએ ચામુંડ આવ્યો. એના પર આચાર્ય શ્રી વીરસૂરજીની ઘણી અસર હતી. ચામુંડનો પુત્ર વલ્લભરાજ યુવાન વયે પંચત્વ પામ્યો અને દુર્લભરાજ ગાદી ઉપર આવ્યો. આ સમય શ્રી જિનેશ્વરસૂરિજી જેવા ધુરંધર વિદ્વાનોનો હતો. આ પછી આવ્યો ભીમદેવ પહેલાનો સમય. કવીન્દ્ર અને વાદિચક્રી તરીકે શ્રી શાંતિસૂરિ આ સમયે પ્રસિદ્ધ થયા. આ સમય માલવ કવિ ધનપાલનો. શ્રી ધનપાલની ‘તિલકમંજરી’ કથાસાહિત્યમાં મહત્ત્વનું સ્થાન ધરાવે છે. ભીમદેવના મામા દ્રોણાચાર્ય હતા. દ્રોણાચાર્યના ભાઈ સંગ્રામસિંહના પુત્ર શ્રી સૂરાચાર્ય. આ જ એ શ્રી સૂરાચાર્ય જેમણે માલવાના ભોજને પોતાની વિદ્વત્તાનો પરિચય કરાવ્યો હતો.

ભીમદેવના સમયમાં ગુજરાતની સંસ્કારસી . વિસ્તરી. વિમલવસહિકોની આબુ પર્વત પરની રચના વિ૦ સં૦ ૧૦૮૮માં થઈ. ભીમદેવ પછી રાજા કર્ણદેવ ગાદી ઉપર આવ્યા. કર્ણે આશાવલ્લી ‘અશાવલ’ જીતી લીધું અને કર્ણાવતી નામનું નગર વસાવ્યું. કર્ણદેવના રાજ્યમાં શ્રી વાદિદેવસૂરિ અને નવાંગી ટીકાકાર શ્રી અભયદેવસૂરિ જીવંત હતા. સંવત ૧૧૫૦માં કર્ણદેવ મૃત્યુ પામ્યા અને જૈન ઇતિહાસના નભમંડળમાં એક મહાન તારો ઉદય પામ્યો જેણે સમગ્ર જૈન ઇતિહાસમાં પ્રકાશની ઊજળી દૂધમલ કૌમુદીધારાની રસલહાણ વહેતી મૂકી. અને એ તારો તે વિ૦ સં૦ ૧૧૪૦ના કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યનો જન્મ.

પૂ૦ આચાર્યશ્રી હેમચંદ્રનો સમય વિ૦ સં૦ ૧૧૫૦થી વિ૦ સં૦ ૧૨૨૯. શાસનની દૃષ્ટિએ સિદ્ધરાજ જયસિંહ અને પરમાર્હત્ કુમારપાળનો આ સમય. ઈ૦ સ૦ ૧૨૪૪માં સોલંકી યુગનો સૂર્ય અસ્ત પામ્યો. વાઘેલાઓનો સમય ઈ૦ સ૦ ૧૨૪૨થી ઈ૦ સ૦ ૧૩૦૪. વીરધવળે સંવત ૧૨૭૬માં વસ્તુપાલ–તેજપાલને

મંત્રીઓ બનાવ્યા. સંવત ૧૨૭૭માં બંનેએ તીર્થયાત્રા કરી. બંનેએ પાટણ, ખંભાત, ધોઘા, શત્રુંજય, ગિરનાર, ભરૂચ, ડભોઈ વગેરે સ્થળોએ મંદિરો બંધાવ્યાં. શ્રી રાજશેખરસૂરિ, શ્રી જિનહર્ષ અને શ્રી જૈન પ્રભાચાર્ય આનો સુંદર પરિચય આપી જાય છે. સંવત ૧૨૮૭માં લૂણ વસહિકા નામનું ભવ્ય મંદિર કરાવ્યું. દેલવાડાના આ દહેરાસરો સમગ્ર જગતમાં કલાની દૃષ્ટિએ વિખ્યાત છે. ઈ૦ સ૦ ૧૨૯૬માં વસ્તુપાલનું અવસાન થયું.

વસ્તુપાલના સમયના વિદ્વાનો ગુજરાતની તવારિખમાં અતિ જાણીતા છે. 'કવિ કલ્પલતા'ના બનાવનાર શ્રી અમરચંદ્રસૂરિ, 'વસંત-વિલાસ' કાવ્ય તથા 'કરુણાવજ્ર યુદ્ધ' નામક નાટક લખનાર શ્રી બાલચંદ્રસૂરિ, 'હમીરમદમર્દન' નાટક લખનાર શ્રી જયસિંહસૂરિ, 'ધર્માભ્યુદય' તથા 'સુકૃતકીર્તિ-કલ્લોલિની'ના કર્તા શ્રી ઉદયપ્રભ, 'કાવ્ય-પ્રકાશ'ના ટીકાકાર શ્રી માણિક્યસૂરિ, 'અનર્થ-રાઘવ' ના ટીકાકાર શ્રી નરચંદ્રસૂરિ, કવિ સુભટ, 'ઉલ્લાસ-રાઘવ'ના રચયિતા નાગર કવિ શ્રી સોમેશ્વર—આ બધાઓએ એ સમયના ગુજરાત પર પ્રકાશ નાખ્યો છે. સંવત ૧૩૦૨માં વિશલદેવ પાટણની ગાદી પર બેઠા. એમના સમયમાં ઘણાં યુદ્ધો થયાં. વિશળદેવના સમયમાં સંવત ૧૩૧૫થી ૧૩૧૮ સુધીનો ત્રણ વર્ષનો દુષ્કાળ પડ્યો. આ કાળે ભદ્રેશ્વરના જગડુશાહે લોકોને મદદ કરી. આ જગડુશાહનું ચરિત્ર ધનપ્રભસૂરિના શિષ્ય શ્રી સર્વાનંદસૂરિએ લખ્યું છે.

ગુજરાતી સાહિત્યનું પ્રથમ ગણાતું કાવ્ય કાન્હડદે પ્રબંધ ૧૫૧૨માં રચાયું. પણ એ પહેલાં શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ તીર્થકલ્પ લખ્યું. હિજરી સં૦ ૬૯૮ (ઇ૦ સ૦ ૧૨૯૮) અને વિ૦ સં૦ ૧૩૫૬માં પાટણનું પતન થયું. ઈ૦ સ૦ ૧૨૯૭થી ૧૩૧૬ એ મલેકસંજરનો સમય. ત્યાર પછી ઈ૦ સ૦ ૧૪૧૨ સુધી ગુજરાતના મુસ્લિમ ગવર્નરોનો સમય. હિજરી સં૦ ૮૧૫ એટલે ઈ૦ સ૦ ૧૪૧૨માં મહમદ તઘલખનું મરણ અને ગૂજરાત સ્વતંત્ર થયું.

મિરાતે સિકંદરી તેમ જ મિરાતે અહમદી પ્રમાણે અમદાવાદ ૧૪૧૧ની સાલમાં વસ્યું, અને શક ૧૩૧૪. હિજરી સં૦ ૧૮૧૩ની અંતમાં અમદાવાદ વસ્યું હોવાની માન્યતા છે. સં૦ ૧૪૯૬માં અમદાવાદનો કોટ બંધાયો. હિજરી સં૦ ૯૧૦માં અકબર બાદશાહે અમદાવાદમાં પ્રવેશ કર્યો. અકબરનો સમય એટલે હીરસૂરીશ્વરજી મહારાજનો સમય. એ પછી ઈ૦ સ૦ ૧૬૧૮માં જહાંગીરે શાહજહાનને સૂબો નીમ્યો. સં૦ ૧૩૩૮માં ઝવેરી શાંતિદાસે સરસપુરમાં મોટું ચિંતામણિ પાર્શ્વનાથનું જિનપ્રાસાદ બંધાવ્યું હતું. ૧૭૦૭માં ઔરંગઝેબનું મરણ થયું. ઈ૦ સ૦ ૧૮૪૬માં હઠીસિંગનું મંદિર બંધાવવાની શરૂઆત થઈ.

સમ્રાટ અકબરને પ્રબોધનાર જગદ્‌ગુરુ શ્રી હીરસૂરીશ્વરજી મહારાજની અસર ગૂજરાતમાં ઘણી પડી છે. શ્રી હીરસૂરીશ્વરજીના શિષ્ય મહોપાધ્યાય શ્રી કલ્યાણવિજય ગણિના શિષ્ય, પં૦ શ્રી લાભવિજયગણિના શિષ્ય, પંડિત જીતવિજયના ભ્રાતા પં૦ શ્રી નયવિજયના શિષ્ય શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ. સુજસવેલીભાસમાં જણાવ્યા પ્રમાણે વિ૦ સં૦ ૧૬૮૮માં બાળ વયે એમની દીક્ષા. વિ૦ સં૦ ૧૭૪૩માં કાળધર્મ. જૈન-દર્શનમાં ન્યાયની શૈલીથી ગ્રંથોનું નિર્માણ કરનાર અને દાર્શનિક રીતે રજૂ કરનાર શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રી હરિભદ્રસૂરિ, શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ—એ આપણા સાધુઓની પરંપરા.

આ પરંપરાને જૈન કવિઓએ જાળવી રાખી. કવિ ઉત્તમવિજયજી મહારાજનો જન્મ શામળાની પોળમાં સં૰ ૧૭૬૦, સં૰ ૧૭૯૬માં દીક્ષા અને સં૰ ૧૮૨૭માં અમદાવાદના પરા હરિપુરામાં કાળધર્મ. એમની અનેક કૃતિઓ : 'સંયમશ્રેણી ગર્ભિત', 'મહાવીર સ્તવન', 'અષ્ટપ્રકારી પૂજા', 'જિનવિજય-નિર્વાણ રાસ.'

બીજા કવિ શ્રી પદ્મવિજયજી મહારાજ. સં૰ ૧૭૯૨માં શામળાની પોળમાં જન્મ અને ૧૮૬૨માં કાળધર્મ. અષ્ટપ્રકારી પૂજામાં આપેલ સ્થવિરાવલિ પ્રમાણે પોતે પં૰ ઉત્તમવિજયજીના શિષ્ય થાય.

ગુજરાતી સાહિત્યને સમર્થ કરનાર શ્રી વીરવિજયજી મહારાજનો જન્મ શાંતિનાથના પાડામાં થયો. ૧૮૪૮માં એમણે દીક્ષાધર્મ લીધો. એમના હાથે પાલિતાણામાં મોતીશાની ટૂંક બંધાઈ અને પાંચ હજાર પ્રતિમાઓની એમણે સ્થાપના કરી. વિ૰ સં૰ ૧૯૦૩માં હઠીભાઈના દહેરાની પ્રતિષ્ઠા અને ૧૯૦૮માં તેમનો સ્વર્ગવાસ થયો.

આ તવારિખ ઉપરથી સ્પષ્ટ ખ્યાલ આવે છે કે જૈન મુનિ વિદ્વાનોએ સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યની પ્રણાલિકા ચાલુ રાખી છે અને ભાષાસાહિત્યના વિકાસમાં જીવનનો મોટામાં મોટો ફાળો આપ્યો છે. પ્રાચીન અને અર્વાચીન સમાજના ઘડતરમાં જૈન શ્રમણોનો ફાળો નાનોસૂનો નથી; સંસારથી વિરક્ત છતાંયે આ મુનિઓએ સમાજને સાચો માર્ગ ચીંધ્યો છે અને સમાજના આંતર-જીવનમાં કોઈ નૂતન જીવનરસનું સિંચન કર્યું છે.

કપરા સમયમાં જૈન શ્રમણોએ સંસ્કૃતિ અને સાહિત્ય જાળવવામાં મદદ કરી છે. રાસાઓ અને કથાઓ દ્વારા જૈન સાધુઓ અને કવિઓએ સાહિત્યનો વિકાસ કર્યો છે અને મધ્યયુગમાં સાધુઓએ જ સાહિત્યનો પ્રવાહ વહેતો રાખ્યો હતો.

આ તવારિખો બતાવે છે કે જૈનોએ આ સમગ્ર પરંપરા વહેતી રાખી છે અને એની સાથે એમણે વિશિષ્ટ જૈન-દર્શનનો જગતને પરિચય કરાવ્યો છે. જૈન દર્શન અનેકાંતિક છે. વસ્તુને વસ્તુની રીતે જોવાનો તેનો આગ્રહ છે. આપણું દર્શન કેવળ પર્યાયોમાં પૂર્ણ થતું નથી, પણ વસ્તુને વ્યાપક રીતે જુએ છે. અંગ્રેજીમાં જેને Dynamic Realism કહે છે તેનું આપણે પ્રતિપાદન કરીએ છીએ. જર્મન ફિલસૂફ હેગલ બીજી રીતે આપણા દર્શનની છેક નજીક આવી જાય છે. જ્ઞાનથી અજ્ઞાનનું નિવર્તન થાય છે અને એથી જ જ્ઞાન પર આપણે ભાર મૂકીએ છીએ.

આપણો મુખ્ય સિદ્ધાંત સ્યાદ્વાદ. વસ્તુને જુદા જુદા દૃષ્ટિબિંદુથી અવલોકવી યા કહેવી એ સ્યાદ્વાદનો સીધો અર્થ. આપણે એક જ વસ્તુમાં નિત્ય ભાવનું અને સાથે સાથે અનિત્ય ભાવનું દર્શન કરીએ છીએ. જૈન દર્શન માને છે કે કોઈ મૂળ વસ્તુ નવી ઉત્પન્ન થતી નથી અને કોઈ મૂળ વસ્તુનો સર્વથા નાશ થતો નથી. મૂળ તત્ત્વો એના એ હોય છે. એમાં અનેક પરિવર્તન થાય છે. એટલે કે એક પરિણામનો નાશ અને બીજા પરિણામનો પ્રાદુર્ભાવ થાય છે. આમ બધા પદાર્થોનો સ્વભાવ ઉત્પાદ, વિનાશ અને સ્થિતિનો છે. આપણે આ વસ્તુને પર્યાયના નામે ઓળખીએ છીએ, અને મૂળ વસ્તુ છે દ્રવ્ય. દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય. આથી પ્રત્યેક વસ્તુને માત્ર નિત્ય નહિ, માત્ર અનિત્ય નહિ, પણ નિત્ય અને અનિત્ય સ્વરૂપે અવલોકવી એ સ્યાદ્વાદ. દરેક પદાર્થને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર,

કાળ અને ભાવથી અવલોકવાના હોય છે. દરેક પદાર્થ આ રીતે જ સત્ હોય છે. સ્યાદ્વાદ એક જ વસ્તુને જુદી જુદી અપેક્ષાએ અનેક રીતે અવલોકવાનું કહે છે, Truth in its manifold and seemingly contradictory aspects.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ

આજના યુગના અનેક પ્રશ્નોને યથાર્થ સ્વરૂપે સમજનાર પૂજ્યપાદ શ્રીમદ્વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી (આત્મારામજી) મહારાજનો જન્મ સં. ૧૮૯૨માં થયો હતો. તે સમયના સામાજિક પરિબળોએ સમાજમાં અનેક જાતની અશાંતતા સર્જી હતી. આત્મારામજી મહારાજે સં. ૧૯૩૨માં સંવેગી દીક્ષા ગ્રહણ કરી અને સં. ૧૯૪૨માં પાલીતાણા તીર્થમાં પાંત્રીસ હજાર માણસોની હાજરીમાં એમને આચાર્યની પદવી અર્પણ થઈ. તેઓશ્રી સમાજના પરિબળો જોઈ શકયા. શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ, શ્રી મણિવિજયજી મહારાજ અને શ્રી આત્મારામજી મહારાજના આજના જૈનસમાજ પર અનેક ઉપકારો છે. સં. ૧૯૫૨માં શ્રી આત્મારામજી મહારાજનો કાળધર્મ થયો. આ વખતે મુનિશ્રી વલ્લભવિજયની વય પચ્ચીસ વર્ષની હતી.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ વિચારક અને સમય-જ્ઞ હતા. જીવનના અનેકવિધ અનુભવોમાં તવાયેલા હોવાથી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ જૈન સંસ્કૃતિના પ્રવર્તક ખ્યાલોની સાથોસાથ જીવનને અભિનવ દર્શન આપતા અને કાળની ગતિ કઈ તરફ છે તે એ સમજી શકતા. રાજકીય અશાંતિના યુગ પછી ૧૮૫૭ની પ્રથમ સ્વાતંત્ર્યક્રાંતિ પછી ભારતમાં નવો રાજકીય યુગ શરૂ થયો હતો. એક બાજુ આર્ય સમાજના પ્રણેતા દયાનંદ સરસ્વતી નવા ઉત્સાહથી હિંદુ ધર્મના નવાં મૂલ્યાંકનો, વેદની નવી રજૂઆત કરતા અને એ સમયના રૂઢ સંસ્કારોને પડકારતા હતા. બીજી બાજુ કાળના આ પ્રવાહને ઓળખી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે કાર્ય આરંભ્યું. પશ્ચિમના ચિંતકો જૈન ધર્મને સાહિત્યિક દૃષ્ટિએ વિચારતા. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ તેમના પૂરક થયા. જૈન ધર્મનો વિશ્વને ખ્યાલ આવે એ આશાએ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે સ્વ૦ વીરચંદ રાઘવજી ગાંધીને ચિકાગો સર્વધર્મપરિષદમાં મોકલ્યા. અનેક મુમુક્ષુઓને સંવેગી દીક્ષા આપનાર પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ જૈન સાહિત્યના પ્રખર અભ્યાસી હતા. સાહિત્યની ગવેષણા અને સાહિત્યનો પ્રચાર કરવાની એમની ધગશ અનોખી હતી. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે જીવનની આજના યુગની વિષમતાનો જનતાને ખ્યાલ આપ્યો અને આજના યુગને તૈયાર કર્યો. અનેક સાથે સંપર્ક સાધી જીવનની નવી દૃષ્ટિ વિકસાવી. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની દૃષ્ટિએ સમાજને તૈયાર કરવામાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે મોટો ફાળો નોંધાવ્યો. એમની 'અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કર', 'શ્રી જૈન તત્ત્વાદર્શ' તેમ જ અન્ય કૃતિઓ આજે પણ પ્રેરણા આપે એવી છે. સં. ૧૯૫૧ના ભાદરવા શુદિ ૧૩ના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ તરફથી મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયે લખેલ પત્ર આ સાથે રજૂ કરેલ છે. આ પત્ર દ્વારા બન્ને મહાન વિભૂતિના હસ્તાક્ષર અને વિચારોનું દિગ્દર્શન થાય છે. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ કેટલા વિનમ્ર અને શાસ્ત્ર-જ્ઞ હતા તેનો ખ્યાલ પણ એઓશ્રીના આ પત્રથી આવી જાય છે. આચાર્ય હોવા છતાં યે શ્રી સંઘને તેઓ વિનમ્રતા અને ભક્તિભાવથી વિચાર કરવાનું કહે છે. સાધુ-મહારાજો પ્રત્યે પણ તેમને કેવું આદરમાન છે અને પૂજ્યભાવ છે તે પણ આ પત્રથી પ્રત્યક્ષ થાય છે. આ આખોય પત્ર ઐતિહાસિક મહત્વ ધરાવતો હોવાથી રજૂ કરેલ છે. આ પત્ર આચાર્યશ્રી વિજયસમુદ્રસૂરિના સંગ્રહમાં છે. પત્રની દરેક પંક્તિમાં સંયમ અને વિચારસ્વાતંત્ર્ય ઝમકે છે.

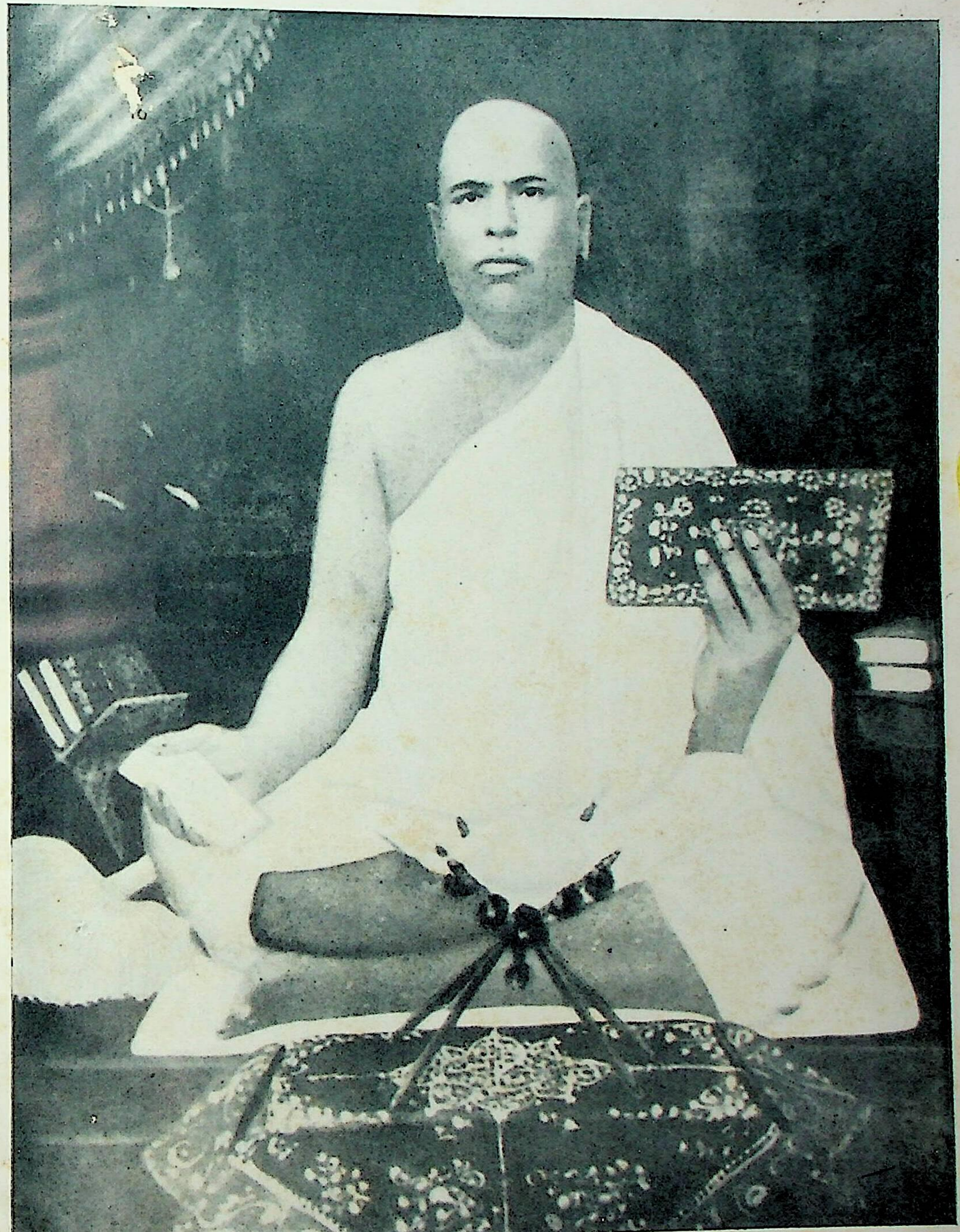

न्यायांभोनिधि श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजी (श्री आत्मारामजी)

શ્રીઃ

શહેર અંબાલા- પૂજ્યપાદ શ્રીશ્રીશ્રી ૧૦૦૮
શ્રીમદ્વિજયાનંદ સૂરીશ્વરજી (આત્મારામજી)
મહારાજજી તરફથી ધર્મલાભ વાંચજો-

મુંબાઈ બંદર — શ્રાવક પુણ્યપ્રભાવક દેવગુરુભક્તિકારક શેઠ- ફકીરચંદ પ્રેમચંદ રાયચંદજી વિગેરે સકળ શ્રી સંઘ યોગ્ય - અત્રે શ્રી દેવગુરુના પ્રસાદથી સુખસાતા છે શ્રી વીર નિર્વાણ સં- ૨૪૨૧ મા વર્ષમાં ભાદરવા સુદિ ૪ શનિવારને રોજ છમચ્છરી પડિક્કમણું - શ્રી સંઘ સમક્ષ વિધિ પૂર્વક કરી સકળ શ્રી સંઘને ખમાવ્યો છે તે ખામણાં તમો શ્રી સંઘ અંગીકાર કરશો- સમયમુજબ તથા સામગ્રી મુજબ પૂજા પ્રભાવના તપસ્યા ઠીક થઈ છે- મક્ષુદાબાદ વાળા રાય બહાદુર ધનપતિ સિંહજી પણ પોતાના પરિવાર સાથે પર્યુષણના દિવસોમાં અત્રે જ હતા તેઓએ પણ પૂજા પ્રભાવના સ્વામીવાત્સલ્ય કરી નગરમાં શ્રી જૈન શાસનની ઉન્નતિ વધારી છે જૈનશાસન જયવંતું છે એહમાં એહવા એહવા શૂરવીર પુરુષો છે કે જે કામ તે ઓ કરી શકે તે અન્ય કોઈ પણ કરી શકે નહી પરંતુ ઘણી જ દિલગિરિની વાત છે કે હજુ સુધી તે નરરત્નો બહાર પ્રસિદ્ધિમાં આવી પોતાના શાસનની જોઈએ તેવી ઉન્નતિ તથા વૃદ્ધિ નથી કરી શકતા-

પ્રથમ હમોને અમરચંદ પિ- પરમારના કાગળથી સમાચાર મળ્યા હતા કે "અત્રે શ્રી સંઘની એક જૈન કૉલેજ ખોલવાની મરજી થઈ છે અને તેના ફંડને માટે ગોઠવણ પણ થવા લાગી છે એવું માલમ પડ્યું છે." આ વાત વાંચી હમારા દિલમાં એટલો ઉત્સાહ પેદા થયો હતો કે તે જ્ઞાની મહારાજજી જાણે છે - પરંતુ હવે તે વિચાર પરિપૂર્ણ કરી હમારા ઉત્સાહને વૃદ્ધિ કરશો તથા જૈનધર્મનો ઝંડો ફરકાવશો આપના જેવા નરરત્નો શ્રી સંઘમાં વિદ્યમાન છે જે ધારે તે કરી શકે તેમ છે માટે આ કામ પુરું કરી જ્ઞાનવૃદ્ધિ કરી જૈનધર્મનાં અસલ તત્ત્વો પ્રકાશ કરશો એમ વારંવાર હમારું કહેવું તથા લખવું છે -

વિશેષ — કાગળ એક શ્રી સંઘના તરફથી આવ્યો તેનો ઉત્તર નીચે લખ્યો છે -

श्रीपरमात्माजयति

સ્વસ્તિ શ્રી મુંબાઈ બંદરે સકલ શ્રી સંઘ જયવંત વર્ત્તો — અંબાલાથી લિ૦- મુનિ આત્મારામજી કે તર્ફસેં ધર્મલાભ વાંચના યહાં સુખસાતા હૈ ધર્મધ્યાન કરને મેં ઉદ્યમ રખના — આગે શ્રી સકળ સંઘ કે તરફસેં શ્રાવક પુણ્યપ્રભાવક દેવગુરુભક્તિકારક શા- મોતીચંદ હર્ષચંદજી તથા- શા- ફકીરચંદ પ્રેમચંદજી કા લિખા હુઆ પત્ર ૧ ભાદ્રવા સુદિ ૧૧ કે રોજ મુજકો મિલા હૈ સો વાંચકર સમાચાર સર્વ માલુમ કિયા હૈ - શ્રી સંઘ કે તરફસેં શ્રાવક વીરચંદ રાઘવજી જો અમેરિકા

દેશમેં જૈનધર્મકે ઉપદેશકરનેવાસ્તે ગયાથા સો લગભગ દોવર્ષતક અમેરિકામેં જૈનધર્મકા ઉપદેશ કરકે સેંકડોં સ્ત્રી પુરૂષોંકોં શ્રી જૈનધર્મકા બોધ કરકે પાછા હિંદોસ્તાનમેં આયાહૈ તિસ વીરચંદ રાઘવજીકે તાંઈ પૂર્વોક્ત કામ કરનેસેં ઔર આગબોટમે બૈઠકે અનાર્ય દેશમેં જાનેસેં ક્યા પ્રાયશ્ચિત્ત (દંડ) લેના ચાહિયે?

— મૈં બહોત નમ્રતા પૂર્વક શ્રીસંઘકોં લિખતાહું કિ શ્રી જૈનમતકે શાસ્ત્રોંમેં જો કોઈ જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રમેં તથા અપને કરે હુએ વ્રત નિયમોમે દૂષણ લગાવે તો તિસકોં પ્રાયશ્ચિત્ત કરણા લિખાહૈ સો તો મુંબાઈકે શ્રી સંઘને કિસીભી દૂષણકા નામ નહી લિખાહૈ તો મૈં કિસ દૂષણકા ઈનકોં પ્રાયશ્ચિત્ત દેવું?

તથા ઈહાં વીરચંદ રાઘવજીકોં હમને પૂછાકિ તુમને અમેરિકાકી મુસાફરીમેં અપને કિસીભી વ્રત નિયમમેં દૂષણ લગાયા હોવે તો તુમ તિસકી આલોયણા કરકે પ્રાયશ્ચિત્ત લેલેવો — તબ શ્રીવીરચંદ રાઘવજીને કહાકિ મૈંને અપને કિસીભી વ્રતનિયમમેં અમેરિકાકી મુસાફરીમેં દૂષણ નહી લગાયાહૈ — અબ શ્રી સંઘકોં વિચારના ચાહિયેકિ મૈં શ્રીસંઘકોં કિસ દૂષણકા પ્રાયશ્ચિત્ત લિખ ભેજું?

— જેકર શ્રી સંઘકા ઐસા વિચાર હોવે કિ શ્રીવીરચંદજીને કદાપિ દૂષણ નહી સેવન કરાહોવેગા તોભી ઈસકોં કોઈ પ્રાયશ્ચિત્ત દેના ચાહિયે —

ઈસકા ઉત્તર — શ્રી નિશીથસૂત્રમેં લિખાહૈ કિ જો વિના દૂષણકે પ્રાયશ્ચિત્ત દેવે તો પ્રાયશ્ચિત્ત દેને વાલેકોં પ્રાયશ્ચિત્ત લેના પડતાહૈ ઔર સો પ્રાયશ્ચિત્તકા દેને વાલા જિનરાજકી આજ્ઞાકા ભંગ કરને વાલા હોતાહૈ - તથા જબતક દૂષણ સેવને વાલા અપના દૂષણ કબૂલ ન કરે તબતક કેવલજ્ઞાની ભી તિસ દૂષણ વાલેકોં પ્રાયશ્ચિત્ત નહી દેતેહૈ — યહ અધિકાર લક્ષ્મણા સાધ્વીકે વિષયમેં શ્રીમહાનિશીથ સૂત્રમેંહૈ — જબ દૂષણ કબૂલ કરે વિના પ્રત્યક્ષ દૂષણકે જાણને વાલે કેવલજ્ઞાની ભી પ્રાયશ્ચિત્ત નહી દેતેહૈ તો મૈં છદ્મસ્થ અલ્પમતિ કિસ રીતિસેં પ્રાયશ્ચિત્ત દે સકું?

— જેકર શ્રી સંઘકા ઐસા વિચાર હોવે કિ આગબોટમેં બૈઠકે અનાર્ય દેશમેં જાનેસેં અવશ્ય પ્રાયશ્ચિત્ત લેના ચાહિયે —

ઈસકા ઉત્તર — ઐસા કથન તો હમને કિસીભી જૈન શાસ્ત્રમેં નહી દેખાહૈ તો ફેર શ્રીજિનાજ્ઞાકોં ઉલ્લંઘન કરકે મૈં કિસ તરેં પ્રાયશ્ચિત્ત દેવું?

— જેકર શ્રી સંઘકી ઐસી ઈચ્છા હોવે કિ શ્રીવીરચંદજીને દૂષણ સેવ્યા હોવે અથવા ન સેવ્યા હોવે તો ભી તિસકોં

કુછ પ્રાયશ્ચિત્ત લેના ચાહિયે —

ઈસકા ઉત્તર — જો જિનરાજ કી આજ્ઞા સંયુક્ત હૈ સો હી સંઘ હૈ ઔર શેષ શ્રી જિનાજ્ઞા બાહિર જો સંઘ કહાવે હૈ સો હાડકાં કા સંઘ હૈ નતુ શ્રી જિનરાજજીકા સંઘ — યહ કથન શ્રી આવશ્યકસૂત્રમેં હૈ —

— જેકર શ્રી સંઘ ઐસેં કહે કિ હમ પ્રાયશ્ચિત્ત તો નહી દેતે હૈ પરંતુ શ્રી સંઘકી આજ્ઞાસેં વીરચંદ રાઘવજી શ્રી શત્રુંજય તીર્થકી યાત્રા કરે તો શ્રી સંઘ બહુત આનંદિત હોવે — ઐસી આજ્ઞા શ્રી સંઘકી માનનેસેં શ્રી વીરચંદ રાઘવજીકી કુછ હાનિ નહી હૈ —

વિશેષ તહાં (મુંબાઈમે) મુનિરાજ મહારાજ શ્રી મોહનલાલજી મહારાજજી બિરાજમાન હૈ વેભી ભવભીરૂ ઔર શ્રી જિનાજ્ઞા કે અંગીકાર કરને વાલે હૈ ઈસવાસ્તે તિનકી ભી સમ્મતિ લેની ચાહિયે —
તથા અન્ય કોઈ મહાવ્રતધારી ગીતાર્થસેં પૂછ લેના —

અબ મૈં બહુત નમ્રતાસેં શ્રી સંઘસેં વિનતી કરતા હું કિ જો કુછ જિનાજ્ઞા વિરુદ્ધ આપી ગપ લિખાણ કરા હોવે સો સર્વ શ્રી સંઘ મુઝકો માફ કરેં — ઈતિ — કલ્યાણ હોવે શ્રી સકલ સંઘકોં — સંવત-૧૯૫૧ ભાદરવા સુદિ ૭
સોમવાર

દા. વલ્લભવિજયના —

સહી — आत्माराम.की स्वहस्ताक्षर

આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી

पूर्णो मग्नः स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रियापरस्तृप्तो निर्लेपो निःस्पृहो मुनिः ॥ १ ॥
विद्याविवेकसंपन्नो मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥ २ ॥
ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः शास्त्रदृग् निःपरिग्रहः ॥ ३ ॥
शुद्धानुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमिः सर्वनयाश्रितः ॥ ४ ॥
स्पष्टं निष्टङ्कितं तत्त्वमष्टकैः प्रतिपन्नवान् ।
मुनिर्महोदयं ज्ञानसारं समधिगच्छति ॥ ५ ॥

અર્વાચીન યુગના એક ઘડવૈયા અને જૈન સમાજના એક પ્રખર નેતા સ્વ૦ આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીના જીવનના વ્યાપક પ્રસંગો લખતાં ન્યાયવિશારદ ન્યાયાચાર્ય શ્રીમદ યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય વિરચિત 'જ્ઞાનસારમાં મહામુનિના જે બત્રીસ ગુણોનો નિર્દેશ કરેલો છે તેની યાદ આવે છે. આ બત્રીસે ગુણો તો જીવનમાં અનોખી સિદ્ધિ મેળવેલા મહામુનિમાં હોય છે. અને જૈન સમાજ એ રીતે બડભાગી કહેવાય કે આજના યુગને લક્ષીને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ સ્વ૦ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીએ જીવનનું અનોખું દર્શન કરાવી આજના સમાજને સચોટ માર્ગદર્શન આપેલ છે.

સં૦ ૧૯૨૭ના કાર્તિક શુદિ બીજના દિવસે વડોદરા મુકામે આચાર્યશ્રીએ ઇચ્છાબાઈની પવિત્ર કુક્ષિએ જન્મ લીધો. એમના પિતાશ્રીનું નામ દીપચંદભાઈ. સૌથી નાનાનું નામ મગનલાલ. મહાલક્ષ્મી, જમના અને રુક્ષ્મણી એ ત્રણ બહેનો. એમનું સંસારી નામ છગનભાઈ. બાળપણમાં જ તેમના પિતાશ્રીનું અવસાન થયું. માતાના રોપેલા ધાર્મિક સંસ્કારોના બીજ પૂરેપૂરા છોડ અને ઝાડવામાં પલટાય તે પહેલાં જ તેમનાં માતુશ્રી મૃત્યુ પામ્યાં. આ જ સમયે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ સશિષ્ય વડોદરા પધાર્યા અને એમના દર્શને છગનભાઈમાં નવી પ્રેરણાનો આવિર્ભાવ થયો. પ્રેરણાનું એક જ અમીબિંદુ અને છગનભાઈનું જીવન ધન્ય બન્યું. સંસારની આસક્તિ છૂટી, તૂટી અને છગનભાઈ નવી દુનિયાના માનવી થઈ ગયા. ધીમે ધીમે કુટુંબમાં વિરક્તિ આવી અને સગાંસંબંધીના અનેક અવરોધો અને પ્રયત્નો છતાં યે કુટુંબની સંમતિ મેળવીને સં૦ ૧૯૪૪ના વૈશાખ શુદિ ૧૩ના દિને સત્તર વર્ષની યુવાન વયે રાધનપુરમાં દીક્ષા લીધી અને મુનિશ્રી હર્ષવિજયજીના શિષ્ય થયા. રાધનપુરમાં પ્રથમ ચાતુર્માસ કર્યા.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની સીધી દોરવણી નીચે જૈન ધર્મના સંસ્કારો મેળવ્યા અને સં૦ ૧૯૪૫માં મહેસાણામાં બીજું ચાતુર્માસ કર્યું. પાલીમાં સં૦ ૧૯૪૬ના વૈશાખ શુદિ દશમના દિવસે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે વડી દીક્ષા આપી અને આત્મપ્રબોધ તેમ જ કલ્પસૂત્રની સુબોધિકા ટીકાનું અધ્યયન કર્યું.

સં૦ ૧૯૪૬માં દિલ્હીમાં શ્રી હર્ષવિજયજી મહારાજ કાળધર્મ પામ્યા. મુનિએ ચોથું ચાતુર્માસ માલેરકોટલામાં કર્યું. આ સમયે ન્યાય, અમરકોષ, અભિધાનચિન્તામણિ, દશવૈકાલિકસૂત્રની, શ્રી હરિભદ્રસૂરિ મહારાજ વિરચિત બૃહદ્ટીકા તથા આચારપ્રદીપનો અભ્યાસ કર્યો. સં૦ ૧૯૪૭માં પટ્ટીમાં પાંચમું ચાતુર્માસ કર્યું, અને 'ચંદ્રપ્રભા' વ્યાકરણનું અધ્યયન શરૂ થયું. જ્યોતિષનો અભ્યાસ કર્યો તેમ જ શ્રીઆવશ્યકસૂત્રનું પણ અધ્યયન કર્યું. સં૦ ૧૯૪૮ના કાર્તિક વદિ પાંચમના દિવસે મુનિશ્રીવલ્લભવિજયજીને

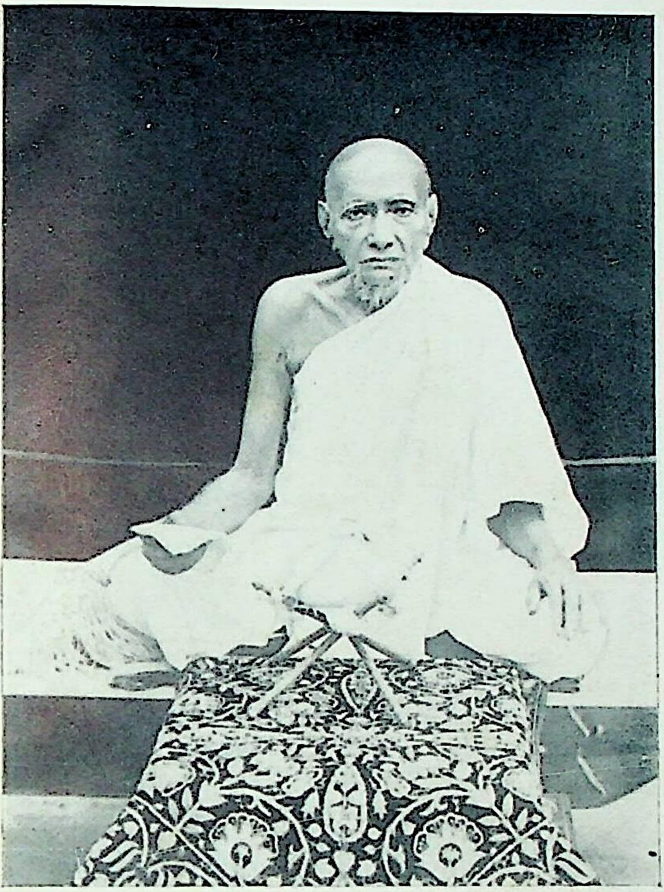

प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी

मुनि श्रीचतुरविजयजी

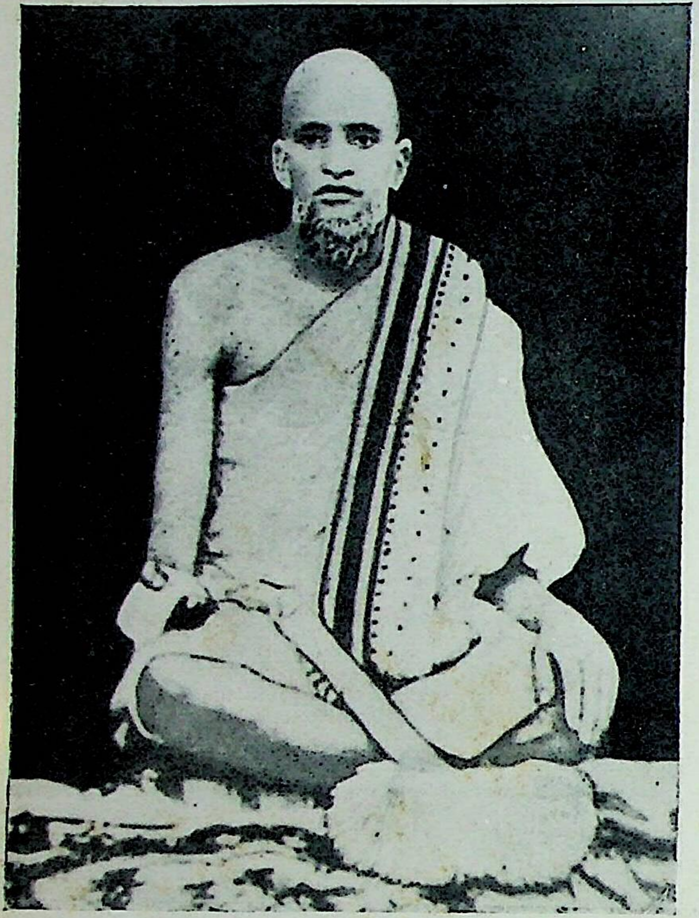

मुनि श्रीहर्षविजयजी

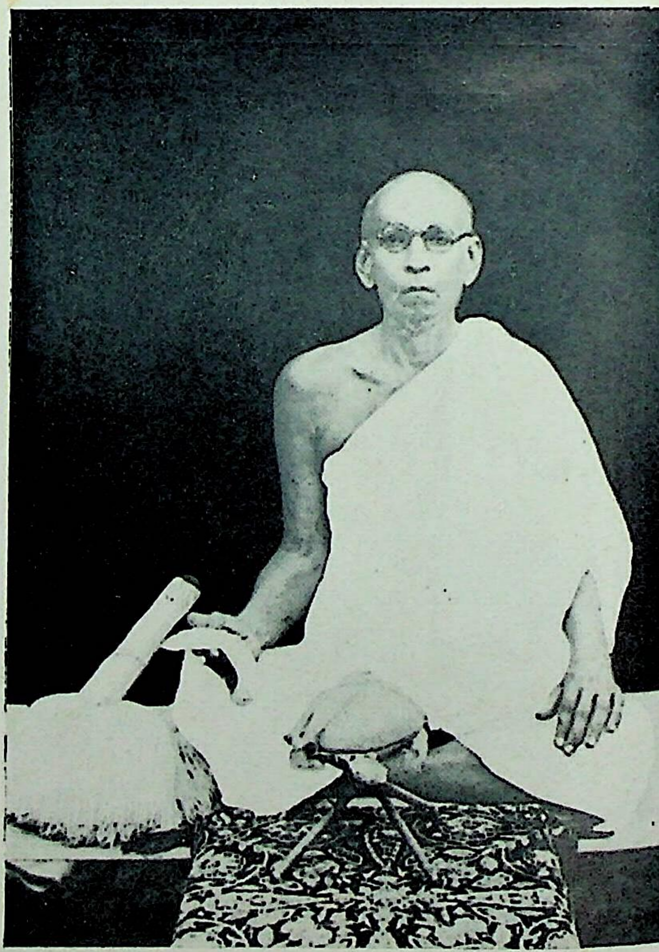

पंन्यास श्रीसंपतविजयजी

મુનિશ્રી વિવેકવિજયજી નામના શિષ્ય થયા. સં૦ ૧૯૪૮માં અંબાલા ખાતે અને સં૦ ૧૯૪૯માં જંડિયાલાગુરુમાં મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયજીએ ચોમાસું કર્યું. સં૦ ૧૯૫૦નું ચોમાસું જીરામાં થયું. આ સમયે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે "તત્ત્વનિર્ણયપ્રસાદ" નામનો ગ્રંથ લખ્યો. સં૦ ૧૯૫૧માં અંબાલામાં મુનિશ્રીનું નવમું ચોમાસું થયું, અને સં૦ ૧૯૫૨ના જેઠ શુદિ સાતમે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો દેહવિલય થયો. આઠ વર્ષના આ ગાળામાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે જીવનની નવદૃષ્ટિ અને પ્રેરણા આપી એક જુવાનનું નૂતન ઘડતર કર્યું.

પૂ૦ આત્મારામ મહારાજના કાળધર્મે એમનું કામ ચાલુ રાખવાનું મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયે માથે લીધું. પંજાબના જૈન સંઘને પ્રેરણા આપી. અનેક સંસ્થાઓની શરૂઆત કરાવી. સં૦ ૧૯૫૨નું ચાતુર્માસ ગુજરાનવાલામાં થયું અને પંજાબને પોતાનું કાર્યક્ષેત્ર બનાવ્યું. સં૦ ૧૯૫૩માં નારોવાલમાં લક્ષ્મણદાસની દીક્ષા થઈ અને મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયને એક સમર્થ શિષ્ય મુનિશ્રી લલિતવિજયજી મળ્યા. અહીં ચાતુર્માસ કર્યું અને શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજીનું જીવનચરિત્ર પણ લખ્યું. સં૦ ૧૯૫૪નું ચોમાસું પટી ખાતે, ૧૯૫૫નું માલેરકોટલા ખાતે અને સં૦ ૧૯૫૬નું ચોમાસું હોશિયારપુર મુકામે કર્યું. સં૦ ૧૯૫૭માં બધા મુનિઓની સંમતિથી પાટણમાં શ્રી કમલવિજયજી મહારાજને સૂરિપદ પ્રદાન કરવામાં આવ્યું. સં૦ ૧૯૫૭નું પંદરમું ચોમાસું અમૃતસરમાં, સં૦ ૧૯૫૮નું સોળમું ચોમાસું પટ્ટીમાં, સં૦ ૧૯૫૯નું ૧૭મું ચોમાસું અંબાલામાં, સં૦ ૧૯૬૦નું ચાતુર્માસ સમાનામાં, સં૦ ૧૯૬૧નું જીરામાં, સં૦ ૧૯૬૨નું લુધિયાણામાં, અને સં૦ ૧૯૬૩નું એકવીસમું અમૃતસરમાં થયું.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના કાર્યક્ષેત્ર પંજાબને તૈયાર કરવામાં અને પોતાના જીવનનું ઘડતર કરવામાં મુનિશ્રીએ આ સમય વ્યતીત કર્યો. સં૦ ૧૯૬૪માં અમૃતસરમાં મુનિશ્રી વિજ્ઞાનવિજયજી અને મુનિશ્રી વિબુધવિજયજીને સંવેગી દીક્ષા આપી. આ પછી ગૂજરાત તરફ આવવાની નેમથી તેમણે વિહાર શરૂ કર્યો. દિલ્હી, બિનૌલી વગેરે ફર્યા, પણ એટલામાં પંજાબમાં આર્યસમાજીઓ સાથે શાસ્ત્રાર્થનું થતાં ૩૭૫ માઈલનું અંતર કાપી ઝડપથી અમૃતસર પહોંચી ગયા. મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયનો આ વિહાર ઝડપી અને દુષ્કર હતો. આષાઢ શુદિ ૧૧ના દિવસે ગુજરાનવાલા પહોંચ્યા. ત્યાંના લોકોએ અપૂર્વ સ્વાગત કર્યું. ત્યાંના બાવીસમા ચોમાસા દરમિયાન વિશેષ નિર્ણયાત્મક શક્તિ સાથે સાહિત્યિક પ્રવૃત્તિ કરી. 'વિશેષ નિર્ણય' અને 'ભીમજ્ઞાનત્રિંશિકા' નામનાં બે પુસ્તકો તૈયાર કર્યાં. આ પુસ્તકોમાં પ્રાચીન હિંદુશાસ્ત્રો અને એની અર્વાચીન ટીકાનો ઉપયોગ કરી, મુનિશ્રીએ યજ્ઞની પ્રવૃત્તિ પર પ્રકાશ પાડ્યો. તેમણે ત્વરાથી વિહાર કર્યો અને જયપુર આવ્યા. સં૦ ૧૯૬૫માં મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજી મહારાજ, મુનિશ્રી વિચારવિજયજી અને મુનિશ્રી તિલકવિજયજીની દીક્ષા થઈ. જયપુરથી અજમેર જઈ, થોડા દિવસ સ્થિર થઈ ત્યાંથી બ્યાવર, પિપલિયાગામ, મુંડાવા, ચંડાવલ, સોજત થઈ પાલી ગયા. ત્યાંથી પંચતીર્થની યાત્રાનો આનંદ લઈ શિવગંજ, શિરોહી થઈ આબુ આવ્યા. સં૦ ૧૯૬૫ના જેઠ શુદિ બીજે પાલણપુર આવ્યા. ત્યાં તેમનું અપૂર્વ સ્વાગત થયું.

* * *

રાધનપુરમાં સં૦ ૧૯૪૪માં દીક્ષિત થયેલ અને સં૦ ૧૯૬૫માં પાલણપુરમાં ચોમાસું રહેલ મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયજીના જીવનનું ઘડતર થઈ ચૂક્યું હતું. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે જે સંસ્કારો આપ્યા અને કાર્ય કરવાની ધગશ આપી તેનું નવું સ્વરૂપ સવ્યાજ અનેક રીતે સમાજને મળવા લાગ્યું હતું. કજિયા-કંકાસ અને રૂઢ વ્યવહારમાં અનેક રીતે લુપ્ત થયેલાઓને ધર્મનો સાચો ખ્યાલ આપવાનો અને આવતી કાલના પ્રવાહોથી સમાજને વાકેફ કરવાનો પ્રયાસ એમને કરવાનો હતો. સમાજને પ્રોન્નત કરવાનું ધ્યેય એમની સમક્ષ હતું. સંસારનો ત્યાગ કરનાર મુનિ ધર્મ આચરે છે, આદરે છે,

ધર્મમાં રમમાણ થઈ જાય છે, મહાયોગી બને છે પણ એ સમાજમાંથી આવે છે, સમાજ પર અસર કરે છે અને સમાજ પણ એની ઉપર અસર કર્યા વિના રહેતો નથી. જૈન સિદ્ધાંતો સનાતન છે; પણ રૂઢિ અને રિવાજોની જડ મૂળ સંસ્કારોને આવરી લઈ કલુષિત કરે છે. આથી એ વખતોવખત નિરીક્ષણ માગી લે છે. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ સમાજનું માર્ગદર્શન કરવું જરૂરી બને છે. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે પ્રેરણા આપેલી. સમાજનો નવો પ્રવાહ આવતો હતો તેનો પણ ખ્યાલ એ સમય-જ્ઞ મુનિએ આપ્યો હતો. દીક્ષા-જીવનની એકવીશી બાદ મુનિશ્રી સમજી શક્યા હતા કે સમાજને પ્રગતિશીલ અને જીવંત બનાવવો હશે તો ધર્મ એ માત્ર રૂઢ વ્યવહારમાં નહિ પણ સમગ્ર જીવનદૃષ્ટિમાં આવવો જોઈએ. ધર્મ એટલે માત્ર દહેરાસર-ઉપાશ્રય નહિ, પરંતુ જીવનનું વ્યાપક દર્શન અને જીવનની સર્વ પ્રવૃત્તિ-નિવૃત્તિમાંથી અભિવ્યક્ત થતા સંસ્કારો. જે ધર્મ સર્વ જીવોનું માંગલ્ય વાંછનારો છે એ ધર્મ રૂઢ સમાજના હાથમાં વારસાગત બંધિયારખાનું બને, ધર્મ ભુલાઈ જાય, રૂઢિઓમાં, રિવાજોમાં, બોલીઓમાં, ઉછામણીઓમાં વહેંચાઈ જાય ને માત્ર વ્યવહારમાં જ ધર્મ મનાય એ વસ્તુ કેવી રીતે ઇચ્છાય ? જે ધર્મ બધા માટે સમાનવૃત્તિ—સમભાવ દર્શાવવાનું કહે તે ધર્મના અનુયાયીઓ અસહિષ્ણુતા આદરે, જીવનમાં અસંગત અને અનુચિત વ્યવહાર કરે, રૂઢ સંસ્કારોમાં કુંઠિત બને એ વસ્તુ અસહ્ય લેખાય.

રાજકીય પ્રવાહો પણ નવી રીતે વહેતા હતા. "ઝેર ગયાં ને વેર ગયાં"નો કવિ દલપતરામનો જમાનો વિદાય થતો હતો અને "સાંભળો સુધારાનો સાદ" કહેનાર કવિ નર્મદનો જમાનો આવતો હતો. બ્રિટિશ સરકાર ગમે તેવી હોય પણ તે પરદેશી હતી. એની સામે અરજીઓ અને વિનતિ કરી કાર્ય કરવાનો જમાનો પૂરો થવા આવતો હતો. કેળવણીનું મહત્ત્વ સર્વ જગાએ સ્વીકારાતું હતું. રાષ્ટ્રીય આંદોલન નવસ્વરૂપ લેતું હતું. મુનિશ્રીના જીવન સાથે રાષ્ટ્રીય લડતની આખી તવારીખ, બે વિશ્વયુદ્ધો અને એ યુદ્ધોએ જન્માવેલાં આર્થિક અને સામાજિક પરિબળો; આઝાદી, આઝાદી પછીની યાતનાના વર્ષો વગેરેથી સંકળાયેલી છે. મધ્યમ વર્ગ યુદ્ધ પહેલાં આબાદ હતો; નવાં પરિબળો આગળ એ વર્ગે નમતું જોખવું પડ્યું અને એની સામાજિક દ્વિધા એની એ રહી. પાલણપુરમાં સમાધાન કરાવનાર મુનિશ્રી અને મુંબઈમાં મધ્યમ વર્ગ માટે ફંડની પ્રેરણા આપનાર આચાર્યશ્રી—એક જ વ્યક્તિ. સામાજિક–રાજકીય–આર્થિક–વૈજ્ઞાનિક પરિબળોએ ઘડેલી આ કથા એક રીતે આજની આપણી અને મધ્યમ વર્ગની કથા છે. ગુજરાતમાં દીક્ષિત થઈ એકવીસ વર્ષે બાદ ગુજરાતમાં પાછા ફરનાર મુનિશ્રી એ જ હતા. પંજાબ જેવી ભૂમિના પરિચયે દૃષ્ટિ વિશાળ બની હતી અને દૂર રહ્યા છતાં એ સમાજનું અનોખું દર્શન કરી શક્યા હતા. સમાજના રોગનું નિદાન એમની પાસે હતું. જૈન સંસ્કૃતિની પ્રણાલિકાના જાણકાર હતા અને પ્રયોગ કરવાની દૃષ્ટિ એમની પાસે હતી.

* * *

પાલણપુરમાં મુનિશ્રીએ જૈન સંઘનો કલેશ જોઈ એ ટાળવાનો સફળ પ્રયાસ કર્યો. સં૦ ૧૯૬૫ના જેઠ શુદિ આઠમના દિને મુનિશ્રીએ શ્રાવકોના સામાન્ય મતભેદો અંગે ચુકાદો આપ્યો. સંઘમાં સર્વત્ર આનંદ પ્રવર્તી ગયો અને મુનિશ્રીએ પાલણપુરમાં ચોમાસું કર્યું. આ સમયે મુનિશ્રી લલિતવિજયજી સાથે પાંચ શિષ્યોને યોગોદ્વહન કરાવવાને માટે મહેસાણા ખાતે પન્યાસ શ્રી સિદ્ધિવિજયજી પાસે મોકલ્યા. આષાઢ મહિનામાં શ્રી વિચક્ષણવિજયજીની દીક્ષા થઈ. જ્ઞાનપ્રચાર માટેના એમના સતત આગ્રહને લીધે 'આત્મવલ્લભ કેળવણી ફંડ'ની સ્થાપના થઈ. આ રીતે શિક્ષણપ્રચારનું કાર્ય શરૂ થયું. અઠ્ઠાઈની તપશ્ચર્યા નિમિત્તે થતા જ્ઞાતિલા કર-જમણનો રિવાજ બંધ કરાવ્યો અને તેને મરજિયાત બનાવ્યો.

સં૦ ૧૯૬૬ના કાર્તિક વદિ બીજના દિને મુનિશ્રી મિત્રવિજયની દીક્ષા થઈ. પાલણપુરથી વિહાર કરી મુનિશ્રી રાધનપુર આવ્યા અને બાવીસ વર્ષે દીક્ષાની ભૂમિને પાવન કરી. સં૦ ૧૯૬૬ના માગસર શુદિ બીજને દિવસે પાલીતાણા સંઘની સાથે જવા વિહાર કર્યો. પાલીતાણા યાત્રા કરી વળતાં ભાવનગર, ઘોઘા, વરતેજ, સિહોર થઈ વળા ગયા અને ત્યાં બે પક્ષોનું સમાધાન કર્યું. ધોલેરામાં એમનું અપૂર્વ સ્વાગત થયું. ત્યાંથી તેઓ ખંભાત થઈ વડોદરા ગયા. ત્યાં સં૦ ૧૯૬૬ના વૈશાખ શુદિ દશમના દિવસે ભવ્ય સ્વાગત થયું. ત્યાંથી ભરૂચ ગયા અને પન્યાસ શ્રીસિદ્ધિવિજયજી સાથે ત્રણ દિવસ એમની સેવામાં રહ્યા. ભરૂચથી જગડિયા તીર્થની યાત્રા કરી સૂરત પધાર્યા. ત્યાંના ગોપીપુરાના ઉપાશ્રયમાં સંવત ૧૯૬૭ના મહા વદિ છઠ્ઠના રોજ શ્રી સુખરાજજીને દીક્ષા આપીને મુનિશ્રી સોહનવિજયજીના શિષ્ય તરીકે મુનિશ્રી સમુદ્રવિજયજી નામ આપ્યું. સં૦ ૧૯૬૭નું પચ્ચીસમું ચોમાસું મીઆગામમાં કર્યું, ત્યાં બે તડો વચ્ચે સમાધાન કરાવતો ચુકાદો આપ્યો ને શાંતિ સ્થાપી. પાઠશાળાની શરૂઆત કરાવી. સુરવાડા થઈ વણછરા ગામ આવ્યા અને દશા શ્રીમાળીઓના પંચ સમક્ષ વ્યાખ્યાન કરી કન્યાવિક્રયનો કુરિવાજ બંધ કરાવ્યો. પાછિયાપુરમાં અઠ્ઠાઈ મહોત્સવ કરાવી, સિનોર અને ડભોઈ થઈ વડોદરા આવ્યા.

આજના યુગની પરિસ્થિતિની તેમ જ વિષમ કાળની વિચારણા માટે ‘ મુનિસમ્મેલન’નો મુનિશ્રી વલ્લભવિજયજીને વિચાર આવ્યો. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના સંઘાડાના સાધુઓના સંમેલનની યોજના કરી. વૃદ્ધ આચાર્ય શ્રી વિજયકમળસૂરિજી મહારાજ, ઉપાધ્યાય શ્રી વીરવિજયજી મહારાજ, શાંતમૂર્તિ શ્રી હંસવિજયજી મહારાજ વગેરેની સંમતિ મેળવી વડોદરામાં ત્રણ દિવસ મુનિ-સંમેલન ભરાયું, જેમાં પચાસ જેટલા સાધુ—મુનિરાજોએ હાજરી આપી હતી. ચોવીશ જેટલા ઠરાવો પસાર કર્યા હતા. સં૦ ૧૯૬૮નું છવ્વીસમું ચોમાસું ડભોઈમાં થયું. ત્યાંથી નાંદોદ ગયા. ત્યાં આઠ દિવસ સુધી સતત વ્યાખ્યાનો આપ્યાં. ત્યારપછી વડોદરામાં ‘ ધર્મતત્ત્વ ’ અને ‘ સાર્વજનિક ધર્મ ’ ઉપર જાહેર વ્યાખ્યાનો આપ્યા. ત્યારબાદ મુંબઈના અતિ આગ્રહથી એ ભણી ઝડપથી વિહાર કર્યો. તે વખતે શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સનો સૂર્ય મધ્યાહ્ન વીતાવી ગયો હતો. એણે સમસ્ત જૈન કોમમાં અનેક નવીન આશાઓ ઉત્પન્ન કરી હતી, વિચારવાતાવરણમાં મહાન પરિવર્તન કરી નાખ્યું હતું અને સામાજિક ઉન્નતિની ભવ્ય તમન્ના જગાવી હતી. નવપ્રકાશ ઝીલવા જનતા તૈયાર થઈ ગઈ હતી. એવે સમયે નૂતન પ્રકાશ અર્પવા વર્તમાન યુગની નાડ પારખનાર અને સમયધર્મના અવિચલિત સિદ્ધાંતને હસ્તગત કરી વ્યવહાર નિશ્ચયનો સમન્વય કરનાર પૂજ્ય સૂરિજીનું મુંબઈમાં આગમન થયું. અહીં તેમનું અભૂતપૂર્વ સ્વાગત થયું. સામૈયા માટે મોટો માનવસમુદાય ઊમટયો હતો. સર્વત્ર આનંદ અને ઉમંગની લહરીઓ પ્રસરી રહી હતી. આ ઉત્સાહના વાતાવરણે સૂરિજીની વાણી ખૂબ સારી રીતે ઝીલી. અઠ્ઠાઇમહોત્સવ, શાંતિસ્નાત્ર, પૂજા-પ્રભાવના અને ઉપધાન જેવાં ઘણાં અનુષ્ઠાનો થયાં. હૃદયના અસ્ખલિત પાવિત્ર્યપ્રવાહથી સભર એવાં એમનાં વ્યાખ્યાનો ખૂબ જ અસરકારક નીવડ્યાં. ‘ ज्ञानक्रियाम्यां मोक्षः ’ એ જ એમનાં પ્રવચનોનું મધ્યબિન્દુ હતું. પ્રથમ જ્ઞાન અને પછી ક્રિયા. માનવી માનવીને ભિન્ન બનાવતા સંસ્કારો સિંચવાનું કાર્ય જ્ઞાનનું છે. જ્ઞાન વિના પ્રગતિ સાધવી અતિ કઠિન છે. નથી વ્યવહારમાં સાયુજ્યતા સાંપડતી કે ધર્મ એના શુદ્ધ અને અરૂપી સ્વભાવમાં આચરણ પામતો. ચારે બાજુ જામેલા અજ્ઞાનના અંધકારમાં એક પિપાસા છે—અને તે જ્ઞાનની દીવડીની. જમાનાના વિકાસમાં ભાગ ભજવે છે વિજ્ઞાન, અને તેથી ધર્મને પણ વિજ્ઞાનના કસોટી-પથ્થર ઉપર ચકાસ્યા વિના જરા યે ચાલે એમ નથી. ધર્મ અને વિજ્ઞાનના સમન્વયમાં જ બન્નેનું શ્રેય છે. ધર્મને એક જગાએ સ્થગિત ન કરતાં સર્વ દિશામાં વ્યાહ્રત કરવો આવશ્યક છે.

આમ ધર્મની વૈજ્ઞાનિક રજૂઆત આજે વાયુ અને જળ જેટલી જરૂરી બની છે. જે વસ્તુ જમાનામાં છે, આજના પરિવર્તનશીલ સમાજના અંતર્ગત ઘડતરમાં છે એ વસ્તુનો સ્વીકાર કરીને, એને આપણી રીતે ઘટાવીને જીવનમાં ઉતાર્યા વિના હવે ચાલે નહિ. ધર્મનો અનેકદેશીય વિકાસ થવો ઘટે. 'પ્રથમ જ્ઞાન અને પછી ક્રિયા' એ સૂત્રના આધારે સમાજની રૂઢ વારસાગત પરંપરાને પણ નવી રીતે આપણે પેખવી જોઈએ. વ્યાવહારિક કેળવણીની આખરી તાવણીમાં આપણે ધર્મના સંસ્કારો તપાસવા જોશે. ધર્મ માનવમૂલ્યોને પ્રેરતો હોવો જોઈએ. આવા ધર્મના ઉત્થાન અર્થે આધુનિક કેળવણી સાથે ધાર્મિક શિક્ષણ આવશ્યક બની રહે છે. ધર્મ એ કેળવણીનું અગત્યનું અંગ છે. ધાર્મિક સંસ્કારોના વિકાસમાં કેળવણીનો વિકાસ છે. સાચી કેળવણી એ છે કે જે ધર્મને પોતાનાથી અવિભિન્ન તેમ જ અવિચ્છિન્ન ગણે. આને માટે એવી સંસ્થાઓ ઊભી કરવી જોઈએ કે જે ધર્મના અને વ્યવહારના—ઉભયના જ્ઞાનને પોષક બને. આમ સૂરિજીએ યુગે યુગે વિકાસ પામતા વિજ્ઞાનનું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા અને સાથે સાથે ધાર્મિક સિદ્ધાંતોને નૂતન સ્વરૂપમાં રજૂ કરવા ઘોષણા કરી. એ બન્નેના સુભગ સમન્વય માટે અનેક સંસ્થાઓ સ્થાપિત કરવા ઉદ્‌બોધન કર્યું. તેઓશ્રીના આ સુધારક વિચારો સમાજને અતિ પ્રશંસનીય અને મનનીય લાગ્યા.

શ્રીસંઘના વિચારક અને ધનવાન આગેવાનોને તેઓશ્રીની વાત અતિ ઉચિત અને અપનાવવા યોગ્ય લાગી, તે પર વિચારવિનિમય કર્યા, અનેક યોજનાઓ પર વિચારણા થઈ અને એવી કોઈ વિશિષ્ટ યોજના બર લાવવા બીજું ચાતુર્માસ મુંબઈમાં કરવા વિજ્ઞપ્તિ થતાં તેનો સ્વીકાર થયો. મુંબઈ શહેરના સ્થાનિક સંયોગો, વિદ્યાભ્યાસ માટે બહારગામથી આવનારની અગવડો અને બીજી આનુષંગિક હકીકતો પર વિચારણાને પરિણામે મુંબઈમાં એક વિદ્યાલય સ્થાપવાની યોજનાનો સાર્વત્રિક સ્વીકાર થયો. મહારાજશ્રીએ આ યોજના પર વિચાર કર્યો, શ્રીસંઘે એ યોજના તરફ પસંદગી બતાવી, ધનવાનોએ એને ટેકો આપ્યો, કેળવાયેલા વર્ગે એમાં કાર્ય દ્વારા સાથ આપવાનો ઉમંગ બતાવ્યો અને મધ્યમ જનતાએ એના વિકાસ માટે બનતો ફાળો અને તનમનધનનો ભોગ આપવા અભિલાષા દર્શાવી. આ સર્વ ચર્ચાને પરિણામે સં૦ ૧૯૭૦ના ફાગણ શુદિ પાંચમને રોજ મહારાજશ્રીની હાજરીમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરવાનો મુંબઈમાં શ્રીસંઘે એકમતે નિર્ણય કર્યો. અને નવીન પદ્ધતિથી ઊંચી કેળવણી લઈ ધર્મના દૃઢ-સંસ્કાર સાથે સમાજનું હિત હૃદયમાં રાખી કાર્ય કરનારા યુવકોનો મોટો સમૂહ ઉત્પન્ન કરવાનો આદર્શ સ્વીકારી, તેનું કામ હાથ ધરવા અને તે માટે યોજનાઓ ઘડવા તથા જરૂરી ફાળો ઉઘરાવવા વ્યવસ્થા કરવામાં આવી. આ નાના પાયા પર ઊભી થયેલ સંસ્થાએ દિવસે દિવસે અપૂર્વ વિકાસ સાધ્યો. માત્ર ગુજરાતમાં જ નહિ પણ સમગ્ર ભારતમાં કેળવણી અને સાંસ્કૃતિક પ્રવૃત્તિના ધામ તરીકે આજે તેણે અદ્‌ભુત પ્રતિષ્ઠા સિદ્ધ કરી છે.

મુંબઈથી બગવાડા, પારડી, બીલીમોરા, નવસારી થઈ સૂરતમાં પ્રવેશ કર્યો. ત્યાં મહિલા આશ્રમ માટે પ્રેરણા આપી. ફરી પાછા નવસારી, કાલિયાવાડી થઈ સિસોદરા પધાર્યા. ત્યાંના મતભેદો દૂર કર્યા. ટાંકલથી કરચલીઆ અને પછી સૂરત ગયા. સં૦ ૧૯૭૧નું ઓગણત્રીસમું ચોમાસું ત્યાં કર્યું. આ સમયની શિક્ષણ-પ્રચાર માટેની એમની તમન્ના કેટલી હતી તેનો પુરાવો મુનિશ્રી હંસવિજયજી પરનો નીચેનો પત્ર આપે છે :

"આપણા લોકો હજુ ગફલતમાં છે તેનું મૂળ કારણ અવિદ્યા છે. જૈન સમાજમાં એક પણ ઊંચા દરજ્જાનો સુશિક્ષિત શ્રાવક હોય તો પણ આપણાં બધાં કામ સારી રીતે થઈ શકે. પણ અફસોસ તો એ વાતનો છે કે લાખો શ્રાવકોમાં એક પણ એવો નથી કે જેનો પ્રભાવ પ્રત્યેક સ્થાનોના જૈનો

પર પડી શકે. આમ છતાં લોકોની નિદ્રા તો હજુ ઊડતી નથી. આ દશા કેટલી શોચનીય છે! હજારો–લાખો રૂપિયાની આહુતિ દર વર્ષે વાજાં, ગાજા, રંગ, રાગ અને મેવા-મિષ્ટાન્નમાં ઉડાડવામાં આવે છે પણ શિક્ષણના નામે તો બસ ભગવાનનું નામ જ નામ છે. હવે તો આપ જેવા પ્રતાપી પુરુષોનું ધ્યાન આ તરફ જાય અને નિરંતર ચારે તરફથી એ ઉપદેશ થવા લાગે કે અમુક કાર્ય તમારે કરવું જ પડશે તો સંભવ છે કે આપણે માટે કોઈક દિવસ શિર ઉઠાવીને જોવાનો સમય આવી પહોંચે."

સૂરતથી વિહાર શરૂ કર્યો. ખંભાત થઈ, ધોલેરા થઈ, સં૦ ૧૯૭૨માં પાલીતાણાની યાત્રા કરી જૂનાગઢ આવ્યા. ત્યાં ત્રણ સાર્વજનિક વ્યાખ્યાનો થયાં. વણથલીમાં પ્રતિષ્ઠા કરી અને સં૦ ૧૯૭૨નું ત્રીસમું ચાતુર્માસ જૂનાગઢમાં કર્યું. જૂનાગઢમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરી તથા શ્રી જૈન સ્ત્રી-શિક્ષણ શાળાની ઉદ્‌ઘાટનક્રિયા થઈ. પંજાબના નેતાઓ જૂનાગઢમાં વિનતિ કરવા આવ્યા. ચોમાસું પૂરું થતાં વેરાવળ ગયા અને ત્યાં 'શ્રી આત્માનંદ જૈન સ્ત્રી-શિક્ષણશાળા' અને 'શ્રી આત્માનંદ જૈન ઔષધાલય' નામની બે સંસ્થાઓ સં૦ ૧૯૭૩ના મહા શુદિ દશમના દિવસે સ્થાપિત થઈ. વેરાવળથી માંગરોળ ગયા. ત્યાં શાંતિ-સ્નાત્ર અને વ્યાખ્યાનો થયાં. ત્યાંથી વેરાવળ, ઊના, દીવ, મહુવા, દાઠા, તળાજા થઈ પાલીતાણા થઈ સૂરિજી ભાવનગર આવ્યા. ત્યાં 'વર્તમાન પરિસ્થિતિ અને આપણી આવશ્યકતાઓ' ઉપર જાહેર પ્રવચન કર્યું. ભાવનગરમાં એક પંજાબી બહેનને ભાગવતી દીક્ષા આપી. ત્યાંથી ખંભાત થઈ વડોદરા પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજીને મળ્યા. વડોદરાથી વિહાર કરી બન્ને મહાત્માઓ જગડિયા તીર્થની યાત્રા કરી મુંબઈ પધાર્યા જ્યાં એમનું ભવ્ય સામૈયું થયું. મુંબઈમાં એમના કાર્યોના પ્રત્યાઘાતો અને વમળો ઊભાં થતાં હતાં. આ ચાતુર્માસમાં ખડતરગચ્છ અંચલગચ્છના પર્યુષણ પર્વ માટે ચર્ચા ચાલી. આનાથી પર રહી તેઓશ્રીએ એકતાની હિમાયત કરી. એમનાં મંતવ્યો સ્પષ્ટ હતાં. "આજે લોકો એકતા ચાહે છે. પોતાના હકો માટે પ્રયત્ન કરે છે. અંગ્રેજ, પારસી, હિંદુ અને મુસલમાન બધાં એક જ ધ્યેય માટે સંગઠિત થઈ રહ્યા છે. આ રીતે દુનિયા આગળ વધી રહી છે. બીજી બાજુએ આપણા ભાઈઓ દશ કદમ પાછા હઠવાનો પ્રયત્ન કરે છે. આજે તો બધાયે એક થઈ સમાજ, ધર્મ અને રાષ્ટ્રના કલ્યાણનું કાર્ય કરવું જોઇએ."

મુંબઈના આ ચાતુર્માસ દરમિયાન શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મકાન માટે લગભગ એક લાખ રૂપિયાનું ફંડ થયું. નાનાં ગામોનાં મંદિરોના જીર્ણોદ્ધાર માટે પણ સારું ફંડ કરવા ઉપરાંત શ્રી પાટણ જૈન મંડળ બોર્ડિંગ માટે લગભગ રૂપિયા લાખનું ફંડ થયું. મુંબઈથી વિહાર કરીને પ્રતાપનગરમાં તેઓ પૂજ્યશ્રી હંસવિજયજી મહારાજને મળ્યા. તેમની સાથે તેઓ અમદાવાદ આવ્યા અને શ્રી ઉજમબાઈની ધર્મશાળામાં ચાતુર્માસ ગાળ્યું. સં૦ ૧૯૭૪ના બત્રીસમા ચોમાસા દરમિયાન વ્યવહારુ દૃષ્ટિ, સાધારણ કુટુંબોની પરિસ્થિતિનો ખ્યાલ, ટીપો ઉઘરાવવાની ખોટી આદતો, શ્રીમંતોની મોટાઈ, સામાન્ય જનતાનો ધર્મપ્રેમ વગેરે વિષયોને આવરી લેતાં પ્રવચનો કર્યાં. અહીં શ્રી મહાવીર સ્વામીની પંચકલ્યાણ પૂજાની રચના કરી. પછી શ્રી હંસવિજયની વિદાય લીધી. અમદાવાદથી મહેસાણામાં મહારાજશ્રી સિદ્ધિવિજયના દર્શનનો લાભ લઈ, ત્યાંથી વિસનગર થઈ પાટણ ગયા. ત્યાં દયા-ધર્મ પર જાહેર વ્યાખ્યાન કર્યું. ત્યાંથી ચારૂપ, મેત્રાણા થઈ પાલણપુર ગયા. ત્યાં ત્રણ પ્રસિદ્ધ આચાર્યપ્રવરોની મૂર્તિઓની પ્રતિષ્ઠા કરાવી અને શ્રી પાલણપુર જૈન વિદ્યાલય માટે ફંડ કરાવ્યું. ત્યાંથી તારંગાજી, કુંભારીઆજી, આબુ, અચલગઢ, બામણવાડા થઈ, પીંડવાડા ગયા ને ત્યાંના શ્રાવકોનો આંતરકલહ દૂર કર્યો. અહીંથી નાણાબેડાને રસ્તે લૂંટાયા અને ત્યાંથી બીજાપુરમાં બે પક્ષો વચ્ચે સંપ કરાવી એક પાઠશાળા સ્થાપી. ત્યાંથી વિહાર કરી સાદડીમાં ચાતુર્માસ કર્યું. સં૦ ૧૯૭૫નું

તેત્રીસમું ચોમાસું શાસન-કાર્યની દૃષ્ટિએ ઘણું મહત્ત્વનું થયું. ચોમાસા બાદ મુનિશ્રી લલિતવિજયજી, મુનિશ્રી ઉમંગવિજયજી, મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજી વગેરેને ગણિપદ તથા પન્યાસપદ આપ્યાં.

ગુજરાત કરતાં રજપૂતાનાની પરિસ્થિતિ અને સામાજિક દશા વિષમ હતાં. કેળવણીનું તદ્દન ઓછું પ્રમાણ, નિરક્ષરતા, જૂના રીત-રિવાજો, કન્યા-વિક્રય, વૃદ્ધલગ્નો, મૃત્યુ પાછળનાં જમણો, વિલાસપ્રિયતા, બાળવિધવાનો પ્રશ્ન, વિપુલ સંપત્તિની વચ્ચે જ ગરીબાઈ અને ખાવાની ચિંતા,—સમાજની આવી વિષમ દશા રજપૂતાનાની હતી. પૂર્વગ્રહો અને પક્ષપાતો માનવી જીવનને કલુષિત કરતા હતા. આ સમયે રજપૂતાના મરુભૂમિના સમયજ્ઞ આગેવાનોએ મહારાજશ્રીને આગ્રહ કર્યો. તેઓશ્રી જોઈ શક્યા કે જો આ પ્રજાનો ઉદ્ધાર નહિ થાય, સામાજિક દૂષણો દૂર નહિ થાય તો આવતી કાલ ઘણી કપરી થશે. રૂઢિ, વહેમ અને અજ્ઞાનના નાશ માટે ગોડવાડમાં વિદ્યાલયની સ્થાપના માટે પ્રવૃત્તિ ચાલી. ઉનાળામાં સં૦ ૧૯૭૫ના જેઠ શુદિ એકમના દિને ખીવાંડી ગામમાં ફંડ માટે પ્રયાસ કર્યો. ત્યાંના કુસંપને દૂર કરાવતો ફેંસલો આપ્યો. આ રીતે ત્રીસ વર્ષનો જૂનો ઝઘડો દૂર થયો. ખીંવાડીથી વિહાર કરી પોમાવા થઈ શિવગંજ થઈ બાલી ગયા. પાંચ મુનિરાજોએ બાલીમાં અને મહારાજશ્રીએ સાદડીમાં ચાતુર્માસ કર્યું. ચાતુર્માસ પછી પોષ માસમાં લાલા દોલતરામના પ્રમુખપદ નીચે શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સનું અધિવેશન થયું. તેમાં કૉન્ફરન્સની જરૂરિયાતો, શાંતિની યોજના, અવિદ્યા, કર્તવ્ય-પરાયણતા, એકતાની જરૂરિયાત, કેળવણીના ફાયદા વગેરે વિષયો પર મહારાજશ્રીએ પ્રવચનો કર્યાં.

સાદડીથી શિવગંજ થઈ, ત્યાંથી સંઘમાં પેરવા, બાલી, લુણાવા, લાઠાર થઈ રાણકપુર પહોંચ્યા. ત્યાં યાત્રા કરી સાદડી, ઘાણેરાવ, મુછાળા મહાવીરની યાત્રા કરી સંઘ દેસુરી પહોંચ્યો. ત્યાંના શ્રાવકોમાં કલેશ હતો, અદાલતમાં કેસ ચાલતો હતો. મહારાજશ્રીએ અંદરોઅંદર ફેંસલો કરવા બન્ને પક્ષોને સમજાવ્યા, પણ તેઓ માન્યા નહિ. ક્ષણભર વિચાર કરીને મહારાજશ્રીએ સાધુઓને ગોચરી ન જવાનો આદેશ દીધો. વાતાવરણમાં નવી ચમક આવી. આખરે સમાધાન થયું. દેસુરીથી જઈ શ્રી શાંતિનાથ ભગવાનના દર્શન કરી ઉદયપુર પધાર્યા. ઉદયપુરમાં આચાર્ય શ્રીનેમસૂરીશ્વરજી સાથે મુલાકાત થઈ. બંને મહામુનિઓએ દિલ ખોલીને વાત કરી. બંને એકમેકની નજીક આવ્યા. આમંત્રણમાં મુનિ-સંમેલનના બીજ રોપાયાં અને બંનેના સમુદાયો એકમેકની નજીક આવ્યા.

ગોડવાડનાં ગામોમાં જ્ઞાનના પ્રચારની નેમથી મહારાજશ્રીએ ફાલનામાં ચોમાસું કર્યું. બીજા મુનિઓએ બિકાનેર, સાદડી, તખતગઢ સાચવ્યાં. સાદડીમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન પાઠશાળાની સ્થાપના શ્રી લલિતવિજયજીના હસ્તે થઈ. મુંડારામાં પણ પાઠશાળા અને લાયબ્રેરી થઈ. મુંડારાથી સંઘમાં વરકાણા અને ત્યાંથી રાણી, ચાંચોરી વગેરે સ્થળે થઈ મહારાજશ્રી ખાંડ ગયા. ત્યાં પાઠશાળાની સ્થાપના થઈ. ત્યાંથી ગુંદોજ પધારી પાઠશાળા સ્થાપિત કરી. ત્યાંથી કુલ્લાગામ, પાલી થઈ જાડણ ગયા અને ત્યાંનો કુસંપ દૂર કરાવી મંદિર તથા ધર્મશાળાના જીર્ણોદ્ધાર માટે ફંડ કરાવ્યું. અહીંથી સોજત ગયા અને ત્યાં 'શ્રી શાંતિ વર્ધમાન પેઢી 'ની સ્થાપના કરી જીર્ણોદ્ધારનું કામ શરૂ કરાવ્યું. ત્યાંથી કાપર્ડાજીની યાત્રા કરી. બ્યાવરમાં બે ભાઈઓના મનદુઃખનું નિવારણ કરી સં૦ ૧૯૭૭ના ચૈત્ર શુદિ ૯ના દિને મહારાજશ્રીએ બિકાનેરમાં પ્રવેશ કર્યો. અહીં ભગવતી સૂત્રની વાચના કરી. અહીંના ચોમાસા દરમિયાન ઘણી ધર્મારાધના કરાવી. સંઘે સારો લાભ લીધો. ત્યાંથી વિહાર કરી લૂણકરણસર, મહાજન આદિ ગ્રામોમાં થઈ સૂરતગઢ પધાર્યા. ત્યાંથી હનુમાનગઢ વગેરે ગામોમાં પ્રચાર કરી ડબવાલીથી મંડી ગયા અને પંજાબમાં પ્રવેશ કર્યો.

ત્રણ વર્ષના ગાળામાં ગોડવાડના ઉદ્ધાર માટેનો મહારાજશ્રીના સતત ભારે પરિશ્રમ છતાં જ્ઞાનપ્રચારનું ધાર્યું કામ ન થઈ શક્યું. સ્થળે સ્થળે પાઠશાળાની સ્થાપના થઈ. માનવીને કચડતી રૂઢિઓ સામેના

લલકારથી નવજાગૃતિ આવી. ધર્મ એ માનવીને બધાં ક્ષેત્રોમાં આદરવાની, આચરવાની વસ્તુ છે અને સમાજના બંધિયાર પાણી ધર્મને ખપતાં નથી. ધર્મ સૌ કોઈ માટે છે અને સામાન્ય માનવી પણ ધર્મ આચરી શકે છે એની પ્રતીતિ મહારાજશ્રીએ કરાવી. ગોડવાડમાં નવજાગૃતિના પ્રથમ દુંદુભિ વાગી ચૂક્યાં હતાં.

* * *

પંજાબમાં ચૌદ-પંદર વર્ષના ગાળા બાદ પ્રવેશતા મુનિશ્રીવલ્લભવિજયનું હોશિયારપુરની જનતાએ અભૂતપૂર્વ સ્વાગત કર્યું. લાલા દૌલતરામે એકસો સોનામહોરોનો સાથિયો કરી મહારાજશ્રીની વંદના કરી. પંજાબના શ્રીસંઘે અભિનંદનપત્ર આપ્યું. આના જવાબમાં તા૦ ૨-૩-૧૯૨૨, સંવત ૧૯૭૮ના ફાગણ શુદિ પાંચમે મહારાજશ્રીએ 'આત્માનંદ જૈન કૉલેજ'નું સ્વપ્ન રજૂ કર્યું. એ જ દિવસે પંજાબ મહાવિદ્યાલય માટે પંજાબના સંઘે ફંડ કર્યું અને બે લાખ રૂપિયા જોતજોતામાં લખાઈ ગયા. ભારતભૂષણ પંડિત મદનમોહન માલવિયા સાથે અર્ધો કલાક સુધી વિચાર-વિનિમય કર્યો.

રાષ્ટ્રીય આંદોલનનો દેશમાં યુગ હતો. તિલકયુગ પૂરો થયો હતો અને મહાત્મા ગાંધીજીના હાથમાં રાજકીય પ્રવૃત્તિનું નેતૃત્વ આવતું હતું. પહેલા વિશ્વયુદ્ધના અંત બાદ જનતાની આશાઓ ઠગારી નીવડી અને રાષ્ટ્રમાં ભારે અશાંતિ થઈ ગઈ. સ્વદેશીની હિલચાલ દેશમાં શરૂ થઈ. મહાત્મા ગાંધીજીએ સમગ્ર ભારતમાં નવજાગૃતિનું પૂર આણ્યું હતું. રેશમી વસ્ત્રોનો ત્યાગ કરી લોકો ખાદી અપનાવતા થયા હતા. મહારાજશ્રીએ બિકાનેરથી ખાદી અપનાવવાની શરૂ કરી. હોશિયારપુરના વ્યાખ્યાનોને પરિણામે અપવિત્ર કેસરનો ઉપયોગ ન કરવા વિશે, સ્વદેશી વસ્ત્રો અંગે તેમ જ બીજા અનેક ઠરાવો થયા.

હોશિયારપુરથી ફગવાડા થઈ ફિલોર વાટે મહારાજશ્રી લુધિયાણા પધાર્યા. ત્યાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી, વિહાર કરી સં૦ ૧૯૭૮ના જેઠ વદિ છઠના દિને અંબાલા પધાર્યા. ત્યાં તેમણે છત્રીસમું ચોમાસું કર્યું. આ ચોમાસા દરમિયાન શ્રી આત્માનંદ જૈન હાઈસ્કૂલની ભૂમિકા રચાઈ ગઈ અને પુસ્તકાલયની શરૂઆત થઈ ગઈ. ત્યાંથી મહારાજશ્રી પતિયાલા થઈ સમાના ગયા અને સં૦ ૧૯૭૯ના મહા શુદિ ૧૧ના રોજ પ્રતિષ્ઠા કરાવી. સમાનાથી નાણા થઈ માલેરકોટલામાં મહાવીર-જયંતી ઊજવી મહારાજશ્રી હોશિયારપુર ગયા. સં૦ ૧૯૭૯નું આડત્રીસમું ચાતુર્માસ ત્યાં કર્યું.

હોશિયારપુરથી વિહાર કરી મહારાજશ્રી કાંગડાની યાત્રા કરી પાછા વિહાર કરી મિયાની, ઉરમદ થઈ જંડિયાલાગુરુ ગયા. ત્યાંથી અમૃતસર પધાર્યા અને ત્યાર બાદ લાહોર ગયા. સં૦ ૧૯૮૦નું ઓગણચાલીસમું ચાતુર્માસ લાહોરમાં કર્યું. શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું કાર્ય વેગવાન બન્યું હતું. લાહોરમાં પ્રતિષ્ઠા થઈ અને એ જ દિવસે મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયજીને આચાર્યની પદવી અપાઈ. આચાર્ય-પદની પદવી માટે પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી, તથા શ્રી હંસવિજયજી, શ્રી સંપતવિજયજી તથા શ્રી સુમતિવિજયજીની સંમતિ સંઘે મેળવી લીધી હતી. આ વખતે પંચોતેર શહેરના આગેવાન લોકો તેમ જ હજારોની માનવમેદની જામી હતી. બંને ઉત્સવો લાહોરના શ્રીસંઘે અપૂર્વ ભક્તિપૂર્વક કર્યા.

લાહોરમાં સં૦ ૧૯૮૧ના માગસર શુદિ પાંચમના દિવસે પંજાબના શ્રીસંઘે અભિનંદનપત્ર આપ્યું. મહારાજશ્રીની આચાર્યની પદવીની સાથોસાથ પન્યાસ સોહનવિજયજીને ઉપાધ્યાય પદ અપાયું. આ પ્રસંગે જામનગરથી પ્રવર્તક શ્રી કાન્તિવિજયજીએ મંગળ આશીર્વાદ પાઠવતો લાંબો પત્ર મોકલ્યો હતો, જેમાં તેઓશ્રીએ જણાવ્યું કે, "આપ ગુરુમહારાજની સેવાભક્તિમાં નિરંતર રહ્યા છો, પંજાબમાં મહારાજસાહેબરૂપી સૂર્યનો અસ્ત થયા પછી તે ક્ષેત્રોમાં તમારા હાથે અનેક પ્રભાવજનક શુભકાર્યો થયાં છે, તથા નિરંતર ભ્રમણ કરીને ઘણી ઉન્નતિ કરી છે. આ બધાંથી આકર્ષિત થઈને શ્રીસંઘે આપને

ગુરુમહારાજના પટ્ટ પર અભિષેક્યા છે તે ખુશીની વાત છે. હવે ભવિષ્યમાં તમારા દ્વારા અધિકાધિક ધર્મકાર્યો થાય, શાસનની શોભામાં ઉત્તરોત્તર વૃદ્ધિ થાય તથા અન્ય મુનિરાજો પણ તેનું અનુસરણ કરે તો તેની શોભા એ પણ આપની જ શોભા છે... શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી સ્વર્ગવાસી શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી તથા શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી લક્ષ્મીવિજયજી મહારાજની વિદ્યમાનતામાં પ્રાયઃ પરસ્પર કષાય થાય એવો પ્રસંગ ઉપસ્થિત જ નહોતો થયો. કદાપિ દૈવયોગે સકારણ કે નિષ્કારણ છદ્મસ્થપણાની લહેરમાં કોઈ ને કષાય આવી જતો તો તે વખતે સંપ થઈ જતો અથવા કરાવી દેવામાં આવતો. સાંવત્સરિક પ્રતિક્રમણમાં ક્ષમાપના ફરતા અને બીજા પાસે અવશ્ય કરાવતા. કદાચ અજ્ઞાનવશ થઈ કોઈ તે પર ધ્યાન ન આપતું તો તેને સમજાવતા : ‘જાવ’ જે ક્ષમાપના કરે છે તે આરાધક થાય છે અને જે નથી કરતો તે આરાધક નથી થતો તેથી ક્ષમાપના કરીને આરાધક થવું એ શ્રેષ્ઠ છે.’ ગુરુમહારાજના અમૃતવચનો સાંભળી કોઈ પણ શાંત થઈ જતો અને ક્ષમાપના કરી લેતો. તમે ગુરુમહારાજના ચરણોમાં રહી ખૂબ અનુભવ સંપાદન કર્યો છે તો તેમનું અનુકરણ કરવું યોગ્ય છે. શ્રી ગુરુમહારાજ આપને સહાયતા આપે અને આપ એવાં કાર્યો કરવાને યોગ્ય બનો જેનાથી શ્રી ગુરુમહારાજનું શુભ નામ જગતમાં અધિકથી અધિક રોશન થાય.”

* * *

લાહોરનો ઉત્સવ પતાવી આચાર્યશ્રી ગુજરાનપુર આવ્યા. ગુજરાનપુરે અંતરની પુષ્પમાળોથી તેમને વધાવ્યા. મુંબઈ ખાતે પન્યાસ શ્રી લલિતવિજયના પ્રયાસથી અને શેઠશ્રી વિઠ્ઠલદાસની ઉદારતાથી મહારાજશ્રીની પ્રતિજ્ઞા પૂર્ણ થઈ. ‘શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળ’ની શરૂઆત થઈ. સં૦ ૧૯૮૧નું ચાતુર્માસ અહીં પૂર્ણ થયું. ગુરુકુળની સમિતિ રચાઈ. ઉત્તરોઉત્તર એનો વિકાસ સધાયો. આ ચાતુર્માસમાં પંજાબની ઉન્નતિ માટે ધગશપૂર્વક કાર્ય કરનાર, કર્મશીલ અને સાચા સમાજ-સુધારક સમા અનન્ય ભક્ત અને કર્મશીલ શિષ્ય શ્રી સોહનવિજયજીની ખોટ પડી. સં૦ ૧૯૯૨ના કાર્તિક વદિ ચૌદશના દિવસે ઉપાધ્યાયશ્રી કાળધર્મને પામ્યા. શ્રી સોહનવિજયજી મહારાજે શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાની શરૂઆત કરાવી હતી. પંજાબની પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિમાં તેઓ ભારે રસ લેતા હતા.

ગુજરાનવાલા ગુરુકુળની સ્થાપના કરી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી પંજાબના શહેરોમાં થઈ હસ્તિનાપુર તીર્થની યાત્રા કરી બિનોલી પધાર્યા. દેવબંધમાં આચાર્યશ્રીએ “જૈનધર્મની વિશિષ્ટતા” પર પ્રવચન કર્યું. જૈન સિદ્ધાંતો સમજાવ્યા. બિનોલીમાં પ્રતિષ્ઠાનો મહાન ઉત્સવ થયો. જેઠ શુદિ ત્રીજના દિવસે લાલા ખજાનચીલાલ લોઢા અને રાધનપુરવાળા શ્રી ભોગીલાલને દીક્ષા આપવામાં આવી અને તેમનાં નામ અનુક્રમે મુનિશ્રી વિશુદ્ધવિજયજી તથા મુનિશ્રી વિકાસવિજયજી (મહેન્દ્ર પંચાગ કર્તા તરીકે પ્રસિદ્ધ છે) રાખવામાં આવ્યાં. બિનોલીમાં મેઘવાળો માટે પાણીની વ્યવસ્થા કરાવી આપી. બિનોલીથી વિહાર કરી બડૌત પધાર્યા અને સં૦ ૧૯૮૨નું ચાતુર્માસ બડૌત કર્યું. અહીં પર્યુષણ પર્વની સારી ઊજવણી થઈ. નૂતન જિનમંદિરનું ખાતમુહૂર્ત સં૦ ૧૯૮૨માં થયું અને સં૦ ૧૯૯૫માં મહા શુદિ સાતમના દિને પ્રતિષ્ઠા કરી. બડૌતથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી દિલ્હી પધાર્યા. દિલ્હીમાં ગોડવાડના આગેવાનો તેમ જ મુંબઈથી દાનવીર શેઠ વિઠ્ઠલદાસ ઠાકોરદાસ દર્શનાર્થે આવ્યા. આખો મહિનો પ્રવચનો થયાં. ત્યાંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અલવર પધાર્યા. ત્યાં પ્રતિષ્ઠા કરી જયપુર, અજમેર, નયાશહેર વગેરે સ્થળોએ વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી બીજોવા પધાર્યા. સં૦ ૧૯૮૩નું ચોમાસું ત્યાં કર્યું. બીજોવામાં શ્રી આત્મવલ્લભ જૈન લાયબ્રેરી તથા જૈન યુવક મંડળ સ્થપાયાં. અહીંથી ઝડપથી વિહાર કરી પાટણ આવ્યા. પાટણથી મરુભૂમિના ઉદ્ધાર માટે પન્યાસ શ્રીલલિતવિજયજીને આજ્ઞા આપી. પરિણામે વરકાણામાં એક મહાન સંસ્થા ઊભી થઈ. વરકાણા વિદ્યાલયે ઘણી પ્રગતિ કરી અને એ સંસ્થા ખૂબ જ વિકસી.

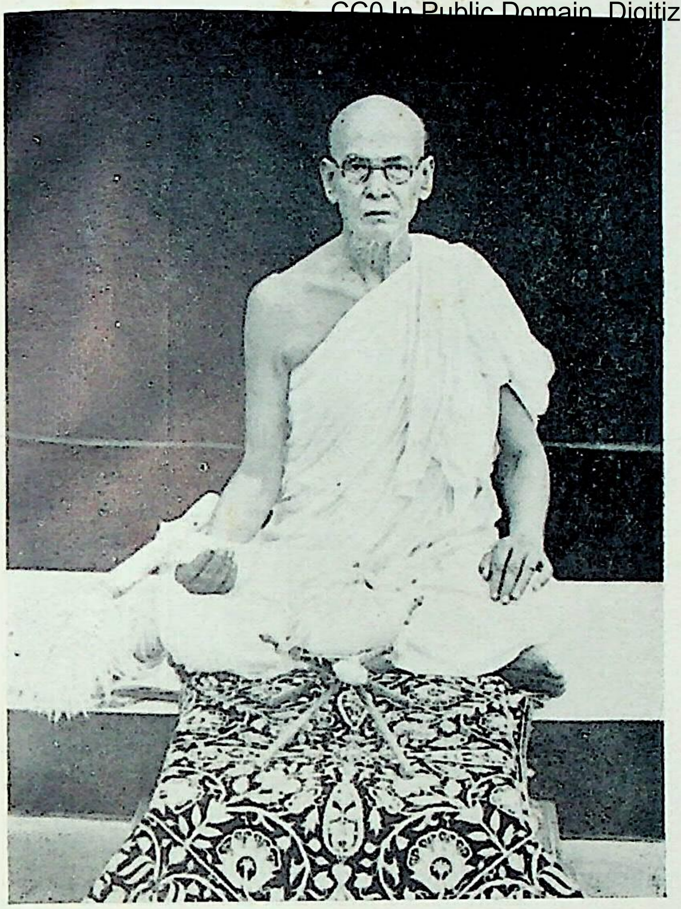

मुनि श्रीहंसविजयजी

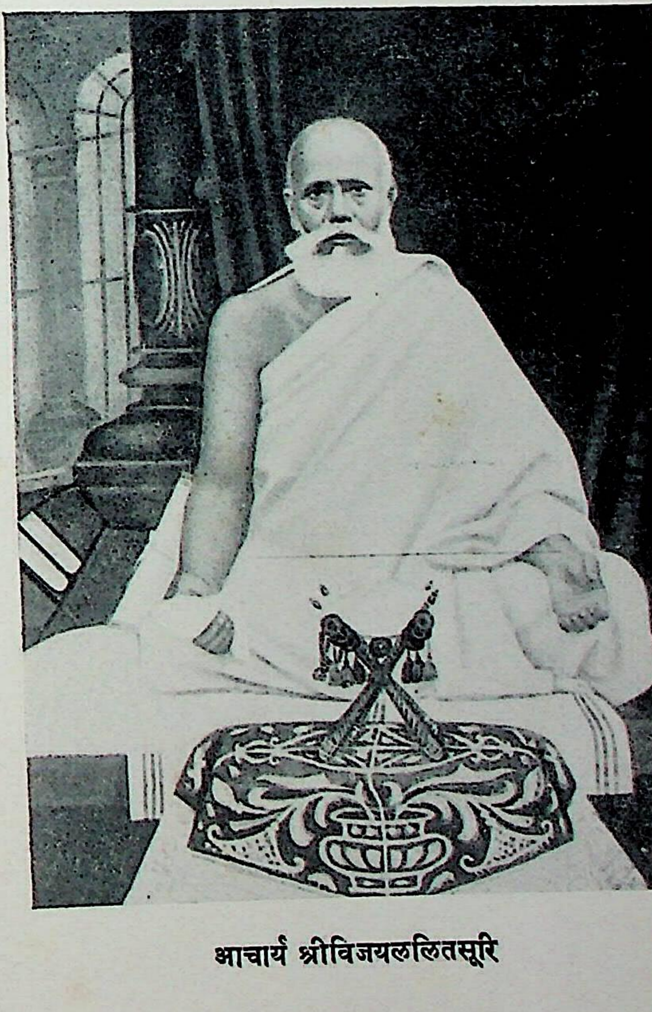

आचार्य श्रीविजयललितसूरि

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी, प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी अने मुनिसमुदाय (पाटण सं. १९८४)

સં૦ ૧૯૮૪ના ફાગણ શુદિ ત્રીજના દિવસે પાટણે આચાર્યશ્રીનું ભાવભીના હૃદયે સ્વાગત કર્યું. પાટણમાં પ્રવર્તકજી મહારાજ, મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી, મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી વગેરે સાથે વિચાર–વિનિમય કર્યો. એક વિદ્યાર્થી સંમેલન યોજાયું. પંજાબ તથા મારવાડના વિદ્યાર્થીઓએ આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિનું દર્શન કરાવ્યું. આ પછી ચારૂપ, કલાણા, મેત્રાણા, ગઢ, ભીલડિયાજી, ડીસા અને પાલણપુરનો વિહાર કરી પાટણમાં સં૦ ૧૯૮૪નું ચોમાસું કર્યું. પાટણના જ્ઞાનભંડારો માટે થતા કાર્યનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ આવ્યો.

પાટણના ચોમાસા બાદ ગાંભુ તીર્થની યાત્રા કરી. ધીણોજથી મહેસાણા થઈ બોરુ ગયા અને પાનસર તીર્થમાં ચારપાંચ દિવસની સ્થિરતા કરી. ત્યાંથી વિહાર કરી કલોલ-શેરીસા થઈ અડાલજ ગયા અને ત્યાંથી વલાદ, નરોડા દ્વારા અમદાવાદ આવ્યા. અમદાવાદે આચાર્યશ્રીને હેતના સ્વસ્તિકથી સાદાઈપૂર્વક વધાવ્યા. અમદાવાદમાં શ્રી ઊજમબાઈની ધર્મશાળામાં સ્થિરતા કરી અને વિશાશ્રીમાળીની વાડીમાં જાહેર પ્રવચનો કર્યાં. સં૦ ૧૯૮૫ના માગશર વદિ છઠ્ઠના દિને સ્વર્ગવાસી પૂ૦ શ્રી મૂળચંદજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. અહીંથી વિહાર કરી બારેજા, માતર, વડોદરા, મીઆગામ, વામજ, જગડીઆ, વગેરે સ્થળોએ થઈ આચાર્યશ્રી કરચલીઆ પધાર્યા.

અમદાવાદના પ્રવચનોમાં આચાર્યશ્રીએ ‘ સમયધર્મ ’ ઉપર ઘણો ભાર મૂક્યો. તેઓ કહેતા હતા : “ યુવકોને નાસ્તિક અને વૃદ્ધોને અંધશ્રદ્ધાળુ કહેવાથી કશો અર્થ સરવાનો નથી. બંનેના હાથ મેળવી સમયને, દેશકાળને ઓળખીને તેમને અને જગતને બતાવી આપવાનું છે કે જૈન ધર્મ શ્રેષ્ઠ છે. મોક્ષ એ કાંઈ કોઈનો ઈજારો નથી. બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર એ દરેક જો વીતરાગ બને તો મોક્ષ મેળવીશ કે છે. ગૌતમાદિ ગણધર બ્રાહ્મણ હતા, તીર્થંકર દેવો ક્ષત્રિય હતા ને જંબૂસ્વામી આદિ વૈશ્ય હતા. જૈન ધર્મમાં સર્વને સ્થાન છે. **જૈન ધર્મ છે, જાતિ નથી.** જૈનનો અનુયાયી ગમે તે જાતિનો હોઈ શકે છે. રાગ-દ્વેષને છોડે તે કૈવલ્યપ્રાપ્તિ કરી મોક્ષાભિગમન કરી શકે છે. પુરુષ, સ્ત્રી કે નપુંસકને પણ મોક્ષને લાયક ગણ્યો છે; આમાં લિંગભેદ ક્યાંયે નથી.

“ પૂર્વાચાર્યો સમયાનુસાર વર્તીને જૈન ધર્મ દીપાવી ગયા છે. પૂર્વના જૈનો પણ તે પ્રમાણે વર્તીને પોતાનાં નામો રોશન કરી ગયા છે. આજે આપણે ક્યાં છીએ ? વિચાર કરો, આપણે ક્યાં છીએ ? આપણું કર્તવ્ય શું છે ?

“ કેળવણી વિના આપણો આરો નથી. કેળવણી પણ ધાર્મિક શ્રદ્ધા અને સંસ્કારથી સુવાસિત હોવી જોઈએ. જ્યાંસુધી આ પ્રકારની ધાર્મિક કેળવણી નહિ હોય ત્યાંસુધી આપણો ઉદ્ધાર જ નથી. ફક્ત કેળવાયેલા જ જૈન શાસનની રક્ષા કરશે. સ્વામી–ભાઈની કમાવાની તાકાતમાં વધારો કરો. એક દિવસની રોટી આપ્યા કરતાં તેને નિરંતર રોટી મળે એવી વ્યવસ્થા કરો: જ્ઞાનીઓએ સાત ક્ષેત્ર કહ્યાં છે : (૧) જિનચૈત્ય (૨) જિન–પ્રતિમા (૩ અને ૪) સાધુ અને સાધ્વી (૫) સદ્‌જ્ઞાન (૬ અને ૭) શ્રાવક અને શ્રાવિકા. તીર્થનો વિચ્છેદ થતાં પ્રથમ શ્રાવક-શ્રાવિકા, પછી સાધુ અને સાધ્વીનો વિચ્છેદ થશે. તીર્થમાં શ્રાવક-શ્રાવિકા પણ છે. માટે સંઘના એ અંગને પણ મજબૂત બનાવવું પડશે. શ્રી મૂળચંદજી મહારાજના સમયમાં કુસંપ નહોતો, અને જ્યાં કુસંપ હોય ત્યાં જંપ થતો. તે સમયે ઝીણાં કપડાં નહોતાં વપરાતાં, હમણાં તો તમે અમને ઝીણાં કપડાં વહોરાવો છો; તે સમયે અમે ચા-દૂધ માટે વહોરવા નહોતા નીકળતા, આજે અમે તેમ કરતા થઈ ગયા છીએ. અમારે ને તમારે આ સમજવાનું છે કે આપણી આ સહેલાણીપણાની ટેવ ત્યાગી–ફકીરને લાયક છે ખરી? સ્વધર્મીઓ માટે ઉદ્યમ કરો. તેમને વ્યાવહારિક કેળવણી સાથે ધાર્મિક શિક્ષણ મળે તેવો પ્રબંધ કરો. એકલી પૌદ્‌ગલિક કેળવણીથી કોઇનો ઉદ્ધાર નથી થવાનો. ધાર્મિક કેળવણી હશે તો ધાર્મિક સંસ્કાર મળશે. તો જ

વિવેકપ્રાપ્તિ થશે. તો જ શાસન-હિતનાં સારાં કામો થશે. ભાવિ પ્રજાના યુવકો નાસ્તિક બનતા જાય છે તેનું કારણ શું? તેઓ ગુરુઓ પાસે આવે છે તે શું 'નાસ્તિક' શબ્દ સાંભળવા? અને આમ તેમને તમે નાસ્તિક કહ્યા કરશો તો તેઓ—ભાવિ પ્રજા તમારી પાસે આવશે ખરી? રસ્તો એક જ છે : ધાર્મિક જ્ઞાનસંસ્કાર મળે તેવી વ્યવસ્થા કરો, સંપ કરો. સાધુઓના સંબંધમાં મનફાવે તેમ લખે તેવા છાપાઓને ન પોષો."

* * *

સં૦ ૧૯૮૫ના પોષ શુદિની શરૂઆતમાં આચાર્યશ્રી છાણીથી વડોદરા પધાર્યા. ત્યાંથી મહા શુદિ ૫–૬ના દિને કરચલીઆમાં અપૂર્વ પ્રતિષ્ઠા-મહોત્સવ કરાવ્યો. અહીં સમાજ-જીવન અને જૈનધર્મ પર પ્રવચનો કર્યાં. પાઠશાળા પણ શરૂ થઈ. મહા વદિ દશમના દિવસે બુહારીના સંઘે આચાર્યશ્રીનું સામૈયું કર્યું. ત્યાં પચીસ દિવસ સ્થિરતા કરી. મુંબઈના બત્રીસ ગૃહસ્થોના પ્રતિનિધિ-મંડળે અહીં આવી મુંબઈમાં ચોમાસું કરવા વિનતિ કરી. આચાર્યશ્રીએ તેનો સ્વીકાર કર્યો. કરચલીઆથી વિહાર કરી ટાંકલ થઈ સીસોદરા અને ત્યાંથી નવસારી પધાર્યા. ત્યાં ચૈત્રી પૂનમ કરી ત્યાંનો કલેશ શાંત કર્યો. અહીંથી આચાર્યશ્રી સૂરત પધાર્યા અને ગોપીપુરાના મોહનલાલજી મહારાજના ઉપાશ્રયમાં ઊતર્યા. ત્યાંથી વાપી થઈ ગોલવડ પધાર્યા. પન્યાસ શ્રીલલિતવિજયજી વરકાણાથી ત્યાં આવી પહોંચ્યા. સં૦ ૧૯૮૫ના જેઠ શુદિ સાતમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં આચાર્યશ્રી પધાર્યા. આઠમના દિવસે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. આચાર્યશ્રીએ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં અપૂર્વ આનંદ, પ્રેમ અને ધર્મભાવના જોયાં. ખૂબ આનંદ થયો અને પોતાની એક અપૂર્વ મહત્ત્વાકાંક્ષા પૂર્ણ સ્વરૂપે ફળેલી જોઈ એમના હૈયામાં આનંદ આનંદ થઈ ગયો. જેઠ શુદિ દશમના દિને મુંબઈએ આચાર્યશ્રીનું બાદશાહી સ્વાગત કર્યું. સં૦ ૧૯૮૫ના મુંબઈ ખાતેના ચાતુર્માસમાં ગોડીજીના ઉપાશ્રયમાં જૈનસમાજની વર્તમાન પરિસ્થિતિ, જ્ઞાનપ્રચારની આવશ્યકતા, સમાજકલ્યાણની જરૂરિયાત, સાચું સ્વધર્મી વાત્સલ્ય, શિક્ષણસંસ્થાઓની સમૃદ્ધિ વગેરે વિષયો ઉપર મનનીય પ્રવચનો થયાં. ચાતુર્માસ પછી આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી એક કચ્છી આગેવાને વીસા ઓસવાળ જૈન બૉર્ડિંગને રૂપિયા સવા લાખની ઉદાર સખાવત કરી. અહીં અમુક વર્ગનો ઉશ્કેરાટ છતાં આચાર્યશ્રીનો જવાબ સ્પષ્ટ હતો : "શાંતિમાં જ શ્રેય છે. ઉશ્કેરાટથી કશું વળવાનું નથી. જેનું કામ જે હોય તે કરે. જૂઠા આક્ષેપો કરવાની કશી જ જરૂર નથી. શાંતિ રાખવી એ જ આપણો ધર્મ. વિરોધી પક્ષના હૃદયને જીતવા શાંતિ જેવું અમોઘ શસ્ત્ર બીજું એકેય નથી. રાગદ્વેષ ન રાખીએ તો આપણો કોઈ વિરોધી નથી. શાંતિ અને સચ્ચાઈ આખરે જીતશે."

મુંબઈથી વિહાર કરી ઘાટકોપર, થાણા વગેરે સ્થળોએ થઈ આચાર્યશ્રી ખડકી આવ્યા અને પૂનાના સંઘની તડોનું સમાધાન કર્યું—ત્યાર પછી જ પૂનામાં પ્રવેશ કર્યો, અહીં સં૦ ૧૯૮૬નાં ચાતુર્માસ દરમ્યાન અદ્યતન શિક્ષણ-સંસ્થાઓનો ખ્યાલ મેળવ્યો. શ્રીસંઘની વિનતિથી ઉપધાન-અનુષ્ઠાન ખૂબ જ સાદાઈથી અને શુદ્ધ ક્રિયા દ્વારા કરાવ્યા. શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરીની સ્થાપના થઈ. ત્યાંથી વિહાર કરી તળેગામ, ઢમઢેરા, અહમદનગર થઈ યેવલા પધાર્યા અને ત્યાં પ્રતિષ્ઠા કરાવી. ઈલોરાની આકર્ષક ગુફાઓ જોઈ. દોલતાબાદ ઔરંગાબાદ વિહાર કરી આચાર્યશ્રીએ અંતરિક્ષજી પાર્શ્વનાથની યાત્રા કરી ત્યાં પચીસેક દિવસની સ્થિરતા કરી. ધર્મશાળા માટે પ્રેરણા આપી બાલાપુર પધાર્યા અને ત્યાં સંવત ૧૯૮૭નું ચાતુર્માસ કર્યું. આકોલા ખાતે શ્રી સમુદ્રવિજયજી મહારાજ તેમ જ બીજાઓને આચાર્યશ્રીએ આજ્ઞા આપી. ત્યાંથી સંવત ૧૯૮૮ના પોષ માસમાં વિહાર કરી ખામગામ આદિ થઈ બુરાનપુર પધાર્યા.

બુરાનપુરના સંઘનો કુસંપ દૂર કરાવ્યો. માતાપુત્ર વચ્ચેનો ઝઘડો દરમિયાનગિરી કરી દૂર કરાવ્યો. ત્યાંથી વિહાર કરી માંડવગઢ થઈ, શાંતિનાથ પ્રભુની યાત્રા કરી, આચાર્યશ્રી ધારમાં પધાર્યા. ત્યાંથી આશપુર તરફ વિહાર કરી ભોવાપર તીર્થમાં બાર ફૂટની શ્રી શાંતિનાથ પ્રભુની કાયોત્સર્ગમાં ઊભી ભવ્ય મૂર્તિના દર્શન કરી પટલાવદ થઈ રતલામના આગ્રહથી ત્યાં ગયા. ત્યાંથી સૈલાના, વાંસવડા આદિ થઈ આશપુર પધાર્યા. પાટણથી વિદ્વાન મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી, મુનિશ્રી પ્રભાવિજયજી, મુનિશ્રી રામવિજયજી આદિ આબુ કેશરિયાજીની યાત્રા કરી આશપુર આવી આચાર્યશ્રીને મળ્યા. ત્યાંથી ભંકોડા ગામમાં થઈ કેશરિયાજી પધાર્યા. શ્રી મહાવીરજયંતી તેમ જ શ્રી નવપદજીની ઓળી કરી ઉદયપુર પધાર્યા. અહીંયાં મહારાણાને જૈનધર્મનું રહસ્ય સમજાવ્યું. ત્યાંથી રાણકપુર વગેરે થઈ સાદડી થઈ આચાર્યશ્રી વરકાણાજી પધાર્યા. ત્યાંથી ચાંદરાઈ, કવરાડા થઈ, બીજોવા થઈ, નાંડોલ ગયા. ત્યાં પદ્મપ્રભુજીના મંદિરના પ્રતિષ્ઠા કરી પાછા વરકાણા થઈ ચાતુર્માસ માટે સાદડી પધાર્યા. સં૦ ૧૯૮૮નું ચોમાસું અહીં કર્યું.

આંતરિક અશાંતિ દૂર કરવા માટે આચાર્યશ્રીએ સં૦ ૧૯૮૮ના આસો વદિ ૯, રવિવાર તા૦ ૨૩–૧૦–૧૯૩૨ના રોજ આત્મનિવેદન કર્યું. આ નિવેદન આચાર્યશ્રીના સ્વભાવનો સરસ ખ્યાલ આપી જાય છે. આ નિવેદનમાં તેમણે જણાવ્યું હતું કે, "આ વર્ષે સાંવત્સરિક પર્વ નિમિત્તે આત્મવિચારણા કરતા સંઘ અને શાસન પરત્વે કેટલાક વિચારો આવ્યા, જેમાંથી થોડો ભાગ–જે મારા પોતાના આત્મા અને સંઘ સાથે સંબંધ ધરાવે છે તેટલો ભાગ–સંઘ સમક્ષ મૂકવા ઇચ્છું છું. જો તેમાં કોઈને સમભાવ અને સત્ય દેખાય તો તેના પર વિચાર કરે.

"આજકાલ આખા જૈન સંઘમાં કલેશ અને કંકાસનું વાતાવરણ ચોમેર ફેલાઈ રહ્યું છે અને તે દિવસે દિવસે ઉગ્ર બનતું જાય છે. દરેક પક્ષકાર સામા પક્ષ ઉપર બધો દોષ નાખવા પ્રયત્ન કરે છે. સામો પક્ષ પણ એ જ કાદવ ઉડાડતો હોય છે. પરિણામે કોઈ પોતાના દોષ તરફ અને બીજાના ગુણ-પરત્વે લક્ષ આપતું નથી. સંઘના કેટલાક આગેવાનો મને પણ કહે છે કે સંઘમાં શાંતિ સ્થાપવી જોઈએ, અને આપ આ કલેશો દૂર કરવા કંઈ કરો.

"ધર્માત્મા અને સરળ ચિત્તવાળા આવા ભાઈઓની વાત ઉપર હું વિચાર કરું છું ત્યારે છેવટે મને એમ લાગે છે કે આ બાબતમાં હું મારા આત્મનિવેદન સિવાય કંઈ કરી શકું તેમ નથી. કોઈનો સૌના ઉપર અધિકાર ચાલતો નથી, તેમ સૌ એક સ્વભાવના હોઈ શકે નહિ. તેથી મને મારા પોતાના વિશે કાંઈ કરી શકવાનો કે કહેવાનો હક રહે છે. જૈન સંઘમાં વર્તતા કે વધતા કોઈ પણ જાતના કલેશમાં હું નિમિત્ત થતો હોઉં એ મારી જાણમાં આવતું નથી. પ્રયત્ન તો એ વિશે હોય જ ક્યાંથી? તેમ છતાં એવો પણ સંભવ છે કે જે વસ્તુ મારા લક્ષમાં ન હોય કે ન આવતી હોય તે બીજાઓના લક્ષમાં આવે કે આવતી હોય છે. તેથી આ બાબતમાં મને એક જ માર્ગ સૂઝે છે, અને તે કોઈ પણ રીતે નુકસાનકારક નથી. કદાચ તે બીજાઓને પણ અનુકરણ કરવા જેવો બને. તે માર્ગ આ છે:

"ન્યાયાંભોનિધિ જગદ્‌વિખ્યાત પરમ ગુરુદેવ ૧૦૦૮ શ્રી વિજયાનંદસૂરીશ્વરજીના હસ્તે દીક્ષિત અને અમારા સંઘાડામાં અતિ માન્ય વયોવૃદ્ધ એવા બે મુનિવરો છે, જેમને હું પૂજ્ય ગણું છું અને જેમના માટે જૈન સંઘના મોટામાં મોટા ભાગને આદરમાન છે. તે બે પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી અને શાંતમૂર્તિ શ્રી હંસવિજયજી મહારાજ છે. આ બે સિવાય વિદ્વાન, પ્રતિભાસંપન્ન અને પ્રભાવશાળી આચાર્યશ્રી વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ અને શ્રી વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી મહારાજ છે કે જેઓ તદ્દન નિષ્પક્ષ અને કોઈનાય પ્રભાવથી અંજાય તેવા નથી. આ ચાર સ્થવિરોને હું મારા તરફથી વિનવું છું કે તેઓ એકત્ર મળીને અગર પત્રવ્યવહાર કરીને જો હું કંઈ ભૂલ કરતો હોઉં તો તે વિશે વિચાર ચલાવે. તેમના

એ વિચારના પરિણામે આ સંઘ-કલેશની બાબતમાં જો કંઈ મારી ભૂલ દેખાય તો તેઓ મને સૂચવે.”

“શ્રીસંઘને હું ખાતરી આપું છું કે ઉક્ત ચાર સ્થવિરોની એકમતિથી કે બહુમતિથી પણ જો મને મારી કંઈ પણ ખામી જણાવવામાં આવશે તો હું તેના પર શ્રદ્ધા અને ઉદારતાપૂર્વક વિચાર કરીશ, અને જો એ ખાતરી સાચી ભાસશે તો તેનો ખુલ્લેખુલ્લો એકરાર હું કરીશ. એટલું જ નહિ પણ મારા તરફથી એને દૂર કરવા હું બનતું કરીશ. હું સમજું છું કે, પરિમિત શક્તિવાળો કોઈપણ–પછી તે ભલે આચાર્ય હોય–સમગ્ર સંઘ પરત્વે આથી વધારે શું કરી શકે? બાકી હું તો મારા પોતાથી બનતી શાસનસેવા અને સંઘનું હિત સાધી શકાય તેટલું સાધું છું અને સાધતો રહીશ એમાં કોઇને કંઈ કહેવાપણું નહિ રહે.”

જેસલમેર સંઘમાં જવાની નેમથી ચાતુર્માસ પૂરું થતાં આચાર્યશ્રી રાણકપુરની યાત્રાએ ગયા અને ત્યાંથી સાદડી, વરકાણા, પાલી થઈ, જોધપુરનું સામૈયું સ્વીકારી મણોદ તીર્થ થઈ, ઓસિયા થઈ આચાર્યશ્રી ફલોધિ પધાર્યા. અને સંઘપતિ શેઠશ્રી પાંચુલાલજી સાથે જેસલમેરની યાત્રાએ ગયા. જેસલમેરના પ્રાચીન મંદિરો અને અદ્વિતીય જ્ઞાનભંડારોનો આચાર્યશ્રીએ ખ્યાલ મેળવ્યો. જેસલમેરથી બાડમેર તરફ વિહાર કરી, નાકોડા તીર્થની યાત્રા કરી, બાલોતરાદિ થઈ જાલોર પધાર્યા. ત્યાં દર્શન કરી, આહોર, ગુડા, બાલોતરા આદિ થઈ આચાર્યશ્રી ઉમેદપુરમાં પધાર્યા. ત્યાંથી વિહાર કરી વાંકલીમાં આચાર્યશ્રી ગયા. અહીં ચૌદ વર્ષથી બે તડાઓ પડ્યા હતા અને એની ધાર્મિક કાર્યો પર અસર પડતી હતી. બંને પક્ષોને સમજાવી આચાર્યશ્રીએ ફેંસલો આપ્યો. ત્યાંથી શિવગંજ પ્રતિ ગમન કર્યું. ત્યાંનો ઝગડો શાંત કરી બામણવાડા તીર્થે આવ્યા. અહીં પોરવાડ સંમેલન મળ્યું. અહીંયાં બાર હજારની માનવ-મેદની સમક્ષ પ્રેરક ઉદ્‌બોધન કરી સામાજિક જાગૃતિનો અનુરોધ કર્યો. પોરવાડ સંમેલનમાં આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, “દાન-પ્રવાહની નીચે સુમતિનું નીર વહેતું હોય તો તે ક્ષેત્ર જરૂર નવપલ્લવિત બને. સમાજની અસમાનતાઓ તપાસો. જે મારવાડી ભાઈઓમાં શિક્ષણના સંસ્કાર ન હોવાથી તેમની શું સ્થિતિ છે તે તપાસો.”......આ સમયે શાંતમૂર્તિ શ્રી શાંતિવિજયજી મહારાજે રત્નપ્રભસૂરિ આદિ પૂર્વાચાર્યોનો દાખલો આપી પ્રેરક પ્રવચન કર્યું. પોરવાડ સંમેલને શિક્ષણ અંગે, મૃત્યુ પાછળના જમણવારો બંધ કરવા અંગે, કન્યાવિક્રય બંધ કરાવવા અંગે, તેમજ વૃદ્ધલગ્ન અને બાળલગ્ન બંધ કરાવવા અંગે ઠરાવો કર્યા. સ્ત્રીઓની પણ જાહેર સભા થઈ. મારવાડમાં આથી સારી જાગૃતિ આવી. સંમેલને આચાર્યશ્રીને, યોગીરાજ શ્રી વિજયશાંતિસૂરીશ્વરજીને અને પન્યાસ લલિતવિજયજીને બિરુદો અર્પણ કર્યાં. બામણવાડાથી તીર્થયાત્રાઓ કરી આચાર્યશ્રી પાલણપુર પધાર્યા. ત્યાંથી પાટણ જઈ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. આત્માનંદ જૈન શતાબ્દી માટે ભૂમિકા રચી. આચાર્યશ્રી ફરીથી પાલણપુર આવ્યા. ત્યાં ઉપધાન કરાવ્યા. સં૦ ૧૯૮૯નું ચોમાસું અહીં કર્યું. પાલણપુરથી ઝડપી વિહાર કરી સં૦ ૧૯૯૦ના માગશર વદિ એકમના દિવસે પાલીતાણા પધાર્યા. ત્યાં શ્રી મૂળચંદજી મહારાજની જયંતી ઊજવી, યાત્રા કરી ભાવનગરના સંઘના આગ્રહથી ત્યાં ‘મનુષ્યકર્તવ્ય’ જેવા વિષય પર મનનીય પ્રવચન કર્યું. ત્યાંથી લાઠીદડ ખાતે આચાર્યશ્રીને મુનિ-સંમેલન માટે વિનતિ કરવા અમદાવાદના નગરશેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ આવ્યા. આ પછી આચાર્યશ્રીએ ઝડપથી વિહાર કર્યો. બોટાદ, વઢવાણ શહેર અને વઢવાણ કેમ્પ આચાર્યશ્રી પધાર્યા. ત્યાંથી વિરમગામ, ભોયણી થઈ પાલણપુર પધાર્યા. ત્યાં ઊજમણામાં જનતાને નવી પ્રેરણા આપી. પાલણપુરમાં જૈન કન્યાશાળા ખુલ્લી મુકાઈ.

* * *

પાલણપુરથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી પાટણ પધાર્યા. ત્યાં શાંતમૂર્તિ મુનિવર શ્રીહંસવિજયજી મહારાજની અસ્વસ્થ તબિયત જોઈ ચિંતા થઈ પણ શ્રી હંસવિજયજીએ મુનિ-સંમેલનમાં જવાનો

આચાર્યશ્રીને અનુરોધ કર્યો. આથી આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યો. પેથાપુર પાસે રાંધેજા ગામમાં મુનિશ્રી હંસવિજયજીના કાળધર્મના સમાચાર મળ્યા. સાધુ-સંઘ સંમેલનમાં ઉત્સાહ ઘણો હતો. વાતાવરણમાં નવી ચમક હતી. સારાયે હિંદની સંમેલન પર નજર હતી. પણ કાર્યપ્રણાલીનો ખ્યાલ ન આવતાં મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીએ દહેગામમાં આચાર્યો-મુનિવરોનું એક નાનું સંમેલન બોલાવવાનો પ્રયાસ કર્યો. સં૦ ૧૯૯૦ના ફાગણ શુદિ અગિયારસના રોજ દહેગામમાં આ સંમેલન થયું, અને તેમાં આચાર્યશ્રી વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી તથા મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીએ ઉલટભેર ભાગ લીધો. દહેગામથી વિહાર કરી, આચાર્યશ્રીએ ફાગણ વદિ ત્રીજે અમદાવાદમાં પ્રવેશ કર્યો અને ઉજમબાઇની ધર્મશાળામાં ઉતર્યા.

સં૦ ૧૯૯૦ના ફાગણ વદિ ત્રીજે મુનિ-સંમેલન મળ્યું. જેમાં જૈન સમાજના નાયકો, આચાર્યો, ઉપાધ્યાયો, સાધુઓ એક સાથે મળ્યા અને વિચાર-વિનિમય થયો. આ સંમેલનમાં કોઈ અધ્યક્ષ હતું નહિ અને સર્વ સંમતિથી કામ થયું.

શરૂઆતમાં પરસ્પર આક્ષેપો, શાસ્ત્રાર્થની ચર્ચા થઈ. વિરોધી ભાવોના સમન્વય માટે પ્રયત્ન થયો. પહેલાં બોતેર મુનિ-મહારાજોની સમિતિ રચાઈ, તે પછી ત્રીસની સમિતિ રચાઈ, પછી ચારની સમિતિ રચાઈ અને છેવટે આચાર્યશ્રી વિજયનેમિસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયસિદ્ધિસૂરિજી, આચાર્યશ્રી સાગરાનંદસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયનીતિસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયદાનસૂરિજી, આચાર્યશ્રી જયસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયભૂપેન્દ્રસૂરિજી અને મુનિરાજ શ્રીસાગરચંદ્રજી એમ નવની સમિતિ નિર્ણય કરવા માટે નીમવામાં આવી. આ સંમેલનમાં અનેક પ્રકારના નિર્ણયો થયા, પરંતુ તેનો પૂર્ણ અમલ થયાં નહિ. જો આ નિર્ણયો અમલમાં મુકાયા હોત તો આજે જૈન સંઘની જુદી દશા હોત !

સંમેલન પ્રસંગે આચાર્યશ્રી વિજયદાનસૂરીશ્વરજીના સૂચનથી વર્ષો બાદ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના સંઘાડાના સાધુઓ મહત્ત્વની મંત્રણા માટે વિદ્યાશાળામાં મળ્યા. વર્ષો બાદ શ્રી વિજયદાનસૂરિજીને આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી મળ્યા, પણ મતભેદોની ગાંઠો ન ઉકલી શકી. અને એ અવસર ગયો તે ગયો. જૈન સંઘનું એકતાનું સ્વપ્ન ભગ્ન અવસ્થામાં રહ્યું. ભાવિ ભાવે થવાનું હતું તે થયું !

આચાર્ય શ્રીવિજયનેમિસૂરીશ્વરજીના આગ્રહથી સેરીસાની યાત્રા માટે અમદાવાદથી ચૈત્ર વદિ આઠમના રોજ આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યો. સેરીસા તીર્થમાં બંને મહામુનિઓએ સંઘના અનેક પ્રશ્નો ઉપર વિચારોની આપ-લે કરી. એક જ મકાનમાં સ્થિરતા કરી. આ પછી જૈન આગેવાનોના આગ્રહથી આચાર્યશ્રી, આચાર્યશ્રી નેમિસૂરીશ્વરજી સાથે, પાનસર ગયા અને બંને મહામુનિઓ ત્યાંથી છૂટા પડ્યા. અને ત્યાંથી આચાર્યશ્રી અમદાવાદ આવ્યા. વડોદરા, ડભોઈ થઈ લોઢણ પાર્શ્વનાથ ભગવાનની પ્રતિષ્ઠા કરી અમદાવાદ પધાર્યા. અહીં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી. સં૦ ૧૯૯૦નું ચોમાસું અમદાવાદમાં કર્યું.

ચોમાસું પુરું થતાં બારેજા થઈ આચાર્યશ્રી મહેમદાવાદ થઈ, કપડવંજ પધાર્યા. ત્યાં ત્રણ બહેનોને દીક્ષા આપી, વડોદરા શહેર પાવન કર્યું. અહીં પૂ૦ મૂળચંદજી મહારાજની જયંતી ઉજવી, વિહાર કરી મીઆગામ, પાલેજ આદિ થઈ ભરુચ, અંકલેશ્વર, સૂરત થઈ ત્યાંથી નવસારી, બીલીમોરા, વલસાડ થઈ આચાર્યશ્રી મુંબઈ પધાર્યા. સૂરતમાં સં૦ ૧૯૯૧ના પોષ વદિમાં ત્રણ જાહેર વ્યાખ્યાનો થયાં હતાં, ભરૂચમાં વેજલપુરના ભાઈઓનો ઝગડો દૂર થયો હતો. મુંબઇએ સં૦ ૧૯૯૧ના મહા શુદિ પાંચમના દિવસે આચાર્યશ્રીનું સુંદર સામૈયું કર્યું, અને મહા શુદિ દશમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં પ્રતિષ્ઠા-મહોત્સવ

પ્રસંગે "પ્રતિષ્ઠા–મહોત્સવ અને કેળવણી" પર સુંદર પ્રવચન કરતાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે, "સમગ્ર વિશ્વમાં વિવિધ નામથી આ ક્રિયા અથવા સંસ્કાર પ્રચલિત છે. પ્રતિષ્ઠા જડ અને ચેતન બંનેની થાય છે. આપણે જોઈએ અને જાણીએ છીએ કે દુનિયામાં અમુક વ્યક્તિઓ માનનીય બનેલી છે તે કોઈ ને કોઈ કાર્ય કે સંસ્કારને લીધે જ હોય છે. આપણે એ પણ જોઈએ છીએ કે નવા જૂના બંને પ્રકારના માણસો જડની પ્રતિષ્ઠા કરે છે. નવા મકાનની પ્રતિષ્ઠા, કૂવાની પ્રતિષ્ઠા, રેલવે એંજિનની પ્રતિષ્ઠા પણ થાય છે. આ વસ્તુ "ઇન્સ્ટૉલેશન,' 'ઇનૉગરેશન', 'ઓપનિંગ સેરિમનીઝ" વગેરે વિવિધ નામોથી ઓળખાય છે. આપણે જે મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરીએ છીએ એની પાછળની ભાવના આપણી ઉન્નતિ અને ઉત્કર્ષના કારણરૂપ બને છે. અમૂર્તને કોઈ પણ મૂર્ત સ્વરૂપ આપ્યા વિના તેના વિશે આપણે કંઈ વિચારી શકતા નથી. મારું તો એમ જ માનવું છે કે દરેક વ્યક્તિ એક યા બીજા રૂપમાં મૂર્તિપૂજક છે."

કેળવણીનો ઉલ્લેખ કરીને આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, "સંસ્થાના સંબંધમાં લોકોમાં અનેક વાતો ચાલે છે, પણ એનો ઉદ્દેશ સ્પષ્ટ છે. વ્યાવહારિક અને આધ્યાત્મિક બંને કેળવણી માનવીના વિકાસ માટે હોવી જોઈએ. આધ્યાત્મિક કેળવણીનું સાધન ધર્મ અને સદાચરણનું સેવન છે. તેના વિના વ્યાવહારિક કેળવણી અર્થ વગરની છે. જે કેળવણી નીતિમાન ન બનાવે, ઉન્નત આદર્શજીવનની પ્રેરણા ન આપે, સમાજસેવા, દેશસેવા આદિ કાર્યો પ્રત્યે વિચાર કરતા ન કરી મૂકે, તે સાચી કેળવણીથી દૂર છે."

* * *

આ ચાતુર્માસમાં મુંબઈમાં કોટ, ભાતબજાર વગેરેના ઉપાશ્રયે આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચનો કર્યાં. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયને સારી મદદ મળી અને શ્રી આત્મારામજી જૈન શતાબ્દી ફંડ પણ સારા પ્રમાણમાં ભેગું થયું. ચાતુર્માસ પહેલાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની ચાલીસમી પુણ્યતિથિ તા. ૯–૬–૧૯૩૫, સં૦ ૧૯૯૧ના જેઠ શુદિ આઠમના રોજ વિલે-પાર્લે ખાતે ઊજવાઈ હતી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ વ્યાવહારિક સાથે ધાર્મિક કેળવણીની યોજનાનો વિસ્તાર કરવાનું અને યુનિવર્સિટી અંગેનું પોતાનું સ્વપ્ન રજૂ કરી જૈનોની એકતા ઉપર ભાર મૂકયો હતો. જૈન વિદ્યાશાળાનો ઉત્સવ પણ શ્રાવણ વદિની શરૂઆતમાં ઊજવાયો હતો. તેમ જ ભાદરવા શુદિ ૧૧ના દિવસે શ્રીહીરવિજયસૂરીશ્વરજીની જયંતી ઊજવાઈ હતી. આ પ્રસંગે પં૦ લાલન, શ્રીયુત મોતીચંદ કાપડીઆ, વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં હતાં. સં૦ ૧૯૯૨ના કારતક શુદિ ૧૧ ને બુધવારે ગોડીજીના ઉપાશ્રયમાં 'શતાબ્દી અને આપણી ફરજ' ઉપર આચાર્યશ્રીએ પ્રવચન કર્યું હતું. મુંબઈમાં આવાં બીજાં ત્રણ વ્યાખ્યાનો થયાં હતાં.

મુંબઈથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી સં૦ ૧૯૯૨ના પોષ શુદિ પૂનમે સૂરત પધાર્યા. ત્યાં શતાબ્દી પર પ્રવચન કરી વિહાર કર્યો. ઝગડીઆ અને સિનોર ખાતે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના વૃદ્ધ શિષ્ય શ્રી અમરવિજયજીની સુખશાતા પૂછી, અનેક જગાએ વિહાર કરી, વડોદરા પધાર્યા. વડોદરામાં તા. ૩–૨–૧૯૩૬ના સોમવારે આચાર્યશ્રીએ શ્રીમંત સયાજીરાવ ગાયકવાડ સાથે લક્ષ્મી-વિલાસ પ્રાસાદમાં જૈનધર્મ ઉપર વાર્તાલાપ કર્યો. અહીંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અમદાવાદ આવ્યા. ફાગણ શુદિ બારસના દિવસે આચાર્યશ્રી વડોદરા પાછા આવ્યા. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો શતાબ્દી મહોત્સવ અનેકગણા ઉત્સાહથી વડોદરામાં થયો. પંજાબથી અનેક માનવીઓ આ પ્રસંગે આવ્યા હતા. આ પ્રસંગોની ઊજવણી અંગે શંકા-આશંકાઓ દૂર કરતું લાંબું નિવેદન શ્રી ચરણવિજયજી મહારાજે અમદાવાદ ખાતેથી કર્યું હતું. આચાર્યશ્રીએ પણ પ્રેરક સંદેશો પાઠવ્યો. શતાબ્દીમાં પન્યાસ શ્રીલલિતવિજયજી, મુનિશ્રી ચરણવિજયજી, શ્રી હીરાનંદ શાસ્ત્રી, પં૦ સુખલાલજી, પં૦ હંસરાજ વગેરેએ પણ વિચારપૂર્ણ

મંગલ ઉદ્‌બોધનો કર્યાં. ત્રણ દિવસ ઉત્સાહથી શતાબ્દી–જયંતી ઊજવાઈ. પાટણમાં પણ પ્રવર્તક શ્રી કાન્તિવિજયજીના અધ્યક્ષપણા નીચે શતાબ્દી-મહોત્સવ ઊજવાયો. એમાં મુનિશ્રી જિનવિજયજી, મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી, પં૦ સુખલાલજી વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં. સાદડીમાં આચાર્યશ્રી વિજયલબ્ધિસૂરીશ્વરજીની દોરવણી નીચે શતાબ્દી ઊજવાઈ. મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજી, મુનિશ્રી ભુવનવિજયજી, મુનિશ્રી દર્શનવિજયજી, મુનિશ્રી હિમાંશુવિજયજી વગેરેના પ્રેરક પ્રવચનો થયાં. સારાયે પંજાબમાં તેમ જ મુંબઈ, સૂરત અને અમદાવાદ તેમ જ ઠેરઠેર શતાબ્દી ઊજવાઈ.

વડોદરાથી આચાર્યશ્રી મિયાગામ પધાર્યા અને સંઘના અતિ આગ્રહને વશ થઈ વૈશાખ શુદિ છઠ્ઠના રોજ પ૦ શ્રી લલિતવિજયજી, અને પં૦ શ્રી કસ્તુરવિજયજી (શ્રી ઉદ્યોતવિજયજીના શિષ્ય) ને આચાર્યની પદવી આપી, અને મુનિશ્રી વિવેકવિજયજી મહારાજને, પન્યાસ શ્રી ઉમંગવિજયજીને વલાદમાં અને મુનિરાજ શ્રી સુમતિવિજયજી મહારાજને, પં૦ મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીને ગુજરાનવાલામાં આચાર્યની પદવી આપવા આજ્ઞા મોકલી. મીઆગામ પછી દશપુરા ખાતે પં૦ શ્રી લાભવિજયજી મહારાજને આચાર્યની પદવી અને એમના શિષ્ય પં૦ મુનિશ્રી પ્રેમવિજયજીને ઉપાધ્યાયની પદવી માટે આજ્ઞા આપી. સં૦ ૧૯૯૨ના ચોમાસા દરમિયાન વડોદરાના ઉપાશ્રયના ઉદ્ધાર માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી. શ્રી હીરવિજયજીની જયંતી પણ સારી રીતે ઊજવાઈ. પંડિત લાલનને સર્વધર્મપરિષદમાં જવા માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી. આ પ્રસંગે વડોદરામાં ઉપધાન થયાં. કાર્તિક વદિ ૧૩ના દિવસે માળનો વરઘોડો નીકળ્યો અને બીજે દિવસે માળ-પ્રદાન વિધિ થઈ.

વડોદરાથી વિહાર કરી લગભગ વીસ વર્ષના ગાળા બાદ આચાર્યશ્રી ખંભાત પધાર્યા. ખંભાતમાં સારો ઉત્સાહ હતો. ખંભાતના ભંડારોની વ્યવસ્થા તથા માંડવીની પોળના દહેરાસરના જીર્ણોદ્ધાર માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી, અને દીવાનશ્રી કે૦ કે૦ ઠાકોરના અધ્યક્ષપણા નીચે પૂ૦ આત્મારામજી જયંતી ઊજવી. સં૦ ૧૯૯૩નું ચોમાસું આચાર્યશ્રીએ ખંભાત ખાતે કર્યું. સં૦ ૧૯૯૩ના ભાદરવા શુદિ ૧ના દિવસે વડોદરા ખાતે વિદ્વાન મુનિરાજ શ્રી ચરણવિજયજી કાળધર્મ પામ્યા. આચાર્યશ્રીને આથી ભારે ખોટ પડી. ખંભાતના ચાતુર્માસમાં શ્રીઋષભદેવની માંડવીની પોળમાં પ્રતિષ્ઠા કરી.

ચોમાસા બાદ ખંભાતથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી સોજિત્રા, માતર વગેરે સ્થળે થઈ અમદાવાદ પધાર્યા અને ત્યાં પ્રવચન કરી શેરીસા, ભોયણી, શંખેશ્વરજી વગેરે તીર્થોની યાત્રા કરીને રાધનપુર પધાર્યા. રાધનપુરના સંઘે આચાર્યશ્રીનું સુંદર સ્વાગત કર્યું. આ પ્રસંગે શેઠ ઈશ્વરલાલ અમુલખરાય જૈન બોર્ડિંગનું ઉદ્‌ઘાટન થયું. રાધનપુરનો ઉત્સાહ આ વખતે અપૂર્વ હતો અને ગામોગામના જૈન આગેવાનો હાજર હતા. આચાર્યશ્રીના નેતૃત્વ નીચે અઠ્ઠાઈ મહોત્સવ, રથયાત્રા, શાંતિસ્નાત્ર, સાધર્મિક–વાત્સલ્ય વગેરે થયાં.

રાધનપુરનો ઉત્સવ પતાવી આચાર્યશ્રી પાટણ પધાર્યા. પાટણે એમનું ભવ્ય સ્વાગત કર્યું. પાટણમાં પોળે પોળે પ્રવચનો કરી પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી, મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી તથા મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીના કાર્યની અનુમોદના કરતાં જ્ઞાનમંદિર માટે ફંડની શરૂઆત કરાવી. પાટણની જનતાએ પૂર્ણ ઉલ્લાસથી સાથ આપ્યો. શ્રી હેમચંદભાઈ મોહનલાલે જ્ઞાનમંદિરનું ભવ્ય મકાન બંધાવી આપ્યું અને હેમ-સારસ્વતસત્ર ઊજવાયું.

પાટણથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ચારૂપ-મેત્રાણા થઈ પાલણપુર પધાર્યા અને ત્યાં ત્રણેક દિવસ રોકાયા. પાલણપુરના નવાબે આચાર્યશ્રીની મુલાકાત લીધી. ત્યાંથી કુંભારીઆજી તીર્થની યાત્રા કરી. અહીંથી માલણ, કુંભારીઆજી, ભારજા, શેરીડા, ધનારી, પીંડવાડા, નાણા, ચામુંડેરી, ભાહુન થઈ વિજાપુર, સેવાડી,

લુંણાવા, લાઠારાં, રાણકપુર, સાદડી, બાલી, ફાલના થઈ વરકાણાના વિદ્યાર્થીઓને આશીર્વાદ આપી બીજોવા થઈ આચાર્યશ્રી ઉમેદપુર ગયા. ત્યાં ફાગણ શુદિ દશમના રોજ અંજન-શલાકા કરી, વિહાર કરી તખતગઢ ગયા. ત્યાંથી વ્યાવર ખાતે મહાવીર જયંતીની ઊજવણી કરી ઝડપથી અજમેર, જયપુર, અલ્વર થઈ આચાર્યશ્રીએ દિલ્હીમાં આગમન કર્યું. દિલ્હીમાં શ્રી આત્માનંદ જયંતીનો ઉત્સવ થયો અને વિદ્વાન ત્રિપુટી મુનિશ્રી દર્શન-વિજયજી, મુનિશ્રી જ્ઞાનવિજયજી અને મુનિશ્રી ન્યાયવિજયજી સાથે ગાઢ સંપર્ક થયો. અહીંથી ઝડપભેર વિહાર શરૂ કર્યો. આચાર્યશ્રીએ ૧૯૯૪ના જેઠ વદિ સાતમ તા૦ ૨૦–૬–૧૯૩૮ના રોજ અંબાલા શહેરમાં પ્રવેશ કર્યો.

* * *

આચાર્યશ્રી તથા મુનિમંડળનું સ્વાગત એક માઈલ જેટલા લાંબા સરઘસમાં થયું. આ સમયે શેઠશ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈએ અંબાલા ખાતેની શ્રી આત્માનંદ જૈન કૉલેજની ઉદ્‌ઘાટનવિધિ કરી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે, “પંજાબની પુણ્ય-ભૂમિમાં ગુરુદેવના આ સ્મારકની હું વર્ષોથી ઝંખના કરું છું. પંજાબ જૈન ગુરુકુળ પછી જૈન સંસ્કૃત, જૈન તત્ત્વજ્ઞાન, જૈન ઇતિહાસ અને જૈન સાહિત્યના અભ્યાસીઓ તૈયાર કરવાની મંગળ ભાવના સિદ્ધ થયેલી જોઈ મારી ઊર્મિઓ હર્ષથી ઊછળે છે. પંજાબી ભાઈઓની ગુરુભક્તિ તો અનુપમ છે.” લાલા મંગતરામજીએ શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈને પંજાબના સંઘનું ‘માનપત્ર’ વાંચી સંભળાવ્યું. ત્રણ દિવસના ઉત્સવમાં અનેક સમારંભો થયા. હૉસ્ટેલનું તેમ જ લાયબ્રેરીનું ઉદ્‌ઘાટન થયું.

આચાર્યશ્રીની દીક્ષાને પચાસ વર્ષ પૂરાં થયેલાં હોવાથી દીક્ષાર્ધશતાબ્દી મહોત્સવ પંજાબમાં જાહેર તહેવાર તરીકે ઊજવાયો હતો. અમદાવાદમાં ઊજમબાઈની ધર્મશાળામાં જેઠ વદિમાં બુધવાર તા૦ ૨૬-૬-૧૯૩૮ના દિને, તેમ જ વડોદરામાં શ્રી વિજયલાભસૂરિજીના પ્રમુખપદે, મુંબઈમાં પન્યાસજી શ્રી પ્રીતિવિજયજીના પ્રમુખપદે ઊજવાયો હતો. અંબાલામાં પં૦ વૈજનાથજી, પં૦ હંસરાજ શાસ્ત્રી, શેઠ શ્રી સાકરચંદ મોતીલાલ તેમ જ બીજા અનેક આગેવાનોએ આચાર્યશ્રીના અનેક કાર્યોની પ્રશંસા કરી. આચાર્યશ્રીનું સં૦ ૧૯૯૪નું ચોમાસું અંબાલામાં પૂર્ણ થયું. એ સમય દરમ્યાન અનેક જયંતી–મહોત્સવો ઊજવાયા.

સં૦ ૧૯૯૫ના કારતક વદિ બીજના દિવસે અહીંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અંબાલા કેમ્પ ગયા. ત્યાંથી કારતક વદિ છઠના દિને સાઢૌરા નગરમાં પ્રવેશ કર્યો. મહા શુદિ સાતમ-આઠમના દિવસોમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું દશમું વાર્ષિક અધિવેશન જીરાનિવાસી વકીલ બાબુરામજી જૈનના અધ્યક્ષપણા નીચે થયું. એમાં પંજાબભરમાં રચનાત્મક કામો કરવા, સંગઠન સાધવા, શિક્ષણસંસ્થાઓના વિકાસ માટે તેમ જ જૈન ભાઈઓની ઉન્નતિ માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરક અને દીર્ઘજીવી પ્રવચનો કર્યાં.

આ પછી આચાર્યશ્રીએ બડૌતમાં પ્રતિષ્ઠા કરી. બાર-તેર વર્ષ પછી આચાર્યશ્રી અહીં પધારતા હોવાથી ઠેર ઠેર આનંદ-મંગળ વર્તાયાં. આ ઉત્સવ પ્રસંગે ઉત્તર પ્રદેશમાં જૈન ધર્મનો મહાન પ્રચાર થયો. બે હજાર જેટલા અગ્રવાલોને જૈન બનાવનાર મુનિ મહારાજ શ્રી દર્શનવિજયજી વગેરે પધાર્યાં હતા. શહેર બહાર આત્મવલ્લભનગરની રચના કરી. આ પ્રસંગે મુનિશ્રી ન્યાયવિજયજીએ “કષાયોની મુક્તિ” એ વિષય ઉપર તેમ જ બીજાઓએ પણ પ્રેરક પ્રવચનો કર્યાં.

બડૌતની પ્રતિષ્ઠા પતાવી આચાર્યશ્રી બિનૌલી, ખીવાઈ, સરધના, મેરઠ વગેરે જગાઓએ થઈ હસ્તિનાપુરની યાત્રા કરી, મુઝફ્ફરનગર, દેવબંધ, નાગલ, સહરાનપુર, સરસાવા આદિ થઈ ફરીથી અંબાલા

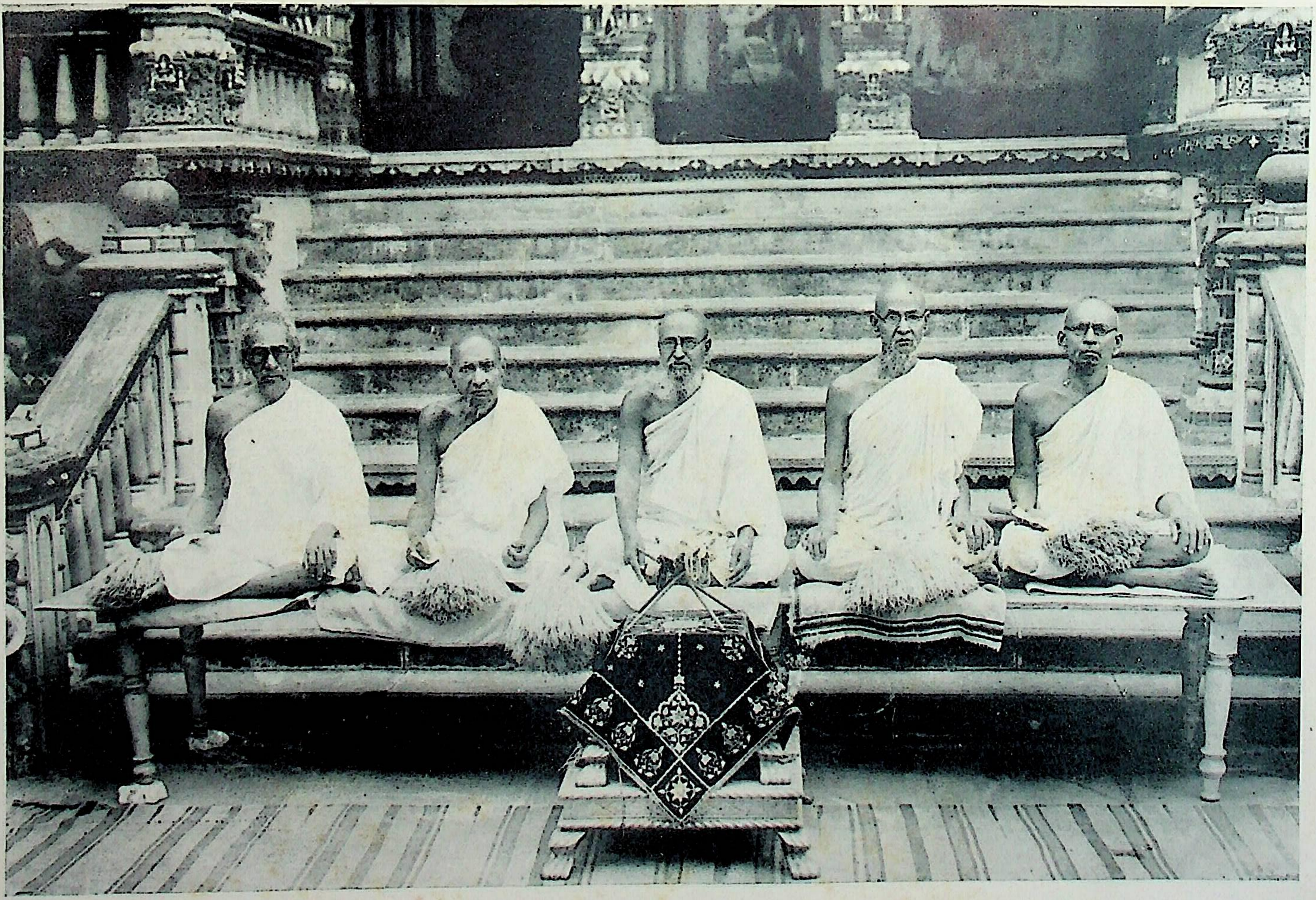

मुनि श्रीचतुरविजयजी, प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी, आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी, मुनि श्रीहंसविजयजी, पं. संपतविजयजी (पाटण सं. १९८५)

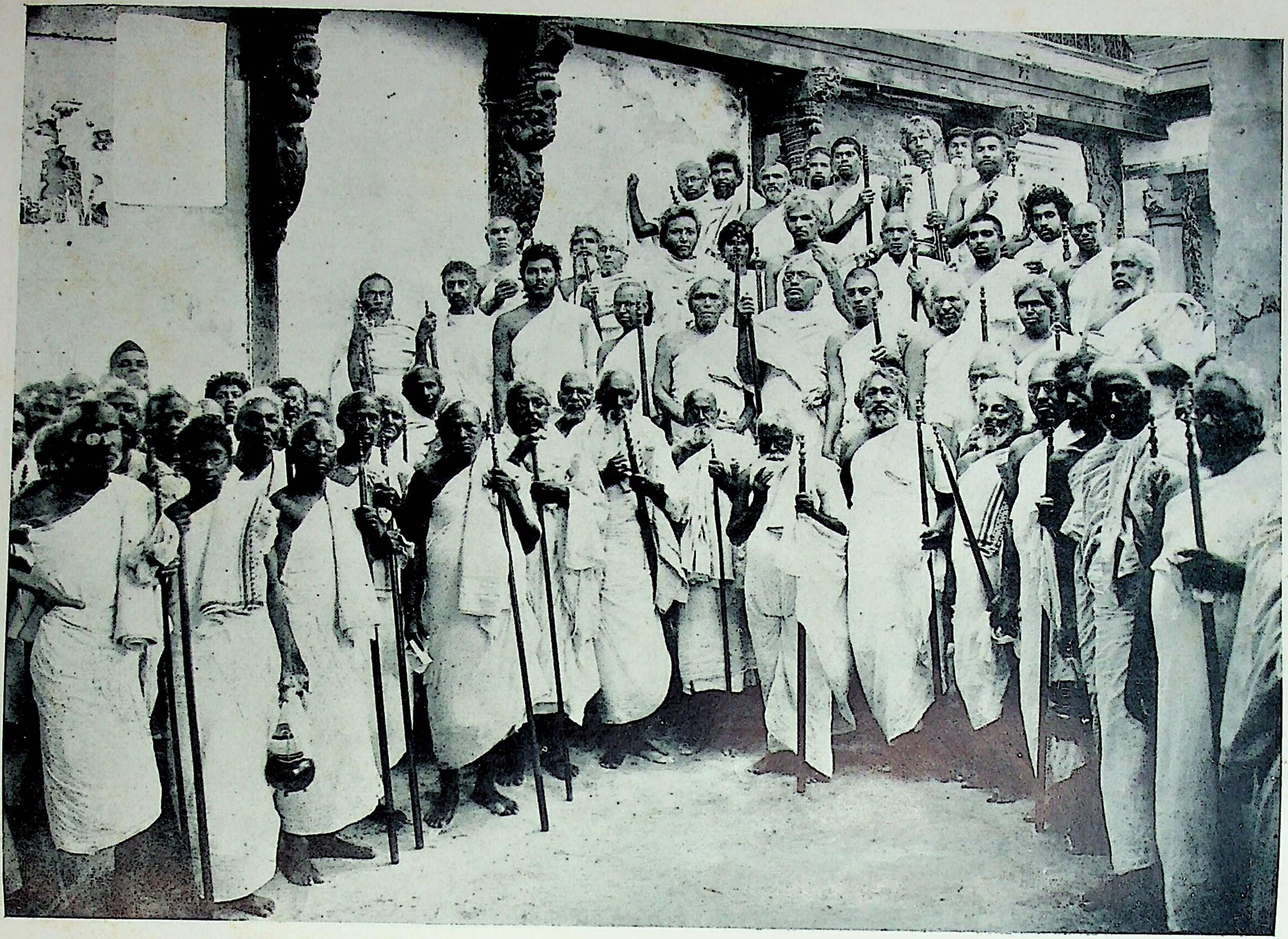

अमदावादमां मुनिसंमेलनमां एकत्रित थयेल मुनिसमुदाय (सं. १९९० इसवी सन १९३४)

પધાર્યા. ત્યાં શ્રી બુટેરાયજી મહારાજની સ્વર્ગવાસતિથિ તથા પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જન્મતિથિ ઊજવી રાજપુરા, પતિયાલા, સમાના થઈ સુનામ પધાર્યા. ત્યાંથી ચૌદ વર્ષે માલેરકોટલા પધારી કુસંપ દૂર કરાવ્યો અને શ્રી આત્માનંદ હાઈસ્કૂલ ફરી શરૂ કરાવી.

માલેરકોટલાથી રાયકોટ આવી ત્યાં આચાર્યશ્રીએ ધર્મપ્રેરણા આપી. સં૦ ૧૯૯૫નું ચાતુર્માસ રાયકોટમાં કર્યું. અહીં ૭ માસની સ્થિરતા દરમિયાન જિનમંદિરની પ્રેરણા આપી અને અનેક જયંતીઓ ઊજવી. વિદાયસંદેશો આપતાં આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, “ભગવાનનો સંદેશ જીવમાત્રને પહોંચાડવાનો અમારો ધર્મ અમે અદા કર્યો છે. તમને પ્રિય અને હિતકર લાગે તો ગ્રહણ કરી જીવનમાં જો તેનો અમલ કરશો તો તમારું જીવન સાર્થક થશે.” રાયકોટની જનતાએ આચાર્યશ્રીને અભિનંદન-પત્ર આપ્યું.

રાયકોટથી વિહાર કરી ગ્રામાનુગ્રામ વિચરતા આચાર્યશ્રી સનેત ગામ પધાર્યા. અહીં પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજીના શિષ્ય મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી કાળધર્મ પામ્યાનો તાર મળ્યો. આચાર્યશ્રીએ દિલસોજી વ્યક્ત કરતો વળતો તાર કર્યો. સં૦ ૧૯૯૫ના કારતક વદિ પાંચમના રોજ આચાર્યશ્રીએ લુધિયાણામાં પ્રવેશ કર્યો. અહીં સ્વામી શ્રી કૃષ્ણાનંદજીને દીક્ષા આપી મુનિશ્રી વિશ્વવિજયજી અને સ્વામી શ્રી શ્યામાનંદજીને દીક્ષા આપી મુનિશ્રી વૃદ્ધિવિજયજી નામાભિધાન કર્યું. ખાનગા ડોગરાનો કુસંપ આચાર્યશ્રીએ દૂર કરાવ્યો. લુધિયાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી વિવિધ ગામોમાં વિચરતા હોશિયારપુર પધાર્યા. અહીં નવદીક્ષિત સાધુઓની વડી દીક્ષા તથા શાંતિ-સ્નાત્રના ઉત્સવો થયા. અહીંથી લાલા નાનકચંદજી તરફથી કાંગડા તીર્થનો સંઘ નીકળ્યો. તીર્થના ઉદ્ધાર માટે ત્યાં સમિતિ રચાઈ. હોશિયારપુર પાછા આવી શ્રી મહાવીરજયંતી ઊજવી. જલંધરથી કર્તારપુર વિહાર કરી, ત્યાંથી જંડિયાલાગુરુ અને પછી અમૃતસર પધાર્યા. ત્યાંથી આચાર્યશ્રી લાહોર આવ્યા. સોળ વર્ષે પધારતા સમસ્ત સંઘે આચાર્યશ્રીનું અદ્‌ભુત સ્વાગત કર્યું. આ પછી આચાર્યશ્રી ગુજરાનવાલામાં પધારતા જનતાએ તેમને ઉમળકાભેર આવકાર આપ્યો. ગુરુદેવના સમાધિ-મંદિરના દર્શન કર્યા. જેઠ શુદિ આઠમના દિવસે ગુરુદેવ સ્વ૦ આચાર્યશ્રીજીની જયંતી ઊજવવામાં આવી. સં૦ ૧૯૯૬નું ચાતુર્માસ આચાર્યશ્રીએ ગુજરાનવાલામાં કર્યું અને સંઘમાં સારી તપશ્ચર્યા થઈ. ગુજરાનવાલામાં પ્રતાપજયંતી, જગદ્‌ગુરુશ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયંતી તેમ જ બીજી ઊજવણીઓ થઈ. આચાર્યશ્રીનો ૭૧મો જન્મમહોત્સવ સં૦ ૧૯૯૭ના કારતક શુદિ બીજના દિને અનેક ઠેકાણે ઊજવાયો. ગુજરાનવાલામાં ત્રણ દિવસનો કાર્યક્રમ થયો. વરકાણા, કરજણ, વગેરે ઠેકાણે પણ જયંતી ઊજવાઈ. શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું અધિવેશન પણ આ સમયે થયું.

* * *

ગુજરાનવાલાથી વિહાર કરી એક અઠવાડિયું જેલમ રોકાઈ સિંગોઈ, ખુર્દપુર, દારાપુર, જલાલપુર, પીંડનવાલ થઈ આચાર્યશ્રી હીરણપુર ગયા. ત્યાંથી ભેરા થઈ ખાનગા ડોગરા ગયા અને મહા વદિ છઠ્ઠના દિને શાંતિનાથ ભગવાનની પ્રતિષ્ઠા કરી. ત્યાંથી વિહાર કરી શિયાલકોટ પધાર્યા, જ્યાં આચાર્યશ્રીનું અપૂર્વ સ્વાગત થયું. અહીં મહાવીરજયંતી ઊજવી અને જૈનમંદિર માટે વીસ હજાર રૂપિયા જોતજોતામાં ભેગા થઈ ગયા.

શિયાલકોટથી વિહાર કરી સચેતગઢ, નયા શહેર, મીરાંસાહેબ થઈ આચાર્યશ્રી જમ્મુમાં પધાર્યા. ત્યાંના વ્યાખ્યાનમાં લોકોએ સારા પ્રમાણમાં હાજરી આપી હતી. ફરીદકોટના બે ભાઈઓનો કલેશ તેમણે શાંત કર્યો. જમ્મુએ અભિનંદન-પત્ર આપ્યું. ત્યાંથી આચાર્યશ્રી વિસના, હરિયાલ, નખનાલ, જફરવાળા, ધર્મથલ આદિ ગામોમાં થઈ ધર્મોપદેશ કરતા કરતા સંખતરા પધાર્યા. સંખતરામાં લાલા અમીચંદના બે પુત્રો લાલા દેવરાજ અને લાલા જ્ઞાનચંદ વચ્ચેનો કુસંપ ચમત્કારિક રીતે દૂર કરાવ્યો. સંખતરાથી વિહાર

કરી આચાર્યશ્રી જશપાલ, નાગલ થઈ નારોવાલ પધાર્યા. અહી આચાર્યશ્રીનું ભવ્ય સ્વાગત થયું. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. ત્યાંથી પસરૂર થઈ, વિવિધ ગામોને પ્રેરણા આપતા આચાર્યશ્રી ચાતુર્માસ માટે શિયાલકોટ પધાર્યા અને જ્ઞાનામૃતનો પ્રવાહ શરૂ કર્યો. સં૦ ૧૯૯૭ના ચાતુર્માસમાં કૃષ્ણજયંતી વિશે સનાતન ધર્મ-મંદિરમાં આચાર્યશ્રીએ પ્રવચન કર્યું. ભાદરવા શુદિ અગીઆરસના રોજ શ્રી હીરવિજયસૂરીશ્વરજીની જયંતી ઊજવાઈ.

આસો શુદિ બીજથી આચાર્યશ્રીએ જૈન રામાયણ વાંચવાનું શરૂ કર્યું. નવી દૃષ્ટિથી એની રજૂઆત કરી. કારતક શુદિ બીજના દિવસે આચાર્યશ્રીનો ૭૨મો જન્મદિન ઊજવાયો. સં૦ ૧૯૯૮ના કાર્તિક શુદિ પૂર્ણિમાના દિવસે શ્રીહેમચંદ્રાચાર્યની જયંતી ઊજવવામાં આવી. આચાર્યશ્રીની બોંતેરમી વર્ષગાંઠ પણ વરકાણા વગેરે સ્થળોએ ઊજવાઈ. સં૦ ૧૯૯૮ના માગશર શુદિ દશમના દિને શ્રી આત્મારામ જૈન મુક્તિ-મંદિરનું ખાતમૂહુર્ત કરવામાં આવ્યું. એની વિધિ રાયસાહેબ લાલા કર્મચંદજીના હસ્તે થઈ. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ કહ્યું: “ તમારા બધાના હૃદયમાં પરમાત્મા પ્રત્યેનો પ્રેમ ગુંજી ઊઠવો જોઈએ. જગતમાં વસ્તુ એક જ હોય પણ દૃષ્ટિભેદથી તે જુદી જુદી ભાસે છે. જગતના તમામ મનુષ્યો કોઈ ને કોઈ રીતે મૂર્તિપૂજામાં માને છે, પછી પ્રકારો ભલે જુદા જુદા હોય. તો પછી મોક્ષની પ્રાપ્તિ માટે મૂર્તિપૂજાના પ્રથમ પગથિયાની ઉપેક્ષા કેમ થઈ શકે ? ઉચ્ચ તત્ત્વની સહાયતા વિના જીવનનું પૂર્ણ દર્શન શક્ય નથી.”

* * *

શિયાલકોટથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ગુજરાનવાલા પધાર્યા. ત્યાં આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી ઘણાં હિંદુ-મુસલમાનોએ માંસાહારનો ત્યાગ કર્યો. મૌલવી અહમદીન આચાર્યશ્રીના ચુસ્ત ભક્ત બન્યા. સં૦ ૧૯૯૮ના મહા શુદિ પાંચમે ગુરુકુળનો વાર્ષિક ઉત્સવ ઊજવાયો. શુદિ છઠ્ઠના દિવસે પ્રતિષ્ઠા કરાવી. દાદુવંશીઓના કીર્તન-સંમેલનમાં આચાર્યશ્રીએ દાદુસાહેબના જીવન-પ્રસંગો કહી સાત વ્યસનોના ત્યાગ વિષે અસરકારક પ્રવચન કર્યું. ત્યાંથી વિહાર કરીને આચાર્યશ્રી લાહોર પધાર્યા. ત્યાંથી કસુર, ગંડાસંગવાલા થઈ ફિરોજપુર છાવણી પધાર્યા. ત્યાંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી જીરા પધાર્યા. જીરાનિવાસીઓએ અભિનંદનપત્ર આપ્યું. ગુરુદેવની જયંતી ઊજવી. જીરાની સુધરાઈએ આત્માનંદ જૈન ચોક અને આત્માનંદ જૈન સ્ટ્રીટ એવાં નામ આપ્યાં. જીરા સંઘે લહેરાગામમાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની યાદમાં કીર્તિસ્તંભ બનાવવાનો નિર્ણય કર્યો. જીરાથી વનખંડી ગયા. ત્યાં ચાર ભાઈઓ વચ્ચે સમાધાન કરાવી આચાર્યશ્રી મોગા થઈ રાયકોટ પધાર્યા. શ્રી મહાવીરજયંતીની ઊજવણી કરી. રાયકોટથી બસિયા થઈ જગરાંવા પધાર્યા. ત્યાં કલકત્તાથી બારસોતેરસો માઈલનો પંથ કાપી, અતિકઠિન વિહાર કરી, આચાર્યશ્રી વિજયવિદ્યાસૂરિજી અને મુનિશ્રી વિચારવિજયજીને મળ્યા. જગરાંવાના સ્વાગત સમયે બીજા સાધુઓએ પણ એમાં ભાગ લીધો હતો. જગરાંવાથી ચોકીમાન, મુલ્લાપુર, સુનેત થઈ આચાર્યશ્રી લુધિયાણા પધાર્યા. ત્યાં પ્રવચન કરી લાડુવાલ, ફલોર, પ્રતાપપુરા અને શ્રીશંકર થઈ, નકોદરમાં ગુરુદેવની જયંતી ઊજવી. ત્યાં વીસ દિવસની સ્થિરતા કરી આચાર્યશ્રીએ જેઠ શુદિ અગિયારસે પટ્ટીમાં પ્રવેશ કર્યો, જ્યાં આચાર્યશ્રીનું ભાવભીનું સ્વાગત કરીને અભિનંદન-પત્ર એનાયત કર્યું.

* * *

સં૦ ૧૯૯૮ના અષાઢ શુદિ દશમના દિને સાંજે સાત વાગે પૂજ્ય પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ પાટણ ખાતે કાળધર્મ પામ્યા. પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ આચાર્યશ્રીના પ્રેરક, રક્ષક અને મિત્ર હતા. બંને વચ્ચે ગુરુ-શિષ્યનો સંબંધ હતો. આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિનું તેઓ પ્રેરક સ્થાન હતા. આચાર્યશ્રીએ પ્રવર્તકને અંજલિ આપતાં કહ્યું, “મારા માટે તો એ વયોવૃદ્ધ, જ્ઞાનવૃદ્ધ અને સાચા

માર્ગદર્શક હતા. ગુરુદેવ પછી તેઓનો મારા પર એવો અપૂર્વ પ્રેમ હતો કે તેનું શબ્દોમાં વર્ણન કરી શકાય તેમ નથી. મારા જીવનમાં સુખદુઃખના, મુશ્કેલીના અને ઉપાધિના અનેક નાનામોટા પ્રસંગો બની ગયા પણ એ દરેક પ્રસંગે—પછી હું ગમે ત્યાં હોઉં—ગુજરાતમાં, મારવાડમાં, પંજાબમાં કે દક્ષિણમાં—પણ તેઓશ્રીની સલાહ હંમેશાં મળ્યા જ કરે. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપનામાં પણ પ્રવર્તકશ્રીનો અનન્ય હિસ્સો હતો. પાટણના જ્ઞાનભંડારો અને શાસ્ત્રગ્રંથોના ઉદ્ધાર માટે કાર્ય કરીને અને એની પ્રેરણા આપીને પ્રવર્તકશ્રીએ ભારતીય પ્રાચીન સાહિત્ય અને જૈન સમાજની અનન્ય સેવા કરી છે.” પટ્ટીમાં પર્યુષણપર્વ નિર્વિઘ્ને ઊજવાયું. ત્યારબાદ શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયંતી ઊજવાઈ. આ પ્રસંગે શ્રી હરિશ્ચંદ્રજીએ આચાર્યશ્રીને અંજલિ આપતાં કહ્યું કે, “આચાર્યશ્રીની અમૃતવાણી સાંભળતાં અંતરના ઊંડાણમાં અજવાળું લાધે છે અને આત્મા જાગ્રત બની જાય છે. ગુરુદેવના વ્યાખ્યાનો બધા માટે કલ્યાણકારી છે. તેમાં સર્વ ધર્મનો સમન્વય થાય છે. તેમાં આત્માની ઉચ્ચતા અને મનુષ્યધર્મનું સાર્થક્ય રહેલું છે. નિષ્પક્ષપાતપણે હૃદયંગમ થાય તે રીતે તેઓ આપણી સમક્ષ વસ્તુની રજૂ કરે છે.”

આચાર્યશ્રીની ૭૩મી જયંતી પટ્ટીમાં ધામધૂમપૂર્વક ઊજવાઈ. યુવાનવર્ગે ‘આત્મવલ્લભ જૈન સેવક મંડળ’ નામની સંસ્થા સ્થાપી. આ સંસ્થાએ આચાર્યશ્રીને અભિનંદનપત્ર આપ્યું. બાબુ ગૌરીશંકરજીએ પોતાના પરિવર્તનની કથા કહી આચાર્યશ્રીને અંજલિ આપી. પટ્ટીથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી કસુર પધાર્યા. ત્યાં પોષ શુદિ પૂનમના દિને શ્રીઆદીશ્વર પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા કરાવી. નવીન ભરાવેલા જિનબિંબોની અંજનશલાકા કરાવી. આચાર્યશ્રી કસુરથી લુધિયાણા થઈ જીરા પધાર્યા. જીરાના સંઘનો મતભેદ દૂર કરાવ્યો. સ્થળે સ્થળે વિહાર કરતા આચાર્યશ્રી રાયકોટ પધાર્યા. ચૈત્ર શુદિ તેરસ તા૦ ૧૮–૪–૧૯૪૩ના રોજ મહાવીરજયંતી ઊજવી. વૈશાખ શુદિ ત્રીજના દિને અંજન-શલાકાની વિધિ થઈ. શુદિ છઠ્ઠના દિવસે પ્રતિષ્ઠા થઈ.

આચાર્યશ્રીએ રાયકોટથી જેઠ શુદિ પૂનમે વિહાર કરી પીપલાવાલી, આદમપુર, નસરાલા, જાલંધર, કરતારપુર વગેરે સ્થળે વિહાર કરી જંડિયાલાગુરુ પધાર્યા. આ નગરે તેમનું સુંદર અને અદ્ભુત સામૈયું કર્યું. સં૦ ૧૯૫૦માં સ્વર્ગીય પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ સાથેના અહીંના ચાતુર્માસ બાદ ઓગણપચાસ વર્ષે આચાર્યશ્રીનું આ ચાતુર્માસ અહીં થયું. સં૦ ૧૯૯૯નું આચાર્યશ્રીનું ચાતુર્માસ ધાર્મિક કાર્યોથી ભરપૂર હતું. શ્રી વિજયાનંદ જૈન ગુરુમંદિરનો પાયો નાખવામાં આવ્યો.

આ પર્યુષણ પર્વ દરમિયાન બહાર ગામથી દોઢ હજાર માણસો જંડિયાલાગુરુ પધાર્યા હતા. બંગાળ અને મેવાડની આપત્તિ અંગે આચાર્યની પ્રેરણાથી રાહતફંડ શરૂ થયું. અમૃતસરથી સંઘ આચાર્યશ્રીને ક્ષમાપના કરવા આવ્યો. જંડિયાલાગુરુમાં આચાર્યશ્રીને વંદન કરવા તથા મારવાડ પધારવા માટે વિનતિ કરવા વરકાણા વિદ્યાલયના પ્રમુખ શ્રી મૂળચંદજી, મંત્રી શ્રી ન્યાલચંદભાઈ વગેરે ચાલીસ ગૃહસ્થોનું પ્રતિનિધિમંડળ આવ્યું અને ત્રણ દિવસ રોકાયું. આચાર્યશ્રીનો ૭૪મો જન્મદિન ત્રણ દિવસ સુધી ઊજવાયો. સં૦ ૨૦૦૦ના કાર્તિક શુદિ એકમનો વરઘોડો નીકળ્યો. બીજને દિવસે શિયાલકોટવાળા લાલા ગોપાળશાજી હકીમના પ્રમુખપદે જાહેર સભા થઈ. ત્રીજના દિવસે શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરીની સ્થાપના થઈ. રાતના કવિ-સંમેલન થયું. આ પ્રસંગે બહારગામથી ત્રણ હજાર ભાઈ-બહેનો આવ્યાં હતાં. અનેક જગાએથી તાર અને પત્રો આવ્યા હતા. મુંબઈ તથા અન્ય ગામોમાં પણ જાહેર સમારંભો થયા.

જંડિયાલાગુરુથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અમૃતસર પધાર્યા. ત્યાં એક મહિનો ચાર દિવસ સુધી સ્થિરતા કરી. શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરી ફરી શરૂ કરાવી. અમૃતસરના ગુજરાતીઓએ આચાર્યશ્રીને

અભિનંદન-પત્ર આપ્યું. વિહારમાં સુરતગઢ ખાતે પધાર્યા, ત્યાં આચાર્યશ્રીએ તેમના પ્રથમ શિષ્ય શ્રીવિવેકવિજયજીના બાવન વર્ષના દીક્ષા-પર્યાય પછી, વાલોદ ખાતે કાળધર્મ પામ્યાના સમાચાર સાંભળ્યા અને આચાર્યશ્રીએ દેવવંદન કર્યું.

પંજાબથી ઝડપી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી બાવીસ વર્ષ બાદ બિકાનેરમાં પધાર્યા. વરકાણાથી લાંબો વિહાર કરી આચાર્યશ્રી વિજયલલિતસૂરિજી પણ આચાર્યશ્રીની સેવામાં હાજર થયા. બિકાનેરમાં આચાર્યશ્રીનું સુંદર સ્વાગત થયું. એક માઈલ લાંબો વરઘોડો, હાથી, ડંકા-નિશાન અને લશ્કરી-બૅન્ડ, તેમ જ ભજનમંડળીના ભજનો વગેરેથી વાતાવરણ ઉમંગભર્યું બન્યું. સં૦ ૨૦૦૦ના ચૈત્ર વદિ બીજના ધન્ય દિવસે બિકાનેરની જનતાએ અપૂર્વ ઉત્સાહથી આચાર્યશ્રીનું સ્વાગત કર્યું. ખાસ મંડપમાં આચાર્યશ્રીને બે અભિનંદન-પત્રો અપાયાં અને આચાર્યશ્રીએ જ્ઞાનમહિમા વિશે દેશના સંભળાવી.

આચાર્યશ્રીએ બિકાનેરમાં આ દિવસો દરમિયાન શાસનમહિમા સમજાવ્યો. ચૈત્ર શુદિ તેરસના રોજ મહાવીરજયંતી, ચૈત્ર વદિ ત્રીજના રોજ સંક્રાંતિ-મહોત્સવ અને ચૈત્ર વદિ આઠમના રોજ બે દીક્ષાઓ, વૈશાખ શુદિ ત્રીજના રોજ વર્ષીય તપના પારણાં, વૈશાખ શુદિ છઠ્ઠના દિને કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, શ્રીહીરવિજયસૂરિજી તથા પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની વિશાળ પ્રતિમાઓની તપગચ્છ દાદાવાડીમાં પ્રતિષ્ઠા વગેરે કાર્યો કરવામાં આવ્યાં. બિકાનેરમાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી, આયંબિલ શાળાની વ્યવસ્થા કરાવી. ચાતુર્માસમાં શ્રી ભગવતીસૂત્રની વાચના થઈ. સં૦ ૨૦૦૦ના પર્યુષણની આરાધના પણ શ્રીસંઘમાં અનેક તપશ્ચર્યા સાથે સારી રીતે થઈ. ભાદરવા વદિ તેરસના રોજ વડોદરાનો ચારસો માણસોનો સંઘ શેઠ કેસરીમલજીના નેતૃત્વ નીચે આચાર્યશ્રીના દર્શને આવ્યો. આસો શુદિ ત્રીજના દિને વરકાણાથી શ્રીસંઘ ગોડવાડનું એકસો માણસોનું પ્રતિનિધિમંડળ આચાર્યશ્રીના દર્શનાર્થે આવ્યું.

* * *

સં૦ ૨૦૦૧ના કારતક શુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૭૫મી જન્મજયંતીની ઊજવણીની શરૂઆત ઘણા ઉત્સાહથી થઈ. આસો વદિ બીજી તેરસથી કાર્તિક શુદિ ત્રીજ સુધીનો ભવ્ય કાર્યક્રમ હતો. આ પ્રસંગે શ્રી રામપુરિયા જૈન ભવનના વિશાળ ચોકમાં એક ભવ્ય મંડપ રચવામાં આવ્યો હતો. પંજાબમાંથી ચારસો જેટલાં નરનારીઓ અને હિંદભરમાંથી ભક્તસમુદાય આ પ્રસંગે હાજર થયો હતો. આસો વદિ તેરસના રોજ શ્રી પંચપરમેષ્ઠિ પૂજા અને રાત્રે જાહેર વ્યાખ્યાનો થયાં. આસો વદિ ચૌદસના સંક્રાંતિ-મહોત્સવના દિને આચાર્યશ્રીએ સર્વવિઘ્નનાશક સ્તોત્રો સંભળાવ્યાં અને દીપાવલિ પર્વની આરાધના માટે સચોટ ઉપદેશ આપ્યો.

આસો વદિ અમાસના દિને એક કરુણ ઘટના બની. વિદ્વાન સાહિત્યકાર મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી પ્રભાતે સાત વાગે કાળધર્મ પામ્યા. તે દિવસે બધો કાર્યક્રમ બંધ રખાવ્યો. સાંજના શોકસભા થઈ. સં૦ ૨૦૦૧ના કાર્તિક શુદિ એકમને રોજ આચાર્યશ્રીએ વિશ્વવ્યાપી ધર્મ ઉપર મનનીય પ્રવચન કર્યું. રાત્રે શ્રી જવાહરલાલજી નાહટ્ટાના પ્રમુખપદે વૈદરાજ જશવંતરાજજી જૈન, પંડિત રાજકુમાજી, શ્રી દશરથ શર્મા વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં.

સં૦ ૨૦૦૧ના કાર્તિક શુદિ બીજના રોજ શેઠજી મંગલચંદ્રજીના પ્રમુખપદે જાહેર સમારંભ થયો. ગવૈયા પ્રાણસુખભાઈનું ગીત, જંડિયાલાગુરુના શિક્ષક શ્રી જયચંદભાઈનો આચાર્યશ્રીનો જીવનપરિચય, બહારગામથી આવેલા અનેક સંદેશાઓનું વાચન વગેરે થયું. આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીએ મહારાજશ્રીના શુભ દિને કોઈ સ્થાયી કાર્ય કરવાનો સંઘને ઉપદેશ દીધો. આચાર્યશ્રીએ જવાબમાં આભાર પ્રદર્શિત કરીને એકતાનો અનુરોધ કર્યો અને જણાવ્યું કે, "આજના તમારાં આનંદ, ઉલ્લાસ, ગુરુપ્રેમ,

શ્રદ્ધા, ભાવના અને આશીર્વાદ ત્યારે ફળે કે જ્યારે જૈનોમાં એકતા થાય. વર્ષોથી જે સાધુતાનો વેશ મેં પહેર્યો છે, સદ્‌ગુરુનો જે સંદેશ મેં ઝીલ્યો છે, સમાજનું જે અન્ન મેં ખાધું છે, જે ગુરુ-ભગવંતોનો હું સેવક છું, પંજાબની રક્ષાનું જે બીડું મેં ઝીલ્યું છે, જે શિક્ષણ-સંસ્થાઓની મેં પ્રેરણા આપી છે, જે સમાજના કલ્યાણની ભાવના મેં વર્ષોથી સેવેલી છે, જે ધર્મના ઉત્થાન માટે હું જીવી રહ્યો છું તે સર્વની સાર્થકતા ક્યારે થશે ? રચનાત્મક ઘન-સ્વરૂપમાં તે ક્યારે દેખા દેશે ?

“ સમય પલટાઈ રહ્યો છે; દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અસર વ્યાપક થઈ રહી છે; લડાઈની ભીષણતા, મોંઘવારી, બેકારી વગેરેથી સમાજના નૈતિક જીવન પર વ્યાપક અસર થઈ રહી છે; આવા સમયમાં જૈન સમાજનાં સંસ્થાઓ, મંદિરો, ઉપાશ્રયો, સાધુ-સાધ્વીઓ તેમ જ બીજાં ઉપયોગી અંગોની સંભાળ કોણ લેશે ? કરોડો કમાવાથી કે લાખો જમા કરવાથી જીવનની સાર્થકતા નથી થતી. જીવનમાં પારકા માટે; સમાજ, દેશ અને ધર્મ માટે શું કર્યું એ જ મહત્ત્વનું છે. આ જ વસ્તુ સાથે આવશે. આ મારી ભાવના છે : જગતના સર્વ જીવો સુખી થાવ. સર્વનું કલ્યાણ થાવ. પ્રત્યેકના જીવનમાં આ ભાવના પ્રદીપ્ત થાવ.”

આ પછી કેટલાક દિવસો બાદ શ્રી ગંગા થિયેટરમાં આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચન કર્યું. બિકાનેરનું ચાતુર્માસ અનેકને અનેક રીતે પ્રેરણાદાયી નીવડ્યું. સં૦ ૨૦૦૧ના કાર્તિક વદિ છઠ્ઠના દિને આચાર્યશ્રીએ પંજાબ તરફ વિહાર કર્યો. બિકાનેરથી પંચકોશી થઈ આચાર્યશ્રી મહા વદિ છઠ્ઠના દિને સુરતગઢ પધાર્યા. ત્યાર બાદ ફાઝલકામાં પ્રતિષ્ઠા કરાવી આચાર્યશ્રીએ જીરામાં સંક્રાંતિ ઊજવી. ત્યારબાદ અનેક સ્થળોએ વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી વૈશાખ વદિ ત્રીજના દિવસે લુધિયાણા પધાર્યા. ત્યાં ડૉ૦ મુકુન્દરાય પરીખે આચાર્યશ્રીનું વધરાવળનું ઑપરેશન કર્યું. સંક્રાંતિદિને આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, **“ સંસારનો ત્યાગ કરી, આ વેશ પહેરી, ભગવાન મહાવીરની જેમ અમારે અમારા જીવનની પળેપળનો હિસાબ આપવાનો છે. આત્મશાંતિ અને આત્મશુદ્ધિ તો મળતાં મળશે, પણ સમાજ, ધર્મ અને દેશના ઉદ્યોતમાં આ જીવનમાં જે કાંઈ ફાળો આપી શકાય તે આપવાનું કેમ ભૂલી શકાય ? આ શરીર તે માટે જ છે; તો છેવટની ઘડી સુધી તેનો ઉપયોગ કરી લેવો જોઈએ ને ! શરીર ક્ષણભંગુર હોવાથી એક દિવસ તે જવાનું જ. એટલે ત્યાં સુધી જેટલાં શાસન-કાર્યો થઈ જાય તેટલાં કરી લેવાં જોઈએ. જ્યાં સુધી આ નાડીમાં લોહી ફરે છે, હૃદયના ધબકારા ચાલે છે, ત્યાં સુધી એક સ્થળે બેસવાનો નથી. ગુરુદેવની અર્ધશતાબ્દી ઊજવી, શિયાલકોટના દહેરાસરની પ્રતિષ્ઠા કરાવી, શ્રી સિદ્ધાચલની યાત્રા કરવાની ભાવના રાખું છું. અને યાત્રા કરીને ગૂજરાતમાં નહિ, પણ મારા પ્રિય પંજાબની રક્ષા માટે પાછો પંજાબમાં આવી, શ્વાસોચ્છ્‌વાસ ચાલતા સુધી ગુરુદેવનો સંદેશ ગામેગામ, શહેરેશહેરે, મંદિરે મંદિરે, ઉપાશ્રયે ઉપાશ્રયે અને સંસ્થાએ સંસ્થાએ પહોંચાડવાની ભાવના છે.”**

ઑપરેશન કરાવીને આરામ લીધા વિના વિહાર શરૂ કરી આચાર્યશ્રી લુધિયાણા આવ્યા. અહીં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની સ્વર્ગ-સમારોહ જયંતી ઊજવી. આમાં આચાર્યશ્રી, આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિ, પં૦ શ્રી સમુદ્રવિજયજી, પંડિત શ્રી હંસરાજ વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં. લુધિયાણામાં સં૦ ૨૦૦૧નું ચાતુર્માસ કર્યું. આ પ્રસંગે શેઠ શ્રી પુરુષોત્તમ સુરચંદે શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળના મંદિર માટે રૂપિયા દશ હજાર આપ્યા. આ સમયે તળાજામાં મૂર્તિ-ખંડનના સમાચાર મળ્યા. આચાર્યશ્રીએ ૨૯–૮–૧૯૪૫ના રોજ તાર કર્યા. તા. ૩૦–૬–૧૯૪૧ના રોજ ભાવનગર નરેશ ઉપર પત્ર લખ્યો.

સં૦ ૨૦૦૧ના ભાદરવા શુદિ આઠમના દિને બાબુ જ્ઞાનચંદજીના પ્રમુખપદે શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું સોળમું અધિવેશન થયું. એમાં તળાજા તીર્થ અંગે, મુંબઈ રાજ્યના દીક્ષા-પ્રતિબંધક કાયદા અંગે, પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની અર્ધ-શતાબ્દી અંગે તેમ જ પંજાબના કલ્યાણ અંગે ઠરાવો થયા. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી વિદ્યાર્થી સહાયક ફંડ શરૂ કરવામાં આવ્યું. ભાદરવા શુદિ અગિયારસના દિને શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયંતી ઊજવવામાં આવી. આચાર્યશ્રીએ બાલી(મારવાડ)માં મળતા શ્રી જૈન યુવક સંમેલનને પ્રેરક સંદેશો મોકલી આપ્યો.

સં૦ ૨૦૦૨ના કાર્તિક શુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૭૬મી જન્મ-જયંતી ઠેર ઠેર ઊજવાઈ. આ પ્રસંગે ખાસ મંડપમાં જાહેર સભા, બપોરના પૂજા અને રાતના કવિ-સંમેલન થયાં. આચાર્યશ્રીએ આચાર્યશ્રી નેમિસૂરિજીની તબિયતની પૃચ્છા કરતો પત્ર લખાવ્યો.

સં૦ ૨૦૦૨ના માગશર વદિ બીજના રોજ લુધિયાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી રાયકોટ પધાર્યા અને પાંચછ દિવસની સ્થિરતા કરી. ત્યાંથી માલેરકોટલા આવી આચાર્યશ્રીએ અનેક અભિનંદન-પત્રો મેળાવ્યાં. આચાર્યશ્રીએ આ પ્રસંગે જણાવ્યું કે, “આ શહેરના આવા ભાવભર્યા સ્વાગત માટે કોને આનંદ ન થાય? તમારી આવી એકતા, સંગઠન, ઉદારતા માટે હું તમને અભિનંદન આપું છું. આ રીતે તમે તમારા શહેરની શોભા વધારી છે. હું તો વૃદ્ધ છું. પહેલા જેટલું સમાજ અને દેશના કલ્યાણનું કામ થતું નથી. વિહારો પણ હવે લાંબા થતા નથી. પણ સૌના કલ્યાણને માટે મારી ભાવના છે. મારા જેવા જૈન સાધુને અભિનંદન આપો તેનો શો અર્થ? હું તો સાધુ છું. મારો ધર્મ ફરજ અને કર્તવ્ય, મારી સાધુતા સમાજકલ્યાણ, દેશ-કલ્યાણ અને ધર્મપ્રચાર. પ્રાણીમાત્રના કલ્યાણની ભાવના અમારો ધર્મ સેવે છે. જે જીવનવ્રત મેં લીધું છે તે આજીવન પાળવાનો મારો ધર્મ હું કેમ ભૂલું?

“બીજી વાત એ છે કે આપણા દેશની આઝાદીમાં આપણા સૌનું કલ્યાણ છે. આઝાદીને માટે હિંદુ-મુસ્લિમ-શીખની એકતા જરૂરી છે. આ એકતા આપણે ગમે તે ભોગે પણ સાધવી પડશે જ. આપણા દેશમાં એકતા સ્થપાય તો વિશ્વશાંતિમાં આપણા દેશનું સ્થાન અનેરું બનશે તેની ખાતરી રાખશો. હિંદુ નથી ચોટલીવાળા જન્મતા, મુસલમાન નથી સુન્નતવાળા જન્મતા, શીખ નથી દાઢીવાળા જન્મતા. જન્મ લીધા પછી જેવા જેના સંસ્કાર અને જેવા જેના આચાર તેવો તેને રંગ ચઢે છે. આત્મા તો બધામાં એક જ છે. સર્વે મોક્ષના અધિકારી છે. સર્વ સરખા છે. આપણે બધા એક જ છીએ. આ દેશમાં હળીમળીને રહેવું જોઇએ. એકના દુઃખે દુઃખી અને એકના સુખે સુખી એમ જ રહી શકાય. ખુદાના બંદા થવું હોય તો તમામ પ્રાણીઓને આપણા જેવા ગણવા જોઇએ. **शिवमस्तु सर्वजगतः**”

અહીંથી તાજપુર પધારી સરદાર મહેરસિંહની શંકા-આશંકાઓ આચાર્યશ્રીએ દૂર કરી. ગઢદીવાલામાં આર્યસમાજના પંડિતો સાથે ચર્ચા કરી આચાર્યશ્રી ચૈત્ર શુદિ તેરસના દિવસે અમૃતસરમાં પધાર્યા અને સંક્રાંતિ તથા મહાવીરજયંતી ઊજવી. ત્યાંથી વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી શિયાલકોટ પધાર્યા. અહીંથી આચાર્યશ્રીએ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની અમદાવાદ શાખાના ઉદ્‌ઘાટન પ્રસંગે નીચેનો સંદેશો મોકલી આપ્યો: “શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની શાખાનું ઉદ્‌ઘાટન અમદાવાદ જેવી નગરીમાં થઈ રહ્યું છે તે અત્યંત આનંદની વાત છે. આજ સુધી વિદ્યાલયે જૈન સમાજમાં શિક્ષણ-પ્રચાર સંબંધી જે સેવા કરી છે અને હાલ કરી રહેલ છે તે કોઈનાથી અજાણ્યું નથી. હિંદુસ્તાનના શહેરે શહેરમાં અને વિદેશમાં પણ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની શાખાઓ સ્થાપિત થાય અને વ્યાવહારિક શિક્ષણની સાથોસાથ ઉચ્ચ ધાર્મિક શિક્ષણનો પ્રચાર થાય એ જ શુભ ભાવના છે. વિશેષ આનંદની વાત તો

એ છે કે અમારા નામરાશિ સરદારશ્રી વલ્લભભાઈ પટેલના શુભ હસ્તે આ શાખાનું ઉદ્‌ઘાટન થવાનું છે. આશા છે કે જેમ સરદાર પ્રજાવલ્લભ થઈ રહ્યા છે, તેવી જ રીતે આ સંસ્થા પણ પ્રજાવલ્લભ થશે જ થશે, અને દિન-પ્રતિદિન ઉન્નતિના પંથ પર ચાલશે એ જ મંગળ આશીર્વાદ.”

ગુજરાનવાલા પધારી જેઠ શુદિ આઠમના દિને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના નિર્વાણના દિનની ઊજવણી કરી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ રચનાત્મક કાર્યનો અનુરોધ કર્યો. ભારતના અનેક સ્થળોએ પૂ૦ આત્મારામજીની નિર્વાણ અર્ધશતાબ્દી ઊજવાઈ. અહીં આચાર્યશ્રીએ ગુરુકુળનું નિરીક્ષણ કર્યું અને પ્રગતિનો ખ્યાલ મેળવ્યો. આષાઢી સંક્રાંતિ ઉત્સાહપૂર્વક ઊજવાઈ અને ગુજરાનવાલા શ્રીસંઘની ચાતુર્માસ કરવાની વિનતિ સ્વીકારી. આચાર્યશ્રીએ પ્રતાપજયંતીની ઊજવણીમાં હાજરી આપી. મહારાણા પ્રતાપ અને ભામાશાની વાત કરી તેમણે અંજલિ અર્પી. આ ચોમાસામાં ધર્મારાધના સારી થઈ. પર્યુષણપર્વ બાદ શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયંતી ઊજવાઈ. કાર્તિક શુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૭૭મી વર્ષગાંઠ હિંદભરમાં ઊજવાઈ. આ દિવસે આચાર્યશ્રીએ સંદેશો આપતાં જણાવ્યું કે, “શિક્ષણસંસ્થાઓનું સંગઠન અત્યંત આવશ્યક છે. આજે જે આઝાદીની નોબતો વાગે છે તે માટે આપણે—જૈન સમાજે સાવધાન રહેવાનું ન ભૂલવું જોઈએ. કાલે હિંદુસ્તાન-પાકિસ્તાન ગમે તે થાય, પણ જૈનસંઘનું, જૈન સમાજનું અનુપમ સંગઠન થવું જોઈએ.” કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલસર્વજ્ઞ આચાર્ય શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યની જન્મજયંતી ઊજવાઈ, અને આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યો.

આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી શિયાલકોટમાં બે માળનું ભવ્ય એવું ચૌમુખજીનું મંદિર તૈયાર કરવામાં આવ્યું. આ મંદિર જમીનથી ૧૦૨ ફૂટ ઊંચું છે. આચાર્યશ્રી અહીં પધાર્યા અને વિ૦ સં૦ ૨૦૦૩ના માગશર શુદિ પાંચમે તા૦ ૨૯–૧૧–૧૯૪૬ના રોજ પ્રતિષ્ઠા કરાવી. બપોરે શહેરમાં રથયાત્રા નીકળી. સાતમના દિવસે લાલા મોતીલાલજીની પુત્રી પ્રકાશવંતીને દીક્ષા આપી. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મંત્રીશ્રી મોતીચંદ ગિરધરલાલ કાપડીઆ ઉપર આચાર્યશ્રીએ સં૦ ૨૦૦૩ના પોષ શુદિ ચોથના રોજ પપનાખાથી વિદ્યાલયની પ્રગતિ વિશે એક પત્ર લખ્યો. આ પત્રમાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે, “અમદાવાદના પ્રયત્નો સફળ થવા સાથે જ અમારી-તમારી પૂનાની ભાવના સફળ થઈ તે વિશેષ આનંદની વાત છે. અમારી તો પ્રથમથી જ જ્વલંત ભાવના રહી છે કે જ્યાં સુધી ‘જૈન વિદ્યાપીઠ’ની યોજના મૂર્તસ્વરૂપ નહિ લે ત્યાં સુધી આપણું ધ્યેય પૂરું સધાશે નહિ.

“કાઠિયાવાડ તથા મેવાડ-મારવાડમાં એક એક શાખા ખોલવાની જરૂર છે. પ્રયત્ન કરો તો બનારસમાં પણ એક શાખા થઈ શકે અને પછી તો મુંબઈના પરામાં એક કૉલેજ થઈ જાય તો જૈન સંશોધનને માટે ઘણું ઘણું થઈ શકે તેમ છે. આપણી કોમના સ્વરાજના ઘડતરમાં જૈન-સમાજને વિદ્વાનો, લેખકો, વિવેચકો, વક્તાઓ, સેવકો અને સંશોધકો જોઈશે, જે આવી વિદ્યાપીઠ સિવાય શક્ય નથી. જૈન સમાજ જેવી સમૃદ્ધ કોમ માટે પૈસાનો પ્રશ્ન તો ગૌણ છે. સાચા એકનિષ્ઠ ધગશવાળા કાર્યકર્તાઓ જોઇશે. આજે પણ ઘણા દાનવીરો છે. તેઓને જૈન સમાજના ઉત્થાન માટે અને જૈન શિક્ષણના વિકાસ માટે અનન્ય પ્રેમ છે. તમે નિર્ણય કરો તો ગુરુદેવની કૃપાથી સંજોગો મળી રહેશે. તમારી અનન્ય સેવાભક્તિ માટે ધન્યવાદ. તમારા જેવા દસ–વીસ નવલોહિયા સમાજ—દેશના ઘડવૈયાઓ તૈયાર કરવાની જવાબદારી ક્યારે સ્વીકારશે? તે દિશામાં પણ પ્રયત્ન કરવાની જરૂર છે.”

આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિ વધતી જતી હતી પણ રાજકારણ અને રાજકીય પ્રવાહો ખેદજનક હતાં. જૈન સંશોધન અંગે વિદ્વાનો મદદ માગતા હતા. લાહોરના મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર મિ૦ ફાગ્નીએ

તા૦ ૧૮-૧-૧૯૪૭ના રોજ કલ્પસૂત્રની પ્રત અંગે આચાર્યશ્રીને પત્ર લખ્યો અને તેમણે તેનો સાનુકૂળ જવાબ આપ્યો.

ઈ૦ સ૦ ૧૯૪૭ના દિવસો આવતા હતા. પંજાબમાં અનેક જાતની ભડક હતી અને વાતાવરણમાં ભયાનકતા હતી. તા૦ ૧૧-૩-૧૯૪૭ના દિવસે ચોવીસ કલાકના કર્ફ્યુનો અમલ થયો. ઉપાશ્રયના રક્ષણ માટે સંઘે પચીસ માણસોની દરરોજની વ્યવસ્થા કરી. અમૃતસર, લાહોર વગેરે શહેરોમાં તોફાનો શરૂ થયાં હતાં. લાઠીમાર અને ગોળીબાર દરરોજની વાત બની ગઈ. ૧૪૪મી કલમનો ભંગ અને ભયંકર રાજકીય અશાંતિ ચાલુ થઈ ગયાં હતાં. તા૦ ૨૦-૩-૧૯૪૭ના રોજ મહાવીર રાહત સમિતિના તારના જવાબમાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે, "હજુ ગુજરાનવાલામાં કશું તોફાન નથી. ૧૪૪મી કલમનો અમલ ચાલુ છે. પંજાબની અશાંત પરિસ્થિતિને લીધે પૂ૦ ગુરુમહારાજનો કાળધર્મ અર્ધ-શતાબ્દી મહોત્સવ મુલતવી રખાયો છે." ચૈત્ર શુદિ તેરસના દિને આચાર્યશ્રીએ મહાવીર-જયંતીની શાનદાર ઊજવણી કરી.

મામલો તંગ બનતો જતો હતો. જાનમાલની સલામતી નહોતી. કર્ફ્યુનો અમલ વ્યાપક કરાતો જતો હતો. તાર ઉપર તાર અને પત્રો ઉપર પત્રો આચાર્યશ્રીને મળતા હતા. બિકાનેરથી જૈનોની વ્યવસ્થા માટેનો પત્ર આવ્યો. ફાલનાથી આચાર્યશ્રી વિજયલલિતસૂરિજીનો તાર આવ્યો. તા૦ ૬-૫-૧૯૪૭ના દિવસે રાતના દશ વાગે શ્રી આત્માનંદ જૈનગુરુકુળના દરવાજાને આગ લગાડવાનો હીચકારો નિષ્ફળ પ્રયાસ થયો.

તા૦ ૨૭-૫-૧૯૪૭ના રોજ બાબુ જ્ઞાનચંદજી દુગડના અધ્યક્ષપદે શ્રી આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવાઈ. ઉપાશ્રયમાં વિવિધ પ્રવચનો થયાં. ભારતીય જૈન સ્વયંસેવક પરિષદના બીજા અધિવેશન પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ સંદેશો પાઠવ્યો.

તોફાનો વધતાં જતાં હતાં. ૪૮-૭૨ કલાકના કર્ફ્યુનો અમલ થયો. ગુરુદેવના સમાધિમંદિરને આગ લગાડવામાં આવી. ત્રણ દરવાજા અને બે બારીઓ બળી ગઈ છતાં પણ પ્રતિમા અને ગુરુદેવની પાદુકા બચી ગયાં. નાનકપુરામાં મોટું તોફાન થયું પણ આચાર્યશ્રી મક્કમ હતા. કોઈ જાતનો દેહનો ડર એમણે રાખ્યો નહિ. તા૦ ૯-૭-૧૯૪૭ના રોજ ઉપાશ્રય પર ત્રણ બૉમ્બ નખાયા. એક બૉમ્બ તો પં૦ શ્રી સમુદ્રવિજયજીની નજીક જ પડયો, પણ શાસનદેવની કૃપાથી કોઈને નુકસાન પહોંચ્યું નહિ. બધા જ બચી ગયા. આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળની પ્રતિમાઓ બિકાનેર મોકલાવી. તા૦ ૨૪-૭-૧૯૪૭ના રોજ પરિસ્થિતિ વધુ બગડી. હિંદુઓ ખાસ કરીને ગુજરાનવાલામાં રહ્યા હતા. પાલણપુરથી આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીના તેમ જ અન્ય ઠેકાણેથી આચાર્યશ્રીની પૃચ્છા કરતા પત્રો તેમ જ તારો આવતા હતા. આચાર્યશ્રીએ તા૦ ૭-૮-૧૯૪૭ના રોજ પત્ર લખ્યો. તેમાં તેઓશ્રીએ જણાવ્યું: "લોકો તેમ જ તમારા પત્રથી ભક્તિ અને ધર્મ પ્રત્યેની લાગણીનો ખ્યાલ આવે છે. પણ એક વાત વિચારવા જેવી છે. કોઈ પણ શાહુકાર પોતાની જૂની દુકાન, ઈજ્જત અને આબરૂનો સવાલ વિચારે તો એ પોતાના જીવન પર ડાઘ પસંદ નહિ કરે. બે-આબરૂ થવું તેના કરતાં મોત પસંદ કરે. થોડી જિંદગીની ખાતર આખી જિંદગીની કમાઈ છોડી દેવાય—એ વસ્તુ વ્યાજબી નથી. 'જ્ઞાનીએ જે દીઠું હશે તે થશે' એવા જ્ઞાની મહારાજના વચન ઉપર શ્રદ્ધા રાખીએ છીએ. શ્રીશાસનદેવ તથા સદ્‌ગુરુની કૃપાથી આજ સુધી ચારે બાજુની આગ છતાં બચાવ થતો રહ્યો છે. આથી કોઈ પ્રકારની ફિકર કર્યા વિના ભગવાન પર શ્રદ્ધા રાખી કર્મમાં જે ભોગવવાનું હશે તે ભોગવીશું. જ્ઞાની મહારાજના નિશ્ચય અને વ્યવહારના વચનોપર ખ્યાલ રાખીશું: 'જ્ઞાનીએ જે દીઠું હશે તે થશે.'"

પંદરમી ઑગષ્ટે હિંદ-પાકિસ્તાન જુદાં થયાં. ભારતે સ્વતંત્રતા મેળવી. પરંતુ પંજાબમાં કત્લેઆમ હતી. પ્રજા ગાંડી બની હતી. જનતા આઝાદી પચાવી શકે એમ ન હતું. પંજાબમાં ઠેર ઠેર હત્યાકાંડો રચાયા. ઘર, ધન, બધું મૂકી પ્રજાએ સ્થળાંતર કર્યું. અહિંસા દ્વારા મેળવેલી આઝાદીને કલંક લગાડવા માટે હિંસાનું વ્યાપક સ્વરૂપ દેખાતું હતું. રાષ્ટ્રપિતાના દિલમાં ભારોભાર વ્યથા હતી. નેતાઓને કાંઈ સૂઝ પડતી ન હતી. આઝાદીએ માનવીની માનવતાનો ભોગ લીધો હતો.

આચાર્યશ્રીની પંજાબની ભૂમિ રહેંસાઈ રહી હતી. કરેલાં નિર્માણોનો આંખ સામે વિનાશ થતો દેખાતો હતો. માનવી અસહાય હતો, માનવતા વિસરાઈ ગઈ હતી. ધરતી પુકાર કરતી હતી અને રાષ્ટ્રજીવનની નવી તવારીખ રચાતી હતી. ૫૫નાખાના પચીસ જેટલા શ્રાવકો મૂર્તિઓ ભોંયરામાં પધરાવી આચાર્યશ્રી પાસે આવી ગયા.

દેશદેશાવરના ભક્તજનોની વિનંતિ ધ્યાનમાં લઇને આચાર્યશ્રીએ સ્થાનાંતર કરવાનું નક્કી કર્યું. ઉપાશ્રયથી બહાર નીકળીને આચાર્યશ્રી ગુરુદેવના સમાધિ-મંદિરે દર્શન કરવા ગયા. ત્યાં બધા ફોટાઓ તોડીફોડી નાખ્યા હતા. મંદિરમાં શ્રી વાસુપૂજ્યસ્વામીની મૂર્તિનું મસ્તક ખંડન કરી નાખ્યું હતું. આંખોમાં આંસુ, હૃદયમાં ગ્લાનિ અને અનેક યાતના સાથે આચાર્યશ્રી ગુરુકુળ પહોંચ્યા. આગળ હજારો ગુંડાઓ લૂંટવા માટે ખડા છે એ સમાચાર જાણી લોકો ગભરાઈ ગયા. અચાનક જ ગુરુદ્વારાપુરથી મિલિટરીની લૉરીઓ આવી પહોંચી. મિલિટરી સાથે લાહોર સુધી જવાનો નિર્ણય લેવાયો. ચારપાંચ માઈલ દૂર ઝાડીઓમાં સંતાયેલા સશસ્ત્ર ગુંડાઓ મિલિટરી જોઈ ભાગી ગયા. આઠ સાધુ, ચૌદ સાધ્વીઓ તથા સો-સવાસો જેટલા માણસો તા૦ ૨૮–૯–૧૯૪૭ના દિને અમૃતસર સુખરૂપ પહોંચી શક્યા.

આચાર્યશ્રી અમૃતસર સુખરૂપ પહોંચ્યાથી આનંદમંગળ પ્રવર્ત્યા. સં૦ ૨૦૦૪ના કાર્તિક શુદિ બીજના રોજ આચાર્યશ્રીની ૭૮મી વર્ષગાંઠ હર્ષોલ્લાસપૂર્વક ઊજવાઈ. મહા શુદિ પાંચમના રોજ આચાર્યશ્રીએ રાષ્ટ્રવંદનીય રાષ્ટ્રપિતા ગાંધીજીના ગોળીથી ઠાર થયાના સમાચાર સાંભળી દુઃખની લાગણી વ્યક્ત કરી. અહીંથી વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રીએ અનેક ગામોને પવિત્ર કર્યાં અને તા૦ ૧૪–૪–૧૯૪૮ના રોજ બિકાનેર પધાર્યા.

બિકાનેરમાં અનેક ધર્મારાધના થઈ. સંવત્સરીની ચર્ચામાં આચાર્યશ્રીએ સ્પષ્ટ માર્ગદર્શન આપ્યું. તા૦ ૧૪–૬–૧૯૪૮ના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી શાનદાર રીતે ઊજવી. બિકાનેરના મંદિરોની વ્યવસ્થા માટે સંઘની પેઢી સ્થાપવાની પ્રેરણા આચાર્યશ્રીએ આપી. પર્યુષણ પર્વની સુંદર રીતે ઊજવણી થઈ. આચાર્યશ્રીના ઉપદેશથી પંજાબ સંઘે પાલીતાણાના શ્રી આત્માનંદ જૈન ભવન માટે એક લાખ રૂપિયાનો પ્રબંધ કર્યો. મુનિશ્રી મેઘવિજયજીના કાળધર્મના સમાચાર સાંભળી આચાર્યશ્રીએ અંજલિ આપી. સં૦ ૨૦૦૫ના કાર્તિક શુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૭૯મી વર્ષગાંઠ ઊજવાઈ. કાર્તિક શુદિ ચૌદશના રોજ મહિલા ઉદ્યોગશાળાની સ્થાપના કરવાનો બિકાનેરમાં નિર્ણય લેવાયો.

શ્રી મોતીચંદ ગિરધરલાલ કાપડીઆ સન્માન સમિતિને સંદેશો પાઠવતા આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું: “શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મંત્રી તરીકેની અખંડ સેવા અંગે સન્માન કરવાનો જે નિર્ણય કર્યો છે તે યોગ્ય છે. શ્રી મોતીચંદે અનેક વિપત્તિઓ સહન કરીને વિદ્યાલય તેમ જ સમાજની જે સેવા કરી છે તે સમાજ માટે નહિ પણ પોતાના આત્માના ઉદ્ધાર માટે કરી છે. એમ છતાં એમના જેવા યોગ્ય માનવીનું સન્માન કરવું એ આપણી શોભા છે અને અન્ય સેવાભાવી વ્યક્તિઓને સેવા માટેનું આમંત્રણ છે...... સાચી વાત એ છે કે માન-સન્માન આપવું એ એક વ્યવહારુ રૂઢિ છે અને આવી રૂઢિ હોવી પણ

જોઈએ. પરંતુ સત્ય રીતે વિચારીએ તો જે સન્માન કરે છે તે એક રીતે પોતાનો ઉદ્ધાર કરે છે. આથી ધાર્મિક કાર્યોમાં જેટલી પ્રશંસા કરવામાં આવે તેટલી ઓછી છે.”

ફાગણ શુદિ પાંચમના દિવસે આચાર્યશ્રીએ આંખનો મોતિયો ઉતરાવ્યો. આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજી ભાવનગરથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રીને મળ્યા. પાટણથી શેઠ કેશવલાલે આચાર્યશ્રીને રૂપિયા એક હજાર ધર્મિકોની સેવા માટે ધર્યા. જેઠ શુદિ આઠમના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી. સાદડીમાં આચાર્યશ્રીએ ભગવતીસૂત્રની વાચના શરૂ કરી. સાથે સાથે નળ–દમયંતી ચરિત્ર પણ તેઓશ્રીએ વાંચ્યું. સં૦ ૨૦૦૫નું ચાતુર્માસ આચાર્યશ્રીએ સાદડીમાં કર્યું. કન્યાવિક્રય તેમ જ વરવિક્રય બંધ કરવા અંગે આચાર્યશ્રીએ સંગીન કાર્ય કર્યું. પર્યુષણ દરમિયાન સારી તપશ્ચર્યા થઈ. ધર્મમાં હસ્તક્ષેપ અંગે સરકારનું ધ્યાન ખેંચતા પત્રો પં૦ જવાહરલાલ નેહરુ અને સરદાર વલ્લભભાઈ પટેલ ઉપર લખ્યા.

શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈને મુંબઈમાં સન્માન આપવાનો જે સમારંભ તા૦ ૨૮મીએ થવાનો હતો તે અંગે નીચેનો પત્ર તા૦ ૨૪–૯–૧૯૪૯ના રોજ પાઠવ્યો: “આવા સમારંભમાં અવશ્ય કોઈ સમાજ-સુધારાનું નક્કર કામ થવું જોઈએ. આપની જાણમાં છે કે શ્રી જૈન સંઘની કેટલી અવ્યવસ્થા થઈ રહી છે, સંઘસત્તાનો દુરુપયોગ થઈ સંઘસત્તા જેવી કોઈ ચીજ રહેવા પામી નથી. આપ સમજો છો કે કોઈ પણ સત્તા અધિકારી વિના ચાલતી નથી અને શોભતી પણ નથી. આપ સમજુઓને વધારે સમજાવવાની જરૂર રહેતી નથી. આ સમયે અમને મરહૂમ શેઠ મનસુખભાઈ ભગુભાઈ અને શેઠ લાલભાઈ દલપતભાઈ યાદ આવે છે. એઓ કેવી કુનેહભરી વાતથી સર્વ કોઈનું મન રાજી કરી શકતા હતા. અમદાવાદમાં શેઠ આણંદજી કલ્યાણજીની સામાન્ય સભામાં કંઈક ગરબડ મચી હતી. પણ બંને ભાગ્યશાળીઓએ કેવી બુદ્ધિથી એ ગરબડને શાંત કરી દીધી તે આપનામાંથી ઘણા સજ્જનો જાણતા હશે!... શેઠશ્રી કસ્તુરભાઈએ પોતાનું નામ ગુણસંપન્ન બનાવી સર્વને પોતાની કસ્તુરીની વાસનાથી વાસિત કર્યા છે. અમે ઇચ્છીએ છીએ કે પૂર્વોક્ત બંને ભાગ્યવાનોએ કરેલા સંકેતને ધ્યાનમાં લઈને તેઓનું નિર્ધારિત કામ પૂરું કરી સુયશના ભાગી બને એવી અમારી અંતઃકરણની આશા છે.”

સં૦ ૨૦૦૬ની શરૂઆતમાં આચાર્યશ્રી વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ મહુવા મુકામે કાળધર્મ પામ્યા. આચાર્યશ્રી અને તેઓશ્રીના મિલનો ઠેર ઠેર થયેલાં. બંને વચ્ચે સમભાવની લાગણી જન્મી હતી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ સંવેદના પ્રકટ કરી.

આચાર્યશ્રીની ૮૦મી જન્મજયંતી સાદડીમાં સુંદર રીતે થઈ. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ પંજાબના ઉદ્ધારનો અનુરોધ કર્યો. સાદડીમાં સ્થિરતા કરી અને ત્યારબાદ વિજાપુર પધારી ત્યાં અંજન-શલાકા કરાવી. સાદડીના સંઘે આચાર્યશ્રીને શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સના અધિવેશનમાં હાજરી આપવા સવિનય અનુરોધ કર્યો. બિજોવામાં મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીએ જેસલમેરના જ્ઞાનભંડારનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ આપ્યો. વરકાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ફાલના પધાર્યા. અહીંના સંઘમાં આચાર્યશ્રીએ સંપ કરાવ્યો. આચાર્યશ્રીની સંનિધિમાં આચાર્ય શ્રીલલિતસૂરિજી સં૦ ૨૦૦૬ના મહા શુદિ નોમના રોજ કાળધર્મ પામ્યા. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, શ્રી વરકાણા જૈન વિદ્યાલય તેમ જ મારવાડની અનેક સંસ્થાઓના ઉત્કર્ષમાં અને સામાજિક સુધારણાઓમાં સ્વ૦ આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીનો અનન્ય સાથ આચાર્યશ્રીને મળ્યો હતો. આચાર્યશ્રીએ શાંત સમભાવે આ વિયોગ સહન કર્યો અને જણાવ્યું: “કાળની ગતિ વિચિત્ર

છે. એ સૌને પોતાના ગ્રાસ બનાવી લે છે. એક દિવસ આપણે પણ એ જ રસ્તે જવાનું છે. માટે બધા વિખવાદો મિટાવી સમ્યક્ જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્ર આદિ આત્માના કલ્યાણના સાધનોમાં તત્પર રહેવું એ જ શ્રેયસ્કારી છે. મરવાથી ડરવું નહિ. મરવા ઇચ્છવું નહિ પણ એના માટે તૈયાર રહેવું.”

ફાલનામાં ભરાયેલા શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સના અધિવેશનમાં આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણાત્મક સંદેશો આપ્યો. ઐક્ય અંગેનો ઠરાવ પસાર થયો અને રાજસ્થાન જૈન સમિતિની સ્થાપના થઈ. ફાલનાથી નાનાવિધ ગામોમાં વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી ચૈત્ર શુદિ છઠ્ઠના દિવસે પાલણપુર પધાર્યા. પાલણપુરે સુંદર સામૈયું કર્યું. આચાર્યશ્રીએ મહાવીરજયંતી ઊજવી અને કેટલીક વડી દીક્ષાઓ આપી. આ વખતનું ચાતુર્માસ આચાર્યશ્રીએ અહીં કર્યું. આસો વદિ નોમના દિને ડૉ૰ હીરાલાલ પટેલે આચાર્યશ્રીની આંખનું ઑપરેશન કર્યું. કાર્તિક શુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૮૧મી જન્મજયંતી ધામધૂમ ઊજવાઈ. આ સમય દરમિયાન આચાર્યશ્રીની તબિયત અસ્વસ્થ રહી હતી. આનું કારણ આંખની વ્યાધિ હતું. આંખની આ વ્યાધિ અનેક ઉપાયો કર્યા છતાં કાયમ રહી.

પાલણપુરથી આચાર્યશ્રીએ વિહાર કરી પાટણમાં પ્રવેશ કર્યો. ખૂબ સુંદર સામૈયું થયું. અહીં આચાર્યશ્રીએ ‘ આપણું કર્તવ્ય ’ એ વિષય ઉપર ચિંતનીય જાહેર પ્રવચન કરી જૈન-જૈનેતર ભાઈઓને લાભ આપ્યો. અહીંથી વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી શંખેશ્વર પધાર્યા. આચાર્યશ્રીને અહીં પૂ૰ આચાર્યશ્રી વિજયદર્શનસૂરિજી, પૂ૰ આચાર્યશ્રી વિજયોદયસૂરિજી, પૂ૰ આચાર્યશ્રી નંદનસૂરિજી વગેરે મળ્યા. આચાર્યશ્રી તથા અન્ય મુનિપુંગવોએ અંદરોઅંદર વિચારવિનિમય કર્યો. આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચનમાં કહ્યું : “ શ્રી બુટેરાયજી મહારાજશ્રીના સુપ્રસિદ્ધ શિષ્ય શ્રીમદ્ મુક્તિવિજયજી (મૂળચંદજી), ગણિવર શાંતમૂર્તિ શ્રી વૃદ્ધિવિજયજી અને શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરિજી ત્રણે પ્રતાપશાળી અને પંજાબી હતા. શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ પણ પંજાબના હતા. આ ત્રણેય મહાપુરુષોનો પરિવાર વર્તમાનમાં છે. ” પૂ૰ આચાર્યશ્રી વિજયાનંદસૂરિજીએ આચાર્યશ્રીના પંજાબના કાર્યની પ્રશંસા કરી.

અહીંથી વિહાર કરીને સૌરાષ્ટ્રમાં ધ્રાંગધ્રા, બોટાદ વગેરે સ્થળોએ થઈ સોનગઢ પહોંચ્યા. ત્યાંથી ચૈત્ર શુદિ દશમના રોજ પાલિતાણા પધારી ગુરુકુળમાં બે દિવસની સ્થિરતા કરી. તા૰ ૨૨-૮-૧૯૫૧ના રોજ આચાર્યશ્રીએ તીર્થ ઉપર પૂ૰ આત્મારામજી મહારાજની ધાતુની પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠા કરી. મુનિશ્રી નંદનવિજયજીને આચાર્યશ્રીએ વડી દીક્ષા આપી.

વૈશાખ વદિ સાતમ-આઠમના રોજ જૂનાગઢ મુકામે ભરાયેલા શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર કૉન્ફરન્સના અઢારમા અધિવેશનમાં આચાર્યશ્રીએ મોકલેલા સંદેશામાં જણાવ્યું હતું કે : “ જૈન સમાજ અને ધર્મના રચનાત્મક કાર્યોમાં કાર્યકરો મગ્ન રહે અને નાની નાની વાતો ભૂલી જાય. શાસનોન્નતિના કાર્યો કરે, શિક્ષણ અને સાહિત્યનો પ્રચાર કરે. જે જે ક્ષેત્ર નબળું પડતું લાગે તે તે ક્ષેત્રનું પોષણ કરે અને પોતાની ફરજ બજાવે. સ્વામીવાત્સલ્ય કેવળ જમવામાં સમાઈ જતું નથી. સ્વધર્મી ભાઈઓને પગભર કરવા એ પણ સાચું સ્વામીવાત્સલ્ય છે. આ વાત પર બધાંએ ધ્યાન આપવું જોઈએ. ”

પાલીતાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રીએ તળાજામાં પ્રવેશ કર્યો અને ત્યાં ‘ અનેકાંતવાદ ’ પર પ્રવચન કર્યું. પાલીતાણા પાછા ફરી આચાર્યશ્રીએ ત્રણ દિવસ સુધી પૂ૰ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. આ દિવસોમાં સૌરાષ્ટ્રના વડા પ્રધાન શ્રી ઉછરંગરાય ઢેબરે આચાર્યશ્રીની મુલાકાત લીધી. આચાર્યશ્રીએ “ શિવમસ્તુ સર્વજગતઃ ”નો શ્લોક સમજાવ્યો. શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈએ સરકારી કાયદાઓ વિશે બે દિવસ આચાર્યશ્રી સાથે વાતચીત કરી. સં૰ ૨૦૦૭માં પાલીતાણામાં મુનિ-પુંગવોનું સંમેલન મળ્યું. આ

સંમેલનને ધર્મમાં અવરોધ કરતી રાજસત્તાનો અને મુંબઈ પબ્લિક ટ્રસ્ટ ઍક્ટનો વિરોધ કરતા ઠરાવો પસાર કર્યા. વહીવટો વ્યવસ્થિત કરવા માટે સામાન્ય યોજનાની રૂપરેખા તૈયાર કરી. આ સંમેલનમાં એકતાની સામાન્ય ભૂમિકા રચાઈ પણ દુર્ભાગ્યે કશું સંગીન કામ ન થઇ શકયું.

સં૦ ૨૦૦૮ના કાર્તિક શુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૮૨મી જન્મજયંતી ઊજવાઈ. સ્વ૦ મુનિશ્રી ચારિત્રવિજયજી મહારાજની જન્મ-જયંતી આચાર્યશ્રીની અધ્યક્ષતા નીચે ઊજવાઈ. ત્યાંથી આચાર્યશ્રીએ ભાવનગર આવી શ્રી આત્મ-કાન્તિ જ્ઞાનમંદિરની ઉદ્‌ઘાટન વિધિ કરી. આચાર્યશ્રીએ "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"ની વ્યાખ્યા કરી જ્ઞાનનો મહિમા સમજાવ્યો. ટાઉન-હૉલમાં આચાર્યશ્રીએ "સેવાનો માર્ગ" એ વિષય ઉપર જાહેર પ્રવચન કર્યું.

ભાવનગરથી વિવિધ સ્થળોએ વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી છાણી થઈ વડોદરા પધાર્યા. અહીં આચાર્યશ્રીએ 'મનુષ્યજન્મની દુર્લભતા' પર પ્રવચન કર્યું. સોળ વર્ષના ગાળા બાદ આચાર્યશ્રીએ પોતાની જન્મભૂમિમાં પ્રવેશ કર્યો અને પ્રતિષ્ઠા તથા અંજન-શલાકા મહોત્સવમાં ભાગ લીધો. ફાગણ શુદિ દશમના રોજ આચાર્યશ્રીએ પં૦ શ્રી સમુદ્રવિજયજી અને પં૦ શ્રી પૂર્ણાનંદવિજયજીને ઉપાધ્યાયની પદવીથી વિભૂષિત કર્યા અને આચાર્ય શ્રીવિજયઉમંગસૂરિજીને પંજાબ તરફ જવાનો આદેશ દીધો. વડોદરાના શ્રીસંઘે આચાર્યશ્રીને 'શાસન-સમ્રાટ'ની પદવી આપવાની ઇચ્છા વ્યક્ત કરી, પરંતુ આચાર્યશ્રીએ એ પદવીનો અસ્વીકાર કર્યો. શ્રીઆદિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠાવિધિ કરાવી ફાગણ વદિ ચોથના રોજ વિહાર કર્યો.

વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી ડભોઈમાં થોડા દિવસ સ્થિરતા કરી જગડિયા પધાર્યા જ્યાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી તથા શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળ સ્થાપવાનો નિર્ણય કર્યો. અહીંથી વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી ચૈત્ર શુદિ દશમના રોજ સૂરત પધાર્યા. ચૈત્ર શુદિ તેરસના દિને મહાવીરજયંતીની ઊજવણી થઈ. ત્યારબાદ મુંબઈ પધાર્યા અને શુદિ ચોથના દિને આચાર્યશ્રીએ ભાયખલામાં આચાર્યશ્રી વિજયપ્રેમસૂરિજી સાથે વિચારવિનિમય કર્યો.

મુંબઈમાં જેઠ શુદિ પાંચમના દિને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. જેઠ વદિ પાંચમે આચાર્યશ્રી ભાયખલા પધાર્યા અને ત્યાં શ્રી જૈન કૉન્ફરન્સના અધિવેશનમાં ત્રણ દિવસ હાજરી આપી. શ્રાવક-શ્રાવિકાના ઉત્કર્ષ માટે પ્રેરક પ્રવચન કર્યું. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી ઉત્કર્ષ ફંડમાં રૂ૦ ૧,૬૫,૦૦૦ નો ફાળો થયો. અધ્યાત્મપ્રેમી આચાર્યશ્રી બુદ્ધિસાગરસૂરિજીની જયંતી ઊજવી. ચાતુર્માસના પ્રેરક પ્રવચનોને પરિણામે સાધર્મી સેવા-સંઘની સ્થાપના થઈ.

આચાર્યશ્રીની મુંબઈમાં અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓ હતી. સં૦ ૨૦૦૮ના શ્રાવણ વદિ બારસે મુંબઈ પબ્લિક ટ્રસ્ટ ઍક્ટના વિરોધની સભામાં હાજરી આપી. પર્યુષણપર્વની સારી ઊજવણી કરાવી. ભાદરવા શુદિ અગીઆરસના દિને આચાર્યશ્રી હીરવિજયસૂરિજીની, અને ચૌદશના દિને શ્રી જૈન સ્વયંસેવક મંડળના ઉપક્રમે શ્રી વિજયધર્મસૂરિજીની સ્વર્ગારોહણ જયંતી ઊજવી. ભાદરવા વદિ બીજના દિને શ્રી જિનદત્તસૂરિની જયંતી ઊજવી. ભાદરવા વદિ અગિયારસના દિને ચોપાટી પરની જાહેર સભામાં "अहिंसा परमो धर्मः" પર આચાર્યશ્રીએ આદર્શ પ્રવચન આપ્યું.

આસો શુદિ ત્રીજના દિવસે ડૉ૦ ડગને આચાર્યશ્રીની આંખે સફળ ઑપરેશન કર્યું. સં૦ ૨૦૦૯ ના કાર્તિક શુદિ એકમના દિને ગોડીજીના ઉપાશ્રયેથી આચાર્યશ્રીના ૮૩મા વર્ષના પ્રસંગે ભવ્ય વરઘોડો નીકળ્યો. બીજના દિવસે ભાયખલાની સભામાં આચાર્યશ્રીને અંજલિ આપતાં પ્રવચનમાં મુંબઈના મેયર

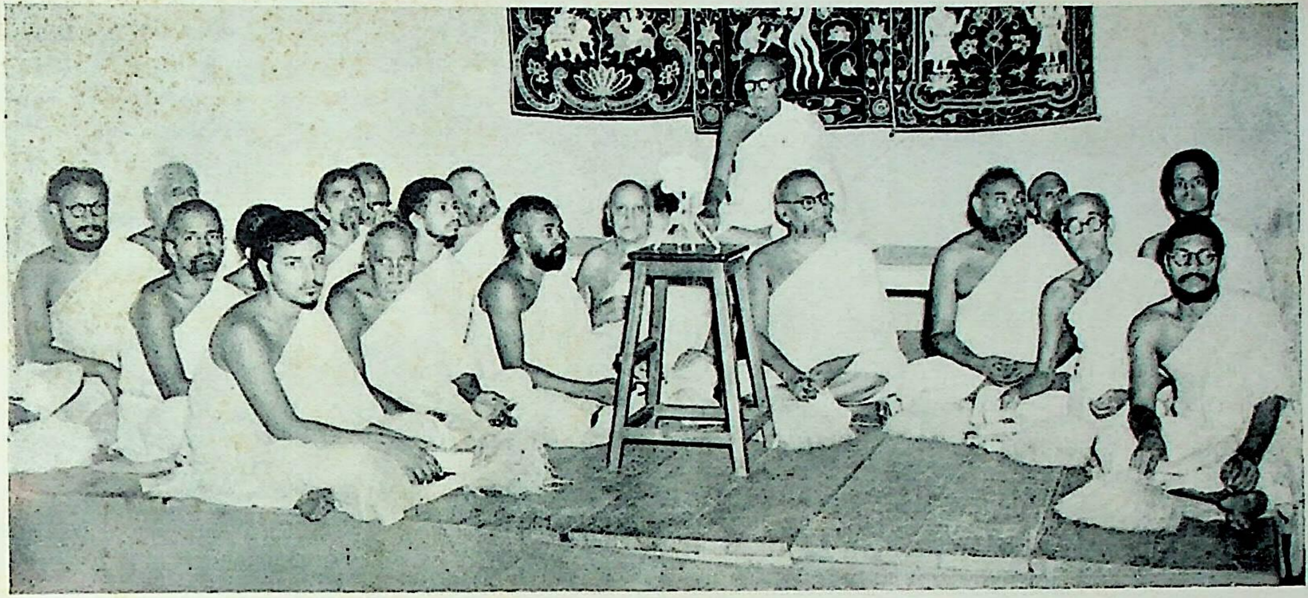

ता. ७ थी ९ नवेम्बर १९५२ना रोज श्री महावीर जैन विद्यालयमां योजायेल संमेलन प्रसंगे विराजमान आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि अने मुनिमहाराजो

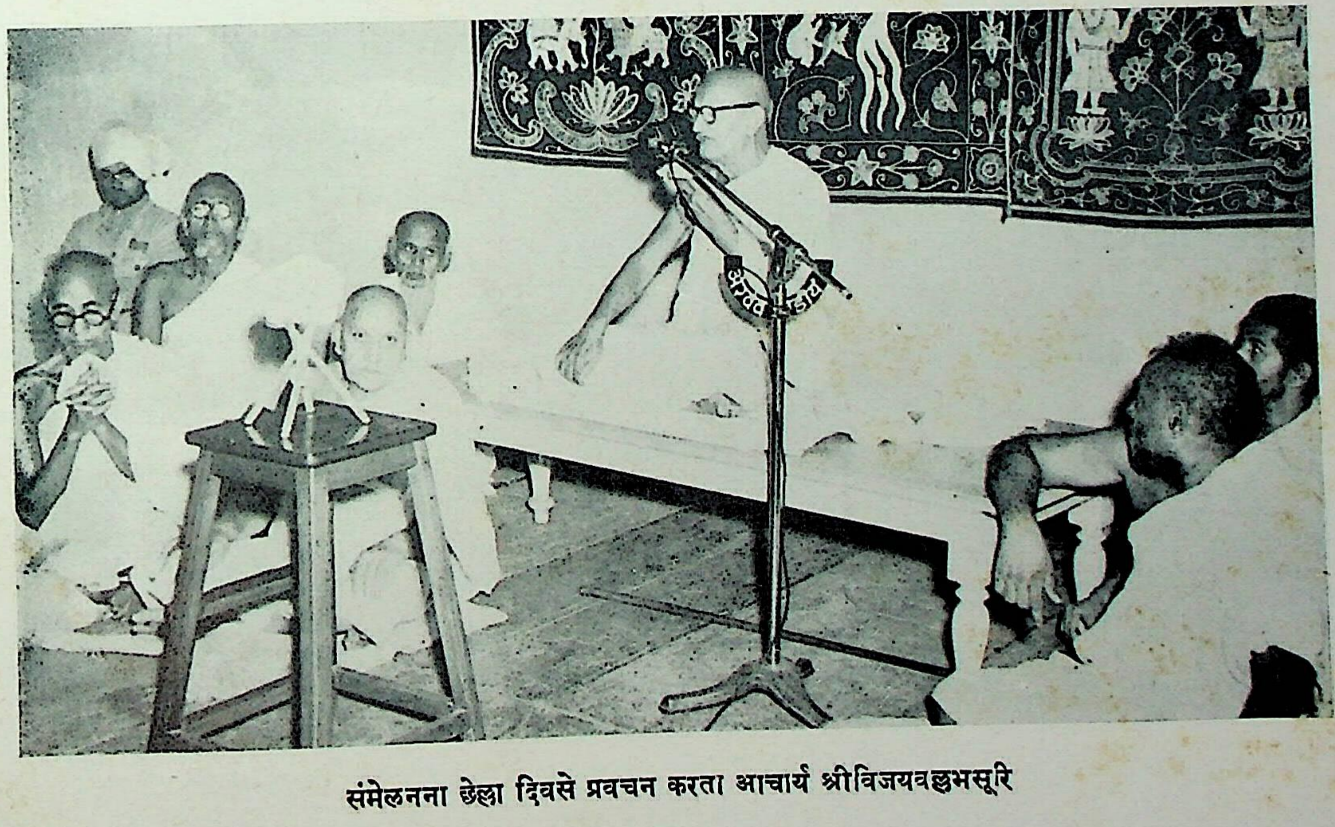

संमेलनना छेल्ला दिवसे प्रवचन करता आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि

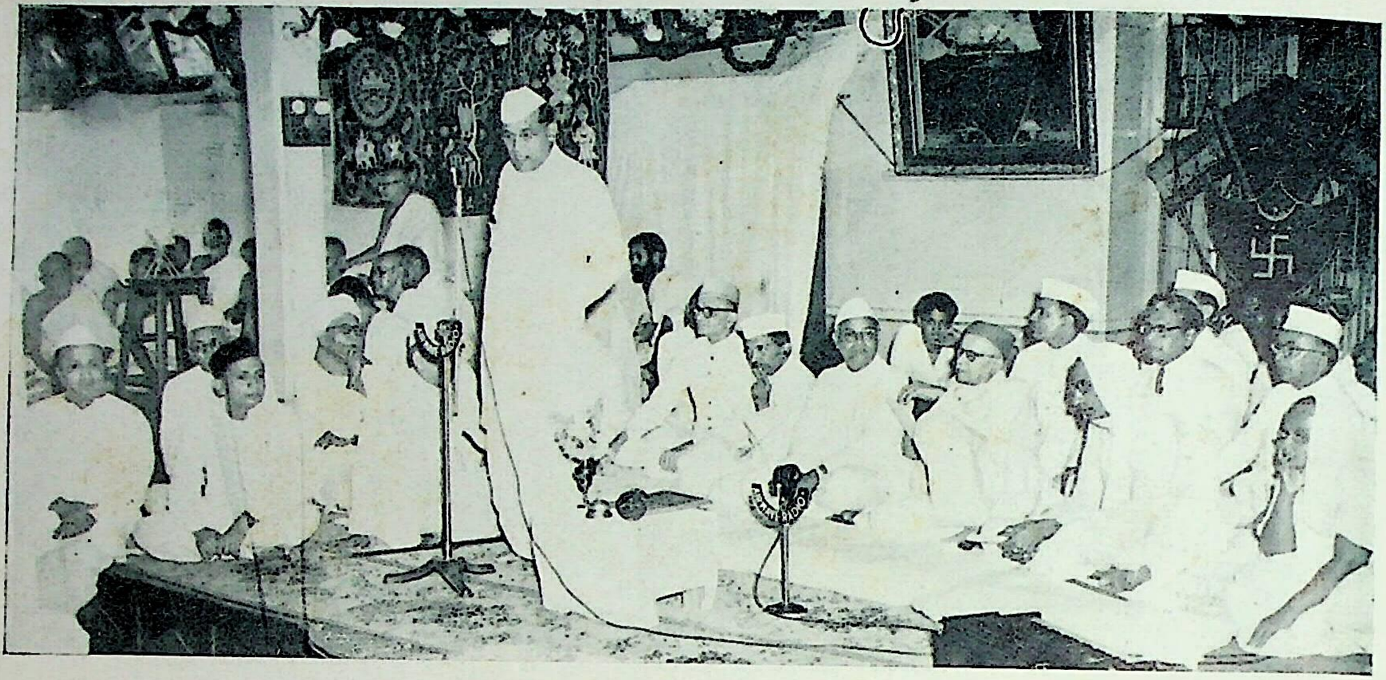

संमेलनना छेल्ला दिवसे श्री महावीर जैन विद्यालय तरफथी प्रमुख श्री मनसुखलाल मास्तरने आवकार आपतां श्री खीमजी भुजपुरीआ आचार्यश्रीनी अनेकविध सेवाओने अंजलि आपी रह्या छे. श्री सुरचंद्र बदामी, श्री भोळाभाई दलाल, श्री शांतिलाल शाह, श्री गणपतिशंकर देसाई, श्री मनसुखलाल मास्तर अने मुनिश्री जिनविजयजी वगेरे नजरे पडे छे. डावी बाजू आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि तथा शिष्यसमुदाय बेठा छे.

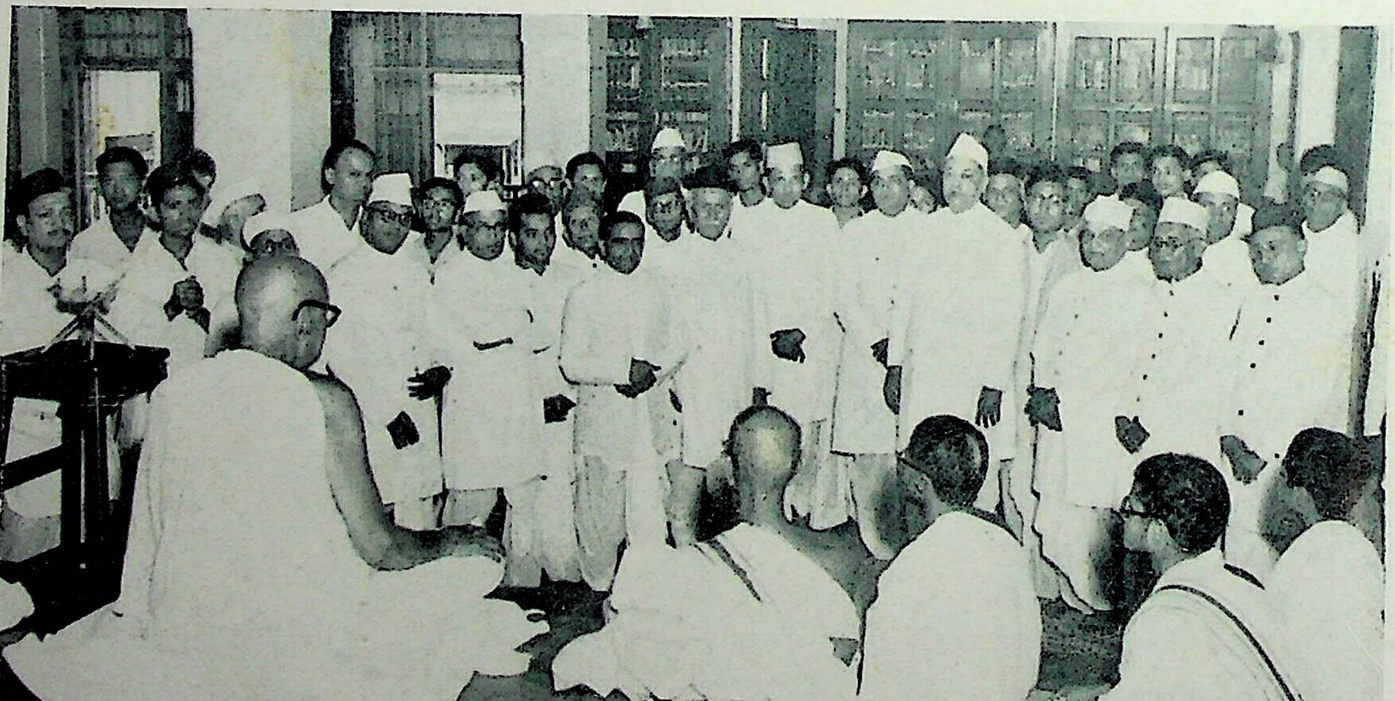

आचार्यश्री श्रीमहावीर जैन विद्यालयमां विराजमान होई ता. १५-१०-१९५३ना रोज शेठ श्री कस्तुरभाई लालभाई वंदनार्थ आव्या ते प्रसंग

શ્રી ગણુપતિશંકર દેસાઈએ કહ્યું : "એક વલ્લભ રાજક્ષેત્રે જન્મ્યો, આ વલ્લભ ધર્મક્ષેત્રે જન્મ્યો." ઉત્સવ ચાલુ હતો એ દરમિયાન ભાયખલાના મંડપમાં આગ લાગી પણ કોઇને નુકસાન થયું નહિ. શુદિ ત્રીજના દિવસે ભાયખલાના મંડપમાં પરમાર ક્ષત્રિયોને વાસક્ષેપ નાખી શ્રાવક બનાવ્યા. ગુરુભક્ત શ્રી ઘનસ્યામજીના ભજનોએ પણ મુંબઈને ઘેલું લગાડ્યું. કાર્તિક શુદિ ચૌદશના દિને થાણા ખાતે ઉપધાન કરાવવાની આચાર્યશ્રીને વિનતિ કરવામાં આવી. આ દિને ઉપદેશ આપતાં આચાર્યશ્રીએ પ્રતિજ્ઞા કરી : "મારા વિહાર સુધી કૉન્ફરન્સે શરૂ કરેલા ઉત્કર્ષ ફંડમાં પાંચ લાખ રૂપિયા નહિ થાય તો દૂધનો ત્યાગ કરીશ." આ પ્રતિજ્ઞાથી વાતાવરણમાં નવી ચમક આવી. કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલ-સર્વજ્ઞ આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રાચાર્યની જયંતી વિશે પ્રેરક પ્રવચન કર્યું.

કાર્તિક વદિ છઠ્ઠ, સાતમ, તથા બીજી સાતમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં ઐતિહાસિક સંમેલન મળ્યું. આ પ્રસંગ માટે આચાર્યશ્રી અને મુનિમંડળ તા૦ ૬–૧૧–૧૯૫૨ના રોજ વિદ્યાલયના મકાનમાં પધાર્યાં. સંસ્થાના કાર્યવાહકો અને વિદ્યાર્થીઓએ તેઓશ્રીનું ભાવભીનું સ્વાગત કર્યું.

તા૦ ૭મી શુક્રવારે સવારે સંમેલનનો આરંભ આચાર્યશ્રીના પ્રેરક મંગળ પ્રવચનથી શરૂ થયો. તેઓશ્રીએ જણાવ્યું : "કોઈ પુણ્યનાં ઉદયના લીધે હું આજે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં વર્તમાન અને પૂર્વ વિદ્યાર્થીઓને, કાર્યકર્તાઓને અને શ્રોતાગણને મળી શક્યો છું." વિદ્યાર્થીઓને સંબોધીને તેઓશ્રીએ કહ્યું : "અભ્યાસનો ઉદ્દેશ શું છે ? વિચાર-વિનિમય, ચર્ચા આદિથી જ્ઞાનને કસવું અને પુષ્ટ કરવું...માત્ર પુસ્તકો ગોખી જવાથી કાંઈ વળતું નથી, પરંતુ યોગ્ય અભ્યાસ અને તેનો જીવનમાં ઉપયોગ થાય તે જ ઇષ્ટ છે. અભ્યાસનો ખરો ઉદ્દેશ આપણને પશુ અવસ્થામાંથી માનવ અવસ્થામાં લાવવાનો અને છેલ્લે ખરો માનવ બનાવવાનો છે...

"આજની કેળવણી માણસના દિલને બગાડે છે. તેને દૂર કરવા ધાર્મિક અભ્યાસ આવશ્યક છે. તે માટે આવાં વિદ્યાલય અને પાઠશાળા સ્થાપવામાં આવે છે."

બપોરે ભરાયેલા વિદ્યાર્થી સંમેલનમાં વિદ્યાલયની સ્થાપનાનો આદર્શ રજૂ કરતાં તેમણે કહ્યું : "કેળવણી પ્રાપ્ત કરવાની સાથે જ તમારે વિનયી થવું જોઈએ. વિદ્યાર્થી અવસ્થા એક પ્રકારની દીક્ષા છે; તેથી તમારે વિદ્યાપ્રાપ્તિના કાર્યમાં તલ્લીન બની જવું જોઈએ."

"વિદ્યાલય એ જૈન સમાજની શાન છે, પ્રગતિની પારાશીશી છે, શ્રમની સિદ્ધિ છે અને આદર્શની ઇમારત છે. પ્રભુ પ્રત્યે પ્રાર્થના છે કે આ સમારંભ સફળ હો, અને સંસ્થા સદાસર્વદા પ્રગતિમાન અને વિકાસશીલ હો તથા દેશ અને સમાજની સેવામાં સહાયભૂત હો!" આવા બીજા અનેક સંદેશાઓ સભ્યો, કેળવણીકારો અને શુભેચ્છકો તરફથી મળ્યા હતા.

બીજે દિવસે આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીકૃત ચારિત્રપૂજા રાગરાગણી સાથે ભણાવવામાં આવી હતી. રાત્રે સંગીતનો રસપ્રદ કાર્યક્રમ જાણીતા સંગીતકાર શ્રી શાંતિલાલ બી૦ શાહે રજૂ થયો હતો.

ત્રીજે દિવસે આચાર્યશ્રીએ પોતાના મંગલ પ્રવચનથી સંમેલનની શરૂઆત કરી. અનેક ઐતિહાસિક દાખલાઓ ટાંકી તેઓશ્રીએ ધર્મના સિદ્ધાંતોને સમજણપૂર્વક અનુસરવા જણાવ્યું. ધાર્મિક ક્રિયાઓ તેની અંદર રહેલી મૂળભૂત ભાવનાઓ સમજીને કરવા ખાસ અનુરોધ કર્યો. દરેક જીવો ઉપર પ્રેમ-દયા રાખી દુર્ગતિમાં લઈ જનાર કષાયો ઉપર જીત મેળવવાની એઓશ્રીએ ઘોષણા કરી.

બપોરના જાહેર સમારંભમાં ઘણાં મનનીય પ્રવચનો થયાં. આચાર્યશ્રીએ પ્રવચનની શરૂઆત કરતાં જણાવ્યું કે "મુંબઈ શહેરમાં ઘણાં ધનાઢયો છે, ઘણાં ઉદારદિલ ગૃહસ્થો છે, ઘણા સાક્ષરો છે, છતાં મારી ભાવના મુજબ આ વિદ્યાલયની જેટલી ઉન્નતિ થવી જોઈએ તેટલી થઈ દેખાતી નથી. અલ્પ ઉન્નતિથી મને સંતોષ નથી. હું તો માગું છું કે હજુ આ વિદ્યાલય મારફત જૈન સમાજ માટે શિક્ષણના અનેક કાર્યો થાય. સમજનાર માટે ઇશારો બસ છે. વિદ્યાલયને તમારી ઇચ્છા પ્રમાણે દાન આપી શિક્ષણના કાર્યને વેગ આપો. જૈન શાસનનો ઉદય કરવો હોય, જૈન શાસનનો ઝંડો જગતમાં ફરકાવવો હોય તો તમારું ધન શિક્ષણપ્રચારના કાર્યમાં લગાડો. આ મારી ભાવના છે—મારા અંતરની ભાવના છે. હજુ તમે મારી એ ભાવના પારખી શકયા નથી એનું મને દુઃખ છે."

મુંબઈ સરકારના મજૂર સચીવ શ્રી. શાંતિલાલ શાહે જણાવ્યું કે, "ભારતવર્ષના જૈનો પાસે પુષ્કળ ધન છે. જૈનો પાસે વિદ્વાનોની કમી નથી. જૈનો પાસે વિદ્યા તથા ત્યાગને વરેલો પૂજનીય સાધુવર્ગ છે. તો જૈનો જૈન ધર્મ તથા તત્ત્વજ્ઞાનની એકાદ કૉલેજ ઊભી કરે તો તે આવકારદાયક ગણાશે."

મુંબઈના તે વખતના નગરપતિ શ્રી ગણપતિશંકર દેસાઈએ જણાવ્યું કે, "કાળ વહી રહ્યો છે. એનો સદુપયોગ કરો. જુગેજુગે આવા આચાર્યો જન્મતા નથી. કર્તવ્યબુદ્ધિને જાગ્રત કરો. જાગ્રત કરનાર જો કોઈ વસ્તુ હોય તો તે વિદ્યા છે. સમાજ વિદ્યાથી ઉન્નત બનશે. આચાર્યશ્રીએ સમાજમાં વિદ્યારૂપી દીવડો પ્રગટાવ્યો છે, એનો પ્રકાશ સદાકાળ તેજપૂંજ વેરતો રહે એમ હું ઇચ્છું છું."

પુરાતત્વ વિશારદ મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ જણાવ્યું કે "આ પ્રસંગે આચાર્ય વિજયવલ્લસૂરિજીના દર્શનનો લાભ મળશે એમ સમજી હું અહીં આવ્યો છું. એમના ચરણોમાં થોડા દિવસ રહેવાનો મને લાભ મળ્યો હતો. આચાર્યમહારાજે તમને આ સંસ્થાને આગળ વધારવાની જે વાત કહી છે તે તમે સમજો. તમને તેમના પ્રત્યે ભક્તિભાવ હોય તો દરેક ભાઈએ તેમની પાસે જઈ કહેવું જોઈએ કે 'પૂ૦ આચાર્યશ્રી, આપની ઇચ્છા મુજબ અમે કાર્ય કરવા તૈયાર છીએ.' આ પ્રમાણે તેમની ઇચ્છા મુજબ વિદ્યાનો પ્રચાર કરવાના કાર્યમાં લાગી જાઓ."

પ્રમુખસ્થાનેથી બોલતાં શ્રી મનસુખલાલ માસ્તરે સંસ્થાની ધીમી છતાં નક્કર પ્રગતિ માટે સંચાલકોને અભિનંદન આપ્યા હતા. તેમણે આચાર્યશ્રીના પ્રવચનનો ઉલ્લેખ કરતાં જણાવ્યું હતું કે, "જૈન કોમ બુદ્ધિશાળી અને વ્યવહારુ છે એટલું જ નહિ, તેની પાસે ધન પણ છે. આચાર્યશ્રીએ જે મૂર્તિ ખડી કરવાની, જે પ્રાસાદ રચવાની યોજના કરી હતી એ યોજના સિદ્ધ થઈ નથી. સંચાલકોએ તેમની આ ભાવનાને આ વિદ્યાલયમાં મૂર્ત કરવાનો પ્રયાસ કરવો જોઈએ."

તેમણે વધુમાં કહ્યું હતું કે "ધનાઢ્ય પુરુષો ઓછા થતા જાય છે એમ કહેવાય છે. ધીમે ધીમે કર વધતો ગયો છે અને ધીમે ધીમે માલમિલકતનો મોટો ભાગ સરકાર તેના હાથમાં લઈ લેશે એ વાત સાચી છે. આથી જેમની પાસે ધન છે તેમણે પોતાની હયાતી દરમિયાન સારી એવી રકમનું દાન કરવું જોઈએ. વળી વિદ્યાદાન જેવુ બીજું એકેય દાન નથી. એટલે આ દિશામાં જૈન સમાજ દાનનો પ્રવાહ વહેતો કરશે એવી આશા છે."

આવી રીતે આચાર્યશ્રીની નિશ્રામાં ત્રણ દિવસનું ભરાયેલું આ સ્નેહસંમેલન ખરે જ 'ઐતિહાસિક સંમેલન' તરીકે ઓળખાય તેવું બન્યું.

આ પછી આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિ દિન-પ્રતિદિન વિકસતી રહી. શિવ, ભાંડુપ વગેરે સ્થળોએ પ્રેરક પ્રવચનો આપી આચાર્યશ્રી થાણામાં પધાર્યા. માગસર શુદિ દશમથી બે મહિના સુધી આચાર્યશ્રીએ

થાણામાં સ્થિરતા કરી ઉપધાન કરાવ્યાં. ઉપધાનમાં આચાર્યશ્રીએ સૂતરની માળાનો સુધારો કર્યો. ઉપધાન તપસમિતિએ માળાના ઘી બોલનારની ઇચ્છા મુજબ ઘીની બોલીની ઉપજ સાધારણમાં લઈ જવાનો ઠરાવ કર્યો. મહા શુદિ ચોથના દિને માળારોપણની વિધિ થઈ અને ઉપાધ્યાય શ્રી સમુદ્રવિજયજીને આચાર્ય-પદવી આપવામાં આવી. આ બધા પ્રસંગોએ જનતાનો ઉત્સાહ સારો હતો.

થાણાથી આચાર્યશ્રી ગોડીજીના ઉપાશ્રયે પધાર્યા. ફાગણ મહિનાની શરૂઆતમાં આચાર્યશ્રીએ જૈન સિદ્ધાંતોના પ્રચાર માટે 'પુસ્તક પ્રકાશન ફંડ' શરૂ કરાવ્યું. ફાગણ શુદિ નોમના દિને જૈન ધર્મ અંગે પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ પ્રવચન કર્યાં અને જૈન સિદ્ધાંતોના પ્રચાર માટે વિદ્વાનોની સમિતિ નીમવાનું સૂચન કર્યું.

ફાગણ વદિ બીજના દિવસે આચાર્યશ્રી સાથે ચાલીસ ચાલીસ વર્ષ રહેલા આચાર્ય સમુદ્રસૂરિજીએ પંજાબ જવા માટે વિહાર કર્યો. ઉત્કર્ષ ફંડ માટેનો પ્રચાર જોરશોરથી શરૂ થયો. ધનજી સ્ટ્રીટની સભામાં બહેનોએ બંગડીઓ આપી. પાટણ જૈન મંડળ બિલ્ડિંગમાં બેસી ભાઈઓએ બે હજાર રૂપિયા ભેગા કરવાની પ્રતિજ્ઞા લીધી. આચાર્યશ્રીએ ગલીએ ગલીએ પ્રવચનો કર્યાં.

આઝાદ મેદાનમાં ચારે ફિરકાના આશ્રયે મજૂર-સચિવ શ્રી શાંતિલાલ શાહના અધ્યક્ષપદે મહાવીર જયંતીની ઊજવણી થઈ. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ જિનેશ્વર દેવે બતાવેલ અહિંસાધર્મને આચરણમાં મૂકવાનો ઉપદેશ આપ્યો. જૈનોના ઉત્કર્ષની મોટી યોજના માટે શ્રી કપુરચંદ મહેતા તથા શ્રી સોહનલાલ દુગડજીએ મોટી રકમ આપવાની તૈયારી બતાવી.

ચૈત્ર વદિ ચૌદશના રોજ આચાર્યશ્રીએ લુહારચાલની વિરાટસભામાં દારૂત્યાગ પર પ્રેરક પ્રવચન કર્યું. આ પ્રસંગે શ્રી મંગળદાસ પકવાસા, તેમ જ બીજા જાણીતા ગૃહસ્થોએ હાજરી આપી હતી. આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું: "ધર્મ-શાસ્ત્રો પુકારી પુકારીને કહે છે કે ખોટાં સાધનો અને પીણાં મનુષ્યને દુર્ગતિને પંથે ધકેલે છે. એવો દોષિત મનુષ્ય પોતાનું નુકસાન કરે છે અને પોતાના કુટુંબનો, સમાજનો અને રાષ્ટ્રનો ઉચ્છેદ કરે છે. માટે બૂરી આદતોને છોડી દો. મનુષ્યમાં મનુષ્યત્વ હોય તો દુર્ગતિને પંથે લઈ જતી વસ્તુઓ છોડી દેવી ઘટે. આત્મતત્ત્વના વિકાસની આડે આવતી બધી વસ્તુઓને છોડી દો. પરદેશીઓ વિદાય થયા એની સાથે દારૂ પણ જવો જોઈએ. કોઈ પણ જાતનો નશો નાશકારક છે."

આચાર્યશ્રીએ વધુમાં કહ્યું કે, "હું પંજાબમાં અંબાલા શહેરમાં હતો. ત્યાં મને પંડિત મોતીલાલ નહેરુનો ભેટો થઈ ગયો. વાર્તાલાપ દરમિયાન મેં તેમને પૂછ્યું કે 'તમે દેશને આઝાદ કરવા બહાર પડ્યા છો તો પછી પરદેશી સિગારેટ કેમ પીઓ છો?' તરત જ મોતીલાલજી એ સિગારેટ ફેંકી દીધી અને સિગારેટ ન પીવાની પ્રતિજ્ઞા લીધી. પછી પંડિત મોતીલાલ નહેરુએ એક જાહેર સભામાં કહ્યું હતું કે 'અત્યાર સુધી હું અક્કલ ગુમાવી બેઠો હતો પણ એક જૈન મુનિએ અક્કલ આપી.' શ્રી કે૦ કે૦ શાહ અને શ્રી પોપટલાલ શાહ વગેરેએ પણ આ પ્રસંગે પ્રેરક પ્રવચનો કર્યાં હતાં.

આચાર્યશ્રીએ વાલકેશ્વરમાં સ્થિરતા કરી. વૈશાખ વદિ ત્રીજે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં 'મનુષ્યજન્મની દુર્લભતા' અને બીજે દિવસે 'જૈનોની એકતા' ઉપર આચાર્યશ્રીએ પ્રેરક અને ઉદ્‌બોધક પ્રવચન કર્યું. ઉદ્યોગગૃહો ખોલવાનો આચાર્યશ્રીએ અનુરોધ કર્યો. વૈશાખ શુદિ પાંચમથી દશમ સુધી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં આચાર્યશ્રીએ બોધપ્રદ પ્રવચનો કર્યાં. ૩૪૦ મૂર્તિઓની અંજન-શલાકા વિધિ કરી પાયધુનીથી આચાર્યશ્રી ભાયખલા પધાર્યા. ચારિત્રમહોત્સવનો ભવ્ય કાર્યક્રમ થયો. સમારંભમાં પ્રમુખપદે શ્રી શ્રેયાંસપ્રસાદ જૈને આચાર્યશ્રીને 'હીરક મહોત્સવ ગ્રંથ' અર્પણ કર્યો. ચારે ફિરકાઓમાં એકતા

વધારવા તેમ જ સ્વધર્મી બંધુઓના ઉત્કર્ષ કાજે એક સમિતિ રચાઈ. આષાઢ મહિનામાં 'પૈસા ફંડ'ની યોજનાની જાહેરાત કરી. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયને સારી આર્થિક મદદ મળી. શ્રી કપુરચંદ નેમચંદ મહેતા, શ્રી ઝવેરચંદ નેમચંદ મહેતા અને શ્રી કેવળચંદ નેમચંદ મહેતા તથા તેમનાં કુટુંબીજનોને તથા અન્ય દાતાઓને અભિનંદન આપવાનો સમારંભ તા૦ ૧૪–૧૦–૧૯૫૩ના રોજ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયે યોજ્યો અને બીજે દિવસે આચાર્યશ્રી સંસ્થામાં બિરાજમાન હોઈ શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈ વંદનાર્થે આવ્યા.

સં૦ ૨૦૧૦ કાર્તિક શુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૮૪મી જન્મજયંતી પ્રસંગે ડૉ૦ જીવરાજ મહેતા, શ્રી નાથાલાલ પરીખ વગેરેએ સુંદર પ્રવચનો કર્યાં. ચોપાટી ઉપરની તોંતેર સંસ્થાઓના ઉપક્રમે શ્રી એસ૦ કે૦ પાટીલના અધ્યક્ષપદે જાહેરસભામાં આચાર્યશ્રીની પ્રશસ્તિ થઈ. આચાર્યશ્રીએ કહ્યું, "હું જૈન નથી. બૌદ્ધ નથી, વૈષ્ણવ નથી, શૈવ નથી, હિંદુ નથી, મુસ્લિમ નથી; હું તો પરમાત્માને શોધવા માટેના પંથ પર આગેકૂચ કરવા માગતો એક માનવી છું. આજે સૌને શાંતિ ખપે છે પણ શાંતિ માટે સૌ પ્રથમ આપણા જ મનમાં શોધ થવી જોઈએ."

ઘાટકોપર જતાં આચાર્યશ્રીની અષ્ટિલાગ્રંથીની વ્યાધિ ઉગ્ર સ્વરૂપ લેતાં ચિકિત્સા અને સારવાર માટે તા૦ ૨૧મી ડિસેંબર ૧૯૫૩ના રોજ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં પધાર્યા. સંસ્થામાં અને બીજા અનેક સ્થળોએ આચાર્યશ્રીની દર્દશાંતિ માટે અંતરાયકર્મની પૂજા અને સમૂહપ્રાર્થનાઓ થઈ. સંસ્થાના કાર્યવાહકોએ અથાક મહેનત શરૂ કરી. નિષ્ણાતો દ્વારા ઉપચાર શરૂ કર્યા ને સ્વાસ્થ્યમાં સહેજ સુધારા થયો. ડૉ૦ જે૦ કે૦ મહેતા, એમ. ડી., એમ. આર. સી. પી. (લંડન), ડૉ૦ શાંતિલાલ એન૦ શાહ, એમ. ડી. અને ડૉ૦ મોહનલાલ હેમચંદ શાહ, એમ. બી., બી. એસ., ડી. ટી. એમ. (ડબ્લીન), તેમ જ આચાર્યશ્રીની પ્રકૃતિ અને શારીરિક સ્થિતિથી વર્ષોથી પરિચિત વૈદરાજ શ્રી વાડીલાલ મગનલાલ વૈદ્ય શુશ્રૂષામાં હાજર હતા. મુંબઈના સિદ્ધહસ્ત નિષ્ણાત દાક્તરોને રૂબરૂ બોલાવી તેઓની સલાહસૂચના અનુસાર ઉપચાર શરૂ થયા. તા૦ ૧૦–૧–૧૯૫૪ના રોજ આચાર્યશ્રીની તબિયત તથા સારવાર અંગે વિચારણા કરવા જૈન સમાજના આગેવાન કાર્યકર્તાઓની સભા મળી. જે વખતે એ સમિતિ નીમવામાં આવી. ઉપચાર સમિતિ ઉપર શ્રી ભોગીલાલ લેહેરચંદ ઝવેરી, શ્રી સાકરચંદ મોતીલાલ મૂળજી, શ્રી કાંતિલાલ ઈશ્વિરલાલ, શ્રી ઉદયભાણ પ્રેમચંદ, શ્રી હજારીમલ ચંદ્રભાણ, શ્રી રતનચંદ ચુનીલાલ દાલીઆ, શ્રી ફુલચંદ શામજી, શ્રી શાંતિલાલ મગનલાલ શાહ, શ્રી કપુરચંદ માણેકચંદ, શ્રી રતનચંદજી સુંદરમલજી અને મંત્રીઓ તરીકે શ્રી ચંદુલાલ સારાભાઈ મોદી અને શ્રી ચંદુલાલ વર્ધમાન શાહની નિમણૂક કરવામાં આવી. તબીબી સલાહકાર મંડળ ઉપર ડૉ. જે૦ કે૦ મહેતા, એમ. ડી., એમ. આર. સી. પી. (લંડન), ડૉ૦ મુકુન્દ કે૦ પરીખ, એફ. આર. સી. એસ. (ઇંગ્લેંડ), ડૉ૦ કીર્તિલાલ મલુકચંદ ભણશાળી, એમ. ડી. એમ. આર. સી. પી. (લંડન), ડૉ૦ હીરાલાલ કે૦ ડૉકટર, એફ. આર. સી. એસ. (ઇંગ્લેંડ), ડૉ. શાંતિલાલ એન૦ શાહ, એમ. ડી., ડૉ૦ મોહનલાલ હેમચંદ શાહ, એમ. બી., બી. એસ., ડી. ટી. એમ. (ડબ્લીન) અને વૈદરાજ શ્રી. વાડીલાલ મગનલાલની નિમણૂક કરી.

દાક્તરી નિષ્ણાતોની સલાહ ધ્યાનમાં લઈ સારવારમાં પ્રસંગોપાત્ત ફેરફાર કરવામાં આવતા હતા. દિવસમાં ત્રણચાર વખત ડૉકટરોએ આચાર્યશ્રીની શારીરિક તપાસ અને ઉપચાર કરવાનું ચાલુ રાખ્યું.

જૈન સમાજના આગેવાનોની નીમેલ ઉપચાર સમિતિ તા૦ ૧૩–૧–૧૯૫૪ના રોજ મળી અને હોમિયોપથી સારવાર થોડા દિવસ માટે શરૂ કરવાનું નક્કી થયું. હોમિયોપથી અને એલોપથીના નિષ્ણાત

ડૉ૦ એલ૦ ડી૦ ધવળે, એમ. ડી. ની સારવાર શરૂ થઈ. દિનપ્રતિદિન સુધારો જણાતો ગયો. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં પધાર્યા ત્યારથી આચાર્યશ્રીની સર્વશ્રેષ્ઠ સારવાર થાય અને તેમનું સ્વાસ્થ્ય એકદમ સુધરે તે અંગેનો સંસ્થાની વ્યવસ્થાપક સમિતિનો આદેશ ધ્યાનમાં લઈ સર્વ કાર્યવાહી કરવામાં આવી હતી. તેઓશ્રીના સ્વાસ્થ્ય અંગે દેશપરદેશથી આવતા તાર તથા પત્રોના યોગ્ય પ્રત્યુત્તર તુરત આપવામાં આવતા હતા. આચાર્યશ્રીની લોકપ્રિયતાને કારણે દરરોજ હજારો ભક્તો સંસ્થામાં તેઓશ્રીના દર્શનાર્થે આવતા હતા. આ સમય દરમિયાન સંસ્થા તીર્થધામ બની ગઈ હતી. દાક્તરી ઉપચાર માટે જરૂરી સર્વ સૂચનોનો બરોબર અમલ કરવામાં આવતો હતો. દિનપ્રતિદિન તબિયતમાં પણ સુધારો ચાલુ રહ્યો.

આચાર્યશ્રી વિજયસમુદ્રસૂરિજી બોરસદથી ઉગ્ર વિહાર કરી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં આચાર્યશ્રીની શુશ્રૂષામાં હાજર થયા. ઘાટકોપરમાં ઉપધાનના તપસ્વીઓ અને સંઘને આચાર્યશ્રીએ સાવધાન રહેવાનો અનુરોધ કરી કહ્યું, "મુંબઈના શ્રીસંઘે ખ્યાલ રાખવો જોઈએ કે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય એક બોર્ડિંગ છે પણ એ મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જો યુનિવર્સિટીના સ્વરૂપમાં હોય તો ધાર્મિક અને સાંસારિક બે પ્રકારની શિક્ષાનો પ્રચાર સુલભ થઈ શકે. એ વિના જૈન સમાજની દશા સંપૂર્ણ રીતે સુધરવી મુશ્કેલ છે. શ્રાવકસમુદાય ભૂખ્યો ન રહે અને કેળવણી વિના કોઈ ન રહે એ વસ્તુ પર ધ્યાન આપવું જોઈએ." સં૦ ૨૦૧૦ના ચૈત્ર શુદિ એકમના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની ૧૧૭મી જયંતી શાનદાર રીતે ઊજવાઈ. ચૈત્ર શુદિ તેરશના દિને મુંબઈ સરકારના કેળવણી ખાતાના પ્રધાન શ્રી દિનકરરાવ દેશાઈના પ્રમુખપદે મહાવીરજયંતી પ્રસંગે 'અહિંસા દિન'ની ઊજવણી થઈ. જેઠ વદિ બારશના દિને આચાર્યશ્રી સમુદ્રસૂરિજીએ 'શિક્ષણ દ્વારા સમાજનો અભ્યુદય' એ વિષય ઉપર મનનીય પ્રવચન કર્યું. અષાઢ શુદિ બારસના રોજ આચાર્ય તુલસી આચાર્યશ્રી ને મળવા વિદ્યાલયમાં પધાર્યા. આસો વદિ ત્રીજે વિદ્યાલયમાં વિદ્યાર્થીઓ સમક્ષ આચાર્યશ્રીએ કહ્યું, "વિદ્યાપ્રાપ્તિનું મુખ્ય ધ્યેય સત્ય સમજવાનું અને સત્યનું આચરણ કરવાનું છે. વિદ્યા પ્રાપ્ત કરી તેનો ઉપયોગ સમાજના કલ્યાણમાં અને ધર્મોદ્ધારમાં કરવો એ જ મહાન સદ્ગુણો છે."

આચાર્યશ્રીને શક્તિ અનુસાર હરવાફરવાની છૂટ મળી અને દરરોજ સવારમાં વાલકેશ્વર દર્શનાર્થે જવાનો કાર્યક્રમ લગભગ દોઢ માસ ચાલુ રહ્યો. વર્ષાઋતુ શરૂ થતાં આ કાર્યક્રમ બંધ થયો. આ સમય દરમિયાન તબીબી સલાહકાર મંડળના દાક્તરો નિયમિત રીતે આચાર્યશ્રીનું સ્વાસ્થ્ય તપાસવા આવતા હતા અને સુધારા પ્રત્યે સંતોષ વ્યક્ત કરતા હતા. આચાર્યશ્રીની સંસ્થામાં સ્થિરતા હોવાથી દાક્તરી લાઈનના જૂના વિદ્યાર્થીઓ હંમેશાં મદદ આપવા તત્પર હતા. આ રીતે જુલાઈના અંત સુધી ચાલ્યું. આચાર્યશ્રીની શારીરિક સ્થિતિમાં સવિશેષ સુધારો કે રોગ તદ્દન નાબૂદ ન થયેલ હોવાથી ઉપચારસમિતિ બોલાવવામાં આવી હતી; જે વખતે ઉપાયોમાં ફેરફાર કરવા અંગે જુદાં જુદાં સૂચનો થયાં. આ સમિતિએ પર્યુષણ પર્વ પછી ફરી મળી પુનઃ વિચારણા કરવાનું નક્કી કર્યું. થોડા દિવસો સુધી સારવાર અને ઉપચાર ચાલુ રાખ્યા. દાક્તરોએ નિયમિત આવી શારીરિક તપાસ ચાલુ રાખી.

આચાર્યશ્રીની શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં સ્થિરતા દરમિયાન તબીબી મંડળના દાક્તરોએ કોઈ પણ જાતના સંકોચ વિના સમગ્ર શક્તિ અને નાણાંના ભોગે સેવા અર્પી છે. તબીબી મંડળના દાક્તરોએ રાત્રે કે દિવસે ગમે તે સમયે, સમયની અનુકૂળતા હોય કે ન હોય, છતાં યે આચાર્યશ્રીના સ્વાસ્થ્ય માટે તરત જ રૂબરૂ આવી પૂરતી કાળજી રાખી હતી. ડૉ૦ જયંતિલાલ ચંદુલાલ શ્રોફે મહિનાઓ સુધી સંસ્થામાં અને પછી ઈશ્વરનિવાસમાં દરરોજ એક વખત નિયમિત જઈ ને સેવા અર્પી હતી. પૅથોલૉજિસ્ટ ડૉ૦ શાંતિલાલ એન૦ શાહે સંસ્થામાં આચાર્યશ્રીની સ્થિરતા દરમિયાન અને પછી પણ મહત્ત્વની સેવા અર્પી હતી.

તબીબી મંડળના દાક્તરો ઉપરાંત ડૉ૦ જી૦ વી૦ દેશમુખ, ડૉ૦ એ૦ વી૦ બાલીગા, ડૉ૦ નાથુભાઇ પટેલ, ડૉ૦ જાલ પટેલ, પં૦ શિવશર્મા, ડૉ૦ ડી૦ જી૦ મોદી, ડૉ૦ રવીન્દ્ર મોતીચંદ કાપડીઆ, ડૉ૦ પન્નાલાલ શાહ, ડૉ૦ સ્ટોર, ડૉ૦ રસિકલાલ શાહ તથા બીજા દાક્તરોએ આવી વિનાસંકોચે સેવા અર્પી હતી. વૈદરાજ શ્રી વાડીભાઈએ વડોદરાથી આવી આચાર્યશ્રીની બરાબર સારવાર થાય તે માટે સંસ્થામાં રહી ખડે પગે સેવા અર્પી હતી.

તા૦ ૧૭–૫–૧૯૫૪ના દિવસે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં સ્થિરતા દરમિયાન આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીએ 'શ્રી મહેન્દ્ર જૈન પંચાંગ' અંગે નીચે પ્રમાણે અભિપ્રાય મોકલી આપ્યો હતો :

"જૈન સમાજની પરિસ્થિતિનું અવલોકન કરતાં અમો એવા અભિપ્રાય ઉપર આવ્યા છીએ કે જો ધાર્મિક કાર્યોનાં મુહૂર્તાદિનો સમય બરાબર સાચવવો હોય, તિથિ અંગેનું અનૈક્ય દૂર કરવું હોય અને જાહેર તહેવારોની ઊજવણી બધાએ સાથે મળીને કરવી હોય તો દરેક ફીરકાએ આ પંચાંગને માન્ય રાખવું જોઈએ. જો આમ થશે તો આપણે સહકાર અને સંગઠનની દિશામાં એક મોટું પગલું ભરેલું ગણાશે."

તા૦ ૧૨મી ઑગસ્ટના રોજ આચાર્યશ્રીએ સ્થળ બદલવા ઇચ્છા દર્શાવી અને શ્રી કાન્તિલાલ ઇશ્વરલાલના નિવાસસ્થાને ગયા. ઉપચારમાં ફેરફાર કરવાની આચાર્યશ્રીની ઇચ્છાને માન આપી પંજાબથી વૈદ્યરાજને બોલાવવામાં આવ્યા.

આચાર્યશ્રીને છેલ્લા ત્રણ ચાતુર્માસ દરમિયાન શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં સ્થિરતા કરવાના અનેક પ્રસંગો ઉપસ્થિત થયા. જીવનને સુફલિત અને સુસાર્થક કરનાર આચાર્યપ્રવરની આ છેલ્લી સ્થિરતા જૈન સમાજ અને આ સંસ્થાના ઇતિહાસમાં સીમાચિહ્ન બની રહે છે.

આચાર્યશ્રીએ સંવત્સરી પ્રસંગે નીચેનો સંદેશો પાઠવ્યો : "સંવત્સરીના આ મહાન દિવસે ક્ષમા, દયા, દાન, સંગઠન અને સાધર્મિક ભક્તિ વગેરે ગુણોને તમે તમારા જીવનમાં ઉતારશો. આજના આ મહાન દિવસે ચતુર્વિધ શ્રીસંઘ પાસે હું એવી આશા રાખું છું, કે આપ વહેલામાં વહેલી તકે "જૈન યુનિવર્સિટી" ઊભી કરશો. આજના દિને 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'નું સૂત્ર હૃદયમાં ઉતારી સૌ કોઈને ક્ષમાવી અને ક્ષમા આપીને નિર્મળ આત્મકલ્યાણ સાધજો."

વૈદરાજ શ્રી દત્ત શર્માએ કહ્યું, "નાડીના સરસ ધબકારામાં તેઓશ્રીના ઉજ્જવળ ચારિત્રશીલ જીવનના પ્રતિબિંબો ઉપસી આવે છે." ત્યારબાદ અગ્રણીઓ આચાર્યશ્રી પાસે આવ્યા. પંજાબનું નામ નીકળતાં આચાર્યશ્રી નાના બાળકની જેમ ધ્રુસકે ધ્રુસકે રડી પડ્યા હતા. તેમણે જણાવ્યું "ચાતુર્માસ બાદ પાલીતાણા દાદાના દર્શન કરીને પંજાબ તરફ વિહાર કરવાની ભાવના છે. પણ એ ભાવના પૂર્ણ થશે કે?" આટલું બોલતાં એ ગમગીન બન્યા અને પછી સર્વને માંગલિક સંભળાવ્યું હતું. તા૦ ૧૯–૯–૧૯૫૪ના રોજ આચાર્યશ્રીએ જૈન તત્ત્વજ્ઞાનનો અંગ્રેજી ભાષામાં અનુવાદ થાય તે માટે અનુરોધ કર્યો. સાહિત્ય સંમેલન ભરવાનો વિચાર પણ પ્રગટ કર્યો.

સં૦ ૨૦૧૦ના ભાદરવા વદિ દશમ ને મંગળવારનો દિન હતો. સાંજે પાંચ વાગે વૈદરાજ આવ્યા. આચાર્યશ્રીની નાડી તપાસી. આચાર્યશ્રીએ વૈદરાજને કર્મનું તત્ત્વચિંતન સમજાવ્યું. દૂધ પીવાની આચાર્યશ્રીની અરુચિ હોવા છતાં આગ્રહથી થોડું દૂધ પીધું. 'કલ્યાણમંદિર' સાંભળી, પ્રતિક્રમણ સંથારાપોરસી કરી આચાર્યશ્રીએ આરામ લેવા માંડ્યો. રાત્રે સાડા દશ વાગે આંખ ખૂલી ગઈ. થોડું શરીર દબાવતાં જરા નિદ્રા આવી ગઈ. સાડા અગિયાર વાગે ફરી આંખ ખૂલી ગઈ. પાસું ફેરવી આચાર્યશ્રી પાછા સૂઈ ગયા. રાત્રે બે વાગ્યા. નિદ્રા ન રહી. આચાર્યશ્રીએ ચોવીસ ભગવંતોના નામોનું સ્મરણ કર્યું. નવકાર મંત્રો

બોલવા લાગ્યા. પાસે સૂતેલા મુનિશ્રી જિનભદ્રવિજયજી જાગી ઊઠ્યા અને આચાર્યશ્રીને કહ્યું, “સાહેબ, પ્રતિક્રમણને વાર છે. બે વાગ્યા છે.” આચાર્યશ્રી વિશેષ અસ્વસ્થ જણાયા. બધા મુનિમહારાજો ગુરુદેવના ચરણમાં આવ્યા. નવકારમંત્રો ઉપરાઉપરી સંભળાવવા માંડ્યા અને રાત્રે ૨–૩૨ મિનિટે જૈન ધર્મ અને સમાજને પ્રગતિશીલ બનાવવા માટેની જ્યોત પ્રગટાવનાર પૂ૦ શ્રીવિજયાનંદસૂરીશ્વરજી મહારાજના શિષ્ય પૂ૦ આચાયશ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીનો જીવનદીપક બુઝાઈ ગયો.

આચાર્યશ્રીના કાળધર્મના સમાચાર ભારતના ખૂણે ખૂણે પ્રસરી ગયા. લાખોનો લાડીલો પંજાબકેસરી લાખોનાં હૈયામાં કલ્પાંત મચાવી સ્વર્ગે સંચર્યો. આંખો આંસુ વહાવી રહી. હૈયેહૈયું આક્રંદ કરી ઊઠ્યું. મુંબઈની ધરતી ઉપર તો જાણે ગમગીનીનાં વાદળ એકાએક ઊતરી આવ્યાં.

* * *

જૂના, નવા તથા જાણીતા સર્વે સામયિકોએ તંત્રીલેખો દ્વારા તેમ જ બીજી રીતે આચાર્યશ્રીને અનુપમ અંજલિ આપી. તાર અને ટપાલના થોકડેથોકડા શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સ વગેરે સંસ્થાઓ ઉપર આવવા લાગ્યા.

કોઈએ એઓશ્રીને પંજાબના રચયિતા તરીકે ઓળખાવ્યા. વ્યક્તિએ અને સમષ્ટિએ અંજલિ આપી. અરે, પ્રકૃતિ પણ ભૂલી નહીં. ગગનના પ્રભાકરે એઓશ્રીના ભવ્ય આત્માને આવકારવા દેવ-વિમાન જેવું તેજનું કુંડાળું રચી પોતાના પ્રાંગણને વિભૂષિત કર્યું. કોઈએ આચાર્યશ્રીને આર્યસંસ્કૃતિના ઉત્કર્ષમાં પોતાનો ફાળો આપનાર તરીકે પણ ગણાવ્યા. કોઈએ લખ્યું, “આવા આર્ષદ્રષ્ટાઓ દરેક ધર્મમાં યુગે યુગે પાકો, જેથી આત્મમુક્તિ અને સાચી માનવતા માટેના ખુદાઈ માર્ગમાં પ્રકાશ પાથરતી જ્યોત વધુ વિકસિત બને.” સાથે આચાર્યશ્રીના અધૂરા રહેલાં કાર્યોને યાદ કરી તે પૂરાં કરવાની ફરજ આપણી છે એવું કહ્યું “વલ્લભવિદ્યાલય રચો”ની માગણી થઈ. કોઈએ એમને મહાન કેળવણીકાર ગણાવી જૈન યુનિવર્સિટીની તેમની અતૃપ્ત ઇચ્છા પૂરી કરવાની હિમાયત કરી.

સર પરસોતમદાસ ઠાકોરદાસને અધ્યક્ષસ્થાને લગભગ ૧૬૦ સંસ્થાઓના ઉપક્રમે મુંબઈમાં આઝાદ મેદાનમાં આચાર્યશ્રીને ભવ્ય અંજલિ અપાઈ. વિખ્યાત વક્તાઓએ એમનાં જીવનકાર્યો ઉપર પ્રશંસાના પુષ્પો ચઢાવ્યાં. સર્વાનુમતે ઠરાવ પસાર થયો: “જૈન સમાજના જ્યોતિર્ધર, સચ્ચારિત્રચૂડામણી, પંજાબકેસરી આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના બુધવાર તા૦ ૨૨–૯–૧૯૫૪ના રોજ થયેલા સ્વર્ગારોહણથી ભારતને એક મહાન વિભૂતિની ખોટ પડી છે તેઓશ્રીનો ઉપદેશ સમગ્ર સમાજ તથા રાષ્ટ્રને માર્ગદર્શક બની રહે છે. કેળવણીના ક્ષેત્રમાં તેઓશ્રીએ અનેક સંસ્થાઓ દ્વારા અદ્વિતીય કાર્ય કરી પ્રેરણા આપી છે. આપણે તેઓશ્રીના ઉપદેશના અનુગામી બનીએ એવી શાસનદેવ પ્રત્યે આ સભા પ્રાર્થના કરે છે.”

આચાર્યશ્રીના જીવનની મનની છેલ્લી પ્રક્રિયા શું હશે એ તો જ્ઞાની જ કહી શકે. માનવબુદ્ધિનો એ વિષય નથી. વડોદરાનો છગન નામનો નાનો બાળક પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના પ્રભાવ નીચે આવી દીક્ષા લે છે. ઠેરઠેર વિહાર કરી પંજાબ પહોંચી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનું સ્વપ્ન સિદ્ધ કરવા પ્રયત્નો કરે છે. જીવનની પ્રત્યેક પળ જૈન શાસનના અભ્યુદય માટે વાપરવા ઇચ્છે છે, લાહોરમાં આચાર્ય પદવી સ્વીકારે છે, અનેક માનવોને પ્રેરણા આપે છે, એકતા માટે અનેક પ્રચાર કરે છે, મારવાડમાં નવજાગૃતિનું પૂર આણે છે, સાધુસમુદાયમાં પણ એકતા માટે પ્રયાસ કરે છે, ફરી પાછા પંજાબ જાય છે અને ત્યાં પણ ધર્મનો અને ધર્મસાહિત્યનો પ્રચાર કરે છે, કોમી રમખાણો જુએ છે, અનેક સ્થળોએ વિહાર કરતા કરતા શત્રુંજયની યાત્રા કરીં મુંબઈ પધારે છે. આવી અનેક પ્રવૃત્તિઓ કરી પ્રેરણા આપે છે. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી સમાજમાં નવચેતન આણનાર, કેળવણીનો પ્રચાર કરનાર, સમય-જ્ઞ આચાર્યશ્રીનો દેહ કાળના ધર્મને વશ થાય છે. કાળ કાળનું કામ કરે છે. માનવી

માનવીનું કામ કરે છે. સંસારની આ ઘટમાળમાં અનેકો આવ્યા છે, આવે છે અને આવશે. આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના નામે ઓળખાતો દેહ નાશ પામે છે પણ આચાર્યશ્રીનું કાર્ય ને તેઓશ્રીનો જીવન-સંદેશ આપણી પાસે છે. शिवमस्तु सर्वजगतः ની ભાવનાનો અમલ કરીને એમનું કાર્ય એ વસ્તુ સિદ્ધ કરે છે કે આચાર્યશ્રીએ પોતાનું કર્તવ્ય પૂરેપૂરું અદા કર્યું છે. આવા યુગપુરુષ માટે મૃત્યુ મૃત્યુ નથી હોતું. એવા પરમ આત્માની શાંતિ સૌ કોઈએ વાંછવી રહી.

આચાર્યશ્રીના સ્મારક માટે અનેક યોજનાઓ થઈ છે, આ યોજનાઓ કાર્યસ્વરૂપ પણ પામી છે પરંતુ તેઓશ્રીનું સાચું સ્મારક તો તેઓશ્રીના જીવનના સંદેશને, આદર્શને અનુરૂપ આપણું જીવન ઘડવાનું છે. દિવસરાત વીતે છે. કાળનો પ્રવાહ વિચિત્ર રીતે સતત વહ્યે જાય છે. આ સંજોગોમાં માનવી પોતાનું કર્તવ્ય અદા કરે અને એક પળનો પણ નિરર્થક વ્યય ન કરે તે મહત્ત્વનું છે. મહાન માનવી જન્મે છે, જીવે છે, પ્રેરણા આપે છે. આ પ્રેરણા જો આપણા જીવનને ઉન્નત બનાવવામાં નિષ્ફળ નીવડે તો દોષ આપણો છે. આચાર્યશ્રીની ચોરાશી વર્ષની વયની જીવનયાત્રા સાથે આપણા સામાજિક, આર્થિક, રાજકીય અને ધાર્મિક જીવનના પ્રવાહો સંકળાયેલા છે. આચાર્યશ્રીનું ઘડતર અને એની વિકાસકથા આપણને એ રીતે પ્રેરણા આપે છે. આ પ્રેરણા આપણા જીવનને ધન્ય બનાવી શકે એટલી એનામાં તાકાત છે. આ તાકાતને આપણે પિછાણવી રહી અને તેમણે ઉપદેશેલા ધર્મ પ્રમાણે વર્તવું રહ્યું—તો જ તેમનું સાચું સ્મારક કર્યું ગણાશે. તો જ કઠિન તપશ્ચર્યા દ્વારા તેમણે કરેલી સમાજની સેવાનો યોગ્ય બદલો આપ્યો ગણાશે.

ચોર્યાસી વર્ષ જેટલું લાંબુ આયુષ્ય આચાર્યશ્રી આપણી વચ્ચે જીવ્યા. જો કે કાળગણનામાં ચોર્યાસી વર્ષનો કાંઈ હિસાબ નથી, પરંતુ આ વર્ષો દરમિયાન આચાર્યશ્રી જે કાંઈ કરી ગયા, જે કાંઈ વારસો આપણા માટે મૂકી ગયા તે અમૂલ્ય છે. આપણું કર્તવ્ય એ વારસાને યોગ્ય બનવાનું છે. આપણાથી એ બનશે?

અને આચાર્યશ્રી સંસારી જનો માટે જ સર્વ કાંઈ કરી ગયા એવું નથી. જેઓએ સંસાર છોડ્યો છે, જેઓ જગતના સર્વ સુખોપભોગનો ત્યાગ કરી આત્મકલ્યાણના પંથે પડ્યા છે, તેવા સાધુ-મહાત્માઓને પણ તેમણે એક નવીન અંગુલિનિર્દેશ કરીને કહ્યું છે કે સાધુઓનું કર્તવ્ય માત્ર પોતાના આત્માનો ઉત્કર્ષ કરવામાં જ પર્યાપ્ત થતું નથી. પોતાની આસપાસ અજ્ઞાન રૂપી જે ઘોર અંધકાર પ્રવર્તે છે તેના નાશ માટે, સંસારીજનોના સામાન્ય દુઃખોને સમજી તેને હળવાં કરવા માટે પણ તેમણે સતત પ્રયત્નશીલ રહેવું જોઈએ.

વળી આચાર્યશ્રી દૃઢપણે માનતા હતા કે પ્રેમ, ઉદારતા, દયા, કરુણા, પરસ્પર આદર, ક્ષમા, નમ્રતા, નિર્ભયતા, આંતરબાહ્ય પાવિત્ર્ય વગેરે ગુણોથી જ સમાજનો ઉત્કર્ષ થાય, સમાજને ટકી રહેવા માટે આ ગુણો અનિવાર્ય છે, નહિતર તેનો નાશ જ થાય. અને એથી જ પોતાના સમગ્ર જીવન દરમિયાન સમાજના આ ગુણો વિકસાવવા માટે એમણે કાર્ય કર્યું. આમ કરતાં એમને અનેક મુશ્કેલીમાંથી પસાર થવું પડયું હશે, પોતે જે કાંઈ માને છે, આચરે છે, તે લોકોના હૃદયમાં ઠસાવવા માટે અથાક શ્રમ પણ કરવો પડ્યો હશે, છતાં પોતે પોતાના નિર્ણિત કાર્યમાંથી તસુભાર પણ પાછા હઠ્યા નહિ. આપણે જોઈએ છીએ કે એમના એ કાર્યના મીઠાં ફળ આજે પ્રત્યક્ષ જણાઈ રહ્યાં છે.

ભારતવર્ષ કદી મહાપુરુષ વિહોણું રહ્યું નથી. મહાવીર, બુદ્ધ, ગાંધી જેવા પરમ પુરુષોનું સાનિધ્ય એમને સદાય સાંપડયું છે. તેમના આવા સાનિધ્યે દેશને ઊજળી કેડી પર લાવી મૂક્યો છે. આપણા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી પણ મહાપુરુષોની આ પરંપરા પૈકીના એક હતા. એમણે પોતાના સુકૃત્યોથી સમાજનું અને દેશનું નામ ઉજ્જવળ કર્યું છે. સમાજનું અને દેશનું એ સૌભાગ્ય છે કે એમને આંગણે આવા પરમ પુરુષો—યુગપુરુષો જન્મે છે અને સમાજના ઉદ્ધારનું પોતાનું અવતારકૃત્ય પૂર્ણ કરીને પરમધામને પામે છે. આપણા તેમને લાખ લાખ વંદન હો!

જીવન ઘડનારાં પરિબળો

કોઈપણ માનવીના સંપૂર્ણ વ્યક્તિત્વને પારખવું એ ધારીએ એટલે સહેલી વાત નથી, અને એમાંયે મહાન પુરુષને આપણે બહુ અલ્પ અંશે સમજી શકીએ છીએ. મહાન પુરુષો જ મહાન પુરુષોને સારી રીતે સમજી શકે છે એમ કહીશું તો કદાચ વધારે સાચું લેખાશે.

માનવી પોતે મહાન છે કે સંજોગોએ તેને મહાન બનાવ્યો એ પણ નક્કી કરવું અતિ કઠિન છે; પણ સહેજ ઊંડો વિચાર કરતાં લાગે છે કે માનવી અને સંજોગો બન્નેનો ભિન્ન રીતે નહિ પણ સાથે જ વિચાર કરવો જોઈએ. કેટલીકવાર માનવી સંજોગોને ઘડે છે અને કેટલીકવાર સંજોગો માનવીને ઘડે છે. મહાન પુરુષ મોટે ભાગે પોતે જ સંજોગોમાં પલટા લાવતો હોય છે, સમકાલીન સંજોગોનો તટસ્થ દૃષ્ટિએ વિચાર કરતો હોય છે અને છેવટે ક્ષતિઓ દૂર કરી તેને નૂતન સ્વરૂપ અર્પતો હોય છે.

આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિના જીવનમાં તેમના વ્યક્તિત્વની અને સમકાલીન સંજોગોની પરસ્પર સંમિશ્રિત અસર નિહાળવા મળે છે. સંજોગો જે રીતે આવ્યા તે રીતે આચાર્યશ્રીના જીવનનું ઘડતર થયું; અને સંજોગોએ જે પરિસ્થિતિ જન્માવી એ પરિસ્થિતિમાં આચાર્યશ્રીએ અનેક આઘાત-પ્રત્યાઘાતો જન્માવ્યા. પરિણામે પોતાના જીવનકાળ દરમિયાન જે સુધારાઓ માટે આચાર્યશ્રી ઝઝૂમ્યા એ સુધારાઓ આજે સિદ્ધાંત અને વ્યવહારના સ્વરૂપમાં સ્વીકારાઈ ચૂક્યા છે. સમાજમાં વ્યાવહારિક કેળવણીની સાથોસાથ ધાર્મિક કેળવણીની જરૂર છે; સંકુચિત જ્ઞાતિવાદ, વરવિક્રય અને કન્યાવિક્રયની પ્રથા, બારમું તેમ જ બીજાં જમણવારો વગેરે અનુચિત છે. તેઓશ્રીએ રજૂ કરેલી આ હકીકતો સમાજમાં આજે સ્વીકારાઈ ગઈ છે.

આઝાદી માટે અનેક યુગો સુધી હિંદની જનતાએ લડત આપી. આ લડતનાં સ્વરૂપો અનેક હતાં. અરજીયુગ, વિનીતયુગ, દાદાભાઈ નવરોજીયુગ, તિલકયુગ વગેરે યુગોએ પોતપોતાની રીતે ફાળો આપ્યો. કોંગ્રેસમાં ગાંધીજીનો યુગ, અસહકારયુગ, મીઠાનો સત્યાગ્રહ, સવિનય કાનૂનભંગ, વ્યક્તિગત સત્યાગ્રહ, બેંતાળીસની લોકક્રાંતિ, સુભાષબાબુની કામગીરી, હિંદ આઝાદફોજ અને ૧૯૪૭ની સ્વાતંત્ર્ય-પ્રાપ્તિ—આપણી રાષ્ટ્રીય તવારીખના આ તબક્કાઓ આજની પેઢીને હમણાં બની ગયેલી ઘટનાઓ લાગે, પણ નવી પેઢીને તો એની કલ્પના જ કરવાની રહી. વર્તમાનકાળ ઝડપથી ભૂતકાળ બની જાય છે, અને એને ભૂતકાળની તવારીખ બનતાં વાર નથી લાગતી. આપણે સામાન્ય માનવી જીવનની અવધથી બધી વસ્તુઓને માપીએ છીએ. ભૂતકાળના વારસાને ઝીલી, વર્તમાનમાં જીવી ભવિષ્યકાળ તરફ કૂચ કરીએ છીએ. સમાજનું સ્વરૂપ બદલાતું જાય છે. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની એના ઉપર અચૂક અસર પડે છે. આચાર્યશ્રીનો ચોરાશી વર્ષનો જીવનકાળ; આ કાળ દરમિયાનનાં સામાજિક, આર્થિક અને રાજકીય જીવનનાં પરિબળોની આચાર્યશ્રી અને સમાજ પર થયેલી અસર; આ બધું સમજીએ તો જ એમના જીવનનું મૂલ્યાંકન આપણે કરી શકીએ અને એમની વિકાસકથાના ઊંડાણોનો સંપૂર્ણ તાગ પામી શકીએ.

સં૦ ૧૯૨૭થી સં૦ ૨૦૧૦-૧૧નો સમય લઈએ. આ કાળે નવો જમાનો શરૂ થયો હતો. એક અંગ્રેજે જ્યારે રાષ્ટ્રીય કોંગ્રેસની સ્થાપના કરી ત્યારે એણે ભાગ્યે જ કલ્પના કરી હશે કે આ કોંગ્રેસ અંગ્રેજો “હિંદ છોડી જાય”નો નાદ ગજવશે. શ્રી દયાનંદ સરસ્વતીએ આર્યસંસ્કૃતિ ઉપર ભાર મૂકી હિંદુ સંસ્કૃતિને નવી રીતે ચકાસી. શ્રી બુટેરાયજી અને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે વહાવેલા સાંસ્કૃતિક

પ્રવાહોની વ્યાપક અસર હેઠળ મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયજીએ જ્ઞાનપ્રચારની પ્રેરણા ઝીલી અને જ્ઞાનપ્રચારને જ પોતાનું આજીવન કૃત્ય ગણી એ માટે જીવનના અતકાળ સુધી ઝૂઝ્યા.

મહારાષ્ટ્રમાં ગોપાળકૃષ્ણ ગોખલે, રાનડે અને પછી કર્વે તથા લોકમાન્ય તિલક અને બીજાઓ થયા. ગુજરાતમાં પણ આ યુગની અસર થઈ. મુંબઈ પણ આ અસરથી મુક્ત ન હતું. કિન્લૉક ફાર્બસના નામ હેઠળ ફાર્બસ સભા, ગુજરાત વર્નાક્યુલર સોસાયટી (અત્યારની ગુજરાત વિદ્યાસભા) અને એના દ્વારા કેળવણીનો પ્રચાર થયો; કવિ દલપતરામ, સુધારક કવિ નર્મદ, વિવેચક નવલરામ અને દુર્ગાશંકર મહેતાજીનો સમય, અને એમાંથી જન્મ પામ્યો તે અર્વાચીન કવિતા અને સાક્ષરોનો યુગ; એમાંથી આજના અનેક સાહિત્યપ્રવાહો જન્મ્યા. આ પછી બીજી પેઢીમાં ભાષાશાસ્ત્રી, કવિ અને વિવેચક નરસિંહરાવ, કેશવલાલ ધ્રુવ, બળવંતરાય ઠાકોર, કવિ નાનાલાલ વગેરેનો યુગ; આ યુગની સમાપ્તિ થઈ અને આપણા સાહિત્યમાં ગાધીજીની અસર આવી. આ યુગ પૂરો થયો અને એ રીતે સાહિત્યમાં આજના સમય નજીક આપણે આવીએ છીએ.

ખાદીનો સ્વીકાર અને પરદેશી ખાંડનો ત્યાગ

રાજકીય જીવનની સમીક્ષા કરતાં લાગે છે કે આચાર્યશ્રીના જીવનકાળ દરમિયાન આપણી લડતના અનેક તબક્કાઓ પૂરા થયા. ગાંધીજીએ એમના જીવનકાર્યની હિંદમાં શરૂઆત કરી એ પહેલાંની અસરોમાં આચાર્યશ્રી ઘડાયેલા અને આ સમયની અસર એમના જીવનપર થયેલી. કેળવણી માટેનો ઉત્સાહ આચાર્યશ્રીએ ગાંધીજીના પુરોગામીઓ પાસેથી મેળવેલો. રાજકીય સ્પંદનોની અસર હેઠળ આચાર્યશ્રીએ ખાદી સ્વીકારી અને પંજાબની જૈન કૉન્ગ્રેસ પાસે સ્વીકારાવી. પરદેશી ખાંડ સામેની જેહાદનો પ્રવાહ આચાયશ્રીએ આ સમયમાંથી લીધો. આચાર્યશ્રી રાજકીય જીવનથી જલકમલવત્ હોવા છતાં તેની અસરથી અલિપ્ત ન રહી શક્યા. રાષ્ટ્રમાં સ્વરાજ્યપ્રાપ્તિ પૂર્વેની નવજાગૃતિ એમણે સ્વ-આંખે નિહાળી. ત્યાર પછી પણ વિનોબાની ભૂ-દાન ચળવળ, સંપત્તિદાન, શક્તિદાન અને સર્વસ્વદાન વગેરે પણ તેઓશ્રીએ જોયું. જૈનોના ઉત્કર્ષ કાજે સ્વ-જીવનપર પણ જાતે જ પ્રયત્ન કર્યો અને તે માટે આકરી પ્રતિજ્ઞાઓ લીધી. આ બધું બતાવે છે કે ધાર્મિક જીવનને વરેલા આચાર્યશ્રી ઉપર જમાનાની ઠીક ઠીક અસર હતી. એઓશ્રી આ અસરને ઝીલી એના સર્જક પ્રત્યાઘાતો પાડતા.

સામાજિક જીવન પર રાજકીય જીવનની અસર યુગોથી પડતી આવી છે. આચાર્યશ્રીએ જે સામાજિક સુધારાઓ માટે પ્રચાર કર્યો એ સુધારાઓ હકીકત તરીકે આપણા જીવનમાં આજે વણાઈ ગયા છે. મધ્યયુગની અનેક અસરો આપણા જીવન પર હતી. વ્યાવહારિક અને ધાર્મિક કેળવણીની જરૂરિયાત અને સ્ત્રી-કેળવણી ઉપર આચાર્યશ્રી ભાર મૂકતા હતા એ આજના જમાનામાં વિચિત્ર લાગે, પણ એ સમયમાં આ સ્વીકારાયેલી વસ્તુ ન હતી. એમની જેહાદના પરિણામે વરવિક્રય, કન્યાવિક્રય, બારમા-તેરમાના રિવાજો, અઘરણીની નાતો વગેરે અનિષ્ટોએ પોતાનું પ્રભુત્વ ગુમાવ્યું છે એ હકીકત છે.

આચાર્યશ્રીના જીવનકાળ દરમિયાન એ મહાન વિશ્વયુદ્ધો થયાં અને એની ઘેરી અસર સમસ્ત જગત ઉપર થઈ. પહેલા વિશ્વયુદ્ધ દરમિયાન રશિયામાં ક્રાંતિ થઈ. ભારતમાં સ્વદેશીની ચળવળ થઈ અને મૂડીવાદનું સ્વરૂપ વિકસતું ગયું. બીજા વિશ્વયુદ્ધે સમૃદ્ધિની સાથોસાથ યાતનાઓ આપી. આ વિશ્વપ્રવાહોએ મધ્યમ વર્ગ ઉપર ઘેરી અસર કરી. સમાજના અર્થતંત્રની કાયાપલટ કરી નાખી છે. વિશ્વવિગ્રહે ફુગાવો આપ્યો, બંગાળનો દુષ્કાળ આપ્યો અને સમાજના મધ્યમ વર્ગ ઉપર સખત ફટકો માર્યો જેની અસર હજુ સુધી ગઈ નથી.

પ્રથમ અને દ્વિતીય વિશ્વયુદ્ધના પરિણામે મધ્યમ વર્ગ તૂટી રહ્યો છે. મધ્યમ વર્ગની સામાન્ય આકાંક્ષા મૂડીવાદી વર્ગનું અનુકરણ કરવાની હોય છે. આ અનુકરણ બાહ્ય છે પણ ખરું જોતાં અંદરથી મધ્યમ વર્ગ તૂટી રહ્યો છે. આ ક્રિયા-પ્રક્રિયા ચાલુ રહેશે તો સમાજના મધ્યમ વર્ગને મજૂરવર્ગમાં ફેરવાઈ જતાં વાર નહિ લાગે. આચાર્યશ્રીએ મધ્યમ વર્ગને જિવાડવાની, તેમના ઉત્કર્ષની જે વાત કરી છે એનું કારણ એ છે કે એ સંગઠિત નથી અને એકત્રિત અવાજ ઉઠાવી શકે તેમ નથી. સમય-જ્ઞ આચાર્યશ્રીએ કાળની નાડ પારખી સમાજને કાળની સાથે કૂચકદમ ભરતો કરવાના શુભાશયથી અનેક પ્રયત્નો કર્યા. આચાર્યશ્રીની આ સેવા અનુપમ છે અને એનું મૂલ્યાંકન એ રીતે થવું ઘટે.

જૈન સાધુને અને સમાજસેવાને શી લેવા દેવા ? મધ્યમ વર્ગના ઉત્કર્ષની ભાવના, કેળવણી અને સુધારા માટેની હિમાયત—આ બધી પંચાત જૈન સાધુઓ શા માટે કરે ? આવા પ્રશ્નો સ્વાભાવિક રીતે પુછાય છે. કારણ કે જૈનશ્રમણ પોતાના આત્માના ઉત્કર્ષ માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે. એમની પ્રવૃત્તિ સાંસારિક પ્રવૃત્તિ નથી. સમાજની સામાન્ય સમજણ આવી હોવા છતાં જેઓ વસ્તુસ્થિતિને સાચી રીતે સમજી શકે છે તેઓ તો બરાબર સમજે છે કે સમાજને પ્રગતિશીલ અને સશક્ત બનાવે એવાં કાર્યો માટે સમાજને પ્રેરણા આપવી એ એમની ફરજ છે. સમાજ અને સંસ્થા અન્યોન્ય પૂરક છે. જૈન સંઘના આપણા આદર્શમાં પણ સાધુ-સાધ્વી, શ્રાવક-શ્રાવિકાને સમાનભાવે પ્રરૂપ્યા છે. એ ચારેના સમુત્કર્ષમાં જ સંઘનો યોગક્ષેમ છે. આચાર્યશ્રીના જીવનમાં સમાજસેવાનો આ આદર્શ ભારોભાર જોવા મળે છે.

યુગમૂર્તિ તરીકેનો વિકાસ

જૈન સમાજ અને જૈન સંસ્કૃતિની વિકાસકથા બતાવે છે કે દેશની અનેકવિધ અસરોથી એ મુક્ત નથી. જૈનશ્રમણોએ સાહિત્યની અનેકવિધ સેવાઓ કરી છે. વિવિધ અસરો ઝીલતા સમાજને યોગ્ય માર્ગદર્શન કરાવ્યું છે. કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, જગદ્‌ગુરુ શ્રીહીરવિજયસૂરિજી અને સમર્થ વિદ્વાનો મહોપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી, શ્રી આનંદઘનજી મહારાજ અને એ પછીના અનેક મહાપુરુષોએ એ સેવાને ચાલુ રાખી છે. આ પરંપરા સમાજથી પર છે એમ કહી શકાય નહિ. તે તે યુગની અસરો તે તે સમાજ પર અચૂક પડે છે. આ વાત જૈન ધર્મની પરિભાષામાં કહેવી હોય તો એમ કહી શકાય કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અસર એક યા બીજા રૂપે વ્યક્તિ અને સમાજ ઉપર થયા વિના રહેતી નથી. આ રીતે વિચાર કરતાં લાગે છે કે આચાર્યશ્રી કાળના પ્રવાહના અને નિત્યનૂતન સંજોગોના જ્ઞાતા હતા. આચાર્યશ્રી જોઈ શક્યા કે શ્રમણ સંસ્થા સમાજથી જુદી નથી. એ સંસ્થાએ જો વિકાસ સાધવો હશે તો એણે પણ કાળના પ્રવાહો સાથે વહેવું પડશે. તો જ એ પ્રગતિશીલ બની શકશે. આથી જ આચાર્યશ્રીએ રૂઢ સમાજના ચોકઠામાંથી બહાર જઈને ધાર્મિક કેળવણીની સાથોસાથ વ્યાવહારિક કેળવણીના મહત્ત્વ ઉપર ભાર મૂક્યો. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયથી માંડીને અનેકવિધ વિદ્યાલયો, કૉલેજો અને સ્કૂલોની સ્થાપના કરાવી જ્ઞાનની પ્રવૃત્તિ કરી. સ્ત્રી વર્ગના ઉદ્ધારની વાતો કરી. રાજકીય તેમ જ સામાજિક પરિબળોની સાથે રહી તેઓશ્રી ‘યુગમૂર્તિ’ બની શક્યા.

આચાર્યશ્રી જૈનશ્રમણ સંસ્કૃતિના પ્રખર જાણકાર એવા હોવા છતાં તેઓશ્રી અન્ય સંસ્કૃતિઓનું પણ સમગ્રતયા દર્શન કરી શક્યા. રાજ્ય તથા સમાજની પ્રવર્તમાન અસરોને ઝીલી તેનો પડઘો પાડી શક્યા. સાંપ્રદાયિક આંતરકલહોની બાબતો પડતી મૂકી આચાર્યશ્રી સર્વગ્રાહી સિદ્ધાંતના સમન્વય કાજે પ્રયત્ન કરી તેના પુરસ્કર્તા બન્યા.

રાજકીય પરિબળોની સમાજ ઉપર થતી પ્રબળ અસર પ્રીછી શકેલા આચાર્યશ્રી જનતાને રાજકીય જીવનમાં રસ લેવા કહે એ એમના યુગમૂર્તિ તરીકેના વિકાસક્રમની એક કડી છે. એની પાછળનો

શુભાશય સ્પષ્ટ છે. આચાર્યશ્રી સમજી શક્યા હતા કે રાજકીય લાગવગ વિના સમાજ તણાઈ જાય છે. એટલે કોઈ પણ સમાજે જો સ્થિર ઊભા રહેવું હશે તો રાજકીય પ્રવાહોમાં એ સમાજે પોતાની તાકાત બતાવવી પડશે. યુદ્ધોની અસરોએ એ સ્પષ્ટ સાબિત કરી નાખ્યું કે 'વાણિયો વેપારે શોભે' એ હવે હકીકત નથી. તેઓશ્રી સ્પષ્ટ રીતે સમજી શક્યા કે બિનસાંપ્રદાયિક લોકશાહીમાં માનવી કેવળ સાંપ્રદાયિક હેતુઓ અને વાડાઓ બાંધી બેસી રહે એ નહિ ચાલે. સામાન્ય તત્ત્વોની ભૂમિકા પર આવી સમાજમાં નવું જ પરિબળ જન્માવે તો જ એ જીવી શકશે. આચાર્યશ્રીના જીવનની વિકાસકથા એ રીતે વિચારવા જેવી છે.

સામાજિક એકરૂપતા અને જીવનનું ધ્યેય

આચાર્યશ્રીનો જીવનવિકાસ ઉત્તરોત્તર વધતો રહ્યો છે એની પ્રતીતિ એમનું જીવનકાર્ય આપી જાય છે. આનું કારણ એ છે કે માનવી જ્યારે જીવનનું એક મહાન સત્ય સ્વીકારે છે અને કાળના પ્રવાહને અનુકૂળ બની જીવનનું ઘડતર કરે છે ત્યારે જીવનના બીજા પ્રવાહો એને માટે અનુકૂળ થઈને રહે છે. આચાર્યશ્રી સામાન્ય જનસમુદાયની માફક માત્ર વારસામાં જ રાચતા હોત, માત્ર શ્રમણસંસ્કૃતિના "ચંદનઘર"માં વસતા હોત અને ફક્ત ગૂજરાતમાં જ વસ્યા હોત તો કદાચ એમના જીવનનું ઘડતર બીજી રીતે થયું હોત! દીક્ષા લીધા બાદ આચાર્યશ્રી એમના જીવનઘડતરના સમય દરમિયાન પંજાબમાં રહ્યા. પંજાબમાં જાણેઅજાણે એઓશ્રીને સમાજ સાથે એકરૂપ થવું પડ્યું. આ સમાજના એક ભાગરૂપ બની ગયેલા આચાર્યશ્રીને સમાજના ઉત્થાન માટે કેળવણીનું મહત્ત્વ સમજાયું. એમાંથી અનેક પ્રવૃત્તિઓ જન્મી. પંજાબના અસ્તિત્વ માટે લડતાં લડતાં આચાર્યશ્રી નૂતન દૃષ્ટિ અને ચપળતા પ્રાપ્ત કરી શક્યા. એક બાજુ આચાર્યશ્રી દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ વિચારતા થયા અને બીજી બાજુ રાજકીય અને સામાજિક અસરો તેઓશ્રીના જીવન ઉપર પડતી ગઈ. આ રીતે એમનું વિશિષ્ટ વ્યક્તિત્વ ઉત્તરોત્તર વિકાસ પામતું ગયું. જીવનમાં એક સત્ય લાધી ગયું અને એ સત્યની ઉપાસના એ જ એમનો જીવનધર્મ બની ગયો. કેળવણીનો પ્રચાર એ આચાર્યશ્રીનું ધ્યેયબિંદુ બની ગયું; આ કારણે એઓશ્રીની પ્રેરણાથી સમાજને લાભદાયી એવી અનેક કેળવણી-સંસ્થાઓનો જન્મ થયો. કેળવણી માટેના આચાર્યશ્રીના આગ્રહે સમાજમાં અનેક પ્રત્યાઘાતો પણ જન્માવ્યા. પરંતુ સમયજ્ઞ આચાર્યશ્રીએ જરા પણ સ્વસ્થતા ન ગુમાવતાં સર્વગ્રાહી સમન્વયકારી વ્યક્તિત્વનો વિકાસ સાધ્યો. કેળવણીની અનેક સંસ્થાની સ્થાપનાથી માંડીને જૈન યુનિવર્સિટી સ્થાપવા અંગેની તેમની ઇચ્છા અને હિમાયત એ આચાર્યશ્રીના જીવનકાર્ય અને દર્શનની એક પ્રેરક કથા છે.

પ્રગતિશીલ બળો અને કેળવણીના પુરસ્કર્તા

ચોરાશી વર્ષના જીવનકાળમાં પ્રત્યેક પળ સમાજના શ્રેય માટેની પ્રવૃત્તિમાં અને આત્માના વિકાસમાં ગાળનાર આચાર્યશ્રી સમાજમાં પ્રવર્તતાં અનિષ્ટો, અન્યાયો અને અસમાનતાઓના જાણકાર હતા. ધર્મના સંસ્કારો અને રૂઢિગત પરંપરા વચ્ચે ભેદ છે. ધાર્મિક રિવાજો કે રૂઢિઓ અને એ રૂઢિઓએ જન્માવેલી પરપરા અને મૂળ ધાર્મિક સિદ્ધાંતો વચ્ચે મહત્ત્વનો ભેદ પડી ગયો છે અને ધાર્મિક કે ધર્મમય જીવન એટલે માત્ર પરંપરા જ નહિ એ વસ્તુ એમના જીવનમાં જોવા મળે છે. સ્વ૦ વીરચંદ ગાંધી વિશ્વધર્મપરિષદમાં જૈન ધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે અમેરિકા જઈ આવ્યા બાદ સમાજમાં જે પડઘા અને પ્રત્યાઘાતો પડેલા તેનો આચાર્યશ્રીને પરોક્ષ કે અપરોક્ષ રીતે અનુભવ હતો. એમની અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓએ જન્માવેલા આઘાત-પ્રત્યાઘાતોથી આચાર્યશ્રી વાકેફ હતા અને એનો તો આચાર્યશ્રીને પ્રત્યક્ષ ખ્યાલ હતો. આ અનુભવોથી આચાર્યશ્રીનું વ્યક્તિત્વ ઘડાયું હતું. આચાર્યશ્રી બહુ જ સારી રીતે સમજી

શકતા હતા કે સામાન્ય રૂઢિગત જીવન જીવનારની સમક્ષ અસામાન્ય દૃષ્ટિબિંદુ રજૂ કરવામાં આવે ત્યારે તે એનો વિરોધી પડઘો પાડે છે. આ મનોદશા અતીતમાંથી ચાલી આવે છે. સામાન્ય માનવી આવા ચીલામાં જ પોતાનું જીવન વીતાવે છે. આ ચીલામાંથી તમને બહાર લાવવા માટે ઘણી મહેનત કરવી પડે છે. એના માટે ધાર્મિક રૂઢિ અને બાહ્ય ક્રિયાઓ એ જ છત્ર બની જાય છે. એનો ભંગ કરનારા પ્રત્યે એ વિરોધી સૂર કાઢે છે અથવા તો અણગમો બતાવે છે. સમાજના મોટા વર્ગની આ મનોદશા હોય છે.

આ મનોદશામાં કેળવણીનો પ્રચાર કરનાર ધર્મગુરુના કાર્ય પ્રત્યે શંકાઆશંકાઓ સેવાય એમાં નવાઈ નથી. કશુંક ન ગમે એવું આ મહારાજ કરી રહ્યા છે એવી મનોદશા એમનામાં પેદા થાય છે અને આ સ્થિતિ કંઈ આજના યુગની જ નથી. દરેક યુગમાં આમ બનતું આવ્યું છે. અર્ધમાગધીના સૂત્રોને સંસ્કૃતમાં રજૂ કરવા માટે ‘કલ્યાણસ્તોત્ર’ના રચયિતા શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરને ગચ્છ બહાર મૂકવામાં ક્યાં નહોતા આવ્યા? પરંતુ એમના મંતવ્યોનો જૈન-શ્રમણોએ પાછળથી સ્વીકાર કર્યો.

પોતાની દૃષ્ટિના વિકાસને પરિણામે આચાર્યશ્રી સમજતા થયા કે જૈન ધર્મનો આદર્શ ગમે તેવો હોય, પરંતુ ઇતર સમાજ તો આ ધર્મ પાળતા સમાજની રહેણીકરણી અને વિચારોથી આ ધર્મ વિશે ખ્યાલ બાંધશે. આથી જૈન ધર્મના નાયક તરીકે આચાર્યશ્રી પોતાની ફરજ માનતા થયા કે સમાજને પ્રગતિશીલ બનાવે એવાં બળોના જો પોતે પુરસ્કર્તા નહિ બને તો સમાજ પાછળ રહી જશે. આ પીછેહઠની અસર સમાજના બીજા અંગો ઉપર પડશે. સ્વામી દયાનંદ સરસ્વતીના અનુયાયીઓ કેળવણીનો કેવી રીતે પ્રચાર કરતા હતા એનો દાખલો આચાર્યશ્રી પાસે હતો. રૂઢિ-રિવાજોએ જન્માવેલી પ્રણાલિકાઓમાં જો જમાનાની માગ પ્રમાણે ફેરફાર નહિ થાય તો એ બંધિયાર પાણી બની જાય. આચાર્યશ્રી પાસે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો અનુપમ દાખલો હતો. સમાજમાં નવજાગૃતિ આણવા મથનાર આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ હતો કે સત્ય અને યોગ્ય માર્ગદર્શન આપવાથી સમાજના અજાગ્રત વર્ગનો વિરોધ વણનોતર્યો ઊભો થશે પણ પ્રત્યાઘાતીઓની પરવા કર્યા વિના આચાર્યશ્રી મૂળને પકડતા અને તે આરાધવા અનુરોધ કરતા. આચાર્યશ્રીના જીવનકાર્યનું આ પ્રેરક બિંદુ આપણે સમજીએ તો એમના જીવનકાર્યને અને કાર્યે જન્માવેલ પરિબળોને સમજવું અતિ સહેલ બની જાય.

મનની સમતુલા જાળવી વિરોધી સૂરોના આંદોલનો વચ્ચે પણ આચાર્યશ્રીએ સમાજને પ્રામાણિક માર્ગદર્શન આપ્યું. માત્ર ધર્મનો જ પ્રચાર કરવાના સંકુચિત ચોકઠામાંથી બહાર નીકળી આચાર્યશ્રીએ ધર્મની સાથે સાથે સમાજના ઉત્કર્ષની પણ વાત કરી. જેમ જેમ દૃષ્ટિબિંદુ વિકસતું ગયું તેમ તેમ સમાજના નવાં મૂલ્યો અને પ્રગતિશીલ બળોના પોતે પુરસ્કર્તા બની શકયા. આચાર્યશ્રીની આ મહાન સાધના પાછળ ક્ષુલ્લક મનોવૃત્તિ અને સ્વાર્થ ન હોવાને કારણે સમાજ પર એની સારી અને સ્થાયી અસર થઈ. આજે જૈન સમાજમાં જે અનેક શિક્ષણ સંસ્થાઓ, ગુરુકુળો અને વિદ્યાલયો છે તેનું માન આચાર્યશ્રીને ફાળે જાય છે. આને કારણે આજે કેળવણીનું પ્રમાણ વધ્યું છે. આચાર્યશ્રીના દૃષ્ટિબિંદુને સમજીએ તો ભૂલવું ન જોઈએ કે પ્રણાલિકા સાથે પ્રયોગની તાકાત ગુમાવવી ન જોઈએ. જે માનવી, સંસ્થા કે સમાજ આ તાકાત ગુમાવે છે તે મૃતઃપ્રાય બને છે.

* * *

આ રીતે જોતાં આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી શબ્દના સાચા અર્થમાં ચેતનમય અને આવતી કાલ જોઈ શકનારા દ્રષ્ટાપુરુષ હતા. જૈન શ્રમણો માત્ર આત્માની આરાધનામાં જ મસ્ત રહે, માત્ર રૂઢ સંસ્કારોનો પ્રવાહ ચાલુ રાખે એ સંજોગોમાં ઉછરેલા આચાર્યશ્રી આવતી કાલ જોઈને એક કદમ આગળ ઉઠાવે છે. આ કદમ ઉઠાવતી વખતે આચાર્યશ્રીને સંપૂર્ણ ખ્યાલ છે કે એના પ્રત્યાઘાતો પડવાના છે; છતાં

પણ એ મક્કમતા, ધીરજ, ખંત અને સહિષ્ણુતાથી કામ કરે છે અને સમાજને આગળ ધપવા માટે અનુરોધ કરે છે.

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવને બરાબર ઓળખી આચાર્યશ્રી આગળ વધે છે. શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કૉન્ફરન્સને પ્રેરણા આપનાર, એના કાર્યમાં અનુમોદન કરનાર, કેળવણીની વ્યાપ્ત બની રહેલી દૃષ્ટિને આવકારનાર, મધ્યમ વર્ગના ઉત્કર્ષ માટે ફંડ શરૂ કરનાર, સમાજમાં એકતા માટે પ્રયત્ન કરનાર, સંઘ–સંઘના, ભાઈ–ભાઈના, માતા–પુત્રના આંતરિક ઝઘડાઓને શાંત કરનાર. એમના સંપ માટે મધ્યસ્થી બનનાર, ઉત્સાહપૂર્વક જ્ઞાનનો પ્રચાર કરનાર, બધા ફીરકાઓના અંતર્ગત ભેદો પોતાની પાસે રાખી જૈન ધર્મની સામાન્ય ભૂમિકા પર બધાને એકત્ર કરવાનો પ્રયાસ કરનાર—આમ અનેક રીતે કાર્ય કરનાર તરીકે તેઓશ્રીને ઓળખનાર એમના જીવનની વિશિષ્ટતા સમજી શક્યા વગર નહિ રહે. પોતાની આવી અનેક વિશિષ્ટતાઓને કારણે આચાર્યશ્રી મહાન યુગપ્રવર્તક અને યુગદ્રષ્ટા બન્યા હતા.

આચાર્યશ્રી કવિ તરીકે

આચાર્યશ્રી હૃદયે કવિ હતા. વ્યવહાર અને સાહિત્યની દૃષ્ટિએ પણ તેઓશ્રી કવિ હતા. તેઓશ્રીની અનેક કૃતિઓ, સ્તવનો, પૂજાઓ, સઝ્ઝાયો આદિમાં એમનું કવિત્વ પાંગર્યું છે. વિહાર દરમિયાન જ્યાં જ્યાં એમની ઊર્મિ જાગ્રત થઈ ત્યાં ત્યાં એઓશ્રીનું કવિહૃદય વિકસ્યું છે. એઓશ્રીના ભક્તિનાં સ્તવનો લગભગ પાંચસો જેટલાં થવા જાય છે.

આચાર્યશ્રીની ઊર્મિ એક ભક્તકવિની ઊર્મિ છે. પ્રભુ–મૂર્તિને નીરખતાં તેમનું ભક્તકવિનું હૃદય જાગી ઊઠતું અને મસ્તીમાં મૂઢ થઈ જાતું. આજુબાજુની દુનિયા ભૂલી જતા હોવાને કારણે તીર્થ વિશેની એમની કૃતિઓ આપણને એની સરળ ભાષાને કારણે ગમી જાય એવી છે. આચાર્યશ્રીનાં સ્તવનો એટલે ઊર્મિઓનો નૈસર્ગિક સંગમ.

આચાર્યશ્રીએ પરમેષ્ઠિ પૂજા, શ્રી પંચતીર્થ પૂજા, શ્રી આદીશ્વર પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી શાંતિનાથ પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુ પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી મહાવીર પ્રભુ પંચકલ્યાણક પૂજા વગેરે લખી છે. શ્રી અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, બ્રહ્મચર્ય, જ્ઞાન અને દર્શન તથા વિષયત્યાગ વિશે પણ આચાર્યશ્રીએ પદો બનાવ્યાં છે.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો ઉપકાર

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ પ્રત્યે આચાર્યશ્રીને બહુ માન હતું. આથી એમની અનેક કૃતિઓમાં આચાર્યશ્રી કહે છે: " આત્મલક્ષ્મી હર્ષે વલ્લભ; આત્મલક્ષ્મી હર્ષે ધરીને વલ્લભ હોત આનંદ," વગેરે.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના મંત્રી તરીકે એમનું જીવનઘડતર શરૂ થયું. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે પોતાના આ શિષ્યમાં રહેલી સાહજિક હિંમતનો તાગ મેળવ્યો હતો. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે એમની જીવનસંધ્યાના દિવસોમાં પ્રેરણા આપી અને કહ્યું, " વલ્લભ, મારા જીવનની સંધ્યા આવી રહી છે. પંજાબની રક્ષા કરવાનું કાર્ય હવે તારે શિરે છે. સરસ્વતીમંદિરોની તું સ્થાપના કરજે. જનસેવાના કાર્યો કરાવજે. આજનો જમાનો કેળવણીનો છે. શ્રાવકો ભણેલા હશે, કેળવાયેલા હશે, જ્ઞાનવાન હશે તો જ તેઓ સાતે ક્ષેત્રની રક્ષા કરી શકશે. "

ચોરાશી વર્ષનું આચાર્યશ્રીનું દીર્ઘજીવન અપાર પ્રવૃત્તિમાં જ વીત્યું છે. જીવનની પ્રત્યેક પળ ઉત્તમ ઉદ્દેશ કાજે વાપરવાની તાલાવેલીમાંથી આચાર્યશ્રીનો આ પ્રવૃત્તિ-પ્રેમ જન્મ્યો. આનો અર્થ એ નથી

કે એઓશ્રીએ આત્મ-સાધના ઓછી કરી છે. પરંતુ કેવળ આત્મસાધનામાં જ પોતાનું જીવન મર્યાદિત બનાવવાને બદલે સમાજસેવા દ્વારા જીવનનો વિકાસ કરવાના આશયમાંથી આચાર્યશ્રીની અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓ જન્મેલી. આત્માના વિકાસની વાતો આચાર્યશ્રીને મંજૂર હતી પણ એની સાથોસાથ એ સમાજના ઉત્કર્ષનું, શ્રાવકોની ઉન્નતિનું અને એ દ્વારા આખા સમાજને પ્રગતિના માર્ગે લઈ જવાનું એ કદી વીસરી શકતા નહિ.

ધર્મ પહેલો કે સમાજ પહેલો? ધર્મથી સમાજ છે કે સમાજથી ધર્મ? આ પ્રશ્નો મહત્ત્વના છે. જૈન આચાર્ય સદાયે ઝંખે છે મોક્ષને, સાંસારિક પ્રવૃત્તિમાંથી આત્માના કલ્યાણને કાજે નિવૃત્તિને; એ બોધ કરે છે નિવૃત્તિનો, વૈરાગ્યનો, દીક્ષાનો અને ધર્મનો. આચાર્યશ્રીના પ્રવચનોમાં આને માટે બોધ નથી એમ કહી શકાય નહિ. પણ એઓશ્રીના પ્રવચનોમાં માત્ર આ જ વસ્તુ નથી. ધર્મના પ્રશ્નો આવે, ધર્મની કથા આવે અને તત્ત્વજ્ઞાનની ચર્ચા આવે ત્યારે આચાર્યશ્રી જરૂર આ વસ્તુ પર ભાર મૂકતા અને બોધ આપતા. પરંતુ એમનો મુખ્ય હેતુ સમાજના ઉત્કર્ષનો, સમાજના મધ્યમ વર્ગના માનવીને ઊંચે લઈ જાય તેવો બોધ આપવાનો રહેતો. સામાન્ય માનવીને તેઓ સ્પષ્ટ હકીકતો રજૂ કરી કહેતા: "હું ઝંખું છું સામાન્ય માનવીના ઉત્કષને, જૈન યુનિવર્સિટીને. હજારો શ્રાવકો આર્થિક રીતે ભીંસાતા હોય ત્યારે આ બેદરકારી ન શોભે. સમાજ જીવશે તો ધર્મ જીવશે. સમાજમાં જૈનધર્મીઓનું નેતૃત્વ હશે તો જ જૈન-ધર્મની વાહવાહ બોલાશે. દેવમંદિરોની જેમ જ્ઞાનમંદિરો પણ પ્રવૃત્તિથી ગુંજતા હોવા જોઈએ."

આનો અર્થ એ નથી કે આચાર્યશ્રીને પોતાના ધર્મનો ખ્યાલ ન હતો. પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ અને એમના ગુરુઓમાં આચાર્યશ્રીએ આદર્શ સાધુના ધર્મનું ઉત્કૃષ્ટ સ્વરૂપ નિહાળ્યું હતું. પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ, શ્રી હંસવિજયજી મહારાજ, શ્રી વીરવિજયજી મહારાજ વગેરેની જીવનચર્યાનો આચાર્યશ્રીને ગાઢ પરિચય હતો. એમના આશીર્વાદો પણ આચાર્યશ્રીને મળેલા હતા પણ સમાજના માર્ગદર્શક કે ઉદ્ધારક થવામાં આચાર્યશ્રીને આદર્શ સાધુજીવન સાથે કોઈ પણ જાતનો બાધ ન જણાયો. ઊલટું એમાં એમને આત્મવિકાસ માટે વધુ અવસર મળતો લાગ્યો. પરિણામે એઓશ્રીની પ્રવૃત્તિઓ અને જીવનચર્યા પણ એ રીતે ચાલી. એક સંસ્થા શરૂ થાય એટલે એના વિકાસ માટે બીજી અનેક પ્રવૃત્તિઓ જન્મે અને એ માટે બીજી અનેક જાતની ચિંતાઓ સેવવી પડે એ સ્વાભાવિક છે. પંજાબની અનેક સંસ્થાઓ માટે આચાર્યશ્રી હમેશાં ચિંતા વ્યક્ત કરતા. છતાં તેઓ કદી સમાજમાંથી શ્રદ્ધા ગુમાવતા નહિ. સંસ્થાઓ માટે આચાર્યશ્રી નિઃસંકોચ હાથ લાંબો કરી શકતા અને બીજાઓને એમ કરવાની પ્રેરણા આપતા. તેઓ કાર્યકરા સમક્ષ એક ઉત્તમ ઉદાહરણ રજૂ કરતા. અનેક સ્થળના વિહારમાં, દિનચર્યામાં તેમ જ પત્રવ્યવહારમાં આચાર્યશ્રીની આ પ્રવૃત્તિનું દર્શન થઈ શકે તેમ છે. આથી એમના જીવનની પ્રત્યેક પળ કોઈ ને કોઈ કાર્યમાં મગ્ન થયેલી આપણને દેખાય છે.

"હે ગૌતમ! એક ક્ષણમાત્રનો પણ પ્રમાદ તું ન કરીશ"—પ્રભુ મહાવીરનો આ જીવનસંદેશ આચાર્યશ્રીએ જીવનમાં ઉતાર્યો હતો. જીવનની પ્રત્યેક પળ કોઈ ને કોઈ કાર્યમાં, કોઈ ને કોઈ ઉપાસનામાં વીતતી હતી. સવારના ચારથી ઊઠીને રાત્રે સંથારો કરે ત્યાં સુધી એમનું કાર્ય ચાલતું. આગંતુકો સાથે સંકુચિતતાના નામ વિના જીવન-સિદ્ધિની કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવે જન્માવેલા અનેક વિષયોની ચર્ચા ચાલે.

સામાન્ય જનના કેવું જીવન જીવે છે એનો ખ્યાલ આચાર્યશ્રીને વિહારમાં મળતો. જન-સંપર્કના પરિણામે સમાજના દુઃખ-સુખ, વ્યક્તિઓની ઈર્ષા-અસૂયા-ઝેર અને વ્યક્તિના ગુણો, દેશનું વ્યાપક

રાજકીય-સામાજિક-આર્થિક-સાંસ્કારિક જીવન, સ્ત્રી સમાજના પ્રશ્નો, સંક્રમણકાળના ધર્મના અનેક પ્રશ્નો—આ બધાંનો આચાર્યશ્રી તાગ મેળવી શકતા. જીવનકાળમાં ઉત્તરોત્તર વધતી જતી પ્રવૃત્તિનું આ એક કારણ ગણાવી શકાય. એક કામ પૂરું થયું કે આચાર્યશ્રી બીજું કામ હાથમાં લેતા—જાણે કે એક કાર્યમાંથી બીજા કાર્ય માટેની તેઓશ્રી પૂર્વભૂમિકા ઊભી કરતા.

માનવપ્રેમી અને માનવી માત્રના ગુરુ

એમના અનુયાયીઓમાં મુસલમાનો, ખ્રિસ્તીઓ, શીખો—બધા જ ધર્મના લોકો હતા. આચાર્યશ્રીએ મેઘવાળો માટે કૂવો કરાવી આપ્યો હતો અને એક સ્થળે હરિજનોના સત્યાગ્રહ અંગે સમજૂતી કરી આપી હતી. એક ગામના નવાબને હિંદુ ભાઈઓના ઝઘડાનું સમાધાન કરાવી આપ્યું હતું. એક હરિજનને ઉપદેશ આપી અઠ્ઠાઈ કરવા પ્રેર્યો હતો. ઉપદેશ આપવા માટે સ્થળ અને સમયના બંધન તોડી, શ્રોતાઓનો ખ્યાલ રાખી એમની ભૂમિકા પ્રમાણે આચાર્યશ્રી બોધ આપતા. શીખો વિનતિ કરે તો ગુરુદ્વારામાં જાય અને ઉપદેશ આપે, રામ-જયંતીમાં ભાગ લઈ શકે; એક સ્થળે આચાર્યશ્રીએ દોઢ મહિના સુધી સનાતની ભાઈઓને જૈન રામાયણ સંભળાવ્યું હતું. આચાર્યશ્રીનું મંતવ્ય સ્પષ્ટ હતું: “પ્રત્યેક માનવીમાં સરખો આત્મા છે. એ જન્મે છે એનાં કર્મોને અધીન થઈને. માનવી જન્મે છે એના પૂર્વગત સંસ્કારો લઈને. પોશાક, રીત-રિવાજ એ તો બહારનો વેશ છે. હિંદુનું બાળક ચોટલી સાથે જન્મતું નથી. મુસ્લિમ બાળક સુન્નત સાથે રાખીને જન્મતું નથી. શીખ બાળક દાઢી સાથે જન્મતું નથી. પણ જ્યારે ને જેવા સંસ્કારો પડે છે ત્યારે ને તેવા માનવો બને છે. કોઈ પણ માનવી પ્રત્યે દ્વેષ એ જ ખરાબ વસ્તુ છે. પ્રેમથી પ્રેમ મળે છે. સાચા પ્રેમથી માનવીના અંતરને જીતી શકાય છે, એની લાગણીને સમજી શકાય છે. સમભાવના અને સહિષ્ણુતા એ જ જીવનની ને ધર્મની સફળ ચાવી છે. માનવીના ભિન્ન વિચાર હોય તેમાંથી સારપ ગ્રહણ કરી એના મનોભાવોને સમજીને માનવીને જીતતાં શીખો. ઝઘડો, વૈમનસ્ય, વૈર, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ આ બધાં શત્રુ છે. એ માનવીનો સાચો માર્ગ નથી. ગમે તે ધર્મનો, ગમે તે વિચારો ધરાવતો માનવી હોય, એ માનવીના દુઃખો હળવા કરવાની, એનો સંતાપ દૂર કરવાની આપણી ફરજ છે. એના આત્માને દુઃખ ન થાય, એના મનની પ્રફુલ્લતામાં વિક્ષેપ ન પડે,—આ પ્રયત્ન એ જ સાચો ધર્મ છે. હૃદય આપી હૃદય મેળવી લેવાય છે ને ઐક્ય સાધી જીવનને ઉચ્ચ બનાવી શકાય છે.” આ ઉદ્‌ગારો કહે છે કે આચાર્યશ્રીના દિલમાં માનવપ્રેમ ભર્યો પડ્યો હતો અને તેઓ માનવમાત્રના ગુરુ હતા.

રાષ્ટ્રપ્રેમી આચાર્ય

આચાર્યશ્રી એ સમજી શક્યા હતા કે જો સમાજ જીવંત હોય તો એ રાષ્ટ્રવ્યાપી આંદોલનની અસરથી મુક્ત ન રહી શકે. જો સમાજ એથી અલગ પડી જાય તો સરવાળે એને જ નુકસાન થાય. આથી આચાયશ્રી રાષ્ટ્રપ્રવૃત્તિના પુરસ્કર્તા બન્યા. એ પ્રવૃત્તિ અને એની પાછળનાં બળોને સમજતા થયા. પરિણામે આચાર્યશ્રીમાં રાષ્ટ્રના પ્રશ્નો સમજવાની નવી દૃષ્ટિ આવી અને સામાન્ય પ્રજાના માનસને અનુકૂળ અને ધર્મબાધ ન આવે એવી દિશા એમની જીવનપ્રવૃત્તિએ લીધી. આ દૃષ્ટિને લીધે રાષ્ટ્રીય આંદોલન તેમ જ સંસારથી અલગ હોવા છતાં રાષ્ટ્રના પ્રશ્નો અને પ્રજાના આંદોલનોનું મૂલ્ય એઓશ્રી સમજી શક્યા અને પ્રજા રાજકીય તેમ જ બીજી રીતે કઈબાજુ જઈ રહી છે એનો ખ્યાલ એઓશ્રી મેળવી શક્યા.

આ સંસ્કારોથી જીવનને વિવિધ રૂપે જોવાની દૃષ્ટિ આચાર્યશ્રીએ મેળવી અને ગાંધીજીની ખાદીની વાત અપનાવી. રાષ્ટ્રનેતાઓ પ્રત્યે તેઓશ્રી સમભાવ રાખતા થયા. વખત આવ્યે તેમનો સંપર્ક પણ સાધતા.

શ્રી મોતીલાલ નહેરુ તથા પં૦ માલવિયાજી સાથે આચાર્યશ્રીને સારો એવો પરિચય હતો. એ જમાનામાં જૈન સાધુ ખાદી અપનાવીને રાષ્ટ્રીય ભાવનાને જીવનમાં સ્થાન આપે અને પરદેશી ખાંડનો બહિષ્કાર પોકારાવે એ કંઈ નાનીસૂની વાત નથી. આ રીતે આચાર્યશ્રી ચાલી આવતી પ્રણાલિકા સાથે જીવન જીવવાના પ્રયોગો કરતા થયા, નવી વસ્તુ અપનાવતા થયા અને રાષ્ટ્રીય ભાવનાના પુરસ્કર્તા થયા.

માત્ર ખાદી પહેરવામાં જ નહિ પણ સમાજના વ્યાપક અનિષ્ટો સામેના આંદોલનમાં પણ આચાર્યશ્રીએ વખતોવખત ઉત્સાહ બતાવ્યો છે. દારૂત્યાગ માટે અનેકો પાસે આચાર્યશ્રીએ પ્રતિજ્ઞા લેવરાવી એટલું જ નહિ, પણ દારૂબંધીના પ્રચાર અંગે અનેક સમયે આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચનો કર્યાં. જ્યારે રાજકીય અસર અતિવ્યાપક બની માનવીના પ્રત્યેક અંગને સ્પર્શી જાય છે અને રાજકીય તાકાત દુન્યવી તાકાતનું રૂપ ધારણ કરે છે ત્યારે એની અવજ્ઞા સમાજનો કોઈ પણ નેતા કરી શકે નહિ. આચાર્યશ્રી આ વસ્તુ બરોબર સમજી શક્યા હતા અને તેથી રાજકારણ પ્રત્યે દુર્લક્ષ ન સેવતાં ધર્મનો માનમરતબો વધે એ હેતુથી અનેક જુવાનોને રાજકીય નેતૃત્વ માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી. આચાર્યશ્રી સમજી શક્યા હતા કે કેળવણી અને રાજકીય લાગવગના પરિણામે સમાજ પાસે ધાર્યાં કામો કરાવી શકાશે.

ભવિષ્યનું દર્શન : શ્રમણ સંઘની જવાબદારી

સાંપ્રતને સમજવો એ જરાયે અઘરું નથી. ભવિષ્યને ભાખવો એ ખરે જ દુર્લભ છે. મહાપુરુષો હંમેશાં ભવિષ્યને જુએ છે અને એ પ્રમાણે વર્તમાનને ઘડવા પ્રયત્ન કરે છે જેથી ભવિષ્યમાં વર્તમાન સમાજના માનવીઓને નવું કંઈ ન લાગે. કવિઓ આવતી કાલને જુએ છે. સ્વપ્નદૃષ્ટાઓ આજના સ્વપ્નમાં આવતી કાલની સિદ્ધિ જુએ છે. વૈજ્ઞાનિક આજની શોધમાં આવતી કાલને બદલી નાખવાની ઉમેદ સેવે છે. આ બધા માનવીઓ માત્ર વર્તમાનમાં ન રાચતાં ભૂતકાળના વારસાનું યોગ્ય મૂલ્યાંકન કરી ભવિષ્યમાં વ્યાજ સાથે એને વધારે છે. મૂડીનું રોકાણ વધે છે, નફો પણ ઝાઝો થાય છે. આવતી કાલને જોઈ આવા માણસો વર્તમાન ઘડે છે. આવા માનવો જ સમાજને ઉપકારી થઈ શકે છે. એમની દીર્ઘદૃષ્ટિને લઈ ને જ આવતી કાલની પેઢી ઉજ્જવળ બને છે. આચાર્યશ્રી આ જાતના કવિ, દૃષ્ટા અને ભવિષ્યના પ્રવાહોના વેત્તા હતા. આથી જ સમાજને તેઓશ્રી યોગ્ય માર્ગદર્શન આપી શકતા. ભવિષ્યમાં સમાજને શાની જરૂર પડશે એનો ખ્યાલ રાખીને અને આવતી કાલની વાસ્તવિકતાને નજરમાં રાખીને આચાર્યશ્રીએ સમાજને દોર્યો હતો. આચાર્યશ્રીનું મંતવ્ય એ હતું કે સંઘમાં સાધુ મુખ્ય પદે છે અને એથી સંઘને સાચી દોરવણી આપવાનું કાર્ય શ્રમણ સંસ્થાનું છે. આ સંસ્થા સમાજના બીજા વિભાગોથી અલગ રહી શકે નહિ. કર્મની નિર્જરા કરવા મથતા શ્રમણની જવાબદારી સંઘ પ્રત્યે હોય છે. નિજાનંદમાં મસ્ત રહેતા શ્રમણ પણ સંઘના એક ભાગ રૂપ છે અને સંઘની પ્રભાવનામાં જ એમનું શ્રેય છે. આચાર્યશ્રી એ પણ સમજી શક્યા કે ધર્મના મૂળ સંસ્કારોને સમય અને વિજ્ઞાનની ચકાસણીમાંથી પસાર કરવા પડશે. પાશ્ચાત્ય જીવનની ઊંડી અસરોમાં ઘેરાતા સમાજમાં સમન્વય એ જ સાચો માર્ગ છે. આથી ધર્મ એકાંગી ન રહેતાં વ્યાવહારિક કેળવણીની સાથોસાથ કદમ રાખે એવું એઓશ્રી સમજી શક્યા અને એ પ્રકારનો ઉપદેશ પણ આપતા.

ધાર્મિક ઉદારતાની જરૂર

આચાર્યશ્રી સમજી શક્યા કે નવા યુગમાં જૈનો માત્ર કૂવાના દેડકા ન બની રહે. વિશ્વના પ્રવાહો સાથે એ કદમ બઢાવશે તો એનું શ્રેય થશે. જૈન ધર્મનાં વિશિષ્ટતા, અભિનવ ચિંતન, સનાનન સિદ્ધાંતો વગેરેની રજૂઆત પણ નવી વૈજ્ઞાનિક દૃષ્ટિથી કરવી પડશે. પોતાના ટૂંકા ગજથી માપનારાઓએ જૈન

ધર્મને સંકુચિત બનાવ્યો છે. ભેદોની દીવાલોમાં, સમાજની રૂઢિઓમાં અને સ્થાપિત વ્યવહારમાં એને ગૂંગળાવ્યો છે. આ ગૂંગળામણ ટળે તો જ ધર્મનું સાચું સ્વરૂપ સમજાય. આચાર્યશ્રીના મનોવ્યાપાર અને કાર્યનું પ્રેરક બળ આ જ લાગણીઓ હતી એમ કહેવામાં કંઈ જ ખોટું નથી. આ ખ્યાલોમાંથી વ્યાવહારિક અને ધાર્મિક કેળવણીનો સમન્વય સાધતી અનેક સંસ્થાઓ જન્મી. આચાર્યશ્રીએ આવી સંસ્થાઓમાં રોપેલાં બીજ આજે તો ફૂલ્યાં છે. કેટલીક સંસ્થાઓ વિરાટ વૃક્ષ બની છે. જૈન સમાજ આધુનિક કેળવણીમાં આગળ વધી રહ્યો છે અને વધી શક્યો છે એ આચાર્યશ્રીની દોરવણીનું પરિણામ છે. 'જૈન યુનિવર્સિટી'ની એમની ભાવના મૂર્ત કરવાની હજી બાકી છે. જૈન શાસ્ત્રોનો પશ્ચિમના ચિંતનની રીતે અભ્યાસ, પશ્ચિમના લોકોને જૈન સંસ્કૃતિનો પરિચય, જૈન તત્ત્વજ્ઞાનનું સુંદર વિવેચનાત્મક આલેખન—જૈન ધર્મની ઉદારતાનો જગતને પરિચય આપવા માટે આ બધું કાર્ય કરવું હજી બાકી છે.

શિક્ષણ-સંસ્થાઓનું મહત્ત્વ

આચાર્યશ્રીએ સ્થાપેલી કે પ્રેરણા આપેલી શિક્ષણસંસ્થાઓની સુવાસ જૈન સમાજમાં પ્રસરી છે. એ સંસ્થા સ્થાપવામાં શરૂઆતમાં વિરોધ કરનારાં તત્ત્વો છેવટે એક યા બીજી રીતે એના પુરસ્કર્તા બન્યાં છે. અનેક જૈનોએ આ સંસ્થાઓનો લાભ લીધો છે. વ્યાવહારિક અને ધાર્મિક કેળવણીનો સમન્વય અને ધાર્મિક સંસ્કારોનું સિંચન આ સંસ્થાઓમાં થાય છે. આને પરિણામે જૈન સમાજને અનેક આગેવાનો અને સેવકો સાંપડ્યા છે. આજે વ્યવહારિક જ્ઞાનમાં જૈન કોમ આગળ પડતી થઈ છે અને તે પોતાના હકો તેમ જ ફરજો પ્રત્યે જાગ્રત રહે છે એમાં આ સંસ્થાઓનો પણ નોંધપાત્ર હિસ્સો છે.

આચાર્યશ્રીની આ જીવનસાધના અને એની મૂળમાંની દૃષ્ટિના લીધે આચાર્યશ્રીનું ઘડતર અસામાન્ય રીતે થયું છે એ એક હકીકત છે. જીવનમાં એક સત્ય લાધી જાય અને એનાથી આખો જીવનપંથ ઉજ્જવળ બને એ વસ્તુ આચાર્યશ્રીના જીવનમાં બની છે. એથી એમની બીજી પ્રવૃત્તિઓ શ્રમણધર્મની હોવા છતાં ય એમાં અવનવું આકર્ષણ રહે છે. આચાર્યશ્રી મહાન ક્રાંતિકારી હતા એમ કહેવું બરાબર નથી; પણ સમાજના કલ્યાણ કાજે જે સાધના કરી એમાંથી આચાર્યશ્રીને નવી દૃષ્ટિ સાંપડી. આચાર્યશ્રી સમય-જ્ઞ હતા એથી એઓશ્રી સમાજમાં નવા આંદોલનો સર્જી શક્યા; અને છતાં એની અનેક મર્યાદાઓ હતી. આચાર્યશ્રીએ જન્માવેલ આઘાત-પ્રત્યાઘાતો હજુ શમ્યા નથી એવા સંજોગોમાં એમના જીવનકાર્યની સમીક્ષા કરવી મુશ્કેલ બને છે, અને એ માટેનું તાટસ્થ્ય કેળવવું એ પણ મુશ્કેલ છે, છતાં અતિપ્રશંસાનો દોષ ટાળીને એટલું કહી શકાય કે આચાર્યશ્રી સમાજના આગામી પરિવર્તનશીલ બળોના પુરસ્કર્તા થયા અને એઓશ્રીની આ પ્રવૃત્તિથી વ્યવહાર-જ્ઞ સમાજ, સમાજના આગામી બળોને સાનુકૂળ બની શક્યો.

સુમેળ સાધવાની વૃત્તિ અને પ્રવૃત્તિ

કેળવણીમાં સમન્વયનો આદર્શ રજૂ કરનાર આચાર્યશ્રી જીવનની અનેકવિધ પ્રવૃત્તિમાં શાંતિ અને સમાધાનની હિમાયત કરે એ વસ્તુ સ્વાભાવિક છે. વિભિન્ન મતભેદોમાં એમણે હમેશાં માધ્યસ્થી રસ્તો સ્વીકાર્યો છે. એમનું જીવનસૂત્ર રહ્યું છે : " મળો, વિચાર-વિનિમય કરો અને નિર્ણયને અમલી બનાવવામાં સાથ આપો. મતભેદો દૂર રાખી જે વસ્તુમાં મેળ થાય, જે સર્વસામાન્ય હોય તેના માટે કામ કરો. " જીવનના છેલ્લાં વર્ષોમાં ત્રણ ફીરકાની સામાન્ય ભૂમિકાની એઓશ્રીએ જે હિમાયત કરી એના મૂળમાં આ વસ્તુ હતી.

આને પરિણામે આચાર્યશ્રીએ અનેક પ્રવૃત્તિઓ કરી છે. સં. ૧૯૫૯માં અંબાલામાં શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું અધિવેશન થયું. પછી આ સંસ્થા વિકસી. આને લીધે પંજાબમાં નવચેતના પ્રગટી.

અનેક સંમેલનો-પરિષદો-મંત્રણાઓ અને વિચાર-વિનિમય માટેની ભૂમિકા આચાર્યશ્રીએ ઊભી કરી. આવાં સંમેલનો સફળ થાય અને કાર્ય આગળ ધપે અને સમાજમાં મેળ સ્થાપવાની જાગૃતિ આવે એ માટેની જ એમની પ્રવૃત્તિ હતી. અનેક સ્થાને આ રીતે જૈનોમાં પરસ્પર ભ્રાતૃભાવ વધે, સંગઠનનાં બીજ રોપાય અને સમાજની પ્રગતિ સધાય એ એમનો મુખ્ય હેતુ રહ્યો હતો.

આચાર્યશ્રીએ માત્ર શ્રાવકોના જ નહિ પણ સાધુઓના સંમેલનો પર પણ ભાર મૂક્યો. આચાર્યશ્રીનું મંતવ્ય એવી મતલબનું હતું કે જો જૈન મુનિઓ ભેગા થાય તો સમાજોન્નતિનું કાર્ય ઘણું સરળ થાય. જૈન સમાજને સ્પર્શતા વ્યાપક પ્રશ્નોની વિચારણા થાય અને એ વિચારણા પછીનું કાર્ય જો અમલી બને તો સમાજને ઘણો જ ઝડપી લાભ થાય. આવા શુભાશયથી અથાગ મહેનત કરીને વડોદરામાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના મુનિઓનું સંમેલન તેમણે યોજ્યું હતું. અમદાવાદમાં પણ અનન્ય મુનિ–સંમેલન મળ્યું. તેની પૂર્વભૂમિકા ઊભી કરવામાં આચાર્યશ્રીનો મોટો ફાળો હતો. ત્યાર બાદ આચાર્યશ્રી નેમિસૂરિજી અને આચાર્યશ્રી વચ્ચે મીઠો સંબંધ રહ્યો હતો.

મહાન સમાધાનકાર

વ્યક્તિઓના અને સંઘના કલહો દૂર કરાવવા પણ એમણે પ્રયત્ન કર્યો છે. જીવનની આ પ્રવૃત્તિના અનેક દાખલા આપણને એમના જીવનમાં જોવા મળે છે.

સં૦ ૧૯૬૫માં જેઠ શુદિ બીજે આચાર્યશ્રી પાલણપુર ગયા. એક દિવસ રહીને બીજે દિવસે ચોંકાવનારી જાહેરાત કરી : “ હું ભોયણી જવાનો છું. ”

આખો સંઘ વિસ્મય પામ્યો. સંઘે પૂછ્યું, “કેમ ? આપ અહીં ચાતુર્માસ કરો ને ! ”

આચાર્યશ્રીએ કહ્યું : “ તમે બધા તમારા મતભેદો દૂર કરી તમામ પક્ષોને એક કરો તો રહું. જ્યાં વિખવાદ હોય ત્યાં મને ઘડીભર પણ રહેવું ન પાલવે. મારે તો સમાધાનની ભિક્ષા જોઈએ. ”

આ જાહેરાતના પરિણામે પાલણપુરના નેવું જેટલા આગેવાનોએ લખી આપ્યું કે આચાર્યશ્રી જે ચુકાદો આપે તે અમને મંજૂર છે. આચાર્યશ્રીએ સૌને પ્રિય એવો ચુકાદો આપ્યો અને પાલણપુરમાં સુખદ સમાધાન થયું.

બાલાપુરમાં માતા-પુત્રનો ઝઘડો અદાલતે પણ ગયેલો. તેમના ઘરે આચાર્યશ્રી ગોચરી વહોરવા ગયા. ‘ધર્મલાભ’ કહી ઊભા રહ્યા અને કહ્યું : “ મને બીજું ન ખપે. તમારી ગોચરી જ્યારે તમે બંને સંયુક્ત રીતે વહોરાવો ત્યારે ખપે. આપણે કોણ ? આ બધા ઝઘડા શા માટે અને કેટલા વખત માટે અને કોના માટે ?...અને આખરે શું ? આ વેરઝેરનાં કર્મ બાંધી કયે દિવસે છોડવાના ? ” આચાર્યશ્રીની સમજાવટની વીજળી જેવી અસર થઈ. પુત્ર માતાને પગે પડી ગયો અને આચાર્યશ્રીની હાજરીમાં એક કુટુંબ કિલ્લોલ કરતું થઈ ગયું.

જે વસ્તુ ઉપર પોતે ભાર મૂકતા તે સ્વીકારવામાં સમાજ ઢીલ કરે છે એવું આચાર્યશ્રીને લાગતું ત્યારે એઓશ્રી પ્રતિજ્ઞા લેતા. એની અસર સમાજ ઉપર તાત્કાલિક પડતી. ઉત્કર્ષ ફંડમાં પાંચ લાખ રૂપિયા ભેગા કરવા આચાર્યશ્રીએ દૂધત્યાગની પ્રતિજ્ઞા લીધી. શત્રુંજય તીર્થની યાત્રા બંધ થઈ ત્યારે પ્રવેશ સમયના પોતાના સામૈયાનો તેમણે ત્યાગ કર્યો હતો.

ઉગ્રવિહારી

આચાર્યશ્રી ઉગ્ર વિહારી હતા. આ વસ્તુ એમનું આખું જીવન કહી જાય છે. એમનો વિહાર ઘણો જ ઝડપી હતો અને તે પંજાબમાં ગુજરાનવાલાથી પૂનાની પેલી બાજુ સુધી વીસ્તરેલો હતો.

પંજાબ–મારવાડ–ગૂજરાત–મહારાષ્ટ્રના અનેક નાનામોટા કસ્બાઓમાં આચાર્યશ્રીનો વિહાર થયો હતા. સં૦ ૧૯૬૪માં જેઠ મહિનામાં પીવાઈથી ગુજરાનવાલાનો સાડા ચારસો માઈલનો વિહાર રોજના ત્રીસ માઈલના હિસાબે આચાર્યશ્રીએ કર્યો હતો. સં૦ ૨૦૦૧માં પંચોતેર વર્ષની વયે બિકાનેરથી પંજાબ તરફ આચાર્યશ્રીએ ઉગ્ર વિહાર કર્યો હતો.

આ વિહારો અને નવી દૃષ્ટિને લીધે આચાર્યશ્રીની સંકલ્પશક્તિ પણ ખૂબ વિકાસ પામી હતી. પોતાની સૌજન્યભાવનાથી તેઓ અનેક માનવોને માટે પ્રેરણાદાતા અને શાંતિદાતા બની ગયા હતા. માનવી એની સંકલ્પશક્તિ દ્વારા જ કામો સિદ્ધ કરી શકે છે. એવો માનવી સંજોગોને ઘડી પોતાના કાર્યને અનુરૂપ બનાવે છે. સંજોગોને અનુરૂપ કાર્ય એને કરવાનું હોતું નથી. આવો માનવી જ્યાં જાય ત્યાંથી કજિયો-કંકાસ દૂર થાય, વાતાવરણમાં નવી ચમક આવે. આચાર્યશ્રીના ચાતુર્માસો એ રીતે અનેક પ્રવૃત્તિ-પ્રવાહોના પ્રેરક બની શક્યા હતા.

પુણ્યાત્માનો પ્રભાવ

આચાર્યશ્રીના જીવન સાથે કેટલીક અસામાન્ય ઘટનાઓ સંકળાયેલી છે. આ વસ્તુને સામાન્ય જનતા ચમત્કાર તરીકે ઓળખે, આજનું વિજ્ઞાન પણ એ વસ્તુને એ રીતે સ્વીકારવા તૈયાર નથી, છતાં આવા દાખલાઓ વ્યક્તિના અસામાન્ય પુણ્યત્વનો નિર્દેશ કરી જાય છે. હજારો–લાખો માનવોની મેદની મળી હોય છતાં કોઈ પણ માણસને કશું અનિષ્ટ ન થાય, અશુભ ન થાય એ પુણ્યાત્માની હાજરીનો પ્રભાવ જ ગણાય. જ્યાં પુણ્યાત્મા હોય છે ત્યાં ઉપસર્ગો નાશ પામે છે, વિઘ્નરૂપી વેલાઓ છેદાઈ જાય છે અને માનવીનું મન પ્રફુલ્લ થઈ જાય છે.

સં૦ ૧૯૭૨ની સાલમાં કરચલીઆમાં પ્રભુજીને નદી ઓળંગીને લાવવાના હતા. એ વખત આ પ્રયત્નો નિષ્ફળ ગયા. પણ આચાર્યશ્રીએ જે મુહૂર્ત કાઢી આપ્યું તે મુહૂર્તે પ્રભુજી શાંતિથી પધાર્યા. જૂનાગઢમાં ચાલુ વ્યાખ્યાને બારીએથી એક છોકરી પડી ગઈ, પણ આબાદ બચી ગઈ. આચાર્યશ્રીના પવિત્ર પગલાં પસરૂરમાં પડતાં ગામના સુકાઈ ગયેલા કૂવામાં પાણી આવ્યાં. ઈ૦ સ૦ ૧૯૪૭ના બનાવો વખતે ઉપાશ્રયમાં ચાર બૉમ્બ પડ્યા પણ કોઈને ઈજા થઈ નહિ. કોઈપણ વ્યક્તિના ભોગ વિના આચાર્યશ્રી પાકિસ્તાનથી પાછા ફર્યા એ પણ બનાવ અસામાન્ય ગણી શકાય.

સર્વગ્રાહી વ્યાખ્યાતા

ઉગ્રવિહારી, કેળવણી માટેનો આગ્રહ વગેરેને લીધે આચાર્યશ્રીની દૃષ્ટિ દિનપ્રતિદિન વિશાળ બનવા લાગી. આથી તેઓ લોકસમુદાયની સમાન ભૂમિકા પર બોધ આપવા લાગ્યા. માત્ર સંપ્રદાયના વાડામાં પુરાઈ રહેવાને બદલે આચાર્યશ્રી જીવનનાં આધ્યાત્મિક અને નૈતિક મૂલ્યો ઉપર ભાર મૂકતા થયા. જીવનના જુદા જુદા અનુભવોમાંથી તવાયેલી દૃષ્ટિને કારણે આચાર્યશ્રી પ્રત્યેક પ્રશ્નનું હાર્દ સમજી શકતા, અને વાણી દ્વારા સુંદર રીતે વ્યકત કરી શકતા. હિંદુ, મુસલમાન, ઈસાઈ, પારસી કે શીખ કોઈ પણ જ્ઞાતિનો શ્રોતાગણ હોય, તેમની આગળ તેમને અનુરૂપ પોતાનું વકતવ્ય આચાર્યશ્રી સફળ રીતે રજૂ કરી શકતા. સહુ કોઈને સાર્વજનિક ધર્મ સમજાવતા.

જૈન ધર્મની પ્રણાલિકા, ભવ્ય સંસ્કૃતિ અને તેના જ્ઞાનનો અમૂલ્ય વારસો આચાર્યશ્રીને મળ્યો. જીવનના વિકસિત ખ્યાલો પણ એઓશ્રી મેળવી શકયા. આને કારણે એઓશ્રીના પ્રવચનો માત્ર સાંપ્રદાયિક બનવાને બદલે સર્વગ્રાહી બન્યા. આચાર્યશ્રી જૈન સિદ્ધાંતોની બાહ્ય વાતો કે માત્ર સૂત્રોના અર્થમાં અટવાઈ નહોતા જતા. પણ એ સૂત્રનો અર્થ વાંચીને સામા માનવીને સમજાય એવો સુગમ બનાવતા.

આચાર્યશ્રી ઘણી વખત શાસ્ત્રોને સમજાવતાં પોતાની મર્યાદા સ્વીકારતા. ઘણી વખત આધુનિક દાખલાઓથી અને અદ્યતન માહિતીથી વ્યાખ્યાનોને રસિક બનાવતા. શાસ્ત્રીય કે અસામાન્ય લાગતી બાબતો ઘણી સરળ ભાષામાં સાદી ઉપમા કે રૂપક લઈ આચાર્યશ્રી રજૂ કરતા અને બધી વાતો તેમાં સાંકળી લેતા. આને કારણે અનેક જૈનેતર ભાઈઓને પણ આચાર્યશ્રીએ જૈન ધર્મના સિદ્ધાંતોનો ખ્યાલ આપી જીવનમાં સમભાવ કેળવતા કર્યા.

આચાર્યશ્રીનું વક્તવ્ય આ બધાં કારણોને લઈ સર્વદૃષ્ટિનો સમન્વય કરનારું થતું. આચાર્યશ્રી અહિંસાનો ઉપદેશ આપે ત્યારે માત્ર જૈન ધર્મના સિદ્ધાંતોમાં જ એમની વાત મર્યાદિત ન થતાં એમાં બધા ધર્મોની વાત આવે. વેદના અનેક ઉલ્લેખો, કુરાને શરીફના સિદ્ધાંતો, ઇસાઈ ધર્મના મંતવ્યો—આ બધામાંથી અહિંસાનું તારતમ્ય તારવી શ્રોતાગણને રસાસ્વાદ કરાવે. આચાર્યશ્રીના અનેક વ્યાખ્યાનોમાં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ, એમનો જમાનો, એમનું મંતવ્ય અને પોતાના વિવિધ અનુભવો કેન્દ્રસ્થાને રહેતાં. રામ, કૃષ્ણ કે પ્રતાપ જેવા મહાન પુરુષોના જીવન પર, દાદુસાહેબ જેવી વ્યક્તિ ઉપર, ગીતા અને પુરાણ પર આચાર્યશ્રી પ્રવચનો કરતા. આ વ્યાખ્યાનોમાં સત્યની ઉપાસના ઉપર આગ્રહ રહેતો. આચાર્યશ્રી સત્યને સાપેક્ષ અને નિરપેક્ષ રીતે રજૂ કરતા. આ રીતે તેઓશ્રી એક ધાર્મિક નેતામાંથી માનવતાવાદી મહાપુરુષ બની શક્યા. આચાર્યશ્રીનાં મંતવ્યોનો સાર એટલો જ રહેતો : " शिवमस्तु सर्वजगतः "—સર્વ જગતનું કલ્યાણ થાવ. આચાર્યશ્રી માનતા કે સત્ય માટેનો આગ્રહ સાચી વસ્તુ છે, પણ સત્યાગ્રહની મર્યાદા હોય છે અને એ કોઈ પણ સમયે હઠાગ્રહ કે દુરાગ્રહનું સ્વરૂપ પકડે ત્યારે અસહિષ્ણુતા, વિસંવાદ, અસમાનતા અને અશાંતિ જન્માવે છે. સાચો સત્યાગ્રહી સમજે કે એનો સત્યાગ્રહ માનવ માત્રના કલ્યાણ માટે હોય, વિસંવાદ પેદા કરી અશાંતિ જન્માવવા માટે નહિ. આચાર્યશ્રીએ પોતાની રીતે આવા સત્યની ઉપાસના કરી જીવન વ્યતીત કર્યું અને એથી તેઓ જમાનાના પ્રેરક થઈ શક્યા.

વિનય અને સેવાનો મહાન ગુણ

" विणयमूलो धम्मो " આચાર્યશ્રીમાં બીજો તરી આવતો ગુણ 'વિનય'નો હતો. આને કારણે સામા માનવીના હૃદયને તેઓ સદા જીતી લેતા. સાગર પોતાની ગંભીરતા સમજે છે અને એક પ્રકારનું નિરવધિ સંગીત સંભળાવી જનોનાં ચિત્તને પ્રફુલ્લિત કરે છે. વિનયી દિલ ગુલાબનું બનેલું હોય છે અને તેથી જ સુવાસિત હોય છે. 'હું કંઈક છું' એવી અહંતાની લાગણી વિનયના ગુણ આગળ તવાઈ જાય છે. આચાર્યશ્રી વખતોવખત કહેતા : " જેનામાં વિનય નથી, પરંતુ અભિમાન છે એ કષાય એવા માનવીના આત્મવિકાસ અને આત્મકલ્યાણની આડે આવે છે. આથી સૌ કોઇએ વિનયી તેમ જ નમ્ર બનવું જોઇએ."

વિનયના આ ગુણને કારણે આચાર્યશ્રી પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ તેમ જ બીજા વડેરા મુનિઓની વખતોવખત સલાહ લેતા, એમનો વિનય જાળવતા અને વ્યવહાર પણ સાચવતા.

આ વિનયના લીધે એમનામાં સેવાભાવનો ગુણ ખૂબ ખીલ્યો હતો. માનવી ગમે એટલો મહાન હોય, પણ એની મહત્તાની પારાશીશી તો એની સાથેના નાના માનવો પ્રત્યેનો વર્તાવ જ છે. માનવી જેટલો મહાન બને તેટલો તેણે નાના માનવી પ્રત્યે ખ્યાલ રાખવો ઘટે. આને કારણે સેવાની લાગણી વિકાસ પામે. અંતેવાસીઓમાંથી કોઈ પણ માંદુ પડે કે તબિયત સહેજ પણ અસ્વસ્થ લાગે તો આચાર્યશ્રી તુરત દોડી જતા અને ખૂબ જ સમભાવથી એમની શુશ્રૂષા કરવા લાગી જતા. આવી હતી તેઓશ્રીની સેવાની મહાન ભાવના અને માનવી પ્રત્યેની લાગણી.

તીર્થયાત્રાઓ અને સંઘો

આચાર્યશ્રીએ લગભગ બધાં જ તીર્થોની યાત્રા કરી હતી. તેઓશ્રી કહેતા : “ તીર્થસ્થાનમાં હોઈએ ત્યારે તે તે વિસ્તારોની પરિસ્થિતિ જાણવા મળે છે. આવા પ્રદેશમાં હોઈએ ત્યારે સ્વાભાવિક જ કર્મનો બંધ ઓછો થાય છે. અહીં અનુભવની સાથે જ્ઞાન મળે છે. તીર્થયાત્રા એ માત્ર મોજશોખની વસ્તુ નથી, પણ જીવનની જરૂરિયાત છે. આવાં તીર્થસ્થાનોને લીધે આપણો ધર્મ અને આપણી સંસ્કૃતિ જળવાઇ રહ્યાં છે.” આચાર્યશ્રીએ શત્રુંજય, આબુ, રાણકપુર, ભોયણી, પાનસર, ભીલડીઆજી, પાટણ, કેશરીઆજી, ગાંભુ, કાંગડા, હસ્તિનાપુર, જેસલમેર વગેરે અનેક તીર્થોની યાત્રા કરી હતી. સાથે સાથે કેટલાંક તીર્થોના રક્ષણ અને ઉદ્ધાર માટે પ્રેરણાઓ પણ આપી હતી.

આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી અનેક સંઘો નીકળ્યા હતા. સં૦ ૧૯૬૬માં રાધનપુરથી પાલિતાણાનો સંઘ નીકળ્યો હતો. એ જ વર્ષે વડોદરાથી ગાંભુનો સંઘ નીકળ્યો. સં૦ ૧૯૭૬માં આચાર્યશ્રી સાદડીથી કેસરીઆજીના સંઘમાં ગયા હતા. સં૦ ૧૯૮૯માં જેસલમેરનો સંઘ નીકળ્યો. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી સં૦ ૧૯૯૬માં હોશિયારપુરથી કાંગડાતીર્થનો સંઘ નીકળ્યો હતો. પ્રત્યેક સંઘમાં આચાર્યશ્રી ધર્મોપદેશ આપતા અને ધર્માનુષ્ઠાનો કરવા પ્રેરણા આપતા.

રૂઢિ સામેની જેહાદ

જે માનવીનું અંતિમ ધ્યેય મોક્ષ છે, જે આત્માની દૃષ્ટિ અમુક રીતે વિકાસ પામેલી છે એ માનવી કોઈપણ જાતના પૂર્વગ્રહોથી કે પક્ષપાતથી કામ કરે નહિ. કર્મ અને મોહની અકળ લીલાને જોતો વિકસિત આત્મા દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી એ પ્રમાણે વર્તે છે. આવતી કાલનો ખ્યાલ રાખી ભૂતકાળની નકામી વસ્તુઓને તે ફગાવી દે છે. આવા માણસના જીવનને રૂઢિ-રિવાજો કુંઠિત કરી શકતા નથી. આવો માનવી જીવનના મૂળને પકડે છે. આથી કોઈ કોઈ વખત રૂઢ જનતાને આંચકો આપી જાય છે. નિર્ભેળ સત્યને ઉપાસતો માનવી કોઈ કોઈ વાર સામા માણસને કડવું લાગે એવું પણ કહી દે છે. આવો માનવી જૂના કે નવાનો એકાંત આગ્રહી કે વિરોધી નથી હોતો, પણ એ તો હમેશાં જૂના અને નવા વચ્ચેનાં સારભૂત તત્ત્વોનો સમન્વય કરી જીવનને વિકસાવે છે.

આચાર્યશ્રી આવા પ્રકારના માનવી હતા. આચાર્યશ્રીએ જોયું કે કેટલીક પ્રણાલિકાઓ, રૂઢિઓ માનવીને સાચો ધાર્મિક બનવામાં પ્રત્યવાય બની રહી છે ત્યારે તે પ્રણાલિકાઓ અને રૂઢિઓને ફગાવી દેવાની આચાર્યશ્રીએ હિંમત દાખવી. રૂઢિઓ અને રિવાજો તો બહારના ખોળિયા જેવાં છે, અંદરનો આત્મા એ મૂળ ધાર્મિક વસ્તુ છે. રૂઢિ-રિવાજોનું ખોળિયું જાળું બની આત્માના મૂળ સંસ્કારને સપડાવે છે. આચાર્યશ્રીએ અટ્ઠાઈ નિમિત્તે રૂઢ થયેલા સામાજિક વ્યવહારને પડકાર્યો, રેશમી વસ્ત્રો અને વિલાયતી કેશર સામે જેહાદ કરી, અને અનેક સ્થળે કન્યાવિક્રય અને વરવિક્રય બંધ કરાવવા પ્રયત્ન કર્યો.

પરાણે ઠોકી બેસાડવાથી સમાજમાં સુધારો આવતો નથી એ વાત આચાર્યશ્રી બરાબર સમજતા. કન્યાવિક્રય અને વરવિક્રય સામે મારવાડમાં ચાલેલી લાંબી જેહાદથી એ પ્રથા ત્યાં નાબૂદ થઈ. આને કારણે તેઓશ્રી ‘ અજ્ઞાનતિમિરતરણી કલિકાલકલ્પતરુ’ના વિશેષણથી ઓળખાવા લાગ્યા. બ્રાહ્મણવાડામાં પોરવાડ સંમેલનમાં ત્રીસ હજાર માનવોની જંગી મેદની સમક્ષ પ્રવચન કરતાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે : “ સમાજમાં સુધારાઓ એવી રીતે દાખલ થવા જોઈએ કે જેથી કોઈ ને અપચો ન થાય. સુધારાઓ બળજબરીથી કોઈના માથે ઠોકી બેસાડાય નહિ. સુધારાનો અમલ એવી રીતે થવો જોઈએ કે જેથી સમાજનો ઘણોખરો વર્ગ તેનો સ્વીકાર કરે અને કાર્ય સરળ થઈ જાય.” આચાર્યશ્રીએ આખા મારવાડમાં

જ્ઞાનપ્રચાર કરી ઠેર ઠેર પાઠશાળા, કન્યાશાળા, પુસ્તકાલય, નિશાળો, વિદ્યાલયો વગેરે માટે પ્રેરણા આપી.

સર્જકશક્તિ અને સરળ ભાષા

આચાર્યશ્રીમાં સર્જકશક્તિ અને કલ્પનાશક્તિ હતાં, પરંતુ સમાજસેવાના વિશાળ કાર્યમાં આ શક્તિને વિકસાવવાની એઓશ્રીને પૂરી તક ન મળી. આચાર્યશ્રીએ ઘણું લખ્યું છે. જો કે એમાં ઘણુંખરું પ્રાસંગિક છે, પ્રચારાત્મક છે, અને ચિરંજીવી ગણી શકાય તેવું મૌલિક સાહિત્ય પણ તેમાં ઘણું છે, જેનાંથી એમની સર્જકશક્તિનાં આપણને દર્શન થાય છે. આ શક્તિ આચાર્યશ્રીની બહુશ્રુતતા પુરવાર કરે છે. આચાર્યશ્રીએ પૂ૦ વિજયાનંદસૂરિજીનું જીવનચરિત્ર લખ્યું. 'વિશિષ્ટ નિર્ણય' તથા બીજાં પુસ્તકો એઓશ્રીએ ગુજરાનવાલામાં લખ્યાં, જેમાં એમણે અહિંસાનું સમર્થન કર્યું. વેદાદિક શાસ્ત્રો, ભાષ્યો, સૂત્રો વગેરેમાંથી હિંસાવિરોધી દલીલો રજૂ કરી. અનેક અઠવાડિક પત્રોમાં અને સામયિકોમાં પ્રસંગોપાત્ત આચાર્યશ્રીએ લેખો લખ્યા અને જૈન સાહિત્યની રચના માટે પ્રેરણા આપી. આચાર્યશ્રીનાં વ્યાખ્યાનો તેમ જ બીજાં સર્જનમાં કવિત્વના ચમકારા દેખાય છે. એઓશ્રીની ભાષા સરળ, બોધવાહી અને સુરેખ હતી. આચાર્યશ્રી ટૂંકા અને સચોટ, તર્કશીલ છતાં ઊર્મિથી ભરપૂર વાક્યો બોલતા. એમનાં કથિતવ્યમાં ઘણા ઉલ્લેખો આવતા. આથી સામાન્ય માનવી ઉપર તેની છાપ તરત જ પડી જતી.

નીડર અને સ્પષ્ટભાષી

જેણે કંચન અને કામિનીનો ત્યાગ કર્યો છે તેવા સાધુઓને દુનિયામાં કોઈનાથી બીવાનું હોતું નથી. ત્યાગી માનવી પોતાની અમૂલ્ય શક્તિને કારણે કોઈની શેહમાં આવતો નથી. જે માણસને કંઈ પણ ગુમાવવાનો ભય નથી, જે પોતાના નક્કી કરેલા અમુક કાર્યક્ષેત્રમાં જ માને છે તે માનવી સદાયે સિંહસમો નિર્ભય હોય છે. જેને સિદ્ધાંતોમાં તડજોડ ન કરવી હોય તેનામાં સ્વાભાવિક રીતે જ આ નિર્ભયતા જન્મે છે. જે માનવી નિસ્વાર્થી છે, પ્રામાણિક છે, જે દુનિયામાં સીધા રાહે ચાલવા માગે છે, જે નિઃસ્પૃહી છે અને જે ચંચળ વસ્તુઓ માટે ઝંખતો નથી તે માનવી સદાયે નીડર હોય છે.

'પંજાબ કેસરી' આચાર્યશ્રીની આ નીડરતા જાણીતી છે. એમનું બિરુદ પણ એ રીતે સાર્થ છે. ઉદેપુરમાં પ્રવચન વખતે કર્મનો સિદ્ધાંત સમજાવતા આચાર્યશ્રીએ એક દાખલો આપ્યો: "જુઓ, સામે બેઠેલા ઉદેપુરના મહારાજાને જુઓ. આ મહારાજાનું ઉપરનું અંગ કેટલું સુંદર છે! નીચેના અંગમાં પગે ખોડ છે. કર્મરાજાનો આ પ્રતાપ છે. કર્મરાજા કોઈને ય છોડતા નથી અને જો કોઈ એમ માનતું હોય કે કર્મવાદ મિથ્યા છે તો એ માનવી મૂર્ખાઓના સ્વર્ગમાં વસતો હોવો જોઈએ. જૈન ધર્મ કહે છે કે કર્મ એ જ સૌથી મોટી બળવાન વસ્તુ છે. સારું કર્મ કરે એ પુણ્યના બંધ બાંધે અને ખરાબકર્મી પાપના બંધ બાંધે."

આચાર્યશ્રી વ્યાખ્યાનોમાં ધનપતિઓને ખાસ ટકોર કરી કહેતા: "લક્ષ્મી ચંચળ છે. કોઈ દિવસ એ સીધી ટકવાની નથી. લક્ષ્મી વાપરે વધે છે. માટે એનો ત્યાગ કરી ભોગવવી જોઇએ....જો મોજશોખમાં જ લક્ષ્મીનો ઉપયોગ કરશો તો પુણ્યથી મેળવેલી લક્ષ્મી પાપકર્મ બાંધનારી થઈ જશે. ધનનો આ નિયમ સનાતન છે..." આચાર્યશ્રી આ રીતે નીડરતાથી ટકોર કરતા અને અસત્ય વસ્તુનો વિરોધ કરતા. રાજ્યો ધર્મમાં દખલ કરે તો એમને પણ સ્પષ્ટ કહી દેતા, અને રાજ્યનો વિરોધ કરવામાં પહેલ કરતા.

સમજાવવાની સરળ પદ્ધતિ

જૈનધર્મના આચાર્ય તરીકે તેઓશ્રી આગમો, વ્યાકરણ, સિદ્ધાંતો અને પ્રણાલિકા–પરંપરાથી વાકેફ હતા. જૈન ધર્મમાં વૈશિષ્ટ્ય શું છે એનો તેઓશ્રીને ખ્યાલ હતો. વ્યાખ્યાન દરમિયાન એમની તીવ્ર સ્મૃતિને કારણે શ્લોકો ઉપર શ્લોકો બોલ્યે જતા અને એનો અર્થ પણ સમજાવતા. વિરોધીઓના તર્કનો બુદ્ધિગમ્ય જવાબ આપવાની આચાર્યશ્રીની શક્તિ અજોડ હતી. એઓશ્રી બીજાની શકિતની કદર કરી શકતા અને એને ઉત્તેજન આપતા, અને છતાં કદીયે તેઓશ્રીએ પોતાને ‘ વિદ્વાન ’ ગણવાનો દંભ કર્યો નથી અને કરાવ્યો પણ નથી. અનેકાંત જેવા ગહન વિષયને સમજાવવા તેઓ ઘરગથ્થુ દાખલા આપતા. તેઓ કહેતા : “ એક માણસ ભત્રીજાનો કાકો, ભાણેજનો મામો, ભાઈનો ભાઈ, બાપનો બેટો અને બેટાનો બાપ તથા બહેનનો ભાઈ છે. એક જ માણસ જુદા જુદા માણસની જુદા જુદા સંબંધોની અપેક્ષાએ વિવિધ રીતે ઓળખાય છે. આવી રીતે એક જ વસ્તુ દરેકની જુદી જુદી દૃષ્ટિએ જુદી જુદી સમજાય છે. કોઈ કહે તે બાપ છે અને બેટો નથી. એવો આગ્રહ કેમ રખાય? બેટાની અપેક્ષાએ તે બાપ છે અને બાપના અપેક્ષાએ તે બેટો છે. એ રીતે સત્યને સમજવા માટે સંબંધોની અપેક્ષા રહે છે.”

શાસ્ત્રની વસ્તુ સમજાવવામાં આચાર્યશ્રી ઘણી વખત સાદાસીધા રૂપકનો ઉપયોગ કરતા અને તે પછી મૂળ વિષય પર જઇ એમાનું ચિંતન, એ ચિંતન પર વિવિધ આચાર્યોએ દર્શાવેલો અભિપ્રાય અને એમાંથી વિકસેલા જ્ઞાનનો અદ્યતન ખ્યાલ આપતા. આમ આચાર્યશ્રી એક વસ્તુને એના સ્વરૂપમાં રજૂ કરતા ત્યારે એ વિષયના મૂળથી માંડીને છેક અદ્યતન માહિતી મૂકી વિષયને રસિક બનાવતા. આનું પરિણામ એ આવતું કે આચાર્યશ્રી ધર્મના ગહન સિદ્ધાંતો અને ગહન વિષયો માનવીઓને સહેલાઈથી સમજાવી શકતા.

મૂર્તિપૂજાનો વિરોધ કરનારને તે પડકારતા અને કહેતા : “ પ્રત્યેક ધર્મમાં મૂર્તિપૂજા એક યા બીજા સ્વરૂપે છે જ. મૂર્તિઓ ભાવની પ્રતીક છે. વિવિધ સંસ્કૃતિઓ, વિવિધ સ્થળો વગેરેને લીધે ભાવનું પ્રતીક ભલે બદલાય પરંતુ માનવીના જીવનને ઉદાત્ત બનાવવા માટે પ્રતીક હોવું જોઈએ. આ પ્રતીક વિના કોઈને ન ચાલે. કોઈ છબીને માને, કોઈ ગ્રંથને માને. હિંદુઓ હરદ્વારની યાત્રાએ જાય. મુસલમાનો પાક થવા માટે મક્કાની હજે જાય. પારસીઓ અગિયારીમાં જાય. શીખો ગુરૂદ્વારામાં જાય. ઇસાઇઓ દેવળમાં જઈ પ્રાર્થના કરે. આમાં સૌ કોઈનો હેતુ જીવનને ધન્ય બનાવવાનો અને જીવનનો ભાર ઓછો કરવાનો છે. મૂર્તિપૂજામાં ન માનનારા નાસ્તિકો પણ પોતાના માતા-પિતાની છબીઓ પડાવે છે ને એને સારા સ્થળે રાખે છે. આ મૂર્તિપૂજા નથી તો છે શું? પ્રભુનું નામ અક્ષરોમાં લખાય એ પણ મૂર્તિપૂજાનો એક પ્રકાર છે. તો પછી એમની પ્રતિમા રાખીને આપણા હૃદયમાં પૂજ્યભાવ જાગ્રત કરીએ તો એમાં કશું ખોટું નથી.”

પ્રતિષ્ઠાઓ તથા ઉપધાન

ઉપધાન તથા પ્રતિષ્ઠા જેવાં અનુષ્ઠાનોના આચાર્યશ્રી પુરસ્કર્તા ન હતા તેમ કહેવું તદ્દન ખોટું છે. પરંતુ આ ક્રિયાઓના નામે જે પ્રદર્શનાત્મક બિનજરૂરી ખર્ચાઓ થાય છે અને સમાજ ઉપર એનો જે ભારે બોજો પડે છે એનો પોતે ચોક્કસ વિરોધ કરતા. આચાર્યશ્રીએ અનેક ગામોમાં પ્રભુની પ્રતિમાઓ વિરાજમાન કરી પ્રતિષ્ઠામહોત્સવો ઊજવ્યા હતા ને મંદિરો માટે ફંડફાળા કર્યા હતા. મુંબઈમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના દહેરાસરની પ્રતિષ્ઠા, જાડણમાં દહેરાસર, અંબાલામાં સં૦ ૧૯૭૯માં શ્રી શાંતિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૮૦માં આચાર્ય-પદ સ્વીકાર્યા પછી શ્રી શાંતિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા,

સં૦ ૧૯૮૨માં બિનૌલીની પ્રતિષ્ઠા, બડૌતમાં પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૮૫માં કરચલીઆમાં શ્રી સંભવનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, પૂનામાં શ્રી સિદ્ધાચળજીનો પટ, આકોલા અને બીજોવામાં પ્રતિષ્ઠા, ડભોઈમાં શ્રી લોઢણ પાર્શ્વનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૯૩માં ખંભાતમાં પ્રભુજી અને ગુરુમૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા, સાઢૌરામાં પ્રતિષ્ઠા, ખાનડોગરામાં શ્રી શાંતિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૯૮માં કસુરમાં શ્રી આદીશ્વર પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૦માં બિકાનેરમાં શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુ, તેમ જ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, શ્રીહીરવિજયસૂરિજી મહારાજ તથા ગુરુદેવની મૂર્તિઓની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૨માં ગુજરાનવાલામાં પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૮માં વડોદરામાં પ્રતિષ્ઠા, મુંબઈમાં પ્રતિષ્ઠા વગેરે જાણીતું છે. આચાર્યશ્રીના ઉપદેશથી અનેક સ્થળોએ શાંતિસ્નાત્રો થયા છે, અનેક સ્થળોએ ઉપધાનાદિ ક્રિયાઓ થઈ છે.

આ ક્રિયાઓ અંગેના સામાજિક રિવાજોમાં સંઘના નિર્ણય અનુસાર આચાર્યશ્રી ફેરફાર કરાવતા અને અમુક ફેરફારો માટે આચાર્યશ્રી આગ્રહી રહેતા. વર્જ્ય રૂઢિઓને ફગાવવામાં જરા પણ ઢીલ તેઓશ્રી કરતા નહિ. સામાન્ય માનવીના મિત્ર, ચિંતક અને શુભેચ્છક બની સંઘને પ્રવૃત્તિ કરવાનો ઉપદેશ આપતા.

આચાર્યશ્રી ઇતિહાસ, ગણિત અને જ્યોતિષના સારા અભ્યાસી હતા. ઇતિહાસ વિષેનું પરંપરાગત જ્ઞાન તેમના વ્યાખ્યાનોમાં હરદમ જોવા મળતું. આખો જૈન ઇતિહાસ તેઓશ્રીને મોઢે હતો. એઓશ્રીએ ઇતિહાસનાં અનેક પુસ્તકો વાંચેલાં અને આથી પ્રણાલિકાગત ઇતિહાસ ઉપર એઓશ્રીનું અપૂર્વ પ્રભુત્વ હતું. ગણિતશાસ્ત્રનું તેમનું જ્ઞાન પણ અદ્ભુત હતું. ભલભલા લાંબા ગુણાકાર તથા ભાગાકાર આંકડા લખ્યા વગર મોંએ કરી આપતા. જ્યોતિષમાં પણ તેઓશ્રીને સારો રસ હતો. મુહૂર્ત કાઢી આપવામાં તેઓ નિષ્ણાત હતા. એઓશ્રીનો યોગવિદ્યા પર સારો કાબૂ હતો. પ્રાણાયામ વગેરે આચાર્યશ્રી સારી રીતે કરતા. આચાર્યશ્રીએ ટાઢ-તડકો જોયા વિના પણ ધ્યાનને જીવનચર્યામાં સ્થાન આપ્યું હતું. ધ્યાનમાં મગ્ન થઈ નિજાનંદમાં મસ્ત બનતા.

મધ્યમ વર્ગને બચાવવાની જરૂર

જનતા સાથેના સીધા સંપર્કને લીધે સામાન્ય જનતાનાં સુખદુઃખો, ઇચ્છા-અનિચ્છાઓ, પૂર્વગ્રહો, પક્ષપાતો, મર્યાદાઓ, વિચિત્રતાઓ, ગુણો-દુર્ગુણો તથા નબળાઈઓ વગેરેથી આચાર્યશ્રી વાકેફ હતા. જૈન સમાજની નાડી આચાર્યશ્રીના હાથમાં હતી. એઓશ્રી કહેતા કે મધ્યમ વર્ગની ઘણીખરી નબળાઈઓ અનુકરણમાંથી આવે છે. દેખાદેખીના ખપ્પરમાં, સમાજની રૂઢિઓમાં એની બચત ખર્ચાઈ જતાં એ રહેંસાઈ રહ્યો છે અને અન્યનો દેવાદાર પણ બની રહ્યો છે. જો એ પોતાનાં કૃત્યો પરત્વે જાગ્રત ન હોય તો એ સમાજમાં આડે માર્ગે જાય છે અને આખરે સમાજને બોજારૂપ થઈ પડે છે. કરોડરજ્જુ સમાન ગણાતા મધ્યમ વર્ગની દિનપ્રતિદિન બગડતી પરિસ્થિતિનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ હતો અને તેથી અવારનવાર વ્યાખ્યાનો દ્વારા ભારપૂર્વક તેઓશ્રી કહેતા કે મધ્યમ વર્ગ તૂટી જશે તો સમાજનો પાયો સ્થિર નહિ રહે. સમાજમાં અરાજકતા અને આંતર-વિગ્રહની ભૂમિકા રચાશે. આવતી કાલના રાજકીય–આર્થિક–સાંસ્કૃતિક પરિબળોએ સર્જાવેલ પ્રત્યાઘાતો જો સમાજ ન જીરવી શકે તે ભારે પછડાટ ખાશે.

જીવનના ત્રણ આદર્શો

શ્રમણ ભગવાન મહાવીરે જૈન સંઘનું પ્રરૂપેલું બંધારણ લોકશાહી છે એ આચાર્યશ્રી બરોબર સમજતા હતા. શ્રમણ ભગવાન મહાવીરે સત્ય અહિંસાનો આદર્શ રજૂ કરી સમાનતાની હિમાયત કરી હતી. કર્મવાદ અને સ્યાદ્‌વાદ રજૂ કરીને જૈન દર્શને અનેકોને નવી દૃષ્ટિએ વિચાર કરતા કરી મૂક્યા

હતા. પણ કાળના પરિબળોએ સર્જેલી સ્થિતિમાં ધર્મ સ્થાપિત હિતોનો પુરસ્કર્તા બની ગયો હતો. કાળનો પ્રભાવ વિચિત્ર રીતે પડ્યો હતો અને મધ્યમ વર્ગ અજાગ્રત હતો. સમાજના નેતાઓને સમાજના વ્યાપક પ્રશ્નોનો જોઈએ તેવો ખ્યાલ નહોતો અને ધર્મનો અર્થ બહુ સંકુચિત બની ગયો હતો સારાય સમાજમાં એ રીતે અજ્ઞાને જન્માવેલી અવદશા હતી. બધે જ માત્ર વણિકવૃત્તિ કામ કરતી હતી.

આવી પરિસ્થિતિમાં હવે ફેરફાર થયો. રાજકીય ક્ષેત્રે આવેલી નવજાગૃતિની સાથે ધર્મક્ષેત્રમાં વ્યાપક પ્રચાર કરવાનું શ્રેય આચાર્યશ્રીને ફાળે જાય છે. આચાર્યશ્રી સ્પષ્ટ કહેતા : **“મારા જીવનના ત્રણ મુખ્ય આદર્શો: આમાં પહેલું આત્મસન્યાસ, બીજું જ્ઞાન-પ્રચાર અને ત્રીજું શ્રાવક-શ્રાવિકાઓનો ઉત્કર્ષ.”** આચાર્યશ્રીએ આ ત્રણ આદર્શોને માટે જીવનની પ્રત્યેક પળનો ઉપયોગ કરી જીવનને ધન્ય બનાવ્યું છે અને એક અનુપમ પ્રેરણાત્મક જીવનદર્શન જનતા સમક્ષ મૂક્યું છે. આચાર્યશ્રીનું જીવન-કવન સ્પષ્ટ રીતે ખ્યાલ આપે છે કે સતત આત્મજાગૃતિ સાથે જૈન નેતાઓ જો સમાજની સેવા માટે પ્રયત્નો કરે તો એ સંગીન કાર્ય કરી શકે અને સમાજને એમની પ્રવૃત્તિ લાભદાયી થાય ! વળી જૈન શ્રમણો માત્ર પોતે માની લીધેલી અસંસારિક બાબતોમાં જ જૈન સમાજને દોરે એ ન ચાલે. કારણ કે શ્રમણોનો એક મોટો ભાગ તો સમાજના એક ભાગ તરીકે જ જીવન વ્યતીત કરી આરાધના કરે છે. આ શ્રમણ–સમુદાય તત્કાલીન સમાજમાં જે પરિવર્તનો આવતાં હોય તેની અવજ્ઞા ન કરી શકે. આથી શ્રમણ–સમુદાયનું એ કર્તવ્ય બને છે કે જૈન ધર્મની ઉચ્ચ પ્રણાલિકા જાળવી સમાજના કલ્યાણ માટે પ્રયત્નો કરવા અને સમાજને ઉત્કર્ષના માર્ગે લઈ જવો. પ્રથમ ધર્મ કે પ્રથમ સમાજ એ પ્રશ્ન કેટલાંકને મૂંઝવે છે, પણ એ વસ્તુ સ્પષ્ટ છે કે બંનેને એક-બીજાના પૂરક તરીકે ગણીને શ્રમણે આગળ ધપવું જોઈએ તથા કાર્યક્ષેત્રમાં બંનેનો સમન્વય કરવો જોઈએ. એમ કરીને કાળના આવતા આક્રમણ સામે શ્રાવક-શ્રાવિકાઓનો બચાવ કરવો જોઈએ. આચાર્યશ્રીનું જીવન આપણને આવા સમાજકલ્યાણવાંછુ આદર્શ શ્રમણ તરીકેનો દાખલો પૂરો પાડે છે. એઓશ્રી કહેતા કે આત્મમંગળની આરાધના કરતાં શ્રમણે સમાજ પ્રત્યેની પોતાની ફરજ ભૂલવી ન જોઈએ. આચાર્યશ્રીએ પોતે પણ આ બાબત પોતાની આગવી જવાબદારી છે એમ સમજી એ વસ્તુને પોતાના જીવને ફલિત કરી છે. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી એઓશ્રી જીવન જીવી ગયા અને અનેકોને ઉપકારી થયા.

અનાદિ સંસારના ક્ષય માટે ભગવાન મહાવીરે જૈન ધર્મના અનેક સિદ્ધાંતોનું પ્રરૂપણ કર્યું છે; અનેકાંતવાદની હિમાયત કરી છે; સંઘની સ્થાપના કરી છે અને ભાવિક જીવોને માર્ગદર્શન આપ્યું છે. શ્રમણ ભગવાન મહાવીરના શાસનને અનેક સદીઓ વીતી ગઈ છે. જૈન ધર્મનું સ્વરૂપ એનું એ રહ્યું હોવા છતાં એની આજુબાજુનું સ્વરૂપ બદલાઈ ગયું છે. પ્રભુ મહાવીરે જે સંદેશો આપ્યો છે તે સાચો છે પણ એ સંદેશો જીરવવો એ નાનીસૂની વાત નથી. કાળના પ્રવાહની સામે જઈ નિજાનંદમાં મસ્ત બનવું અને સમાજને ઉચ્ચ માર્ગે દોરવો એ વસ્તુ વિરલ માનવો જ કરી શકે. આચાર્યશ્રી આવા એક વિરલ પુરુષ હતા.

જૈન ધર્મ અને વિજ્ઞાન

આચાર્યશ્રીના જીવન અને કવને બતાવ્યું છે કે ધર્મનું મૂળ નથી બદલાતું પણ એની આજુબાજુ ગૂંથાયેલી સમાજિક રૂઢિઓ અને રસમો બદલાય છે—બદલવી પડે છે. જૈન દર્શને સદીઓના ચિંતનથી જ્ઞાનોત્કર્ષમાં જે વિશિષ્ટ ફાળો આપ્યો છે તે હવે વૈજ્ઞાનિક રીતે સાબિત થવા માંડ્યો છે, એટલે કે વિજ્ઞાન પણ હવે જૈન સિદ્ધાંતોની વાતો કબૂલ રાખતું થયું છે. ભારતીય વૈજ્ઞાનિક સ્વ૦ જગદીશચંદ્ર બોઝે વનસ્પતિમાં જીવ છે એ સાબિત કર્યું અને આખું જગત આજે તે માનતું થયું છે. જૈન ધર્મે આ વાત

ઘણાં વર્ષોથી કહી છે. પશ્ચિમના ચિંતકો આપણા સ્વતંત્ર દર્શનને સ્વીકારતા થયા છે. જર્મન ચિંતક હેગલ આપણા જૈન દર્શનની નજીક આવે છે. સ્વ૦ પ્રા૦ આલ્બર્ટ આઈન્સ્ટાઈન એમના સાપેક્ષવાદના સિદ્ધાંતને લઈને જૈન સિદ્ધાંતની ઘણી નજીક આવે છે. 'મેટર' અને 'માઇન્ડ'ની વ્યાખ્યામાં અને વિશ્વના ઉદ્‌ભવ સંબંધી વિચારણામાં જૈન વ્યાખ્યાઓનો હવે વ્યાપક રીતે સ્વીકાર થઈ રહ્યો છે. વિજ્ઞાનની ચકાસણીમાં આપણો ધર્મ ટકી રહ્યો છે અને ટકી શકે એમ છે એ નક્કર સત્ય છે.

વિજ્ઞાન અને ધર્મ વચ્ચે મેળની જરૂર

આજના વિજ્ઞાને સમય અને સ્થળનું અંતર દૂર કર્યું છે. સમસ્ત વાતાવરણમાં આપણા અવાજનો પડઘો પડે છે એ વસ્તુ રેડીઓ જેવી શોધોએ પુરવાર કરી છે. આજના વિજ્ઞાને આસુરી કહી શકાય એવી વિનાશક શક્તિ પેદા કરી છે. આજના માનવી પાસે સાધનો છે, સંપત્તિ છે, જ્ઞાનના વિવિધ પ્રકારનો વિકાસ અને સિદ્ધિઓ છે. આજના યુગમાં માનસશાસ્ત્રજનિત વિજ્ઞાને માનવીના ચિંતન અને એ પરત્વેનું એનું વલણ બદલી નાખ્યાં છે. માનવીએ ભૌતિક પ્રગતિ કરી વિપુલતા પ્રાપ્ત કરી છે પણ આજના દાર્શનિકો અને તત્ત્વજ્ઞોને લાગે છે કે આ ભૌતિક પ્રગતિના મુકાબલે માનવી આધ્યાત્મિક અને નૈતિક જીવનમાં કંઈ જોજનો દૂર પાછળ રહી ગયો છે. આમ આજના અપરિમિત જ્ઞાનવિજ્ઞાનની અનેક શોધો છતાં માનવી હજી કેટલીય બાબતમાં પાછળ છે—અજ્ઞ છે.

વિજ્ઞાન એક તરફ આગળ વધી રહેલ છે, જ્યારે બીજી તરફ આપણા વિનાશનું કારણ બની રહેલ છે. આથી વિજ્ઞાન ઉપર અંકુશ મૂકવો જરૂરી બની રહેલ છે. આ લગામ જો નહિ આવે તો માનવીના વિનાશની એક નવી તવારીખ રચાશે. અણુબૉમ્બ અને બીજી શોધોએ યુદ્ધનું આખું શાસ્ત્ર બદલી નાખી આજના જીવનમાં અનેક કોયડાઓ પેદા કર્યા છે.

વિજ્ઞાનની શોધોને પરિણામે આજે સંકુચિત ભાવનાઓને ક્યાંયે સ્થાન રહ્યું નથી. માનવીની દૃષ્ટિને વિકસાવે એવું ઘણું ઘણું આ ભૌતિક દુનિયામાં બની રહ્યું છે. ભૌતિક દુનિયાનો વિકાસ અને આધ્યાત્મિક નૈતિક જીવનની પીછેહઠ આ બંને કારણોને લઈ આજની જીવન-વીણા વિસંવાદી સૂરો વહાવી રહી છે. સમષ્ટિના સંઘર્ષમાં પણ આ જ એ કારણો છે. પરિણામે નિષ્ફળતા અને નિરાશાના ઘોર વાદળો ચારે બાજુ ઝળુંબી રહ્યાં છે. વિજ્ઞાને જન્માવેલી લાગણી અને ધર્મભાવના વચ્ચે મેળ સાધવાની ખાસ જરૂર છે. આ કાર્ય ધર્મગુરુઓ જેટલું બીજું કોઈ ન કરી શકે. આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી આ રીતે આપણી ઘણી સેવા બજાવી ગયા.

આદર્શ ગુરુ

આજના યુગને પ્રતિકૂળ થવાથી—યુગની પ્રવૃત્તિઓથી નિર્લેપ થવાથી આપણે સાચું જીવન જીવી શકવાના નથી. એમ કરવા જતાં આપણી તાકાત જ તૂટી જશે. એથી આજના યુગને સમજીને આપણે પ્રવૃત્તિ કરવાની છે. કોઈનું યે અમંગળ ઇચ્છ્યા વિના, સદાયે જાગ્રત રહી, આત્મકલ્યાણ સાધવાનું છે. આ આત્મકલ્યાણ આપણે આપણી રીતે કરવાનું છે. એ માટે આપણને સદ્‌ગુરુની જરૂર છે. આજના યુગમાં આ સદ્‌ગુરુ કેવા હોઈ શકે એનો દાખલો આચાર્યશ્રીએ આપણી સમક્ષ મૂક્યો છે. એમની અનેકવિધ સમાજોપયોગી પ્રવૃત્તિનું ઉદાહરણ આપણી સમક્ષ છે. એઓશ્રીએ આપણને આપણી ફરજનું ભાન કરાવ્યું છે. યુગવીર–યુગદૃષ્ટા આચાર્ય તરીકેનું એઓશ્રીનું સ્થાન અનન્ય છે. પરિવર્તનશીલ સંસારમાં સમાજ તેમ જ ધર્મને નજરમાં રાખી ધર્મમય પ્રવૃત્તિ કેવી રીતે કરી શકાય એનો અનુપમ દાખલો આચાર્યશ્રી આપણી સમક્ષ મૂકી ગયા છે. એમનો વારસો આપણે જીરવવાનો છે. આપણે આપણી

સમક્ષ મહાપુરુષોનાં જીવન અને કાર્યનો દાખલો રાખીએ તો આપણને જીવન જીવવાની પ્રેરણા મળે, અને આપણે આપણું જીવન ધન્ય બનાવી શકીએ. આમ કરીને જ આપણે આપણા ધ્યેયની દિશામાં આગળ ધપી શકીએ. મહાપુરુષોનાં જીવન તો માત્ર પ્રેરણા આપે પણ આપણે જો જીવનમાં તે ઉતારવા પ્રયત્ન કરીએ અને સદાએ જાગ્રત બનીએ તો આપણે પણ 'પુરુષોત્તમ' બની શકીએ. આચાર્યશ્રીના જીવનમાંથી આપણને આ પ્રેરક સંદેશ મળે છે. આ રીતે એઓશ્રી ખરેખર એક આદર્શ ગુરુ હતા.

ઉપસંહાર

આચાર્યશ્રીના જીવન અને વ્યક્તિત્વ પ્રતિ આપણે એક ટૂંકો દૃષ્ટિપાત કર્યો. શરૂઆતમાં જ કહ્યું તેમ કોઈ મહાન વ્યક્તિને પૂર્ણ રીતે સમજવી મુશ્કેલ છે; તેના અંતરમાં વહી રહેલા ગહન પ્રવાહોને પામવા કઠિન છે; તેમ છતાં આપણે જેટલે અંશે અને જેટલી રીતે તેને સમજી શકીએ એટલું આપણું સદ્‌ભાગ્ય. મહાન પુરુષો પોતાની જાતને કદી અસાધારણ કે અસામાન્ય ગણાવતા નથી. તેઓ તો પોકારી પોકારીને કહેતા હોય છે કે 'તમે અમને સમજવા પ્રયત્ન કરો, અમારી વાતો આચરણમાં મૂકો અને તમે પણ અમારા જેવી પ્રગતિ સાધી શકશો.'

> "Lives of great men all remind us
> We can make our lives sublime!"

આચાર્યશ્રીનું વ્યક્તિત્વ વિવિધ પ્રકારનું હતું. પોતાની આગવી પ્રતિભા અને શક્તિ વડે તેમણે પોતાનો તેમ જ સમષ્ટિનો વિકાસ સાધવા જીવનભર સતત પ્રયત્ન કર્યો. જ્યાં અન્યાય જોયો ત્યાં ન્યાયની સ્થાપના માટે મથ્યા; જ્યાં અનિચ્છનીય માન્યતાઓ, રૂઢિઓ અને વહેમો નિહાળ્યાં ત્યાં સત્યનું મંડાણ કર્યું. નિરક્ષર સમાજને શિક્ષિત બનાવવા વિદ્યામંદિરો સ્થાપ્યાં, અજ્ઞાનને દૂર કરવા જ્ઞાન અને બુદ્ધિયુક્ત પ્રવચનો કર્યાં, સમાજની પરિસ્થિતિને પૂર્ણ રીતે સમજવા શહેરેશહેર અને ગામોગામ ભમ્યા. જીવનની અનેક લીલીસૂકી અનુભવી અને પરિણામે તેમની દૃષ્ટિ અતિ વિશાળ બની, તેમની દૃષ્ટિમાં દિવ્ય તેજ આવ્યું અને અંગેઅંગ નૂતન સૌરભથી મહેકી રહ્યું. તેમનાં આ તેજ અને સૌરભને આપણે ઝીલી શકીએ તો તેમને યોગ્ય તેમ જ સાચી અંજલિ અર્પી ગણાશે અને તેમની દૃષ્ટિને પામી શકીશું અને તો જ આપણે સાચી ભક્તિ વ્યક્ત કરી લેખાશે.

આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીનું જીવન-કવન રજૂ કરતાં જાણતાં-અજાણતાં આચાર્યશ્રીનું મંતવ્ય ખોટી રીતે રજૂ થઈ ગયું હોય અથવા ક્યાંય ઉત્સૂત્રની પ્રરૂપણા થઈ ગઈ હોય તો તે અંગે **मिच्छामि दुक्कडं !**

અને પ્રાંતે—

ગુરુ–આત્માપાલક, ગુરુની અંતિમ ભાવનાને મૂર્ત સ્વરૂપ આપનાર, ગુરુના પુનિત પગલે ચાલનાર આચાર્યશ્રીએ સ્વર્ગીય ગુરુની અંતિમ ભાવના પૂર્ણ કરી. ધન્ય છે આવા ધર્મ અને સમાજનો સમોત્કર્ષ ઇચ્છનાર વીરવ્રતધારીને !

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः !

शिवमस्तु सर्वजगतः ! !

સાધુસંસ્થાના કીર્તિકળશ

આચાર્યશ્રી ઉમંગસૂરિજી

સામાન્ય રીતે એમ માનવામાં આવે છે કે આધુનિક યુગ એ એક પડતો કાળ છે; અને તે માટે ‘ કળિકાળ ’ જેવો ઘૃણાદર્શક શબ્દ વાપરવામાં આવે છે. હાલના કહેવાતા સુધરેલા લોકો પર એક મોટો આક્ષેપ મૂકવામાં આવે છે કે તેઓ ધર્મહીન, શ્રદ્ધાહીન અને નાસ્તિક બનતા જાય છે. જ્યારે બીજી બાજુ એક એવો વિશાળ વર્ગ છે જે માને છે કે તેઓએ અપૂર્વ પ્રગતિ સાધી છે, જગત પ્રતિ વૈજ્ઞાનિક રીતે જોવાની નૂતન દૃષ્ટિ કેળવી છે અને દુનિયાને નવાં સત્યોનું દિવ્ય દર્શન કરાવ્યું છે. આમાંથી કોણ સાચું તે નક્કી કરવું મુશ્કેલ છે; પણ એટલું તો અવશ્ય ધ્યાનમાં રાખવાની જરૂર છે કે બન્ને વર્ગોમાં કોઈ સંપૂર્ણ સાચું કે સંપૂર્ણ ખોટું નથી. બન્નેની દૃષ્ટિમાં એક યા બીજા પ્રકારે અમુક સત્ય રહેલાં છે અને તેથી બન્નેના સુભગ સમન્વયમાં જ માનવનું હિત સમાયું છે.

આ વાત જગતમાં પ્રવર્તી રહેલા દરેક ધર્મ, દેશ અને સમાજને લાગુ પડે છે. જૈનધર્મનો પણ એ દૃષ્ટિએ વિચાર કરવો જોઈએ. પડતા જતા આ કાળમાં ધર્મને ટકાવી રાખનાર મહત્ત્વનાં ત્રણ બળો છે: જિનાગમ, જિનબિંબ અને સાધુસંસ્થા. હાલની વૈજ્ઞાનિક પ્રગતિ જોઈને અત્યંત અંજાઈ જવાની જરૂર નથી. ધર્મના ઘણાખરા મહત્ત્વના સિદ્ધાન્તોનો વૈજ્ઞાનિક દૃષ્ટિએ જ વિચાર કરવામાં આવ્યો છે એ ભૂલવા જેવું નથી. ઉપર્યુક્ત ત્રણ બળોને ઉવેખ્યા વિના તેના પર ઊંડો વિચાર કરવાથી ઘણું જ્ઞાન મળી શકે એમ છે; અને તેમાં યે ખાસ કરીને સાધુસંસ્થાને સમજવાનો પ્રયત્ન વધુ આવશ્યક છે.

સાધુસંસ્થા મોટે ભાગે સમાજને હમેશાં ઉપકારક નીવડી છે. તેણે સમાજનું ધોરણ જાળવી રાખ્યું છે, સમાજને સાચો પંથ ચીંધ્યો છે અને આમસમાજ પર એક પ્રબળ અસર પાડી છે. આપણી સાધુસંસ્થા જેટલી વિરક્ત, ચારિત્રમય અને પુનિત હશે તેટલી તે વધુ સબળ અને અસરકારક નીવડશે. એટલે આપણે કહી શકીએ કે સાધુસંસ્થાની ઉન્નતિમાં સમાજની ઉન્નતિ સમાયેલી છે.

જૈન સાધુસંસ્થાનો ક્રમિક વિકાસ નિહાળતાં આપણું હૃદય પુલકિત બને છે. જૈન સાધુ-સંસ્થાએ આજ સુધી પોતાની જે પ્રતિષ્ઠા જાળવી રાખી છે તે જોતાં કહેવું જોઇએ કે તેની કીર્તિ કદી ઝાંખી નહિ પડે; તેની દીપ્તિ નિતનિત બઢતી જ રહેશે.

શ્રી મહાવીર ભગવાનથી માંડી ૭૪મી પાટ પર વિરાજમાન થયેલ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી સુધીની ક્રમિક વિકાસ સાધતી સાધુ સંસ્થા નોંધપાત્ર છે. શ્રી મહાવીર ભગવાન પછી તેમના પટ્ટધર શ્રી સુધર્માસ્વામી ગણધર થયા, ત્યારપછી ૬૧મી પાટ ઉપર શ્રી વિજયસિંહસૂરિ મહારાજ થયા અને ૬૨મી પાટ ઉપર પં૦ શ્રી સત્યવિજયજી ગણિમહારાજ થયા. તે પછીના ત્રણ સાધુ આચાર્યોની નોંધ પણ છે. ૭૨મી પાટ ઉપર બિરાજેલ શ્રી બુદ્ધિવિજયજી (બુટેરાયજી), ૭૩મી પાટ પર આવેલ શ્રી વિજયાનંદસૂરિજી (પૂ૦ આત્મારામજી) અને છેલ્લા ૭૪મી પાટને શોભાવનાર શ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી.

આપણા સમકાલીન શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીએ આધુનિક જૈન સમાજ પર એક પ્રબળ અસર કરી છે એ નિઃશંક છે. તેઓ સાચા અર્થમાં સાધુ હતા. પોતાની નિશ્ચિત સાધનાના અઠંગ ઉપાસક હતા. તેમની પાસે પોતાની આગવી દૃષ્ટિ અને શક્તિ હતાં. તેમના દૃઢ ચારિત્ર્યમાં

અપૂર્વ અલૌકિકતા અને દિવ્ય તેજસ્વિતા હતાં. આ બધાંના પરિણામે તેઓ સરસ્વતીદેવીના સાચા ભક્ત બન્યા; અને એ દેવીને વ્યક્ત કરવા તેમની વાણીએ નૂતન દિવ્યતા ધારણ કરી. તેમના શબ્દેશબ્દે અમીની ધાર વછૂટવા માંડી. તેમનાં વાક્યેવાક્યે જ્ઞાનની છોળ ઊછળવા લાગી. આ નવીન શૈલીએ તેમના ભાવિકો પર ધારી અસર નિપજાવી. જે વિષયનું તેઓ પ્રતિપાદન કરતા તેનું પૂરેપૂરું બ્યાન આપતી વખતે સામી વ્યક્તિના પ્રશ્નોનો એવો સચોટ જવાબ આપતા કે તે વ્યક્તિ હંમેશાં પોતાને સાનુકૂળ બની જતી. વાદવિવાદ વખતે તેઓ કદી પોતાના મનની સ્વસ્થતા કે શાંતિ ન ગુમાવતા. શાસ્ત્રાર્થ કરતી વખતે ધૈર્ય અને ગાંભીર્ય એ એમના મૂળભૂત ગુણો હતા અને આથી જ જૈનશાસનને પ્રતિષ્ઠિત કરવામાં તેમણે અમૂલ્ય સાફલ્ય પ્રાપ્ત કર્યું.

તેઓએ સમાજહિતનાં એવાં પ્રશંસનીય કાર્યો કર્યાં કે જેથી તેઓ ભિન્ન ભિન્ન બિરુદોને પાત્ર બન્યા. પંજાબમાં સાધેલી પ્રગતિએ તેમને ' પંજાબ–કેસરી ' બનાવ્યા. અજ્ઞાનરૂપી અંધકારને કેળવણી દ્વારા નષ્ટ કરવામાં સૂર્ય સમાન હોવાથી ' અજ્ઞાનતિમિરતરણી ' કહેવાયા. કળિકાળમાં ભવ્ય જીવોના પ્રેરક અને માર્ગદર્શક હોવાથી ' કળિકાળ–કલ્પતરુ ' બન્યા. આધુનિક યુગમાં વીર સમાન હોવાથી ' યુગવીર ' તરીકે સંબોધાયા.

સામાજિક પ્રવૃત્તિઓની સાથે સાથે તેઓએ ધાર્મિક પ્રવૃત્તિઓને પણ ઉચિત રીતે મૂર્તિમંત બનાવી. પંજાબ, ગુજરાત, મારવાડ આદિ પ્રદેશોમાં જિનમંદિરોનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો; કેટલાંક શહેરોમાં અંજનશલાકાઓના મહોત્સવો ઊજવાયા, અનેક સ્થળોએ ગુરુમૂર્તિઓનાં ગુરુમંદિર તથા સમાધિમંદિર ઊભાં કરી પાદુકાઓની સ્થાપના કરી, ધાર્મિક અને અન્ય પ્રકારની કેળવણી અર્થે અનેક સંસ્થાઓ ઊભી કરી. કન્યાશાળાઓ, પૌષધશાળાઓ, ગુરુકુળો, જ્ઞાનમંદિરો, વાચનાલયો વગેરેના વિકાસ અર્થે તેઓએ સમગ્ર જીવનને ખર્ચી નાખ્યું. સાધર્મિક ફંડો અને કેળવણી ફંડો એકત્રિત કરવા માટે તેઓએ અપાર જહેમત ઉઠાવી.

આ બધી પ્રવૃત્તિઓ ઉપરાંત તેમણે ધાર્મિક સાહિત્યની પણ કીમતી સેવા કરી છે. તેમનામાં આંતરિક કવિશક્તિ હતી. 'પંચતીર્થની પૂજા', 'પંચપરમેષ્ઠીપૂજા', 'બ્રહ્મચર્યવ્રત' વગેરે ૧૯ પૂજાઓની રચના તેમની કવિત્વશક્તિનો નિર્દેશ કરે છે. 'ભીમજ્ઞાન દ્વાત્રિંશિકા', 'જૈન ભાનુ', 'ગવ્ય દીપિકા' જેવા ગ્રંથો એમના વિશાળ જ્ઞાનની ઝાંખી કરાવે છે. તેમનાં સ્તવનો, સઝ્ઝાયો, સ્તુતિઓ તેમના ભક્તિસાહિત્યનું દર્શન કરાવે છે. આ બધા સાહિત્યનો ઊંડો અભ્યાસ કરીએ તો જ એમની અપૂર્વ શક્તિનો ખ્યાલ આવી શકે.

પોતાના જીવનસંદેશને પહોંચાડવા તેઓ ગામેગામ, શહેરેશહેર ફર્યા. અનેક તીર્થોની ભાવપૂર્વક યાત્રાં કરી. જ્યાં જ્યાં ગયા ત્યાં ત્યાં તેમની વાણીરૂપી સૌરભ મહેકી ઊઠી, તેમના જ્ઞાનરૂપી પ્રકાશથી સર્વ સ્થળ ઝળહળી ઊઠયાં. તીર્થાધિરાજ શત્રુંજય, ગિરનાર, આબુ આદિ સ્થળોની યાત્રા અર્થે સંઘો યોજ્યા. જ્યાં જ્યાં તેમનું આગમન થયું ત્યાં ત્યાં અપૂર્વ સ્વાગત થયું. તેમણે સત્ય, અહિંસા, દાન અને દયા એવા અનેક વિષયો પર જ્ઞાનયુક્ત પ્રવચનો કર્યાં, જેની સમાજ પર તેની ઊંડી અસર પડી. અનેક સ્થળોએ હિંસાત્મક કાર્ય બંધ પડ્યાં. જૂના વહેમો અને રૂઢિઓ સામે તેમણે જેહાદ ઉઠાવી. સમાજનું નવનિર્માણ કરવા સતત ઝંખના કરી. આમ તેમણે સાધુસંસ્થાને દિપાવવા ઉપરાંત સમાજની પણ અલૌકિક પ્રગતિ સાધી. તેઓ જાણતા હતા કે સાધુસંસ્થા આખરે તો સમાજનું જ ફરજંદ છે, સમાજની પ્રગતિ થશે તો તેમાંથી જ સાધુરત્નો પાકશે. આમ સમગ્ર સાધુસંસ્થાને સમાજનાં નવનિર્માણનાં કાર્યો ચીંધી તેમણે નૂતન દૃષ્ટિ અર્પી છે; માટે જ તેમને સાધુસંસ્થાના કીર્તિકળશ કહીએ તો જરા ય અતિશયોક્તિ નથી.

યુગદ્રષ્ટા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીના હસ્તાક્ષર

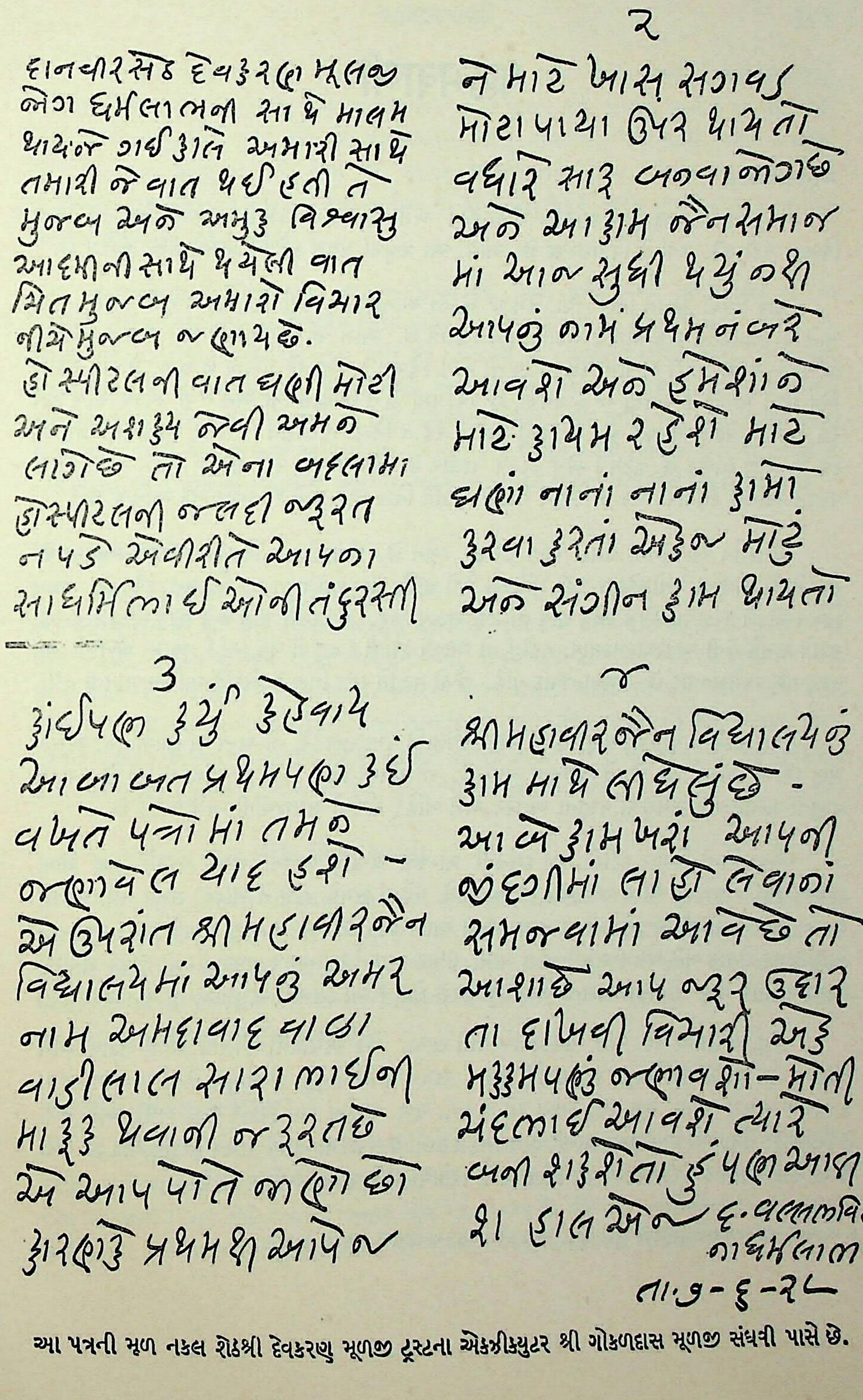

દાનવીરસેઠ દેવકરણ મૂલજી
જોગ ધર્મલાભની સાથે માલમ
થાય જે ગઈ કાલે અમારી સાથે
તમારી જે વાત થઈ હતી તે
મુજબ એક અમુક વિશ્વાસુ
આદમીની સાથે થયેલી વાત
મિત મુજબ અમારો વિચાર
નીચે મુજબ જણાય છે.
હોસ્પીટલની વાત ઘણી મોટી
અને અશક્ય જેવી અમને
લાગે છે તો એના બદલામાં
હોસ્પીટલની જલદી જરૂરત
ન પડે એવીરીતે આપના
સાધર્મિભાઈઓની તંદુરસ્તી

૨

ને માટે ખાસ સગવડ
મોટા પાયા ઉપર થાય તો
વધારે સારૂ બનવા જોગ છે
અને આ કામ જૈન સમાજ
માં આજ સુધી થયું નથી
આપનું નામ પ્રથમ નંબરે
આવશે અને હમેશાંને
માટે કાયમ રહેશે માટે
ઘણાં નાનાં નાનાં કામો
કરવા કરતાં એક જ મોટું
અને સંગીન કામ થાય તો

3

કાંઈપણ કર્યું કહેવાય
આ બાબત પ્રથમ પણ કઈ
વખતે પત્રોમાં તમને
જણાવેલ યાદ હશે -
એ ઉપરાંત શ્રી મહાવીર જૈન
વિદ્યાલયમાં આપનું અમર
નામ અમદાવાદવાળા
વાડીલાલ સારાભાઈની
માફક થવાની જરૂરત છે
એ આપ પોતે જાણો છો
કારણકે પ્રથમથી આપેલ

૪

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનું
કામ માથે લીધેલું છે -
આ બે કામ ખરાં આપની
જીંદગીમાં લાહો લેવાનાં
સમજવામાં આવે છે તો
આશા છે આપ જરૂર ઉદાર
તા દાખવી વિચારી એક
મક્કમપણું જણાવશો - મોતી
ચંદભાઈ આવશે ત્યારે
બની શકશે તો હું પણ આવી
શ હાલ એજ દ. વલ્લભવિ.
ના ધર્મલાભ
તા. ૭-૬-૨૮

આ પત્રની મૂળ નકલ શેઠશ્રી દેવકરણ મૂળજી ટ્રસ્ટના એકઝીક્યુટર શ્રી ગોકળદાસ મૂળજી સંઘવી પાસે છે.

वल्लभवाणी *

અનેકાંતવાદ

હિંદુસ્તાનમાં ત્રણ મુખ્ય દર્શનો—બૌદ્ધ, જૈન અને વેદ. કાલાનુક્રમની દૃષ્ટિએ વિચારતાં તેમના વિભાગ પડી શકે. છતાં તે વિવાદાસ્પદ છે. આથી આ ત્રણેમાં પ્રથમ કયું એ પ્રશ્નનો ઉત્તર મુશ્કેલ છે.

સર્વ પદાર્થો એકાંતે નિત્ય નથી, તેમ જ એકાંતે અનિત્ય પણ નથી. વેદ સર્વ વસ્તુને એકાંતે નિત્ય માને છે. બૌદ્ધદર્શન દરેક ચીજને એકાંતે અનિત્ય ઠરાવે છે. આમ વેદ નિત્યને માને અને બૌદ્ધ અનિત્યને—ક્ષણિકને—માને. સાદી ભાષામાં કહેવું હોય તો એમ કહેવાય કે વસ્તુ જે પ્રમાણે છે તે જ પ્રમાણે રહે છે એવું વેદનું માનવું છે—વસ્તુ જે હાલતમાં, જે સ્વરૂપમાં છે તે જ હાલતમાં અને તે જ સ્વરૂપ સદૈવ ટકી રહે છે એવી વેદની માન્યતા છે. જે વસ્તુ એકરૂપ રહે તે નિત્ય. બૌદ્ધદર્શન બરાબર આનાથી બીજું જ કહે છે. વસ્તુ ક્ષણિક છે. હરપળે એનું સ્વરૂપ બદલાય છે. એકરૂપ વસ્તુ રહી શકે જ નહિ. અને આવી વસ્તુને અનિત્ય કહેવાય. એક જ વસ્તુને વેદાંતી એકાંતે નિત્ય માને અને બૌદ્ધ-દાર્શનિક અનિત્ય માને.

જૈનદર્શન આ બંનેની લડાઈ શાંત કરનાર દર્શન છે. જૈનદર્શનનો સિદ્ધાંત અગાધ—અતાગ છે. સંદેહને એ પોતાના મનોપ્રદેશમાં કદી પ્રવેશવા દેતો નથી. શંકાનું તે તરત જ નિરસન કરે છે. શંકાનું નિધન એટલે સ્યાદ્વાદ એમ કહેવું હોય તો કહી શકાય ખરું. જૈનદર્શન માને છે કે વસ્તુ એકરૂપે ન રહે. સમયે સમયે તેની અવસ્થા બદલાય. નહોતું તો આવ્યું ક્યાંથી? હતું તે ગયું ક્યાં? આમ જૈનોનો મત સ્યાદ્વાદ, અનેકાંતવાદ છે—એકાન્તવાદ નહિ. જૈનો વસ્તુને સદા નિત્ય કે એકાંતે અનિત્ય માનતા નથી.

સ્યાદ્વાદને અપેક્ષાવાદ પણ કહે છે. એક અપેક્ષાએ વસ્તુ સત્ય ઠરે, તો અન્ય અપેક્ષાએ વસ્તુ અસત્ય પણ ઠરે. જે એકનો ગુરુ છે, તે બીજાનો ચેલો છે. જે એકનો પિતા છે તે જ બીજાનો પુત્ર છે. આમ વસ્તુની સત્યાસત્યતા સમજવા વસ્તુના અંતરંગ અને બહિર્ સંબંધો સમજવાની અપેક્ષા રહે છે.

બૌદ્ધદર્શનનો વિચાર કરીએ. આ દર્શનની માન્યતા પ્રમાણે વસ્તુનો સમયે સમયે નાશ થાય. અર્થાત્ કોઈ પણ વસ્તુ બીજા જ સમયે સ્વરૂપ બદલે. પહેલા સમયે હતી તે બીજા સમયે નથી રહેતી. આ માન્યતામાં રહેલી અપૂર્ણતાનો તરત જ ખ્યાલ આવી જાય છે. આ માન્યતા પ્રમાણે ઉધાર આપનાર અને ઉધાર લેનાર બંને બીજા સમયે નાશ પામે. ઉધાર આપનારનું સ્વરૂપ બદલાઈ ગયું; ઉધાર લેનારનું સ્વરૂપ બદલાઈ ગયું: તો પછી રકમની લેણાદેણી કરશે કોણ? આ દર્શનની અપેક્ષાએ તો બંને મરી ગયા.

પરંતુ અપેક્ષાએ વેદ અને બૌદ્ધદર્શન—બંને સાચાં. એક અપેક્ષાથી નિત્યતા પ્રરૂપી શકાય અને બીજી જ અપેક્ષાથી અનિત્યતા પણ દર્શાવી શકાય. સમયે સમયે વસ્તુનું બદલાવું તે તેની અવસ્થા—દશા કે હાલત અથવા પર્યાય. મૂળ વસ્તુ કાયમ રહે તે દ્રવ્ય. મૂળ વસ્તુમાં કોઈ ફેરફાર થતા નથી, અને તેથી તે નિત્ય છે. તેના સ્વરૂપમાં, અવસ્થામાં, હાલતમાં, દશામાં કે પર્યાયમાં સમયે સમયે ફેરફાર થાય છે તેથી તે અનિત્ય. આમ દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય ઠરે છે.

---

* આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિએ જુદા જુદા સ્થળે કરેલ વ્યાખ્યાનોમાંથી તારવેલ સામગ્રી.

આજે એક બાળક જન્મ્યો. તે દશ વર્ષનો થયો. યુવાન થયો અને પરણ્યો. અંતે ઘરડો થયો અને મરી ગયો. જે બચ્ચું જન્મ્યું તે જ બાળક થયો. તે જ યુવાન વયે પરણ્યો અને તે જ ઘરડો થઈ મૃત્યુ પામ્યો. પરંતુ બીજો કોઈ નહિ. એક હાલતમાંથી બીજી હાલતમાં, બીજીમાંથી ત્રીજી હાલતમાં અને...... પણ વ્યક્તિ તો તેની તે જ છે. બાળક જન્મ્યો તેનો તે જ. તે જ મૂળ દ્રવ્ય. તેની અવસ્થાઓ તે પર્યાય. જો બાળકનો નાશ માનીએ તો મોટું કોણ થયું? આમ દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય છે.

વસ્તુ મૂળે એક. માત્ર અવસ્થા બદલાય. ઉત્પન્ન થવું, નાશ પામવું અને કાયમ રહેવું એ ત્રણ ધારા છે. ભગવંત ગણધરને જ્યારે પ્રથમ શિક્ષા આપે છે ત્યારે આ ત્રણ પદ સમજાવે છે: 'પહેલું પદ ઉત્પન્ન થાય છે. બીજું પદ નાશ પામે છે. ત્રીજું પદ કાયમ રહે છે.' રાસભને શિંગડું અને વંધ્યાને પુત્ર ઉત્પન્ન થતાં નથી તેમ જ નાશ પણ પામતાં નથી. એવી જ રીતે, કાયમ પણ રહેતાં નથી. વસ્તુની નવી નવી હાલત ક્ષણે ક્ષણે પ્રગટ થવી અને દર ક્ષણે પૂર્વક્ષણની સ્થિતિ પ્રણષ્ટ થવી, તેમ છતાં મૂળમાં વસ્તુ એની એ જ રહેવી એનું નામ જ અનેકાંતવાદ. એ રીતે દરેક વસ્તુનું યથાર્થ દર્શન કરવું તે અનેકાંતદૃષ્ટિ. જ્યાં શંકાને સ્થાન નથી એનું નામ જ સ્યાદ્વાદ. આમ સ્યાદ્વાદને પ્રરૂપતું જૈનદર્શન મહદંશે પૂર્ણ છે.

કામ, કામ અને કામ

આપણા સમાજમાં કામ કરવાની આળસ એ એક મોટામાં મોટી ખામી છે. કામ બધાયે કરવાનું છે. 'બીજાં કામ કરે છે' એમ વિચારી આળસુ ન બનો, બધા કામ કરવા કટિબદ્ધ બનો. ફુરસદ નથી એમ ન કહો. નવરાશ તો મર્યા પહેલાં આવવાની નથી. જીવન સુધી કામ કરો અને એકબીજાને મદદ કરવા તૈયાર બનો. સાધુઓ અને શ્રાવકોના વિચારમાં સામ્ય લાવો. અભિમાન છોડો અને કામ કરવા ઐક્યની સાધના કરો. પછી જુઓ કે એવું કયું કામ છે જે તમારા સૌના સહકારથી પણ અશક્ય હોય! તમારો વિચાર આચારમાં ફેરવાશે ત્યારે સમાજ પ્રોન્નત થશે. જૈન સમાજના હે આબાલવૃદ્ધો! કાર્ય અપનાવવાનો સમય આવી લાગ્યો છે. ઊઠો, જાગો અને કાર્ય કરો.

પ્રભુ મહાવીરના ઝંડા નીચે એકત્ર થાઓ

ભલે તમારી ક્રિયાઓ જુદી હોય, ભલે તમે જુદા જુદા ગામના હો, ભલે તમારા આચાર્યો જુદા જુદા હોય; પણ તમારા દરેકમાં એક વસ્તુનું સામ્ય છે. તમે બધાં જ પ્રભુ મહાવીરને તમારા પ્રભુ માનો છો. તો પછી પ્રભુ મહાવીરના ઝંડા નીચે બધા એક થઈ જૈન સમાજનું વધુ કલ્યાણ થાય તથા પ્રભુના સિદ્ધાંતોનો પ્રચાર થાય અને જૈન સમાજની એકતા થાય તે માટે બધાં એકત્રિત થઈ સંગઠિત પ્રચાર શરૂ કરો. સંગઠનથી ચમત્કારિક લાભ થશે.

આત્માને પવિત્ર બનાવો

જ્યાં સુધી આત્મા કર્મબદ્ધ છે ત્યાં સુધી તેની કિંમત છોતરાવાળા ચોખાના જેવી છે. જેમ ઉપરનું છોતરું કાઢી નાખતાં છોતરાની કિંમત કંઈ નહિ અને ચોખાની કિંમત વધી જાય છે તેમ કર્મોનો નાશ થતાં આત્માની કિંમત વધી જાય છે, આત્મા ઊંચે ચઢતો જાય છે. એ માટે કષાયોનો ત્યાગ કરી, રાગદ્વેષ ઘટાડી, તપ કરી આત્માને તેનું મૂળ સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરાવો. આત્માને પવિત્ર બનાવો.

દરરોજ એક પૈસો આપો

આ શું ? એક પૈસો જ આપવાનો ? એક પૈસાથી શું થશે એમ તમને વિચાર થશે. સજ્જનો ! તમારા જેવા એક લાખ ભાઈઓ જો દરરોજ એક પૈસો આપે તો એક વર્ષમાં સાડાપાંચ લાખ રૂપિયા ભેગા થઈ જાય. ટીપે ટીપે સરોવર ભરાય તેમ પૈસે પૈસે રૂપિયાનું સરોવર ભરાઈ જાય. લક્ષ્મી ચંચળ છે. આપણને ખબર ન પડે તેમ તે જતી રહે છે. કરકસર કરી દરરોજ એક પૈસો બચાવો. હું તો માનું છું કે તમે દરેક દરરોજ એક પૈસો જરૂર બચાવી શકો. પૈસો બચાવો. બધાના પૈસા એકત્રિત કરી તે રૂપિયા તમારા સધર્મી ભાઈઓને પગભર કરવાના કાર્યમાં લગાડો.

સારો સ્વભાવ રાખો

કિનારે બેઠેલો સંન્યાસી તળાવમાં ડૂબતા વીંછીને બહાર કાઢીને બચાવે છે. તરત જ વીંછી સંન્યાસીને ડંખ મારે છે. ડંખ મારતાંની સાથે સંન્યાસીના હાથમાંથી છૂટીને વીંછી ફરીથી પાણીમાં પડી જાય છે. તેને ડૂબતો દેખી સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. સ્વભાવ મુજબ વીંછી ફરીથી ડંખ મારે છે. ફરી પાણીમાં ડૂબે છે. સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. આ દૃશ્ય જોઈ રહેલો કોઈ મુસાફર સંન્યાસીને પૂછે છે : “ આપ તેને શા માટે ફરી ફરી બચાવો છો ? ” સંન્યાસી પ્રત્યુત્તર આપે છે ! “ભાઈ, વીંછી જો તેનો ડંખ મારવાનો સ્વભાવ છોડતો નથી, તો પ્રાણીમાત્રને દુઃખમાંથી બચાવવાનો હું મારો ધર્મ કેમ છોડું ? ભલે કોઈ ખરાબ સ્વભાવવાળો ખરાબ કરતો જાય, પણ તમે સજ્જન હો તો તમારા સારા સ્વભાવને ન છોડવો જોઈએ. ”

સંગઠન સાધો

સૂતરનો એક દોરો જરાક ખેંચતાં તરત તૂટી જાય છે. સુતરના ખૂબ તાંતણા ભેગા કરી બનાવેલ દોરડું જાનવરોમાં મજબૂત ગણાતા હાથીને પણ બાંધી શકે છે. તમે જુદા જુદા બોલશો તો તમારો અવાજ કોઈ નહિ સાંભળે. બધા જો એક સાથે એક અવાજે બોલો તો તમારો અવાજ આખી દુનિયાને સાંભળવો પડશે. તમારા સંગઠિત અવાજથી અનેક ખરાબાઓનો નાશ થશે. એનાથી તમારા દરેક કામ સિદ્ધ થશે. બધા જોડે પ્રેમમય વર્તન કરો. એકબીજાના વિચાર સમજો. એકત્રિત થઈ ભલા કાર્યો કરવા તૈયાર બનો. સંગઠનથી બધું શક્ય છે. સંગઠન આત્માના ઉદ્ધારનું સાધન છે. આત્માનો ઉદ્ધાર થવાથી મોક્ષના માર્ગે આગળ વધી શકશો.

બ્રહ્મચર્યનો મહિમા

બ્રહ્મચારીને જગત વંદન કરે. બ્રહ્મચારીના તેજથી બધા અંજાઈ જાય. ઉચ્ચ વિચારો, ધર્મશ્રવણ, ઉત્તમ પુસ્તકોનું મનન, સંયમ અને સતત ઉદ્યમી રહેવાથી વિષયવાસના શાંત પડે છે. શરીર, મન, બુદ્ધિ અને આત્માને પરમ શાંતિ મળે છે. બ્રહ્મચર્યનો મહિમા અપરંપાર છે. ગૃહસ્થે પણ સ્વદારાસંતોષી બની બને તેટલું વધુ ને વધુ બ્રહ્મચર્ય પાળવું જોઈએ. તપમાં શ્રેષ્ઠ એવા બ્રહ્મચર્યનું મન, વચન અને કાયાથી પાલન કરનાર સાચો જૈન છે.

સદ્બુદ્ધિ રાખો

જે બુદ્ધિ દ્વારા એકબીજા વચ્ચે મિત્રતા, સંપ અને એકતા થાય, ધર્મની ગાથાઓનું તત્ત્વ સમજાય-સમજાવાય, સત્યની ઓળખ થાય, નમ્રતા વધે, સંયમમાં વૃદ્ધિ થાય, સેવાભાવી બનાય, ત્યાગવૃત્તિ આવે, ધર્મપ્રેમી થવાય, તે સદ્બુદ્ધિ. આવી સદ્બુદ્ધિ રાખી તમારા જીવનને સાર્થક કરો. સદ્બુદ્ધિદ્વારા સમાજના ભલા માટે ઉદ્યમ કરો.

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : गुजराती विभाग

: संपादक मंडळ :

डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा, एम्. ए., पीएच्. डी.

डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.

श्री नागकुमार ना. मकाती, बी. ए., एल्एल्. बी.

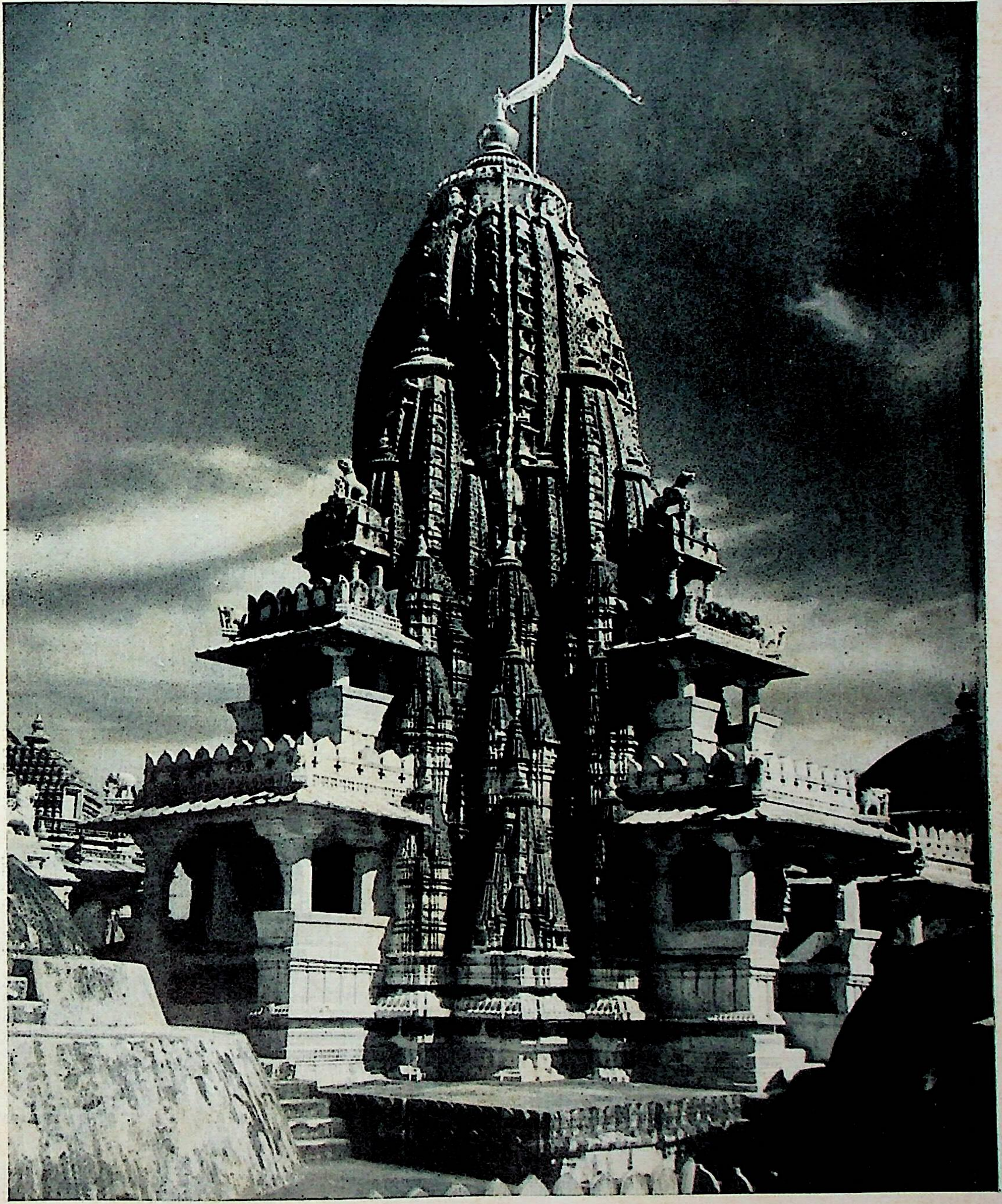

धरणाशाहे बंधावेल चतुर्मुख जिनप्रासादनुं गगनचुंबी शिखर, राणकपुर, १५मी सदी
Śikhara of the famous temple at Rāṇakpur, 15th Century

·तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

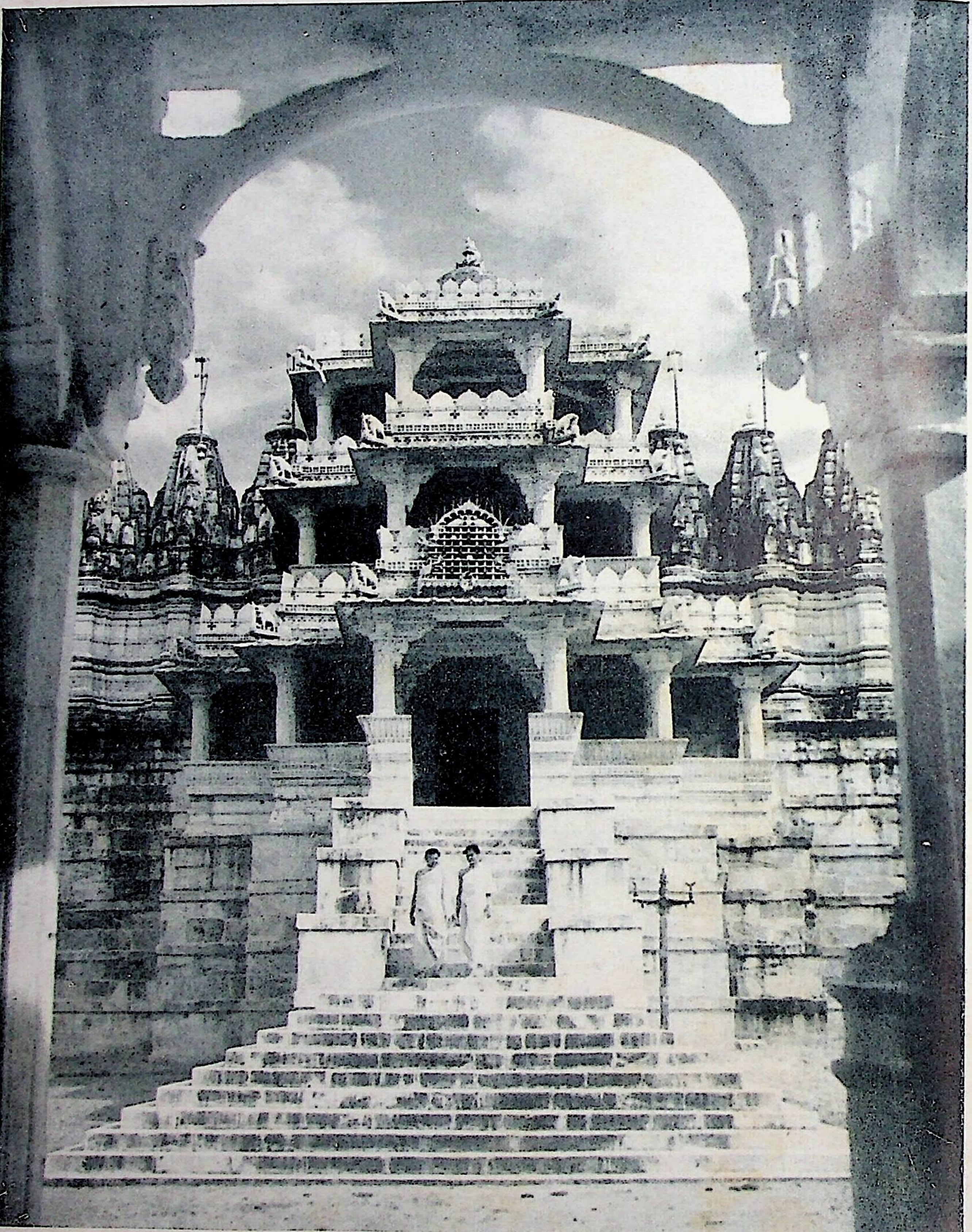

धरणाशाह अने रतनाशाहे बंधावेल चतुर्मुख देरासरनुं भव्य प्रवेशद्वार, राणकपुर, १५मी सदी
Entrance to the temple at Rāṇakpur built by Dharaṇāshā and Ratanashā in the 15th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

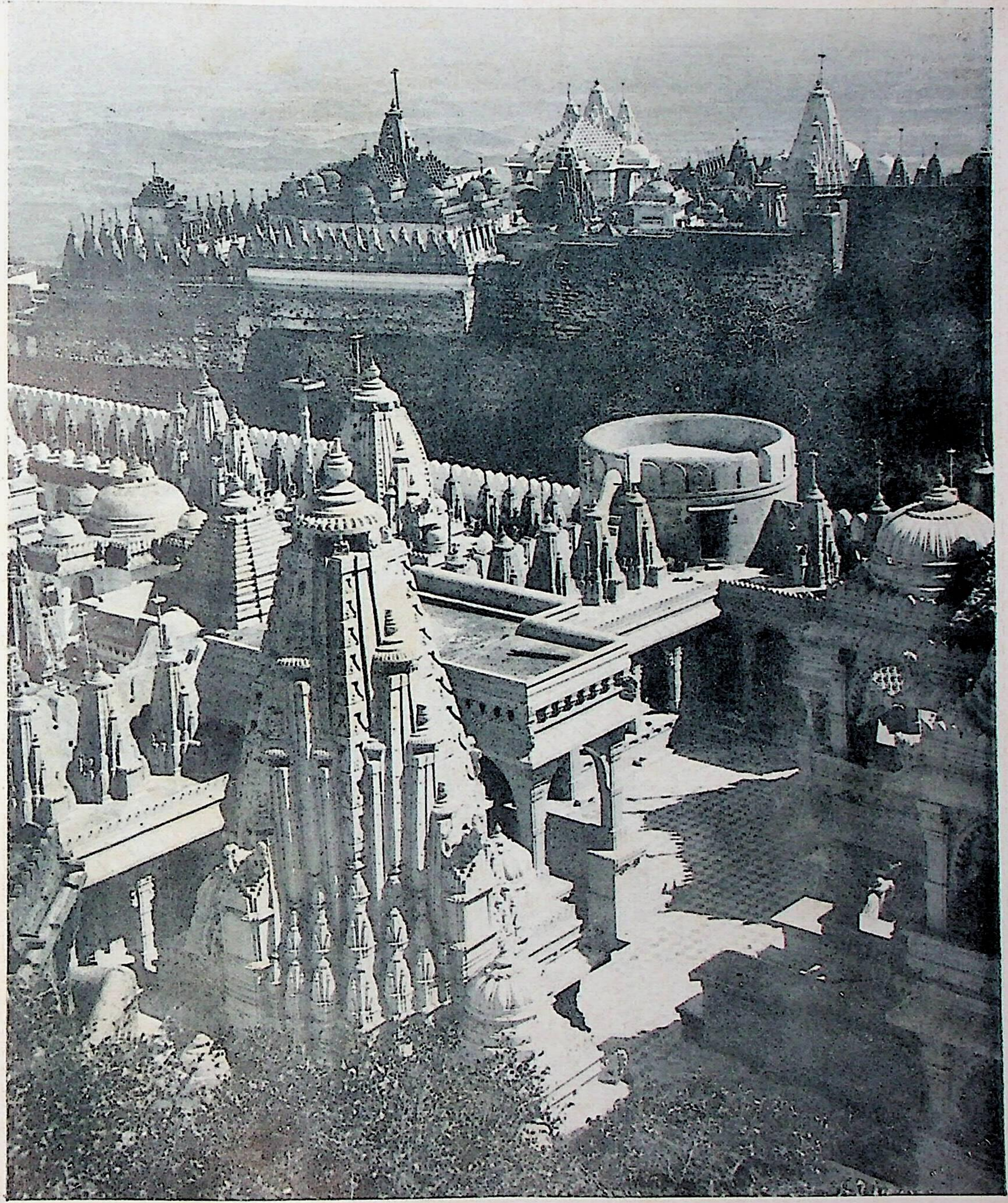

तीर्थाधिराज शत्रुंजय, पालिताणा

Śatruñjaya : The city of temples, Pālitāṇā, Saurāṣṭra

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

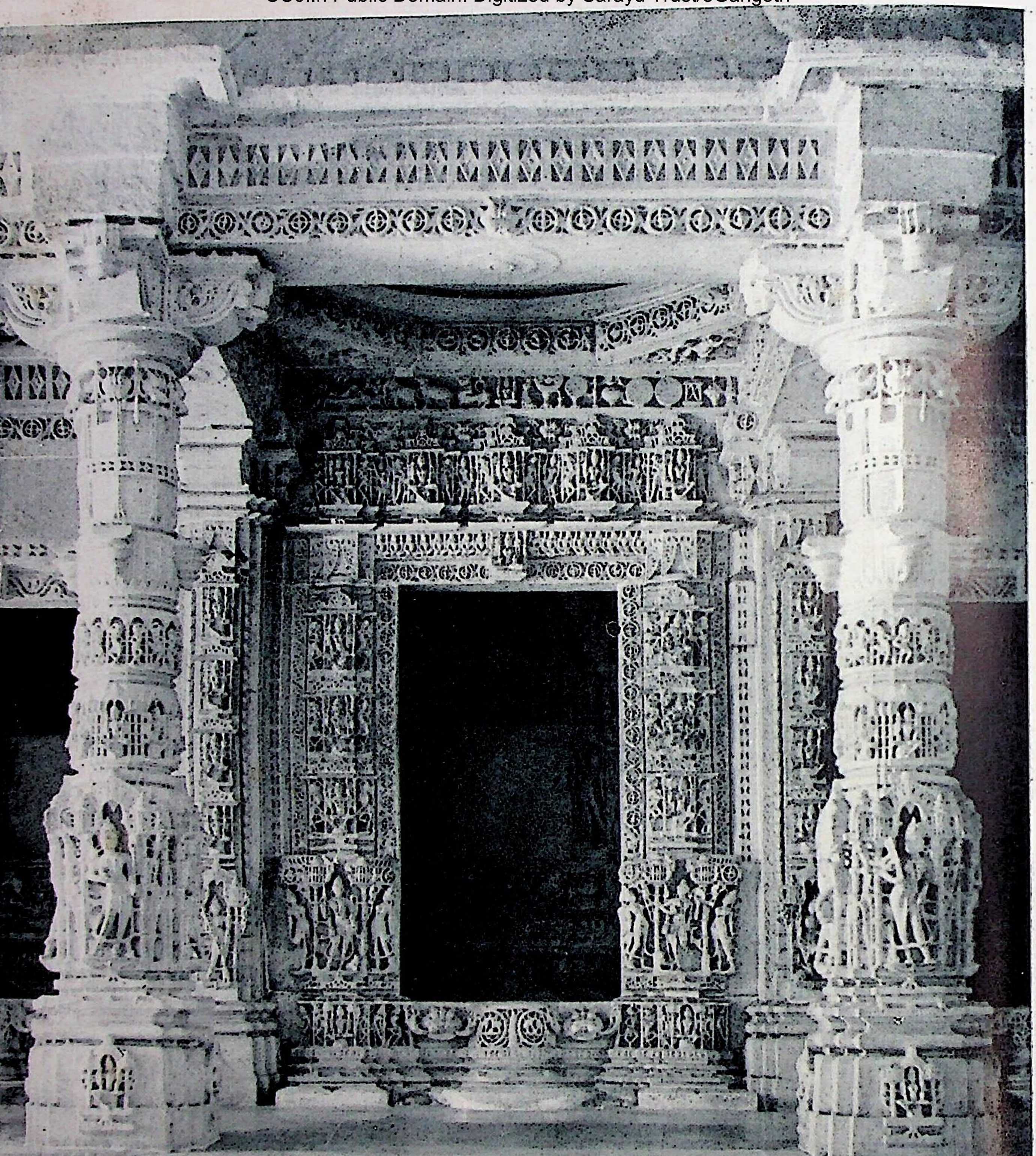

कुंभारियाजीनां पार्श्वनाथ भगवानना देरासरनी भमतीमां चौद स्वप्न अने देव-देवीओ कोतरेल स्तंभ अने द्वार

Interior of Pārśvanātha temple, Khumbhāriā, N. Guj. c. 12th Century

तवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

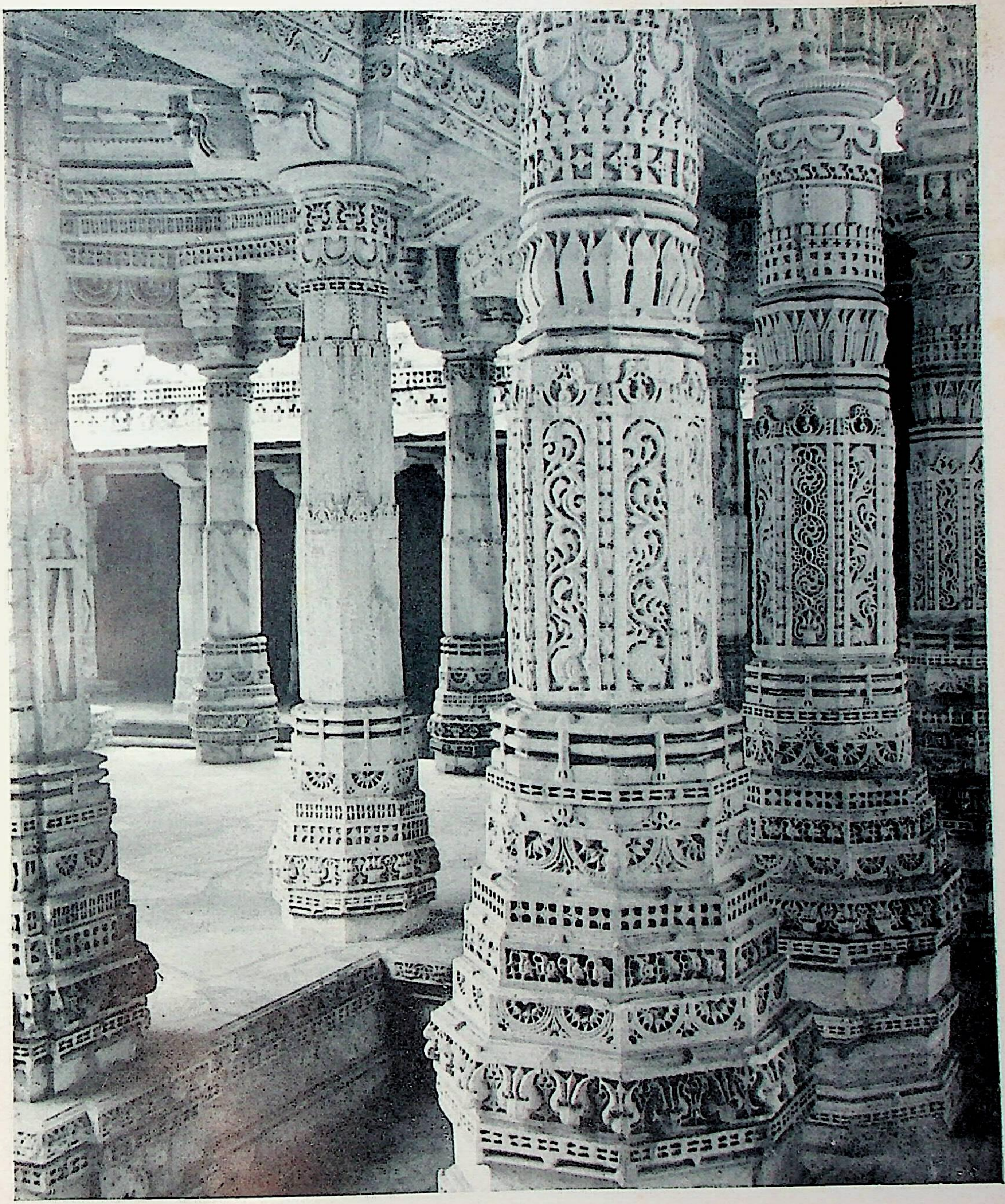

राणकपुरना चतुर्मुख जिनप्रासादना कलामय स्तंभोपरनी अद्भुत कोतरणी

Richly carved pillars in the famous Jaina Shrine at Rāṇakpur, 15th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

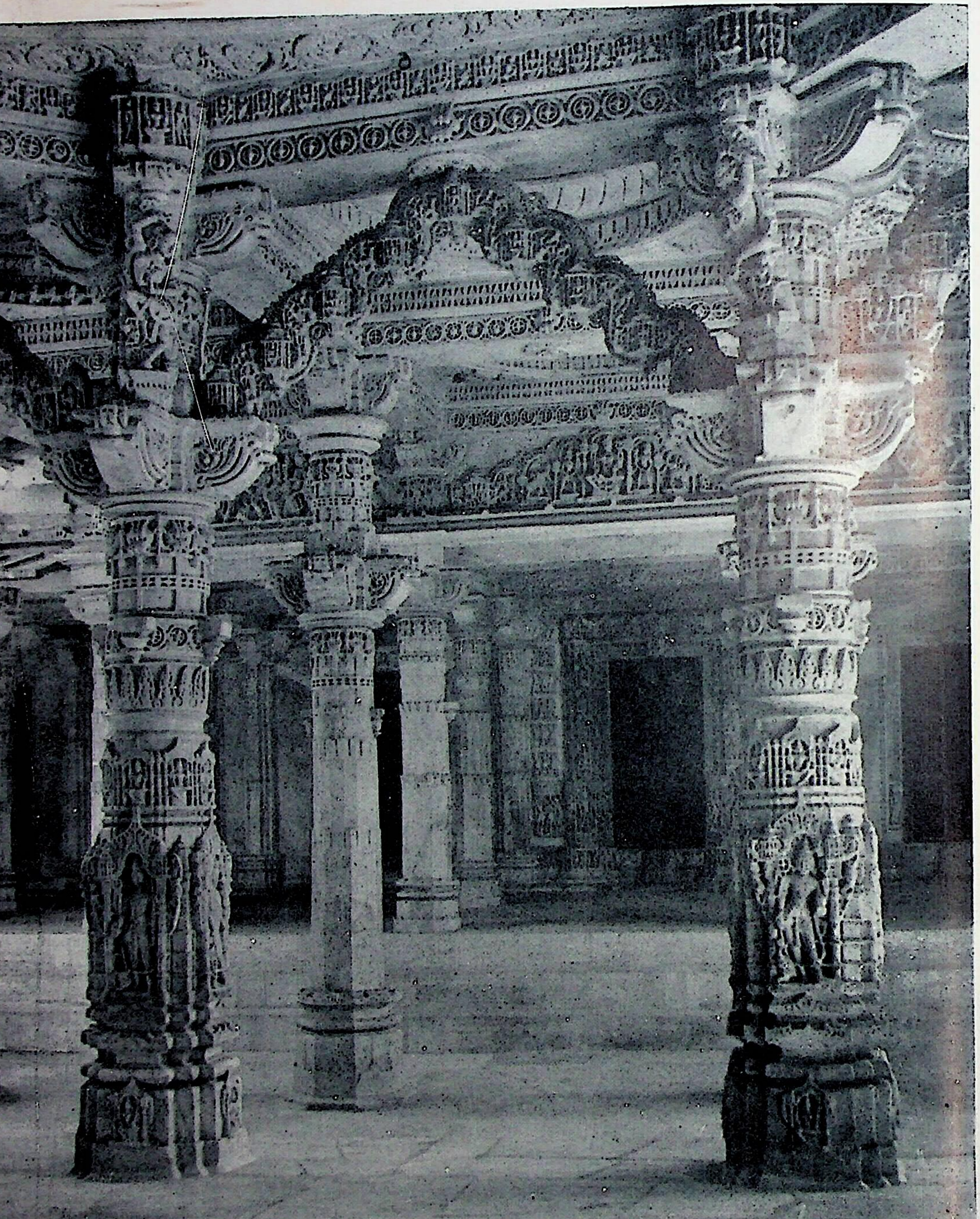

विमलवसही, आबु : रंगमंडप तथा देवकुलिकाओनुं एक दृश्य
Arnamental interior of the Rangamaṇḍapa and Devkūlikās, Vimal-Vasahī, Ābu.

ीर : श्री० आर० भारद्वाज]

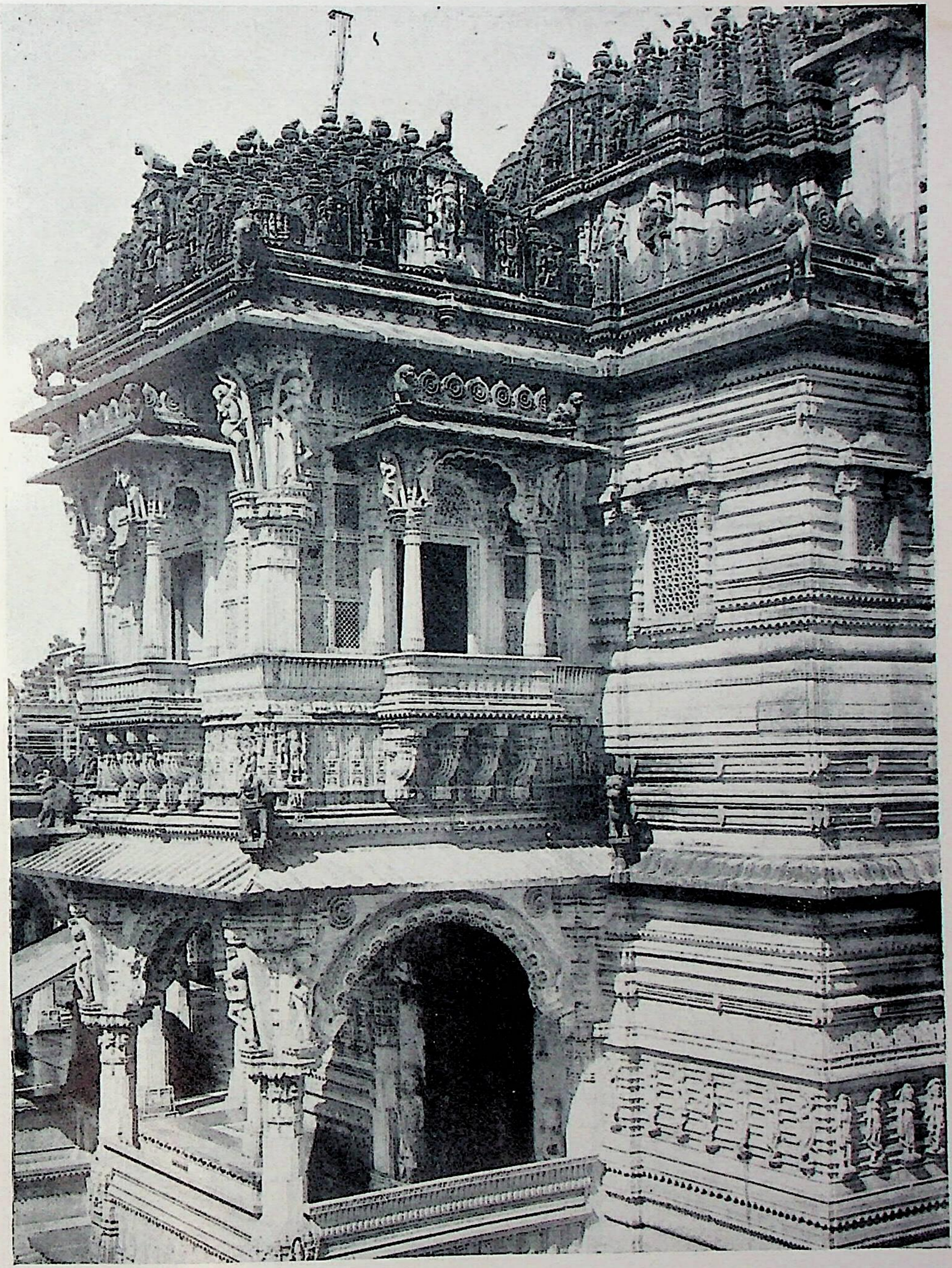

हठीसिंगना देरासरनो उपरनो भाग, अमदावाद, १९मी सदी
Upper part of Hathising temple, side-view, Ahmedabad, 19th Century

तसवीर : जॉनस्टन अने हॉफ़मेन]

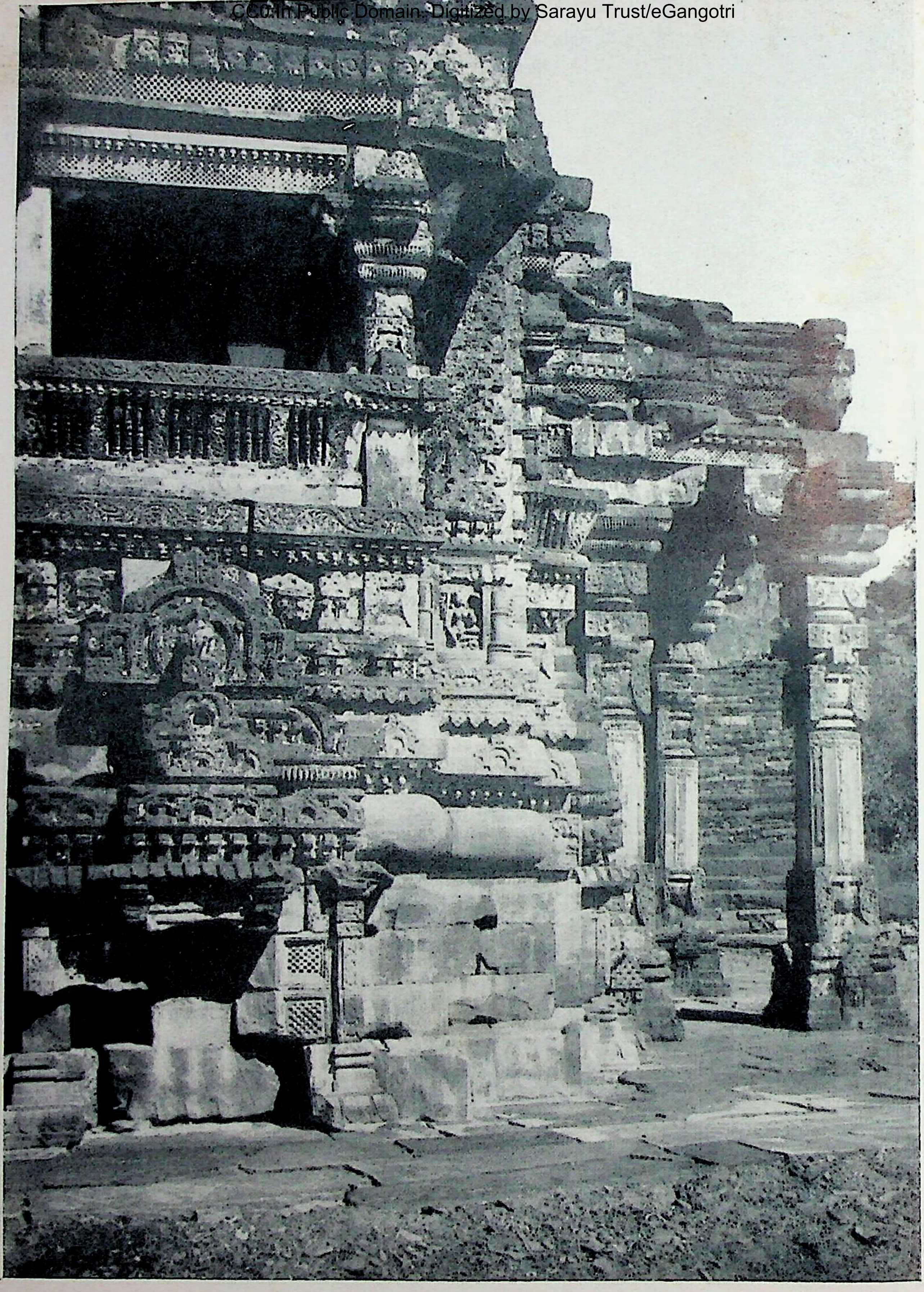

मालादेवी मंदिरनुं भौंयतलियुं अने पडशाळ, ग्यारासपूर, भीलसा

Basement and porch of Mālādevi Shrine, view from south, Gyaraspur, Bhilsa

कॉपीराइट : आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया]

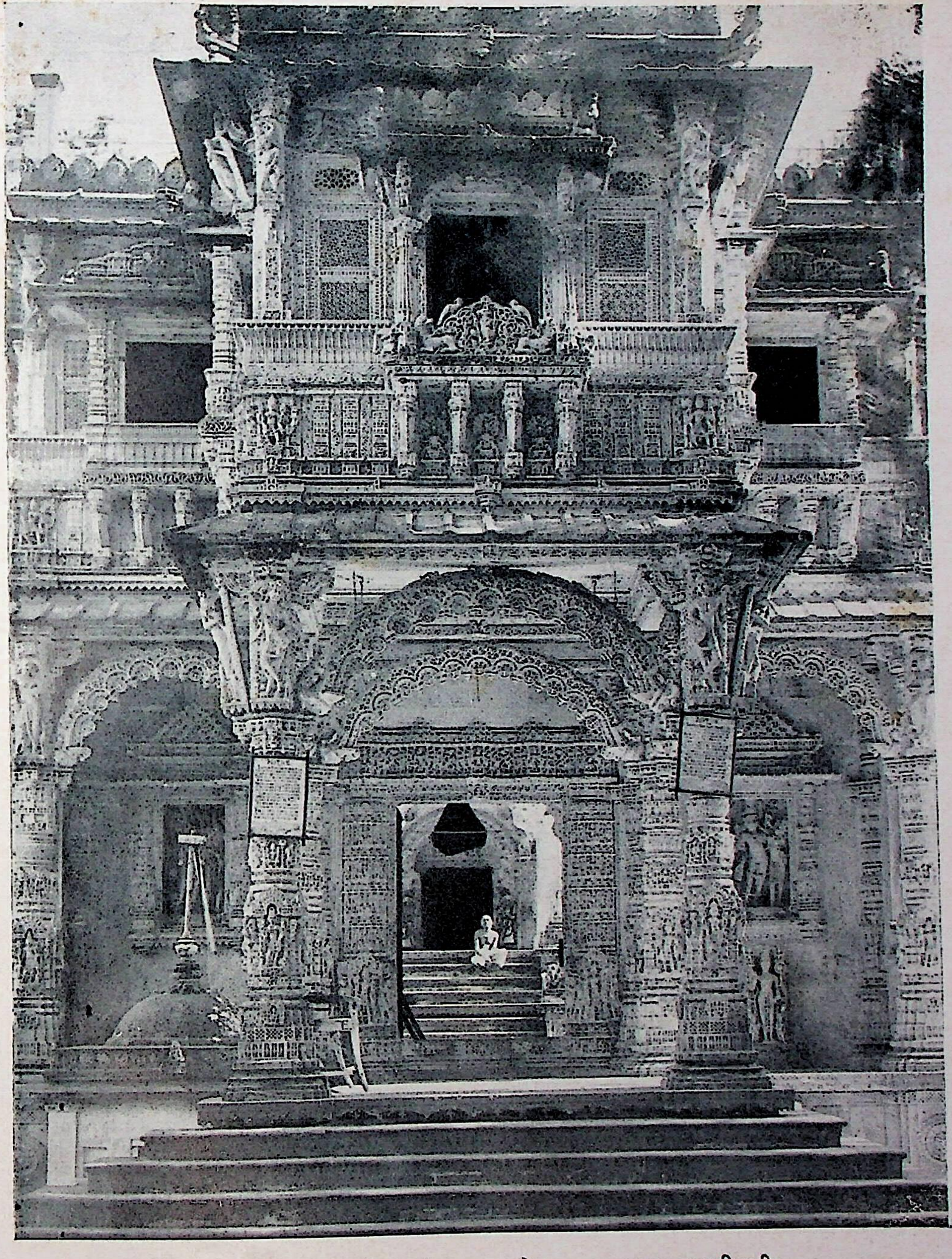

शेठ हठीसिंगे बंधावेल देरासरनुं कलामय प्रवेशद्वार, अमदावाद, १९मी सदी
Entrance to the temple built by Sheth Hathising, Ahmedabad, 19th Century

तसवीर : जॉनस्टन अने हॉफमेन]

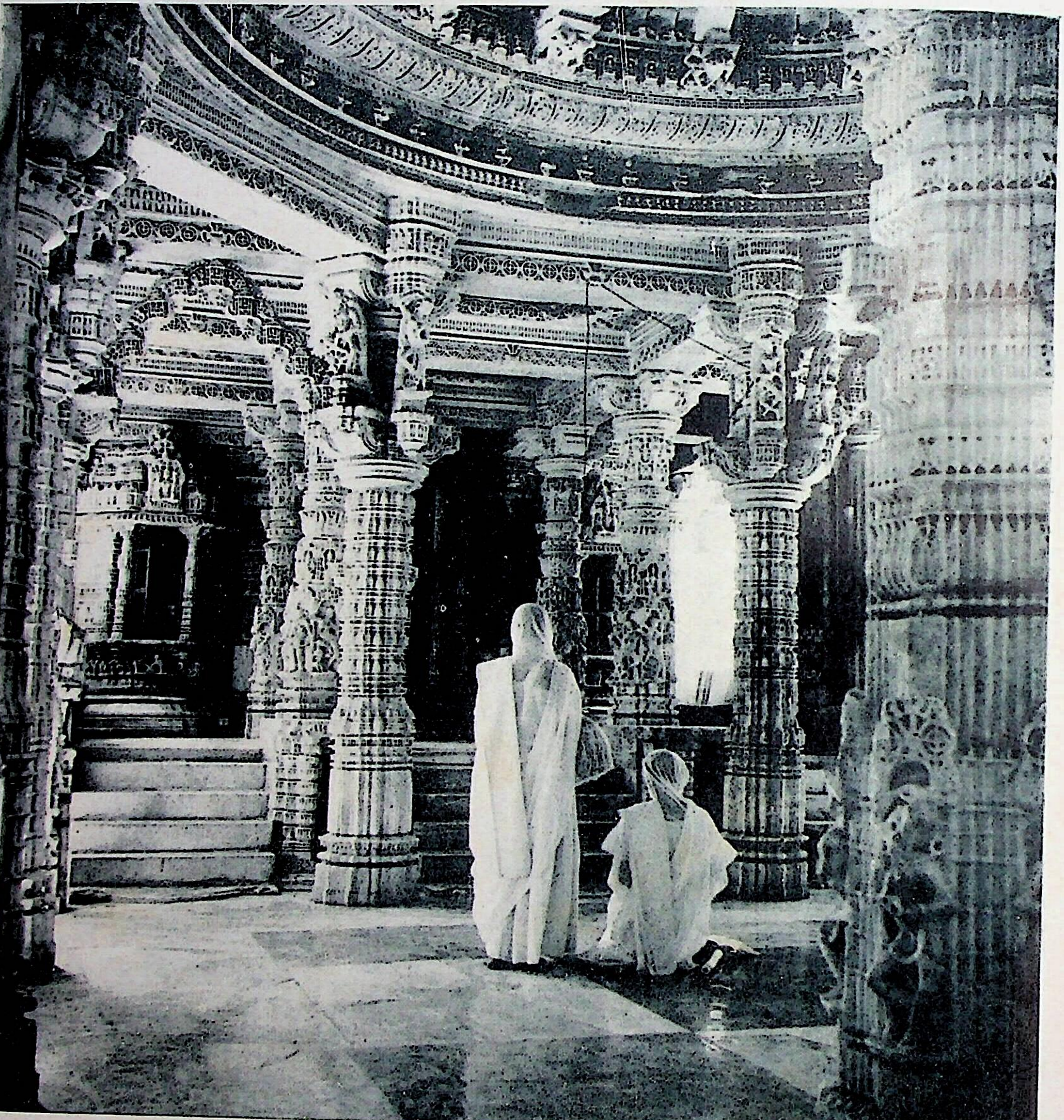

लूण-वसहीना रंगमंडपमां प्रभुदर्शनलीन साध्वीजीओ, आबु, १३मी सदी

Rangamaṇḍapa of Lūṇa-Vasahī (Ābu) with Jaina nuns worshipping, 13th Century

सवीर : श्री० जगन महेता]

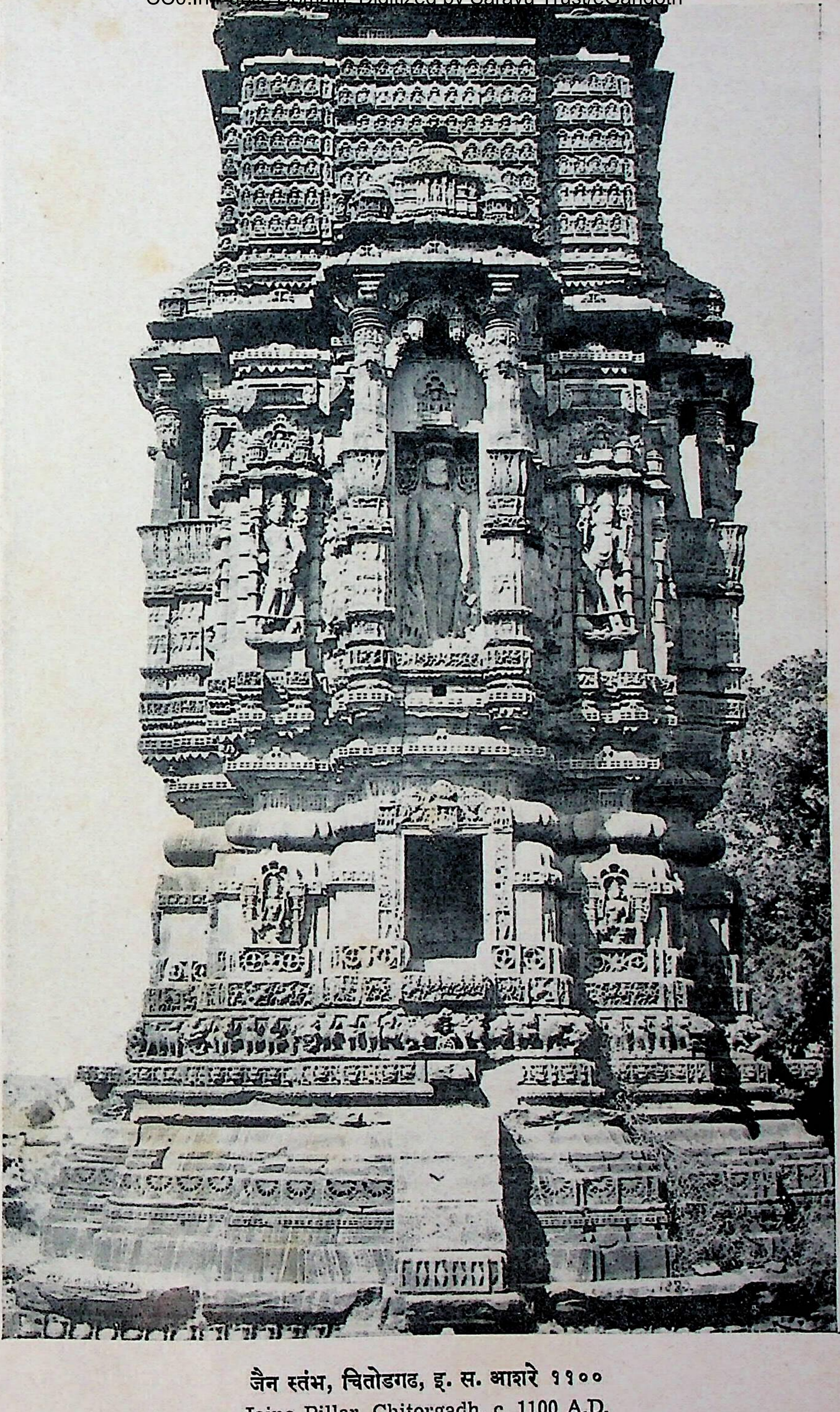

जैन स्तंभ, चितोडगढ, इ. स. आशरे ११००

Jaina Pillar, Chitorgaḍh, c. 1100 A.D.

कॉपीराइट : आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया]

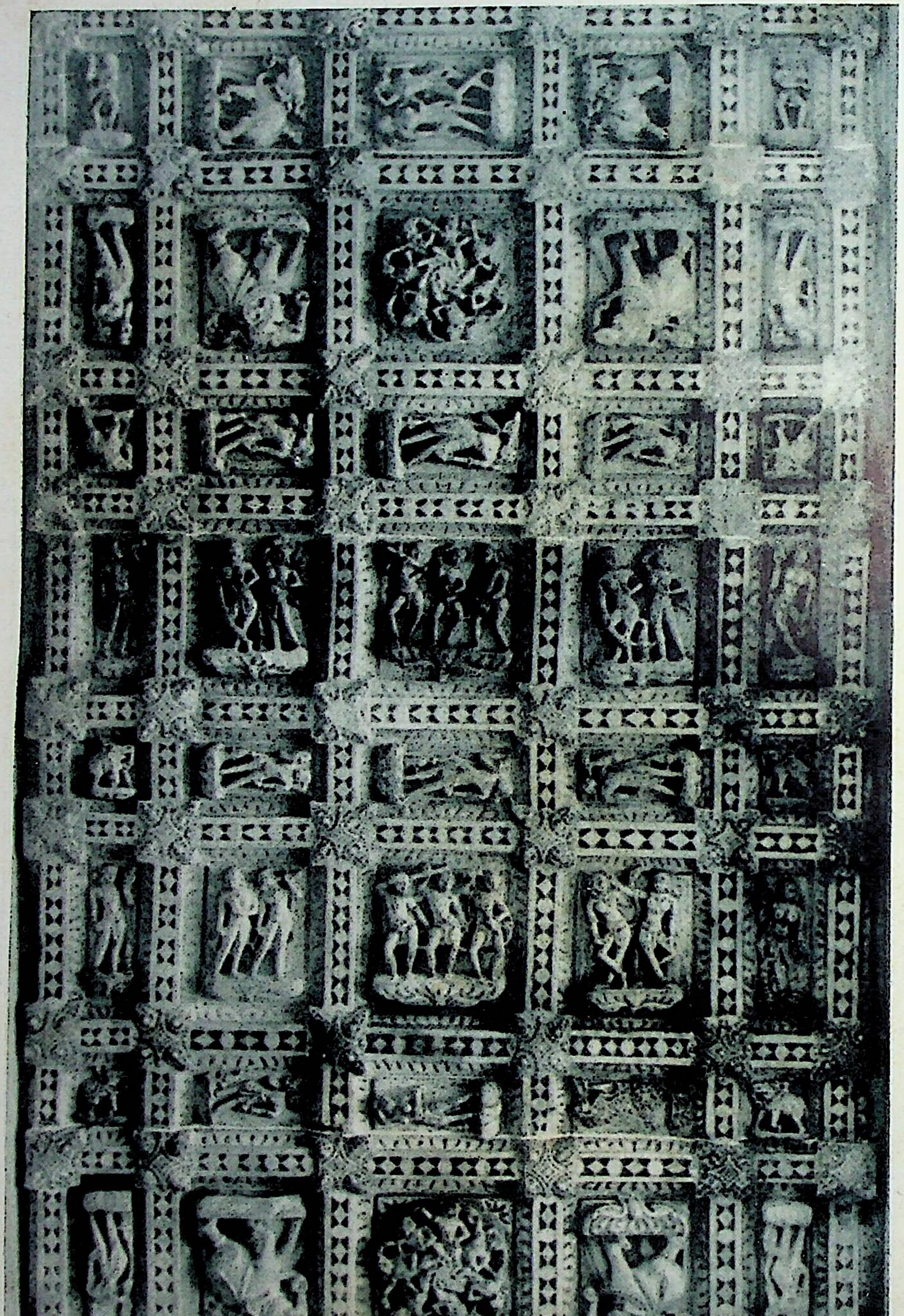

कुंभारियाजीना महावीरस्वामी देरासरनी सात छतो पैकीनी नटारंभ दर्शावती चोथा नंबरनी छत
(Ceiling carvings in Mahāvīraswāmi temple, Kumbhāriā, N. Guj. 13th Century

तसवीर : श्री० जगन महेता]

ભારતીય કળામાં જૈન સંપૂર્તિ

શ્રી૦ રવિશંકર મ. રાવળ

આધુનિક જૈન સમાજને જેનો પૂરેપૂરો ખ્યાલ પણ નહિ હોય, અથવા જેનું મૂલ્યાંકન કે સમાદર કરવા જેટલી તુલનાશક્તિ બહુ જ થોડા જનોને છે, એવી કલાસમૃદ્ધિ ધરાવવાનો યશ આજના સંશોધકો અને કલાપ્રવીણોએ જૈન સંપ્રદાયને આપ્યો છે.

ગુજરાતમાં ૧૧મી અને ૧૨મી સદીના રાજ્યકર્તાઓના શાસનકાળમાં જૈન સંપ્રદાયે જે જાહોજલાલી અને લોકપ્રિયતા ભોગવી તેવી બીજા પ્રાંતોમાં એક કાળે અસ્તિત્વમાં હશે એમ અનેક પ્રાચીન જૈન સ્થાનોના સંશોધન પરથી પ્રત્યક્ષ થયું છે, પરંતુ આજે ઘણાની ગણનામાં કે અનુભવમાં તેનો ઉલ્લેખ થતો નથી. જેટલાં જૈન પ્રાચીન સ્થળોની ભાળ લાગી છે ત્યાં એક વખત અતિ ઉત્કૃષ્ટ કલા-પ્રકારથી ભરેલાં શિલ્પ અને સ્થાપત્યો હતાં તેની વિશાળ પ્રમાણમાં પ્રતીતિ મળે છે.

સાધારણ રીતે જૈન કલાસમૃદ્ધિનું સરવૈયું લેતાં શત્રુંજય, ગિરનાર, આબુ, રાણકપુર કે કુંભારિયાનાં દેવસ્થાનો અને જૈન કલ્પસૂત્રો કે કાલક કથાનાં ચિત્રો અને વિજ્ઞપ્તિપત્રોમાં આજની સમાલોચના પર્યાપ્ત થાય છે. પરંતુ ઇતિહાસ અને પુરાતત્ત્વની પરંપરામાં જૈનકલાનો નિર્માણયુગ બૌદ્ધધર્મની સાથે જ આરંભાયો છે એ નિર્વિવાદ ઠર્યું છે.

હિંદુસ્તાનમાં પ્રાચીનમાં પ્રાચીન કલાવશેષો ગુફામંદિરો કે ગુફાનિવાસોમાં મળી આવે છે. પાષાણ કે ઈંટચૂનાના ભવનોની કલા સિદ્ધ બની તે પૂર્વેની સંસ્કૃતિમાં નગરોનાં નિવાસો અને મહાલયો લાકડાકામથી બનતાં, પરંતુ યોગીઓ અને ધર્મસંસ્થાપકો વનોમાં અને ગુફાઓમાં જઈ પોતાની સાધના કરતા; આથી લોકોએ ત્યાં દેવોનો વાસ માની તે સ્થાનોમાં તેમની સમાધિઓ અને અવશેષોનાં મહાન સ્મારકો રચ્યાં; આવાં આ સ્મારકોમાં તે તે યુગના ધનિકો, રાજાઓ અને જનતાએ ઉદાર મનથી દાન આપી શ્રેષ્ઠ શિલ્પપંડિતો પાસે તે કાર્ય કરાવ્યાના પુષ્કળ ઉલ્લેખો મળે છે. આથી ઘણીવાર એક જ યુગના જુદા જુદા સંપ્રદાયોનાં ધાર્મિક સ્થાનકોનું રૂપનિર્માણ સરખું લાગે એ સંભવિત છે અને તેથી સંશોધનના પ્રારંભકાળે ઘણા વિદ્વાનોને તે સ્થાનો વિષે નિર્ણય કરતાં સંભ્રમ થયેલો હતો. બુદ્ધનાં ઘણાં સ્થાનકો હોવાથી બધાં પ્રાચીન સ્થળોની પદ્માસન કે યોગમુદ્રાવાળી પ્રતિમાઓને બૌદ્ધ ઠરાવી હતી. મથુરાનાં અને બીજાં સ્થળોના કેટલાક સ્તુપોને પણ બૌદ્ધ ઠરાવ્યા હતા.

ભારતના પ્રાચીન ધર્મસંપ્રદાયોમાં બુદ્ધ અને જૈન સંઘો સમકાલીન અસ્તિત્વ ધરાવતા હતા અને તાત્ત્વિક રીતે વ્યવહારપ્રણાલિમાં ઘણી સમાનતા ધરાવતા હતા. બૌદ્ધ સાધુઓની જેમ જૈન સાધુઓ માટે પણ ગિરિનિવાસો અને ભિક્ષુગૃહો નિર્માણ થયાં હતાં; ફરક એટલો જ હતો કે જૈનોને ચૈત્યમંદિરો જેવા મંડપોની જરૂર નહોતી. બન્ને સંપ્રદાયે ભારતમાં સર્વવ્યાપક એવી ભવનનિર્માણની રૂઢિ ગ્રહણ કરી હતી.

તે રીતે ઈ. પૂ. બીજા સૈકા જેટલા પ્રાચીન સમયથી જૈન ગિરિનિવાસો ઓરિસ્સા, દક્ષિણ ભારત અને ગુજરાતમાં ગિરનાર અને બીજાં કોઈ કોઈ સ્થળે થયા હતા. તેમાંનાં બદામી, પાટના (ખાનદેશ), ઇલુર વગેરે સ્થળોનાં ગુફામંદિરો ભારતની કલાના શ્રેષ્ઠ પંક્તિના નમૂના છે. એ પ્રત્યેકનું સ્વરૂપ આજનાં જૈન મંદિરો સાથે મળતું નહિ હોવાથી ઘણો કાળ તેને બૌદ્ધ સંપ્રદાયનાં ગણી લેવામાં આવ્યાં હતાં.

ઉદયગિરિ – ખંડગિરિ

ઓરિસ્સામાં આવેલી ઉદયગિરિ અને ખંડગિરિની ગુફાઓ ભારતની પ્રાચીનતમ સ્થાપત્યરચનાઓ ગણાય છે. એનાં સ્વરૂપનું વૈચિત્ર્ય, શિલ્પપ્રતિમાઓની લાક્ષણિકતા અને બંધારણની વિશેષતા, અતિ પ્રાચીનતા વગેરે કારણોને લઇને ભારતના વિદ્વાનોએ તેની પર ઘણું શાસ્ત્રીય સંશોધન કર્યું છે. આ ગુફાઓની પ્રાચીનતા સિદ્ધ કરવાનો યશ ગુજરાતના સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાન પંડિત ભગવાનલાલ ઇન્દ્રજીને મળ્યો છે. હાથીગુફાના પ્રવેશદ્વાર ઉપર ભાંગીતૂટી પ્રાચીન લિપિનો લેખ છે તેનું સ્વરૂપ ગિરનારના અશોકના શિલાલેખોને મળતું હોઈ, સૌએ તેને બૌદ્ધ ગુફા ધારી લીધી હતી પણ તેનો ઉકેલ થતાં તેમાં પ્રારંભ જૈન સૂત્રથી કરેલો છે તે પરથી છેવટનો નિર્ણય થઈ ગયો. સાતમા સૈકામાં ચીની પ્રવાસી હ્યુ એન સંગે ઉલ્લેખ કરેલો છે કે તે કાળે કલિંગ દેશમાં જૈન સંપ્રદાયનું મોટું મથક હતું અને ઉપરોક્ત લેખ તે વાતની સાબિતી આપે છે.

કલિંગના રાજા ખારવેલે જૈન સાધુઓ માટે અનેક ગિરિનિવાસો કરાવ્યા હતા. તેણે આંધ્રના સાતકર્ણી રાજાને સહાય કરી હતી. ઈ. પૂ. ૧૫૫ વર્ષે મૌર્ય સંવત ૧૬૫માં તેના રાજ્યકાલને ૨૩ વર્ષ થયાં હતાં.

હાથીગુફા

હાથીગુફાનો પથ્થર ઘસાતો જાય છે, શિલ્પ ભૂંસાતું જાય છે પણ તેના પર આવો મહત્ત્વનો લેખ હોવાથી તે જરૂર પ્રધાનસ્થાન ધરાવતી હશે. એની રૂપવિધાનની શૈલી અને શિલ્પાકૃતિઓ અચૂકપણે સાંચીના તોરણદ્વારો અને ભારતના વિહારોને મળતી છે એટલે ઈ. પૂ. બીજા સૈકાનું કામ તે ઠરે છે. ત્યાં બૌદ્ધ સંપ્રદાયના કોઈ અવશેષો નથી. ગજલક્ષ્મી, નાગ કે વૃક્ષપૂજા, સ્વસ્તિક વગેરે ચિહ્નો એ કાળે સર્વવ્યાપક હતાં. કેટલીક જૂની ગુફાઓમાં જૈન તીર્થંકરો અને પાર્શ્વદોની ઉત્કીર્ણ પ્રતિમાઓ છે. ઉદયગિરિમાં રાણીગુફા, હાથીગુફા, વ્યાઘ્રગુફા વગેરે જુદાં જુદાં નામોવાળી ૧૯ ગુફાઓ છે. ખંડગિરિમાં પણ વૈવિધ્યવાળી ૨૪ જેટલી ગુફાઓ છે. ગુફાઓમાં સ્તંભોવાળી પરસાળ કે ઓસરી અને સાથે અનેક ખંડો છે.

વ્યાઘ્રગુફા

વ્યાઘ્રગુફાનો ઉલ્લેખ કરવો જરૂરનો છે. એક વિશાળ ખડકને કોરીને વાઘના ફાડેલા મોંનો ઘાટ ઉપરનાં છજાંને આપેલો છે. નીચે એક દ્વાર બનાવી અંદર સવાછ ફૂટ ઊંડી, સાત અને નવ ફૂટ પહોળીચોડી ઓરડી કોતરી કાઢેલી છે. આ એક તરંગી પ્રકાર છે, પણ તેથી નક્કી થાય છે કે એ કાળે ધાર્યો ઘાટ વિરાટ રૂપમાં ઉતારવાની કલા સિદ્ધ થઈ હતી. ખંડગિરિની તત્ત્વગુફાના સ્તંભ (પર્સીપોલીસ) ઈરાની ઘાટના છે. અટારીનો કઠેડો ભારતના જેવો છે. ત્યાં હાથી, મોર, હરણ અને પશુપંખીઓ પણ કોતરેલાં છે.

બદામીની ગુફાઓ

પશ્ચિમ ભારતમાં બીજાપુરની દક્ષિણે બદામીની ગુફાઓ જોતાં સમજાય છે કે એ કાળે બ્રાહ્મણ, બૌદ્ધ, જૈન દાર્શનિકોનું સહજીવન કેટલું શક્ય બન્યું હતું. બ્રાહ્મણ ગુફાઓનો સમય એક લેખમાં શક વર્ષ ૫૦૦ એટલે ઈ. સ. ૫૭૯ આપેલ છે. બદામીની ચાર ગુફાઓમાં એક જૈન ગુફા છે પણ ચારે એકબીજાને એટલી મળતી છે કે એક જ સમયમાં તે કોતરાઇ હશે એમ કહી શકાય; છતાં જૈન ગુફા સૌથી પાછળ થઈ લાગે. એ ગુફા ૧૬ ફૂટ ઊંડી અને ૩૧ ફૂટ પહોળી છે. પરસાળને બેઉ પડખે આકૃતિઓ કરેલી છે. અંદરની પ્રતિમાઓ ગુફાના જ ખડકમાંથી કોતરાવેલી છે. ઈલુરની ઈંદ્રસભાના પાષાણમંદિર સાથે સરખાવતાં તેનાથી એક સૈકો પાછળ લાગે. બદામીની ભીંતો પર અજંતા શૈલીનાં ચિત્રો છે. બદામીની નજીકમાં ઐહોલ ગામે બદામીથી મોટી જૈન ગુફા બ્રાહ્મણ ગુફાની પાસે છે. તેની પરસાળને ચાર સ્તંભો છે.

પરસાળ ૩૨ ફૂટ લાંબી, ૭ ફૂટ જેટલી પહોળી અને સુઘડ એવી છત છે. આ છતનો મંડપ ૧૭ ફૂટ ૮ ઇંચ પહોળો અને ૧૫ ફૂટ ઊંડો છે. તેની આસપાસ નાનાં દેવઘરો કોતરેલાં છે અને સામે મુખ્ય ગોલક ૮I ઓરસ ચોરસ છે. તેમાં શ્રીમહાવીરની પદ્માસન પ્રતિમા છે. તેની આગળ બે કોતરણીભર્યા સ્તંભો છે. બૌદ્ધ કે બ્રાહ્મણ ગુફાઓની જેમ પ્રવેશ આગળ બન્ને બાજુ દ્વારપાળો કોતરેલા છે. બદામી તાલુકામાં બીજાં પણ જૈન મંદિરો છે.

ઇલુર

ઇલુર અજંટાથી ૩૦ માઈલ છેટે ઔરંગાબાદની પાસે આવેલું છે. ઇલુરનાં શિલ્પમાં પાષાણમંદિર અને ગુફામંદિરનાં જેવી માત્ર અંતરંગ કોતરણી નથી, પણ તેનો બહિરંગનો ઉઠાવ ખરેખરાં દેવમંદિરોની જેમ ઘડી કાઢી આકાર પ્રત્યક્ષ કરવામાં આવ્યો છે એટલે તે પહાડમાંથી અખંડ કોતરી કાઢેલાં શિલ્પો જ છે. જગતની વિશાળકાય કલાકૃતિઓમાં તેની ગણના થાય છે. ગ્રીક શિલ્પો તેની પાસે વામણાં બની જાય છે. પહાડને ઉપરથી ભોંતલ સુધી કોતરી મંદિરનો સંપૂર્ણ ઘાટ, સ્તંભો અને છેવટ અંદરના મંડપો અને ગોલકોમાં અદ્‌ભુત પ્રભાવવાળી પ્રતિમાઓ સ્વચ્છ, સપ્રમાણ, સુઘડ, તક્ષણકાર્યથી પરિપૂર્ણ બનાવેલી છે. લગભગ ચાર માઈલના ઘેરાવામાં ખડક કાપીને કરેલાં ૩૪ જેટલાં ખડકમંદિરોમાં ૫થી ૮મા સૈકા સુધીની શિલ્પકળાનો પ્રસ્તાર છે; આમાં મોટા ભાગની બ્રાહ્મણ અને બાકીની બૌદ્ધ જૈન ગુફાઓ છે. અહીં ફરી આપણને કલાની સૃષ્ટિમાં સર્વ ધર્મોનું સામંજસ્ય જોવા મળે છે.

ઇલોરી અતિ કૌતુક વસ્યું જોતાં હીયડું અતિ ઉલસ્યું
વિશ્વકર્મા કીધું મંડાણ ત્રિભુવન ભાવતણું સહિનાણ.

(શ્રી શીલવિજયજી)

ઇલુર – ઇલોરા (એલાગિરિ) ની પ્રસિદ્ધિ કેવી હતી તે ઉપરની પ્રશસ્તિથી સમજાય છે. ઇલુરની જૈન ગુફાઓ સૌથી પાછળ થયેલી લાગે છે. ગુફામંદિરોની પિછાન ૧૦માંથી નવની માત્ર બાહ્ય સ્વરૂપથી થઈ શકે. આ દર્શનભાગ અંદર પ્રકાશ જાય એવા હેતુથી કોતરેલો હોય છે. બાંધકામથી કરેલા મકાન કરતાં તેના છેદ મોટા રાખવા અને તે સાથે ખડકના ભાર પ્રમાણે ટેકા, થાંભલા પણ ભારેખમ રહેવા દેવા જોઈએ. આથી અંદરની રચનાને તેને અનુસરી આકાર લેવો પડે.

ઇલુરનાં જૈન ખડકમંદિરો ઈ. સ. ૮૫૦ પહેલાંનાં નથી. તેનું દર્શનસ્વરૂપ અને પ્રતિમાઓ ધ્યાનથી જોઈએ તો દક્ષિણ (દ્રાવિડ) પદ્ધતિએ કામ થયેલું લાગે છે. બ્રાહ્મણ ગુફા કૈલાસ પણ એ જ શૈલીની છે. બન્ને વચ્ચે એટલું સામ્ય છે કે તેના રચનાકાલ વચ્ચે બહુ અંતર નહિ હોય.

ઇન્દ્રસભા

ઇન્દ્રસભા અને કૈલાસનાથ બન્ને મંદિરો બે માળનાં છે અને અંદર નાના ખંડો છે. જૈન મંદિરમાં ગોમતેશ્વર અને પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાઓ છે તે પરથી તે દિગંબર જૈન સંપ્રદાયનાં છે એમ નિર્ણય કરી શકાય. બદામીમાં એક લેખ છે, તે કન્નડ ભાષામાં છે, તેથી માની શકાય કે શિલ્પીઓ દક્ષિણના હતા અને તેઓ દ્રવિડી ઘાટ લઈ આવ્યા. ત્યાં એક કુદરતી માપનો હાથી છે. સામી બાજુ ૩૧ ફૂટ ૬ ઇંચનો એક જ શિલ્પનો સ્તંભ હતો તે સો વર્ષ પહેલાં પડી ગયો હતો. આ ગુફાઓના ઉપરના ભાગમાં પાર્શ્વનાથની વિરાટ પ્રતિમા કોતરેલી છે. આ પ્રતિમા પર કોતરેલ અક્ષરો પરથી લાગે છે કે તે ઈ. સ. ૧૨૩૫ની આસપાસ થઈ હશે.

આ બધાં શિલ્પો ચાલુક્ય અને રાષ્ટ્રકૂટ રાજ્યોની સીમા ઉપર હોવાથી બન્ને રાજ્યોની શૈલીઓનો તેમાં શંભુમેળો થયો જણાય છે. અહીં ઉત્તર ભારતમાં વિકસી રહેલાં દેવમંદિરોની વિશાળતા અને

શિખરરચનાઓને અવકાશ નથી છતાં કલ્પના અને રૂપનિર્માણની શક્તિ અજબની ઝલક ત્યાં પ્રસરાવી રહી છે.

પહેલા ચાલુક્ય સમયનો છેલ્લો રાજા કીર્તિવર્મા બીજો ઈ. સ. ૭૪૬માં રાજ્યપદે આવ્યો, પણ ઈ. સ. ૭૫૭માં માલ્યખેડના રાષ્ટ્રકૂટ દંતિદુર્ગે તેનું રાજ્ય પડાવી લીધું તે પછી, જૈનોએ, ઈલુરમાં દ્રવિડી શૈલીનાં મંદિરો કરાવ્યાં. કૈલાસ અને બીજાં મંદિરો, રાષ્ટ્રકૂટો પોતે દ્રવિડો હતા એટલે, સ્વાભાવિક રીતે બ્રાહ્મણ શૈલીનાં થયાં. એમની આણ નર્મદાના કાંઠા સુધી પહોંચી હતી. આ બધું જોતાં બૌદ્ધો કરતાં જૈન સંપ્રદાયને બ્રાહ્મણો સાથે ઠીક ફાવ્યું જણાય છે.

ગુફાશિલ્પમાં અગત્યનું ગણીએ એવું એક પાષાણમંદિર, પ્રાચીનતા અને કલાપૂર્ણતાભર્યું ઉલ્લેખવા જેવું, દક્ષિણમાં તીનીવેલી પ્રાંતમાં શ્રીવીલીપુત્તુરથી ૨૭ માઈલ દૂર, કન્યાકુમારીથી ૭૫ માઈલ ઉત્તરે 'કાલુગુમલાઈ' નામના સ્થળે મહાબલીપુરમ જેવું જ ખડકમાં કોતરેલું મંદિર છે. એ પૂર્ણ થવા પામ્યું જ નથી. એનો દાનવીર મૃત્યુ પામતાં કામ બંધ પડ્યું ન હોત તો એનો કેટલો વિસ્તાર થઈ શકત તે કહેવાતું નથી. તે ટેકરીની બીજી તરફ તીર્થંકરોની પ્રતિમાઓ છે ને ત્યાં જૈનોની વસતિ છે. આ મંદિર કોઈએ પાછળથી પૂર્ણ કરાવ્યું નહિ એટલે તેના મૂળ દાતાની કીર્તિ અમર રહી છે.

દક્ષિણનાં જૈન ગુફામંદિરોની કલામાં સિતન્નવાસલ (सिद्धणवास) અથવા સિદ્ધનો વાસ તે સ્થાપત્ય શોભા ઉપરાંત ચિત્રકલાની પ્રાચીન પરિપાટીના એક અનન્ય સ્થાન તરીકે જાણીતું થયેલું છે.

સિતન્નવાસલ

પુદુકોટાથી નવ માઈલને અંતરે આ ગુફામંડપ આવેલ છે. ત્યાં ઈ. પૂ. ત્રીજી સદીનો બ્રાહ્મી લેખ છે તેમાં સૂચન છે કે જૈન મુનિઓના નિવાસ માટે તેનું નિર્માણ થયું હતું. ત્યાં સાત સમાધિશિલાઓ છે. ગુફાનો અંતરંગ વિસ્તાર ૧૦૦ ફૂટ લાંબો અને ૫૦ ફૂટ પહોળો છે. તેનો રચનાપ્રકાર ઈ. સ. બીજી સદીથી આરંભી ૧૦મી સદી સુધી પહોંચ્યો છે. સાધુઓને અરણ્યવાસ વધુ પસંદ હતો એટલે વખતોવખત ત્યાં ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારનું કોતરકામ અને રૂપરચના થયાં કર્યાં છે. ૧૦મી સદીમાં પલ્લવરાજા મહેન્દ્રવર્મા કલાનો મહાન આશ્રયદાતા હતો. તેણે ત્યાં ચિત્રો કરાવ્યાં છે તેમાં સુશોભિત કમળસરોવરો તેમ જ અપ્સરાઓ અને કેટલાક જૈન પ્રસંગો છે. ચિત્રોમાં અજંતાના પાછલા સમયની સંપૂર્ણ અસર છે. ભીંતો પર ચિત્રો કરવાની પ્રથાનું સંરક્ષણ આજ સુધી જૈન સંપ્રદાયે નભાવ્યું છે; માત્ર તેની રુચિકક્ષા અને પરીક્ષણમાં ભ્રષ્ટતા આવેલી જણાય છે. ઈલુરનાં મંદિરોનાં ચિત્રોનો સંબંધ ગુજરાતની ૧૦મી–૧૧મી સદીની ચિત્રકલા સાથે સ્પષ્ટ થયો છે. તેનું સ્વરૂપ કલ્પસૂત્રોનાં ગ્રંથસ્થ ચિત્રોમાં ઊતરી આવ્યું છે.

વિરાટ પ્રતિમાઓ

દક્ષિણ ભારતમાં જૈન–પ્રભાવિત શિલ્પકલા બદામી, ઐહોલ કે ઈલુર યા સિતન્નવાસલથી સમાપ્ત થતી નથી. જૈનોએ ઉત્તર ભારતમાંથી પહેલા સૈકામાં દક્ષિણ ભારતમાં પ્રવેશ કર્યો ત્યારથી ઘણી ચડતીપડતી થઈ છતાં ૧૦મા સૈકા સુધી ઈલુરનાં નિર્માણો કર્યાં. તે ઉપરાંત ઉત્તર ભારતમાં મળે નહિ એવું વિરાટ પ્રતિમાનિર્માણ જૈન કલ્પનાએ દક્ષિણ ભારતને આપ્યું છે. એવી ત્રણ પ્રતિમાઓ શ્રમણબેલગુલ, કાર્કલ અને પન્નુરમાં છે.

શ્રમણ બેલગુલની પ્રતિમા સુપ્રસિદ્ધ છે. કેવળી જ્ઞાન પ્રાપ્ત થયું છે એવા ગોમતેશ્વરની પ્રતિમા મૈસુર રાજ્યમાં ઈન્દ્રગિરિની ૪૦૦ ફૂટ ઊંચી ખડક ટેકરી પર છે. તપસ્વીની નિઃસંગતા દર્શાવતી ૫૮ ફૂટની એ નગ્ન પ્રતિમા જરા પણ ક્ષોભરહિત બાલોચિત સરલતાભરી મુદ્રા દર્શાવવામાં શિલ્પકારને અપ્રતિમ સફળતા મળી છે. કાર્યસિદ્ધિનો બીજો ચમત્કાર તો ખડકના મથાળેથી ૫૮ ફૂટ સુધીનું વધારાનું ખડકદળ

કાપી કાઢયું છે તે છે. આવું પ્રચંડ પૂતળું જમીન પરથી એટલી ઊંચાઈએ લઈ જવાનું અશક્ય કાર્ય કલ્પનાનો અવરોધ કરે, પરંતુ ઉપરથી જ પ્રતિમાઓ કોરી કાઢવાની યોજના ભારતીય શિલ્પીની અપૂર્વ મૌલિકતા છે. આવું મૂર્તિનિર્માણ મિસર વિના અન્ય સ્થળે નથી થયું.

બીજી પ્રતિમા કન્નડદેશમાં કારકલમાં છે. તેની ઊંચાઈ ૪૧ ફૂટ ૫ ઇંચ છે. વજનમાં લગભગ ૮૦ ટન છે. એ પ્રતિમા તૈયાર કર્યા પછી તેના સ્થાને મુકાઈ છે. આ પ્રતિમા ઈ. સ. ૧૪૩૨ના વખતની છે. ત્રીજી પન્નુર કે વેનુર ખાતે છે. તેની ઊંચાઈ ૩૫ ફૂટ છે. તે ઈ. સ. ૧૬૦૪માં બનેલી છે. આ ત્રણે પ્રતિમાઓ દિગંબર જૈન સંપ્રદાયની છે. ત્રણે ઊભેલી કાયોત્સર્ગ સ્વરૂપની નગ્ન છે. પગ આગળથી વનવેલીઓ શરીર પર ચડી ગયેલી છે. ઉત્તર ભારતમાં ગોમતેશ્વરની પ્રતિમા જોવામાં આવતી નથી, પરંતુ દક્ષિણ ભારતની શિલ્પકલાએ આ પાત્ર માટે કલાની ચરમ શક્તિઓ કામે લગાડી છે.

આ ઉપરાંત દક્ષિણ ભારતનાં મંદિરોની કલામાં ધાબાની ઉપર ચડઊતર માળોની રચના પણ એક વિશિષ્ટ પ્રકારની છે. કેટલાંકનાં છપ્પરો નેપાળનાં મંદિરોને મળતાં છે, પણ બીજી નવાઈ એ છે કે ઉત્તર ભારતમાં અશોકના વખતમાં સ્મારક–સ્તંભો ઊભા કરવાની પ્રથાનો પછીથી લોપ થયો હતો તે પ્રથા દક્ષિણનાં જૈન મંદિરોમાં બહુ સુંદર પ્રકારે પાંગરી છે. મંદિરથી અલગ મંદિરના ચોકમાં સ્વતંત્ર ઊભેલા સ્તંભની શોભા અને રચનાનો પ્રકાર આપણે ઇલુરના કૈલાસમંદિરમાં જોયો છે. આમ સ્વતંત્ર સ્તંભ ખડો કરવાની રીતો પ્રાચીન કાળમાં નાઈલ પ્રદેશમાં હતી. નાઈલ પ્રદેશના સ્તંભો એક જ શિલામાંથી ઘડી કાઢેલ ચોરસ ઘાટના અને ટોચ પરથી પિરામિડ જેવી અણીવાળા હતા, પરંતુ દક્ષિણના સ્તંભો તો શિલ્પનાં અલંકારકાવ્યો જેવા ગોળ તેમ જ પાસાદાર અનેક કંદોરાવાળા એક એકથી જુદા રમ્ય વ્યક્તિત્વવાળા છે.

દક્ષિણ ભારતને ઉત્તર ભારત સાથે સાંકળવામાં મહાકોસલની જૈન કલા–પરિપાટીનું મહત્ત્વ છે. રામગિરિની ટેકરી, જ્યાં મેઘદૂતનો યક્ષ વસ્યો હતો, ત્યાંના ગુફાગૃહોમાં જૈન પ્રસંગો મળી આવ્યા છે.

મહાકોસલ

ગુફાચિત્રોથી આરંભ થયેલો જૈનકલાનો વિહાર આઠમી સદી પૂરી થતાં અંધકારમાં લુપ્ત થયો. કલચૂરી રાજવંશના નરેશો મતસહિષ્ણુ હતા. તેઓ શૈવ હોવા છતાં જૈનોને સંપૂર્ણ રક્ષણ અને આશ્રય આપતા. કલચૂરી શંકરગણ જૈનધર્માનુસારી હતો. મહાકોસલની રાજ્યધાની ત્રિપુરિ (તેવર) હતી. એ રાજકુળને દક્ષિણના રાષ્ટ્રકૂટો સાથે સગાસંબંધ હતો. આ રાષ્ટ્રકૂટોની સભામાં જૈન વિદ્વાનો રહેતા. મહાકવિ પુષ્પદંત્ત તેમનો રાજકવિ હતો. જૈન ધર્માનુસાર અમોઘવર્ષે જૈન મુનિપદનો અંગિકાર કર્યો હતો.

મહાકોસલના જૈન કલાવૈભવને પ્રસિદ્ધિ આપવાનું શ્રેય મુનિશ્રી કાન્તવિજયજીને આપી શકાય. એ કાર્યથી એમનો માત્ર જૈન સમાજ ઉપર જ નહિ, પણ સમગ્ર ભારતવર્ષના સંસ્કારી સમાજ ઉપર ઉપકાર થયો છે. ગુપ્ત સમયની અનેક જૈન પ્રતિમાઓ, દેવીઓ, પ્રતિહારીઓ અને સ્થાપત્ય અવશેષોની વિસ્તારવંતી તપસીલ અને વિગતપૂર્ણ વર્ણન તેમણે 'खण्डहरोंका वैभव' નામના પુસ્તકમાં આપેલું છે. તે સાથે જે ચિત્રમુદ્રાઓ આપી છે તે છાપકલાની દૃષ્ટિએ સંપૂર્ણ નથી પરંતુ અસલ વસ્તુમાં કેટલું સૌન્દર્યનિરૂપણ અને પ્રભાવ હશે તેનો ખ્યાલ આપે છે. આ પ્રત્યેક અવશેષના સુંદર સ્વચ્છ ફોટોગ્રાફો નવેસરથી તૈયાર કરાવી મોટી પ્લેટો યા ચિત્રસંપુટો રૂપે પ્રજા આગળ મુકાય તો જૈન સંસ્કૃતિનો પ્રકાશ અનેક જનોને આહ્લાદક બનશે.

ઉત્તર ભારતમાં જૈનકલાનો પ્રસ્તાર

બુદ્ધ અને મહાવીરનો જીવનકાલ એક જ સમયમાં વીત્યો હતો અને ભારતમાં બન્ને સંપ્રદાયોનો સરખો વિકાસ થયો હતો. બન્નેમાં ત્યાગ અને તપની ભાવનાનું પ્રાધાન્ય હતું છતાં બૌદ્ધ ધર્મ આરંભમાં ઘણાં વિશાળ રાજ્યોનો આશ્રય પામ્યો. પૂર્વ ભારતમાં પાટલીપુત્રનો તે રાજ્યધર્મ થયો ત્યારથી તેનું વિશ્વમાં બહુમાન થયું અને તેનાં સ્મારકસ્થાનો અનેક મળી આવ્યાં છે, પરંતુ તે સાથે જૈન ધર્મના સંસ્થાપક શ્રીમહાવીર અને તેમના અનુયાયીઓએ પશ્ચિમ ભારતમાં જે પ્રસાર કર્યો તે ઘણો મૌન પણ વ્યાપક હતો. બૌદ્ધ ધર્મ આરંભમાં રાજ્યાશ્રય પામ્યો અને આમ જનતાને ભાવી ગયો. આથી તેના સ્મારકોને વિશાળ પ્રસ્તાર મળ્યો.

જૈન સંપ્રદાય ખેતી અને યુદ્ધના ક્ષેત્રોથી અલિપ્ત રહેવાનો આગ્રહ સેવતો હતો એટલે વેપાર અને વ્યવહારના ક્ષેત્રમાં સંકળાયેલી પ્રજાનો આદર પામ્યો. આથી ભારતમાં જ્યાં જ્યાં વેપાર અને વહીવટનાં મોટાં મથકો હતાં ત્યાં તેના આશ્રયદાતાઓએ સ્તુપો, ભિક્ષુગૃહો અને મંદિરોનું નિર્માણ કર્યું છે. દક્ષિણ ભારતમાં પણ આપણે જોયું કે જ્યાં સુરક્ષા અને સહિષ્ણુતા જોયાં ત્યાં જૈન પ્રજાએ વસવાટ કરેલ છે અને ધર્મસ્મારકો પાછળ પુષ્કળ દાનો આપ્યાં છે. જૈન સંપ્રદાયનું આ લક્ષણ ઉત્તર ભારતના પ્રાચીન કાળના ઇતિહાસમાં સુસ્પષ્ટ થાય છે.

ભારતનાં શિલ્પનો ઇતિહાસ ઈ. પૂ. ૩૦૦૦ વર્ષે સિંધના મોહનજો-દરોનાં પ્રાચીન અવશેષોથી પ્રાપ્ત થાય છે. એ કાલે પ્રાણીઓનાં માટીમાં ઉપસાવેલાં ચિત્રો અને ચૂના તેમ જ ધાતુની માનવઆકૃતિઓ જોતાં લાગે કે માનવસમાજમાં કલાનાં આકર્ષક અને સાંકેતિક સ્વરૂપોનો પ્રચાર થઈ ચૂક્યો હતો. એ સમયની મુદ્રાઓમાંય ધ્યાનસ્થ યોગીઓની આકૃતિઓ પણ મળી છે, પરંતુ સમ્રાટ અશોક મૌર્યના સમયની જે શિલ્પકૃતિઓ મળી છે તેની સાથે હજારો વર્ષનો ખાલી ગાળો સાંધનારા નમૂના મળ્યા નથી. અશોકના સમયમાં પૂર્વ ભારતમાં યક્ષો અને યક્ષીઓની સહેજ માનવમાપથી મોટી અને કદાવર પાષાણમૂર્તિઓ મળી છે પણ તેનાં મંદિર વિષે કોઈ ખ્યાલ બાંધી શકાતો નથી.

ભૂમિના મહાન પુરુષો કે નેતાઓના સ્મારકરૂપે તેમના ભસ્માવશેષો ઉપર ગોળાકાર મોટા સ્તુપો અથવા ટોપ (ઊંધા ટોપલા ઘાટના) રચાતા અને તે પર વૃક્ષ કે છત્રની છાયા થતી. આ રિવાજ તેથી પણ પ્રાચીન હશે. કોઈ મૃત દેહને ધરતીમાં દફનાવી ઉપર માટીનો ટીંબો કરી ઉપર વૃક્ષ કે વૃક્ષની ડાળી તેની છાયા માટે મુકાતી. તે પછી ભિન્ન દેશોમાં બાળવા કે દફન કરવાના ભેદ થયા, એટલે કબરો અને સ્તુપોનાં રૂપો જુદાં થયાં. સ્તુપની આકૃતિમાં અવશેષો મુકાય છે તે ભાગને ચૈત્ય કહે છે. ચૈત્ય શબ્દ ચિતા પરથી ઉપજ્યો છે; એટલે પ્રાચીનકાળથી ચૈત્યનો રિવાજ ચાલતો અને તે પ્રમાણે બુદ્ધના અવશેષો નિર્વાણ પછી ચૈત્યરૂપ પામ્યા અને બૌદ્ધ સ્થાનોમાં જ્યાં ચૈત્ય હોય તે ચૈત્યમંદિર અને પૂજાની પ્રતિમા અને ભિક્ષુગૃહ હોય તેને વિહાર એવાં નામો મળ્યાં.

આવાં ચૈત્યો, સ્તુપો અને ભિક્ષુગૃહો બૌદ્ધ, જૈન તેમ જ વેદ સંપ્રદાયોમાં હતાં પણ બુદ્ધના સ્તુપોનો વિસ્તાર થવાથી પહેલાં બધા જ સ્તુપો તેને નામે ચડાવી દેતા. પાછળના સંશોધન અને ઉત્કીર્ણ લેખોથી સિદ્ધ થયું છે કે પ્રાચીન સ્તુપો તેમ જ ગુફાગૃહો નિર્માણ કરવામાં જૈન સંપ્રદાયનો હિસ્સો ઘણો મોટો અને વ્યાપક હતો.

તક્ષશિલામાં, મથુરામાં, અવધમાં, મહાકોસલમાં એવાં જૈન સ્થાનો મળી આવ્યાં છે જેની શિલ્પ-મુદ્રાઓ, ઉત્કીર્ણ લેખો, પ્રતિમાઓ, અલંકારો તત્કાલ પ્રજાની સંસ્કૃત અને શિલ્પવિદ્યાના અતિ ઉચ્ચ

પ્રકારના નમૂનારૂપ છે. આમાંના ઘણાખરા ખંડિત અથવા વિશીર્ણ સ્થિતિમાં ઉપેક્ષિત પડ્યા છે છતાં મૌર્યકાળથી ઈ. સ. ૧૦૮૦ સુધીની એકસરખી અંકોડા પૂરતી અનેકવિધ શિલ્પસામગ્રી એકત્રિત થઈ છે પણ બૌદ્ધ કે બ્રાહ્મણ સ્મારકો જેટલી પ્રસિદ્ધિ પામી નથી.

પ્રાચીન તક્ષશિલામાં જે સ્તુપ મળી આવ્યો તેના શિલ્પમાં બાક્ટ્રીયન, ઈરાની, બેબીલોનિયન અસરોવાળી આકૃતિઓ છે. પરંતુ મથુરાની કંકાલી ટેકરીમાંથી જે અપાર શિલ્પખંડો મળ્યા છે તેમાંથી જૈન સંપ્રદાયની એ નગરીમાં કેવી જાહોજલાલી હશે તે સમજાય છે.

ઘણા માને છે કે ગુફામંદિરો પરથી મંદિરોનું નિર્માણ થયું છે, પરંતુ મંદિરોનાં ગર્ભગૃહની રચના જોતાં તેનો સંબંધ યજ્ઞવેદી સાથે હોય એમ લાગે છે. આવી વેદિકાઓ રચવાની પ્રથા વૈદિક સંપ્રદાય બહારના પણ સ્વીકારતા હતા. જ્યારથી સ્તુપની પૂજા બંધ થઈ ગઈ અને પ્રતિમાપૂજન શરૂ થયું ત્યારથી જૈનોએ પણ મંદિરોની રચના પર ધ્યાન આપ્યું હતું. પણ તે કાળે તે બહુ મોટા પ્રમાણમાં બંધાયાં નહિ હોય. મંદિરનાં વાસ્તુશાસ્ત્રમાં વર્ણવેલા શાંતિક, પૌષ્ટિક, નાપદ એવાં નામો છે; નાગર કે દ્રવિડ એવા ભેદો છે પણ સાંપ્રદાયિક નામ નથી.

મથુરાનગરી જે સમયે સમૃદ્ધિપૂર્ણ હતી તે વખતે ત્યાં અનેક જૈન ધનાઢ્યો વસતા. તેમના દાનથી થયેલાં મંદિરોની જે શિલ્પસામગ્રી કંકાલી ટેકરીમાંથી મળી આવી છે તેમાં જૈન પ્રતીકોથી ભરપૂર તક્ષણપ્રચુરતા અને પ્રતિમાઓ મથુરાના મ્યુઝીયમમાં છે તે તે કાલની કલાની ચરમ સીમા રજૂ કરે છે. મથુરાના શક રાજાઓ હવિષ્ક અને કનિષ્કના સંવત્સરવાળી અનેક જીનમૂર્તિઓ, સ્તુપની વંડીઓના કોતરેલા પથ્થરો, સાંચી અને ભારુતના સાથમાં મૂકી શકાય એવાં છે. એક લેખ વિ. સં. ૭૮ના લેખવાળો છે તે દેવનિર્મિત એટલે તેના નિર્માણના સમયની કોઈને ખબર નથી એવો છે.

મથુરાનો જૈન સમાજ વેપારથી ધનાઢ્ય હતો; એટલે તેમનાં શિલ્પો ઉપર નોંધ મૂકવાની ઘણી ચીવટ બતાવી છે.

અવધકોસલ અને ઉત્તર ભારતના સ્તુપો ઈ. પૂ. ૫૦ વર્ષ પહેલાંના ઠરે છે. જૈન શિલ્પાવશેષો ઉત્તર ભારતમાં બ્રાહ્મીલિપિનો વિકાસ, વ્યાકરણ, પ્રાકૃત ભાષાઓનો ઉદય તેમ જ રાજકીય અને સામાજિક પરિસ્થિતિ અને ઇતિહાસ અને જૈન ધર્મના પૂજાકાંડ પર પ્રકાશ પાડે છે. એ શિલ્પોનું મૂલ્યાંકન કરવા પ્રત્યક્ષ પરિચય થાય અથવા ઉત્તમ ફોટોગ્રાફો જોવા મળે એવું થવું જોઈએ. અલંકારો તેમજ વેલોની સુસ્પષ્ટ કોતરણી ભારતીય કલામાં ગ્રીક ઈરાની આસીરિયન તેમ જ બેબીલોનની અસરો કેટલી ઊતરી હતી તેનાં દૃષ્ટાંતો તેમાં મળે છે. ખાસ કરી પાંખોવાળા સિંહો, દરિયાઈ પ્રાણીઓ તેમ જ વેલબુટીમાં ગ્રીક પ્રકારો ભારતના સંસ્કારવ્યવહારનાં ઉદાહરણો છે, છતાં વસ્તુ સંપૂર્ણ ભારતીય છે. બ્રાહ્મણ, બૌદ્ધ, જૈન સર્વ કોઇ તત્કાલીન દેશવ્યાપી કલાસ્વરૂપોનો પોતાના સંપ્રદાય માટે વિના સંકોચ ઉપયોગ કરતા. બધાનાં પ્રતીકો–રૂઢ પદ્ધતિઓ–એક જ શિલ્પભંડારમાંથી મળી રહેતાં. વૃક્ષ, કઠેડા ચક્રો, શણગારો બધે સરખાં હતાં. જૈન ધર્મના ઈ. પૂ. ના પુરાતન અને આજ સુધીના શિલ્પની પાકી સાક્ષી આપતા ભૂતકાળના મહત્ત્વના અંકોડા ત્યાં મળી રહે છે. જૈન સંપ્રદાયમાં પ્રાચીન વિભાગો “ગણ, કુલ, શાખા” વગેરે પ્રચલિત હતા એ શિલ્પ પરના લેખોથી નક્કી થયું છે. જૈન સાધ્વીઓ સમાજમાં ઊંચો મોભો ધરાવતી હતી એ પણ જાણવા મળે છે. મથુરાનાં શિલ્પોમાં ઈ. પૂ. બસોથી વિ. સં. ૧૦૮૬ સુધીની શિલ્પસૃષ્ટિ જોવા મળે છે.

ગુપ્ત સમયની કલા

ઉત્તર ભારતમાં ગુપ્ત સમયમાં જે ગિરિમંદિરો હતાં તેનું અસ્તિત્વ અદ્યાપિ જળવાયું છે, પરંતુ સ્વતંત્ર બાંધણીનાં દેવમંદિરોનાં સ્વરૂપો વિરલ છે. જે છે તે બહુ જ નાના કદનાં છે. ચૂનો કે કોઈ બંધ વગર પથ્થરની શિલાઓ ખડકીને ઉપાડવામાં આવતાં આ મંદિરોમાંનાં ઘણાં દક્ષિણના મહાબલીપુરમ્ કે ઐહોલના પરિવાર હોય એવું લાગે. મળી આવતી શિલાઓની લંબાઈ પર તેના વિસ્તારનો આધાર રહેતો. ઉત્તર ભારતમાં ગ્વાલિયરનું તૈલપ મંદિર, સૌરાષ્ટ્રમાં ગોપ, કદવાર, કલસાર વગેરે સ્થળ એનાં સાક્ષીરૂપ છે.

તાજેતરમાં ગુજરાતમાંથી મળેલાં ગુપ્ત સમયનાં શિલ્પો ઉપર વડોદરાના પુરાતત્ત્વવિદ્ શ્રી ઉમાકાન્ત શાહે નવીન જ પ્રકાશ પાડ્યો છે. તેમણે અંકોટામાંથી શ્રીઋષભદેવજીની ૩૨·૫ ઇંચની સુંદર ધાતુપ્રતિમા પ્રાપ્ત કરી મ્યુઝીયમને આપી છે. જૈનશિલ્પના કલશ જેવી આ પ્રતિમાથી ગુજરાત સમૃદ્ધ બન્યું છે.

કાલાનુક્રમે આઠમા સૈકામાં ગર્ભમંદિર ઉપરના શિખરોમાં વિકાસ અને ઉઠાવદાર સ્વરૂપો થયાં ને તેમાંથી ઓરિસ્સાનાં રથાકારનાં શિખરોનો પ્રારંભ થયો. દેવતાની પ્રતિમાના બહિરંગ જેવાં એ મંદિરો ગગનગામી સ્વરૂપે વધવા લાગ્યાં. દક્ષિણમાં એ રીતે ગોપુરોથી મંદિરનો વૈભવ વધ્યો. ઉત્તર ભારતમાં ઓરિસ્સાથી પ્રચાર પામેલી શૈલી આર્યાવર્ત અથવા મધ્ય દેશની શૈલી તરીકે પ્રચાર પામી, જેના અવશેષો ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, કચ્છમાં ઘણે ઠેકાણે મળે છે.

ભુવનેશ્વર અને પુરીનાં મંદિરો જેવાં શિખરોના ઘાટનો પ્રારંભિક પ્રકાર સૌરાષ્ટ્રનું રાણકમંદિર અને ઘૂમલીમાં એક દેવમંદિરમાં જણાય છે. કચ્છમાં કેરા, કોટાઈ વગેરે મંદિરો નવમા સૈકાના નમૂના છે. પણ પછીથી ગુજરાત, રાજસ્થાન અને બુંદેલખંડના શિલ્પીઓએ રંગમંડપ અને તેની જાળીઓને વિમાન સ્વરૂપ આપી જે નાવીન્ય અને ભવ્યતા ઊપજાવી છે તેની આગળ ઓરિસ્સાનાં મંદિરો પહાડ જેવાં તોતિંગ લાગે છે.

રાજસ્થાન અને ગુજરાતમાં દસમી સદીમાં રાજપૂત રાજ્યો થયાં. તેઓનાં દેવમંદિરો, રાજ્યમહેલો, જલાશયો, કિલ્લાઓ બાંધવાની એક અપૂર્વ હરીફાઈ લાગી હોય એમ દેખાય છે. મૂળરાજ સોલંકીએ ગુજરાતમાં રુદ્ર મહાલયનું બારમાળનું મંદિર શરૂ કર્યું તે વખતે સ્થાપત્યમાં ગુફામંદિરમાં ભારેખમ સ્તંભો અને કોતરકામની પ્રણાલિ જીવતી હશે. ચૌલુક્યો કદાચ દક્ષિણના સ્થપતિઓ કે રૂપનિયોજના લાવ્યા હશે એવું એ સમયના દાઢી, ચોટલાવાળા સૈનિકો અને રાજવીઓની મૂર્તિઓ પરથી ધારી શકાય. પરંતુ મંદિરને ઊંચું લેવું, ગગનચુંબી શિખર કરવું એ વિચાર તો ઉત્તર ભારતનો જ હતો. નવાં રાજ્યોની સ્થાપના સાથે શાંતિભર્યા ધંધા કરનારી જૈન પ્રજાએ નગરોની જાહોજલાલીમાં સારો ભાગ ભજવ્યો હશે અને ઉપયોગી સમાજ તરીકે પણ આદર પામ્યા હશે. સૂર્ય, શૈવ કે વિષ્ણુના ઉપાસક રાજાઓથી તેમને કદી ઉપદ્રવ થયો જાણવામાં નથી. તેઓ વસ્તુસંચય કરવાનાં અને દ્રવ્યસંચય કરવામાં પ્રવીણ હોઇ અનેકવાર રાજ્યકર્તાઓને આપત્તિ વખતે સહાયકારક બન્યા હતા એ પણ વનરાજ ચાવડાના સમયથી સુવિદિત છે. ગુજરાતનાં નવાં પાટનગરો — શહેરો વસ્યાં ત્યારે તેમાં આગળ પડીને બાંધકામો કરનાર જૈન સમાજો હતા. તેમની વ્યાપારકુશળતા અને અર્થવ્યવસ્થાના અનુભવે તેમાંનાં કેટલાક ક્રમે ક્રમે ગુજરાતના રાજપુરુષો, મુત્સદ્દીઓ અને ધનાઢ્ય વેપારીઓ થયા. અન્ય સંપ્રદાયોની ધાર્મિક સંસ્થાઓ અને મંદિરો રાજ્યાશ્રયથી સર્જાયેલાં અને નભેલાં તે રાજ્યાશ્રય જતાં ખંડિત થયાં તથા ઉપેક્ષા પામ્યાં. તેમના નિર્વાહ કે મરામત માટે ખર્ચ કરનાર કોઈ રહ્યું નહિ, જ્યારે જૈનધર્મના શ્રીમંતો અને દાનવીરોએ દેવકાર્યમાં પોતાની સંપત્તિ આપી ચિરકાળનો યશ પ્રાપ્ત કર્યો છે.

૧૧મી સદીના પરદેશી હુમલાથી ઉત્તર ભારત પાદાક્રાન્ત થઈ ગયો હતો, રાજ્યકુળો જડમૂળથી ઉખડી ગયાં હતાં અને પ્રજાના મોટા સમુદાયો દક્ષિણ તરફ ભાગી છૂટ્યા હતા. તે વખતે ધર્મદ્વેષથી પણ પરદેશી સૈન્યોએ દેવમંદિરો, પ્રતિમાઓ અને ગ્રંથોનો સર્વનાશ કરવાનો નિર્ધાર કર્યો હતો.

આવા વિકટ સમયમાં કલા કારીગરી પર નભતા સમાજનો તો શો આશરો ? પણ ગઝનીનાં ધાડાં પાછાં વળ્યાં કે તુરત જ આબુ, શત્રુંજય અને ગિરનાર ઉપર શિલ્પીઓનાં ટાંકણાનાં તાલ પડવા લાગ્યા અને જૈનધર્મના દેવમંદિરો પહેલાંની જેમ આરતીપૂજાથી ગાજી રહ્યાં.

જૈન સંપ્રદાયનું એક વિશેષ સુજ્ઞ કાર્ય એ છે કે ખંડિત થયેલ મંદિર કે પ્રતિમાની પુનઃ પ્રતિષ્ઠા કરી તેને ઉપયોગમાં લઈ શકાય છે. આથી પૂર્વજોએ કરેલાં કીર્તિકાર્યો સચવાઈ રહે છે અને પ્રજાના કલાસંસ્કારને પૂર્તિ આપે છે. આ રીતે શત્રુંજય, આબુ, ગિરનાર, રાણકપુર વગેરે જૈન પ્રજાના જ નહિ પણ સકલ ભારતવર્ષના કીર્તિધ્વજસમાં મોજૂદ છે.

આબુનું સૌથી જૂનું મંદિર સં. ૧૦૮૮માં ભોળા ભીમદેવના મહામંત્રી વિમળશાહે બંધાવ્યું હતું અને બીજાં મંદિરો ઈ. સ. ૧૨૩૦ના અરસામાં વાઘેલાના મંત્રીઓ વસ્તુપાળ તથા તેજપાળે બંધાવ્યાં.

આબુ દેલવાડાનાં મંદિરો

આ મંદિરોનું બાંધકામ ધોળા આરસથી કરેલું છે. આસપાસ વીસ કે ત્રીસ માઈલ પર આરસની કોઈ ખાણ નથી. એટલે ઘણે દૂરથી આટલો પથ્થર ઉપર પર્વત ચડાવવાનું કામ કરવામાં અપાર ખર્ચ અને શ્રમ લાગ્યાં હશે. પણ જૈન કોમ ધર્મનાં કાર્યમાં ખર્ચ કે સમયનો હિસાબ રાખે નહિ એવી પ્રથા એ વખતે હશે. અને તેથી જ શિલ્પ કલાધરોએ તેના નિર્માણમાં જે નૈપુણ્ય તથા નવીન પ્રકારોની અજબ સૃષ્ટિ અદ્‌ભુત ધીરજ અને ઝીણવટથી આકારબદ્ધ કરી છે તે જગતના સર્વ પ્રવાસીઓને અને કલાકારોને વિસ્મયમુગ્ધ કરી દે છે.

આ મંદિરોની કલામાં ગુજરાતના શિલ્પીઓએ આઠમી સદીના ખજુરાહોના મંદિરો કરતાં જે વિશેષતા કરી છે તે તેના રંગમંડપની રચના છે. તે પહેલાંના રંગમંડપોની છત ચારેપાસની દીવાલો પર ટકાવવામાં આવતી અને તેની ઉપર નાનું મેરુ ઘાટનું શિખર થતું. મંડપને કદી કદી અંદરથી બે બાજુ જાળિયાં અથવા વિમાનઘાટના ગવાક્ષો કે ઝરૂખા મૂકવામાં આવતાં. પરંતુ ગુજરાતના શિલ્પીઓએ આઠ થાંભલા પર ગોળાકારે લાંબી શિલાઓ ગોઠવી ઉપરથી અઠાંસ મારી ધીરે ધીરે નાનાં થતાં ગોળ વર્તુલોનો ઉપર મળી જતો ઘુમ્મટ રચ્યો. તેમાં ય જગતને અપાર આશ્ચર્ય કરાવતું નકશીદાર આરસનું ઝુમ્મર જેને મધુચ્છત્ર કહે છે તે ગુજરાતના શિલ્પીઓનું નાવીન્ય છે. મંદિરની રચનામાં દ્વારમંડપ, શૃંગારચોકી, નચચોકી, ગૂઢમંડપ, ગર્ભગૃહ, તોરણ શિખર, મંગળ ચૈત્ય વગેરે વિભાગોવાળો શિલ્પવિસ્તાર છે.

રંગમંડપના સ્તંભો પર વિવિધ વાદ્યો સહિત ઊભી રાખેલી અપ્સરાઓ, વિદ્યાધરીઓ, નર્તિકાઓ, સ્તંભો પર સંમોસરણ્ તથા ભીંતો અને છતો પર કોરેલાં ઋષભદેવના જીવનપ્રસંગો, નાગપ્રબંધ, અનેક શરીર છતાં એક મસ્તકવાળું માનવપ્રબંધ એ બધું શિલ્પકલાનો વ્યાપક સમાદર બતાવે છે.

જૈન સંપ્રદાયમાં જાણે એ કાળે એવી માન્યતા હશે કે મંદિરમાં કોઈ ઠેકાણે સપાટ પ્રદેશ ભીંત કે છતમાં ખાલી રખાય નહિ. એનાં દૃષ્ટાંત તરીકે દેરાણી-જેઠાણીનો ગોખ બતાવવામાં આવે છે. કિંવદન્તી પ્રમાણે કારીગરોને આગળ કામ કરી શકે માટે વધુ વધુ કોતરી ધૂળ લાવે તેની ભારોભાર રૂપું કે નાણું મળતું, એનું રહસ્ય એટલું જ કે કલાકારીગીરી માટે દેવમંદિરમાં દ્રવ્યનો સંકોચ લેશભાર નહોતો થતો. સામાન્ય જનને તો એ દેવસૃષ્ટિમાં ગયાનો આનંદ થાય અને સંસ્કારીને કલાની સમાધિ લાગે એવાં એ કાર્યો નિઃશંક બન્યાં છે.

આબુની પ્રશસ્તિ તેના શિલ્પવૈભવ માટે થાય છે તો મારવાડના રાણકપુરના મંદિરમાં ૪૨૦ સ્તંભોની રચના, સુમેળ અને મંદિરનો સ્થાપત્ય પ્રભાવ ભારતનાં ગણનાપાત્ર સ્થાનોમાં પદ અપાવે છે.

રાણકપુર

મંદિરને ઉન્નત સ્વરૂપ આપવાની યોજના, એ માળથી ભવ્યતા વધારવા મેઘનાદ મંડપ નામનો પ્રકાર ભારતીય સ્થાપત્ય રચનામાં સ્થપતિની બુદ્ધિનો યશોધ્વજ છે. અનેક સ્તંભો દ્વારા આગળના શિલ્પીઓએ રંગમંડપમાં ચારે દિશાઓનાં હવાપ્રકાશ ખેચ્યાં તે જ પ્રમાણે મેઘનાદ મંડપે ઉપરના માળના સ્તંભોમાંથી હવાપ્રકાશ સાથે મંડપની ઊંચાઈ વધારી આપી.

પવિત્ર, સ્વચ્છ અને જનસંપર્કથી અલગ શાંત વાતાવરણ મેળવવા માટે ગિરિનિવાસનું માહાત્મ્ય ભારતમાં પુરાણપરિચિત છે. પણ તેનો શ્રેષ્ઠપણે ઉપયોગ કરવામાં જૈન સંપ્રદાયે શત્રુંજયનાં શિખર ઉપર મંદિરોની જ નગરી કરીને અવધિ કરી બતાવી છે.

શત્રુંજય, ગિરનાર અને તારંગા

સૌરાષ્ટ્રમાં પાલીતાણા આગળ ભાગ્યે જ ૧૦૦૦ ફૂટ ઊંચી ટેકરી ઉપર માનવીની સાધનાએ જે અજબ દૃશ્ય રચ્યું છે તેનો જોટો અન્ય નથી. પુણ્યપ્રાપ્તિ માટે મંદિર બંધાવવા જેવું કોઈ કાર્ય નથી એવી દૃઢ આસ્થા જૈનોમાં હોવાથી લગભગ ૧૦માંનાં ૯ મંદિરો કોઈ એક જ ગૃહસ્થના દાનથી બન્યાં છે. સ્વાભાવિક રીતે દાનકર્તા પોતાનું નામ અમર રહે માટે મંદિરના શોભા-શણગાર-નકશી પાછળ થાય એટલું ખર્ચ કરે છે. આ મંદિરોનો ખરેખરો રચનાકાળ નિશ્ચિત નથી. કોઈ તો જરૂર ૧૧મા સૈકાનું હશે પરંતુ ૧૪મા – ૧૫મા સૈકામાં વિદેશી હુમલાઓથી ખંડિત થયેલાં તેનો જીર્ણોદ્ધાર કરતાં પહેલાંના જેવી શુદ્ધિ રહી નથી. ઘણે ઠેકાણે મરામતને કારણે પ્લાસ્ટરના લેપડા નીચે ઘણું અદૃશ્ય થયું છે. પણ આ મંદિરમાં ૧૪થી ૧૮મા સૈકા સુધીના અનેક પ્રકારના સ્થાપત્ય નિર્માણના નમૂના મળી આવે છે.

પાછળના કાળમાં પ્રતિમાઓ અને ચિત્રોનું રૂપકામ તથા નકશીના ઉઠાવ નબળાં જણાય છે. પણ તેમાં પરંપરા વિશુદ્ધ રહી છે, એટલે પુનરુદ્ધારના અભ્યાસી માટે ત્યાં ઘણું સાધન છે. જો કોઈ સંશોધક મંડળ તેના નકશા, નોંધ અને પુરાણકથા સંપૂર્ણ રીતે ચિત્રો સાથે તૈયાર કરી શકે તો સ્થાપત્યનું એક અનેરું પુસ્તક થાય.

ગિરનાર અને તારંગાનાં મંદિરોની ભૂતળરચના વિચક્ષણ છતાં બુદ્ધિયુક્ત રચનાઓ છે. ઉપરના સમુદ્ધાર કાર્યમાં અજ્ઞાન શિલ્પીઓએ તેમના પૂર્વજોની કીર્તિ પર અસ્તર માર્યાં છે. બનાસકાંઠામાં અને કચ્છમાં જે જિનમંદિરો છે તેનું અસલ સ્વરૂપ તો ક્યાંય રહ્યું પણ જીર્ણોદ્ધારને નામે આરસ અને ટાઇલ્સની વખારો અથવા કાચના હઠેરા બની ગયા છે. મુંદ્રા આગળનું ભદ્રેશ્વરનું પ્રાચીન પ્રસિદ્ધ મંદિર જગડુશાહે બંધાવેલું તેની સર્વ ભીંતો ચૂનાના અસ્તરથી સન્યાસીના મુંડાની જેમ વીતરાગ બની ગઈ છે, અને દ્વારની કમાનો પર રમકડાં જેવી મડમો અને અંગ્રેજી પૂતળાંના એહૂદા ઢગલા છે, આ આરોપની સામે ધન્યાસ્પદ અપવાદ રૂપે રાણકપુર અને આબુનું જીર્ણોદ્ધાર કામ ગણી શકાય. એનું ઉદાહરણ સર્વત્ર સ્વીકાર પામે તો જ આગલાં પાપોનું પ્રાયશ્ચિત્ત થાય.

મંદિરોના દાનવીરો અને શિલ્પીઓ જ્યાં સુધી સંસ્કાર અને વિદ્યાના ઉપાસકો હતા ત્યાં સુધી જૈન સંપ્રદાયે કરાવેલાં મંદિરો, પ્રતિમા અને અલંકારો અને અન્ય પદાર્થો જેવા કે દીપસ્તંભો, ધાતુપ્રતિમાઓ, દીવીઓ વગેરેમાં એક રમ્ય ઝલક સચવાતી રહી હતી પણ ૧૯મી સદી પછી બ્રિટિશ વર્ચસ્વ વધતાં એ સંસ્કારો લુપ્ત થયા અને આજે ઉપર કહ્યા તેવા હાલ ઘણે ઠેકાણે થયા છે.

મરામત અને રંગકામ પાછળ તમામ મંદિરોનો ખર્ચ કુલ વર્ષે એંશી–પંચાશી લાખ રૂપિયા થવા જાય છે એમ એક સંભાવિત વ્યક્તિએ કહ્યું હતું. તેમ હોય તો જૈન કોમ આ કાર્ય માટે પૂર્ણ અભ્યાસી શાસ્ત્રજ્ઞ કુશળ કલાકાર ને નિરીક્ષકો નીમીને ફરી પૂજ્ય સ્થાનોની પ્રતિષ્ઠાનું રક્ષણ કરી શકે છે.

રંગ અને ચિત્રની હકીકત પર આવતાં મંદિરોમાં થતું ચિત્રકામ અને રંગકામ આજકાલના સુસંસ્કારી જનની રુચિને સંતોષે એવું થતું નથી. કારણ કે તેમાં કોઈ પ્રકારે જૈન કલાની પ્રાચીન શિષ્ટતા કે પરિપાટીનો સંભાસ કે અસર નથી. આધુનિક બજારુ રમકડાં જેવા રંગરાગ અને ભેંકારાં સંગીતમાંથી કોમની પ્રજાને કયા સંસ્કાર અને સદ્‌ગુણોની પ્રાપ્તિ થશે એ માનસશાસ્ત્રનો પ્રશ્ન બને છે. પણ ગુજરાતને ગૌરવ લેવા જેવી હકીકત એ છે કે ભારતવર્ષમાં અજંતા પછી ૧૧મી સદીથી અપભ્રંશ થયેલી કલાનું એક મોટું આશ્રયસ્થાન ગુજરાત અને મારવાડ હતું. મોટે ભાગે ૧૩મીથી ૧૬મી સદીના કલ્પસૂત્રો અને કાલક કથાનાં હસ્તગ્રંથોમાં જ એ કલાનાં અવશેષો રક્ષાયેલાં મળ્યાં હતાં, અને તેથી જ વિદ્વાનો ભારતીય કલાના ઇતિહાસની ખૂટતી કડીઓ મેળવી શક્યા છે. સને ૧૯૧૦માં આરંભાયેલ સંશોધન પ્રવૃત્તિમાંથી આજે એ ફલિત થયું છે કે એ કલા રાજસ્થાન, નેપાળ, બંગાળ અને દક્ષિણ સુધી વિસ્તરી હતી પણ મોટું સરોવર સુકાઈ જતાં છેવટનું જળ જેમ એક મોટા ખાડામાં સચવાઈ રહે તેમ ગુજરાતના ધનાઢ્ય જૈન સમાજે એ કલાને ગ્રંથભંડારોમાં સાચવી રાખી હતી અને ધર્મ સંબંધથી પ્લુત એ પ્રકારની પરંપરા અને રૂઢિનું રક્ષણ કર્યું હતું. અને હવે તે નવા યુગના કલાકારોના તેમજ વિદ્વાનોના અભ્યાસમાં એક અગત્યનું પ્રકરણ બની ચૂકી છે.

એના પ્રચાર અને પરિશીલન માટે સુંદર પ્રકાશનો કરવાનો યશ અમદાવાદના એક તરુણ ગૃહસ્થ શ્રી સારાભાઈ નવાબને આપીશું.

ગ્રંથસ્થ કલાના નમૂના ઉપરાંત એમણે આઠમી સદીની જિન ધાતુ પ્રતિમાઓનું સંશોધન અને સંગ્રહ કરી દક્ષિણ ભારતની ધાતુ પ્રતિમાઓની બરોબરી કરે એવો એક કલાપ્રદેશ પ્રકાશમાં આણ્યો છે.

કાષ્ઠ શિલ્પના ઉત્તમોત્તમ નમૂના પાટણનાં ગૃહમંદિરો કે ઘરદહેરાસરો છે. આ અપૂર્વ ભારતીય શિલ્પકૃતિઓની નિકાસ કે વેપાર પર અટકાયત મુકાવી જોઈએ. મંદિરોના નાના નમૂનાઓ ઉપરાંત કાષ્ઠ શિલ્પીઓએ જૂના મંદિરોની છતોમાં કાષ્ઠ પૂતળીઓ, નકશીઓ, પ્રસંગો અને નકશીદાર સ્તંભો કોતર્યા છે. એ આરસના તક્ષણની પૂરી સ્પર્ધા કરે છે.

પાટણ અને અમદાવાદમાંથી અનેક કલાશિલ્પની અપ્રાપ્ય વસ્તુઓ પરદેશના સંગ્રહાલયોમાં પહોંચી ગઈ છે. એ માટે હવે સૌ જૈન કલાપ્રેમીઓને ખેદ થવો જોઈએ અને હવે પછીથી એવી વસ્તુઓ મેળવવા ઉદાર દાનફંડમાંથી તેની ખરીદી કરી સંગ્રહ રચવો જોઈએ, જેથી પ્રજા જૈનકલા માટે સુયોગ્ય રીતે ગૌરવ લઈ શકે. ઉપરાંત કુશળ અને કલાવિદ્ વિદ્વાનો પાસે એ વસ્તુઓની પરીક્ષા, કદર અને નોંધ કરાવી ઉત્તમ ચિત્રો સાથે તેના ગ્રંથો પ્રજા સમક્ષ મૂકવાથી જૈનકલાની સંપૂર્તિમાં યશકલગી ઉમેરાશે.

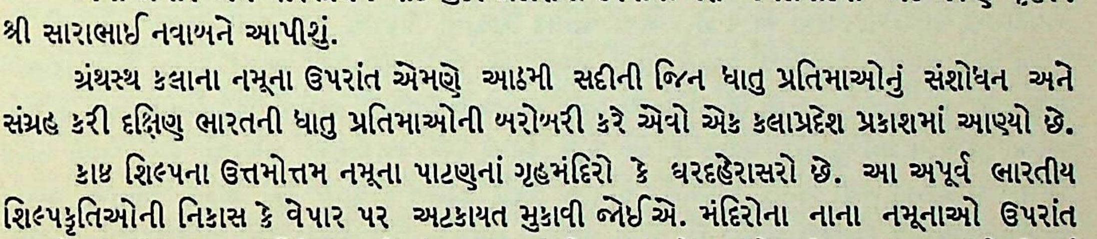

જૈન ધર્મ અને જૈન સંસ્કૃતિની કેટલીક લાક્ષણિકતાઓ

પ્રા૦ અમૃતલાલ સવચંદ ગોપાણી, એમ.એ., પીએચ્.ડી.

આર્ય સંસ્કૃતિના નિર્માણ અને ઘડતરમાં વૈદિક અને બૌદ્ધ સંસ્કૃતિઓની જેમ અને જેટલો જ જૈન સંસ્કૃતિનો પણ ફાળો છે. જૈન એટલે "જિન" નો ભક્ત, અનુયાયી અને મન, વાણી તથા શરીર આ ત્રણે ય ઉપર જેણે સર્વાંગસંપૂર્ણ વિજય મેળવ્યો હોય તે "જિન". આ "જિન" પછી ગમે તે દેશનો હોય, ગમે તે કાળે થઈ ગયો હોય અને ગમે તે ફિરકાનો હોય. આ એની ઉદારમાં ઉદાર વ્યાખ્યા છે. આમાંથી જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની અનાદિતા સ્વતઃ ફલિત થાય છે. જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિનો ઊગમ કોઈ પણ અન્ય ધર્મ કે સંસ્કૃતિમાંથી થયો નથી; એનું અસ્તિત્વ સ્વતંત્ર છે. ઐતિહાસિક પ્રમાણો અને પુરાણમાં પુરાણ ગણાતાં શાસ્ત્રો અને ગ્રંથોમાં આવતા ઉલ્લેખો ઉપરથી આ વિધાન હવે અસંદિગ્ધ રીતે પુરવાર થઈ ચૂક્યું છે. એના ઉપર અન્યે, અને અન્ય ઉપર એણે પ્રભાવ અને સંસ્કાર નાખ્યા છે — આ બન્ને વસ્તુઓ સ્વીકારવી જોઇએ. સંસ્કૃતિઓ પારસ્પરિક અસરથી તદ્દન મુક્ત રહી શકતી નથી એ સિદ્ધાંત સર્વમાન્ય છે.

અહિંસા જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિનો પ્રાણ છે. એટલા માટે એને અહિંસા ધર્મ તરીકે પણ વ્યવહારમાં ઓળખાવવામાં આવે છે. એના મૌલિક સિદ્ધાંતો પૈકીમાં કર્મવાદનો સિદ્ધાંત મોખરે છે. જન્મ અને મરણના ફેરાઓથી રચાતું સંસાર ભ્રમણ એ એક મહાનમાં મહાન દુઃખ એને હિસાબે ગણાય છે. આ દુઃખ કર્મજન્ય છે. ચોરાશી લાખ યોનિઓમાં ભમતો ભમતો, ઉત્ક્રાન્તિ સાધતો સાધતો આત્મા કર્મમુક્ત થઈ છુટકારો મેળવે છે. એ મોક્ષ સાધ્ય કરી આપવામાં ઇશ્વિરાદિ કોઈ બાહ્ય તત્ત્વ નિમિત્ત કારણભૂત નથી બનતું. આત્માએ પોતે જ સિદ્ધિ હાંસલ કરવાની છે. એટલે એનામાં અનંત સામર્થ્યનો સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે. બાહ્ય પદાર્થની આપખુદ મહેરબાની ઉપર એને જીવવાનું નથી. એ પોતે જ કર્તા, ભોક્તા અને હર્તા છે. પોતાનાં સુખ-દુઃખ માટે કોઈને પણ એ જવાબદાર ન ગણી શકે. આમાં રાગ-દ્વેષની પરિણતિનો પરિહાર સમાવિષ્ટ થઈ જાય છે. નિરહંકાર મિશ્રિત પુરુષાર્થનું સંકલન પણ આ સિદ્ધાંતમાંથી જ સ્વતઃ સરે છે, ઝરે છે.

જડ અને ચેતન અર્થાત્ અજીવ અને જીવ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વો સ્વીકારી, બીજાં સાત તત્ત્વોને—પુણ્યપાપાદિને—અજીવના અવાંતર ભેદો તરીકે સ્થાપી કુલ્લે નવ તત્ત્વોની પ્રરૂપણા જૈન ધર્મે કરી છે.

જગતના સ્રષ્ટા અને સંહારક તરીકે "ઇશ્વર" ને કલ્પનાર ધર્મોની દૃષ્ટિએ જૈન ધર્મ નિરીશ્વરવાદી ગણાતો હોય તો ભલે ગણાય, પરંતુ નિરીશ્વરવાદી એટલે નાસ્તિક અને નાસ્તિક એટલે નીતિની આવશ્યકતા અને મૂલ્યમાં નહિ માનનાર એવો જો અર્થ કરવામાં આવતો હોય તો તે કેવળ ભ્રાન્ત, અજ્ઞાનયુક્ત અને ન્યાયવિહીન છે. પાપ અને પુણ્યમાં અનીતિ અને નીતિના મૂલ્યાંકનો અંતર્ગત જ છે. આ કહેવાની પણ જરૂરત નથી.

પૃથ્વી, પાણી, તેજ, વાયુ આદિ ઇશ્વરકર્તૃક નથી. તેઓનું અસ્તિત્વ પોતપોતાના ખાસ નિયમોને આભારી છે. ઇશ્વરત્વ આ રીતે જૈન દૃષ્ટિને અનુકૂળ નહિ હોવા છતાં આત્મા પોતે પોતાને બળે પરમાત્મા બની શકે છે એ રીતે ઇશ્વરત્વનો એ અંગીકાર પણ કરે છે.

કર્મને આભારી સંસારત્વ છે એમ પ્રતિપાદી તમામ પ્રાણ, જીવ, ભૂત અને સત્ત્વને સમકક્ષ બનાવ્યા છે ને ઉચ્ચ, નીચનો ભેદ ટાળ્યો છે, વર્ણ અને જ્ઞાતિના વિચારને બહિષ્કૃત કર્યો છે અને સ્ત્રી-પુરુષના એકસરખા અધિકારની હિમાયત કરી છે. આ રીતે કરેલી જગત્ પ્રત્યેની જૈન ધર્મની અપૂર્વ સેવા ઉવેખવા કે હાંસી કરવા જેવી તો છે જ નહિ, પરંતુ સન્માનવા જેવી છે. વર્તમાનમાં ચાલી રહેલ ભીષણ તાંડવને ખાળવાની અને અરાજકતાને સ્થાને સુરાજ્ય સ્થાપવાની, મારામારી અને કાપાકાપીને નાબૂદ કરવાની, શોષણ, લાંચ, રુશવત વગેરે બદીઓને નિર્મૂળ કરવાની, એકને ભોગે બીજાની જીવવાની અસદ્ વૃત્તિને વિદાય આપવાની શક્તિ કે કામયાબી કોઈપણ પ્રચલિત સંસ્કૃતિમાં સાંપ્રતમાં હોય તો તે કેવળ જૈન સંસ્કૃતિમાં છે. નીતિની નાદારીને દેવાળું કાઢતાં બચાવવાની અને કાચી પડવા જતી આસામીને ફડચામાં નહિ જવા દેતાં ટકાવી રાખવાની સંપૂર્ણ યોગ્યતા જૈન ધર્મ પ્રતિબોધિત અને પ્રરૂપિત અહિંસાના, કર્મવાદના, અનેકાંતના અને પંચમહાવ્રતોનાં તત્ત્વોમાં છે. આ સંસ્કૃતિના હાર્દને સમજ્યે અને પચાવ્યે જ વર્તમાન ભ્રાન્ત અને મદમત્ત જગતનો છુટકારો છે—આ સંસ્કૃતિમાં એવાં ઉન્નાયક તત્ત્વો છે એ કારણે.

જૈન ધર્મની પ્રાચીનતા પુરવાર કરતો બડલીનો શિલાલેખ મોજૂદ છે. શ્રેણિક, ચંદ્રગુપ્ત, બિંદુસાર, અશોક, સંપ્રતિ, ખારવેલ, વિક્રમાદિત્ય, મુંજ, ભોજ વગેરે વગેરે ઐતિહાસિક રાજાધિરાજાઓએ જૈન ધર્મને સપૂચો અપનાવ્યો હતો અથવા તો વેગ આપ્યો હતો. સિદ્ધરાજ, કુમારપાળ વગેરેએ તો જૈન ધર્મની સારી એવી પ્રભાવના કરી હતી એ તો હવે કયાં છાની વાત રહી છે? જૈન ધર્મે દક્ષિણમાં પણ પોતાના પ્રભાવનો પ્રસાર સારો કર્યો હતો. મહાપ્રતિભાશાળી જૈન સાહિત્યકારોએ, કવિવર્યોએ બીજાઓને મોંમાં આંગળી ઘાલવી પડે એવી સાહિત્યની ચિરંજીવ કૃતિઓનું નિર્માણ કર્યું છે. સ્થાપત્યના, ચિત્રકળાના, સાહિત્યના—ટૂંકમાં બુદ્ધિના એકેએક પ્રદેશમાં જૈન સાધુઓએ અને શ્રાવકોએ નિર્દોષ વિહાર કરી બતાવી જગતમાં નામ સ્થાપ્યું છે, કાઢયું છે. વસ્તુપાળ, તેજપાળ, જગડુશા, ભામાશા વગેરે દાનવીરોએ ફોર્ડ કે રોકફેલરને ભુલાવી દે એવું કરી બતાવ્યું છે. જૈન ધર્મની અને સંસ્કૃતિની જગતને આ દેણ છે. એની પુરાણી યશોગાથાને અહીં સ્પર્શવામાં ડંફાશ મારવાનો કોઈ અપ્રશસ્ત હેતુ નથી, પરંતુ એ ધર્મ અને સંસ્કૃતિ મહાપ્રાણવાન, સત્ત્વશાળી સંસ્કૃતિના બીજ ધરાવે છે એ તરફ કેવળ અંગુલિનિર્દેશ જ કરવાનો હેતુ છે.

સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, અને શ્રાવિકા—આ ચાર ચતુર્વિધ જૈન સંઘના એકમ, ઘટક. પહેલાં એને પાળવાનો ધર્મ તે અણગાર ધર્મ અને બીજા એનો તે આગારધર્મ. પોતપોતાના કર્તવ્યપાલનની મર્યાદામાં રહી એ ચારે ય આત્મોન્નતિ સાધી સંપૂર્ણ દશાએ પહોંચી શકે છે. એ ચારેયે અમુક જ સ્થિતિ અવશ્યમેવ પ્રથમથી સ્વીકારવી જોઈએ એવું કાંઈ નથી. પોતપોતાની મર્યાદાના વર્તુળમાં રહી, સદાચાર સેવી, વિકાસ વધારતાં વધારતાં અંતે છુટકારો મેળવી શકે. આ ઔદાર્યનો દાખલો છે. સંકુચિત નહિ પરંતુ વિસ્તારિત—તદ્દન વિસ્તારિત દૃષ્ટિનું આ ઉદાહરણ કહેવાય. સાધુ અને શ્રાવકના ધર્મનું નિરૂપણ પારિભાષિક હોઈ અહીં અપ્રસ્તુત છે. સંયમ અને તપ દ્વારા અશુદ્ધિઓનું પરિમાર્જન કરવાની પરમ આવશ્યકતા બન્નેમાં નિર્ધારાઈ છે. વંશપરંપરાથી કે પેઢાનુપેઢીથી આચાર્ય કે એવા કોઈ પદની પ્રાપ્તિ થતી નથી. આચાર્યના ગુણ ધરાવતો હોય તો જ આચાર્ય કહેવાય, વય કે લિંગ આદરનું સ્થાન નથી, ગુણની જ પ્રતિષ્ઠા કરવામાં આવી છે. જૈન ધર્મ રૂઢિચુસ્ત નથી પણ વેગવાન્ વિકાસમાં જ માનનારો છે એનું જ્વલંત પ્રતીક આથી બીજું કયું હોઈ શકે? માત્ર જ્ઞાન કે માત્ર ક્રિયા—આ બન્ને એકાંતો હોઈ એનો અસ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે અને એને સ્થાને સમન્વિત સમુચ્ચયવાદને મૂકવામાં આવ્યો છે. સાધુ-સાધ્વીએ

મધુકરવૃત્તિથી ગોચરી કરવાની કહી છે. માલ-મલીંદા આત્મરમણના પોષક નથી એમ કહી એનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે. "શરીરમાદ્યં ખલુ ધર્મસાધનમ્" આ સિદ્ધાંતના પુરસ્કર્તાઓ સામે લાલ બત્તી ધરતાં એ ભાખે છે કે ગરીબને એક ટુકડો પણ ન મળતો હોય ત્યાં બીજાએ પાડેલા પરસેવાથી રળેલા અનાજનો કે ભોજનનો નફકરા બની તમે ઉપભોગ ન કરી શકો. ફલાણું વિટામિન એમાં નથી એ જોવાનું એને ન હોય. સંયમ-યાત્રાના નિર્વાહમાં ઉપયોગી બને એટલી હદે જ શરીરની સંભાળ હોવી જોઈએ—આ એક જ મુખ્ય વાત. દાન-દયાની ઉપાદેયતા વ્યવહારનયે એ સ્વીકારે છે જ. ક્રિયાશૂન્ય, આત્માની શુષ્ક જ્ઞાનની વાતો તરફ એને નફરત છે.

જીવ અને અજીવ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વોમાંથી ફલિત થતા નવ તત્ત્વોનો સ્વીકાર જૈન દર્શન કરે છે એ આગળ કહેવાઈ ગયું. આમાં જીવના, સંસારી અને મુક્ત; સંસારીના ત્રસ અને સ્થાવર; પૃથ્વીકાયાદિ પાંચ એ સ્થાવર ભેદ. ઈંદ્રિયાદિ ભેદો પણ ભેદો છે. ત્રસમાં બે ઈંદ્રિયોથી માંડી પાંચ ઈંદ્રિયો સુધીના ભેદો છે જ્યારે સ્થાવર એકેંદ્રિય છે. પાંચ અસ્તિકાયો—ધર્માધર્માદિ—અજીવના ભેદો છે. આમાં કાળને ભેળવી છ દ્રવ્યોની કલ્પના કરવામાં આવી છે. જૈન દર્શન વિષયક દૃષ્ટિને પ્રધાનપણે ધ્યાનમાં રાખી આ ઉપર કહી તે બાબતોની તાર્કિક કલ્પના, યોજના અને સિદ્ધિ પણ કરવામાં આવી છે જેના ઊંડાણમાં ઊતરવું એ અહીં અભીષ્ટ નથી.

બધા જ જીવોનો મોક્ષ થાય તો સહેજે એક સ્થિતિ અને એક સમય એવો આવીને ઊભો રહે કે જે વખતે સંસાર જેવું કાંઈ હોય જ નહિ. ઉત્તર પક્ષની આ શંકાનો જૈનદર્શન એ રીતે જવાબ આપે છે કે ના, એમ નથી. કારણ કે જીવોના પણ ભવ્ય અને અભવ્ય એવા બે મોટા વિભાગો પાડવામાં આવ્યા છે. આમાંથી જે અભવ્ય છે તે સ્વભાવે જ એવા છે કે એમનો મોક્ષ કદાપિ થતો જ નથી. આ અભવ્ય જીવોની ઉપમા શાસ્ત્રકારોએ (જૈન) કોરડુ મગની આપી છે. કોરડુ મગ કદી પણ પાકતા નથી. આમ એ અભવ્ય જીવો પણ કદી મોક્ષ મેળવતા નથી.

આત્માની સાથે કર્મના સંયોગને અનાદિ માનવા જતાં સામો પક્ષ એક મુશ્કેલી આ ઊભી કરી શકે કે અનાદિ વસ્તુનો નાશ થાય નહિ અને એમ માનવા જતાં સંપૂર્ણ કર્મનો નાશ અશક્ય બની જઈ મોક્ષનો પણ અસંભવ ઊભો થશે. આ મુશ્કેલીનો જૈન શાસ્ત્રકારોએ એવી રીતે કબાલો આપ્યો છે કે આત્મા સાથે નવાં કર્મો બંધાતા જાય છે અને જૂનાં ખરતાં જાય છે. આવી બાબતમાં કોઈપણ એક કર્મની યુતિ અનાદિ નથી, પરંતુ કર્મયુતિનો પ્રવાહ જ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે અને આ ઔપચારિક રીતે આત્મા સાથે કર્મો અનાદિ કાળથી જોડાયેલા છે એમ સમજવાનું છે.

જૈન દર્શને આત્માને ચૈતન્ય સ્વરૂપ, પરિણામી, કર્તા, સાક્ષાત્ ભોક્તા, દેહપરિમાણી, પ્રતિક્ષેત્રે ભિન્ન, પૌદ્ગલિક અદૃષ્ટવાન્ માન્યો છે. જ્ઞાનને આત્માનું મૂળ સ્વરૂપ કહી નૈયાયિકોથી જૈનમત જુદો પાડ્યો છે. પરિણામી, કર્તા અને સાક્ષાત્ ભોક્તા કહી પરિણામરહિત—ક્રિયારહિત માનનાર સાંખ્યમતથી ભિન્નતા પ્રરૂપી છે. દેહપરિમાણી એવું લક્ષણ બાંધી આત્મા સર્વવ્યાપી છે એવું કહેનાર વૈશેષિક, નૈયાયિક, અને સાંખ્ય મતનો અનાદર કર્યો છે. શરીરે શરીરે આત્માનું પાર્થક્ય પ્રતિબોધી એક જ આત્મામાં માનનાર અદ્વૈતવાદીઓ સાથેની પોતાની અસંમતિ દર્શાવી છે. કર્મને એટલે કે ધર્મ—અધર્મને આત્માનો વિશેષ ગુણ માનનાર નૈયાયિક-વૈશેષિકો સાથેનું મતવિભિન્નત્વ જૈનદર્શને છેલ્લા વિશેષણ મારફત વ્યક્ત કર્યું છે.

પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય, પુણ્યાનુબંધી પાપ, પાપનુબંધી પુણ્ય, અને પાપાનુબંધી પાપ આમ પુણ્ય-પાપના વિભાગો પણ જૈન દર્શનની વિલક્ષણતાના સૂચક છે.

વસ્તુને અનંતધર્માત્મક માની એના ધર્મોને અમુક અમુક દૃષ્ટિકોણોથી જોવાં તેનું નામ સ્યાદ્વાદ છે. જૈનોનો આ અણમોલ સિદ્ધાંત છે પરંતુ પ્રતિસ્પર્ધીઓએ એને હાથે કરી ખોટે સ્વરૂપે સમજી અન્યાય કરવામાં પણ બાકી રાખી નથી. અપેક્ષા દૃષ્ટિએ સ્વીકાર કરવો એનું નામ પણ સ્યાદ્વાદ જ. નિત્યત્વ, અનિત્યત્વ, વિનાશીપણું, સ્થિરપણું, સત્પણું, અસત્પણું—આ ઉપરાંત દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર. કાળ અને ભાવથી જોવાનું—આમ અનેક ધર્મોને અનેક દૃષ્ટિથી જોઈ શકાય છે. માટે અપેક્ષાવાદ સ્વીકારવાથી જ વસ્તુના સ્વરૂપનું યત્કિંચિત્ પણ સાચું ભાન થાય છે. સ્યાદ્વાદ સંશયવાદ છે એવો એક મોટો આક્ષેપ એના ઉપર છે. એક જ વસ્તુને પ્રતિસ્પર્ધી ગુણોથી યુક્ત કહેવી એ એક પ્રકારનો સંશય ઊભો કરવા જેવું જ થયું એવો સામા પક્ષનો દાવો છે. પરંતુ અહીંયાં સંશય કોને કહેવો એ જ એક મુખ્ય સવાલ છે. રજ્જુમાં સર્પની ભ્રાન્તિ કે ઝાડના ઠૂંઠામાં માણસની ભ્રાન્તિ—આ સંશય જરૂર કહેવાય. કારણ કે સર્પ અને દોરડી કે ઝાડ અને માણસ—આ બન્નેમાંની કોઈ પણ એક નિશ્ચિત નથી હોતું. જ્યારે સ્વાદ્વાદ કથન કરે છે ત્યારે અમુક એક વસ્તુમાં અમુક ધર્મ એ કથન કરતી વખતે નિશ્ચિતપણે રહેલો છે એમ કહે છે. હકીકત જ્યારે આમ છે ત્યારે એને સંશયવાદ શી રીતે કહી શકાશે?

વસ્તુના અનેક ધર્મો. એને વ્યક્ત કરનારા અભિપ્રાયો કે વચનપ્રકારો પણ અનેક હોય. છતાં એ બધાને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક આમ બે પ્રધાન નય દ્વારા વિભક્ત કરી પછી અવાંતર સાત ભેદો પાડ્યા છે.

જૈન ધર્મને વીતરાગનો ધર્મ પણ કહેવાય છે: રાગ-દ્વેષની પરિણતિને થંભાવવામાં સ્યાદ્વાદ અગત્યનો ભાગ ભજવે છે.

પરમાત્માએ મુક્તિનો માર્ગ બતાવ્યો. આ માર્ગે ચાલી અન્યે મુક્તિ હાંસલ કરી માટે પરમાત્મા મુક્તિદાયક ઉપચારથી ગણાય—આવું સ્યાદ્વાદ કહે અને એમ કહી ઈશ્વરકર્તૃત્વવાદના પુરસ્કર્તાઓને ન્યાય આપે.

આત્મા જ ઈશ્વર છે અને આત્મા સ્પષ્ટપણે કર્તા છે જ. ઈશ્વર જગતનો કર્તા છે એવું કહેનારના આશયને સ્યાદ્વાદ એ પ્રમાણે સમજાવે.

મોહવાસનાના પ્રાબલ્યને હણવા બુદ્ધે ક્ષણિકવાદ આગળ ધર્યો; વિષયની આસક્તિ હટાવવા વિજ્ઞાનવાદ પ્રરૂપવામાં આવ્યો; સમભાવની પ્રાપ્તિ અર્થે અદ્વૈતવાદની ખોજ થઈ—આમ પરમાર્થ બતાવી સ્યાદ્વાદ બધાના મનનું સમાધાન કરે છે. ખરેખર! વિચારકલહોને શમાવવાનું અમોઘ સાધન સ્યાદ્વાદ છે. અસ્તુ.

આ પ્રમાણે ઉપર જણાવી તે લાક્ષણિકતાઓ જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની છે. અત્યારે આ લાક્ષણિકતાઓ ઘણું અનેરું કામ કરી બતાવે તેમ છે. સમસ્ત જગતને શાંતિ આપવાનું જબ્બર સામર્થ્ય આ ધર્મમાં છે એમ સૌ કોઈ ખરેખર સમજે અને એ પ્રમાણે આચરે તો જગત્નું વાસ્તવિક કલ્યાણ થાય તેમ છે. ઇત્યલમ્.

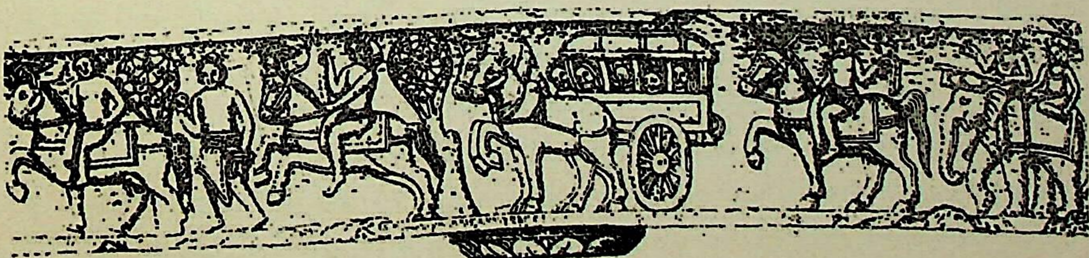

જૈન અભ્યાસમાં નવીન દૃષ્ટિની આવશ્યકતા

પ્રા૦ કેશવલાલ હિં. કામદાર, એમ.એ.

હમણાં હમણાં જૈન સાહિત્ય, ફિલસૂફી, ઇતિહાસ, સંસ્કારિત્વ વગેરે ઉપર અતિ માર્ગદર્શક પ્રકાશનો જોઈ શકાય છે. એ પ્રયાસમાં મહારાજા સયાજીરાવ ગાયકવાડ યુનિવર્સિટી જેવી સંસ્થાઓએ હવે પ્રવેશ કર્યો છે તે આનંદની વાત છે. આવાં પ્રકાશનોમાંથી કેટલાંક પ્રકાશનોને આદિથી અંત સુધી વાંચી જવાનો અને કેટલાંકનાં અવલોકનો કરવાનો મને પ્રસંગ મળ્યો છે. દિલગીરીની વાત તો એ છે કે આ પ્રકાશનો અને તેમનાં વિવેચનો તરફ આપણી પ્રાકૃત જનતાનું તો ઠીક, પણ આપણા વિદ્વજ્જનોનું ધ્યાન બહુ ઓછું જાય છે. કારણો સ્પષ્ટ છે. અવલોકનો જે સામયિકોમાં કે વર્તમાનપત્રોમાં આવે છે તે બધે ઉપલબ્ધ હોતાં નથી, અને જે વર્તમાનપત્રોનાં અને સામયિકોનાં કાર્યાલયોને એ પ્રકાશનો મોકલવામાં આવે છે તેમના કાર્યવાહકો અને સંપાદકો યાદીમાં તેમની સ્પષ્ટ નોંધ પણ લેતા નથી. ઘણીવાર એવું બને છે કે પ્રકાશનો જે માણસોના હાથમાં અવલોકન અર્થે મૂકવામાં આવે છે તેઓ એ વિષયોના અભ્યાસી હોતા નથી, એટલે તેમનાં અવલોકનો અર્ધદગ્ધ અને ઉપલકિયાં નીવડે છે.

આવાં પ્રકાશનો બહુધા ગુજરાતીમાં અને હિન્દીમાં હોય છે. દક્ષિણ ભારતની ભાષાઓનો મને પરિચય નથી એટલે તેમને વિષે હું લખી શકતો નથી. પ્રકાશનો જૈન સંસ્કારના તમામ વિષયો સંબંધી હોય છે, મુખ્યત્વે તેઓ ઈતિહાસ, ફિલસૂફી, જીવનચરિત, સાહિત્ય, ભાષા વગેરે ઉપર હોય છે. તેમના સંપાદકો વિદ્વાનો હોય છે એટલે સંપાદનક્ષેત્રની ન્યૂનતા ઓછી હોય છે. એક ન્યૂનતા મને માલમ પડી છે અને તે વિષે હું અહીં લખવા ઇચ્છું છું, તેને દૂર કરવાનો ઇલાજ પણ સાથે હું સૂચવીશ.

આવાં પ્રકાશનોનાં સંપાદનોમાં, મારા નમ્ર મત પ્રમાણે, ક્રાંતિકારક ફેરફાર થવાની જરૂર છે. કાઇ પ્રકાશન જૈન ફિલસૂફી કે ન્યાય વિષે હોય છે. એમાં જૈન દૃષ્ટિનો સચોટ વિચાર રજૂ થયેલો હોય છે. અનેક જૈન–જૈનેતર અવતરણોથી તે પ્રકાશન ખીચોખીચ ભરેલું હોય છે. અનુવાદ હોય તો તે ઘણો સ્પષ્ટ હોય છે, પ્રસ્તાવના જૈન દૃષ્ટિને બરોબર સમજાય તેવી લખાયેલી હોય છે. એનો અભ્યાસ તુલનાત્મક હોય છે, એમાં લેખકે બૌદ્ધ, બ્રાહ્મણ, જૈન સન્દર્ભ ગ્રન્થોનાં અનેક અવતરણો ટાંકેલાં હોય છે. વર્તમાન જૈન લેખકોએ આ દિશા પર તો ખરેખર અનેરું માર્ગદર્શન કરેલું છે, બીજા લેખકોએ આ માર્ગદર્શન સ્વીકારી લેવું જોઇએ, કારણ કે આ પ્રકારના જૈનેતર સાહિત્યમાં જૈન દૃષ્ટિનો વિચાર નજરે પડતો નથી. આટલી પ્રગતિ થયેલી આપણે જોઈએ છીએ, છતાં મને એક ન્યૂનતા જણાઈ આવી છે: તે આપણે હવે સુધારી લેવી જોઇએ. દૃષ્ટાંતમાં સંપાદક કે લેખક જૈન ન્યાયનો વિચાર કરે ત્યારે તે વિચારમાં હવે પશ્ચિમનો વિચાર પણ આવી જવો જોઈએ. કોઈ લેખક કે સંપાદક જો જૈન તત્ત્વવિચારની સમજાવટ કરતો હોય તો તેમાં હવે પશ્ચિમની વિદ્યાનો વિચાર પણ આવી જવો જોઈએ. જૈનોની એકાન્ત દૃષ્ટિ પશ્ચિમનાં ન્યાયસૂત્રોમાં નજરે પડે છે. જૈનોએ કરેલો અપેક્ષાવાદ યુરોપમાં કરાયેલો હોય છે. જૈનોનો નિયતિવાદ – Pre-destination Determinism – સમગ્ર ખ્રિસ્તી ફિલસૂફીમાં સ્થળે સ્થળે નજરે ચડે છે. આ દૃષ્ટિ પ્લેટોથી માંડીને ડ્યુએ સુધીના ફિલસૂફોમાં જોઈ શકાય છે. ગ્રીક ગ્રન્થોનાં તો અનેક ઈંગ્રેજી ભાષાંતરો થયાં છે. જર્મન ફિલસૂફી સાહિત્ય ઈંગ્રેજીમાં મળી શકે છે. આપણી કૉલેજોમાં આ સાહિત્યનો અભ્યાસ થાય છે, પણ ત્યાંના અધ્યાપકો જૈન દૃષ્ટિથી અપરિચિત

હોય છે, અથવા તો તેમને એ સુલભ હોતી નથી. આપણા જે અભ્યાસીઓ આવા સંપાદનકાર્યમાં પડેલા છે તેમને પશ્ચિમની વિદ્યાઓનો સંસર્ગ હોતો નથી. ઘણે ભાગે આ લેખકો સાધુઓ હોય છે. કોઈ કોઈ શ્રાવકો તેમાં જોવામાં આવે છે. તેમનો મોટો ભાગ પશ્ચિમની વિદ્યાથી અ-પરિચિત હોય છે. તેમને પશ્ચિમની વિવેચનકળાનું યોગ્ય જ્ઞાન પણ હોતું નથી. પરિણામે એમનાં અમૂલ્ય પણ જૂની ઢબમાં થયેલાં પ્રકાશનોનું ઉપયોગિત્વ સંકુચિત થઈ જાય છે અને જૈન દૃષ્ટિનો જે પરિચય બહારની દુનિયાને થવો જોઈએ તે થઈ શકતો નથી.

જૈન સાહિત્યના સંપાદનમાં આ ન્યૂનતા મને ગંભીર રીતે જણાય છે. એ સંપાદનોમાં સામયિક પૂર્વપીઠિકા, ઐતિહાસિક અન્વેષણ, અવલોકનની તીક્ષ્ણતા વગેરે ગુણો પશ્ચિમની દૃષ્ટિએ ઓછા જોવામાં આવે છે. ઇંગ્રેજીમાં પ્રસ્તાવના લખાયેલી હોય તો ભાષાનો કોઈ ધડો હોતો નથી, અને એમાં વાસ્તવિક ઇતિહાસદર્શન જોવામાં આવતું નથી. સ્વભાષા પણ એવી જ લૂલી હોય છે. સાહિત્યનાં પ્રકાશનનું સંપાદન તો ઘણે ભાગે ભારતવર્ષની પુરાણી પ્રણાલિકા પ્રમાણે કરવામાં આવેલું હોય છે. જીવનચરિત લખેલું હોય તો જીવનચરિત શું હોવું જોઇએ તેનો કોઈ ખ્યાલ હોતો નથી — ઇંગ્રેજીમાં જેને characterisation — નિરૂપણ કહેવામાં આવે છે તે જોવાતું જ નથી. અવતરણો ખીચોખીચ હોય, પણ તેમનો ગૂઢ અર્થ સ્પષ્ટ થઈ શકતો નથી.

એક દૃષ્ટાંત આપું. વસ્તુપાળે ખંભાત બંદરનો કબજો સઈદ પાસેથી લીધો તે આપણે કેટલીવાર વાંચતા હઇશું! મને હરહંમેશ લાગ્યું છે કે લેખકને તેનો ગૂઢ અર્થ સમજાયો હોતો નથી, કારણ કે લેખક કે સંપાદક જૂની ઘરેડમાં લખ્યે જાય છે અને તેને ઇતિહાસનું શુદ્ધ દર્શન હોતું નથી, એટલે તે ઊંડો ઊતરી શકતો નથી. હું તે ગૂઢ અર્થને મારી અલ્પ મતિ અનુસાર અહીં સ્પષ્ટ કરીશ, જેથી વાચકને મારી દૃષ્ટિનો ખ્યાલ આવી શકે.

ખરી વસ્તુસ્થિતિ આ પ્રમાણે છે. જેમ સોળમી સદીથી ઓગણીસમી સદી સુધી આપણે ત્યાં યુરોપના વેપારીઓ સશસ્ત્ર કોઠીઓ નાખી વેપાર કરતા હતા તેમ અરબ લોકો ખંભાત, સોમનાથ-પાટણ વગેરે સ્થળોએ સશસ્ત્ર કોઠીઓ જમાવી આપણી સાથે વેપાર કરતા હતા. સમકાલીન સાહિત્યમાં ખંભાત બંદરના સઈદ કુલનો ક્ષય કરનાર વસ્તુપાળની પ્રશંસા થયેલી છે ત્યારે કુળનો અર્થ આપણે આ પ્રમાણે સમજવો જોઇએ. એ સાહિત્યમાં કહેવામાં આવ્યું છે કે સઈદનો મહાલય વારણો – હાથીઓથી રક્ષાયેલો હતો. તેનો અર્થ એવો કરવો જોઇએ કે એ વારણસેના હતી, હસ્તિવૃન્દ સશસ્ત્ર હતું, અને જેમ ગોરા અને હિન્દી સિપાહીઓ મદ્રાસ, હુગલી, પૉંદેચેરી, સૂરત, દીવ, વસઈ, માહે વગેરે સ્થળોએ પરદેશી વેપારીઓનો બચાવ કરતા હતા તેમ ખંભાતનો અરબ-વસવાટ પણ એવો જ સુરક્ષિત હતો; ઉપરાંત જેમ દૂપ્લેએ હિન્દીઓને પશ્ચિમી વિદ્યાની તાલીમ આપી નવીન સિપાહીઓ બનાવ્યા તેમ અરબ વેપારીઓએ આપણી યુદ્ધકલાને ઝડપી લઈ આપણા જ હાથીઓને શસ્ત્રસજ્જ કરી આપણી જ સામે ખડા કર્યા હતા. એ કારણથી વસ્તુપાલે આ પરદેશી સશસ્ત્ર વેપારી વસાહતનો ધ્વંસ કર્યો—જેમ શાહજહાંએ પોર્ચુગીઝોના વેપારી થાણા હુગલીનો ધ્વંસ કર્યો હતો, ચીમાજી અપ્પાએ વસઈને ઉડાડી દીધું હતું, સિરાઝ-ઉદ્-દૌલાએ કલકત્તાને લીધું હતું, તેમ.

બીજું દૃષ્ટાંત આપું. હીરવિજયસૂરિએ અકબર મારફત અમારિઘોષણા ચલાવી, એનો અર્થ એવો ન થાય કે હીરવિજયસૂરીને અકબરને જૈનધર્મી કરવો હતો, કે અહિંસાવાદી કરવો હતો. એક સ્થળે એવું લખવામાં આવ્યું છે કે જજિયાવેરો અકબરે માફ કર્યો તેમાં હીરવિજયસૂરીનો હાથ હતો, પણ ઐતિહાસિક ઘટનાએ એ વાસ્તવિક નથી, કારણ કે જજિયાવેરાની માફી અકબરે હીરવિજયસૂરીનો

પરિચય થયો તે પહેલાં વર્ષો થયાં આપી દીધી હતી. જૈન સાધુઓના આવા પ્રયાસોમાં એક હેતુ હતો, તે એ કે મુસ્લિમ અને હિન્દુ રાજ્યકર્તાઓના અમલમાં જે હિંસક અને Irrational વહીવટનાં સૂત્રો ઘૂસી ગયાં હતાં તેમને દૂર કરવાનો હેતુ હતો, જેમ રોમના મહારાજ્યના સમયમાં રોમના પાટનગરમાં અને અન્ય સ્થળોએ Gladiators એટલે હિંસક પ્રાણીઓની સાથે માણસજાતને દ્વંદ્વયુદ્ધ કરવાની ફરજ પાડવામાં આવતી અને અગડ—Arena—માં દાખલ થઈ જીવને ભોગે અનેક ખ્રિસ્તી સાધુઓએ તે પાશવ પરંપરાને અટકાવી હતી તેમ.

સાહિત્યના સંપાદનક્ષેત્રમાં પણ આ દલીલ લાગુ પાડી શકાય. ડૉ. બુલચંદે મહાવીરના જીવનચરિત્રને લખવામાં નવીન ભાત પાડી છે તેમ હવે આ ક્ષેત્રમાં નવીન ભાત પાડવાની જરૂર છે. જૈન દર્શનના એક ઇંગ્રેજી ગ્રન્થમાં આવી જ નવીન ભાત મેં જોઈ છે. સાહિત્યના વિચારપરત્વે એક દશ્યને રજૂ કરું. રામ સીતાને વનવાસમાં મોકલે છે તે અગાઉ ઋષિ લોકો અને પ્રધાનમંડળ ઋષ્યશૃંગને આશ્રમે શરૂ થયેલા યજ્ઞમાં હાજરી આપવા ગયા છે ત્યાંથી તેઓ રાજ્યધર્મમાં હમણાં જ દીક્ષિત થયેલા રામને સન્દેશ મોકલે છે કે જમાઈના યજ્ઞમાં હવે અમે રોકાઈ ગયા છીએ, તું બાળ છું, રાજ્ય નવું છે, તો પ્રજાને અનુરંજતો રહેજે, કારણ કે તેથી મળતો યશ એ જ ખરું ધન છે … जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धाः। त्वं बाल एवासि नवं च राज्यं॥ युक्तः प्रजानामनुरंजने स्याः। तस्माद्यशस्तत् परमं धनं वः॥ આમાં બાળનો અર્થ અનુભવહીન એવો થવો જોઈએ, કારણ કે આ સમયે રામનું વય ૩૫–૪૦ વર્ષનું તો હોવું જોઈએ. રામ વયમાં પુખ્ત હતા, પણ રાજ્યના અનુભવની અપેક્ષાએ બાળક જ હતા, એટલે વસિષ્ઠ આદિ મોટેરાંઓએ તેને યોગ્ય સલાહ આપેલી કે ધ્યાન રાખજે, ઉતાવળો ન થતો. રામ લોક-અપવાદનો આશ્રય લઈ સીતાને લક્ષ્મણ સાથે વનવાસે કાઢે છે, ત્યારે પણ કવિને એનું બાળત્વ યાદીમાં જ છે, કારણ કે બારબાર વર્ષ થઈ ગયાં, પણ રામ હજુ જીવે છે, જ્યારે સીતાનું નામ સરખું રહ્યું છે – देव्याः शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः। प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति॥ રામને આ શલ્ય જિંદગીભર સાલતું હતું. વિધિ પ્રમાણે રાજ્ય કરવું, અને પ્રિય સીતાનો વિયોગ સહન કરવો—કેવું દુષ્કર કામ છે! (इदं राज्यं पाल्यं विधिवत् (constitutionally) अभियुक्तेन मनसा) "ઉત્તરરામચરિત"માં રામના પાત્રની માનવભૂમિકા સરજીને ભવભૂતિએ પતિધર્મ, રાજ્યધર્મ, અનુભવહીનતા અને વેદનાશીલ રામસ્વભાવ – એનું અનેરું ચિત્ર રજૂ કરી આપણને કરુણ રસની પરાકાષ્ઠા બતાવી છે, સાહિત્યના સંપાદનમાં આવી દૃષ્ટિ આવવી જોઇએ.

આપણાં સંપાદનો યોગ્ય દૃષ્ટિ કેળવી શકે તે માટે શું થવું જોઇએ એ બીજો પ્રશ્ન છે. એટલું તો ખરું છે કે આપણા સંપાદકો વિદ્વાનો છે, તેમનો ભારતવર્ષીય સંસ્કારિત્વનો અભ્યાસ ખરેખર તુલનાત્મક છે; જે ન્યૂનતા છે તે પરંપરાગત શૈલીથી અભ્યાસ કરવાથી નિપજતી ન્યૂનતા છે. અત્યારે જૈન સાધુઓ પંડિતો પાસે ભણે છે, એ પંડિતોની ગીર્વાણ ભાષાની વાગ્ધારા ખરેખર અદ્ભુત જોવામાં આવી છે; વ્યવસ્થા ખરેખર ઉત્તમ છે; પણ હવે સમય આવ્યો છે, જ્યારે એવી વ્યવસ્થા કરવાની જરૂર છે, જેથી આપણો સાધુવર્ગ અને અપેક્ષિત શ્રાવકવર્ગ પશ્ચિમની વિદ્યાથી પણ વિભૂષિત હોય. ફિલસૂફીના વિવેચનમાં તેમણે ગ્રીક અને યુરોપીય તત્ત્વવિવેચકોનો પરિચય બતાવવો જોઇએ, તેમણે તે માટે ફિલસૂફી અને ન્યાયનો ઇતિહાસ જાણવો જોઇએ. હું એથી પણ આગળ જાઉં અને દલીલ કરું કે—તેમણે સમાજશાસ્ત્ર, રાજ્યશાસ્ત્ર અને અર્થશાસ્ત્ર, એનાં સામાન્ય સૂત્રો પણ જાણવાં જોઇએ, જેથી તેઓ વિવેચનમાં ગંભીર ભૂલો ન કરે, અને દરેક વિચારને ઇતિહાસના યોગ્ય ચોકઠામાં ગોઠવી શકે.

એમને સાયન્સનો પરિચય પણ હોવો જોઇએ, કોઈ વિધાન જૈન વિધાનોને પ્રતિકૂળ હોય એનો વાંધો હોવો જોઇએ નહિ. Jeans નો ખગોળનો ગ્રંથ વાચીયે તો, ઊલટું, જૈનોના અનાદિ–અનંતકાળની ભાવનાનો વિચાર દૃઢ થવાનો.

આ જ વિચાર જૈન સ્થાપત્ય, શિલ્પ, ચિત્રકળાના અભ્યાસને લાગુ પડી શકે છે. આપણે અનેકવાર કહેતા ફરીએ છીએ કે મુસ્લિમ સ્થાપત્ય, શિલ્પ અને ચિત્રકળા ઉપર જૈન છાયા જોવામાં આવે છે, પણ જો વધારે સ્ફુટ કરવાનું તે જ વિવેચકને કહેવામાં આવશે તો તે ગોથાં ખાશે, કારણ કે આ વિવેચકો ભાગ્યે જ કોઈ મસ્જિદમાં ગયા હશે, કે મુસ્લિમ શિલ્પ, સ્થાપત્ય, ચિત્રકળા તેમણે સૂક્ષ્મ રીતે જોયાં હશે!! કેટલાક લેખકો તો બધે અજંતાની છાયા જ જોતા આવ્યા છે!! આ વિષયમાં જો એકદમ વિશદ દૃષ્ટિ આપણામાં આવી હોત તો જૈન પ્રતિમાઓના ઓષ્ઠ વગેરેને લાલ રંગ લગાડવામાં આવે છે તે હોત નહિ!!

Literary criticism –– સાહિત્યના વિમર્શને તો આ વિચાર ખાસ લાગુ પડશે. આપણે આ વિમર્શ ઘણે ભાગે આપણી જૂની પ્રણાલિકાથી કરીએ છીએ. આપણા આ જૂનવાણીથી ભરેલા સંપાદકો જાણતા નથી કે સાહિત્ય, કળા વગેરેનો વિમર્શ યુરોપમાં જે દૃષ્ટિથી થયો છે તે દૃષ્ટિ વ્યાપક અને મૌલિક દૃષ્ટિ છે અને તે દૃષ્ટિને આપણે ત્યાં ખાસ કેળવવાની જરૂર છે.

આપણું ઇતિહાસનું પરિશીલન તો આ દૃષ્ટિએ અનેક ભૂલોથી ભરેલું છે. એ કળા આપણે કેળવી જ નથી.

ચાલુ વસ્તુસ્થિતિમાં ફેરફાર થાય તે માટે આપણા આગેવાનોએ, ખાસ કરીને શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જેવી સંસ્થાઓના સંચાલકોએ સાધુઓના અને વિદ્યાર્થીઓના અભ્યાસવિધિમાં ક્રાંતિ લાવવી પડશે અને તે માટે તેમણે વાચનાલયોની અને ગ્રન્થાલયોની વ્યવસ્થામાં નવું ચેતન લાવવું પડશે. હું તો એટલે સુધી દલીલ કરી શકું કે આપણો સાધુવર્ગ થોડા સમય માટે કૉલેજોમાં શિષ્ટ પ્રાધ્યાપકોના વર્ગોમાં હાજરી આપે, અને પરીક્ષામાં ઉત્તીર્ણ થઈ યોગ્યતા પ્રાપ્ત કરે!! અલબત્ત, તે માટે સંઘે વ્યવસ્થા કરવી પડશે. આપણા ખ્રિસ્તી પાદરી–ભાઇઓને મેં કૉલેજોમાં અભ્યાસ કરતા જોયા છે. તેઓ અનેક સ્થળે Theology ની અભ્યાસસંસ્થાઓ ચલાવે છે. આપણે એવું કેમ ન કરીએ!!

બ્રિટિશ અમલ અગાઉ જૈન સાધુઓએ ભારતવર્ષપૂરતો તુલનાત્મક અભ્યાસ કરેલો; વિશેષ અભ્યાસ તે સમયે આવશ્યક નહોતો. મુસ્લિમ યુગમાં કોઈ કોઈ એ ફારસી અભ્યાસ કરેલો; જિનપ્રભસૂરી, ભાનુચન્દ્ર ઉપાધ્યાય, સિદ્ધિચન્દ્ર વગેરે એ અભ્યાસના નિષ્ણાત હતા. શ્રાવક વર્ગ તો એ નવી પ્રણાલિકાને અપનાવતો જાય છે; સાધુ વર્ગ હજુ પશ્ચાત છે. ઇચ્છીએ કે શિક્ષિત સાધુસમુદાય અને શિક્ષિત શ્રાવકસમુદાય યુરોપની પ્રણાલિકાને ગ્રહણ કરે અને જૈન સંસ્કારિત્વને તેથી નવો ઓપ આપે. જ્યારે એ સિદ્ધ થશે ત્યારે આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીનો પ્રયાસ પરિપૂર્ણતાના ગુણને વરશે અને ત્યારે જ આચાર્યપદની ભૂમિકા નવીન સફળતા પ્રાપ્ત કરશે.

ભાષાના વિકાસમાં પ્રાકૃત-પાલિભાષાનો ફાળો

પંડિત બેચરદાસ

માનવકુલમાં પરસ્પર કૌટુંબિક સંબંધ જે રીતે તુલનાત્મક પરીક્ષણ દ્વારા અનુભવાય છે તે જ રીતે ભાષાકુલમાં પણ એવો જ સંબંધ સ્પષ્ટપણે છે એમ હવે સિદ્ધ થઈ ગયું છે.

ધારો કે આપણી સામે જુદાં જુદાં દેખાતાં પાંચસાત કુટુંબનાં ભાઈબહેનો બેઠેલાં છે, તેમની એકબીજાની વપરાશની ભાષા જુદી જુદી છે, તેમનો પોશાક, ખાનપાન અને બીજી પણ રહેણીકરણી નોખી નોખી છે. આ ઉપલક દેખાતા ભેદભાવ દ્વારા આપણે એમ સમજી લઈએ કે એ કુટુંબો વચ્ચે પરસ્પર કોઈ પ્રકારનો સંબંધ નથી જ તો એ ખરેખર ભૂલભરેલું ગણાય. કોઈ તુલનાત્મક દૃષ્ટિ ધરાવનારો ખંતીલો અભ્યાસી એ તદ્દન જુદાં જુદાં જ દેખાતાં કુટુંબોમાં ય તેમનામાં રહેલી એક મૌલિક સમાનતા શોધી બતાવે અને તે મૌલિક સમાનતાના પુરાવા તરીકે આપણી સામે તે કુટુંબોમાં વર્તતી કેટલીક તેમની એકસરખી મૂલ ખાસિયતો એક પછી એક વીણીવીણીને તારવી બતાવે ત્યારે માત્ર ઉપલક ભેદને લીધે અત્યાર સુધી એ કુટુંબોને જુદાં જુદાં માનનારા આપણે પણ તેમને એક માનવા લાગીશું.

આવો જ ન્યાય ભાષાકુળને પણ બરાબર લાગુ પડે છે. જે ભાષાઓનો મૂળ પ્રવાહ જ તદ્દન જુદો છે તેમના સંબંધમાં ભલે આ ન્યાય ન લાગુ થાય; પરંતુ જેમનો પ્રવાહ મૂળમાં એકસરખો છે તેમને વિશે તો જરૂર ઉપરનું ધોરણ બંધ બેસે એવું છે. ઉપરઉપરથી જોતાં ભલે તે ભાષાકુટુંબો તદ્દન જુદાં જુદાં પરસ્પર એકબીજા વચ્ચે સંબંધ વિનાનાં માલૂમ પડતાં હોય તેમ છતાં ય જ્યારે તે ભાષાકુટુંબોની અંદર રહેલી એક મૌલિક સમાનતાને આપણે જાણી શકીએ અને તેના પુરાવા તરીકે આપણી સામે તે નોખા નોખા દેખાતા ભાષાકુલોમાં વર્તતી કેટલીક તેમની એકસરખી મૂલભૂત અનેકાનેક ખાસિયતોને આપણે સ્પષ્ટપણે તેમના તુલનાત્મક પરીક્ષણ દ્વારા પૂરેપૂરી ખાતરીથી અનુભવી શકીએ ત્યારે એ ભાષાકુલો વિશેનો આપણે કલ્પેલો ઉપલકિયા ભેદનો ભ્રમ ભાંગે જ ભાંગે.

પ્રસ્તુતમાં પ્રાકૃતપાલિભાષા વિશે કહેતી વખતે આપણે તેમના મૂળ સુધી પહોંચી જઈએ તો જ એ હકીકત સ્પષ્ટપણે આપણા ધ્યાનમાં તત્કાળ ઊતરી જશે કે એ ભાષાએ ચાલુ લોકભાષાઓના વિકાસમાં કેવો અને કેટલો ભારે ફાળો આપેલો છે.

આજથી હજારો વરસ પહેલાં મૂળ એક આર્યભાષા હતી. પરિસ્થિતિનાં જુદાં જુદાં બળોને લીધે તેની બીજી અનેક પેટાભાષાઓ બની ગઈ. જેમકે; હીટાઇટ ભાષા, ટોખારિયન ભાષા, સંસ્કૃત ભાષા, પુરાણી ફારસી ભાષા, ગ્રીક ભાષા, લેટિન ભાષા, આઇરિશ ભાષા, ગોથિક ભાષા, લિથુઆનિઅન ભાષા, પુરાણી સ્લાવ ભાષા અને આર્મેનિઅન ભાષા.

ભાષાનાં આ નામો સાંભળતાં કોઇને પણ એમ લાગવાનો સંભવ નથી કે આ બધી ભાષાઓ એકમૂલક વા અભિન્નપ્રવાહવાળી છે; તેમ છતાં ય તેમના તુલનાત્મક પરીક્ષણ દ્વારા એમ ચોક્કસ માલૂમ પડેલ છે કે ભલે તે ભાષાઓનાં નામો જુદાં જુદાં હોય અને બીજી પણ તેમાં ઉપલક જુદાઈ ભલે દેખાતી હોય; પરંતુ તેમનામાં એટલે તે બધી ભાષાઓમાં મૂળભૂત એવી એકસરખી અનેક ખાસિયતો હોવાનાં ઘણાં ઘણાં એંધાણો મળી આવેલાં છે એટલે તેમને એકમૂલક માન્યા વિના કોઈનો પણ છૂટકો નથી.

એમનામાં જે એકસરખી અનેક ખાસિયતો છે તે બધી વિશે તો કહેવાનું આ સ્થાન નથી; છતાં તેમની પારસ્પરિક એકમૂલકતાનો સ્પષ્ટ ખ્યાલ આવે તે સારુ તેમના કેટલાક શબ્દો આ નીચે નોંધી બતાવું છું :

સંસ્કૃત	પતિઃ	ગ્રીક	પોતિસ્	લેટિન	પોતિસ	લિથુઆનીઅન	પતઇસ
”	અપિ	”	એપિ				
”	પિબામિ			”	બિબો		
”	ભરામિ	”	ફેરો	”	ફેરો	આર્મેનિયન	બેરેમ
”	ત્રયઃ	”	ત્રેસ્	”	ત્રેસ		
”	દમઃ	”	દોમોસ્	”	દોમુસ્	સ્લાવ	દોમુ
”	પાદમ્	”	પોદ	”	પેદેમ્		
”	ધૂમઃ	”	થુમોસ્	”	ફુમુસ્	સ્લાવ	ધમુ
”	રુધિર	”	એ-રુથ્રોસ્	”	રુબેર		

(સંસ્કૃત સિવાયની બીજી બીજી ભાષાઓના જે એકસરખા શબ્દો ઉપર દર્શાવ્યા છે તેમને હું શુદ્ધ રીતે અહીં આપણી ગુજરાતી લિપિમાં ઉતારી શક્યો નથી એથી અહીં બતાવેલા શબ્દો દ્વારા તેમનાં શુદ્ધ ઉચ્ચારણો કરી શકાય એમ નથી.)

તે તે ભાષાનાં નામો પ્રજા ઉપરથી કે દેશ ઉપરથી પ્રચલિત થયેલાં છે. ઉત્તરમાં વસનારાઓની ભાષાનું નામ ઉદીચ્ય ભાષા, પૂર્વમાં વસનારાઓની ભાષાનું નામ પ્રાચ્ય ભાષા, મધ્યપ્રદેશમાં વસનારાઓની ભાષાનું નામ મધ્યદેશીય ભાષા. એ જ રીતે મગધ દેશની માગધી ભાષા, શૂરસેન દેશની શૌરસેની ભાષા, પિશાચ દેશની પૈશાચી ભાષા, અવંતી દેશની ભાષા અવંતિજા, સુરાષ્ટ્રની સૌરાષ્ટ્રી, મહારાષ્ટ્રની મહારાષ્ટ્રી, વિદર્ભની વૈદર્ભી, ગ્રેઈક નામની પ્રજાની ટોળીની ગ્રીક ભાષા, લેટિનમ નામના કસ્બાની લેટિન ભાષા, આર્યોની ઈરાની ભાષા, લોકોમાં પ્રચલિત ભાષાનું નામ લૌકિક ભાષા.

આ રીતે ભાષાના નામકરણની ઘણી પ્રાચીન પ્રથા છે, આમાં કયાંય સંસ્કૃત ભાષા, પ્રાકૃત ભાષા કે અપભ્રંશ વા અપભ્રષ્ટ ભાષા આવાં નામ મળતાં નથી. મહાભાષ્યકાર જેવા કટ્ટર સનાતની પુરોહિતે પણ સંસ્કૃત નામે ભાષાનો ઉલ્લેખ કરેલો નથી. ત્યારે અહીં એ પ્રશ્ન થવો સ્વાભાવિક છે કે એ નામો આવ્યાં શી રીતે ? એ નામોનો ઉદ્‌ભાવક કોણ ? આનો ઉત્તર અતિસંક્ષેપમાં આમ આપી શકાય :

થોડા સમય પહેલાં આપણા દેશમાં રાજશાહી હતી, તેનો અને તેની અતિસંકુચિત પ્રકૃતિનો આપણને અનુભવ છે. જે લોકો માત્ર પોતાની જ જાતને નરી સુખી સુખી જોવા વા કરવા ચાહે છે તેમને પોતાના ભાઈઓ તરફ પણ જુલમગારની પેઠે વર્તવું પડે છે, માટે જ તે સુખાર્થીઓની પ્રકૃતિ અતિ સંકુચિત બની જાય છે. એવી રાજશાહી જેવી જ આશરે બેત્રણ હજાર વરસ પહેલાં આપણા દેશમાં પુરોહિતશાહી ચાલતી હતી. માણસ માત્ર સમાન હક્કના અધિકારી છે એ નિયમને નહીં સ્વીકારી તેણે પોતાની જાતને સૌથી ઉત્તમ કલ્પી અને બીજી તમામ જનતાને પુરોહિતોમાત્રથી ઊતરતી ગણી, આ સાથે તે પુરોહિતશાહીએ જ પોતાની ભાષાને પણ ઉત્તમ કોટિની માની અને બીજી આમજનતાની ભાષાને અનુત્તમ કોટિની કહી અર્થાત્ તે પ્રાચીન પુરોહિતવિપ્રોએ પોતાની ભાષાને સંસ્કૃત એવું નામ આપ્યું અને જનતાની ભાષાને પ્રાકૃત અથવા અપભ્રષ્ટ કે અપભ્રંશ નામ આપ્યું. એવો આ સંસ્કૃત પ્રાકૃત વા અપભ્રંશ નામોની પાછળ વર્તમાનમાં તો ધૃણા આવે એવો ઇતિહાસ છુપાએલ છે.

ભારત અને બેબિલોનિયા વચ્ચે ઘણું મોટું અંતર છે; છતાં જ્યારે આર્યો ત્યાં, ફરતાં ફરતાં પહોંચેલા ત્યારે ત્યાંનાં આજથી આશરે ત્રણેક હજાર વરસ પહેલાનાં સંધિપત્રમાં ત્યાંના આર્યેતર રાજકર્તાએ પોતાના ઇષ્ટદેવનાં જે નામો લખેલાં હતાં તે જ નામો આપણા આર્યોનાં પણ ઇષ્ટદેવનાં બની ગયાં.

બેબિલોન સંધિપત્રમાં	વેદમાં
ઇન્–દ–ર	ઇન્દ્ર
મિ–ઇત્–ત–ર	મિત્ર
અ–રુ–ન અથવા ઉ–રુ–વ–ન	વરુણ
ન–અ–સત્–તિ–ય	નાસત્ય

નાસત્ય શબ્દ વેદમાં યુગલરૂપ અશ્વિનો માટે વપરાયેલ છે. બેબિલોનિયા માટે ઋગ્વેદમાં મંડળ ૧ સૂક્ત ૧૩૪ મંત્ર ૧–૭ માં બેલસ્થાન શબ્દ આપેલ છે અને બિબ્લિક પ્રજા માટે વેદમાં બિબ્લગ્ય શબ્દ વપરાયેલ છે.

આર્ય પ્રજા ઓસ્ટ્રિક પ્રજાઓ સાથે, દ્રવિડ પ્રજાઓ સાથે અને તિબેટીચીની પ્રજાઓ સાથે સંબંધમાં આવી ત્યારે તે તે પ્રજાની ભાષાના પણ હજારો શબ્દો આર્ય ભાષામાં આર્ય રીતે મળી ગયેલા શોધી કઢાયા છે. તેમાંના ઘણા જ થોડા આ છે :

આર્ય ભાષામાં ભળી ગયેલા આર્યેતર શબ્દો :

તિતઉ	એટલે	ચાલણી
રાકા	”	પૂનમ
સિનિવાલી	”	ચંદ્રની કળા જણાતી હોય એવી અમાસ
નેમ	”	અડધું
પિક	”	કોયલ
કિતવ	”	જુગારી અથવા ધૂર્ત
અટવી	”	અટવી–જંગલ
કુલાલ	”	કુંભાર
તંડુલ	”	તાંદુલ–ચોખા
તિલ	”	તલ

કેટલાક ઓસ્ટ્રિક શબ્દો :

ઓસ્ટ્રિક ઉચ્ચારણ		આર્ય ઉચ્ચારણ
પોનહ્	એટલે	બાણ
કૌપેહ	”	કર્પાસ–કપાસ
કેલુઈ	”	કદલી–કેળ
માતંગ [1]	”	માતંગ–હાથી
નિયોરકોલઈ	”	નારિકેલ–નાળિયેર
વાહતિઆંગ	”	વાતિંગણ–વાઇંગણ–વેંગણ

ચીનાઈ તિબેટી ઉચ્ચારણ		આર્ય ઉચ્ચારણ
છૂ	એટલે	ઇક્ષુ–ઇખ–શેરડી
ખોંગ [2]	”	ગંગા

જેમ કોઈપણ ચાલુ વહેતી નદીમાં બીજા બીજા પ્રવાહો ભળી તદ્રૂપ બની જાય છે તેમ જ આપણી જીવતી અને જનતામાં ફેલાયેલી આર્ય ભાષામાં ય આવા હજારો આર્યેતર શબ્દો ભળી જઈ આર્યરૂપ બની જાય એ કોઈપણ જીવતી ભાષા માટે તદ્દન સ્વાભાવિક છે. વેદોમાં, બ્રાહ્મણગ્રંથોમાં અને ત્યારપછીના મહાભારતથી માંડીને અત્યાર સુધીનાં સંસ્કૃત સાહિત્યમાં એવા આર્યેતર શબ્દોને આર્યરૂપે બનાવી વગર સંકોચે તે તે ઋષિઓએ અને કાવ્યકાર પંડિતોએ ખપમાં લીધેલા છે એટલું જ નહીં, પણ આપણા

---

[1] ૧. ઓસ્ટ્રિકમાં માતંગનો અર્થ ‘મોટો હાથ’ થાય છે.

[2] ૨. ચીનાઈ તિબેટીમાં ખોંગનો અર્થ ‘નદી’ થાય છે.

આર્યપ્રવાહમાં એવાં કેટલાં ય આર્યેતર કર્મકાંડો, પ્રણાલિકાઓ અને પરંપરાઓ આર્યરૂપ પામી આજલગી ચાલતાં આવેલાં છે, એની પણ કોઈ વિચારક સંશોધક ના નહીં પાડી શકે.

આપણામાં આર્યેતર લોહી આર્યરૂપ પામી ભળેલું છે એ હકીકત કાંઈ આજના શોધકોએ જ શોધી કાઢેલ છે એમ નથી, પરંતુ આપણા મહર્ષિ મીમાંસાશાસ્ત્રકાર શબર અને મહાપંડિત કુમારિલભટ્ટ પણ એ હકીકતને સ્પષ્ટપણે જાણતા હતા, તેથી એ બાબત તેમણે પોતાના શાબર ભાષ્યમાં તથા તન્ત્રવાર્તિકમાં નોંધ આપેલી છે અને ત્યાં ખાસ ભલામણ પણ કરેલી છે કે જે આર્યો એ ભાષાના એટલે આર્ય ભાષા અને આર્યેતર ભાષાના જાણકાર હશે તેઓ વેદોની પરંપરાને અને વેદોના ભાવને ઠીક ઠીક સમજી શકશે.

આ રીતે સમગ્ર માનવમૈત્રીના ધ્યેયને વરેલી આર્ય પ્રજા અને તેની આર્ય ભાષા પોતાના વિકાસમાં આગેકૂચ કરી રહી હતી. ભ્રમણમાં આગળ ને આગળ વધતી આર્યોની ટોળીઓ જ્યારે ભારત-ઈરાની આર્ય ભાષાના સહવાસમાં આવી ત્યારે એ બન્ને ભાષાઓએ વળી એકબીજાની છાપ પરસ્પર બરાબર લગાડી દીધી, તે હકીકત પણ આજે વર્તમાન જે અવેસ્તા સાહિત્ય છે તે દ્વારા સ્પષ્ટ જણાઈ આવે છે. આ નીચે એવાં કેટલાંક નામો, વિભક્તિવાળાં નામો અને ક્રિયાપદો એ બન્ને ભાષાનાં આપ્યાં છે જેથી એ બન્ને ભાષાઓનો અત્યંત નિકટનો સંબંધ સહજ રીતે ખ્યાલમાં આવી જશે.

ભારત-ઈરાની આર્ય ભાષા		ભારતીય આર્ય ભાષા
સ્રએશ્ત	એટલે	શ્રેષ્ઠ
વોહુ	”	વસુ-પવિત્ર
હૂખ્ત	”	સૂક્ત
બૂમી	”	ભૂમિ
હથ્રા	”	સત્રા એટલે સાથે
અહુર	”	અસુર

વિભક્તિવાળાં નામો

થ્વા	એટલે	ત્વામ્-તને
અહ્યા	”	અસ્ય-એનું
વચેબીશ્ચા	”	વચોભિશ્ચ-વચનો વડે
ઉબોઈબ્યા	”	ઉભયેભ્યઃ-યુગલ માટે
હ્વો	”	સ્વઃ-પોતે
અઝેમ્	”	અહમ્-હું
વએમ્	”	વયમ્-અમે
અહ્મા	”	અસ્માન્-અમોને.
મત્	”	મત્-મારાથી

વિભક્તિવાળાં ક્રિયાપદો

નેમખ્યામહી	એટલે	નમિષ્યામહે-નમીએ છીએ
બરઈતી	”	ભરતિ-ભરે છે-પોષણ કરે છે
અહી	”	અસિ-તું છે
વએદા	”	વેદ-જાણ્યું

ઈ. સ. પૂર્વે બે હજાર વરસ કરતાં ય વિશેષ પ્રાચીન આપણી ભારતયુરોપીય આર્ય ભાષાનો નમૂનો એક સંસ્કૃત અર્વાચીન વાક્ય દ્વારા આ રીતે બતાવી શકાય :

હરિશ્ચન્દ્રસ્ય પિતા અશ્વસ્ય ઉપરિસ્થિતઃ ગચ્છન્ પઞ્ચ વૃકાન્ જઘાન. આ વાક્યનું બે હજાર વરસ કરતાં ય પહેલાંના સમયનું ઉચ્ચારણ આમ કલ્પી શકાય :

ઝરિકન્દ્રાસ્યા પઅતેસ્ અશ્વાસ્યા ઉપરિ સ્થઅતોસ્ ગમ્શ્રાન્ત્સ્ પઙ્કૅ બ્લૂકાન્સ્ ઘઘાન

એ જ રીતે ઋગ્વેદના પ્રથમ સૂક્તનું તથા ગાયત્રી મંત્રનું ભારત-ઈરાની આર્ય ભાષામાં જે જુદું ઉચ્ચારણ થાય છે તેને નીચે દર્શાવેલો નમૂનો આ પ્રમાણે બતાવે છે :

ઋગ્વેદ	ઈરાની આર્યભાષા
અગ્નિમ્ ઈડે પુરોહિતમ્	અગ્નિમ્ ઈઝદઈ પુરઝ્ધિતમ્
યજ્ઞસ્ય દેવમ્ ઋત્વિજમ્	યશ્નસ્ય દઈવમ્ ઋત્વિશમ્
હોતારમ્ રત્નધાતમમ્	ઝ્હઉતારમ્ રત્નધાતમમ્

ગાયત્રી મંત્ર	ઈરાની આર્યભાષા
તત્ સવિતુર્ વરેણ્યમ્	તત્ સવિતુઝ્ ઉવરઇનિઅમ્
ભર્ગો દેવસ્ય ધીમહિ	ભર્ગઝ્ દઈવસ્ય ધીમધિ
ધિયો યો નઃ પ્રચોદયાત્	ધિયઝ્ યઝ્ નસ્ પ્રચઉદયાત્

નવ્ય ભારતીય ભાષાઓના વિકાસમાં જે પ્રાકૃત ભાષાએ ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે તે પ્રાકૃત ભાષાનું સૌથી પ્રાચીનતમ રૂપ આદિમભારતયુરોપીય ભાષા પછી તેનું બીજું રૂપ ભારત-ઈરાની આર્ય ભાષા અને પછી તેની ત્રીજી ભૂમિકા તે ભારતીય આર્ય ભાષા અને આ પછી આવી પ્રાકૃતની પોતાની ભૂમિકા. આ પ્રાકૃતની ઉત્તર ભૂમિકાઓ તરીકે ત્યારપછીની મધ્ય યુગની વિવિધ પ્રાકૃતો, અપભ્રંશો અને બાદ વર્તમાન હિંદી, મરાઠી, બંગાળી, ગુજરાતી, સિંધી, પંજાબી, ઉડિયા વગેરે ભાષાઓ અને તેમની જુદી જુદી બોલીઓ.

હવે પ્રાકૃત ભાષાનાં પ્રાદુર્ભાવક બળોનો વિચાર કરી વર્તમાન ભારતીય નવ્ય ભાષાઓના વિકાસમાં તેના મહત્ત્વના ફાળા વિશે પણ જાણી લઈએ.

વેદોને વા બીજાં ધર્મશાસ્ત્રોને ભણવાભણાવવાનો અધિકાર એક માત્ર વિપ્રપુરોહિતવર્ગને જ હતો, આમજનતાને તેમના સંપર્કમાં આવતી અટકાવેલી હોવાથી આમજનતાનાં ઉચ્ચારણો પુરોહિતો જેવાં ન રહે એ સ્વાભાવિક છે. એક તો પુરોહિતો ભણેલા અને વળી તેમનો ઉચ્ચારણો કરવાનો વિશેષ મહાવરો હોવાથી તેઓ અભ્યાસ અને પાઠના બળે જડબાંતોડ ઉચ્ચારણો પણ કરી શકતા ત્યારે આમજનતાને એવો મહાવરો મુદ્દલ નહીં અને અભ્યાસ કે પાઠનો તો મોકો ન જ મળતો હોવાથી તેઓની પુરોહિતોનાં જેવાં ઉચ્ચારણો કરવાની ટેવ ન પડી તેમ ન ટકી એટલે આમજનતાનાં અને વિપ્ર–પુરોહિત-વર્ગનાં ઉચ્ચારણો વચ્ચે ફરક પડી ગયેલો. વિપ્રની ભાષામાં કહીએ તો તે પોતાનાં ઉચ્ચારણોને સંસ્કૃત માનતો અને આમજનતાનાં ઉચ્ચારણોને પ્રાકૃત સમજતો, આ ઉપરાંત વેદોનાં સૂક્તો ગ્રંથસ્થ થઈ ગયાં એટલે તેની ભાષા વહેતી નદીની જેવી મટીને નહીં વહેતા ખાબોચિયા જેવી થઈ ગઈ. આ પરિસ્થિતિને લીધે હવે તે બંધાઈ ગયેલી ભાષાનો વિકાસ થતો અટકી પડયો અને આમજનતાની વહેતી જીવતી ભાષા તો વિકસવા માંડી—બીજી રીતે કહીએ તો જ્યારથી વેદોની ભાષા બંધાઈ ગઈ, જકડાઈ ગઈ અને વહેતી અટકી પડી ત્યારથી પ્રાચીન સમયથી ચાલ્યાં આવતાં આમજનતાનાં પ્રાકૃતોને પ્રકાશમાં આવવાનો અને ઉત્તરોત્તર વિકાસ પામવાનો અવસર મળી ગયો.

એમ કહેવામાં આવે છે કે ઉદીચ્યોનાં ઉચ્ચારણો ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારનાં હતાં અર્થાત તેમનાં ઉચ્ચારણો વેદોની ભાષાને બરાબર મળતાં આવતાં ત્યારે પ્રાચ્યોનાં ઉચ્ચારણો વેદોની ભાષાને મુકાબલે ઊતરતાં હતાં અને મધ્ય પ્રદેશવાળાઓનાં ઉચ્ચારણો ન ઉત્તમ તેમ ન ઊતરતાં; પરંતુ મધ્યમસરનાં હતાં. ઉદીચ્ય પ્રજા એટલે વર્તમાન વાયવ્ય સરહદ અને પંજાબ પ્રાંતની વસતિ. પ્રાચ્યો એટલે વર્તમાન અવધ, પૂર્વ સંયુક્ત પ્રાંત અને ઘણે ભાગે બિહારની પ્રજા અને ગંગા-યમુનાના પ્રદેશમાં વસતા લોકો તે મધ્ય દેશીય પ્રજા.

આમ આ ત્રણે લોકસમૂહોની ભાષા આમજનતાની ભાષા રૂપે ઝપાટાબંધ વિકસવા માંડી, ફેલાવા માંડી અને ઉત્તરોત્તર ઉચ્ચારણોની દૃષ્ટિએ વિવિધ પરિવર્તનો પણ પામવા લાગી. બરાબર આ જ ટાંણે એ સમાજમાંથી કેટલાક આત્માર્થી પુરુષો આમજનતાના ભેરુરૂપે પ્રગટ થયા. તેઓમાં મુખ્ય નાયકરૂપે કપિલ, શ્રીકૃષ્ણ, મહાવીર અને બુદ્ધનું સ્થાન હતું. જે ટોળીના આગેવાન મહાવીર અને બુદ્ધ હતા તે ટોળીઓ વૈદિક કર્મકાંડરૂપ યજ્ઞાદિકને આધ્યાત્મિક શુદ્ધિનું સાધન ન માનતી અને તેથી તે, વિપ્રપુરોહિતોએ નિર્માણ કરેલી કોઈ ધાર્મિક યા સામાજિક વ્યવસ્થાને પણ વશવર્તી નહીં હતી. હિંસાપ્રધાન યજ્ઞાદિકને ધર્મરૂપે નહીં સ્વીકારનારી આ ટોળીઓ કેવળ શબ્દોનાં ઉચ્ચારણોને જ શ્રેયસ્કર નહીં સમજતી ત્યારે વિપ્રપુરોહિતો તો એમ કહ્યા જ કરતા કે એક પણ શબ્દનું શુદ્ધ ઉચ્ચારણ જ કલ્યાણકારી નિવડે છે. આ ટોળીઓને વિપ્રપુરોહિતોએ કેવળ ‘ વ્રાત્ય ’ નામ આપેલું. વ્રાત્ય એટલે બ્રાહ્મણોએ નિર્માણ કરેલી સંસ્કારાદિક પ્રવૃત્તિને નહીં સ્વીકારનારી પરંતુ ચિત્તશુદ્ધિ માટેના વ્રતનિયમોને આચરનારી પ્રજા. પુરોહિતો એ ટોળીઓને ઉત્તમ નહીં સમજતા. આ ટોળીઓના અગ્રણી પુરુષો વેદોની ભાષાનાં જડબાંતોડ ઉચ્ચારણોને પણ સ્પષ્ટ રીતે બોલી બતાવવા સમર્થ હતા છતાંય તેઓએ એ વૈદિક ઉચ્ચારણોને બદલે આમજનતામાં વ્યાપેલાં ઉચ્ચારણોને વિશેષ મહત્ત્વ આપ્યું. કેમકે તેમનો ઉદ્દેશ પોતાનું ધર્મચક્ર આમ જનતા સુધી પહોંચાડવાનો હતો અને એમ કરીને માનવતાના જેમના હકો છિનવાઈ ગયા હતા તેવી આમ જનતાને માનવતાના સર્વ હકો સુધી લઈ આવવાની હતી. આથી કરીને અત્યાર સુધી જે આમજનતાની ભાષાને પ્રકર્ષ નહીં મળેલો તે પ્રકર્ષ શ્રીમહાવીર અને શ્રીબુદ્ધ દ્વારા વધારેમાં વધારે મળ્યો અને આ સમય જ પ્રાકૃત ભાષાના અભ્યુદયનો હતો. આ સમયનું પ્રાકૃત તે જ પ્રાકૃત-ભાષાની પ્રથમ ભૂમિકા. મહાવીરે અને બુદ્ધે પોતાનાં તમામ પ્રવચનો સમગ્ર મગધ, બિહાર, બંગાળ વગેરે પ્રદેશોમાં ફરીફરીને લોક-ભાષામાં જ આપ્યાં. એ બન્ને સંતો આમજનતાના પ્રતિનિધિરૂપ હતા, આમજનતાના સુખદુ:ખમાં પૂરી સહાનુભૂતિ રાખનારા હતા અને તેઓએ આમજનતાની ભાષાને પ્રધાન-સ્થાને બેસાડી ઘણી મોટી પ્રતિષ્ઠા આપેલી છે. જો કે એ સમયની ગ્રંથસ્થ વૈદિક ભાષામાં ય આમજનતાની ભાષામાં જે પરિવર્તનો આવેલાં તેમનાં મૂળ પડેલાં હતાં છતાં તેમાં તે પરિવર્તનો બીજરૂપે અને પરિમિત માત્રામાં હતાં ત્યારે આમજનતાની ભાષાને વિશેષ પ્રતિષ્ઠા અને પ્રચારનાં સ્થાન મળવાથી તેમાં તે પરિવર્તનો ઝપાટાબંધ વધવા લાગ્યાં અને એ રીતે વિવિધ પરિવર્તનો પામતી આમજનતાની પ્રાકૃત ભાષા હવે દેશમાં ઝપાટાબંધ ફેલાવા લાગી. આમ પોતાની પૂર્વભૂમિકારૂપ આદ્ય ભાષાથી માંડીને આર્ય ઈરાની સહિત વૈદિક ભાષાનો સમગ્ર શબ્દવારસો ધરાવતી આમજનતાની આ પ્રાકૃત ભાષાએ જે જે પ્રકારનાં પરિવર્તનો સ્વીકાર્યાં અને એ જ પરિવર્તનો તેની મધ્ય યુગની પ્રાકૃતના વિકાસમાં, તથા વિવિધ અપભ્રંશોના વિકાસમાં અને છેક છેલ્લે ભારતીય નવ્ય ભાષા હિંદી, મરાઠી, ગુજરાતી, બંગાળી વગેરે ભાષાઓના વિકાસમાં મોટો મહત્ત્વનો ભાગ ભજવનારાં નિવડ્યાં અને નવી ભાષાઓની બોલીઓના—નોખી નોખી અનેક બોલીઓના—પણ ઉત્તરોત્તર વિકાસનાં કારણરૂપ બન્યાં તે તમામ પરિવર્તનો વિશે પણ થોડું વિચારીએ :

સંયુક્ત વ્યંજનો જ્યાં શબ્દની અંદર હતાં વા આદિમાં હતાં તેમાં જે ફેરફાર થયો તે આ પ્રમાણે છે:

હસ્ત ને બદલે હત્થ પછી હાથ
કર્ણ ને બદલે કણ્ણ પછી કાન
અક્ષિ ને બદલે અક્ખિ પછી આંખ અથવા અચ્છિ પછી આંછ
મક્ષિકા ને બદલે મક્ખિઆ પછી માખ અથવા મચ્છિઆ પછી માશ
ક્ષેત્ર ને બદલે ખેત્ત પછી ખેતર અથવા છેત્ત પછી શેતર
ક્ષીર ને બદલે ખીર પછી ખીર અથવા છીર પછી છીર
કુક્ષિ ને બદલે કુક્ખિ પછી કૂખ કે કોખ
ગવાક્ષ ને બદલે ગવક્ખ પછી ગોખ
પ્રસ્તર ને બદલે પત્થર પછી પથ્થર અથવા પાથર
પુષ્કર ને બદલે પુક્ખર પછી પોખર અથવા પુકુર
સત્ય ને બદલે સચ્ચ પછી સાચ કે સાચું
કાર્ય ને બદલે કજ્જ પછી કાજ–કારજ
વૃશ્ચિક ને બદલે વિંછિઅ પછી વીંછી અથવા વીંછૂ
અદ્યને બદલે અજ્જ પછી આજે
શય્યાને બદલે સેજ્જા પછી સેજ
મર્યાદા ને બદલે મજ્જાયા પછી માજા
ઉપાધ્યાય ને બદલે ઉવજ્ઝાય પછી ઓઝા
સંધ્યા ને બદલે સંઝા પછી સાંજ
વર્તી ને બદલે વટ્ટી પછી વાટ
ગર્ત ને બદલે ગડુ પછી ખાડો
નિમ્ન ને બદલે નિણ્ણ પછી નેનું–નાનું
સંજ્ઞા ને બદલે સંણ્ણા પછી સાન
સ્તમ્ભ ને બદલે થંભ પછી થાંભલો અથવા થંબા કે ખંભા
પર્યસ્તિકા ને બદલે પલ્લત્થિઆ પછી પલાંઠી
સ્ત્યાન ને બદલે થીણ પછી થીણું
મુષ્ટિ ને બદલે મુટ્ઠિ પછી મૂઠી
દૃષ્ટ ને બદલે દિટ્ઠ પછી દીઠો
કુડ્મલ ને બદલે કુંપલ પછી કુંપળ
જિહ્વા ને બદલે જિબ્ભા પછી જીભ
કૃષ્ણ ને બદલે કણ્હ પછી કાન
સ્નાન ને બદલે ણ્હાણ પછી નાણ
આદર્શ ને બદલે આયરિસ પછી અરિસો કે આરસો
ગુહ્ય ને બદલે ગુજ્ઝ પછી ગૂંજું

હવે કેટલાંક અસંયુક્તવ્યંજનોનાં પરિવર્તનો :

રાજન્ — રાજ અથવા લાજ અથવા રાય

નગર — નયર – પછી નેર

નયન — નયણ – પછી નેણ

મેઘ — મેહ – પછી મે

કથ — કહ – પછી કહેવું

રેખા — લેહા – પછી લીહા-લી

બધિર — બહિર – પછી બહેરો

શોભામત્ – સોહામણ – પછી સોહામણું

ઘટ — ઘડ – પછી ઘડો

પાઠ — પાઢ – પછી પાડો

ગુડ — ગુલ – પછી ગોળ

તડાગ — તલાય – પછી તળાવ અથવા તાલાવ

વચન — વયણ – પછી વેણ

દીપ — દીવ – પછી દીવો

ભગિનીપતિ — બહિણીવઈ – પછી બનેવી અથવા બન્હોઈ

દશ — દસ – પછી દસ

શબ્દ — સદ્દ – પછી સાદ

સિંહ — સિંઘ અથવા સીહ–પછી સંગ અથવા સંઘ અથવા સી

સ્વરોનાં પરિવર્તનો આ પ્રમાણે છે :

ઋ, લૃ, ઐ અને ઔનો પ્રયોગ જ નિકળી જવા પામ્યો છે.

ઋ ને બદલે અ — ધૃત – ઘય – પછી ઘી

કૃત – કરિઅ – પછી કર્યું

„ „ રિ — ઋદ્ધિ – રિદ્ધિ – પછી રધ

„ „ ઈ — પૃષ્ઠિ – પિટ્ઠિ – પછી પીઠ

„ „ ઉ — વૃદ્ધ – વુડ્ઢ – પછી બૂઢો

પિતૃગૃહ — પિઉહર – પછી પીહર કે પીયર

માતૃગૃહ — માઉહર – પછી માયરું

ઐ ને બદલે એ અને અઈ — શૈલને બદલે સઈલ અથવા સેલ.

ઐરાવણ — અઈરાવણ – પછી અઇરાવણ

ઔ ને બદલે ઓ અને અઉ — કૌશામ્બી –– કઉસંબી – કોસંબી – કોસંબી – કોસમ

યૌવન — જોવ્વણ – જોબન

આ રીતે વ્યંજનો અને સ્વરોનાં ઉચ્ચારણોનાં બીજાં પણ ઘણાં ઘણાં પરિવર્તનો આવવાં પામ્યાં છે. મધ્યયુગની પ્રાકૃતોનાં પણ આવાં જ પરિવર્તનો દેખાય છે ત્યારે અપભ્રંશોમાં વળી આથી વધારે બીજાં વિવિધ પ્રકારનાં પરિવર્તનો છે. આમ પરિવર્તનો પામતી પ્રાકૃત ભાષા અને પાલિ ભાષાએ વર્તમાનકાળની નવ્ય ભાષાઓ હિંદી, ગુજરાતી વગેરે અને તેની જુદી જુદી પ્રાંતિક બોલીઓમાં ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે, તે ઉપરનાં થોડાં ઉદાહરણોથી પણ સ્પષ્ટ થઈ જાય છે. સંસ્કૃત ભાષા પ્રાકૃતમાં સંક્રમ્યા વિના આ નવ્ય ભાષાઓના પ્રાકટ્યમાં સીધું નિમિત્ત નથી થઈ શકતી અર્થાત આપણી ભારતીય પ્રચલિત તમામ આર્ય ભાષાઓ અને બોલીઓનું પ્રધાન નિમિત્ત પ્રાકૃત અને પાલિ ભાષા છે; પરંતુ સંસ્કૃત નથી જ એ યાદ રાખવાનું છે.

આ લેખ માટે નીચેના ગ્રંથોનો ખાસ ઉપયોગ કરેલો છે :

૧. ભારતીય આર્ય ભાષા અને હિંદી ભાષા — ડૉ. સુનીતિકુમાર ચેટરજી (ગુજરાત વિદ્યાસભા)
૨. ઋતંભરા — ડૉ. સુનીતિકુમાર ચેટરજી
૩. રાજસ્થાની ભાષા — ”
૪. પ્રાકૃત ભાષા — ડૉ. પ્રબોધ બેચરદાસ પંડિત
૫. ખોરદેહઅવેસ્તા — કાંગા
૬. ભાષાવિજ્ઞાન — મંગળદેવ શાસ્ત્રી
૭. અશોકના લેખો — ઓઝાજી

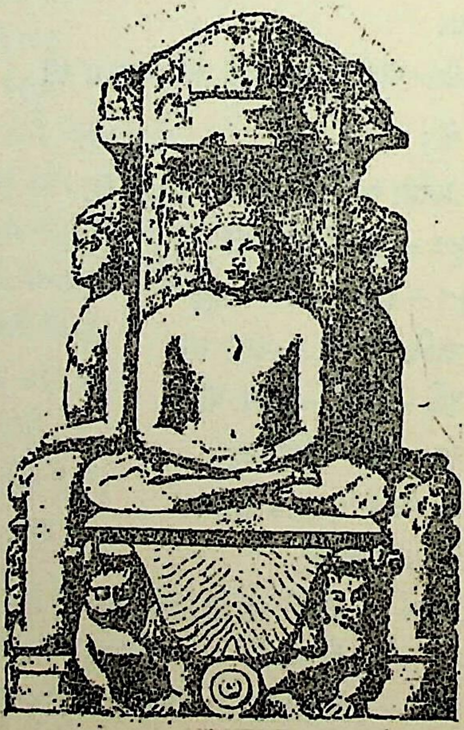

જૈન પરંપરાનું અપભ્રંશ સાહિત્યમાં પ્રદાન

પ્રા. હરિવલ્લભ ચુ. ભાયાણી, એમ. એ., પીએચ. ડી.

પ્રાસ્તાવિક

અપભ્રંશ સાહિત્યની એક તરત જ ઊડીને આંખે વળગે તેવી વિશિષ્ટતા તેને સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત સાહિત્યથી નોખું તારવી આપે છે. ઉપલબ્ધ અપભ્રંશ સાહિત્ય એટલે જૈનોનું જ સાહિત્ય એમ કહીએ તો પણ ચાલે, કેમ કે તેઓએ એ ક્ષેત્રમાં જે સમર્થ અને વિવિધતાવાળું નિર્માણ કર્યું છે તેની તુલનામાં બૌદ્ધ અને બ્રાહ્મણ (એ તો હજી શોધવાનું રહ્યું — મળે છે તે છૂટાંછવાયાં થોડાંક ટાંચણો જ માત્ર) પરંપરાનું પ્રદાન અપવાદરૂપ અને તેનું મૂલ્ય પણ મર્યાદિત. એમ કહોને કે અપભ્રંશ સાહિત્ય એટલે જૈનોનું આગવું ક્ષેત્ર — જો કે આપણને મળી છે તેટલી જ અપભ્રંશ કૃતિઓ હોય તો જ ઉપરનું વિધાન સ્થિર સ્વરૂપનું ગણાય. પણ અપભ્રંશ સાહિત્યની ખોજની ઇતિશ્રી નથી થઈ ગઈ — એ દિશામાં હજી ઘણું કરવાનું બાકી છે. એટલે ભવિષ્યમાં મહત્ત્વની કે ગણનાપાત્ર સંખ્યામાં જૈનેતર કૃતિઓ હોવાનું જાણવામાં આવે તો આપણું આ ચિત્ર પલટાઈ જાય.

પ્રધાનપણે જૈન અને ધર્મપ્રાણિત હોવા ઉપરાંત અપભ્રંશ સાહિત્યની બીજી એક આગળ પડતી લાક્ષણિકતા તે તેનું ઐકાન્તિક પદ્ય સ્વરૂપ. અપભ્રંશ ગદ્ય નગણ્ય છે. તેનો સમગ્ર સાહિત્યપ્રવાહ છંદમાં જ વહે છે. આનું કારણ અપભ્રંશ ભાષા જે ખાસ પરિસ્થિતિમાં ઉદ્ભવી અને વિશિષ્ટ ઘડતર પામી તેમાં ક્યાંક રહ્યું હોવાનો સંભવ છે.

અપભ્રંશ ભાષા

સાહિત્યિક પ્રાકૃતોની જેમ સાહિત્યિક અપભ્રંશ પણ એક સારી રીતે કૃત્રિમ ભાષા હોવાનું જણાય છે. એ એક એવી વિશિષ્ટ ભાષા હતી જેના ઉચ્ચારણમાં ‘ પ્રાકૃત ’ ભૂમિકાનાં પ્રમુખ લક્ષણો જળવાઈ રહ્યાં હતાં, પણ જેનાં વ્યાકરણ અને રૂઢિપ્રયોગો (તથા શબ્દકોશનો થોડોક અંશ પણ) સતત વિકસતી તત્તત્કાલીન બોલીઓના રંગે અંશતઃ રંગાતાં રહેતાં હતાં. આથી અપભ્રંશને એક લાભ એ થયો કે તે જડ ચોકઠામાં જકડાઈ જવાના ભયથી છૂટી. કેમ કે શિષ્ટમાન્ય ધોરણનું કડક પાલન કરવાના વલણવાળી કોઈ પણ સાહિત્યભાષા વધુ ને વધુ રૂઢિબદ્ધ થતી જાય છે. તેમાં યે અપભ્રંશ સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત જેવી શતાબ્દીઓ-જૂની પ્રશિષ્ટ પરંપરા ધરાવતી સાહિત્ય–ભાષાઓના ચાલુ વર્ચસ્વ નીચે ઊછરી હતી. એટલે તેને માટે બીજે પક્ષે જીવંત બોલીઓ સાથેનો સતત સંપર્ક નવચેતન અર્પતો નીવડે એ ઉઘાડું છે.

કઈ જાતની પરિસ્થિતિ વચ્ચે અપભ્રંશ ભાષા અને સાહિત્યનો ઉદ્ગમ થયો ? આ બાબત હજી સુધી તો પૂર્ણ અંધકારમાં દટાયેલી છે. આરંભનું ઘણુંખરું સાહિત્ય સાવ લુપ્ત થયું છે. અપભ્રંશ સાહિત્યવિકાસના પ્રથમ સોપાન કયાં તે જાણવાની કશી સાધનસામગ્રી ઉપલબ્ધ નથી. અપભ્રંશના આગવા ને આકર્ષક સાહિત્યપ્રકારો તથા છંદોનો ઉદ્ભવ ક્યાંથી થયો તે કોઈપણ રીતે સ્પષ્ટપણે સમજાવી શકવાની આપણી સ્થિતિ નથી.

આરંભ અને મુખ્ય સાહિત્યસ્વરૂપો

સાહિત્યમાં તથા ઉત્કીર્ણ લેખોમાં મળતા ઉલ્લેખો પરથી સમજાય છે કે ઇસિવી છઠ્ઠી શતાબ્દીમાં તો અપભ્રંશે એક સ્વતંત્ર સાહિત્યભાષાનું સ્થાન પ્રાપ્ત કરી લીધું હતું. સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતની સાથોસાથ તે પણ એક સાહિત્યભાષા તરીકે ઉલ્લેખાર્હ ગણાતી. આમ છતાં આપણને મળતી પ્રાચીનતમ અપભ્રંશ કૃતિ ઇસિવી નવમી શતાબ્દીથી બહુ વહેલી નથી. એનો અર્થ એ થયો કે તે પહેલાંનું બધું સાહિત્ય લુપ્ત થયું છે. નવમી શતાબ્દી પૂર્વે પણ અપભ્રંશ સાહિત્ય સારી રીતે ખેડાતું રહ્યું હોવાના પુષ્કળ પુરાવા મળે છે, અને તેના ઉપલબ્ધ પ્રાચીનતમ નમૂનાઓમાં સાહિત્યસ્વરૂપ, શૈલી અને ભાષાની જે સુવિકસિત કક્ષા જોવા મળે છે તે ઉપરથી પણ એ વાત સમર્થિત થાય છે. નવમી શતાબ્દી પૂર્વેના એ પિંગલકારોના પ્રતિપાદન પરથી સ્પષ્ટ સમજાય છે કે પૂર્વકાલીન સાહિત્યમાં અજાણ્યાં એવાં ઓછામાં ઓછાં બે નવાં સાહિત્યસ્વરૂપો — સંધિબંધ અને રાસાબંધ — તથા સંખ્યાબંધ પ્રાસબદ્ધ નવતર માત્રાવૃત્તો અપભ્રંશકાળમાં અસ્તિત્વમાં આવ્યાં હતાં.

સંધિબંધ

આમાં સંધિબંધ સૌથી વધુ પ્રચલિત રચનાપ્રકાર હતો. એનો ઉપયોગ ભાતભાતની કથાવસ્તુ માટે થયેલો છે. પૌરાણિક મહાકાવ્ય, ચરિતકાવ્ય, ધર્મકથા — પછી તે એક જ હોય કે આખું કથાચક્ર હોય— આ બધા વિષયો માટે ઔચિત્યપૂર્વક સંધિબંધ યોજાયો છે. ઉપલબ્ધમાં પ્રાચીનતમ સંધિબંધ નવમી શતાબ્દી લગભગનો છે, પણ તેની પૂર્વે લાંબી પરંપરા રહેલી હોવાનું સહેજે જોઈ શકાય છે. સ્વયંભૂની પહેલાં ભદ્ર (કે દન્તિભદ્ર), ગોવિન્દ અને ચતુર્મુખે રામાયણ અને કૃષ્ણકથાના વિષય પર રચનાઓ કરી હોવાનું સાહિત્યિક ઉલ્લેખો પરથી અનુમાન થઈ શકે છે. આમાંથી ચતુર્મુખનો નિર્દેશ પછીની અનેક શતાબ્દીઓ સુધી માનપૂર્વક થતો રહ્યો છે. ઉક્ત વિષયોનું સંધિબંધમાં નિરૂપણ કરનાર એ અગ્રણી કવિ હતો.

સ્વયંભૂદેવ

પણ એમાંના એક પણ પ્રાચીન કવિની કૃતિ ઉપલબ્ધ ન હોવાથી કવિરાજ સ્વયંભૂદેવ (ઇસિવી સાતમીથી દસમી શતાબ્દી વચ્ચે)નાં મહાકાવ્યો એ સંધિબંધ વિશેની માહિતી પૂરી પાડવા માટે આપણો પ્રાચીનતમ આધાર છે. ચતુર્મુખ, સ્વયંભૂ અને પુષ્પદંત ત્રણે અપભ્રંશના પ્રથમ પંક્તિના કવિઓ છે, અને તેમાંયે પહેલું સ્થાન સ્વયંભૂને આપવા પણ કોઈ પ્રેરાય. કાવ્યપ્રવૃત્તિ સ્વયંભૂની કુળપરંપરામાં જ હતી. તેણે કર્ણાટક અને તેની સમીપના પ્રદેશમાં જુદા જુદા જૈન શ્રેષ્ઠીઓના આશ્રયે રહી કાવ્યરચના કરી હોવાનું જણાય છે. સ્વયંભૂ યાપનીયનામક જૈન પંથનો હોય એ ઘણું સંભવિત છે. એ પંથનો તેના સમય આસપાસ ઉક્ત પ્રદેશમાં ઘણો પ્રચાર હતો. સ્વયંભૂની માત્ર ત્રણ કૃતિઓ જળવાઈ રહી છે: **पउमचरिउ** અને **रिट्ठणेमिचरिउ** નામે બે પૌરાણિક મહાકાવ્ય અને **स्वयम्भूच्छन्द*** નામનો પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ છંદોને લગતો ગ્રંથ.

---

* માધ્યમિક ભારતીય – આર્ય છંદો માટે એક પ્રાચીન અને પ્રમાણભૂત સાધન લેખેની તેની અગત્ય ઉપરાંત **स्वयम्भूच्छन्द**નું મોટું મહત્ત્વ તેમાં અપાયેલાં પૂર્વકાલીન પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ સાહિત્યનાં ટાંચણોને અંગે છે. આથી આપણને એ સાહિત્યની લુપ્ત સમૃદ્ધિનો સારો ખ્યાલ આવે છે.

पउमचरिउ

पउमचरिउ (सं. पद्मचरितम्) એ रामायणपुराणु (सं. रामायणपुराणम्) નામે પણ જાણીતું છે. એમાં પદ્મ એટલે રામના ચરિત પર મહાકાવ્ય રચવાની સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત સાહિત્યની પરંપરાને સ્વયંભૂ અનુસરે છે. पउमचरिउમાં રજૂ થયેલું રામકથાનું જૈન સ્વરૂપ વાલ્મીકિ રામાયણમાં મળતા બ્રાહ્મણ પરંપરા પ્રમાણેના સ્વરૂપ(બંનેમાં આ પુરોગામી છે)થી અનેક અગત્યની બાબતમાં જુદું પડે છે. સ્વયંભૂરામાયણનો વિસ્તાર પુરાણની સ્પર્ધા કરે તેટલો છે. તે विज्जाहर (सं. विद्याधर), उज्झा (सं. अयोध्या), सुंदर, जुज्झ (सं. युद्ध) અને उत्तर એમ પાંચ કાંડમાં વિભક્ત છે. આ દરેક કાંડ મર્યાદિત સંખ્યાના ‘ સંધિ ’ નામના ખંડોમાં વહેંચાયેલો છે. પાંચે કાંડના બધા મળીને નેવું સંધિ છે. આ દરેક સંધિ પણ બારથી વીશ જેટલા ‘ કડવક ’ નામના નાના સુગ્રથિત એકમોનો બનેલો છે. આ કડવક (= પ્રાચીન ગુજરાતી સાહિત્યનું ‘ કડવું ’) નામ ધરાવતો પદ્યપરિચ્છેદ અપભ્રંશ અને અર્વાચીન ભારતીય–આર્યના પૂર્વકાલીન સાહિત્યની વિશિષ્ટતા છે. કથાપ્રધાન વસ્તુ ગૂંથવા માટે તે ઘણું જ અનુકૂળ છે. કડવકદેહ કોઈ માત્રાછંદમાં રચેલા સામાન્યતઃ આઠ પ્રાસબદ્ધ ચરણયુગ્મનો બનેલો હોય છે. કડવકના આ મુખ્ય કલેવરમાં વર્ણ્ય વિષયનો વિસ્તાર થાય છે, જ્યારે જરા ટૂંકા છંદમાં બાંધેલો ચાર ચરણનો અંતિમ ટુકડો વર્ણ્ય વિષયનો ઉપસંહાર કરે છે કે વધારેમાં પછીના વિષયનું સૂચન કરે છે * આવા વિશિષ્ટ બંધારણને કારણે અપભ્રંશ સંધિ શ્રોતાઓ સમક્ષ લયબદ્ધ રીતે પઠન કરાવાની કે ગીત રૂપે ગવાવાની ઘણી ક્ષમતા ધરાવે છે.

पउमचरिउના નેવું સંધિમાંથી છેલ્લા આઠ સ્વયંભૂના જરા વધારે પડતા આત્મભાનવાળા પુત્ર ત્રિભુવનની રચના છે, કેમ કે કોઈ અજ્ઞાત કારણે સ્વયંભૂએ એ મહાકાવ્ય અધૂરું મૂકેલું. આ જ પ્રમાણે પોતાના પિતાનું બીજું મહાકાવ્ય रिट्ठणेमिचरिउ પૂરું કરવાનો યશ પણ ત્રિભુવનને ફાળે જાય છે અને તેણે पंचमीचरिउ (सं. पञ्चमीचरितम्) નામે એક સ્વતંત્ર કાવ્ય રચ્યું હોવાનો પણ ઉલ્લેખ છે.

સ્વયંભૂએ પોતાના પુરોગામીઓના ઋણનો સ્પષ્ટ શબ્દોમાં સ્વીકાર કર્યો છે. મહાકાવ્યના સંધિબંધ માટે તે ચતુર્મુખથી અનુગૃહીત હોવાનું જણાવે છે, જ્યારે વસ્તુ અને તેના કાવ્યાત્મક નિરૂપણ માટે તે આચાર્ય રવિષેણનો આભાર માને છે. पउमचरिउના કથાનક પૂરતો તે રવિષેણના સંસ્કૃત पद्मचरित કે पद्मपुराण(ઈ. સ. ૬૭૭–૭૮)ને પગલે પગલે ચાલે છે. તે એટલે સુધી કે पउमचरिउને पद्मचरितનો મુક્ત અને સંક્ષિપ્ત અપભ્રંશ અવતાર કહેવો હોય તો કહી શકાય.* ને છતાંયે સ્વયંભૂની મૌલિકતા અને ઉચ્ચ પ્રતિની કવિત્વશક્તિનાં પ્રમાણ पउमचरिउમાં ઓછાં નથી. એક નિયમ તરીકે તે રવિષેણે આપેલા કથાનકના દોરને વળગી રહે છે — અને આમેય એ કથાનક તેની નાનીમોટી વિગતો સાથે પરંપરાથી રૂઢ થયેલું હોવાથી કથાવસ્તુ પૂરતો તો મૌલિક કલ્પના માટે કે સંવિધાનની દૃષ્ટિએ પરિવર્તન કે રૂપાંતર માટે ભાગ્યે જ કશો અવકાશ રહેતો. પણ શૈલીની દૃષ્ટિએ કથાવસ્તુને શણગારવાની બાબતમાં, વર્ણનો ને રસનિરૂપણની બાબતમાં, તેમ જ મનગમતા પ્રસંગને બહેલાવવાની બાબતમાં, કવિને જોઈએ તેટલી છૂટ મળતી. આવી મર્યાદાથી બંધાયેલી હોવા છતાં સ્વયંભૂની સૂક્ષ્મ કલાદૃષ્ટિએ પ્રશસ્ય સિદ્ધિ મેળવી છે. પોતાની ઔચિત્યબુદ્ધિને અનુસરીને તે આધારભૂત સામગ્રીમાં કાપકૂપ કરે છે, તેને નવો ઘાટ આપે છે કે કદીક નિરાળો જ માર્ગ ગ્રહણ કરે છે.

---

* અપભ્રંશ કડવકનું સ્વરૂપ પ્રાચીન અવધિ સાહિત્યનાં સુફી પ્રેમાખ્યાનક કાવ્યોમાં અને તુલસીદાસકૃત रामचरितमानस જેવી કૃતિઓમાં ઊતરી આવ્યું છે.

* રવિષેણનું पद्मचरित પોતે પણ જૈન મહારાષ્ટ્રીમાં રચાયેલા વિમલસૂરિકૃત पउचरियं (સંભવતઃ ઈસવી ત્રીજી શતાબ્દી)ના પલ્લવિત સંસ્કૃત છાયાનુવાદથી ભાગ્યે જ વિશેષ છે.

पउमचरिउના ચૌદમા સંધિનું વસંતનાં દશ્યોની મોહક પૃષ્ઠભૂમિ પર આલેખાયેલું તાદશ, ગતિમાન, ઇંદ્રિયસંતર્પક જલક્રીડાવર્ણન એક ઉત્કૃષ્ટ સર્જન તરીકે પહેલેથી જ પંકાતું આવ્યું છે. જુદાં જુદાં યુદ્ધદશ્યો, અંજનાના ઉપાખ્યાન (સંધિ ૧૭–૧૯)માંના કેટલાક ભાવોદ્રેકવાળા પ્રસંગો, રાવણના અગ્નિદાહના ચિત્તહારી પ્રસંગમાંથી નીતરતો વેધક વિષાદ (૭૭મો સંધિ) — આવા આવા હૃદયંગમ ખંડોમાં સ્વયંભૂની કવિપ્રતિભાના પ્રબળ ઉન્મેષનાં આપણે દર્શન કરી શકીએ.

रिट्ठणेमिचरिउ

સ્વયંભૂનું બીજું મહાકાય મહાકાવ્ય रिट्ठणेमिचरिउ (સં. अरिष्टनेमिचरितम्) અથવા हरिवंसपुराणु (સં. हरिवंशपुराणम्) પણ પ્રસિદ્ધ વિષયને લગતું છે. તેમાં બાવીશમા તીર્થંકર અરિષ્ટનેમિનું જીવનચરિત તથા કૃષ્ણ અને પાંડવોની જૈન પરંપરા પ્રમાણેની કથા અપાયેલી છે. કેટલાક નમૂનારૂપ ખંડો બાદ કરતાં તે હજી સુધી અપ્રકાશિત છે. તેના એક સો બાર સંધિઓ (જેનાં બધાં મળીને ૧૯૩૭ કડવક અને ૧૮૦૦૦ બત્રીશ–અક્ષરી એકમો — ‘ ગ્રંથાગ્ર ’— હોવાનું કહેવાય છે)નો ચાર કાંડમાં સમાવેશ થાય છે : जायव(સં. यादव), कुरु, जुज्झ (સં. युद्ध) અને उत्तर. આ વિષયમાં પણ સ્વયંભૂ પાસે કેટલીક આદર્શભૂત પૂર્વકૃતિઓ હતી. નવમી શતાબ્દી પહેલાં વિમલસૂરિ અને વિદગ્ધે પ્રાકૃતમાં, જિનસેને (ઈ. સ. ૭૮૩–૮૪) સંસ્કૃતમાં અને ભદ્રે (કે દન્તિભદ્રે ? ભદ્રાશ્વે ?), ગોવિન્દે તથા ચતુર્મુખે અપભ્રંશમાં હરિવંશના વિષય પર મહાકાવ્યો લખ્યાં હોવાનું જણાય છે. रिट्ठणेमिचरिउ નો નવ્વાણુમા સંધિ પછીનો અંશ સ્વયંભૂના પુત્ર ત્રિભુવનનો રચેલો છે, અને પાછળથી ૧૬મી શતાબ્દીમાં તેમાં ગોપાચલ (= ગ્વાલીઅર)ના એક અપભ્રંશ કવિ યશઃકીર્તિ ભટ્ટારકે કેટલાક ઉમેરા કરેલા છે.

રામ અને કૃષ્ણના ચરિત પર સ્વયંભૂ પછી રચાયેલાં અપભ્રંશ સંધિબદ્ધ કાવ્યોમાંથી કેટલાંકનો ઉલ્લેખ અહીં જ કરી લઈએ — આ બધી કૃતિઓ હજી અપ્રસિદ્ધ છે : ધવલે (ઇસવી અગીઆરમી શતાબ્દી પહેલાં) ૧૨૨ સંધિમાં हरिवंशपुराण રચ્યું. ઉપર્યુક્ત યશઃકીર્તિ ભટ્ટારકે ૩૪ સંધિમાં पांडुपुराणु (સં. पांडुपुराणम्) (ઈ. સ. ૧૫૨૩) તથા તેના સમકાલીન પંડિત રઇધૂ અપરનામ સિંહસેને ૧૧ સંધિમાં बलहद्दपुराणु (સં. बलभद्रपुराणम्) તેમ જ णेमिणाहचरिउ (સં. नेमिनाथचरितम्) રચ્યાં એ જ સમય લગભગ શ્રુતકીર્તિએ ૪૦ સંધિમાં हरिवंसपुराणु (સં. हरिवंशपुराणम्) (ઈ. સ. ૧૫૫૧) પૂરું કર્યું. આ કૃતિઓ સ્વયંભૂ પછી સાત સો જેટલાં વરસ વહી ગયાં છતાં રામાયણ ને હરિવંશના વિષયોની જીવંત પરંપરા અને લોકપ્રિયતાના પુરાવારૂપ છે.

પુષ્પદન્ત

પુષ્પદન્ત (અપ. पुप्फयंत) અપરનામ મમ્મઇય (ઈ. સ. ૯૫૭ – ૯૭૨ માં વિદ્યમાન)ની કૃતિઓમાંથી આપણને સંધિબંધમાં ગૂંથાતા બીજા બે પ્રકારોની જાણ થાય છે. પુષ્પદન્તનાં માતાપિતા બ્રાહ્મણ હતાં. તેમણે પાછળથી દિગંબર જૈન ધર્મ સ્વીકારેલો. પુષ્પદન્તનાં ત્રણે અપભ્રંશ કાવ્યોની રચના માન્યખેટ (= હાલનું હૈદરાબાદ રાજ્યમાં આવેલું માલખેડ)માં રાજ્ય કરતા રાષ્ટ્રકૂટ રાજાઓ કૃષ્ણ ત્રીજા (ઈ. સ. ૯૩૯–૯૬૮) અને ખોટ્ટિગદેવ (ઈ. સ. ૯૬૮–૯૭૨)ના પ્રધાનો અનુક્રમે ભરત અને તેના પુત્ર નન્નના આશ્રય નીચે થઈ હતી. સ્વયંભૂ અને તેના પુરોગામીઓએ રામ અને કૃષ્ણપાંડવનાં કથાનકનો ઠીકઠીક કસ કાઢ્યો હતો, એટલે પુષ્પદન્તની કવિપ્રતિભાએ જૈન પુરાણકથાના જુદા — અને વિશાળતર— પ્રદેશોમાં વિહરવાનું પસંદ કર્યું હશે. જૈન પૌરાણિક માન્યતા પ્રમાણે પૂર્વના સમયમાં ત્રેસઠ મહાપુરુષો (કે શલાકાપુરુષો) થઈ ગયા. તેમાં ચોવીશ તીર્થંકર, બાર ચક્રવર્તી, નવ વાસુદેવ (= અર્ધચક્રવર્તી), નવ બલદેવ (તે તે વાસુદેવના ભાઈ) અને નવ પ્રતિવાસુદેવ (એટલે કે તે તે વાસુદેવના વિરોધી)નો

સમાવેશ થાય છે. લક્ષ્મણ, પદ્મ (=રામ) અને રાવણ એ આઠમા બલદેવ, વાસુદેવ ને પ્રતિવાસુદેવ તથા કૃષ્ણ, બલભદ્ર અને જરાસંધ એ નવમા ગણાય છે. આ ત્રેસઠ મહાપુરુષોનો જીવનવૃત્તાંત આપતી રચનાઓ ‘ મહાપુરાણ ’ અથવા ‘ ત્રિષષ્ટિમહાપુરુષ(કે–શલાકાપુરુષ–)ચરિત’ને નામે ઓળખાય છે. આમાં પહેલા તીર્થંકર ઋષભ અને પહેલા ચક્રવર્તી ભરતનાં ચરિતને વર્ણવતો આરંભનો અંશ ‘ આદિપુરાણ ’, અને બાકીના મહાપુરુષોનાં ચરિતવાળો અંશ ‘ ઉત્તરપુરાણ ’ કહેવાય છે.

મહાપુરાણ

પુષ્પદન્ત પહેલાં પણ આ વિષય પર સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં કેટલીક પદ્યકૃતિઓ રચાયેલી. પણ અપભ્રંશમાં પહેલવહેલાં એ વિષયનું મહાકાવ્ય બનાવનાર પુષ્પદન્ત હોવાનું જણાય છે. महापुराण કે तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु (सं. त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालङ्कारः) નામ ધરાવતી તેની એ મહાકૃતિમાં ૧૦૨ સંધિ છે, જેમાંથી પહેલા સાડત્રીશ સંધિ આદિપુરાણને અને બાકીના ઉત્તરપુરાણને ફાળે જાય છે.

પુષ્પદન્ત કથાનક પૂરતો જિનસેન–ગુણભદ્રકૃત સંસ્કૃત. त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालङ्कारसंग्रह (ઈ. સ. ૮૯૮માં સમાપ્ત)ને અનુસરે છે. આ વિષયમાં પણ પ્રસંગો અને વિગતો સહિત કથાનકોનું સમગ્ર કલેવર પરંપરાથી રૂઢ થયેલું હતું, એટલે નિરૂપણમાં નાવિન્ય અને ચારુતા લાવવા કવિને માત્ર પોતાની વર્ણનની અને શૈલીસજાવટની શક્તિઓ પર જ આધાર રાખવાનો રહેતો. વિષયો કથનાત્મક સ્વરૂપના ને પૌરાણિક હોવા છતાં જૈન અપભ્રંશ કવિઓ તેમના નિરૂપણમાં પ્રશિષ્ટ સંસ્કૃતના આલંકારિક મહાકાવ્યની પરંપરા અપનાવે છે અને આછાપાતળા કથાનકકલેવરને અલંકાર, છંદ ને પાંડિત્યના ઠઠેરાથી ચઢાવેબઢાવે છે તેનું એક કારણ આ પણ છે. रिट्ठणेमिचरिउमां સ્વયંભૂ આપણને સ્પષ્ટ કહે છે કે કાવ્યરચના કરવા માટે તેને વ્યાકરણ ઇંદ્રે દીધું, રસ ભરતે, વિસ્તાર વ્યાસે, છંદ પિંગલે, અલંકાર ભામહ અને દંડીએ, અક્ષરડંબર બાણે, નિપુણત્વ શ્રીહર્ષે અને છડ્ડણી, દ્વિપદીને ધ્રુવકથી મંડિત પદ્ધડિકા ચતુર્મુખે. પુષ્પદન્ત પણ પરોક્ષ રીતે આવું જ કહે છે, વિદ્યાનાં બીજાં કેટલાંક ક્ષેત્રમાં પ્રતિષ્ઠિત એવાં થોડાંક નામો ઉમેરે છે અને એવી ઘોષણા કરે છે કે પોતાના महापुराणમાં પ્રાકૃતલક્ષણો, સકલ નીતિ, છંદોભંગી, અલંકારો, વિવિધ રસો તથા તત્ત્વાર્થનો નિર્ણય મળશે. સંસ્કૃત મહાકાવ્યનો આદર્શ સામે રાખી તેની પ્રેરણાથી રચાયેલાં અપભ્રંશ મહાકાવ્યોનું સાચું બળ વસ્તુના વૈચિત્ર્ય કે સંવિધાન કરતાં વિશેષ તો તેના વર્ણન કે નિરૂપણમાં રહેલું છે.

સ્વયંભૂની તુલનામાં પુષ્પદન્ત અલંકારની સમૃદ્ધિ, છંદોવૈવિધ્ય અને વ્યુત્પત્તિ ઉપર વિશેષ આધાર રાખે છે. છંદોભેદની વિપુલતા તથા સંધિ અને કડવકની દીર્ઘતા પુષ્પદન્તના સમય સુધીમાં સંધિબંધનું સ્વરૂપ કાંઈક વધુ સંકુલ થયું હોવાની સૂચક છે. महापुराणના ચોથા, બારમા, સત્તરમા, છેંતાળીશમા, બાવનમા ઇત્યાદિ સંધિઓના કેટલાક અંશો પુષ્પદન્તની અસામાન્ય કવિત્વશક્તિનાં ઉત્તમ ઉદાહરણો તરીકે ટાંકી શકાય. महापुराणના ૬૯થી ૭૯ સંધિમાં રામાયણની કથાનો સંક્ષેપ અપાયો છે, ૮૧થી ૯૨ સંધિ જૈન હરિવંશ આપે છે, જ્યારે અંતિમ અંશમાં ત્રેવીશમા તથા ચોવીશમા તીર્થંકર પાર્શ્વ અને મહાવીરનાં ચરિત છે.

ચરિતકાવ્ય

પુષ્પદન્તનાં બીજાં બે કાવ્ય, णायकुमारचरिउ (सं. नागकुमारचरितम्) અને जसहरचरिउ (सं. यशोधरचरितम्) પરથી જોઈ શકાય છે કે વિશાળ પૌરાણિક વિષયો ઉપરાંત જૈન પુરાણ, અનુશ્રુતિ કે પરંપરાગત ઇતિહાસની પ્રસિદ્ધ વ્યક્તિઓનાં બોધક જીવનચરિત આપવા માટે પણ સંધિબંધ વપરાતો. વિસ્તાર અને નિરૂપણની દૃષ્ટિએ આ ચરિતકાવ્યો કે કથાકાવ્યો સંસ્કૃત મહાકાવ્યોની પ્રતિકૃતિ જેવાં

ગણાય. આમાં પણ પુષ્પદન્ત પાસે કેટલાંક પૂર્વદૃષ્ટાંત હોવાં જોઈએ. અછડતા ઉલ્લેખ પરથી આપણે પુષ્પદન્તની પહેલાંનાં ઓછાંમાં ઓછાં બે ચરિતકાવ્યોનાં નામ જાણીએ છીએ : એક તે સ્વયંભૂકૃત सुद्धयचरिउ અને બીજું તેના પુત્ર ત્રિભુવનકૃત पंचमीचरिउ. णायकुमारचरिउ નવ સંધિમાં તેના નાયક નાગકુમાર (=જૈન પુરાણકથા પ્રમાણે ચોવીશ કામદેવમાંનો એક)નાં પરાક્રમો વર્ણવે છે અને સાથે તે ફાગણ શુદિ પાંચમને દિવસે શ્રીપંચમીનું વ્રત કરવાથી થતી ફળપ્રાપ્તિનું ઉદાહરણ પૂરું પાડે છે.

પુષ્પદન્તનું ત્રીજું કાવ્ય जसहरचरिउ ચાર સંધિમાં ઉજ્જયિનીના રાજા યશોધરની કથા આપે છે ને તે દ્વારા પ્રાણિવધના પાપનાં કડવાં ફળો ઉદાહૃત કરે છે. પુષ્પદન્તની પહેલાં અને પછી આ જ કથાનકને ગૂંથતી પ્રાકૃત, સંસ્કૃત, અપભ્રંશ અને અર્વાચીન ભાષાઓમાં મળતી અનેક રચનાઓ એ જૈનોમાં અતિશય લોકપ્રિય હોવાની સૂચક છે.

પુષ્પદન્તનું પ્રશિષ્ટ કાવ્યરીતિ પરનું પ્રભુત્વ, અપભ્રંશ ભાષામાં અનન્ય પારંગતતા, તેમ જ બહુમુખી પાંડિત્ય તેને ભારતના કવિઓમાં માનવંતુ સ્થાન અપાવે છે. એક સ્થળે કાવ્યના પોતાના આદર્શનો આછો ખ્યાલ આપતાં તે કહે છે કે ઉત્તમ કાવ્ય શબ્દ અને અર્થના અલંકારથી તથા લીલાયુક્ત પદાવલિથી મંડિત, રસભાવનિરંતર, અર્થની ચારુતાવાળું, સર્વ વિદ્યાકલાથી સમૃદ્ધ, વ્યાકરણ અને છંદથી પુષ્ટ અને આગમથી પ્રેરિત હોવું જોઈએ. ઉચ્ચ કોટિનું અપભ્રંશ સાહિત્ય આ આદર્શનો સાક્ષાત્કાર કરવામાં પ્રયત્નશીલ રહ્યું છે, પણ તેમાં સૌથી વધુ સફળતા પુષ્પદન્તને મળી છે એમ કહેવામાં કશી અત્યુક્તિ નથી.

પુષ્પદન્ત પછીનાં ચરિતકાવ્ય

પુષ્પદન્ત પછી આપણને સંધિબદ્ધ ચરિતકાવ્યો કે કથાકાવ્યોનાં પુષ્કળ નમૂના મળે છે. પણ તેમાંનાં ઘણાંખરાં હજી માત્ર હસ્તપ્રતરૂપે જ રહ્યાં છે. જે કાંઈ થોડાં પ્રકાશિત થયાં છે, તેમાં સૌથી મહત્ત્વની ધનપાલકૃત भविसत्तकह (सं. भविष्यदत्तकथा) છે. ધનપાલ દિગંબર ધર્કટ વણિક હતો અને સંભવતઃ ઈસવી બારમી શતાબ્દી પહેલાં થઈ ગયો. બાવીશ સંધિના વિસ્તારવાળું તેનું કાવ્ય પ્રમાણમાં સરળ શૈલીમાં ભવિષ્યદત્તની કૌતુકરંગી કથા કહે છે અને સાથેસાથે કાર્તિક શુદિ પાંચમને દિવસે આવતું શ્રુતપંચમી કે જ્ઞાનપંચમીનું વ્રત કરવાથી મળતાં ફળનું ઉદાહરણ આપવાનો ઉદ્દેશ પણ પાર પાડે છે. તેનું કથાનક એવું છે કે એક વેપારી નિષ્કારણ અણગમો આવતાં પુત્ર ભવિષ્યદત્ત સહિત પોતાની પત્નીનો ત્યાગ કરે છે અને બીજી પત્ની કરે છે. ભવિષ્યદત્ત મોટો થતાં કોઈ પ્રસંગે પરદેશ ખેડવા જાય છે ત્યારે તેનો ઓરમાન નાનો ભાઈ બે વાર કપટ કરી તેને એક નિર્જન દ્વીપ પર એકલોઅટૂલો છોડી જાય છે. પણ માતાએ કરેલા શ્રુતપંચમીના વ્રતને પરિણામે છેવટે તેની બધી મુશ્કેલીઓનો અંત આવે છે, તેનો ઘણો ઉદય થાય છે અને શત્રુનો પરાજય કરવામાં રાજાને સાહાય્ય કરવા બદલ તે રાજ્યાર્ધનો અધિકારી બને છે. મરણ પછી ચોથા ભવમાં શ્રુતપંચમીનું વ્રત કરવાથી તેને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત થાય છે. ધનપાલ પહેલાં આ જ વિષય પર અપભ્રંશમાં ત્રિભુવનનું पंचमिचरिउ તથા પ્રાકૃતમાં મહેશ્વરની नाणपंचमीकहाओ (सं. ज्ञानपंचमीकथाः) મળે છે. ધનપાલની સમીપના સમયમાં શ્રીધરે ચાર સંધિમાં અપભ્રંશ भविसत्तचरिउ (सं. भविष्यदत्तचरितम्) (ઈ. સં. ૧૧૭૪) રચેલું છે, જે હજી અપ્રસિદ્ધ છે.

કનકામરનું करकण्डचरिउ (सं. करकण्डचरितम्) દસ સંધિમાં એક પ્રત્યેકબુદ્ધ(એટલે કે સ્વયંપ્રબુદ્ધ સંત)નો જીવનવૃત્તાંત આપે છે. બૌદ્ધ સાહિત્યમાં પણ કરકંડુની વાત આવે છે.

ધાહિલકૃત पउमसिरिचरिउ (सं. पद्मश्रीचरितम्) (ઈસવી અગીઆરમી શતાબ્દી લગભગ) કપટભાવયુક્ત આચરણનાં માઠાં ફળ ઉદાહૃત કરવા ચાર સંધિમાં પદ્મશ્રીનો ત્રણ ભવનો વૃત્તાંત આપે છે.

પણ પહેલાં કહ્યું તેમ સંધિબદ્ધ ચારિતકાવ્યોના ઘણા મોટા ભાગને હજી મુદ્રણનું સદ્ભાગ્ય નથી સાંપડ્યું. અહીં આપણે તેવાં કાવ્યોની એક યાદી—અને તે પણ સંપૂર્ણ નહીં—આપીને જ સંતોષ માનશું. સામાન્ય રીતે આ કાવ્યો અમુક જૈન સિદ્ધાંત કે ધાર્મિક–નૈતિક માન્યતાના દૃષ્ટાંત લેખે કોઈ તીર્થંકરનું કે જૈન પુરાણકથાના યા ઇતિહાસના કોઈ યશસ્વી પાત્રનું ચરિત વર્ણવે છે.

ચરિતકાવ્યોની યાદી

નામ		કવિ	સંધિ સંખ્યા	રચનાસમય (ઇસિવીસનમાં)
पासपुराणु	(सं. पार्श्वपुराणम्)	પદ્મકીર્તિ	૧૮	૯૪૩
जम्बूसामिचरिउ	(सं. जम्बूस्वामिचरितम्)	સાગરદત્ત		૧૦૨૦
जम्बूसामिचरिउ	(सं. जम्बूस्वामिचरितम्)	વીર	૧૧	૧૦૨૦
सुदंसणचरिउ	(सं. सुदर्शनचरितम्)	નયનંદી	૧૧	૧૦૪૦
विलासवइकहा	(सं. विलासवतीकथा)	સાધારણ અથવા સિદ્ધસેન	૧૧	૧૦૬૮
पासचरिउ	(सं. पार्श्वचरितम्)	શ્રીધર	૧૨	૧૧૩૩
सुकुमालचरिउ	(सं. सुकुमारचरितम्)	શ્રીધર	૬	૧૧૫૨
सुकुमालसामिचरिउ	(सं. सुकुमालस्वामिचरितम्)	પૂર્ણભદ્ર	૬	...
पज्जुण्णकहा	(सं. प्रद्युम्नकथा)	સિંહ કે સિદ્ધ	૧૫	૧૨મી શતાબ્દી
जिणदत्तचरिउ	(सं. जिनदत्तचरितम्)	લક્ખણ	૧૧	૧૨૧૯
वयरसामिचरिउ	(सं. वज्रस्वामिचरितम्)	વરદત્ત	૨	
वाहुवलिदेवचरितम्	(सं. वाहुवलिदेवचरितम्)	ધનપાલ	૧૮	૧૩૯૮
सेणियचरिउ	(सं. श्रेणिकचरितम्)	જયમિત્ર હલ્લ	૧૧	૧૫મી શતાબ્દી
चन्दप्पहचरिउ	(सं. चन्द्रप्रभचरितम्)	યશઃકીર્તિ	૧૧	”
सम्मइजिनचरिउ	(सं. सम्मतिजिनचरितम्)	રઇધૂ	૧૦	”
मेहेसरचरिउ	(सं. मेवेश्वरचरितम्)	રઇધૂ	૧૩	”
धणकुमारचरिउ	(सं. धनकुमारचरितम्)	”	૪	”
वड्ढमाणकव्वु	(सं. वर्धमानकाव्यम्)	જયમિત્ર હલ્લ	૧૧	”
अमरसेणचरिउ	(सं. अमरसेनचरितम्)	માણિક્યરાજ	૯	૧૫૨૦
णायकुमारचरिउ	(सं. नागकुमारचरितम्)	”	”	”
सुलोयणाचरिउ	(सं. सुलोचनाचरितम्)	દેવસેન	૨૮	...

કથાકોશો

અહીં સુધીમાં ગણાવ્યા તે ઉપરાંત બીજો એક વિષયપ્રકાર પણ સંધિબંધમાં મળે છે. તે છે કોઈ વિશિષ્ટ જૈન ગ્રંથમાં પ્રતિપાદિત થયેલા અમુક ધાર્મિક વા નૈતિક વિષયને ઉદાહૃત કરતી કથાવલી. ‘કથાકોશ’ નામે જાણીતા આ સાહિત્યની સંખ્યાબંધ કૃતિઓ સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં મળે છે. અપભ્રંશમાં ૫૬ તથા ૫૮ સંધિના બે ભાગમાં રચાયેલું નયનંદીકૃત **सयलविहिविहाणकव्वु** (सं. **सकलविधिविधानकाव्यम्**) (ઇ. સ. ૧૦૪૪) તથા ૫૩ સંધિમાં નિબદ્ધ શ્રીચંદ્રકૃત **कहकोसु** (**सं. कथाकोशः**) (ઇસિવી અગીઆરમી સદી) એ બંને, શ્રમણજીવનને લગતા ને જૈન શૌરસેનીમાં રચાયેલા આગમકલ્પ

પ્રસિદ્ધ દિગંબર ગ્રંથ भगवती–आराधनानी સાથે સંકળાયેલી કથાઓ વર્ણવે છે. નયનંદી અને શ્રીચંદ્રે પોતાની કૃતિઓ પુરોગામી સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત આરાધનાકથાકોશોને આધારે રચી હોવાનું જણાવ્યું છે.

૨૧ સંધિનો શ્રીચંદ્રકૃત दंसणकहरयणकरंडु (सं. दर्शनकथारत्नकरण्डः) (ઈ. સ. ૧૦૬૪), ૧૧ સંધિની હરિષેણ કૃત धम्मपरिक्ख (सं. धर्मपरीक्षा) (ઈ. સ. ૯૮૮), ૧૪ સંધિનું અમરકીર્તિકૃત छक्कम्मुवएसो (सं. षट्कर्मोपदेशः) અને સંભવતઃ ૭ સંધિનું શ્રુતકીર્તિકૃત परमिट्ठिपयाससारु (सं. परमेष्ठि-प्रकाशसारः) (ઈ. સ. ૧૪૯૭) વગેરેનો પણ આ જ પ્રકારમાં સમાવેશ થાય છે. આ બધી કૃતિઓ પણ હજી પ્રકાશમાં નથી આવી.

આમાં હરિષેણની धम्मपरिक्ख તેના વસ્તુની વિશિષ્ટતાને કારણે ખાસ રસપ્રદ છે. તેમાં મુખ્યત્વે બ્રાહ્મણ પુરાણો કેટલાં વિસંગત અને અર્થહીન છે તે સચોટ યુક્તિથી પુરવાર કરીને મનોવેગ પોતાના મિત્ર પવનવેગ પાસે જૈન ધર્મનો સ્વીકાર કરાવે છે તેની વાત છે. મનોવેગ પવનવેગની હાજરીમાં એક બ્રાહ્મણસભા સમક્ષ પોતાના વિશે સાવ અસંભવિત અને ઉટપટંગ જોડી કાઢેલી વાતો કહે છે, અને જ્યારે પેલા બ્રાહ્મણો તેને માનવાની ના પાડે છે, ત્યારે તે રામાયણ, મહાભારત અને પુરાણોમાંથી એવા જ અસંભવિત પ્રસંગો ને બનાવો સમર્થનમાં ટાંકી પોતાના શબ્દોને પ્રમાણભૂત ઠરાવે છે. હરિષેણની આ કૃતિનો આધાર કોઈ પ્રાકૃત રચના હતી. धम्मपरिक्खને અનુસરીને પછીથી સંસ્કૃત તેમ જ બીજી ભાષાઓમાં કેટલાંક કાવ્યો રચાયાં છે. હરિભદ્રકૃત પ્રાકૃત धूर्ताख्यान (ઈસવી આઠમી શતાબ્દી)માં આ જ કથાયુક્તિ અને પ્રયોજન છે અને આ વિષયની સર્વપ્રથમ કૃતિ હોવાનું માન તેને ફાળે જાય છે.

આ સંક્ષિપ્ત વૃત્તાંત પરથી અપભ્રંશ સાહિત્યમાં સંધિબંધનું કેટલું મહત્ત્વ છે તેનો ઘટતો ખ્યાલ મળી રહેશે.

રાસાબંધ

સંધિબંધની જેમ અપભ્રંશે સ્વતંત્રપણે વિકસાવેલું અને ઠીકઠીક પ્રચલિત બીજું સાહિત્યસ્વરૂપ તે રાસાબંધ. તે ઊર્મિપ્રધાન કાવ્યના પ્રકારની, મધ્યમ માપની (આમ સંસ્કૃત ખંડકાવ્યનું સ્મરણ કરાવતી) રચના હોવાની અટકળ થઈ શકે છે. તેમાં કાવ્યના કલેવર માટે સામાન્ય રીતે અમુક એક પરંપરારૂઢ માત્રા છંદ પ્રયોજાતો, જ્યારે વૈવિધ્ય માટે વચ્ચે વચ્ચે ભાતભાતના રુચિર છંદો વપરાતા. રાસાબંધનો પ્રચાર અને લોકપ્રિયતા આપણને ઉપલબ્ધ પ્રાચીનતમ પ્રાકૃત–અપભ્રંશના પિંગલકારોએ આપેલી રાસકની વ્યાખ્યાથી સમર્થિત થતાં હોવા છતાં (સ્વયંભૂ તો તેને પંડિતગોષ્ઠીઓમાં રસાયણરૂપ કહીને વખાણે છે) એક પણ પ્રાચીન રાસાનો નમૂનો તો ઠીક, નામે ય નથી જળવાઈ રહ્યું એ આશ્ચર્યની વાત છે. અને પાછળના સમયમાં પણ આ મહત્ત્વના અપભ્રંશ કાવ્યપ્રકાર વિશેનું આપણું અજ્ઞાન ઘટાડે તેવી સામગ્રી સ્વલ્પ છે. સતત અને ધરમૂળનું પરિવર્તન પામીને રાસો અર્વાચીન ભારતીય – આર્ય સાહિત્યમાં ઓગણીશમી શતાબ્દીના અંત સુધી ચાલુ રહ્યો છે. પ્રાચીન ગુજરાતી–રાજસ્થાની સાહિત્યમાં ઘણુંખરું જૈન લેખકોના રચેલા રાસાઓ સેંકડોની સંખ્યામાં મળે છે. પણ અપભ્રંશમાં ઠેઠ તેરમી શતાબ્દી લગભગના એક મુસ્લિમ રાસક અને બારમી શતાબ્દી લગભગના સાહિત્યદૃષ્ટિએ મૂલ્યહીન એક ઉપદેશાત્મક જૈન રાસ સિવાય બીજું કશું મળતું નથી. આમાં પાછલી કૃતિ उपदेशरसायनरास એંશી પદ્યોમાં સદ્‌ગુરુ અને સદ્ધર્મની પ્રશંસા અને કુગુરુ અને કુધર્મની નિંદા કરે છે. એ રાસકકાવ્ય એક પ્રતિનિધિરૂપ કૃતિ નહીં, પણ લોકપ્રિય સાહિત્યપ્રકારનો ધર્મપ્રચાર અર્થે ઉપયોગ કરવાનું ઉત્તરકાલીન ઉદાહરણ માત્ર છે. माणिक्य-प्रस्तारिका-प्रतिबद्ध-रास નામે એક વધારાના રાસનો ઉલ્લેખ બારમી શતાબ્દીની કૃતિમાં મળે છે.

અનિબદ્ધ રચનાપ્રકારો

જેમાં પ્રતિપાદ્ય વિષયને સંવિધાન, સંયોજન વગેરે દ્વારા ચોક્કસ ઘાટ આપવાનો હોય છે તેવા વિશિષ્ટ બંધવાળા પ્રકારો ઉપરાંત અપભ્રંશમાં બંધરહિત પ્રકારોનો પણ ઉપયોગ થતો.

અપભ્રંશ કથાકાવ્ય માટે સંધિબંધ જ નિયત હતો એવું નથી. કેમ કે આરંભથી અંત સુધી નિરપવાદપણે એક જ છંદ યોજાયો હોય અને બંધારણ કે વિષયાદિને અવલંબીને કોઈ પણ જાતના વિભાગ કે ખંડ પાડવામાં ન આવ્યા હોય તેવાં કથાકાવ્યોનાં આપણને એકબે નમૂના મળે છે. ઈ. સ. ૧૧૫૦માં સમાપ્ત થયેલું હરિભદ્રનું णेमिणाहचरिउ(સં. नेमिनाथचरितम्)નું પ્રમાણ ૮૦૩૨ શ્લોક જેટલું છે, અને તે સળંગ રડ્ડા નામના એક મિશ્ર છંદમાં રચાયું છે. હરિભદ્ર પહેલાં ઓછામાં ઓછી ત્રણ શતાબ્દી પૂર્વે થયેલા ગોવિંદ નામે અપભ્રંશ કવિએ પણ રડ્ડાછંદના વિવિધ પ્રકારોમાં એક કૃષ્ણકાવ્ય રચ્યું હોવાનું આપણે स्वयम्भूच्छन्दમાં આપેલાં ટાંચણો પરથી અનુમાન કરી શકીએ છીએ.

ધાર્મિક, તથા આધ્યાત્મિક કૃતિઓ

અપભ્રંશમાં કથાકાવ્યોની (અને સંભવતઃ ઊર્મિપ્રધાન કાવ્યોની) વિપુલતા હતી. એનો અર્થ એવો નથી કે તે બીજા કાવ્યપ્રકારોથી સાવ અજ્ઞાત હતો. ધાર્મિક-બોધક વિષયની કેટલીક નાની નાની રચનાઓ ઉપરાંત ત્રણ આધ્યાત્મિક કે યોગવિષયક રચનાઓ પણ મળે છે.

આમાં યોગીન્દુદેવ (અપ. જોઈંદુ)નો परमप्पपयासु (સં. परमात्मप्रकाशः) અને योगसार સૌથી વિશેષ મહત્ત્વના છે. परमप्पपयासुના બે અધિકારમાં પહેલામાંથી ૧૨૩ દોહા છે, જેમાં બાહ્યાત્મા, અંતરાત્મા અને પરમાત્માનું મુક્ત, રસવતી શૈલીમાં પ્રતિપાદન કરેલું છે. ૨૧૪ પદ્યો(ઘણાખરા દોહા)નો બીજો અધિકાર મોક્ષતત્ત્વ અને મોક્ષસાધન ઉપર છે. યોગીન્દુ સાધક યોગીને આત્મસાક્ષાત્કારનુ સર્વોચ્ચ મહત્ત્વ સમજાવે છે, અને તે માટેના માર્ગ તરીકે વિષયોપભોગ તજવાનો, ધર્મના માત્ર બાહ્યાચારને નહીં, પણ આંતરિક તત્ત્વને વળગી રહેવાનો, આંતરિક શુદ્ધિનો અને આત્માના સાચા સ્વરૂપનું ધ્યાન ધરવાનો ઉપદેશ આપે છે. योगसारમાં ૧૦૮ પદ્યો(ઘણાખરા દોહા)માં સંસારભ્રમણથી વિરક્ત મુમુક્ષુને પ્રબુદ્ધ કરવા માટે ઉપદેશ અપાયેલો છે. સ્વરૂપ, શૈલી અને સામગ્રીની દૃષ્ટિએ તેનું परमप्पपयासु સાથે ઘણું સામ્ય છે.

આ જ શબ્દો રામસિંહકૃત दोहापाहुड(સં. दोहाप्राभृत)ને લાગુ પડે છે. તેનાં ૨૧૨ દોહાબહુલ પદ્યોમાં એ જ આધ્યાત્મિક નૈતિક દૃષ્ટિ પર ભાર મુકાયો છે. તેમાં શરીર અને આત્માનો તાત્ત્વિક ભેદ નિરૂપી, પરમાત્માની સાથે આત્માની અભેદાનુભૂતિને સાધક યોગીનું સર્વોચ્ચ સાધ્ય ગણ્યું છે. વિચારમાં તેમ જ પરિભાષામાં આ ત્રણે કૃતિઓ બ્રાહ્મણ અને બૌદ્ધપરંપરાની અધ્યાત્મવિષયક કેટલીક કૃતિઓ સાથે ગણનાપાત્ર સામ્ય ધરાવે છે.

તેમની ભાષા અને શૈલી સરળ, સચોટ, લોકગમ્ય અને અલંકારના તથા પાંડિત્યના ભારથી મુક્ત છે. તેમને ભારતીય અધ્યાત્મરહસ્યવાદી સાહિત્યમાં જૈન પરંપરાના મૂલ્યવાન પ્રદાન તરીકે ગણાવી શકાય.

નાની ધાર્મિક કૃતિઓમાં લક્ષ્મીચંદ્રકૃત सावयधम्मदोहा (સં. श्रावकधर्मदोहा) અપરનામ नवकारश्रावकाचार (૧૬ મી શતાબ્દી પહેલાં) ઉલ્લેખાર્હ છે. તેમાં નામ પ્રમાણે શ્રાવકોનું કર્તવ્ય લોકભોગ્ય શૈલીમાં સમજાવ્યું છે. એ ઉપરાંત ૨૫ દોહાની મહેશ્વરકૃત સંયમવિષયક संयममञ्जरी (સંભવતઃ ૧૩મી શતાબ્દી લગભગ)નો, જિનદત્ત (ઈ. સ. ૧૦૭૬ – ૧૧૫૨) કૃત चर्चरी અને

कालस्वरूपकुल्कनो, અને ધનપાલકૃત सत्यपुरमण्डनमहावीरोत्साह (ઈસવી ૧૧મી શતાબ્દી), અભયદેવકૃત जयतिहुअण આદિ સ્તવનો વગેરેનો ઉલ્લેખ કરી શકાય.

પ્રકીર્ણ કૃતિઓ અને ઉત્તરકાલીન વલણો

સ્વતંત્ર કૃતિઓ ઉપરાંત જૈન પ્રાકૃત તથા સંસ્કૃત ગ્રંથોમાં અને ટીકાસાહિત્યમાં નાનામોટા સંખ્યાબંધ અપભ્રંશ ખંડો મળે છે. ઉદાહરણ લેખે થોડાંક જ નામ ગણાવીએ : વર્ધમાનકૃત ऋषभचरित (ઈ. સ. ૧૧૦૪), દેવચંદ્રકૃત शान्तिनाथचरित्र (ઇ. સ. ૧૧૦૪), હેમચંદ્રકૃત सिद्धहेम વ્યાકરણ તથ कुमारपालचरित અપરનામ द्व्याश्रय (ઈસવી ૧૨મી શતાબ્દી), રત્નપ્રભકૃત उपदेशमालादोघट्टीवृत्ति (ઈ. સ. ૧૧૮૨), સોમપ્રભકૃત कुमारपालप्रतिबोध (ઈ. સ. ૧૧૮૫), હેમહંસશિષ્યકૃત संजममंजरीवृत्ति (ઈસવી ૧૫મી શતાબ્દી પહેલાં) વગેરે.

સંધિ

તેરમી શતાબ્દી આસપાસ ટૂંકા અપભ્રંશ કાવ્યો માટે ‘ સંધિ ’ નામે (આગલા ‘ સંધિબંધ ’ થી આ ભિન્ન છે) એક નવો રચનાપ્રકાર વિકસે છે. તેમાં કોઈ ધાર્મિક, ઉપદેશાત્મક કે કથાપ્રધાન વિષયનું થોડાંક કડવાંમાં નિરૂપણ કરેલું હોય છે, અને તેમનો મૂળ આધાર ઘણી વાર આગમિક કે ભાષાસાહિત્યમાંનો — અથવા તો પૂર્વકાલીન ધર્મકથા સાહિત્યમાંનો — કોઈ પ્રસંગ કે ઉપદેશવચનો હોય છે. રત્નપ્રભકૃત अंतरंगसंधि (ઈસવી ૧૩મી શતાબ્દી), જયદેવકૃત भावनासंधि, જિનપ્રભ (ઈસવી ૧૩મી શતાબ્દી)કૃત चउरंगसंधि, मयणरेहासंधि (ઈ. સ. ૧૨૪૧) તથા અન્ય સંધિઓ, વગેરે.

તેરમી શતાબ્દીમાં અને તે પછી રચાયેલી કૃતિઓના ઉત્તરકાલીન અપભ્રંશમાં તત્કાલીન બોલીઓનો વધતો જતો પ્રભાવ છતો થાય છે. આ બોલીઓમાં પણ કયારનીય સાહિત્યરચના થવા લાગી હતી — જો કે પ્રારંભમાં આ સાહિત્ય અપભ્રંશ સાહિત્યપ્રકારો ને સાહિત્યવલણોના વિસ્તારરૂપ હતું. બોલચાલની ભાષાનો આ પ્રભાવ આછારૂપમાં તો ઠેઠ હેમચંદ્રીય અપભ્રંશ ઉદાહરણોમાં પણ છે. ઊલટપક્ષે સાહિત્યમાં અપભ્રંશપરંપરા ઠેઠ પંદરમી શતાબ્દી સુધી લંબાય છે અને કવચિત પછી પણ ચાલુ રહેલી જોવા મળે છે.

વસ્તુનિર્માણની અને ક્ષેત્રની મર્યાદા છતાં નૂતન સાહિત્યસ્વરૂપો અને છંદસ્વરૂપોનું સર્જન, પરંપરાપુનિત કાવ્યરીતિનું પ્રભુત્વ, વર્ણનનિપુણતા અને રસનિષ્પત્તિની શક્તિ — આ બધાં દ્વારા જૈન અપભ્રંશ સાહિત્યનાં જે સામાર્થ્ય અને સિદ્ધિ પ્રકટ થાય છે તેથી ભારતીય સાહિત્યના ઇતિહાસમ સહેજે તેને ઊંચું ને ગૌરવવંતું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય છે.

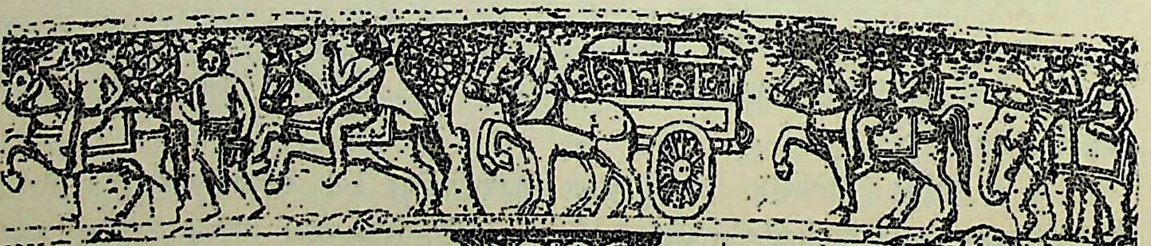

જૈન સાહિત્યનાં પદો વિષે વિચારણા

પ્રા. ચંદ્રકાન્ત મહેતા, એમ. એ., એલએલ. બી., પીએચ. ડી.

મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં વિશેષ વ્યાપક, વિશેષ લોકગમ્ય અને લોકપ્રિય, અને વિશેષ સમૃદ્ધ પ્રકાર પદનો હતો. બીજા પ્રકારોમાં આમજનતા મોટે ભાગે શ્રોતાનું કામ કરતી. પરન્તુ, આ પ્રકાર જ એવો હતો, કે જે આમજનતા, મુખપાઠ કરીને, હોંશે હોંશે, દિનપ્રતિદિન ગાઈને, આનંદ માણી શકે. આ પ્રકાર એ જૈન, જૈનેતર—બન્નેએ વિકસાવ્યો છે. આ પ્રકારની લોકપ્રિયતા એટલી બધી હતી, કે પ્રબંધલેખકો પ્રબંધોમાં, આખ્યાનકારો આખ્યાનમાં, રાસાલેખકો રાસામાં, ને વાર્તાકારો વાર્તામાં એનો છૂટથી ઉપયોગ કરતા. આમ પદનું સ્વતંત્ર સ્થાન તો હતું જ, પરન્તુ અન્ય પ્રકારો જોડે પણ એ પ્રકાર સંકળાયેલો હતો.

પદ એ ઊર્મિજન્ય કાવ્યપ્રકાર છે. એથી પદને આપણી અર્વાચીન કાવ્યસંજ્ઞા આપવી હોય તો, આપણે એને ઊર્મિકાવ્ય (Lyric) કહી શકીએ. આ પ્રકારમાં ઊર્મિ જેટલે અંશે પ્રબળ, કાવ્યોચિત, તેટલે અંશે કાવ્યની ઉત્તમતા. જે ઊર્મિનું પદમાં નિરૂપણ થાય છે તે ઊર્મિ બે પ્રકારની છે : એક ભક્તિની ને બીજી ઉપદેશાત્મક. ઉપદેશાત્મક ઊર્મિમાં પદો બહુધા શાન્તરસનાં હોય છે અને એ પ્રકાર જૈન સાહિત્યમાં સારા પ્રમાણમાં ખીલ્યો છે. જૈન સાહિત્યનાં પદમાં આપણને જે ઊર્મિ દૃષ્ટિએ પડે છે તે કાં તો કથનાત્મક યા તો વર્ણનાત્મક સ્વરૂપમાં વ્યક્ત થઈ છે.

મધ્યકાલીન સાહિત્યની એક વિશેષતા એ હતી કે સાહિત્ય અને જીવન પરસ્પર સુસંકલિત હતાં. જીવનની જરૂરિયાતમાંથી જ સાહિત્યનો ઊગમ થતો. આથી સાહિત્યનું આખું માળખું જ જીવન જોડે સંકળાયેલું રહેતું. આથી મધ્યકાલીન કવિ સામાન્ય માનવી માટે જ કાવ્ય રચતો, સામાન્ય જનને માટે જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરતો અને એથી સાહિત્ય સર્વજનસુલભ અને સર્વજનનું બની જતું. એ સમયનો કવિ સામાન્ય જનથી ભિન્ન એવી ભાષામાં બોલતો કે કાવ્ય રચતો નહિ. કાવ્યનો રચયિતા અને ભાવક બન્ને એક જ પ્રકારની દૈનંદિન વપરાતી ભાષાથી સંકળાયલા હતા. કવિ સામાન્ય જીવનમાંથી જ પોતાનાં વકતવ્ય માટે ઉપમાનો ને દૃષ્ટાન્તો શોધતો; લોકજીવન જ એનું પ્રેરણાસ્થાન હતું; જેમકે સમયસુન્દર એમનાં નીચેના પદમાં લોકજીવનનું જ રૂપક આપે છે.

ધોબીડાં તું ધોજે મનનું ધોતીયું રે,
    રખે રાખતો મેલ લગાર રે.

એણે રે મેલે જગ મેલો કર્યો રે,
    વિણ ધોયું ન રાખે લગાર રે.

શમદમ આદે જે શીલ રે,
    તિહાં પખાળે આતમ ચીર રે.

તપવજે તપ તડકે કરી રે,
    જાળવજે નવબ્રહ્મ વાડ રે.

છાંટા ઉરાડે પાપ અઢારના રે,
એમ ઉજળું હોંશે તત્કાળ રે,
આલોયણ સાબુડો સુધો કરે રે,
રખે આવે માયા શેવાળ રે.

અહીં ધોબીનું રૂપક સર્વજનગમ્ય છે એટલું જ નહિ, પણ સરળ શબ્દોમાં, સ્પષ્ટતાથી, રૂપકને કવિએ એક પછી એક ધોબીનાં જીવનનાં ચિત્રો આપીને સમજાવ્યું છે.

આ ઉપરાંત, માનવનાં નિત્યકર્મને પણ પદમાં ગૂંથી તે દ્વારા ધર્મોપદેશ કરવાની, કે માનવને એનાં કર્તવ્યનું સ્મરણ કરાવવાની રીતિ પણ પદમાં દૃષ્ટિએ પડે છે. વાચક જશવિજયજીનું નીચેનું સ્તવન—

દાતણ કરતાં ભાવિયેજી, પ્રભુગુણ જલમુખ શુદ્ધ
ઉલ ઉતારી પ્રમત્તતાજી, હો મુખ નિર્મળ બુદ્ધ
જતનાએ સ્નાન કરીએજી, કાઢો મેલ મિથ્યાય
દીવો કરતાં ચિંતવોજી, જ્ઞાનદીપક સુપ્રકાશ
નયચિંતા ઘી પૂરીયુંજી, તત્ત્વપાત્ર સુવિશાળ

રોજના અત્યંત અગત્યનાં એવાં કાર્યો કવિએ અહીં પોતાનું વક્તવ્ય શ્રોતાઓના હૃદયમાં સોસરું ઊતરે માટે આલેખ્યાં છે. આમ પદનું સાહિત્ય જીવન જોડે ઘનિષ્ઠ રીતે સંકળાયેલું હતું.

સામાન્ય રીતે જૈનસાહિત્યનાં પદ સિવાયના બીજા પ્રકારોમાં, જૈનેતર સાહિત્યની કે ધર્મની અસર જવલ્લે જ દૃષ્ટિએ પડે છે, પરંતુ, જૈનપદોની એક વિલક્ષણતા એ છે કે, એમાં જૈનેતર પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની અસર સ્પષ્ટપણે દૃષ્ટિએ પડે છે. વૈરાગ્યપ્રધાન જૈનધર્મમાં પ્રેમલક્ષણા ભક્તિને સ્થાન ન હોય, પણ જૈનકવિઓ પદના પ્રકારમાં પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની પરિભાષામાં જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરે છે. શૃંગારની પરિભાષાનો ઉપયોગ, જૈનકવિઓને પણ જૈનેતર કવિઓ જેટલો જ સુગમ હતો, અને એ વાહન દ્વારા પણ પોતાની ઊર્મિઓ અત્યંત આસાનીથી વ્યક્ત કરતા. ઈશ્વરને પ્રિયતમ માનીને એની ઉપાસના કરાઈ હોય એવું કવિ આનંદઘનજીનું નીચેનું પદ જુઓ :

મુને મ઼ારો નાહોલિયો મળવાનો કોડ
મીઠાબોલા મનગમતા માહજી વિણ તનમન થાએ મોડ
કાંઈ ઢોળિયો ખાટ પછેડી તળાઈ ભાવે ન રેશમ સોડ
અબ સબ મારે ભલારે ભલેરા, મારે આનંદઘન શિરમોડ
(જૈનકાવ્યદોહન, પૃ. ૪૭)

બીજા એક પદમાં એઓ કહે છે :

નિરાધાર કેમ મૂકી, શ્યામ મને નિરાધાર કેમ મૂકી
કોઈ નહિ હું કોણ શું બોલું, સહુ આલંબન ટૂંકી
પ્રાણનાથ તુમે દૂર પધાર્યા, મૂકી નેહ નિરાશી
જણજણના નિત્ય પ્રતિગુણ ગાતાં, જનમારો કિમ જાશી
(જૈનકાવ્યદોહન, પૃ. ૪૭)

અહીં ઈશ્વરને માટે 'શ્યામ', 'પ્રાણનાથ' વગેરે સંબોધનો, સ્પષ્ટ રીતે, ગોપી જ કૃષ્ણને સંબોધતી હોય, અને પોતાની વિરહવેદના આર્દ્ર શબ્દોમાં વ્યક્ત કરતી હોય એમ લાગે છે. આનંદઘનજીનું નીચેનું પદ તો એથી પણ વધારે આગળ વધીને, જાણે દયારામ કે નરસિંહે જ લખ્યું હોય, એવી ઉત્કટ શૃંગારની પરિભાષામાં પોતાના ભાવો વ્યક્ત કરે છે.

પિયાબીન સુધબુધ ખુંદી હો
વિરહ ભુજંગ નિશા સમે,
મેરી સેજડી ખૂંદી હો.
નિશદિન જોઉં તારી વાટડી
ઘેરે આવો રે ઢોલા.

અથવા

મીઠો લાગે કંતડો ને ખારો લાગે લોક
કંતવિહુણી ગોઠડી, તે રણમાંહે પોક.

જાણીતા કવિ યશોવિજયજી પણ એમના પદોમાં ગોપીભાવને મળતો પ્રિયતમ–પ્રિયતમાનો ભાવ નિરૂપે છે. એમના એક પદમાં એઓ કહે છે :

પિયુ પિયુ કરી તુમને જપું રે
હું ચાતક તુમે મેહ
(ચૈત્યવંદન ચોવીશી)

આ પંક્તિ મીરાંની આવી જ ઉપમાવલિઓની સહજ રીતે આપણને યાદ આપે છે. આ પરિભાષા એ જૈનપદ સાહિત્યની એક વિશેષતા ગણી શકાય. જૈન રાસાઓ, કથાઓ તથા પ્રબંધોમાં શૃંગાર આવે છે, પણ એ શૃંગારનું એ પ્રકારોમાં સ્વતંત્ર સ્થાન છે. ભક્તિની ભાવનાને વ્યક્ત કરવાની પરિભાષા યા તો રૂપક તરીકે નહિ.

જૈનો મુખ્યત્વે વાણિજ્યપ્રધાન કોમ હોઈ વાણિજ્યની પરિભાષા કે વાણિજ્ય જગતમાંથી લીધેલાં રૂપકો પણ જૈનપદોમાં સ્વાભાવિક રીતે મળે છે. આપણા વાણિજ્યપ્રધાન મુલકને એવાં રૂપકો વિશેષ રૂચે અને ગ્રાહ્ય બને એ સ્વાભાવિક છે. આનંદઘનજીના નીચેના પદમાં જિંદગી ટૂંકી છે અને જીવનમાં આપણે જે સાધવાનું છે તે ઘણું છે, એ હકીકત વેપારની પરિભાષામાં સમજાવતાં એઓ કહે છે :

મૂલડો થોડો ભાઈ વ્યાજડો ઘણો રે,
કેમ કરી દીધો રે જાય.
તલપદ પૂંજી મેં આપી સઘળી રે,
તોય વ્યાજ પૂરું નહિ થાય.
વ્યાપાર ભાગો જલવટ થલવટે રે,
ધીરે નહિ નિશાની માય.
વ્યાજ છોડાવી કોઈ ખંદા પરઠવે,
તો મૂલ આખું સમ ખાય.
હાટડું મારું રૂડાં માણેકચોકમાં રે,
સાજનિયાનું મનડું મનાય.
આનંદઘન પ્રભુ શેઠ શિરોમણિ રે,
બાંહડી ઝાલજો રે આય.

આમાં કવિનું વક્તવ્ય વિશદાર્થ છે અને રૂપકની પસંદગી પણ યોગ્ય રીતે થઈ છે. નરસિંહ મહેતાનું

અમે તો વહેવારિયા રામનામના રે,
વેપારી આવે છે બધા ગામગામના રે.

એ પદનું આ પદ વાંચતાં સ્મરણ થાય છે. બન્ને કાવ્યમાં વેપારીની સૃષ્ટિમાંથી જ રૂપકની પસંદગી કરી છે. આ બન્નેમાં સમાનતા લાગે તેનું કારણ એ કે બન્ને પદોનું પ્રેરણાસ્થાન એક જ હતું. બન્ને જનતાને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખીને, તેમને પોતાનું વકતવ્ય શી રીતે સુગ્રાહ્ય બને, એ દૃષ્ટિએ લખાયાં છે.

જૈનપદોનો બીજો એક વિશિષ્ટ પ્રકાર ‘સજ્જાય’નો છે. ‘સજ્જાય’ શબ્દ સ્વાધ્યાયપરથી આવ્યો છે. રોજ પ્રાતઃકાળે કે પ્રભાતે, પોતાના અધ્યયન માટે ભક્તજનો પોતાને જે સજ્જાયો મુખપાઠ હોય તે બોલી જતા. આ રીતે સજ્જાયો મુખપાઠ થતી અને મંદિરોમાં પણ ગવાતી. સજ્જાયોનો મુખ્ય હેતુ લોકોને ધર્મમાર્ગે દોરવાનો હતો. ધર્મમાર્ગે લોકોને બે રીતે દોરી શકાય: કાં તો સીધેસીધો ઉપદેશ આપીને, અથવા તો દૃષ્ટાન્ત દ્વારા — વાર્તા કહીને — પરોક્ષ ઉપદેશ આપીને. સજ્જાયમાં આ બન્ને પ્રકારો દૃષ્ટિએ પડે છે.

કથાપ્રધાન સજ્જાયોમાં કોઈ ત્યાગી પુરુષનું કે મુનિનું જીવનવૃત્તાંત સંક્ષેપમાં આવતું. જેમકે:

ઈલાચીપુત્રની સજ્જાય

નામ ઈલાપુત્ર જાણીએ, ધનદત્ત શેઠનો પુત્ર
નટવી દેખીને મોહીયો, જે રાખે ઘર સૂત્ર
કરમ ન છૂટે રે પ્રાણિયા — ટેક.
નિજકૂળ છાંડી રે નટ થયો, નાણી શરમ લગાર — કરમ૦

ઈકિપૂર આવ્યો રે નાચવા, ઊંચો વાંસ વિશેષ
તિહાં રાય જોવા રે આવીયો, મળિયા લોક અનેક — કરમ૦
દોય પગ પહેરી રે પાવડી, વાંસ ચઢ્યો ગજગેલ
નિરાધાર ઉપર નાચતો ખેલે નવનવા ખેલ — કરમ૦

ઢોલ વજાડે રે નટવી, ગાયે કિન્નર સાદ
પાયતલ ઘુઘરા રે ઘમઘમે, ગાજે અંબર નાદ — કરમ૦
તિહાં રાય ચિત્તમેં ચિંતવે, લુબ્ધો નટવીની સાથ
જો નટ પડે રે નાચતો, તો નટવી મુજ હાથ — કરમ૦

ધન ન આપે રે ભૂપતિ, નટ જાણે રે ભૂપ વાત
હું ધનવંછુ રે રાયનો, ને રાય વંછે મુજ ઘાત. — કરમ૦
તવતિહાં મુનિવર પેખિયા, ધનધન સાધુ નિરાગ
ધિક્ ધિક્ વિખીયા રે જીવરે, એમ તે પામ્યો વૈરાગ. — કરમ૦

થાળ ભરી શુદ્ધ મોદકે, પદમણી ઊભેલાં બહાર
લો લો કે છે લેતા નથી, ધનધન મુનિ અવતાર — કરમ૦
સંવર ભાવે રે કેવળી, થયો મુનિ કર્મ ખપાય
કેવળ મહિમા રે સૂર કળે, લબ્ધિવિજે ગુણ ગાય — કરમ૦

(સજ્જાયમાળા)

આ કથામાં કોઈ પણ જાતના ઉપચાર વિના સીધું કથન જ છે. એમાં કથાને ઉચિત વસ્તુ છે. જરા પણ આડફેટે ગયા વિના લબ્ધિવિજયજીએ કથા કહી છે. ઈલાચીપુત્રને વૈરાગ એ મધ્યબિન્દુ છે. અહીં કથાનો દૃષ્ટાન્ત તરીકે ઉપયોગ થયો છે. આમાં ઊર્મિ નથી—સીધું કથન છે. મુનિ વખતસર આવી પહોંચ્યા અને પેલાને રાજા તરફ ઈર્ષા થવાને બદલે વૈરાગ આવ્યો એમાં વાર્તાની ખરી ચમત્કૃતિ રહેલી છે. આવી ઘણી કથાઓ સજ્જાયોમાં કહેવાઈ છે. જેમકે 'મેતારનીમુનિની સજ્જાય', 'અરણિકમુનિની સજ્જાય', 'વયરમુનિની સજ્જાય', 'પણકમુનિની સજ્જાય' વગેરે.

સજ્જાયોમાં ક્યારેક સીધો ઉપદેશ પણ આવતો.

કડવાં ફળ છે ક્રોધનાં જ્ઞાની એમ બોલે.
રીસતણો રસ જાણીએ, હલાહલ તોલે.
ક્રોધ કોડ પૂરવતણું સંજય ફળ થાય,
ક્રોધ સહિત તપ જે કરે, તે તો લેખે ન થાય.

(વિવિધ સ્તવનાદિ સમુચ્ચય ગ્રન્થ)

અથવા,

દૃષ્ટિરાગે નવ લાગીએ, વળી જાગીએ ચિત્તે
માગીએ શીખ જ્ઞાન તણી, હવે ભાંગીએ નિત્યે
જ્ઞાની ગુરુવચન રળિયામણાં, કટુ તીરસાં લાગે
દૃષ્ટિરાગે ભ્રમ ઊપજે, વધે જ્ઞાન ગુણ રાગે.

(પદસજ્જાયમાળા)

બીજા જૈનપદના પ્રકારોમાં 'ચૈત્યવંદન' અને 'સ્નાત્રપૂજા' છે. આ બન્ને પ્રકારો મંદિરો જોડે સંકળાયેલા છે. ચૈત્યનો અર્થ જૈનમંદિર એવો થાય છે. સામાન્ય રીતે ભક્તો દેવનાં દર્શન કરતી વખતે જે ગીતો કે સ્તુતિ બોલતાં તે ચૈત્યવંદન કહેવાય છે. એટલે સ્વાભાવિક રીતે એમાં મંદિરસ્થ દેવનું સંકીર્તન આવતું. ખીમાએ ચૈત્યવંદનામાં શત્રુંજય તીર્થમાહાત્મ્ય ગાયું છે. જેમકે :

આરાધું સામિણી શારદા, જિમ મતિ તૂડી દિઈ મતિ અદા
શ્રી શેત્રંજ તીરથ વંદેવિ, ચૈત્રપ્રવાડિ રચેઈ સંખેવિ.
પાલીતાણઈ પ્રણમું પાશ, જિમ મનવાંછિત પૂરઈ આશ
લલિતાસૂર વંદુ જિનવીર, સોઈ સાયર જિમ ગુહિર ગંભીર

આ પદમાં આરંભ શિરસ્તામુજબ શારદાની સ્તુતિથી કર્યો છે અને લાંબા કાવ્યમાં જે પ્રમાણેનો વિધિ હોય છે, તેવો વિધિ અહીં છે. અંતમાં તો કવિ મંદિરસ્થ દેવની જ પ્રશસ્તિ કરે છે. કવિ કહે છે :

એહ સ્વામી તુમ ગુણ જેટલા, મઈ કિમ બોલઈ તેતલા,
તું ગુણ રયણાયર હોઈ, એહ સંખ્યા નવ જણાઈ કોઈ.

આ રીતે ચૈત્યવંદન એટલે, ચૈત્યમાં વંદન કરતી વખતે ગવાતાં પદો. આ પ્રકારમાં કવચિત્ સ્થળ-માહાત્મ્ય પણ આવતું. મૂળા નામનાં કવિએ એનાં ચૈત્યવન્દનમાં બધા દેવની વંદના કરીને અંતે કહ્યું છે કે :

કલસ

છન્નુએ જિનવર છન્નુએ જિનવર
અર્ધો ઊર્ધ્વ ને લોક તીચ્છે જાણું એ
સાસય અસાસય જૈન પડિમા, તે સર્વે વખાણું એ
ગચ્છ વિધિપક્ષ પૂજ્ય પરગટ, શ્રી ધર્મમૂર્તિ સુરિંદું એ
વાચક મૂલા કહે ભણતાં ઋદ્ધિ, વૃદ્ધિ આણંદું એ

અહીં કાવ્યના શીર્ષકમાં જે કળશ છે, તે સ્નાનપૂજામાં જે કળશ આવે છે તે નહિ, પણ 'કળશ' એ ઢાળનું કે કાવ્યમાં વપરાતી દેશીનું નામ હતું તે છે. જ્યારે સ્નાત્રપૂજાના ગીતને જે કળશ નામ આપવામાં આવે છે તે સ્નાત્રપૂજામાં વપરાતા કળશને લઈ ને હોવું જોઇએ.

ચૈત્યવંદન જેવો જ મંદિરની જોડે સંકળાયેલો અને મંદિરની જરૂરિયાતમાંથી ઉદ્ભવેલો પદપ્રકાર એ 'સ્નાત્રપૂજા' વા 'કળશ'નો છે. દેવને સ્નાન કરાવતી વખતે અને પુષ્પ ચઢાવતી વખતે 'સ્નાત્રપૂજા' કે 'કળશ'નાં પદો ગવાતાં. આ પદોમાં સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ આવતો.

પવિત્ર ઉદક લેઈ અંગ પખાળી,
વિવિધ વસ્ત્ર જાદવ ચિરમાળી
કુસુમાંજલિ મહેલો આદિ જિણંદા,
તોરા ચરણકમળ સેવે ચોસઠ જિણંદા
—કુસુમાંજલિ

× × ×

સરસ સેવંતરિ માલતીમાલા,
ગુણ ગાવે ઇમિ કવિય દેવાલા,
ઋષભ અજિત સંભવ ગુણ ગાઉં,
અનંત ચોવીશી જિનની ઓળગ પાઉં,
કુસુમાંજલિ મહેલો વીરજિણંદા,
તોરા ચરણકમળ સેવે ચોસઠ ઇંદા

અહીં પ્રથમ પંક્તિમાં અંગપ્રક્ષાલનનો અને દ્વિતીય પંક્તિમાં કુસુમાર્પણનો ઉલ્લેખ આવે છે. બીજા એક સ્નાત્રપૂજાનાં પદમાં કહ્યું છે :

નિર્મળ જળ કળશે નવડાવે
વસ્ત્ર અમુલખ અંગ ધરાવે
કુસુમાંજલિ મેલો આદિ જિણંદા
સિદ્ધ સ્વરૂપી અંગ પખાળી
આતમનિર્મળ હૂઈ સુકુમાલિ
—કુસુમાંજલિ

(આર્યા)

મચકુંદ ચંપમાલઈ, કમલાઈ પુફ્ફપંચ વણ્ણાઈ
જગનાહ ન્હવણ સમયે, દેવા કુસુમાંજલિ દીતી.
(વીરવિજય સ્નાત્રપૂજા)

આમાં પણ સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે. કુસુમાર્પણ વિધિનો પણ ઉલ્લેખ છે. એ વિધિમાં વિશેષતઃ તો ફૂલોની નામાવલિ આવતી.

કેટલાક જૈનપદપ્રકારો અન્ય જૈનેતર પદપ્રકારોની જોડે તદ્દન મળતા આવે છે અને બન્ને પ્રકારોમાં બાહ્યદૃષ્ટિએ કશો ભેદ નથી હોતો. ભેદ માત્ર, જે દેવની સ્તુતિ હોય તેનાં નામનો હોય છે. બાકી અન્ય રીતે એટલી બધી જૈન અને જૈનેતર પદપ્રકારમાં આપણને સમાનતા જડે છે કે જો દેવોનાં નામની અદલબદલ કરીએ તો એ પ્રકાર જૈનસાહિત્યનો છે કે જૈનેતર સાહિત્યનો છે તે વરતાય નહિ. આવો પ્રકાર આરતીનો છે. આરતીની વિધિ જૈન, વૈષ્ણવ, શિવ, માતા બધા મંદિરોમાં સમાન હતો એટલું જ નહિ, પણ બધે એક જ શિરસ્તા પ્રમાણે આરતી ઉતારાતી. એટલે બન્ને પ્રકારનાં મંદિરોની જરૂરિયાત પૂરી પાડવા માટે આરતીનો પદપ્રકાર ઉદ્‌ભવ્યો. મહાવીરસ્વામીની નીચેની આરતી કાંઈક વિશિષ્ટ હોવાથી આપી છે.

મહાવીર સ્વામીની આરતી

જયદેવ જયદેવ જયસુખના સ્વામી પ્રભુ (૨)
તુજને વંદન કરીએ (૨) ભવભવના ભામી — જયદેવ જયદેવ.

સિદ્ધારથના સુત, ત્રિશલાના જાયા પ્રભુ (૨)
જશોદાના છે કંથજી, (૨) ત્રિભુવન જગરાયા — જયદેવ જયદેવ.

બાળપણામાં આપ ગયા રમવાને કાજે — પ્રભુ (૨)
દેવતાએ દીધો પડછાયો (૨) બીવરાવા કાજે — જયદેવ જયદેવ.

એકવારનું રૂપ લીધું છે નાગનું પ્રભુ (૨)
બીજીવારનું રૂપ (૨) લીધું છે બાળકનું — જયદેવ જયદેવ.

બાળક બીના સહુ પોતે નથી બીના પ્રભુ (૨)
દેવતાનું કાંઈ નવ ચાલ્યું, (૨) હારી જતા રહેતા, — જયદેવ જયદેવ.

એવા છે ભગવાન, મહાવીર તમે જાણો પ્રભુ (૨)
વન્દે છે સહુ તેને (૨) નમે રાયરાણો — જયદેવ જયદેવ.

અહીં ‘ જયદેવ ’ ‘ જયદેવ ’નું ધ્રુવ ઉચ્ચારણ, એકીપંક્તિના ઉત્તરાર્ધનું અને બેકી પંક્તિના પૂર્વાર્ધનું બે બે વાર ઉચ્ચારણ, એ બધા જૈનેતર તેમ જ જૈન આરતીના પદના બાહ્ય સ્વરૂપનાં સમાનતત્ત્વો છે. અને મહાવીરને બદલે માત્ર નામો બદલીને કૃષ્ણને માટે પણ આ આરતી ચાલી શકે એટલી સમાનતા છે.

મહાવીરના જીવનના સંક્ષેપમાં આલેખાયલા પ્રસંગોને બદલે કૃષ્ણના પ્રસંગો મૂકી શકાય. આ સમાનતાનું કારણ ઉપર જણાવ્યું તેમ આરતી ગાવાની પદ્ધતિ, તેમ જ આરતી બધે સરખી હતી, વિધિ સરખો હતો, તે જ છે. બીજી એક લાક્ષણિક આરતી જોઈએ :

અપ્સરા કરતી આરતી જિન આગે
હાં રે જિન આગે રે જિન આગે
હાં રે એ તો અવિચળ સુખડાં માગે,
હાં રે નાભિનંદન પાસ — અપ્સરા૦
તા થઈ નાટક નાચતી, પાય ઠમકે હાં રે દોય ચરણે
— ઝાંઝર ઝળકે.
હાં રે સોવન ઘુઘરી ઘમકે, હાં રે લેતી ફૂદડી બાઈ— અપ્સરા૦
તાલ મૃદંગ ને વાંસળી ડફ વેણા, હાં રે રૂડા ગાવંતી સ્વર ઝીણા
હાં રે મધુર સુરાસુર નયણાં, હાં રે જોતી સુખડું નિહાળ—અપ્સરા૦

આની વિશેષતા એ છે કે એમાં દેવના વર્ણનને બદલે દેવની આરતી ઉતારતી અપ્સરાનું વર્ણન છે. આરતીના અંતભાગમાં કવિ સીધું જ જિનવરને પોતાની સઘળી આપત્તિ હરવાની વિનતિ કરે છે. સામાન્ય રીતે આરતીમાં મૂર્તિનું વર્ણન, સ્તવન, કે એની પ્રશસ્તિ જ હોય છે. આ રીતે આરતીનો પ્રકાર જૈન તેમ જ જૈનેતર સાહિત્યમાં બાહ્ય દૃષ્ટિએ—વસ્તુ અને નિરૂપણ બન્ને દૃષ્ટિએ—અત્યંત સમાન હતો.

આ રીતે જૈન પદસાહિત્યમાં વૈવિધ્ય ઘણું છે. એમાં કથન, વર્ણન, ઊર્મિ વગેરે ઘણાં તત્ત્વો આવતાં. આ પ્રકાર જૈનેતર સાહિત્યની જેમ વિશેષતઃ મંદિરો જોડે સંકળાયલો હતો, અને તેથી જ આ પ્રકાર, જૈનેતર પદપ્રકાર જેટલો જ સમૃદ્ધ, પોતાની આગવી વિશેષતાવાળો, છતાં બીજાં પદોથી સાવ અસ્પૃષ્ટ નહિ પણ સંકળાયેલો એવો મનોહારી સાહિત્ય પ્રકાર છે. અને મધ્યકાલીન પદ સાહિત્યની અઢળક સમૃદ્ધિમાં, જૈનસાહિત્યકારોનો ફાળો પણ ચિરસ્મરણીય છે, સારો તેમ જ માતબર છે એ હકીકત દીવા જેવી સ્પષ્ટ છે.

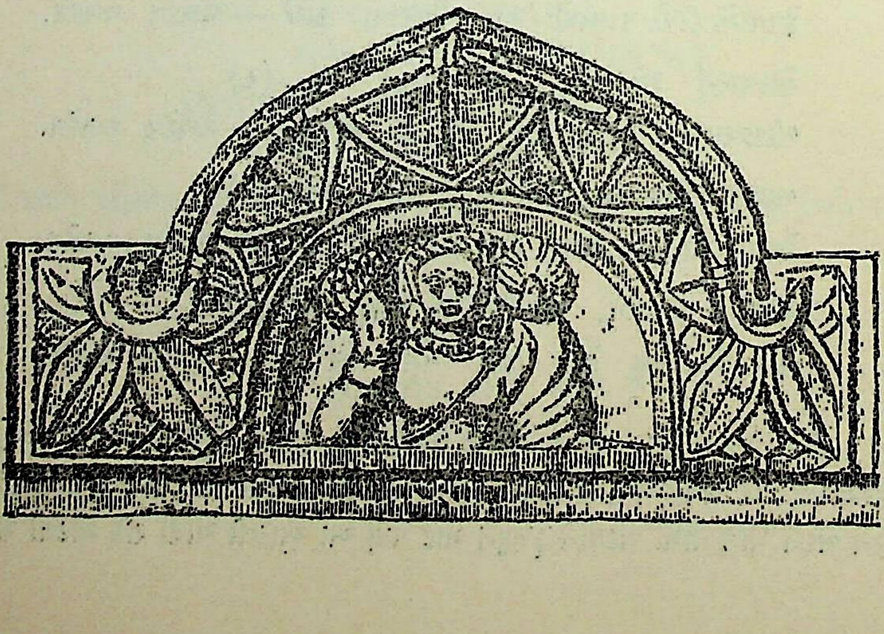

॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

પ્રથમાનુયોગશાસ્ત્ર અને તેના પ્રણેતા
સ્થવિર આર્યકાલક

મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી

૧

परिआओ पव्वज्जाभावाओ नत्थि वासुदेवाणं।
होइ बलाणं सो पुण **पढमणुओगाओ** णायव्वो ॥

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४१२.

દીક્ષા લઈ ન શકવાને કારણે વાસુદેવોનો દીક્ષાપર્યાય નથી પણ બલદેવો દીક્ષા સ્વીકાર કરે છે માટે તેમનો દીક્ષાપર્યાય છે. તે અમે અહીં જણાવતા નથી એટલે જેઓ જાણવા ઇચ્છે તેમણે **પ્રથમાનુયોગ**થી તે જાણી લેવો.

૨

तत्थ ताव **सुहम्मसामिणा** जंबूनामस्स **पढमाणुओगे** तित्थयर–चक्कवट्टि–दसारवंसपरूवणागयं **वसुदेवचरियं** कहियं ति। वसुदेवहिंडी प्रथमखंड पत्र २

સુધર્માસ્વામિએ જંબૂ નામના પોતાના શિષ્ય સમક્ષ **પ્રથમાનુયોગ**ના વ્યાખ્યાન પ્રસંગે તીર્થંકર ચક્રવર્તી અને દશારોનું ચરિત્ર વર્ણવતાં **વસુદેવ**નું ચરિત્ર કહ્યું હતું.

૩

मेहावीसीसम्मि ओहामिए **कालगज्जथेराणं** ।
सज्झंतिएण अह सो खिंसंतेणं इमं भणिओ ॥ १५३८ ॥

સ્થવિર આર્યકાલકનો બુદ્ધિમાન શિષ્ય દીક્ષા મૂકીને ઘરવાસમાં ચાલ્યો ગયો ત્યારે તેમના સહાધ્યાયીએ તેમને (કાલકાર્યને) ઉપહાસ કરતાં આ પ્રમાણે કહ્યું :

अतिबहुतं मेऽधीतं ण य णातो तारिसो **मुहुत्तो** उ ।
जत्थ थिरो होइ सेहो निक्खंतो अहो ! हु बोद्धव्वं ॥ १५३९ ॥

આપ ઘણું ભણ્યા, પણ તેવું મુહૂર્ત નથી જાણી શક્યા કે જે મુહૂર્ત્તમાં નિષ્ક્રાંત એટલે દીક્ષા લીધેલો શિષ્ય સ્થિર રહે. અહો ! હજુ આપને પણ કેટલું જાણવાનું છે ?

तो एव स ओमत्थं भणिओ अह गंतु सो **पतिट्ठाणं** ।
आजीविसगासम्मी सिक्खति ताहे **निमित्तं** तु ॥ १५४० ॥

આ પ્રમાણે જ્યારે સહાધ્યાયીએ **કાલકાર્ય**ને તેમની ઊણપ જણાવી ત્યારે તેમણે **પ્રતિષ્ઠાનપુર**માં જઈને **આજીવકો**ની પાસે **નિમિત્તવિદ્યા**નો અભ્યાસ કર્યો.

अह तम्मि अहीयम्मी वडहेट्ठ निविट्ठ अन्नयकयाति ।
सालाहणो णरिंदो पुच्छतिमा तिण्णि पुच्छाओ ॥ १५४१ ॥

અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યા ભણી ગયા બાદ કોઈક પ્રસંગે **સ્થવિર આર્યકાલક** વડના ઝાડ નીચે બેઠ છે, ત્યાં **શાલિવાહન** રાજા આવી ચઢે છે અને આચાર્યને આ પ્રમાણે ત્રણ પ્રશ્નો પૂછે છે:

पसुलिंडि पढमयाए बितिय समुद्दे व केत्तियं उदयं ।
ततियाए पुच्छाए **महुरा** य पडेज्ज व ण व ? त्ति ॥ १५४२ ॥

પહેલો પ્રશ્ન : બકરી વગેરે પશુઓની લીંડીઓ કેમ થાય છે? બીજો પ્રશ્ન : સમુદ્રમાં પાણી કેટલું? ત્રીજો પ્રશ્ન : **મથુરા**નું પતન થશે કે નહિ?

पढमाए वामकडगं देइ तहिं सयसहस्समुल्लं तु ।
बितियाए कुंडलं तू ततियाए वि कुंडलं बितियं ॥ १५४३ ॥

પહેલા પ્રશ્નના ઉત્તરથી પ્રસન્ન થઈ રાજા શાલિવાહને આચાર્યને લાખમૂલ્યનું ડાબું કડું ભેટ કર્યું. બીજા અને ત્રીજા પ્રશ્નના ઉત્તરથી રાજી થઈ રાજાએ બે કુંડલો ભેટ કર્યાં.

आजीविता उवट्ठित गुरुदक्खिणं तु एत अम्हं ति ।
तेहि तयं तू गहितं इयरोचितकालकज्जं तु ॥ १५४४ ॥

આ પ્રસંગે, આર્યકાલકને નિમિત્તવિદ્યા ભણાવનાર **આજીવક** સાધુઓ ત્યાં હાજર હતા, તેમણે 'આ અમારી ગુરુદક્ષિણા છે' એમ કહી તે ત્રણેય ઘરેણાં લઈ લીધાં. અને આર્યકાલક પોતાના સમયોચિત કાર્યમાં લાગી ગયા.

णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी अट्ठम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ ।
लोगणुजोगं च तहा **पढमणुजोगं** च दोऽवेए ॥ १५४५ ॥

જેનો સૂત્રપાઠ ભુલાઈ ગયો છે, છતાં જેનો અર્થ એટલે કે ભાવ ભુલાયો નથી એવા **લોકાનુયોગ** અને **પ્રથમાનુયોગ** નામના બે ગ્રંથોની તેમણે પુનઃ રચના કરી.

बहुहा **निमित्त** तहियं **पढमणुजोगे** य होंति चरियाइं ।
जिण-चक्कि-दसाराणं पुव्वभवाइं निबद्धाइं ॥ १५४६ ॥

ઉપરોક્ત બે ગ્રંથો પૈકી પહેલામાં ઘણા પ્રકારની નિમિત્તવિદ્યા અને **પ્રથમાનુયોગ**માં જિનેશ્વર, ચક્રવર્તિ અને દશારોના પૂર્વભવાદિને લગતું ચરિત્ર ગૂંથવામાં આવ્યાં છે.

ते काऊणं तो सो **पाडलिपुत्ते** उवट्ठितो संघं ।
बेइ कतं मे किंची अणुग्गहट्ठाय तं सुणह ॥ १५४७ ॥

આ બન્નેય ગ્રંથોની રચના કરીને તેઓ **પાટલીપુત્ર**માં પહોંચ્યા અને ત્યાંના શ્રીસંઘને કહ્યું કે: મેં કાંઈક કર્યું છે તેને અનુગ્રહ કરીને તમે સાંભળો.

तो संवेण निसंतं सोऊणय से पडिच्छितं तं तु ।
तो तं पतिट्ठितं तू णयरम्मी कुसुमणामम्मि ॥ १५४८ ॥

તે પછી **પાટલીપુત્ર**માં વસતા શ્રીસંઘે તે ધ્યાનમાં લીધું. અને ધ્યાનમાં લઈને તેમના ગ્રંથોને આદરપૂર્વક સ્વીકાર્યા. આ રીતે **કુસુમપુર**–પાટલીપુત્રમાં તે ગ્રંથો માન્ય થયા.

एमादीणं करणं गहणं णिज्जूहणा **पकप्पो** ऊ ।
संगहणीण य करणं अप्पाहाराण तु पकप्पो ॥ १५४९ ॥

पंचकल्प महाभाष्य

ઇત્યાદિ નષ્ટ-ભ્રષ્ટ, શીર્ણ-વિશીર્ણ અને વિસ્મૃત ગ્રંથોની નિર્યૂહણા—ઉદ્ધાર કરવો તેનું નામ **પ્રકલ્પકલ્પ** કહેવાય છે. તદુપરાંત અલ્પ યાદશક્તિ ધરાવનાર માટે **સંગ્રહણી ગ્રંથો**ની રચના કરવી તે પણ **પ્રકલ્પકલ્પ** નામથી જ ઓળખાય છે.

૪

पच्छा तेण सुत्ते णट्ठे **गंडियाणुयोगा** कया। **संगहणीओ** वि कप्पट्ठियाणं अप्पधारणाणं उवग्गहकराणि भवंति। **पढमाणुओगमाई** वि तेण कया। पंचकल्पभाष्य चूर्णी

પછી (અષ્ટાંગનિમિત્ત ભણી ગયા બાદ) તેમણે સૂત્ર નષ્ટ થઈ ગયેલ હોવાથી **ગંડિકાનુયોગ**ની પણ રચના કરી. **સંગ્રહણીઓ**ની પણ રચના કરી. અલ્પસ્મરણશક્તિવાળા બાળજીવોને ઉપકારક થશે એમ માનીને **પ્રથમાનુયોગ** આદિની પણ રચના તેમણે કરી.

૫

एतं सव्वं **गाहाहिं जहा पढमाणुओगे** तहेव इहइं पि वन्निज्जति वित्थरतो।
आवश्यकचूर्णी भाग १ पत्र १६०.

આ બધું **ગાથાઓ** દ્વારા જેમ **પ્રથમાનુયોગ**માં વર્ણન છે તે જ પ્રમાણે અહીં વિસ્તારથી—લંબાણથી વર્ણન કરવું.

૬

पूर्वभवाः खल्वमीषां **प्रथमानुयोगतो**ऽवसेयाः।
आवश्यकहारिभद्री वृत्ति पत्र १११–२

આમના (કુલકરોના) પૂર્વભવોનું ચરિત્ર **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવું.

૭

तत्र **पुष्कलसंवर्त्तो**ऽस्य भरतक्षेत्रस्य अशुभभावं पुष्कलं संवर्त्तयति नाशयतीत्यर्थः। एवं शेषनियोगोऽपि **प्रथमानुयोगा**नुसारतो विज्ञेयः। अनुयोगद्वार हारिभद्री वृत्ति पत्र ८०

પુષ્કલસંવર્ત્ત નામનો મેઘ ભરતક્ષેત્રની અશુભ પરિસ્થિતિનો નાશ કરે છે. આ જ પ્રમાણે બાકીના મેઘોની હકીકત વગેરે **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવું.

૮

से किं तं अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—**मूलपढमाणुओगे** य **गंडियाणुओगे** य। से किं तं **मूलपढमाणुओगे?** एत्थ णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवलोगगमणाणि चवणाणि य जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया यं तित्थप्पवत्तणाणि य संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउं वन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ संघस्स चउव्विहस्स वा वि परिमाणं जिण-मणपज्जव-ओहिनाण-सम्मत्तसुयनाणिणो य वाई अणुत्तरगई य जत्तिया य सिद्धा पाओवगया य जे जहिं जत्तियाइं भत्ताइं छेयइत्ता अंतगडा मुणिवरुत्तमा तमरओघविप्पमुक्का सिद्धिपहमणुत्तरं च संपत्ता, एए

अन्ने य एवमाइया भावा **मूलपढमाणुओगे** कहिया आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति, से त्तं मूलपढमाणुओगे।

से किं तं **गंडियाणुओगे?** २ अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ चक्कहरगंडिआओ दसारगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ हरिवंसगंडियाओ भद्दबाहुगंडियाओ तवोकम्मगंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ उस्सप्पिणीगंडियाओ ओसप्पिणीगंडियाओ अमर-नर-तिरिय-निरयगइगमणविविहपरियट्टणाणुओगे, एवमाइयाओ गंडियाओ आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति, से त्तं गंडियाणुओगे।

समावायांगसूत्र सूत्र १४७.

અનુયોગ શું છે? અનુયોગ બે પ્રકારે છે: **મૂલપ્રથમાનુયોગ** અને ગંડિકાનુયોગ. **મૂલપ્રથમાનુયોગ શું છે?** મૂલપ્રથમાનુયોગમાં અરહંત ભગવંતોના પૂર્વભવો, દેવલોકમાં અવતાર, દેવલોકથી ગુજરવું, જન્મ, મેરુ ઉપર જન્માભિષેક, રાજ્યપ્રાપ્તિ, દીક્ષાની પાલખી, દીક્ષા, તપસ્યા, કેવલજ્ઞાનપ્રાપ્તિ, ધર્મપ્રવર્તન, સંઘયણ, સંઠાણ, ઊંચાઈ, આયુષ્ય, શરીરનો વર્ણવિભાગ, શિષ્યો, સમુદાયો, ગણધરો, સાધ્વીસંખ્યા, પ્રવર્તનીઓ—સમુદાયની આગેવાન સાધ્વીઓ, ચતુર્વિધ સંઘની જનસંખ્યા, કેવળજ્ઞાની મનઃપર્યાયજ્ઞાની અવધિજ્ઞાની ચતુર્દશપૂર્વધરો વાદીઓ અનુત્તરવિમાનગામીઓની અને સિદ્ધોની સંખ્યા, જેટલા ઉપવાસ કરી સિદ્ધિમાં ગયા ઇત્યાદિ ભાવોનું વર્ણન **પ્રથમાનુયોગ**માં કરાયું છે.

ગંડિકાનુયોગ એટલે શું? ગંડિકાનુયોગ અનેક પ્રકારે છે—કુલકરગંડિકાઓ, તીર્થંકરગંડિકાઓ, ચક્રવર્તિગંડિકાઓ, દશારગંડિકાઓ, વાસુદેવગંડિકાઓ, હરિવંશગંડિકાઓ, ભદ્રબાહુગંડિકાઓ, તપઃકર્મગંડિકાઓ, ચિત્રાંતરગંડિકાઓ, ઉત્સર્પિણીગંડિકાઓ, અવસર્પિણીગંડિકાઓ, દેવ-મનુષ્ય-તિર્યંચ-નરકગતિ પરિભ્રમણ આદિને લગતી ગંડિકાઓ ઇત્યાદિ હકીકતો ગંડિકાનુયોગમાં કહેવાઈ છે.

૯

નંદિસૂત્રમાં સૂત્ર ૫૬માં સમવાયાંગ સૂત્રને મળતો જ પાઠ છે;

* * * *

ઉપર એકી સાથે જે અનેક ઊતારાઓ આપવામાં આવ્યા છે તે '**પ્રથમાનુયોગ** શું છે?' તે વિષે વિશિષ્ટ પ્રકાશ પાથરનારા ઉલ્લેખો છે. આજે કોઈક કોઈક વિરલ વ્યક્તિઓને બાદ કરતાં ભાગ્યે જ કોઈને ખબર હશે કે "**પ્રથમાનુયોગ** એ ધર્મકથાનુયોગને લગતો વિસ્તૃત અને વિશિષ્ટ ગ્રંથ હતો." એ ગ્રંથ આ યુગમાં જ અપ્રાપ્ય થઈ ગયો છે એમ નથી, પરંતુ સૈકાઓ પૂર્વે તે નષ્ટ થઈ ગયો છે—ખોવાઈ ગયો છે. આજે માત્ર એ ગ્રંથ વિશેની સ્થૂલ માહિતી પૂરી પાડતા કેટલાક વીખરાયલા ઉલ્લેખો જ આપણા સામે વર્તમાન છે. આમ છતાં આ વિરલ ઉલ્લેખો દ્વારા આપણને કેટલીક એ ગ્રંથ અંગેની અને તે સાથે કેટલીક બીજી પણ મહત્ત્વની હકીકતો જાણવા મળી શકે છે. આપણે અનુક્રમે તે જોઈએ:

૧. ઉપર આપેલાં પ્રાચીન અવતરણો પૈકી ત્રીજા અને ચોથા ઉલ્લેખથી એ વાત સ્પષ્ટ થાય છે કે પ્રાચીન કાળમાં એટલે સૂત્રકાળમાં **પ્રથમાનુયોગ** નામનો ગ્રંથ હતો જ, જેને નંદિસૂત્રકાર અને સમવાયાંગસૂત્રકારે **મૂલપ્રથમાનુયોગ** નામથી ઓળખાવેલ છે. પરંતુ કાળબળે તે લુપ્ત થઈ જવાને લીધે તેમાંની જે અને જેટલી હકીકતો મળી આવે તે આધારે તેનો પુનરુદ્ધાર **સ્થવિર આર્યકાલકે** કર્યો હતો. વસુદેવહિંડી, **આવસ્યકચૂર્ણી**, **આવશ્યક સૂત્ર** અને **અનુયોગદ્વારસૂત્રની હારિભદ્રી** વૃત્તિ આદિમાં **પ્રથમાનુયોગ**ના નામનો જે ઉલ્લેખ છે તે આ પુનરુદ્ધરિત પ્રથમાનુયોગને લક્ષીને છે. જ્યારે આવશ્યક સૂત્રની નિર્યુક્તિમાં (અવતરણ ૧) આવતો પ્રથમાનુયોગ નામનો ઉલ્લેખ સંભવ છે કે **મૂલપ્રથમાનુયોગ**ને લક્ષીને પણ હોય!

૨. આઠ અને નવ ઉલ્લેખને આધારે આપણને જાણવા મળે છે કે **પ્રથમાનુયોગ**માં માત્ર તીર્થંકરોનાં જ જીવનચરિત્ર હતાં, પરંતુ ત્રીજા ઉલ્લેખને આધારે પ્રથમાનુયોગમાં તીર્થંકરોનાં ચરિત્ર ઉપરાંત ચક્રવર્તી અને દશારોનાં પણ ચરિત્રો હતાં. મને લાગે છે કે સૂત્રકાળમાં પ્રથમાનુયોગનું ગમે તે સ્વરૂપ હો, પરંતુ સ્થવિર આર્યકાલકે પુનરુદ્ધાર કર્યો .ત્યારે તેનું સ્વરૂપ આચાર્ય શ્રી**ભદ્રે**શ્વરકૃત **કહાવલી,** શ્રી**શી**લાંકાચાર્યકૃત **ચઉપણ્ણમહાપુરિસચરિય** અને આચાર્ય શ્રી **હે**મચંદ્રકૃત ત્રિષષ્ટિશલાકાપુરુષચરિતને મળતું હોવું જોઈએ.

૩. પાંચમો ઉલ્લેખ જોતાં સમજી શકાય છે કે – પ્રથમાનુયોગ ગ્રંથની રચના ગદ્યપદ્યરૂપે હતી પરંતુ પ્રસ્તુત ગ્રંથ આજે આપણા સામે નથી, એટલે તેની ભાષાશૈલી, વર્ણનપદ્ધતિ, છંદો વગેરે વિષય. આ ગ્રંથમાં શી શી વિશેષતા અને વિવિધતાઓ હશે, એ આપણે ખરા સ્વરૂપમાં સમજી શકીએ તેમ નથી. તે છતાં અનુયોગદ્વારસૂત્ર ઉપરની હરિભદ્રી વૃત્તિ(ઉલ્લેખ ૭)માં પાંચ મહામેઘોનું વર્ણન જોવાં માટે પ્રથમાનુયોગ જોવાની ભલામણ કરી છે. એ ઉપરથી પ્રથમાનુયોગમાં પ્રસંગે પ્રસંગે ઘણી ઘણી હકીકતોનો સમાવેશ હોવાનો સંભવ છે.

૪. સમવાયાંગ સૂત્ર અને નંદિસૂત્ર(ઉલ્લેખ ૮–૯)માં પ્રથમાનુયોગને બદલે મૂલપ્રથમાનુયોગ નામ મળે છે, તેનું કારણ મને એ લાગે છે કે – જ્યાં સુધી સ્થવિર આર્યકાલકે પ્રથમાનુયોગનો પુનરુદ્ધાર નહોતો કર્યો ત્યાંસુધી સૂત્રકાલીન પ્રથમાનુયોગને પ્રથમાનુયોગ નામથી જ ઓળખવામાં આવતો હશે, પરંતુ સ્થવિર આર્યકાલકે એ ગ્રંથનો ઉદ્ધાર કર્યા બાદ સૂત્રકાલીન પ્રથમાનુયોગને મૂલપ્રથમાનુયોગ નામ આપ્યું હોવું જોઈએ. જો કે સમવાયાંગસૂત્ર–નંદિસૂત્રના ચૂર્ણી–વૃત્તિકારોએ વ્યુત્પત્ત્યર્થસિદ્ધ કેટલાક વૈકલ્પિક લાક્ષણિક અર્થો આપ્યા છે, પણ મારી સમજ પ્રમાણે એ વાસ્તવિક અર્થને સ્પર્શ નથી કરતા. જો પ્રથમાનુયોગમાં માત્ર તીર્થંકરોનાં જ ચરિત્રો હોત તો ચૂર્ણીવૃત્તિકારોના અર્થો લાક્ષણિક ન રહેતાં વાસ્તવિક બની જાત. પરંતુ આપણે સંભાવના કરી શકીએ છીએ ત્યાં સુધી પ્રથમાનુયોગમાં માત્ર તીર્થંકરોનાં જ ચરિત્રો હોય અને તેમની સાથે અનિવાર્ય રીતે સંબંધ ધરાવતા ચક્રવર્તિ–વાસુદેવાદિનાં ચરિત્રો હોય જ નહિ, એ કદીયે બનવાયોગ્ય નથી. એટલે પ્રથમાનુયોગમાં માત્ર તીર્થંકરોનાં ચરિત્રો હોવાની વાત નંદિસૂત્ર–સમવાયાંગસૂત્રમાં મળતી હોય કે માત્ર તીર્થંકર–ચક્રવર્તિ–દશારોનાં ચરિત્રો હોવાની વાત પંચકલ્પભાષ્યાદિમાં મળતી હોય તો પણ આપણે એ સમજી જ લેવું જોઈએ કે પ્રથમાનુયોગમાં ઉપર કહેવામાં આવ્યું તેમ ત્રેસઠ શલાકાપુરુષ અને તે સાથે સંબંધ ધરાવતી અનેક વ્યક્તિઓનાં ચરિત્રોનો સમાવેશ થવો જોઈએ. એટલે ચૂર્ણી–વૃત્તિકારોની વ્યાખ્યાને આપણે અહીં લાક્ષણિક જ સમજવી જોઈએ.

દિગંબર આચાર્ય **શ્રીશુભચંદ્ર** પ્રણીત **અંગપણ્ણત્તી**માં **પ્રથમાનુયોગ**માં શું છે તે વિષે આ હકીકત જણાવી છે—

पढमं मिच्छादिट्ठिं अव्वदिकं आसिदूण पडिवज्जं ।
अणुयोगो अहियारो वुत्तो **पढमाणुयोगो** सो ॥ ३५ ॥
चउवीसं तित्थयरा पइणो बारह छखंडभरहस्स ।
णव बलदेवा किण्हा णव पडिसत्तू पुराणाइं ॥ ३६ ॥
तेसिं वण्णंति पिया माई णयराणि तिण्ह पुव्वभवे ।
पंचसहस्सपयाणि य जत्थ हु सो होदि अहियारो ॥ ३७ ॥

દ્વિતીય અધિકાર.

દિગંબર આચાર્ય શ્રી **બ્રહ્મહેમચંદ્ર** વિરચિત **શ્રુતસ્કંધ**માં આ પ્રમાણે નિર્દેશ છે :

तित्थयर चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेव पडिसत्तू ।
पंचसहस्सपयाणं एस कहा **पढमअणिओगो** ॥ ३१ ॥

પ્રથમાનુયોગના પ્રણેતા

પ્રથમાનુયોગના સ્વરૂપ વિશે ટૂંકમાં જણાવ્યા પછી તેના પ્રણેતા સ્થવિર **આર્યકાલક** વિષે ટૂંકમાં જણાવવામાં આવે છે :

૧. પંચકલ્પમહાભાષ્ય અને તેની ચૂર્ણી(ઉલ્લેખ ૩–૪)માં જણાવ્યા પ્રમાણે સ્થવિર આર્યકાલકે **પ્રથમાનુયોગ** ગ્રંથનો પુનરુદ્ધાર કર્યો હતો. તે જ રીતે તેમણે **ગંડિકાનુયોગ** નામના ગ્રંથનો પણ ઉદ્ધાર કર્યો હતો. **લોકાનુયોગ** અને જૈન આગમો ઉપરની **સંગ્રહણીઓ**ની રચના પણ તેમણે કરી હતી. **ગંડિકાનુયોગ**માં શું છે તે માટે આઠમો ઉલ્લેખ જોવા ભલામણ છે. **ગણિતાનુયોગ**માં અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યા ગૂંથવામાં આવી છે. અને **સંગ્રહણીઓ**, એ જૈન આગમોની ગાથાબદ્ધ સંક્ષિપ્ત વિષયાનુક્રમણિકા છે. આજે આપણે સ્પષ્ટ રીતે જાણી શકતા નથી કે 'અહીં જણાવેલી **સંગ્રહણીઓ** કઈ ?' તે છતાં સંભવતઃ ભગવતીસૂત્ર, પન્નવણાસૂત્ર, જીવાભિગમસૂત્ર, આવશ્યકસૂત્ર આદિમાં આવતી સંગ્રહણીગાથાઓ જ આ **સંગ્રહણીઓ** હોવી જોઈએ.

૨. સ્થવિર **આર્યકાલકે** અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાનું અધ્યયન **આજીવકશ્રમણો** પાસે કર્યું હતું. એટલે કે **નિમિત્તવિદ્યાના વિષયમાં સ્થવિર આર્યકાલક માટે આજીવકોનું ગુરુત્વ અને વારસો હતાં.** શ્રમણ વીર વર્ધમાન ભગવાને અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાને સામાન્ય રીતે ભણવાનો નિષેધ કરેલ હોઈ જૈન શ્રમણોમાંથી એ વિદ્યા ભૂંસાઈ ગઈ હતી, પરંતુ સમયબળને કારણે એ જ વિદ્યા પુનઃ શીખવાની આવશ્યકતા જણાતાં આર્યકાલકને આજીવક નિર્ગ્રંથોનું સાન્નિધ્ય સાધવું પડ્યું છે. પંચકલ્પ ભાષ્યમાં "રાજા **શાલિવાહને આર્યકાલક**ને ઉપહૃત કરેલ કટક અને કુંડલોને આજીવકશ્રમણો પોતાની ગુરુદક્ષિણા તરીકે લઈ ગયા." આ ઉલ્લેખથી "તે જમનામાં આજીવકનિર્ગ્રંથોમાં પરિગ્રહધારી નિર્ગ્રંથો પણ હતા" એ જાણવા મળે છે.

૩. પ્રથમાનુયોગાદિના પ્રણેતા સ્થવિર આર્યકાલક રાજા શાલિવાહનના સમકાલીન હતા. રાજા શાલિવાહને આર્યકાલકને પૂછ્યું હતું કે "મથુરાનું પતન થશે કે નહિ" તેનો ઉત્તર આર્યકાલકે શો આપ્યો હતો એ **પંચકલ્પમહાભાષ્ય**માં જણાવ્યું નથી, તે છતાં રાજાએ પ્રસન્ન થઈ કુંડલ આપ્યાનો ઉલ્લેખ છે તે ઉપરથી રાજાને **વિજય** જણાવ્યો હશે. જે વિજયનો ઉલ્લેખ વ્યવહારભાષ્ય–ચૂર્ણી–ટીકામાં અને બૃહત્કલ્પભાષ્ય[૧]–ચૂર્ણી–ટીકામાં આવે છે. એટલે પંચકલ્પભાષ્યમાં જે પ્રશ્નોનો નિર્દેશ છે એ

---

[૧] महुराणत्ती दंडे णिग्गय सहसा अपुच्छियं कयरं ।
तस्स य तिक्खा आणा दुहा गया दो वि पाडेउं ॥१५२॥

गोयावरीए नईए तडे **पइट्ठाणं** नयरं । तत्थ **सालवाहणो** राया । तस्स **खरगओ** अमच्चो । अन्नया सो **सालवाहणो** राया दंडनायगं आणवेइ—**महुरं** घेत्तूण सिग्घमागच्छ । सो य सहसा अपुच्छिऊण दंडेहिं सह णिग्गतो । ततो चिंता जाया—का **महुरा** घेत्तव्वा ? **दक्खिणमहुरा उत्तरमहुरा** वा ? । तस्स आणा तिक्खा, पुणो पुच्छिअं न तीरति । ततो दंडा दुहा काऊण दोसु वि पेसिया, गहियातो दो वि **महुरातो** । ततो वद्धावगो पेसिओ । तेणागंतूण राया वद्धावितो—देव ! दो वि महुरातो गहियातो ॥

व्यवहारभाष्य–टीका–भाग ४ पत्र ३६

સંભવિત જ છે. અને આ જ કારણસર રાજા શાલિવાહનનો કાલકાર્યસાથેનો સંબંધ ધર્મભાવનામાં પરિણમ્યો હશે એમ લાગે છે. અને આ જ ધર્મસંબંધને કારણે કાલકાર્યે રાજા શાલિવાહનની ખાતર ભાદ્રપદ શુકલ પંચમીને બદલે ભાદ્રપદ શુકલ ચતુર્થીને દિવસે સંવત્સરી પર્વની આરાધના કરી હતી. આ ઉપરથી આપણે એટલું નિશ્ચિત કરી શકીએ છીએ કે અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાપારંગત, પ્રથમાનુયોગ–ગંડિકાનુયોગ–લોકાનુયોગ–અને જૈન આગમોની સંગ્રહણીઓના પ્રણેતા, તેમ જ પંચમીને બદલે ચતુર્થીને દિવસે સંવત્સરી કરનાર સ્થવિર આર્યકાલક એક જ છે અને તે રાજા શાલિવાહનના સમકાલીન હતા. આ યુગમાં રાજા શાલિવાહન સાથે સંબંધ ધરાવનાર બીજા કોઈ કાલકાર્ય હોવાનો ઉલ્લેખ મળતો નથી. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રણેતા શ્યામાર્ય–કાલકાર્ય આ કાલકાર્ય કરતાં જુદા જ છે.

પ્રથમાનુયોગનું ગુપ્ત સ્થાનમાં અસ્તિત્વ

પ્રથમાનુયોગ ગ્રંથ ઘણા ચિરકાળથી નષ્ટ થઈ જવા છતાં પણ એ ગ્રંથ ગુપ્ત સ્થાનમાં હોવાનો અને ત્યાંથી લાવી દેવતાએ કોઈ કોઈ આચાર્યને વાંચવા માટે આપ્યાની કેટલીક કિંવદંતીઓ આપણે ત્યાં ચાલતી હતી અને તેવા બે ઉલ્લેખો મારા જોવામાં આવ્યા છે. જે પૈકીનો એક ઉલ્લેખ જયસાગરકૃત **ગુરુપારતંત્ર્યસ્તવવૃત્તિની** પ્રારંભિક પ્રસ્તાવનામાં છે અને બીજો ઉલ્લેખ હર્ષભૂષણકૃત **શ્રાદ્ધવિધિવિનિશ્ચય**માં છે. પહેલા ઉલ્લેખમાં પ્રથમાનુયોગગ્રંથની હાથપોથી શાસનદેવતાએ ખરતર આચાર્ય શ્રી **જિનદત્તસૂરિ**ને આપ્યાનો, અને વાંચ્યાનો ઉલ્લેખ છે. અને બીજામાં ગુર્જરેશ્વરમહારાજા શ્રીકુમારપાલદેવપ્રતિબોધક આચાર્ય શ્રી **હેમચંદ્ર**ને આપ્યાનો, એક રાત્રિમાં વાંચી લીધાનો અને તદનુસારે **ત્રિષષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર** રચ્યાનો ઉલ્લેખ છે, જે વિશેનો જરા સરખો ય નિર્દેશ આચાર્ય શ્રી હેમચંદ્રે પોતાના શલાકાપુરુષચરિત્રમહાકાવ્યમાં કર્યો નથી. આ **દેવતાઈ** વાતોને આપણે કેટલે અંશે માનવી એ એક ગંભીર કોયડો જ છે. આવી રચનાઓની નકલ કરવા દેવામાં કે કરી લેવામાં ન આવે, એ એક નવાઈની જ વાત છે ને ? અસ્તુ, એ બન્ને ય ઉલ્લેખો આ નીચે નોંધવામાં આવે છે :—

૧. "ज्ञानदर्शनचारित्रागण्यपुण्यातिशयसत्त्वरञ्जितश्री**शासनदेवतावितीर्णोज्जयिनीस्थितमहाकालप्रासाद**मध्यवर्त्तिशैलमयभारपट्टबीटकान्तःसंगोपितपुरा**सिद्धसेनदिवाकर**वाचितदशपूर्वधरश्री**कालिकसूरि**विरचितानेकाद्भुतश्री**प्रथमानुयोग**सिद्धान्तपुस्तकरत्नार्थसम्यक्परिज्ञानजगद्विदितप्रभावाः निजप्रतिभावैभवविस्मापितदेवसूरयः श्री**जिनदत्तसूरयः**" गुरुपारतन्त्र्यस्तववृत्तिः

૨. "श्री **हेमाचार्याः प्रथमानुयोगं देवताप्रसादाल्ल**ब्ध्वैकरात्राववधार्य च तदनुसारेण **त्रिषष्टिचरित्राणि** जग्रन्थुरिति ।" श्राद्धविधिविनिश्चय.

ગુરુપારતંત્ર્યસ્તવવૃત્તિના ઉલ્લેખમાં સિદ્ધસેનદિવાકરવાચિત એમ ઉલ્લેખ કર્યો છે તે માત્ર કલ્પિત અને અપ્રામાણિક છે. કારણ કે આવશ્યકચૂર્ણિકાર **જિનદાસગણિ** અને આવશ્યક તથા અનુયોગદ્વાર-વૃત્તિકાર યાકિનીમહત્તરાસૂનુ આચાર્ય શ્રી **હરિભદ્રે** ચૂર્ણિ અને વૃત્તિમાં અનેક ઠેકાણે અને અનેક વિષયમાં **પ્રથમાનુયોગની** સાક્ષી આપી છે, જેમાંના થોડા ઉપયોગી ઉલ્લેખો મેં આ લેખના પ્રારંભમાં આપ્યા છે; એટલે પ્રથમાનુયોગની પ્રતિ મેળવવા માટે કે વાંચવા માટે આચાર્ય શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરને દેવતાની જરૂરત જરા ય ન હતી, ભલે શ્રી જિનદત્તસૂરિ મહારાજને હો. શ્રી હર્ષભૂષણે કરેલો ઉલ્લેખ પણ કલ્પિત જ છે. સંભવ છે ગુરુપારતંત્ર્યસ્તવવૃત્તિકારની સ્પર્ધામાં હર્ષભૂષણે પણ એક તુક્કો ઊભો કર્યો હોય. તુક્કો પણ જેવોતેવો નહિ, એક રાત્રિમાં જ આચાર્યશ્રી હેમચંદ્રે પ્રથમાનુયોગ વાંચી લીધો. મને તો લાગે છે કે બન્નેય મહાનુભાવોએ તુક્કા જ ઉડાવ્યા છે.

આવા દેવતાઈ તુક્કાઓ આપણે ત્યાં ઘણા ચાલ્યા છે. પ્રભાવકચરિત્રકાર આચાર્યે પણ એક આવી જ કથા રજૂ કરી છે —

“એવામાં **બુદ્ધાનંદ** મરણ પામી વ્યંતર થયો અને પૂર્વના વૈરભાવથી તેણે મલ્લવાદિકૃત **નયચક્ર** અને **પદ્મચરિત્ર** એ બન્નેય ગ્રંથો પોતાને તાબે કર્યા અને તે કોઈને વાંચવા દેતો ન હતો.”

પ્રભાવકચરિત્ર ભાષાંતર પૃષ્ઠ ૧૨૩.

ખરેખર આવી કથાઓ અર્થ વિનાની જ છે. **મલ્લવાદી** પ્રાચીન **નયચક્ર** ગ્રંથને વાંચે છે ત્યારે તેમના હાથમાંથી દેવતા તે ગ્રંથને પડાવી લઈ જાય છે, અને એની જ ભલામણથી નિર્માણ થયેલા **નયચક્ર** ગ્રંથની રક્ષા કરવાની એ દેવતાને પરવા નથી, ત્યારે તો આવી કથાઓ ઉપહાસજનક જ લાગે ને ?

અંતમાં પ્રાસંગિક ન હોવા છતાં ય મેં આ લેખમાં પંચકલ્પમહાભાષ્ય અને તેની ચૂર્ણીના ઉલ્લેખોની નોંધ કરી છે એટલે મારે કહેવાની વસ્તુ અનુપ્રસક્ત તો છે જ, અને તે એ કે પંચકલ્પમહાભાષ્ય નામ સાંભળી ઘણા વિદ્વાનો એમ ધારી લે છે કે पंचकल्प નામનું સૂત્ર હોવું જોઈએ પરન્તુ ખરું જોતાં તેમ છે જ નહિ. પંચકલ્પમહાભાષ્ય એ કલ્પભાષ્યમાંથી છૂટો પાડેલો એક ભાષ્યવિભાગ હોઈ તેનું મૂળ સૂત્ર જો કહી શકાય તો તે કલ્પસૂત્ર (બૃહત્કલ્પસૂત્ર) જ કહી શકાય—જેમ આવશ્યકનિર્યુક્તિમાંથી ઓઘનિર્યુક્તિને જુદી પાડવામાં આવી છે—દશવૈકાલિકનિર્યુક્તિમાંથી પિંડનિર્યુક્તિને જુદી કરી છે તે જ રીતે કલ્પભાષ્યમાંથી પંચકલ્પભાષ્યને પણ અલગ કરવામાં આવ્યું છે. બૃહત્કલ્પસૂત્રની કેટલીક જૂની સૂત્રપ્રતિઓના અંતમાં पंचकल्पसूत्रं समाप्तम् આવો ઉલ્લેખ જોઈ કેટલાક ભ્રમમાં પડી જાય છે પરંતુ ખરી રીતે ભ્રમમાં પડવું જોઇએ નહિ. એવા નામોલ્લેખવાળી પ્રતિઓ બધી બૃહત્કલ્પસૂત્રની જ પ્રતિઓ છે.

……

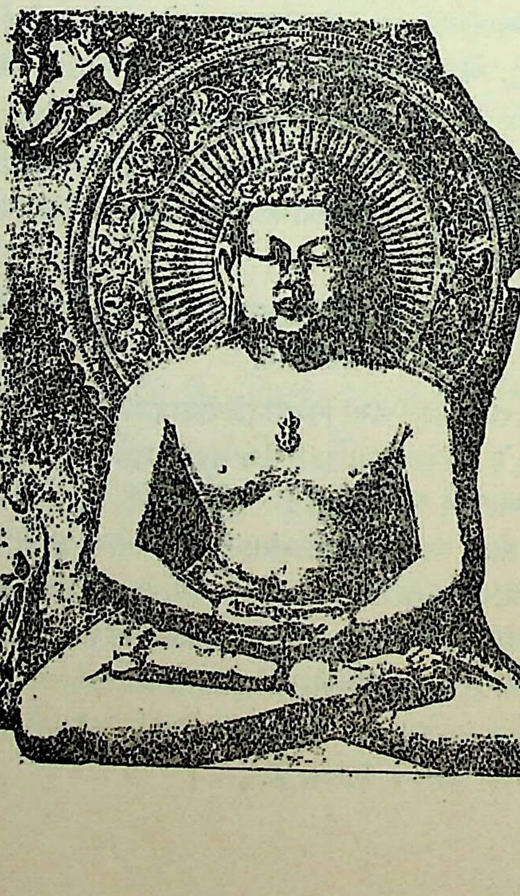

શ્વે૦ ગુરુ વિમલસૂરિની પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા

પં. લાલચંદ્ર ભગવાન ગાંધી

જિજ્ઞાસુ શિષ્યના ઉપયોગી પ્રશ્નોના, ગુરુએ આપેલા તાત્ત્વિક ઉત્તરોથી ગૂંથાયેલી આ પ્રશ્નોત્તરમાલા સર્વમાન્ય અમૂલ્ય ઉપદેશ-રત્નોથી શોભતી હોઈ એ ખરેખર રત્નમાલા જેવી મહત્ત્વની કીમતી છે, રત્નમાલાના નામને સાર્થક કરે છે. બાહ્ય રત્નોની માલા કરતાં આંતરિક ગુણ-રત્નોની આ માલા અધિક પ્રભાવક, મંગલ-કલ્યાણકારક, આરોગ્ય-દાયક, આયુષ્ય-વર્ધક, હિતકર, શાંતિકર અને સુખકારક થઈ શકે તેવી છે. સાચા રત્ન-પરીક્ષકો (ઝવેરીઓ) તેની ઊંચી કિંમત આંકી શકે છે. એની રચના હજારેક વર્ષ પૂર્વની હોવા છતાં તેનાં તેજસ્વી રત્નો જરાય ઝાંખાં પડ્યા વિના હજી ઝળહળતાં જણાય છે. સંસ્કૃત ભાષામાં ૨૯ આર્યા–ગાથામાં એ રચાયેલી છે. તેની પહેલી ગાથા મંગલ અને અભિધેય દર્શાવે છે અને તેની છેલ્લી ગાથા કવિના નામની નિર્દેશક છે. એ બે ગાથાઓને માલાના મેર તરીકે ગણીએ તો ૨૭ ગાથા-નક્ષત્રોથી દીપતી આ રત્નમાલા નક્ષત્રમાલા જેવી શોભે છે. કંઠને ભાર ન કરે અને કંઠને શોભાવે એવી એ નાજુક અને સુંદર હોઈ સુંદરીઓએ જ નહિ, સત્પુરુષોએ પણ કંઠે ધારણ કરવા યોગ્ય છે—કંઠસ્થ કરવા યોગ્ય છે. એની મનોહરતાએ જૈન–જૈનેતર જનતાને આકર્ષી જણાય છે. એ રત્નમાલા રચનાર તરીકે શ્વે૦ જૈનાચાર્ય સિવાય દિગંબર જૈન રાજા, શંકરાચાર્ય અને શુક યતીન્દ્રનાં પણ નામ જોડાયેલાં છે, તેમાંથી આના વાસ્તવિક સાચા કવિ-ઉપદેશક કયા હોવા જોઇએ ? તેની પ્રામાણિક ગવેષણા કરી સત્ય શોધવા અહીં પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે.

શ્વેતાંબર જૈન-સમાજમાં સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, શ્રાવિકારૂપ ચતુર્વિધ સંઘમાં ચિરકાલથી એનું લેખન, પઠન–પાઠન, વ્યાખ્યાન, ઉપદેશાદિ પ્રચલિત રહેલું જણાય છે. શ્વે૦ જૈન-સમાજે પાઠ્ય સ્વાધ્યાય-પુસ્તિકામાં, પ્રકરણ-પુસ્તિકામાં, પ્રકરણ-સંગ્રહમાં અને પ્રકીર્ણ-ગ્રંથ-સંગ્રહમાં પણ એને સ્થાન આપી સૈકાઓથી તેના પ્રત્યે આદર દર્શાવેલો જણાય છે. પાટણ, વડોદરા, ખંભાત, છાણી, ડભોઈ, લિંબડી, પાલીતાણા, મુંબઈ, જેસલમેર, બિકાનેર, પૂના, પંજાબ, કલકત્તા (બંગાળ) અને પરદેશોના પ્રખ્યાત સંગ્રહો–ભંડારો–જ્ઞાનમંદિરોમાં આ રત્નમાલાની પચાસ જેટલી પ્રાચીન પ્રતિયો જાણવામાં આવી છે. કાગળો પર જ નહિ, સાતસો વર્ષ પહેલાં તાડપત્રો પર પણ લખાયેલી તેની કેટલીક હસ્તલિખિત પ્રતિયો મળી આવે છે. ગૂજરાતની પ્રાચીન રાજધાની **પાટણ**ના પ્રાચીન ગ્રંથ-ભંડારમાં રહેલી તેવી ૧૫ પ્રતિયોનો નિર્દેશ અમે **પાટણ** જૈન ગ્રંથ-ભંડાર-સૂચી(તાડપત્રીય પ્રથમ ભાગ ગા. ઓ. સિ. નં. ૭૬, સન ૧૯૩૭, પૃ. ૨૪, ૬૪, ૭૦, ૧૦૨, ૧૨૯, ૧૩૩, ૧૪૬, ૧૪૯, ૧૭૪, ૨૬૨, ૨૭૮, ૨૯૬, ૩૮૬, ૪૧૦, ૪૧૨)માં કર્યો છે, જેમાંની કેટલીક વિક્રમની ચૌદમી સદીમાં સંવત ૧૩૦૩માં, ૧૩૨૬માં, સં. ૧૩૩૪માં, અને સં. ૧૩૮૮માં પણ લખાયેલી છે. ડભોઈમાં શ્રીજંબૂસૂરિજીના જ્ઞાનમંદિરની એક પત્રવાળી પ્રતિ (નં. ૬૫૦) સંવત ૧૪૮૨માં કા. વ. ૮ શનિવારે **મુંજિગપુર**માં લખાયેલી જણાવી છે. તેવી જ રીતે વિક્રમના ૧૫મા, ૧૬મા સૈકામાં, તથા તે પછીના સમયમાં લખાયેલી મૂળની પ્રતિયો સંખ્યાબંધ મળે છે. તે સર્વમાં તેના રચનાર કવિનું નામ સ્પષ્ટ રીતે **'શ્વે૦ ગુરુ વિમલ'** છેલ્લી ૨૯મી ગાથામાં દર્શાવ્યું છે. તથા આ રચનાને કવિએ **વિમલ**–નામાંકિત કરી યુક્તિપૂર્વક **'વિમલ–**

પ્રશ્નોત્તર – રત્નમાલા ’ એવા નામથી ઓળખાવી છે. તેમાં **વીર**જિનેંદ્રના મંગલવાળી, અભિધેય સૂચવતી પ્રથમ ગાથા આવી છે:

> “ प्रणिपत्य **जिनवरेन्द्रं, प्रश्नोत्तरमालिकां** वक्ष्ये ।
> नाग-नरामर-वन्द्यं, देवं देवाधिपं **वीरम्**[1] ॥ १ ॥”

બીજી તથા ૨૮મી ગાથામાં **વિમલ-પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા** નામનો નિર્દેશ આવી રીતે કર્યો છે:

> “ कः खलु नालंक्रियते ?, दृष्टादृष्टार्थ-साधन-पटीयान् ।
> कण्ठस्थितया **विमल-प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकया** ॥ २ ॥”
> “ इति कण्ठगता **विमला, प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका** येषाम् ।
> ते मुक्ताभरणा अपि, विभान्ति विद्वत्-समाजेषु ॥ २८ ॥
> रचिता **सितपट-गुरुणा, विमला विमलेन** रत्नमालेव ।
> **प्रश्नोत्तरमालेयं,** कण्ठगता कं न भूषयति ? ॥ २९ ॥”

— મૂળ રચનામાં છેલ્લી આર્યામાં કવિએ પોતાનું નામ **સિતપટ - ગુરુ** = શ્વેતાંબર-આચાર્ય **વિમલ** એવું સ્પષ્ટ રીતે જણાવ્યું છે.

— વિશેષમાં એ શ્વેતાંબર જૈનાચાર્યોએ વિક્રમના તેરમા અને પંદરમા સૈકામાં આ લઘુકૃતિ પર પ્રાસંગિક બોધક દૃષ્ટાંતો સાથે સંક્ષિપ્ત અને વિસ્તૃત વ્યાખ્યાઓ સંસ્કૃતભાષામાં રચેલી છે.

[૧]

આ **પ્રશ્નોત્તર**-રત્નમાલા પર પહેલી વૃત્તિ વિ. સં. ૧૨૨૩માં **હરિપાલ** મંત્રીની વિજ્ઞપ્તિથી **હેમપ્રભસૂરિ**એ રચી હતી, જેનું શ્લોકપ્રમાણ ૨૧૩૪ જણાવેલ છે. આ વૃત્તિકાર, **ચંદ્રપ્રભસૂરિ**ના પટ્ટધર **ધર્મઘોષસૂરિ**ના પ્રશિષ્ય અને **યશોઘોષસૂરિ**ના શિષ્ય હતા, જે **ધર્મઘોષસૂરિ** જયસિંહરાજા(**સિદ્ધરાજ**)થી સન્માનિત થયા હતા. વૃત્તિકારે પોતાનો ઉચિત પરિચય તેના અંતમાં કરાવ્યો છે.[2] આ વૃત્તિની પ્રાચીન પ્રતિ વિક્રમની ચૌદમી સદીમાં લખાયેલી જણાય છે. કારણ કે સાધુ (શાહ) **અભયચંદ્રે** લખાવેલ એ

---

[1] પાઠાંતરમાં ‘ प्रथमम् ’ છે, અન્યત્ર અન્ય સહજ ફેરફારવાળાં પાઠાંતરો મળે છે.

[2] “श्रीजैनशासनांभोधि-समुल्लास-सुधाकराः । जज्ञिरे जगति ख्याताः, **श्रीचंद्रप्रभसूरयः** ॥
धर्माधारतया सुदुश्चरतपश्चारित्रतेजस्तया नानासूरिविनेयसेविततया तैस्तैर्गुणैर्विश्रुतः ।
श्रीचंद्रप्रभसूरिपट्टतिलक(को) निर्ग्रंथचूडामणि-र्जज्ञे **श्रीजयसिंहभूपतिनुतः श्रीधर्मघोषप्रभुः** ॥
तदीयहस्तपद्मेन, लब्धश्रीसूरिसंपदः । बभूवुर्जंगमं तीर्थं, **श्रीयशोघोषसूरयः** ॥ ९ ॥
आवर्जिते गुणगणैर्येषां गभीरिमादिभिः । समं लक्ष्मी-सरस्वत्यौ, समायातां स्वर्ग(?)तले ॥ १० ॥
तेषां सपुण्य-लावण्य-रूप-पांडित्यसंपदां । स्वहस्तदीक्षितैः शिष्यैः, **श्रीहेमप्रभसूरिभिः** ॥ ११ ॥
भुवन-श्रुति-रवि-संख्ये वर्षे हरिपालमंत्रि-विज्ञप्तैः ।
एषा चक्रे वृत्तिः, **प्रश्नोत्तररत्नमालायाः** ॥ १२ ॥”

—જેસલમેર ભાં. ગ્રંથસૂચી (ગા. ઓ. સિ. નં. ૨૧, પૃ. ૧૦)

પુસ્તિકાના અંતમાં શ્રીજિનેશ્વરસૂરિના શિષ્ય **દેવમૂર્તિ** ઉપાધ્યાયે રચેલી ૨૫ શ્લોકની પ્રશસ્તિ છે.[3] (આ જિનેશ્વરસૂરિ વિક્રમની તેરમી સદીના ઉત્તરાર્ધમાં તથા ચૌદમી સદીના પૂર્વાર્ધમાં વિદ્યમાન હતા.)

જેસલમેર-ગ્રંથ-ભંડારમાં રહેલી હજી સુધી અપ્રકાશિત આ વૃત્તિનો આદ્યન્ત ભાગ અમે જેસલમેર-ભંડાર-ગ્રંથ-સૂચી(ગા. ઓ. સિ. નં. ૨૧, પૃ. ૧૦, પ્ર. સન ૧૯૨૩)માં દર્શાવ્યો છે. તથા ત્યાં અપ્રસિદ્ધ ગ્રંથ-ગ્રંથકૃત્ પરિચય(પૃ. ૪૦)માં, જૈનોપદેશગ્રંથોમાં એનો ઉલ્લેખ કર્યો છે. એ પ્રતિમાં પણ ‘ रचिता **सितपटगुरुणा** ’ ગાથા છે, અને તેની વ્યાખ્યામાં મૂલકાર કવિને **શ્વેતાંબર-ગુરુ વિમલ** જણાવેલ છે.

[૨]

આ પ્રશ્નોત્તર–રત્નમાલાની દૃષ્ટાંતો સાથે વિવરણરૂપ બીજી વૃત્તિ વિક્રમસંવત ૧૪૨૯માં **ચંદ્રગચ્છ**-(રુદ્રપલ્લીયગચ્છ)ના **દેવેન્દ્રસૂરિએ** ૭૭૮૦ શ્લો. પ્રમાણ રચી હતી, જેનું સંશોધન **મુનિભદ્રસૂરિએ** કર્યું હતું.[4] આ વૃત્તિકારે અંતમાં પોતાનો પરિચય વિસ્તારથી પ્રશસ્તિમાં આપ્યો છે, તથા જે એ સદ્ગૃહસ્થોની—**ભોલા** અને **ખેતા** નામના ભાઈઓની પ્રેરણાથી તેમણે એ વૃત્તિ રચી હતી, તે ઉપકેશજ્ઞાતિના લિગાવંશનો પણ પરિચય પ્રશસ્તિ દ્વારા કરાવ્યો છે. (કેટલાક વિદ્વાને ભૂલથી આ મુનિભદ્રસૂરિને પણ આના વૃત્તિકાર જણાવ્યા છે.) આ વૃત્તિની વિક્રમસંવત ૧૪૪૧, સં. ૧૪૮૯ અને સં. ૧૫૩૯માં લખાયેલી પ્રાચીન પ્રતિયો **પાટણ** (શ્વે. જૈનાચાર્ય **જયાનંદસૂરિના** ઉપદેશથી પૂજીશ્રાવિકાએ લખાવેલ), **પૂના** (પૂના ડે. કૉલેજના સન ૧૮૮૮માં પ્રકટ થયેલા કેટલૉગમાં ૧૮૮૧-૮૨ના કલેકશનમાં સૂચિત નં. ૧૬૪) અને પરદેશમાં **બર્લિનના** પુસ્તકસંગ્રહમાં વિદ્યમાન છે. ચાણસ્મામાં સંવત ૧૬૪૦ની પ્રતિ છે. આ વૃત્તિને **જામનગર**-નિવાસી શ્રાવક પં. હીરાલાલ હંસરાજે સંવત ૧૯૭૧માં છપાવી પ્રસિદ્ધ કરેલ છે. તે વૃત્તિના અંતમાં પણ મૂળ ‘ रचिता **सितपटगुरुणा** ’ ૨૯મી આર્યા જોવામાં આવે છે. તથા તેની વ્યાખ્યામાં શ્વેતાંબરાચાર્ય **વિમલસૂરિએ** રચેલી તે પ્ર૦ રત્નમાલા જણાવી છે—

> व्या० “**सितपटाः श्वेताम्बरास्तेषु गुरुः** सूरिपदं प्रतिष्ठस्तेन **सितपटगुरुणा श्वेताम्बराचार्येण विमलेन विमलनाम्ना सूरिणा** विमला गतकल्मषा निर्मला वा रत्नमालेव रचिता विहिता इयं **प्रश्नोत्तररत्नमाला** कण्ठगता सती गलस्थिता सती पठिता सती कं भविकं न भूषयत्यलंकरोतीत्यर्थः । यथा रत्नमाला गलकन्दलस्था पुमांसं स्त्रियं वा भूषयति, तथेयमपि प्रश्नोत्तररत्नमाला कण्ठपीठस्था अर्थापत्त्याऽधीता सती नरं नारीं वा शृङ्गारयतीत्यार्याऽर्थः ॥
>
> समाप्ता चेयं प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिः ॥” (પં. હી. હં. પ્ર. પૃ. ૫૬૭)

---

[3] “श्रीजिनेश्वरसूरीणां पादांभोजमधुव्रतैः । श्रीदेवमूर्त्युपाध्यायैर्निर्मितैषा प्रशस्तिका ॥
इति प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिपु० साधुअभयचंद्रलेखितायाः प्रशस्तिः समाप्ता ॥” — જે. ભં. ગ્રંથસૂચી

[4] “तस्यानुजेन **देवेन्द्रसूरिणा** विक्रमार्कतः । **नन्द-युग्म–पयोराशि-शशाङ्क**-प्रमवत्सरे (१४२९) ॥ १७ ॥
प्रश्नोत्तररत्नमालाया वृत्तिर्विदधे मुदा । शोधिता च लसद्भद्रैः **श्रीमुनिभद्रसूरिभिः** ॥ १८ ॥ युग्मम् ”
— પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા સટીકા (પ્ર. પં. હી. હં.)

—આ વૃત્તિના પ્રારંભમાં પણ મૂલકારને ગૌરવપૂર્વક **વિમલાચાર્ય, વિમલચંદ્રસૂરિ** એવા નામથી ઓળખાવ્યા છે—

"तत्पट्टाम्भोजतिग्मांशुः, **श्रीदेवेन्द्रमुनीश्वरः** ।
सोला-खेताऽभिध-भ्रातृयुगेनात्यर्थमर्थितः ॥
प्रश्नोत्तररत्नमालां, विमलाचार्यनिर्मिताम् ।
विवृणोति सुदृष्टान्तैर्ह्युपकारी सतां श्रमः ॥ युग्मम् ॥

इह हि श्रेयःश्रीनिवेश**जिनेश**सदुपदेशप्रासादमहास्तम्भे **प्रश्नोत्तररत्नमाला**-प्रकरणप्रारम्भे कुन्दावदात-प्रशमादिगुणभूरिः श्री**विमलचन्द्रसूरिः** शिष्टसमयपालनाय........." (पृ. २)

[૩]

આ પ્ર૦ રત્નમાલાના ભાવાર્થને તત્કાલીન ચાલુ ભાષામાં—ગૂજરાતીમાં—સમજાવવા બાલાવબોધ નામથી પણ કેટલાક શ્વે૦ જૈન વિદ્વાન મુનિજનોએ પ્રયત્ન કર્યા છે. તેની પંદરમી-સોળમી સદીમાં લખાયેલી પ્રાચીન પ્રતિયો મળી આવે છે. વડોદરાના પ્રાચ્યવિદ્યામંદિરમાં રહેલી નં. ૨૧૨૬ની ૬ પત્રવાળી પ્રતિ સં. ૧૫૪૩માં માઘ વ. ૧૪ દિને **વિશ્વલનગર**માં લખેલી જણાવી છે, તે શ્વે૦ **તપાગચ્છ**ાલંકાર-હાર શ્રી**લક્ષ્મીસાગરસૂરિ**ના શિષ્ય **સહજચારિત્રગણિ**એ સ્વ-પરોપકાર માટે લખેલી જણાવી છે, તથા અંતના સૂચન પ્રમાણે તે પ્રવર્તિની **પુષ્પચૂલા**ને અપાયેલી હતી. તેમાં પણ શ્વે૦ ગુરુ **વિમલ**ના નામવાળી આર્યા છે, તથા ગૂજરાતીમાં તેના અર્થમાં એનો ઉલ્લેખ છે. [૫]

[૪]

વડોદરા–પ્રાચ્યવિદ્યામંદિરમાં (નં. ૭૦૦) આ ગ્રંથની ત્રણ પત્રવાળી બાલાવબોધ સાથેની બીજી પ્રતિ પણ ૧૬ મી સદી જેટલી પ્રાચીન છે, જે ત. જયવૃદ્ધે સા. **સો**મા પાસે લખાવેલ છે, તેમાં પણ એ જ પ્રમાણે શ્વે૦ ગુરુ **વિમલ**નો નામ-નિર્દેશ છે. [૬]

---

[૫] "**श्वेतांबर गुरु विमलि** रत्नमालानी परिइं **विमल प्रश्नोत्तररत्नमाला** कीधी । ए प्रश्नोत्तरर[त्न]माला कंठि कहिं प्रतिं न भूषइ? अपि तु सविकहिनइ अलंकरइ । इणिइं शास्त्रिइं भणिइं पुरुष शोभा पामइ । अर्थ जाणिइं पुण्य हुइ । इसिउ अर्थ ॥

इति प्रश्नोत्तररत्नमालाप्रकरण**बालावबोधः** समाप्तः । संवत् **१५४३** वर्षे माधवदि १४ दिने लिखि **श्रीविश्वलनगरे** तपागच्छालंकारहार**श्रीलक्ष्मीसागरसूरि**शिष्य पं० सहजचारित्रगणिना स्वपरोपकाराय ॥ प्र० **पुष्फचूलायाः** प्रदत्ता ॥"

[६] "**श्वेतांबर गुरु विमलिइं** रत्नमालानी परिइं **विमल प्रश्नोत्तररत्नमाला** कीधी ए प्रश्नोत्तररत्नमाला कंठि रही कहि प्रति न भूषइं? अपि तु सविकहिनइं अलंकरइ । ईणि शास्त्रि भणिइ पुरुष शोभा पामइ । अर्थ जांणिइं पुण्य हुइ । इसिउ अर्थ ।

इति प्रश्नोत्तररत्नमाला–बालावबोध समाप्तः । श्रीत० जयवृद्धेण लिखापितं सा. **सो**मापार्श्वे । श्रीः ॥"

[૫-૧૨]

— એ જ પ્રમાણે **વડોદરા**, ડભોઈ અને અન્ય સ્થળોના ગ્રંથ-સંગ્રહોની બાલાવબોધ સાથેની એ ગ્રંથની બીજી પ્રાચીન પ્રતિયોમાં પણ તેવા ઉલ્લેખ જોવામાં આવે છે.

વડોદરા–જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં પ્ર. **કાંતિવિજયજી** મ. શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં. ૮૯૦માં બીજી વૃત્તિની પ્રતિ કથા–સંવત ૧૬૪૮માં લખાયેલી છે. તથા ૫૬૫માં, નં. ૫૬૭માં, ૨૦ પત્રવાળી પ્રતિમાં આ પ્ર૦ ૨૦ સાથે સંક્ષિપ્ત કથા-સંબંધ છે, પ્રતિ સં. ૧૬૭૫માં લખાયેલી છે.

વડોદરામાં શ્રીઆત્મારામજી–જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી–શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં. ૨૧૬૪ની ચાર પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ પ્રતિ સ્તબક–ગુજરાતી ટબા–ભાવાર્થ સાથે છે, તેના અંતમાં જણાવ્યા પ્રમાણે તે સાધ્વી શ્રી**રૂપલક્ષ્મી**-પદસેવિ સાધ્વી **ગુણલક્ષ્મી**-પઠનાર્થં લખેલી જણાવી છે. તેમાં પણ પૂર્વોક્ત ગાથા છે, તથા તેના અર્થમાં ‘ નીપજાવી **શ્વેતામ્બર** આચાર્યઈ **વિમલ** ઇસિનામઈ ’ જણાવેલ છે.

ડભોઈમાં શ્રી જંબૂસૂરિજીના જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં નં. ૪૬૫માં રહેલી ચાર પત્રવાળી પડીમાત્રામાં લખાયેલી પ્ર૦ રત્નમાલા–**બાલાવબોધ**ની પ્રતિ, સંવત ૧૬૯૪ આશ્વિન વ. ૩ ભૌમે લખાયેલી છે, તે **નાગબાઈ**ના પઠન માટે લખાઈ હતી—તેવો તેના અંતમાં ઉલ્લેખ છે—

તેમાં પણ **સિતપટગુરુ વિમલ** નામવાળી આર્યા છે, તેના ભાવાર્થમાં **‘ નીપજાવી સેતંબરનઈ આચારયઈ ’** વગેરે ઉલ્લેખ છે.

—એ જ જ્ઞાનમંદિરની નં. ૯૫૪ની ૨૮ પત્રવાળી, વૃત્તિને આધારે સંક્ષિપ્ત કથાવાળી બાલાવબોધ સાથેની પ્ર૦ ૨૦ની પ્રતિ, ઋષિ **સહસકરણજી**ના ચરણ-પ્રસાદથી ઋ. **સાદુલે** લખી હતી—તેમાં પણ **વિમલ** નામવાળી ગાથાના ભાવાર્થમાં “ નીપજાવી શ્વેતાંબર-ગુરુઈ વિમલનામા આચાર્યઈ ” વગેરે જણાવેલ છે.

—એ જ સંગ્રહની નં. ૧૦૦૧ની ૧૦ પત્રવાળી, તથા નં. ૧૨૮૪ની ૬ પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ **બાલાવબોધ**ની પ્રતિમાં પણ તે જ નામ જણાવેલ છે.

મુંબઈ–લાલબાગમાં, મંડલાચાર્ય કમલસૂરિ-ભંડારની સં. ૧૭૫૨માં લખેલી ટબાવાળી પાંચપત્રવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમાં પણ તે આર્યા છે અને ત્યાં તેવો ઉલ્લેખ જોવાય છે. **વડોદરા**ના **આત્મારામજી** જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી–જૈનશાસ્ત્રસંગ્રહની નં. ૨૧૮૩ મૂળ પ્રતિમાં, તથા નં. ૨૧૩૩ ગુજરાતી ભાવાર્થવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમાં પણ શ્વે૦ ગુરુ **વિમલાચાર્ય**નો નામનિર્દેશ જોઈ શકાય છે.

પ્રો. પીટર્સનસાહેબના હ. લિ. પુસ્તકોના રિપોર્ટમાં પણ એ જ નામ મળે છે.

‘ એ **કેટલૉગ** ઑફ સં. મેન્યુ. ઈન ધી લાયબ્રેરી ઑફ હીજ હાઇનેસ ધી મહારાજા ઑફ **બીકાનેર** ’ (કં. **રાજેન્દ્રલાલ** મિત્ર, પ્ર. સન ૧૮૮૦, કલકત્તા) નં. ૧૫૦૬માં જણાવેલ પ્ર૦ રત્નમાલાના અંતમાં પૂર્વોક્ત **સિતપટગુરુ વિમલ**નામવાળી આર્યા છે.

‘ **કેટલૉગ** ઑફ ધી સં. મેન્યુ. ઈન ધી **બ્રિટિશ મ્યુઝિયમ** ’ સન ૧૯૦૨માં **લંડન**થી પ્રકાશિત પુ. પૃ. ૧૨૮માં નં. ૩૧૧માં પણ એ પ્રમાણે આર્યા જણાવેલ છે.

‘ નોટીસીઝ્ ઑફ સં. મેન્યુ. ૧૮૯૪ એ. સો. બંગાલ ’ પ્ર. સન ૧૯૦૭ વૉ. ૩, પૃ. ૧૨૫, નં. ૧૯૪માં **સિતપટગુરુ વિમલ** નિર્દેશવાળી આર્યા સાથે પ્ર. રત્નમાલાની ૬ પત્રવાળી પ્રતિ **બનારસ**ની દિક્મંડલાચાર્ય મ. **બાલચંદ્ર**ની જણાવી છે.

ભૂલથી બુદ્ધિસ્ટ મેન્યુ. તરીકે

"ડિ. કેટલૉગ સં. મેન્યુ. ગવર્નમેન્ટ કલેકશન અંડર ધી ચેર ઑફ ધી એ. સો. બંગાલ, વૉ. ૧ બુદ્ધિસ્ટ મેન્યુ." સન ૧૯૧૭માં પ્ર. પુ. પૃ. ૧૭૭-૧૭૮માં નં. ૯૯૯૫ 'બ્રોકન પામલીફ' જણાવી સં. મ. હરપ્રસાદ શાસ્ત્રીજીએ જે અવતરણો આપ્યાં છે, તે શ્વે. **વિમલ**સૂરિની પૂર્વોક્ત પ્ર૦ રત્નમાલાની

આર્યા ૧૩ "को नरकः ? परवशता, किं सौख्यं ? सर्वसङ्गविरतिर्या ।"

આર્યા ૧૮ "कुत्र विधेयो यत्नो ? विद्याभ्यासे सदौषधे दाने ॥
अवधीरणा क्व कार्या ? खल-परयोषित्-परधनेषु ॥"

—નિ. સા. કાવ્યમાલા સપ્તમ ગુચ્છક(પૃ. ૧૨૨)માં અને અન્યત્ર જોઈ શકાય છે.

આ પ્ર૦ રત્નમાલા પર શ્રી**આ**નંદસમુદ્રની સંક્ષિપ્ત વૃત્તિ, તથા અવચૂરિ વગેરે મળે છે, તેમાં પણ શ્વે૦ ગુરુ **વિમલ**ને તેના કર્તા જણાવ્યા છે.

પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા (પ્રાકૃતમાં)

વડોદરા-જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી-શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં. ૧૦૯૨માં ૨૧ પત્રવાળી નવી પ્રતિ છે, તે સં. પ્ર૦ રત્નમાલાના પ્રાકૃત રૂપાંતર – ભાષાંતરરૂપ છે, તેમાં સાથે ઉત્તમઋષિએ કરેલ વાર્તિક છે, તે પ્રાચીન ગૂજરાતીમાં ભાવાર્થરૂપ છે.

તેના પ્રારંભમાં—'भगवं ! किमुवादेयं ? गुरुवयणं' ઇત્યાદિ છે.

મૂળની ૨૯મી અંતિમ ગાથા આવી છે—

"**पण्हुत्तररयणमालं**, कंठे धारेइ सुद्धभावेण ।
सो नर-सिव-सुहलच्छी, वरइ अचिरेण कालेण ॥"

વાર્તિકના પ્રારંભમાં—'श्रीमद्वीरजिनं नत्वा, **गौ**तमादिगणाधिपम् ।
ऋष्यु**त्तमे**न आत्मार्थं, क्रियते वार्तिकं मुदा ॥'

અમોઘવર્ષ નામ સાથે

આ **પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા** (મૂળ), નિર્ણયસાગર-મુદ્રણાલય, મુંબઈ તરફથી પ્રકટ થયેલી કાવ્યમાલાના સપ્તમ ગુચ્છકમાં (સન ૧૮૯૦થી સન ૧૯૨૬ ચાર આવૃત્તિમાં) પ્રકાશિત થયેલ છે, ત્યાં પણ છેલ્લી આર્યામાં મળતા ઉલ્લેખ પ્રમાણે આ કૃતિને શ્રી**વિમલ**-પ્રણીતા (વિરચિતા) **પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા** નામથી જણાવી છે. તેમ છતાં સંપાદકે તેમને મળેલ બે પત્રવાળી બીજી એક પ્રતિ, કે જે સૂરતથી શેઠ ભગવાનદાસ કેવલદાસે મોકલી હતી, તેમાં ૨૯મી આર્યાને બદલે મળતું જુદું પદ્ય (અનુષ્ટુપ્ શ્લોક) પાઠાંતર તરીકે ટિપ્પણીમાં જણાવ્યું છે —

"विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका । रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥"

દિગંબર જૈન વિદ્વાનો આ પદ્ય જોઈ આ કૃતિને રાજા અમોઘવર્ષની—રાજ્યનો ત્યાગ કરી થયેલા દિ૦ જૈન સાધુની રચના જણાવે છે. ઇંડિયન એન્ટિકવેરી વૉ. ૧૫, પૃ. ૩૭૮ અને અન્યત્ર આ ગ્રંથના કર્તા તરીકે અમોઘવર્ષને ઠરાવવા દિ૦ વિદ્વાનોએ પ્રયત્ન કર્યા જણાય છે. સુપ્રસિદ્ધ લેખક પં૦ નાથૂરામ પ્રેમીજીના સન ૧૯૪૨માં પ્રકાશિત થયેલા હિંદી 'જૈન સાહિત્ય ઔર ઇતિહાસ' પુસ્તકમાં 'તીન મહાન ગ્રન્થકર્તા' સંબંધમાં જણાવતાં, **અ**મોઘવર્ષ(પ્રથમ)નો ઉલ્લેખ કરતાં તેવા આશયનું

સૂચન પૃ. ૫૧૮માં કર્યું છે. વિશેષમાં પૃ. ૫૨૦માં 'ક્યા અમોઘવર્ષ જૈન થે?' એને પ્રમાણિત કરવા માટે અન્યોન્યાશ્રિત આ **પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા** સંબંધમાં જણાવ્યું છે કે —

" ऊपर हम **अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तररत्नमालाका** जिक्र कर आये हैं। एक तो उसके मंगलाचरणमें वर्द्धमान तीर्थंकरको नमस्कार किया गया है और दूसरे उसमें अनेक बातें जैनधर्मानुमोदित ही कही गई है। इससे कमसे कम उस समय जब कि रत्नमाला रची गई थी, अमोघवर्ष जैनधर्मके अनुयायी ही जान पड़ते हैं।

प्रश्नोत्तररत्नमालाका तिब्बती भाषामें एक अनुवाद हुआ था जो मिलता है और उसके अनुसार **वह अमोघवर्षकी ही बनाई हुई है**। ऐसी दशामें **उसे शंकराचार्यकी, शुक यतीन्द्रकी या विमलसूरिकी रचना बतलाना जबर्दस्ती है**।"

તથા ત્યાં નીચે ૪-૫ ટિપ્પણીમાં જણાવ્યું છે કે —

" शंकराचार्य और शुक्र यतीन्द्रके नामकी जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छह सात श्लोक नये मिला दिये गये हैं परन्तु वे **वसन्ततिलका** छन्दमें है जो बिल्कुल अलग मालूम होते हैं और उनके अन्त्यपद्योमें न शुक्रयतीन्द्रका नाम है और न शंकरका।

" **श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसे किसी विमलसूरिका उल्लेख नहीं मिलता जिसने प्रश्नोत्तर-रत्नमाला बनाई हो। विमलसूरिने अपने नामका उल्लेख करनेवाला जो अन्तिम पद्य जोड़ा है** वह आर्याछन्दमें है, परन्तु ऐसे **लघु प्रकरण-ग्रन्थोंमें अन्तिम छन्द आम तौरसे भिन्न होता है** जैसा कि वास्तविक प्र० र० मालमें है और वही ठीक मालूम होता है।"

પ્ર૦ રત્નમાલાના રચનાર શ્વે૦ જૈનાચાર્ય **વિમલ**ને બદલે દિ૦ **અમોઘવર્ષ**ને ઠરાવવા પં. પ્રેમીજીએ કરેલી દલીલો યુક્તિ-યુક્ત નથી — એમ પૂર્વમાં જણાવેલાં પ્રમાણે જોનાર-વાંચનાર વિચારક વાચકોને સમજાશે. **અમોઘવર્ષ**ના નામનિર્દેશવાળી પ્રતિ કેટલી પ્રાચીન છે? તે કોણે ક્યારે લખાવી છે? અથવા તેમાં છેલ્લા શ્લોકનું લેખન કેટલું પ્રાચીન છે? તે કોઈએ જણાવ્યું નથી. પૂર્વે દર્શાવેલાં પ્રમાણો જોતાં-વિચારતાં સંભવ તો એ છે કે આર્યામય એ કૃતિમાં જુદો તરી આવતો **અમોઘવર્ષ** નામવાળો અંતનો અનુષ્ટુપ્ શ્લોક કોઈએ પાછળથી જોડી દીધો જણાય છે. આ કાંઈ મહાકાવ્ય નથી કે મહાકાવ્યનાં લક્ષણો પ્રમાણે તેના સર્ગ-પરિચ્છેદના અંતની જેમ પ્રકરણના અંતમાં પણ શ્લોક ભિન્ન છંદમાં હોવો જોઈએ.

શ્વે૦ જૈન સાહિત્યમાં **વિમલસૂરિ** નામના અનેક જૈનાચાર્યોનાં નામ મળી આવે છે, તેમાં વિ. સં. ૬૦ (મહાવીર નિર્વાણ પછી ૫૩૦ વર્ષે) પ્રા. पउमचरिय રચનાર **વિમલસૂરિ** સુપ્રસિદ્ધ છે, કે જેની રચનાનું સંસ્કૃતમાં પલ્લવિત રૂપાંતર पद्मचरित નામથી દિ૦ જૈન કવિ રવિષેણે કરેલું જાણીતું છે. એ જ શ્વે૦ **વિમલસૂરિ**ની કે તે પછીના બીજા **વિમલસૂરિ**ની આ રચના માનવી જોઈએ.

વિવેકથી રાજ્યનો ત્યાગ કરનાર નિસ્પૃહ ત્યાગી આવી લઘુકૃતિના અંતમાં પોતાને રાજા **અમોઘવર્ષ** તરીકે ઓળખાવે, પોતાના પૂર્વનામને પ્રકટ કરે, એવા પૂર્વનામના મોહનો ત્યાગ ન કરે અને પોતાની સાધુ-અવસ્થાનું નામ પ્રકાશિત ન કરે! એ સર્વ વિચાર કરતાં પણ **અમોઘવર્ષ**-નામવાળો શ્લોક પાછળથી કોઈએ જોડી દીધો હોય તેમ જણાઈ આવે છે. **અમોઘવર્ષ** દિ૦ જૈને આ પ્ર૦ રત્નમાલા રચી એવું દિ૦ સાહિત્યમાં ક્યાં ક્યાં મળે છે? એવું પં. પ્રેમીજીએ ત્યાં જણાવ્યું નથી. પ્ર૦ રત્નમાલાના તિબ્બતી અનુવાદમાં **અમોઘવર્ષ**નું નામ મળે છે — એ કથન માટે પણ ત્યાં પ્રમાણ દર્શાવ્યું નથી.

શંકરાચાર્ય નામ સાથે

બૃહત્સ્તોત્રરત્નાકર (લક્ષ્મી વેંકટેશ્વર સ્ટીમ પ્રેસ સં. ૧૯૮૫માં પ્ર.) પૃ. ૫૬૮-૫૭૨માં તથા **બૃહત્સ્તોત્રરત્નહાર** (સન ૧૯૨૫માં મ. ઈ. દેસાઈ દ્વારા ગુજરાતી ન્યુઝ પ્રિં. પ્રેસ, મુંબઈથી પ્ર.)માં પૃ. ૮૩૮થી ૮૪૦માં વેદાંતસ્તોત્રોમાં આ **પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલિકા** પ્રકાશિત થઈ છે, તેમાં ‘प्रणिपत्य **जिनवरेन्द्रं**’–એ મંગલાચરણવાળી પ્રથમ આર્યા નથી, તથા અંતની ‘रचिता **सितपटगुरुणा**’ નામવાળી આર્યા નથી. ૨૮ આર્યા પછી અંતમાં ગદ્યમાં ‘इति श्रीमत्परमहंस० ‘**श्रीमच्छङ्कराचार्यकृता**’ આ કૃતિને જણાવી છે.

‘ધી વર્કર્સ ઑફ શ્રીશંકરાચાર્ય’ વૉ. ૧૬ (શ્રીરંગમ્ શ્રીવાણીવિલાસ પ્રેસથી પ્રકાશિત) પ્રકરણ-પ્રબંધાવલિ (દ્વિતીય ભાગ પૃ. ૮૭થી ૧૦૪)માં **પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલિકા** પ્રકટ કરી છે, તેમાં પણ ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે મંગલ, અભિધેયવાળી આર્યા નથી, ‘कः खलु नालंक्रियते’થી પ્રારંભ છે. ૨૭ શ્લોકો પ્રસ્તુત વિમલ-**પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલાના** છે, ત્યાં ‘रचिता **सितपटगुरुणा**’ વિમલનામવાળી આર્યા નથી. વધારામાં ૨૮થી ૬૬ પદ્યો છે. ૬૭મું પદ્ય આવું છે—

> “इत्येषा कण्ठस्था, **प्रश्नोत्तररत्नमालिका** येषाम् ।
> ते मुक्ताभरणा इव, **विमलाश्चा**भान्ति सत्समाजेषु ॥”

અંતમાં ગદ્યમાં “इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्री**गो**विन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीम**च्छंकर**-भगवतः **कृतौ** प्रश्नोत्तररत्नमालिका संपूर्णा ॥” આવો ઉલ્લેખ છે.

—પહેલાં દર્શાવેલાં પ્રમાણોનો વિચાર કરતાં આગળનું મંગલ-અભિધેયવાળું પદ્ય કાઢી નાખી પાછળથી કર્તાનું નામ બદલી આમાં કોઈએ પ્રક્ષિપ્ત ભાગનો વધારો કર્યો જણાય છે.

શંકરાચાર્ય નામ સાથે બીજી પ્રશ્નોત્તર-મણિરત્નમાલા

શંકરાચાર્ય નામ સાથે એક બીજી **પ્રશ્નોત્તર-મણિરત્નમાલા** નામની કૃતિ મળે છે, પરંતુ તે આર્યાછંદમાં નથી, તે ઉપજાતિછંદમાં દ્વાત્રિંશિકા (બત્રીશી) છે. તે રચના જુદા પ્રકારની છે. તેનાં આદિ-અંતનાં પદ્યો તથા અંતિમ ઉલ્લેખ જુદો છે—

આદિ—“अपारसंसारसमुद्रमध्ये, सम्म(निम)ज्जतो मे शरणं किमस्ति ? ।
गुरो ! कृपालो ! कृपया वदैतद्, विश्वेशपादाम्बुज-दीर्घनौका ॥ १ ॥

અંતમાં—कण्ठं गता वा श्रवणं गता वा, प्रश्नोत्तराख्या **मणिरत्नमाला** ।
तनोतु मोदं विदुषां प्रयत्नाद्(सुरम्या), रमेश-गौरीश-कथेव सद्यः ॥ ३२ ॥
श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता प्रश्नोत्तररत्नमाला समाप्ता ॥”

બૃહત્સ્તોત્રરત્નહારમાં (પૃ. ૮૦૪થી ૮૦૭) અને અન્યત્ર વેદાંતસ્તોત્રોમાં એ પ્રકાશિત થયેલ છે.

કેટલાક સાક્ષરોએ **વિમલસૂરિની** પૂર્વોક્ત **પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલાને** જ ભ્રમથી **શંકરાચાર્યની** કૃતિ સમજી લીધી જણાય છે. ખરી રીતે આંતર અવલોકન કરતાં ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે તે બંને કૃતિઓ સ્પષ્ટ રીતે જુદી છે.

'બુદ્ધિપ્રકાશ' માસિક સન ૧૯૦૬ નવેંબરના પુ. ૫૩, અંક ૧૧માં પૃ. ૩૩૪થી ૩૩૭ ઉપર "પ્રશ્નોત્તરમાલા" સંબંધમાં લે. **નરસિંહરાવ** હરિલાલ **ધ્રુવે** ચર્ચા કરી હતી. તેના ચાર કર્તા (૧) શ્વે૦ જૈન **વિમલ**, (૨) યતીન્દ્ર **શુકદેવ**, (૩) **શંકરાચાર્ય** અને (૪) અમોઘવર્ષ સંબંધમાં પોતાના વિચારો જણાવતાં 'કોઈ જૈન વિદ્વાને તેમાં **વિમલાચાર્ય**નું નામ દાખલ કરી દીધું હોય' એવો આક્ષેપ કર્યો હતો—તે અનુચિત હતો તે પહેલાં આપેલાં પ્રમાણો જોનાર-વાંચનાર વિચારક વાચકો સમજી શકે તેમ છે. તથા તે લેખકે તે ગ્રંથને જૈનેતર કૃતિ તરીકે ઓળખાવવા શ્લો. ૮, ૧૦, ૨૦, ૨૪ તથા ૩૦મા શ્લોકના જે અવતરણો આપ્યાં હતાં, તે શ્વે૦ ગુરુ **વિમલસૂરિ**ની **પ્રશ્નોત્તર**રત્નમાલાનાં નહિ, પણ ઉપર જણાવેલ **શંકરાચાર્ય**કૃત મનાતી **પ્રશ્નોત્તરમણિ**રત્નમાલા નામની બીજી કૃતિમાંનાં છે. લેખકે સરખા નામવાળી કૃતિના ભ્રમથી વિમલસૂરિની પૂર્વોક્ત પ્ર૦ રત્નમાલામાં તે જણાવેલા શ્લોકો છે કે કેમ? તે જોયું જણાતું નથી.

શુક યતીન્દ્રના નામ સાથે

જર્નલ રો. એ. સો. બંગાલ વૉ. ૧૬ ભા. ૨, પૃ. ૧૨૩૫માં જણાવ્યા પ્રમાણે તે કૃતિના અંતમાં આવો ઉલ્લેખ છે—

"इति श्रीशुकयतीन्द्रविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता।" તે બીજી પ્રશ્નોત્તર**મણિ**રત્નમાલાના અંતમાં જણાય છે.

ઉપસંહાર

વિશેષમાં, **પૂના** ભાં. ઓ. રિ. ઇન્સ્ટિટયૂટ તરફથી સન ૧૯૪૪માં પ્રકાશિત થયેલ, પ્રો. હરિ દામોદર વેલણકર, એમ. એ., એમના પ્રયત્નથી તૈયાર થયેલ ગ્રંથ **જિનરત્નકોશ** (ભા. ૧, પૃ. ૨૭૬–૨૭૭)માં પૂર્વોક્ત **પ્રશ્નોત્તર**રત્નમાલાના કર્તા **વિમલસૂરિ** જણાવ્યા છે. તેની મૂળની, વૃત્તિ, ટીકા આદિની પ્રતિયો કયાં કયાં? કયા કયા સંગ્રહોમાં, હ. લિ. પુ. ના કયા કયા રિપોર્ટ, કેટલૉગમાં છે? તે જાણવા ઇચ્છનાર ત્યાંથી જાણી જોઈ શકશે—અને સત્ય સ્વીકારશે—એવી આશા છે.

આ સંબંધમાં 'प्रश्नोत्तररत्नमालाका कर्ता (?)' આવો એક અમારો હિંદી લેખ વીરનિ. સં. ૨૪૭૬માં **સાગર**થી પ્રકાશિત 'वर्णी अभिनंदन ग्रंथ'માં પૃ. ૪૧૯થી ૪૨૨માં પ્રકાશિત થયેલ છે, પરંતુ તેમાં સંપાદક તરફથી કેટલુંક પરિવર્તન થયું જણાય છે, તેથી અહીં ફરીથી બીજી રીતે થોડા વિસ્તારથી પ્રમાણો સાથે પુનઃ પ્રયત્ન કર્યો છે. સત્ય-શોધકો આથી સંતુષ્ટ થશે—એવી શુભ ભાવના સાથે વિરમું છું.

બ્રહ્મવિહાર—જૈન અને જૈનેતર દૃષ્ટિએ

પ્રા૦ જયંતીલાલ ભાઈશંકર દવે, એમ. એ.

બ્રહ્મવિહાર એટલે શું: ઘણા માણસોને બ્રહ્મવિહાર શબ્દ અપરિચિત લાગશે. પરંતુ 'બ્રહ્મવિહાર' શબ્દ ખાસ કરીને બૌદ્ધ દાર્શનિક સાહિત્યમાં ઘણે સ્થળે વપરાયેલો જોવામાં આવે છે. જો કે વૈદિક અને જૈન દર્શનોમાં આ શબ્દ સીધી રીતે વપરાયેલો જોવામાં આવતો નથી છતાં તે શબ્દથી જે અર્થની અભિવ્યક્તિ થાય છે તે અર્થનાં વર્ણનો ઠેરઠેર જોવામાં આવે છે. સત્ય એક હોય છતાં તેને બતાવવા માટે જગતમાં જુદી જુદી ભાષા અથવા ચેષ્ટાઓનો ઉપયોગ કરવામાં આવે છે.

ચાર્વાક દર્શનમાં તો આત્મા, મોક્ષસાધન વગેરે વિચારોને સ્થાન નથી જ. બાકીનાં બધાં ભારતીય દર્શનોને આપણે નિઃશંકપણે મોક્ષગામી દર્શનો કહી શકીએ. મોક્ષની કલ્પનાઓ ભલે જુદી જુદી હોય, બીજી રીતે કહીએ તો આ દર્શનો આત્મતત્ત્વનું નિરતિશય મહત્ત્વ આંકતા હોવાથી તે આત્માર્થી દર્શનો છે એટલે કે આધ્યાત્મિકતા મુખ્ય વસ્તુ છે, તે જ જ્ઞેય છે, તે જ ધ્યેય છે, તે જ સાક્ષાત્કાર્ય છે.

બ્રહ્મવિહારની વૈદિક કલ્પના: ભારતીય દર્શનોને બે મોટા વિભાગમાં વહેંચી નાખીએ તો (૧) વૈદિક દર્શનો અને (૨) શ્રમણ પરંપરાનાં દર્શનો એમ વર્ગીકરણ થાય છે. શ્રમણ પરંપરામાં જૈન અને બૌદ્ધ દર્શનો છે અને વૈદિક પરંપરામાં સાંખ્ય, યોગ, ન્યાય, વૈશેષિક, પૂર્વમીમાંસા અને ઉત્તરમીમાંસા અથવા વેદાંત આવી જાય છે.

ઉપર અમે કહી ગયા છીએ તેમ 'બ્રહ્મવિહાર' વૈદિક દર્શનોમાં વપરાયેલો નથી પરંતુ તેને બદલે 'ब्राह्मी स्थितिः' 'ब्रह्मसंस्थः' 'आत्मसंस्थः' આવા શબ્દો વપરાયેલા જોવામાં આવે છે. બ્રહ્મ શબ્દ અનેકાર્થ છે એમ હવે લગભગ બધા વિદ્વાનોએ સ્વીકાર્યું છે. તેમાંથી જ બ્રહ્મચર્ય શબ્દ આવ્યો છે. બ્રહ્મચર્યના પાલનથી જ બ્રહ્મને જાણી શકાય છે અથવા પામી શકાય છે માટે જ તેનો મહિમા ઉપનિષદ્, ગીતા વગેરે તમામ વૈદિક પ્રસ્થાનોમાં ગવાયો છે. બ્રહ્મમાં રમણ કરે, બ્રહ્મમાં વિહાર કરે તે આત્મવિહારી અથવા બ્રહ્મવિહારી કહેવાય. બ્રહ્મ અને આત્મા એક જ અર્થના દ્યોતક વેદાંતીઓએ માનેલા હોવાથી બન્નેમાંથી ગમે તે એક શબ્દ તેઓ વાપરે છે પણ સરવાળે એક જ અર્થમાં. વેદાંતની કલ્પના પ્રમાણે તમામ લૌકિક અને વૈદિક વ્યવસાયો અને વ્યાપારોથી રહિત થઈને કેવળ આત્મચિંતનપરાયણ રહે એવા પુરુષને આત્મસંસ્થ અથવા બ્રહ્મસંસ્થ પુરુષ કહેવાય. આવો પુરુષ જ અધ્યાત્મી અથવા આત્માર્થી અથવા મોક્ષાર્થી હોઈ શકે છે.

કઠોપનિષદ્‌માં વર્ણવ્યા પ્રમાણે જગતના મનુષ્યમાત્ર, કાં તો પ્રેયાર્થી હોય છે અથવા શ્રેયાર્થી હોય છે. દુન્યવી વસ્તુઓનો પરિગ્રહ કરવો અને તેમાં ગાઢ પ્રીતિ રાખવી એ પ્રેયાર્થી મનુષ્યનું લક્ષણ છે. તેથી ઊલટું, આ વસ્તુઓ ક્ષણભંગુર હોવાથી ક્ષણભર આનંદ આપનારી હોવા છતાં પરિણામે દુઃખ જ આપનારી છે એવું સમજી આત્માને જ સાચા આનંદની જન્મભૂમિ જે સમજે છે તેજ સાચો શ્રેયાર્થી છે. ટૂંકામાં શ્રેયાર્થી પુરુષ બ્રહ્મવિહારી છે.

જૈન તત્ત્વજ્ઞોએ કરેલી બ્રહ્મવિહારની કલ્પના: પાતંજલયોગમાં ચાર ભાવનાઓનું વર્ણન આવે છે. આ ચાર ભાવનાઓનાં નામો અનુક્રમે મૈત્રી, કરુણા, મુદિતા અને ઉપેક્ષા છે. પાતંજલયોગ પ્રમાણે આ ચારેય ભાવનાઓ અહિંસામાં અંતર્ગત થઈ જાય છે. જૈનદર્શનમાં પણ અહિંસા એ જ એક

વ્યાપક આત્મધર્મ હોવાથી તેની વ્યાપક ભાવનામાં મૈત્રી, કરુણા, મુદિતા અને ઉપેક્ષા આવી જાય છે. એક જૈન કવિ-દાર્શનિક અમિતગતિ કહે છે તેમ,

सत्त्वेषुमैत्री गुणिषु प्रमोदः
संक्लिश्यमानेषु कृपापरत्वम् ।

અર્થાત્ પ્રાણીમાત્ર પ્રત્યે મૈત્રીભાવ રાખવો જોઇએ, જ્યાં જ્યાં આપણને સદ્‌ગુણી લોકો દેખાય ત્યાં તેમના પ્રતિ આનંદ વ્યક્ત કરવો જોઈએ અને દુઃખથી પીડાતા લોકો તરફ કરુણા બતાવવી જોઈએ.

આચાર્ય હેમચંદ્રની બ્રહ્મવિહારકલ્પના : હેમચંદ્રાચાર્યનો એક જ શ્લોક બસ થશે :

प्राणभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥

અર્થાત્ બ્રહ્મચર્ય પાળનાર માણસ પૂજાર્હ માણસો વડે પણ પૂજાય છે. આ બ્રહ્મચર્ય એટલે શું અને તે કેવું છે? ચારિત્ર્યનો પ્રાણ છે અને **પરબ્રહ્મની જે સ્થિતિ છે** તે પ્રાપ્ત કરાવનાર એક માત્ર કારણ છે એવું જે બ્રહ્મચર્ય તેનું પાલન કરનાર બ્રહ્મમાં સ્થિતિ કરે છે—તે જ બ્રહ્મવિહારી છે.

શ્રીશુભચંદ્રની બ્રહ્મવિહારકલ્પના : તેમનો પણ એક જ શ્લોક (સ્થળસંકોચના કારણે) બસ થશે :

यदिविषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।
यदि युवतिकरंके निर्ममत्वं प्रपन्नो
झटिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥

અહીંયાં થોડાક ફેરફાર સાથે શ્લોકની છેલ્લી લીટીમાં બ્રહ્મવિહાર શબ્દ સ્પષ્ટ રીતે મળી આવે છે. બ્રહ્મવીથીવિહાર એટલે બ્રહ્મમાર્ગે વિહાર કરવો તે. હવે આપણે શ્લોકનો અર્થ તપાસીએ.

શરીરરૂપી ઘરમાંથી વિષયરૂપી ડાકણ જો કાયમને માટે જાય એવો ઉપાય કરવો હોય, જો મોહનિદ્રાની ગાઢ અસરને ભૂંસી નાખવી હોય, જો યુવતીના મોહક દેહને હાડપિંજર સમાન ગણીને આસક્તિરહિત થવું હોય તો હે ભાઈ! તું તુરત બ્રહ્મમાર્ગે વિહાર કર! બીજી રીતે અર્થ કરીએ તો સાંસારિક પદાર્થોમાંથી ગાઢ પ્રીતિ ઊઠી ગઈ હોય તો તું બ્રહ્મમાર્ગે વિહાર કરવા લાયક થયો છે!

ઉમાસ્વાતિની કલ્પના : તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ઉમાસ્વાતિના ગ્રંથમાં બ્રહ્મ શબ્દનો નકારાત્મક પ્રયોગ (Negative use of the word) अब्रह्म શબ્દ તરીકે જોવામાં આવ્યો છે, તે પણ સૂચક છે. તે ગ્રંથના સાતમા અધ્યાયનું ૧૧મું સૂત્ર આ પ્રમાણે છે : **मैथुनमब्रह्म** ।

એટલે કે મૈથુનપ્રવૃત્તિ તે અબ્રહ્મ. તો અહીં સ્વાભાવિક પ્રશ્ન એ થાય છે કે મૈથુનને અબ્રહ્મ શા માટે કહ્યું? ટૂંકામાં કહીએ તો બ્રહ્મ એટલે સાત્ત્વિક મનોવૃત્તિઓનો સમૂહ અથવા અધ્યાત્મપરાયણ વૃત્તિઓ. આવા બ્રહ્મના પાલનથી અને અનુસરણથી સદ્‌ગુણો વધે છે. બ્રહ્મચર્ય શબ્દ પણ તેટલા માટે જ અને તે પરથી જ આવ્યો લાગે છે. એનાથી વિમુખ થવું એટલે જ અબ્રહ્મ થવું. ઘણુંખરુ મૈથુન એવી ગર્હ્ય પ્રવૃત્તિ છે કે તેમાં પડવાથી સાધુઓને ખાસ અને ગૃહસ્થાશ્રમીઓને પણ સત્ત્વહાનિ અચૂક થાય છે.

આ બધા ઉપરથી એટલું જરૂર ફલિત થાય છે કે બ્રહ્મવિહાર અને બ્રહ્મચર્યપાલનનો નિકટ સંબંધ છે. જૈનદર્શન પ્રમાણે બ્રહ્મચર્યનો ભંગ તો એક મહાન હિંસાનો પ્રકાર ગણાય છે માટે જ બ્રહ્મચર્યને અહિંસાનું એક આવશ્યક અંગ માન્યું છે. જે માણસ આત્માર્થી કે શ્રેયાર્થી થવા ઇચ્છતો હોય તેણે મન,

વચન અને કાયાથી પવિત્ર રહેવું જોઈએ જ. ટૂંકામાં ચારિત્ર ઉપર જૈન દાર્શનિકોએ જે ભાર મૂક્યો છે તે યથાર્થ છે. જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્ર મળીને મોક્ષમાર્ગ કિંવા આત્મમાર્ગ કહેવાય છે.

બૌદ્ધ બ્રહ્મવિહાર : બ્રહ્મવિહારનું વર્ણન બૌદ્ધ સાહિત્યમાં ઘણે સ્થળે છે. ખાસ કરીને विसुद्धिमग्गના પરિચ્છેદ ૯માં અને करणीय मेत्तसुत्तમાં તેનું વર્ણન આવે છે. બૌદ્ધ ધર્મગ્રંથોની ભાષા પાલી હોવાથી હું તેની મૂળ ગાથાઓ નથી આપતો પણ તેનો સાર જ અહીં આપું છું. करणीय मेत्तसुत्तની ગાથાઓ જે હું નીચે આપું છું તેમાં કેટલો ઊંચો નૈતિક આદર્શ છે!

પહેલી ગાથા : માતા જેમ પોતાના એકના એક પુત્રનું પોતાના પ્રાણના જોખમે પણ પાલન અને રક્ષણ કરે છે તેમ સાધકે પોતાનું મન સર્વ પ્રાણીમાત્રમાં અપરિમિત પ્રેમથી ભરી રાખવું જોઈએ.

બીજી ગાથા : મનમાં અપરિમિત મૈત્રીની ભાવના કરવી. દશે દિશાઓને પ્રેમથી ભરી નાખવી. આ પ્રેમને અંતરાય હોવો જોઇએ નહિ. સર્વ પ્રત્યે નિષ્પક્ષપાતપણે પ્રેમ રાખવો.

ત્રીજી ગાથા : ઊઠતાં, બેસતાં, ચાલતાં કે સૂતાં હોઈએ – શરીરની બધી ચેષ્ટાઓ અને અવસ્થાઓમાં મૈત્રીની ભાવના જાગ્રત રાખવી કારણ કે પંડિતો એને જ 'બ્રહ્મવિહાર' કહે છે. ટૂંકામાં દુઃખિત લોકો તરફ સહાનુભૂતિ રાખવી તેને કરુણા કહે છે. પુણ્યશાલી જીવોને જોઈએ ત્યારે આપણા હૃદયમાં આનંદ થવો જોઈએ. એને મુદિતા કહે છે. અને અપુણ્યાત્માઓને જોઈને તેનો તિરસ્કાર ન કરતાં તે લોકો પણ સત્કર્મથી પુણ્યાત્મા થશે એવી આશાથી તેમના પ્રત્યે સમભાવ રાખવો તે ઉપેક્ષાની ભાવના કહેવાય છે.

'બ્રહ્મવિહાર'ના અર્થપરત્વે મતભેદ : બૌદ્ધ ધાર્મિક સાહિત્યમાં વપરાયેલ 'બ્રહ્મવિહાર' શબ્દનો તાત્પર્યાર્થ સમજવામાં વિદ્વાનોમાં કાંઈક મતભેદ દેખાય છે. પંડિત બલદેવ ઉપાધ્યાયકૃત બૌદ્ધદર્શન(हिंदी)માં પૃષ્ઠ ૪૦૬ પર તે લખે છે કે चार ब्रह्मविहारों के नाम हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा। इनकी, ब्रह्मविहार संज्ञा सार्थक है क्योंकि इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में जन्म लेना तथा उस लोक की आनंदमय वस्तुओं का उपभोग करना है। બ્રહ્મવિહારનો આવો અર્થ ઘટાવવો તે સયુક્તિક લાગતું નથી. ખરી રીતે આ ભાવનાઓ તો બૌદ્ધ ધ્યાનયોગનાં અંગો છે અને આત્મ-ધ્યાનનાં ઉપકારક તત્ત્વો છે તેને બ્રહ્મલોકમાં જન્મ લેવાની સાથે અને આનંદોપભોગના લાભ સાથે સાંકળી દેવાં યોગ્ય નથી જ.

શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત યોગદષ્ટિસમુચ્ચયમાં મિત્રાદષ્ટિ વગેરેનું વર્ણન જોવાથી જણાઈ આવે છે કે મૈત્રી ઇત્યાદિ ભાવનાઓ ધ્યાનયોગનાં જ અંગો છે.

હવે બીજા બૌદ્ધ વિદ્વાન પ્રૉફેસર ધર્માનંદ કોસાંબીનો અભિપ્રાય તપાસીએ. 'બુદ્ધ, ધર્મ અને સંઘ' નામની પુસ્તિકામાં તે પંડિત બળદેવ ઉપાધ્યાયના કરતાં જુદો જ અર્થ ઘટાવે છે. ધર્માનન્દજીના કથન પ્રમાણે આ ચાર ભાવનાઓ હૃદયની શુભતમ અને શુદ્ધતમ મનોવૃત્તિઓ છે. જ્યારે બ્રહ્મદેવ બુદ્ધ પાસે આવ્યા ત્યારે બુદ્ધના હૃદયમાં આ ભાવનાઓને પૂર્ણ વિકસિત થયેલી જોઈ અને તેથી બ્રહ્મદેવ બુદ્ધને પ્રણામ કરી ચાલતા થયા.

આત્મતત્ત્વવિચારણામાં જૈન દર્શનની અપૂર્વતા : મહાત્મા ગાંધી જ્યારે ડરબન (દ૦ આફ્રિકા)માં હતા ત્યારે શ્રીમદ્‌રાજચંદ્રની સાથે તેમને પત્રવ્યવહાર થયેલો. એક પત્રમાં શ્રીમદ્‌રાજચંદ્ર લખે છે કે જગતના અન્ય ધર્મો અને દર્શનોમાં જે આત્મવિચારણા કરાયેલી છે તેના કરતાં વધારે સૂક્ષ્મતાથી આત્મતત્ત્વવિચારણા જિનકથિત સિદ્ધાંતમાં છે. આ વાત કોઈને અતિશયોક્તિવાળી જણાશે પણ તેમાં જરાપણ અતિશયોક્તિ નથી. એ તો માત્ર સત્ય હકીકતનું કથન માત્ર છે. જૈન દાર્શનિકોએ

મનોવિજ્ઞાન (Psychology) અને જીવમીમાંસા ઉપર ઘણો જ સૂક્ષ્મ વિચાર કર્યો છે તેમાં શંકા નથી. આ વાતના સમર્થનમાં એક જ ઉદાહરણ બસ થશે. પશ્ચિમનું મનોવિજ્ઞાન (Psychology) તો હજી પ્રયોગાત્મક અવસ્થામાં છે અને અનેક શાખા-ઉપશાખાઓમાં અટવાઈ ગયું છે. (Psycho-analysis) એ પ્રયોગાત્મક મનોવિજ્ઞાનની એક શાખા છે તેમાં ફ્રોઈડ, જંગ વગેરે વિદ્વાનો થઈ ગયા છે. એમના અભિપ્રાય પ્રમાણે માણસો બે પ્રકારનાં હોય છે, (૧) બહિર્મુખ (Extravert) અને (૨) અંતર્મુખ (Intravert). હવે હજારો વર્ષ પહેલાં જૈન દાર્શનિકોએ આ જ વાત બહિરાત્મા અને અંતરાત્માનો ભેદ પાડીને સમજાવી છે. જે માણસ શરીરાદિમાં જ આત્મબુદ્ધિ રાખે છે તે મોટા ભ્રમમાં પડ્યો છે. આવો માણસ બહિરાત્મા કહેવાય. દુઃખની વાત તો એ છે કે તેનું તેને ભાન નથી. આ કેવળ બહિર્મુખ પ્રવૃત્તિઓમાં રાચે છે, પણ અંતર્મુખ વૃત્તિવાળો વિચાર કરી શકે છે, અંતરમાં જોઈ શકે છે તેથી તે વહેલો જાગી જાય છે. અંતરાત્મા પુરુષ શુદ્ધ આત્મા તરફ પ્રગતિ કરવા યોગ્ય ગણી શકાય. બહિરાત્મા, અંતરાત્મા અને પરમાત્મા એવા જે ત્રણ ભેદ આત્માના જૈનદાર્શનિકોએ પાડ્યા છે તે કેટલા સુંદર અને વૈજ્ઞાનિક છે? મને તો લાગે છે કે આ આધ્યાત્મિક વિકાસનાં આ ત્રણ માર્ગસૂચક સ્તંભો છે. આ ક્રમ આપણે આધ્યાત્મિકતા તરફ કેટલી પ્રગતિ કરી શક્યા છીએ તેનાં સૂચક અને નિદર્શક છે.

ફલશ્રુતિ : વૈદિક, જૈન અને બૌદ્ધદર્શનોમાં બ્રહ્મવિહારની કલ્પના કેવી રીતે કરવામાં આવી છે તે આપણે જોઈ ગયા. થોડાક શબ્દોના જ ફેરફાર બાદ કરતાં ત્રણે દર્શનોની કલ્પના સમાંતર ચાલી આવે છે એમ આપણને લાગ્યા વગર રહેતું નથી. જગતના તમામ ધર્મોમાં એક અથવા બીજી રીતે આ ચાર ભાવનાઓનો સ્વીકાર થયેલો જોવામાં આવે છે. (Practical Religion of Mankind) એટલે માનવ માત્રનો વ્યવહારમાં મૂકી શકાય તેવો ધર્મ એટલે જ આ ચાર ભાવનાઓ. જૈનધર્મમાં તો અહિંસાનાં તે અંગ છે. જૈનદર્શન પોકારીને કહે છે કે રાગ અને દ્વેષ એ મિથ્યાત્વનાં ખાસ લક્ષણ છે. જ્યાં રાગદ્વેષ હોય ત્યાં મૈત્રી ક્યાંથી સંભવે? અને કરુણા તથા મુદિતા પણ ક્યાંથી હોય? વળી આ રાગદ્વેષથી માધ્યસ્થ ભાવ અને ઉપેક્ષા કેવી રીતે ઊપજે? ક્રોધ, દ્વેષ, મત્સર એ તો આત્માના ઉઘાડા દુશ્મન છે; આત્મવિહાર કરનાર માટે, આત્મ-ધ્યાન કરનાર માટે તો ક્ષમા, શાંતિ, ભૂતદયા અને સત્યનું અનુશીલન જોઈએ તે સિવાય અંતઃકરણની શુદ્ધિ થવી અશક્ય છે. શુદ્ધ અંતઃકરણ વગર ધ્યાનયોગ ક્યાંથી સિદ્ધ થાય? આ વાત જેમ આત્માર્થીએ લક્ષ્યમાં રાખવાની છે તેમ વ્યવહારમાં પડેલા વ્યવસાયી માણસોએ પણ ધ્યાનમાં રાખવી ઘટે. વ્યાવહારિક જીવન, તે વ્યક્તિગત હોય કે રાષ્ટ્રીય અથવા આંતરરાષ્ટ્રીય હોય—તે જેટલું પ્રામાણિક, સત્યનિષ્ઠ, પ્રેમદયાથી ભરેલું અને પરોપકારી હોય તેટલું જ હિતકર અને સાર્થક કહી શકાય. આવું જીવન એ જ બ્રહ્મવિહાર. એ જ, વ્યક્તિ, સમાજ અને જગત્નું ઉપકારક બની શકે.

શ્રી પાર્શ્વનાથની એક પ્રાચીન ધાતુપ્રતિમા

ડૉ૦ ઉમાકાન્ત પ્રેમાનન્દ શાહ, એમ. એ., પીએચ. ડી.

મુંબઈના પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમમાં શ્રીપાર્શ્વનાથ ભગવાનની એક કાયોત્સર્ગ મુદ્રાએ ખડી ધાતુપ્રતિમા છે. આ પ્રતિમાની ઊંચાઈ આશરે નવ ઈંચની છે. પ્રતિમાની નીચેનું મૂળ આસન મળ્યું નથી એટલે હાલ કાષ્ઠના આસન ઉપર સ્થિર કરેલ છે. ભગવાનનો જમણો હાથ, મસ્તક તથા પાછળના સર્પની ત્રણ ફેણ ખંડિત છે. મસ્તક પાછળ પાંચ ફણાવાળો નાગ છે જેનું બાકીનું શરીર વાંકુંચૂંકું ભગવાનના પાછળના (પીઠના) ભાગ ઉપર થઈ પગ સુધી પહોંચે છે. ચિત્ર ૧ માં પ્રતિમાજીનો ફોટો સન્મુખથી લેવામાં આવ્યો છે. જ્યારે ચિત્ર ૨ માં પીઠનો ભાગ બતાવ્યો છે. ચિત્ર ૩ માં ફક્ત કમ્મર સુધીનો શરીરનો ઉપરનો ભાગ વધારે મોટો કરી બતાવ્યો છે.

આ પ્રતિમા ક્યાંથી મળી તેની કોઈ માહિતી નથી. મ્યુઝિયમમાં આ પ્રતિમા કોઈકે વેચી હોય તે વેપારીએ મૂળ સ્થળ બતાવ્યું ના હોય, વેપારીને પણ ખબર ના હોય, અને ઘણાં વર્ષો ઉપર મ્યુઝિયમમાં આવેલી આ પ્રતિમાની માહિતી ઝીણવટથી મેળવી નોંધવાની રહી પણ ગઈ હોય. ગમે તેમ હોય, આજે આપણે પ્રતિમાના રૂપવિધાન ઉપરથી એટલું તો કહી શકીએ કે ઉત્તર ભારતના કોઈ સ્થળની આ પ્રતિમા છે, દક્ષિણની નહિ.

પ્રતિમા સાવ નગ્ન છે એટલા જ કારણે એ દિગમ્બર સમ્પ્રદાયની ગણી શકાય નહિ. કેમકે વાસ્તવિક રીતે એ પ્રતિમા એ સમયમાં ભરાઈ હતી જે સમયમાં શ્વેતામ્બર–દિગમ્બર મતભેદનો ઉદ્ભવ પણ થયો નહોતો. એ પ્રતિમા એટલી બધી પ્રાચીન છે કે ફક્ત નગ્નત્વના કારણે એની અગત્યતા તરફ આંખ આડા કાન કરનાર શ્વેતામ્બર જૈન પોતાના ધર્મની પ્રાચીનતાને જ અન્યાય કરી બેસશે.

સારા યે ભારતવર્ષમાં મળેલી જૈન પ્રતિમાઓમાં સૌથી વધુ પ્રાચીન પ્રતિમા કહી શકાય એવી પ્રતિમા પટણા પાસે લોહાનિપુરમાં ખોદકામમાંથી મળી આવી છે. એ પ્રતિમા એક પ્રાચીન જૈન મન્દિરના પાયાના અવશેષોમાંથી મળી છે. અશોકના ધર્મચક્રયુક્ત સિંહધ્વજ (ભારતીય રાજમુદ્રા) પર જે જાતનો ચળકાટ–ઓપ–છે તે ચળકાટ મૌર્યકાલીન શિલ્પકલાની વિશિષ્ટતા હતી. આ જૈન પ્રતિમા પણ એવા જ ચળકાટ High polish વાળી છે. હાલ પટણા મ્યુઝિયમમાં સુરક્ષિત આ પ્રતિમા જ્યાંથી મળી છે એ ભાગ પણ પ્રાચીન પાટલિપુત્ર નગરીની હદમાં જ ગણી શકાય એવો છે.

આ પ્રતિમા ચિત્ર નં. ૪ તરીકે રજૂ કરી છે. એમાં મસ્તક તથા ઘૂંટણ નીચેનો ભાગ નથી—એ તો ખંડિત થઈ ખોવાઈ ગયા, પણ ધડ અને પગ (torso and legs)ના જે ભાગ બચાવ્યા છે તે બતાવે છે કે એક તો આ પ્રતિમા કાયોત્સર્ગમુદ્રાએ અચેલ-અવસ્થામાં ઊભેલા કોઈ તીર્થંકરની છે. આપણે જાણીએ છીએ કે જિનકલ્પી સાધુઓ પણ વસ્ત્ર ઇત્યાદિનો પરિગ્રહ રાખતા નથી અને તીર્થંકરો પણ પોતે નિર્વસ્ત્ર રહી ધ્યાન-સાધના કરે છે એ હકીકતનો ઇનકાર કોણ કરી શકે? ખાસ કરીને પહેલા અને છેલ્લા તીર્થંકરનો ઉપદેશેલો ધર્મ પણ આચેલક્યનો હતો એ તો પ્રાચીન ગાથા પણ કહે છે. એવા સંજોગોમાં મૌર્યકાલીન આ તીર્થંકર પ્રતિમા નગ્ન અવસ્થામાં જ મળવી જોઈએ અને તેને જૈન સમ્પ્રદાયના બેઉ ફિરકાઓએ ભાવપૂર્વક અપનાવવી જ પડે.

श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा

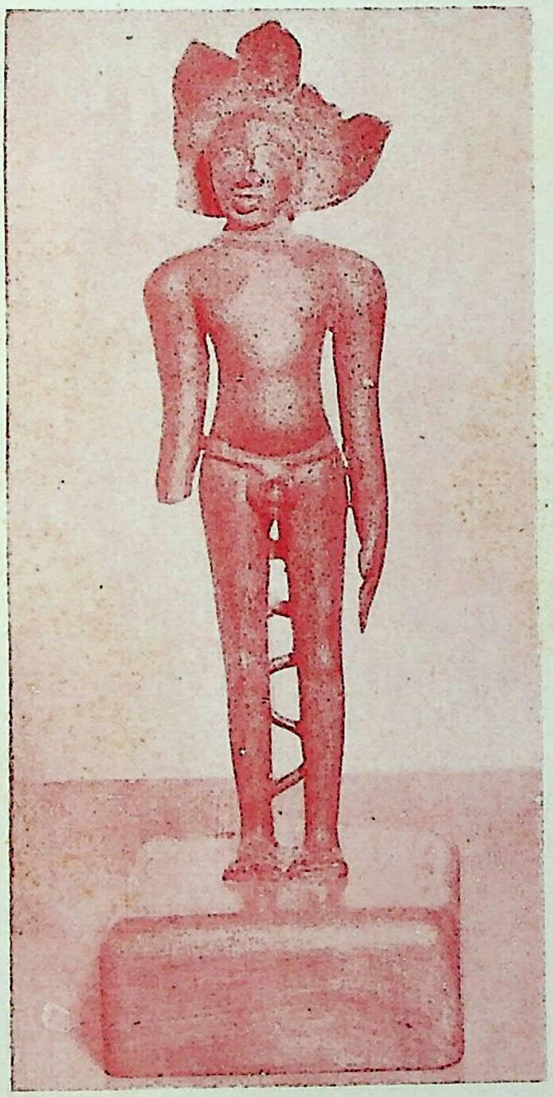

चित्र नं. १ सन्मुखदर्शन

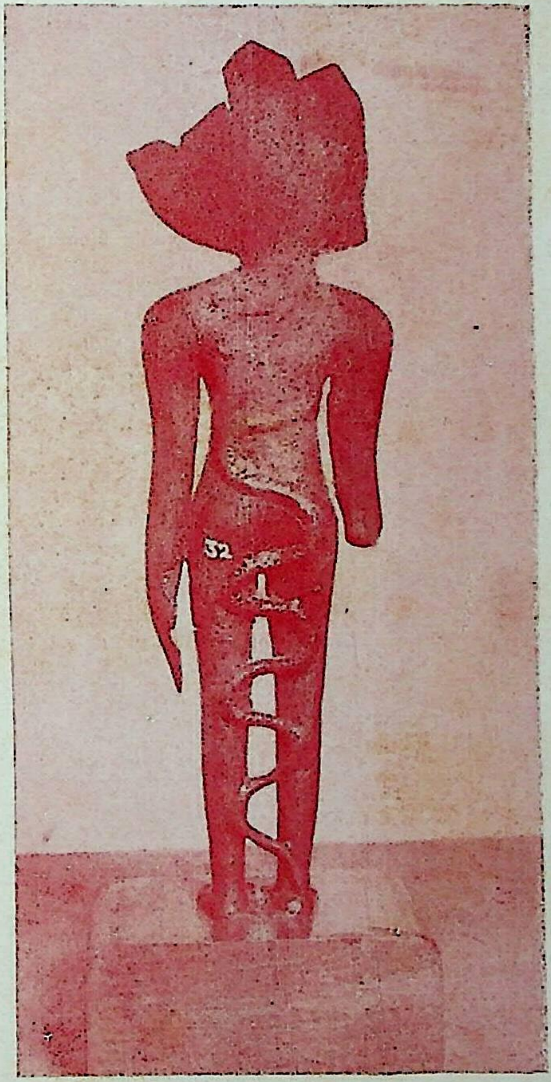

चित्र नं. २ पृष्ठभाग

[मुंबईना प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझियमना सौजन्यथी]

श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा

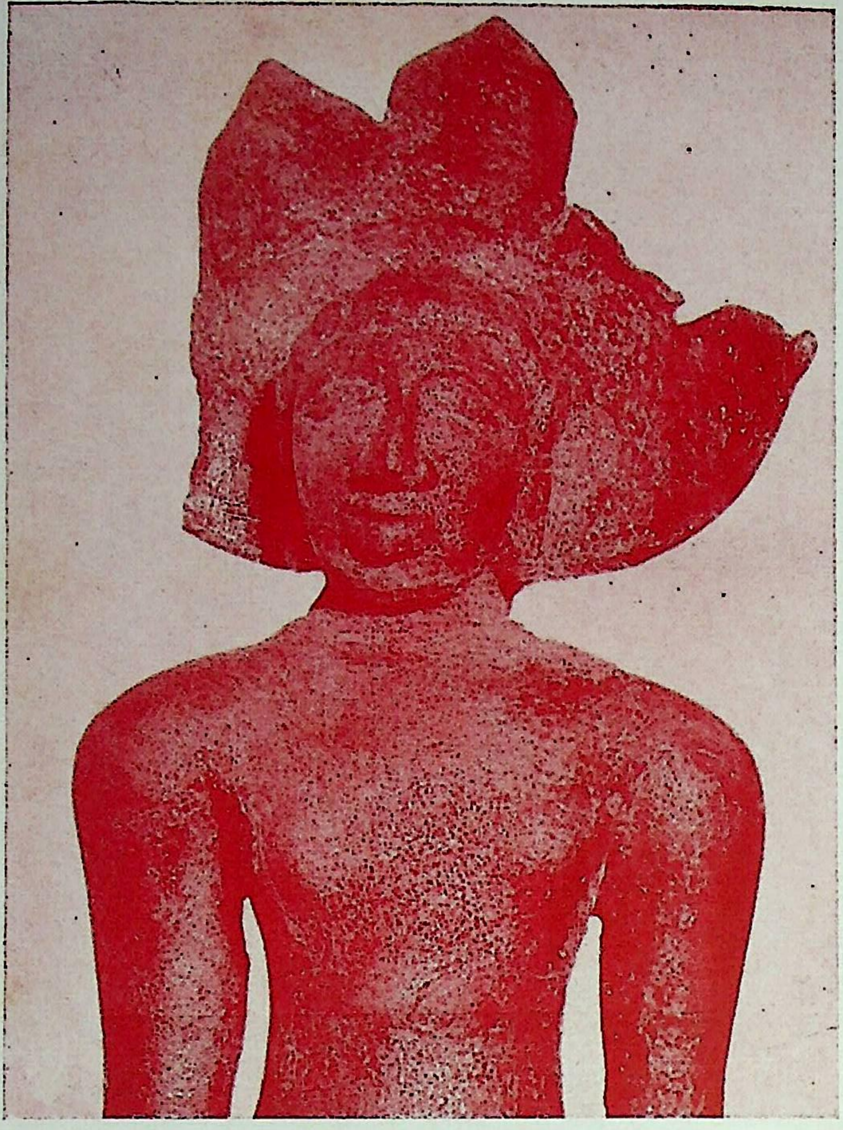

चित्र नं. ३ [मुंबईना प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझियमना सौजन्यथी]

लोहानिपुर(पटणा पासे)थी मळेल मौर्यकालीन जिन-प्रतिमा

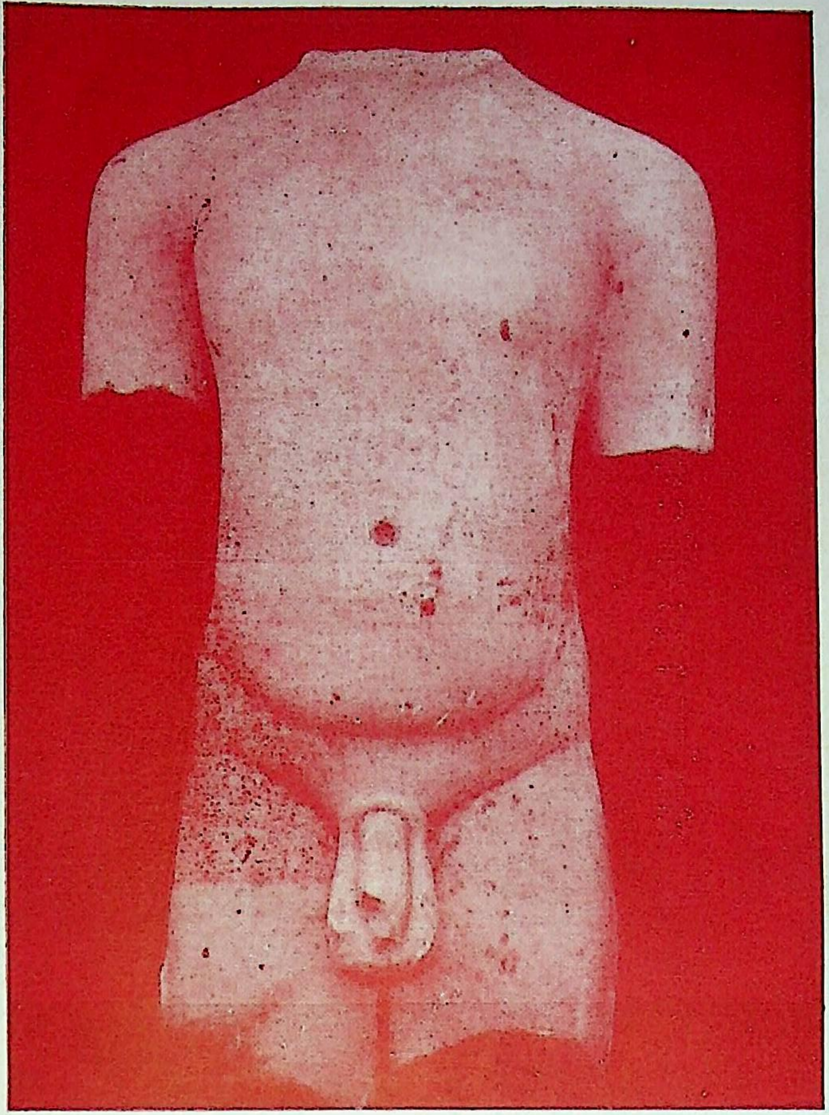

चित्र नं. ४ [पटणा म्युझियमना सोजन्यथी]

એ પ્રતિમા અશોક પછીની હોય તો પણ સમ્પ્રતિના સમયની તો ગણવી જ પડે. એટલે એ લોહાનિપુરની પાષાણપ્રતિમાને ઈ. સ. પૂર્વે ૨૫૦ આસપાસના સમયની ગણીએ તો તેમાં જરાયે ગેરવ્યાજબી નથી.

આ પ્રતિમાના ધડના ભાગનું ઘડતર, ખાસ કરીને પેટના ભાગને જે રીતે ઘડ્યો છે તે, બરોબર સમજવા જેવું છે. બરોબર એ જ શૈલીનું, એના જ અનુકરણના ઘાટનું પેટ વગેરે ભાગનું ઘડતર પાર્શ્વનાથજીની ધાતુપ્રતિમાનું છે. એટલે કે મૌર્યકાલીન રૂઢિને અનુસરીને આ પ્રતિમાનાં અંગોનું ઘડતર થયું છે. એથી લોહાનિપુરની કબન્ધ આકૃતિ (torso)–પછી આ ધાતુપ્રતિમા ભરાઈ હોય તો પણ ઈ. સ. પૂર્વેના બીજા સૈકા આસપાસની તો માની શકાય.

આ પ્રતિમાને આટલી પ્રાચીન માનવા માટે બીજાં અનેક કારણો છે. પહેલું તો એ આખીએ પ્રતિમામાં મનુષ્ય-આકૃતિના ઘડતરની જે શૈલી છે, તે ભારતની અતિ પ્રાચીન શૈલી છે. મોહેં–જો ડારોમાંથી મળેલી, નૃત્ય કરતી અંગનાની એ નાની ધાતુપ્રતિમા મળેલી છે.[1] આ પ્રતિમામાં જે જાતનું મુખ છે બરોબર એ જ જાતિનું, એવી જ ઢબનું મુખ પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાનું છે. લંબગોળ મુખ, ગંડસ્થલો વચ્ચે વધુ વિશાલ અને ધીરે ધીરે દાઢી સુધી સાંકડું થતું લાંબું મુખ, લાંબું નાક, નાના પણ જાડા હોઠ, આયત નેત્રો વગેરેની રચના ઉપરની મોહેં-જો-ડારોની આકૃતિ ઉપરાંત, મથુરા, હાથરસ વગેરે સ્થળોએ મળેલી પ્રાચીન માટીકામની માતાની આકૃતિઓ સાથે સરખાવી શકાય તેવી, એ જ ઘાટની છે. આમ મુખાકૃતિ જેને Primitive (પ્રાકૃત અથવા જંગલી) કહેવામાં આવે એવી ઢબની છે. પ્રાચીન માટીની આકૃતિઓ ઉપર ભવાં-- eye-brows, ઘરેણાં વગેરે બતાવવા માટે માટીના તેવા લોચાઓ ચોઢવામાં આવતા જેને આપણે applique art કહીશું. આ applique art (ખચિતકલા)ની ઢબ દેખાડતી આ ધાતુપ્રતિમા છે એટલે એમાં માટીકામ માફક પાછળથી ચોઢેલાં ભવાં તો ન જ હોય પણ પ્રતિમા ભરનાર કારીગર પહેલાં જે માટી વગેરેનું કે મીણનું બિંબ બનાવે તેના ઉપર એ રીતની કારીગરી કરે, અને પછી એ ઘાટનું બિંબ ઢાળે. આ કલા એટલે કે ભરવાની કલા નહિ પણ આ જાતની applique technique (ખચિત–કારીગરી) વાળી કલા—જે પ્રાચીન માટીની માતૃમૂર્તિઓમાં જોવામાં આવે છે તેવી કલા—આજદિન સુધી અમુક જાતની મૂર્તિઓમાં ચાલુ રહી છે છતાં કઈ મૂર્તિ પ્રાચીન અને કઈ અર્વાચીન તે ઓળખવું સહેલું હોય છે. જૂની મૃણ્મય[2] મૂર્તિઓ (terracottas) સાથે સરખાવવાથી એ સ્પષ્ટ થાય છે કે શ્રીપાર્શ્વનાથજીની આ મૂર્તિ સહેજે ઈ. સ. પૂર્વે પહેલાબીજા સૈકાની તો છે જ.

વળી મોહેં–જો–ડારોની નર્તકી અને ત્યાંથી જ મળેલી માટીની એક પુરુષાકૃતિ[3] એ બેઉમાં શરીરનાં અંગો, હાથ અને પગ પાતળા લગભગ સોટા જેવા ઘડેલા છે. આ પ્રમાણે પાર્શ્વનાથની પ્રતિમામાં પણ હાથપગ લાંબા અને પાતળા છે તેમ જ આ ત્રણેય આકૃતિઓનાં અંગો લાંબાં અને સ્થૂલ નહિ એવાં કંઈક પાતળાં છે.[3] ખભા આગળથી પહોળાં નહિ એવાં આ શરીરો કુષાણકાલીન મથુરાની

---

૧. જુઓ, સર જૉન માર્શલકૃત, મોહેં-જો-ડારો ઍન્ડ ધ ઇન્ડસ વેલી સિવિલિઝેશન, વૉલ્યુમ ૩, પ્લેટ ૯૪, આકૃતિ ૬-૭-૮.

૨. આવી મૃણ્મૂર્તિઓ માટે જુઓ, ડી. એચ. ગૉર્ડન લિખિત, અર્લી ઇન્ડિઅન ટેરાકોટાઝ્, જર્નલ ઑફ ઇન્ડિઅન સોસાઇટી ઑફ ઓરિએન્ટલ આર્ટ, વૉલ્યુમ ૧૧.

૩. આવા શરીરઘડતરની બીજી આકૃતિઓ માટે જુઓ, સર જૉન માર્શલ, મોહેં-જો-ડારો ઍન્ડ ધ ઈન્ડસ વેલી સિવિલિઝેશન, વૉલ્યુમ, ૩, પ્લેટ ૯૪, ચિત્ર ૯, ૧૧. પ્લેટ ૯૫, ચિત્ર ૨૬, ૨૭; અર્નેસ્ટ મૅકેકૃત, ફર્ધર એક્સકેવેશન્સ ફ્રૉમ મોહેં-જો-ડારો, વૉલ્યુમ ૨, પ્લેટ ૭૨, આકૃતિ ૮, ૯, ૧૦. પ્લેટ ૭૩, આકૃતિ ૬, ૧૦, ૧૧. પ્લેટ ૭૫, આકૃતિ ૧, ૨૧.

જૈન અને બૌદ્ધ પ્રતિમાઓથી જુદા તરી આવે છે. મથુરાની મૂર્ત્તિઓ વિશાલ ખભાને લીધે વધુ મજબૂત દેખાય છે.

શ્રીપાર્શ્વનાથની આ પ્રતિમામાં છાતીની નીચે પેઢાનો ભાગ જે રીતે ઘડેલો છે તે પ્રાચીન યક્ષમૂર્ત્તિઓ, લોહાનિપુરની ચળકાટવાળી મસ્તકરહિત જિન પ્રતિમા વગેરેને મળતો આવે છે.

મોહેં-જો-ડારો અને મૌર્ય કે શુંગ યુગો વચ્ચે સમયનું એટલું મોટું અંતર હોવા છતાં, ભારતમાં પ્રાચીન કલાપ્રણાલિઓ ચાલુ રહી એવું માનવાને કાંઈ જ હરકત નથી. લોહાનિપુરની પ્રતિમાના ઘડતરને અને પાર્શ્વનાથજીની ધાતુપ્રતિમાના ઘડતરને સરખાવતાં તો એ વચ્ચે જે સમ્બન્ધ દેખાય છે તે જોતાં આ પ્રતિમા ઈ. સ. પૂર્વે બીજા સૈકાથી પણ પ્રાચીન હોઈ શકે પણ આપણી પાસે એવા નિર્ણય પર આવવા માટે અત્યારે બીજાં કોઈ સાધન નથી.

ધાતુપ્રતિમા ભરવાની કલા તો હિંદમાં હતી જ. મોહેં-જો-ડારોની નર્તકી એની સાક્ષી પૂરે છે. અને એક બાજુ મોહેં-જો-ડારોની કલાકૃતિઓ અને બીજી બાજુ મથુરા, હાથરસ, લોહાનિપુર વગેરે સ્થળોની મૂર્ત્તિઓ અને પાષાણશિલ્પ સાથે સમ્બન્ધ ધરાવતી આ પ્રતિમા પશ્ચિમ ભારત કે ઉત્તર ભારતમાંના કોઈ સ્થળેથી મળી આવી હોય એમ સંભવી શકે.

આપણી પાસે મૌર્યકાલીન કે શુંગકાલીન બીજી કોઈ ઢાળેલી કે ભરેલી ધાતુપ્રતિમા નથી જેની સાથે આ પ્રતિમાને સરખાવી શકાય. કુષાણકાલીન, ઈ. સ.ના પહેલાથી ત્રીજા સૈકા સુધીની ધાતુપ્રતિમાઓ પણ ભાગ્યે જ મળે છે. અત્યાર સુધીમાં ઈ. સ.ના પહેલા સૈકામાં નિશ્ચિતરૂપે મૂકી શકાય એવી પણ ધાતુ પ્રતિમાઓ જાણીતી નથી.

બક્સર પાસે ચૌસા નામના સ્થળેથી કેટલાંક વર્ષો ઉપર થોડીક જૈન ધાતુપ્રતિમાઓ મળી આવી હતી. બધી જ પ્રતિમાઓ તીર્થંકરોની છે, બધી જ નગ્ન છે અને બધી પ્રતિમાઓને અંદાજે ઈ. સ.ના પહેલાથી ચોથા સૈકામાં મૂકી શકાય તેવી છે. આ પ્રતિમાઓ હજુ પૂરતી જાણીતી નથી થઈ કેમકે તેને વિષે કોઈએ ઝાઝો વિચાર કે ઊહાપોહ કર્યો નથી. પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિઅમના બુલેટિનના પહેલા અંકમાં આ લેખકે એમાંની એક, ઋષભદેવની પ્રતિમા છપાવી છે. બાકીની પ્રતિમાઓ The Art of the Akota Bronzes નામના આ જ લેખકના ટૂંકમાં પ્રસિદ્ધ થનારા પુસ્તકમાં છપાશે.

આ પ્રતિમાઓ સાથે પણ પાર્શ્વનાથજીની પ્રતિમાને સરખાવતાં ઉપર દોરેલું અનુમાન યોગ્ય લાગે છે. પાર્શ્વનાથજીની પ્રતિમા ઉપર શ્રીવત્સ ચિહ્ન નથી એ નોંધપાત્ર છે. સંભવ છે કે તે સમયમાં શ્રીવત્સ અંકિત કરવાનો પ્રચાર શરૂ પણ ના થયો હોય. ચૌસાની પ્રતિમાઓમાં કેટલીક ઉપર શ્રીવત્સ છે. પાર્શ્વનાથજીના મસ્તક ઉપરની કેશરચના દક્ષિણાવર્ત નાના કેશની (Schematic curls of hair) છે. શાસ્ત્રો મુજબ આ મહાપુરુષ લક્ષણ છે. દક્ષિણાવર્ત રોમરાજિ મથુરાની કુષાણકાલીન પ્રતિમાઓમાં તો મળે છે જ પણ બોધગયાના ઈ. સ. પૂર્વે પહેલી સદીના શિલ્પમાં પણ જોવામાં આવી છે. એટલે દક્ષિણાવર્ત કેશના કારણે પણ પાર્શ્વનાથજીની આ ધાતુપ્રતિમાને પ્રાચીન માનવામાં કોઈ વિરોધ નડતો નથી.

ઉપર જણાવ્યું તેમ આ પ્રતિમાને શ્વેતામ્બર–દિગમ્બર મતભેદ સાથે કાંઈ સમ્બન્ધ રહેતો નથી. કેમકે એ તો એ ભેદથી ઠીક ઠીક પ્રાચીન સમયની છે. હિંદમાં પ્રાગૈતિહાસિક સમયની ઈ. સ. પૂર્વે આશરે બે હજાર વર્ષ પૂર્વેની મોહેં-જો-ડારોની નર્તકીની ધાતુપ્રતિમાને બાદ કરીએ તો ઐતિહાસિક સમયની ભારતમાંથી આજસુધી ઉપલબ્ધ સહુ ઢાળેલી ધાતુપ્રતિમાઓમાં આ પ્રતિમા સૌથી વધુ પ્રાચીન છે એ નિર્વિવાદ છે.[૪]

---

[૪] વધુ માટે જુઓ, ડૉ. ઉમાકાન્ત પ્રે. શાહ લિખિત, ઍન અર્લી ઇમેજ ઑફ પાર્શ્વનાથ ઇન ધ પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમ એ લેખ, બુલેટિન ઑફ ધ પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમ, અંક ૩ પૃ. ૬૩–૬૫.

પ્રકાશાનું એક પ્રાચીન શિલ્પ

શ્રી. શિવલાલદાસ શમ્ભુભાઈ દેસાઇ

પશ્ચિમ ખાનદેશમાં નંદરબારથી ઉત્તરે દશ માઇલ દૂર પ્રકાશા નામનું તીર્થક્ષેત્ર છે. પ્રકાશા નામ શાથી પડ્યું અથવા તે સ્થળનું પ્રાચીન નામ શું હશે તે વિષે જૂનો ઇતિહાસ ખાસ જડતો નથી, ફક્ત સ્કન્દપુરાણાન્તર્ગત તાપી-માહાત્મ્યમાં પ્રકાશાનો ઉલ્લેખ આવે છે.

સ્થાનિક લોકમાન્યતા મુજબ આ સ્થળ પ્રતિ-કાશી<પ્રકાશી>પ્રકાશા છે, અને કાશીની યાત્રા આ પ્રતિકાશીની યાત્રા વિના પરિપૂર્ણ ગણાતી નથી. તાપી કિનારે ભેખડ ઉપર વસેલા આ ગામની વસતિ હાલ આશરે પાંચેક હજારની છે, જેમાં મોટે ભાગે લેવા પાટીદાર છે[1] તેઓ ખેતીનો ધંધો કરે છે. આ ઉપરાંત અન્ય કોમોમાં ગુજરાતી લાડ વાણિયા અને વૈશ્ય સોનીઓની પણ થોડી વસતિ છે, તેમ જ ગુજરાતી મૈત્રાયણી બ્રાહ્મણો અને થોડાક દક્ષિણી બ્રાહ્મણો પણ છે. આ સિવાય મરાઠાઓની પણ વસતિ છે. વસતિનો મોટો ભાગ ગુજરોનો છે અને ભાષા પણ ગુજરાતી છે, જો કે દક્ષિણી પ્રદેશના સહવાસમાં કેટલુંક દક્ષિણી ભાષાનું મિશ્રણ વ્યવહારમાં ચાલે છે.

પ્રકાશામાં પુષ્પદન્તેશ્વર મહાદેવનું મંદિર છે. મહિમ્નસ્તોત્રના કર્તા પુષ્પદન્ત સાથે આ શિવાલયનો સંબંધ ત્યાંના બ્રાહ્મણો જોડે છે. પણ તે બાબતમાં કાંઈ જ નિર્ણય કરી શકાય એવાં સાધનો નથી. આ સિવાય કેદારેશ્વર, સંગમેશ્વર, ગૌતમેશ્વરનાં મંદિરો છે. આ ઉપરાંત ગામ લોકોએ છૂટીછવાઈ પ્રતિમાઓને એક સ્થળે ભેગી કરી છે જેમાં સૂર્યની, વિષ્ણુની તેમ જ અન્ય દેવદેવીઓની નાનીમોટી મૂર્તિઓ છે, કેટલીક તો ચારપાંચ ફૂટ ઊંચી પણ છે. આ બધાં શિલ્પોનો વિગતવાર વિચાર આ સ્થળે ન કરતાં ફક્ત એક અગત્યના પ્રાચીન શિલ્પાવશેષ—મસ્તક—નો જ વિચાર કરીશું.

પ્રકાશામાં નાગપૂજાના અવશેષ પણ છે, એમાં નાગની આકૃતિનાં બે શિલ્પો (એક જૂનું, અને એક અર્વાચીન) ખાસ ધ્યાન ખેંચે છે. આ સ્થળે ડિસેમ્બર ૧૯૫૪માં વલ્લભવિદ્યાનગરના સંશોધક ભાઇશ્રી અમૃત વસંત પંડ્યાએ, સંગમેશ્વરના મંદિર પાસેના ટેકરા ઉપર પ્રાચીન ઐતિહાસિક તેમ જ પ્રાગૈતિહાસિક અવશેષો ખોળી કાઢ્યા અને અમદાવાદમાં ભરાયેલી અખિલ ભારતીય ઇતિહાસ પરિષદ પ્રસંગે ગોઠવાયેલા પ્રદર્શનમાં રજૂ કર્યા હતા—આમાં અશ્માયસ્ (chalcolithic) યુગનાં ઓજારોથી માંડીને મૌર્યકાળ અને ઈ. સ.ની શરૂઆત સુધીના અવશેષો હતા. જેને Northern Black Polish નામથી ઓળખવામાં આવે છે તેવા વિશિષ્ટ પ્રકારના ખૂબ સુંદર ચકચકિત ઓપવાળા માટીકામના ટુકડાઓ પણ મળ્યા હતા.

આ પછી તુરત જ ભારત સરકારના પુરાતત્ત્વખાતાએ તેના અનુભવી સંશોધક શ્રી. થાપરની દેખરેખ નીચે આ સ્થળે ખોદકામ તરીકે લગભગ પચાસ-પંચાવન ફૂટ સુધી ઊંડુ ખોદી જુદા જુદા થરની જુદા જુદા સમયની પ્રાચીન વસ્તુઓ મેળવી, આ સ્થળનો ક્રમબદ્ધ સાંસ્કૃતિક ઇતિહાસ મેળવ્યો છે, જે સરકાર તરફે યથાવકાશ પ્રસિદ્ધ થશે. આ ખોદકામમાં લગભગ ગુપ્તકાલીન ગણપતિનું શિલ્પ પણ તેઓને મળ્યું છે.

---

[1] ગુજરાતના લેવા પાટીદારો ખેતી માટે નંદરબાર, ખાનદેશ અને નીમાડામાં જઈ ને વસ્યા હતા.

આ ખોદકામની વિગતોમાં આપણે ઊતરીશું નહિ પણ આ સ્થળેથી મને જુદા જુદા પ્રસંગે ઉપલબ્ધ થયેલા પ્રાચીન સિક્કાઓ જોતાં સાતવાહન રાજાઓના, તેમ જ જેને tribal coins (કેટલીક વિશિષ્ટ જાતિઓના) કહે છે તેવા સિક્કા મળ્યા છે. આ ઉપરાંત ક્ષત્રપોના સિક્કા પણ મળ્યા છે અને અહમદશાહ પહેલાના તથા ગુજરાતના સુલતાન મહમદશાહના સિક્કા પણ મળ્યા છે. આનો વિગતવાર અભ્યાસ મારા મિત્ર ડૉ. હરિહરપ્રસાદ ત્રિવેદી (ઇંદોર મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર) પ્રસિદ્ધ કરનાર છે. આ સિક્કાઓ જોતાં એમ લાગે છે કે એક કાળે ગુજરાત, માળવા અને મહારાષ્ટ્રમાં એક જ પ્રકારના સિક્કાઓ વપરાતા હતા.

બીજી મળેલી પુરાતન વસ્તુઓમાં શંખની બંગડીઓ, તેમ જ જુદા જુદા પાષાણના રંગબેરંગી પ્રાચીન મણકાઓ વગેરેમાંથી કેટલાક ગુપ્તયુગના અને કેટલાક તેથી પ્રાચીન ક્ષત્રપયુગના પણ છે.

આ સ્થળ પશ્ચિમ ખાનદેશમાં ગુજરાતની, અથવા કહો કે પ્રાચીન લાટની, પૂર્વહદમાં આવેલું છે. ત્યાંની વસતિ અને ભાષા જોતાં તેમ જ પાસેના નંદરબારનો ગુજરાત અને તેના વિખ્યાત કવિ પ્રેમાનંદનો સંબંધ વગેરે જોતાં ઐતિહાસિક યુગમાં ખાનદેશનો આ પશ્ચિમ ભાગ મોટે ભાગે ગુર્જરો સાથે સાંસ્કૃતિક રીતે જોડાયેલો છે. ત્યાંની ગુજરોની વસતિ એ આ હકીકતનો પોષક અને નિર્ણાયક પુરાવો છે.

સ્વાભાવિક રીતે અહીંની કલા પણ ગુજરાતના બીજા ભાગોની શૈલી સાથે જોડાયેલી મળવી જોઈએ. આ સાથે ચિત્રમાં રજૂ કરેલું લગભગ સવા બે ઇંચિનું શીસ્ટ (મરકત શિલા) નામના પાષાણમાં કંડારેલું એક પ્રાચીન મસ્તક ગુજરાત અને પશ્ચિમ ખાનદેશના શિલ્પના ઇતિહાસમાં બહુ જ અગત્યની કડી છે. આ મસ્તક સૂર્ય અથવા વિષ્ણુની પ્રતિમાનું હોય એમ લાગે છે, કેમકે આ બેઉ દેવતાઓને આવા ઊંચા ટોપ જેવા બનેલા મુકુટ જૂના શિલ્પોમાં જોવા મળે છે.

પારસીઓના પાઘ જેવા, પણ એથી સહેજ જુદા ઘાટના, જો કે અસલ ઇરાની (પારસી) ઘાટના આ મુકુટ અથવા પાઘની રચના સમજવા જેવી છે, સીધા ઊભા ટોપની બે બાજુએ પહેલ પાડેલા છે તેમાં જે ઊંચી જતી રેખાઓ દેખાય છે તે વાસ્તવમાં અગ્નિ-જ્વાલાની સૂચક છે. આ તેજ-જ્વાલાયુક્ત મુકુટ એ ઇરાની અસરવાળો ટોપ છે. આને મળતો પણ આથી જૂના ઘાટનો ટોપ પહેરેલી ઇન્દ્રની એક આકૃતિ મથુરામાંથી મળેલી છે જે ઈ. સ.ના બીજા સૈકા લગભગની છે, હાલ મથુરા મ્યુઝિયમમાં સુરક્ષિત આ ઇન્દ્રની આકૃતિ પ્રાચીન ભારતીય શિલ્પના અભ્યાસીઓને સુવિદિત છે.[૨] આ ઇરાની પાઘ ઉપરથી ભારતીય કલાકારોએ જુદા જુદા ઘાટના પાત્ર અને મુકુટ બનાવવા માંડયા. ઊભા પાઘને લગભગ ગોળને બદલે ચોરસ અથવા ચોરસ જેવા અને પૂરા ગોળની પણ પાસાદાર બનાવી તેમાં ગુલાબની સુંદર આકૃતિઓ કોતરી ગુપ્તયુગમાં વિષ્ણુના સુંદર મુકુટ બનાવ્યા. આવો એક સુંદર મુકુટ પહેરેલી જૈન જીવન્તસ્વામીની (મહાવીર સ્વામીની) ધાતુપ્રતિમા વડોદરા પાસે અકોટાથી મળેલી તે ડૉ. ઉમાકાન્ત શાહે કુમાર, ડિસેમ્બર, ૧૯૫૪ના અંકમાં પ્રસિદ્ધ કરેલી છે. આ પ્રતિમા ઈ. સ.ના પાંચમા સૈકાની મનાય છે. એથી જૂનું એક મસ્તક કારવણથી શ્રી. રમણલાલ નાગરજી મહેતાને મળ્યું છે જેની મુખાકૃતિના ઘડતરને પ્રકાશાના અહીં રજૂ કરેલા મસ્તકના ઘડતર સાથે ઘણું સામ્ય છે. કારવણના મસ્તક ઉપરનો મુકુટ પણ આ શૈલીનો અને અકોટાના જીવન્તસ્વામી કરતાં કદાચ જૂનો છે. એ મસ્તક શ્રી. મહેતા પ્રકાશમાં આણશે. એઓના સૌજન્યથી મને એ મસ્તકનો અભ્યાસ કરવાનો અવસર પ્રાપ્ત થયો, તેથી સ્પષ્ટ થાય છે કે પ્રકાશાનું આ મસ્તક તેમ જ કારવણનું શ્રી. મહેતાએ શોધી કાઢેલું મસ્તક બેઉ એક જ શૈલીનાં અને લગભગ એક જ સમયનાં છે.

---

[૨] ચિત્ર માટે જુઓ, Dr. J. Ph. Vogelનું પુસ્તક, La Sculpture de Mathura, Plate 39, figs. a and b.

प्रकाशानुं एक प्राचीन शिल्प

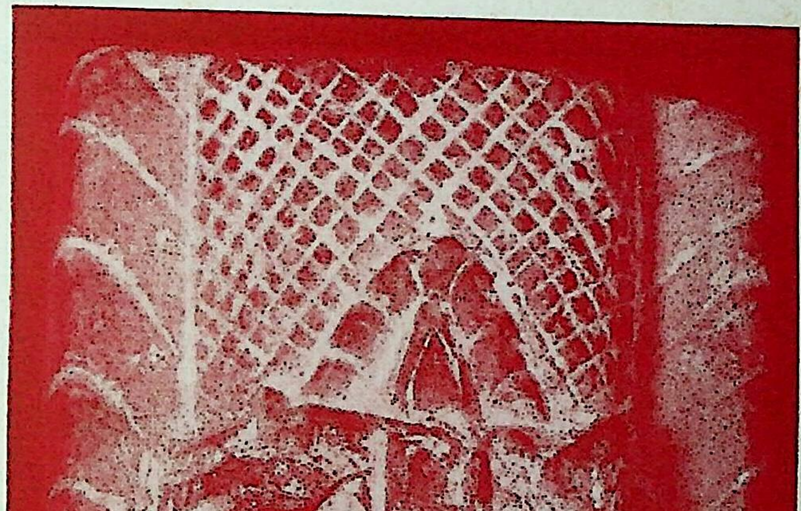

(पृ. ७३) [श्री. म. स. युनिवर्सिटिना पुरातत्व विभागना सौजन्यथी]

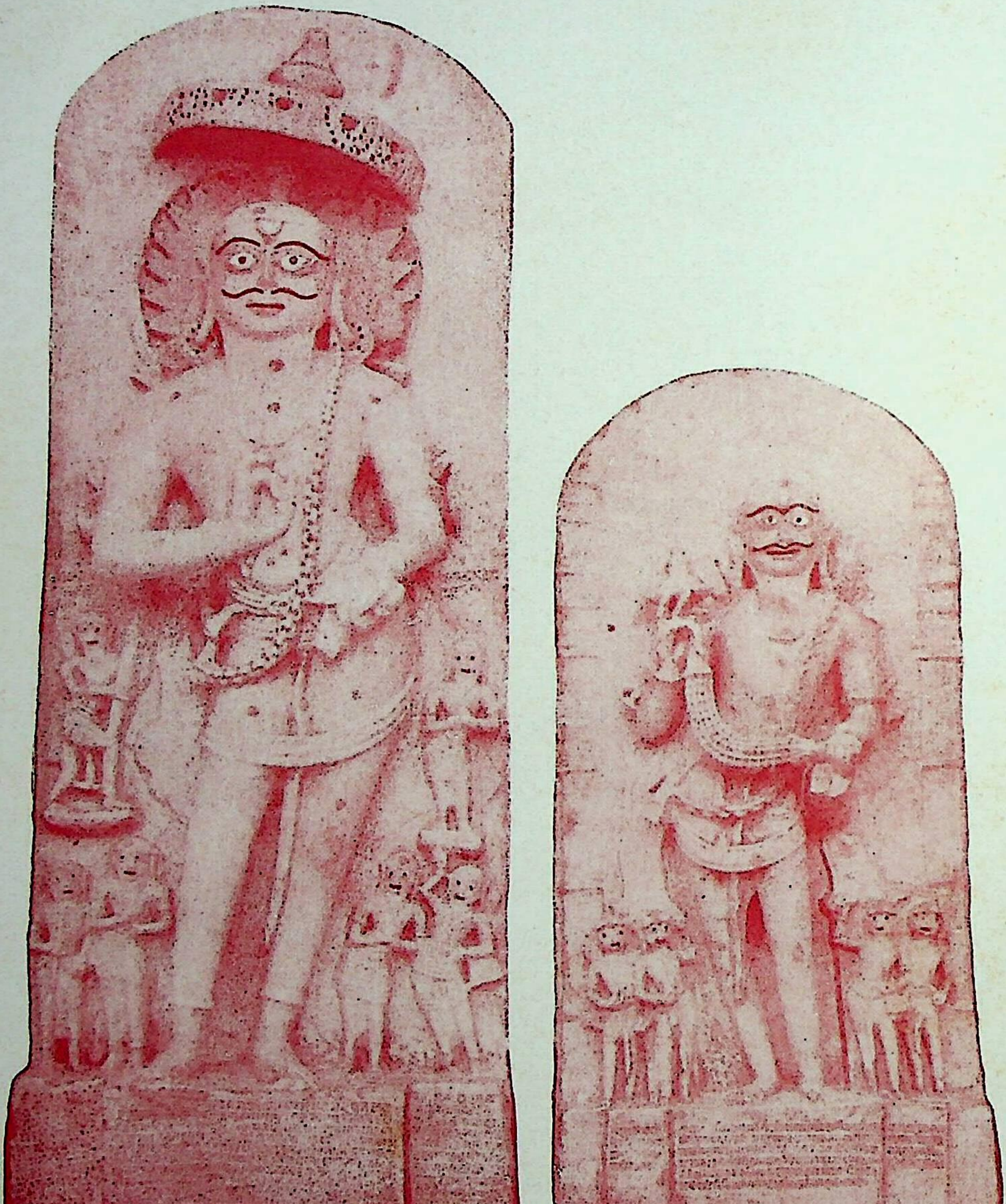

[पृ. ७६] श्री पंचासरा पार्श्वनाथ मन्दिरनी वनराज चावडा तथा ठ. आसाकनी मूर्तिओ

[आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआना सौजन्यथी]

પ્રકાશાના મસ્તક ઉપરનો પાઘ આમ તો જૂના ઘાટનો છે પણ એના આગળના ભાગમાં પાન-ઘાટનું જે રત્નખચિત પદક જડેલું દેખાય છે તે ગુપ્તયુગથી જૂના સમયમાં ગણી શકાય તેમ નથી. જ્યારે પાઘ ઉપરની આડીઅવળી ચોકડીઓ દર્શાવતી કોતરેલી રેખાઓ પાઘ ઉપરના જરીભરતની સૂચક છે, અને એવા ઘાટ આપણને ઈ. સ.ના ત્રીજા-ચોથા સૈકાના શિલ્પની કારીગરી ગણવા પ્રેરે છે.

ભવ્ય અને ભાવવાહી મુખાકૃતિ જાણે દેવ તેના ભક્ત સાથે વાતચીત કરી રહ્યા હોય એટલી જીવંત છે. સમગ્ર રીતે વિચારી જોતાં, અને શિલ્પની ઉત્કૃષ્ટ કારીગીરી જોતાં, આ પ્રતિમા ગુપ્તયુગમાં, ઈ. સ.ના ચોથા-પાંચમા સૈકામાં ઘડાઈ હોય એમ લાગે છે. આ શિલ્પની શૈલી ગુજરાતનાં અન્ય પ્રાચીન શિલ્પોની શૈલી સાથે સીધો સંબંધ ધરાવે છે.

ગુજરાતનાં પ્રાચીન શિલ્પો બહુ જ થોડાં મળે છે. હમણાં ‘કુમાર’માંની પોતાની લેખમાળામાં અને એ પહેલાંનાં અંગ્રેજી લખાણોમાં ડૉ. ઉમાકાન્ત શાહે રજૂ કરેલાં ગુપ્તકાલીન અન્ય શિલ્પો સાથે આ મસ્તકનો અભ્યાસ કરવાથી સમજાશે કે ક્ષત્રપકાલના અંતમાં (ત્રીજા-ચોથા સૈકામાં) મૂકી શકાય એવું આ મસ્તક, ગુપ્તકાલીન કેટલીક ખાસિયતો રજૂ કરતું હોવાથી ચૌથા સૈકાના અંતનું અથવા પાંચમા સૈકાની શરૂઆત લગભગનું ગણવું એ યોગ્ય ગણાશે — આમાં પણ, ‘કુમાર’ ૧૯૫૪ના ડિસેમ્બર અંકમાં, ડૉ. ઉમાકાન્ત શાહે રજૂ કરેલી ભિન્નમાલની વિષ્ણુપ્રતિમાના મુકુટ સાથે પણ આ મુકુટ સરખાવવા જેવો છે.

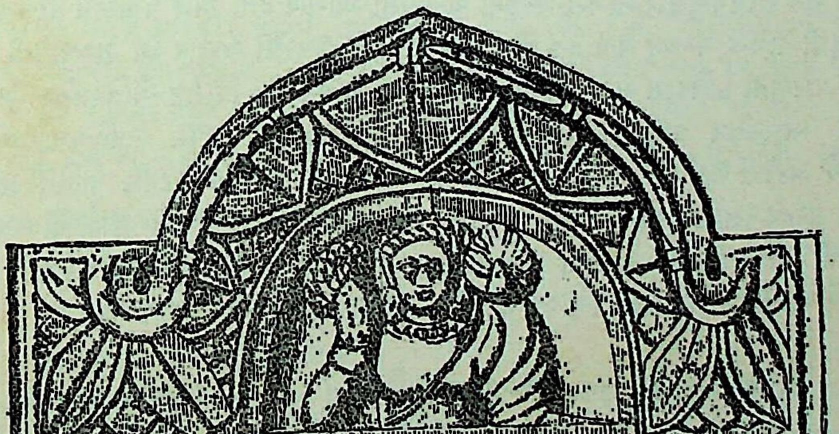

શ્રી પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર વિષેના કેટલાક ઐતિહાસિક ઉલ્લેખો

પ્રા૦ ભોગીલાલ જ. સાંડેસરા, એમ. એ., પીએચ. ડી.

[પાટણનું શ્રીપંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર એ ગુજરાતનું એક મહત્ત્વનું જૈન તીર્થ છે. એના અનેક જીર્ણોદ્ધારો અત્યાર સુધીમાં થયા છે. લાખોના ખર્ચે થયેલા એના છેલ્લા જીર્ણોદ્ધાર પછી એમાં પ્રતિષ્ઠાવિધિ આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિના પવિત્ર હસ્તે થવાની હતી. પણ વિધિનિર્મિતિ કંઈ જુદી હતી. એ કાર્ય થઈ શકે ત્યાર પહેલાં જ આચાર્યશ્રી કાળધર્મ પામ્યા, અને પ્રતિષ્ઠાવિધિ તેઓશ્રીના શિષ્ય આચાર્યશ્રી વિજયસમુદ્રસૂરિના હસ્તે થોડાક માસ પહેલાં, સં. ૨૦૧૧ના જેઠ શુદિ પાંચમ, તા. ૨૬મી મે ૧૯૫૫ના રોજ થઈ હતી. પાટણના સ્થાપક ચાવડા વનરાજે બંધાવેલા એ મન્દિર વિષેના ઐતિહાસિક ઉલ્લેખો પરની સંકલિત નોંધ આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિના સ્મારકરૂપે પ્રસિદ્ધ થતા આ ગ્રન્થમાં સમુચિત થઈ પડશે એમ માનીને અહીં આપીએ છીએ. — સંપાદકો]

અણહિલ્લવાડ પાટણના સ્થાપક વનરાજે પોતાના ગુરુ શીલગુણસૂરિના આદેશથી પાટણમાં શ્રીપંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર બંધાવ્યું હતું એ ઘટના ઇતિહાસપ્રસિદ્ધ છે. વનરાજનો પિતા પંચાસરમાં રાજ્ય કરતો હતો, તેથી આ મન્દિરમાં પ્રતિષ્ઠિત પાર્શ્વનાથની મૂર્તિને પંચાસરા પાર્શ્વનાથ નામ આપવામાં આવ્યું હોય, અથવા કેટલાક વિદ્વાનો માને છે તેમ, એ મૂર્તિ પંચાસરમાંથી લાવીને નવા પાટનગર પાટણમાં પ્રતિષ્ઠિત કરવામાં આવી હોય. પાટણની સ્થાપના સં. ૮૦૨માં થઈ હતી, એટલે ત્યાર પછી થોડા સમયમાં આ મન્દિર બંધાયું હશે એમ અનુમાન કરવું વધારે પડતું નથી. એ રીતે ગુજરાતનાં જૂનાંમાં જૂનાં, વિદ્યમાન જૈન મન્દિરોમાંનું એક તેને ગણવું જોઈએ. જો કે વખતોવખત તેના જીર્ણોદ્ધારો થયા હોવા જોઈએ. વિક્રમના તેરમા શતકમાં મંત્રી વસ્તુપાલે કરાવેલા જીર્ણોદ્ધારની હકીકત તત્કાલીન ઐતિહાસિક કાવ્યોમાંથી મળે છે. હમણાં જ થયેલા છેલ્લા જીર્ણોદ્ધાર પૂર્વે જે મન્દિર હતું તેનું સ્થાપત્ય સોળમા સૈકાનું જણાતું હતું. વળી આ મન્દિર સૌ પહેલાં તો જૂના પાટણમાં હશે. ત્યાંથી એ પ્રતિમાઓ આદિ નવા પાટણમાં ક્યારે લાવવામાં આવ્યાં હશે એ વિષે પણ કંઈ આધારભૂત માહિતી મળતી નથી. વનરાજના ગુરુ શીલગુણસૂરિ નાગેન્દ્ર ગચ્છના ચૈત્યવાસી આચાર્ય હતા અને પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર સદીઓ સુધી નાગેન્દ્ર ગચ્છનું ચૈત્ય હતું એમ પ્રાપ્ત ઉલ્લેખો ઉપરથી જણાય છે. ગુજરાતની ઐતિહાસિક રાજધાની પાટણના ઇતિહાસ સાથે સંકળાયેલું હોઈ આ મન્દિર એક વિશિષ્ટ ઐતિહાસિક અગત્ય ધરાવે છે. એનો સળંગસૂત્ર વૃત્તાન્ત આલેખવા માટેનાં કોઈ સાધનો નથી. સાહિત્યમાં અને ઉત્કીર્ણ લેખોમાં જે પ્રકીર્ણ ઉલ્લેખો મળે છે એને આધારે જ આ મન્દિર વિષે કેટલીક માહિતી પ્રાપ્ત થાય છે અથવા એ પરત્વે રસપ્રદ અનુમાનો થઈ શકે છે. આ મન્દિર વિષેના તમામ ઉલ્લેખો બધા ઉપલબ્ધ ગ્રન્થાદિમાંથી ખોળી કાઢવાનું મર્યાદિત સમયમાં શક્ય નથી, પણ જે ઉલ્લેખો મળી શક્યા તે કાલાનુક્રમિક સંદર્ભમાં, યોગ્ય નોંધ સાથે અહીં રજૂ કરું છું.

૧. હરિભદ્રસૂરિકૃત 'ચન્દ્રપ્રભચરિત' (સં. ૧૨૧૬ આસપાસ)

પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર વિષેનો પહેલો લિખિત ઉલ્લેખ, એ મન્દિર બંધાવ્યા પછી લગભગ ચારસો વર્ષ બાદ મળે છે. એ ઉલ્લેખ બૃહદ્ ગચ્છના આચાર્ય શ્રીચન્દ્રસૂરિના શિષ્ય હરિભદ્રસૂરિના

પ્રાકૃત ‘ચંદ્રપ્રભચરિત’માંથી છે. એ જ ગ્રન્થકારનું અપભ્રંશ ‘નેમિનાથચરિત’ સં. ૧૨૧૬માં રચાયેલું છે, એટલે ઉક્ત ‘ચંદ્રપ્રભચરિત’ પણ એ અરસામાં રચાયું હશે. જો કે સં. ૧૨૨૩ પછી તો એ રચાયું નથી જ, કેમ કે એ વર્ષમાં લખાયેલી એ કાવ્યની તાડપત્રીય પ્રતિ પાટણમાં સંઘવીના પાડાના ભંડારમાં છે. એની પ્રશસ્તિના ઉલ્લેખ પ્રમાણે, જયસિંહદેવ અને કુમારપાલના મંત્રી પૃથ્વીપાલે પોતાનાં માતાપિતાના શ્રેય અર્થે પંચાસર પાર્શ્વગૃહમાં મંડપની રચના કરાવી હતી—

जयसीहएव–सिरिकुमरवालनरनायगाण रज्जेसु ।
सिरीपुहइवालमंती अवितहनामो इमो विहिओ ॥

अह निन्नयकारावियजालिहरगच्छरिसहजिणभवणे ।
जणयकए जणणीए उण **पंचासरपासगिहे** ॥

चड्डावलीयंमि उ गच्छे मायामहीए सुहहेउं ।
अणहिल्लवाडयपुरे कराविया मंडवा जेण ॥[1]

અર્થાત્ શ્રીજયસિંહદેવ અને કુમારપાલ નરનાયકોના રાજ્યમાં શ્રી પૃથ્વીપાલ મંત્રી અવિતથ નામવાળો થયો. (પોતાના પૂર્વજ) નિન્નયે કરાવેલા જાલિહર ગચ્છના ઋષભજિનભવનમાં તથા **પંચાસર પાર્શ્વગૃહમાં** પોતાના જનક અને જનનીના (શ્રેય) અર્થે તથા પોતાની માતામહીના સુખ અર્થે તેણે ચડ્ડાવલી (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલવાડપુરમાં મંડપો કરાવ્યા હતા.

૨. અરિસિંહકૃત ‘સુકૃતસંકીર્ત્તન’ (સં. ૧૨૭૮ અને ૧૨૮૭ની વચ્ચે)

અરિસિંહ એ ગુજરાતના સુપ્રસિદ્ધ મહામાત્ય વસ્તુપાલનો આશ્રિત કવિ હતો અને વસ્તુપાલનાં સત્કૃત્યો વર્ણવતું ‘સુકૃતસંકીર્ત્તન’ નામે મહાકાવ્ય તેણે રચેલું છે. એના પહેલા સર્ગમાં કવિએ ચાવડા વંશના રાજાઓનો કાવ્યમય વૃત્તાન્ત આપ્યો છે. આમાં ખાસ નોંધપાત્ર તો એ છે કે સોલંકી અને વાઘેલા યુગમાં રચાયેલાં અનેક ઐતિહાસિક કાવ્યોમાંથી માત્ર અરિસિંહકૃત ‘સુકૃતસંકીર્ત્તન’ અને ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘સુકૃતકીર્તિકલ્લોલિની’માં જ ચાવડાઓનો ઉલ્લેખ છે; ‘દ્વયાશ્રય’ કાવ્યમાં ગુજરાતનો ઇતિહાસ આલેખવાનો રીતસર પ્રયત્ન કરનાર આચાર્ય હેમચન્દ્રે પણ ચાવડાઓની વાત કરી નથી. ચાવડાઓની હકૂમત પાટણ આસપાસના થોડા પ્રદેશ ઉપર જ હતી અને તે કારણે ઐતિહાસિક કાવ્યોના લેખકોએ એમને એટલું રાજકીય મહત્ત્વ નહિ આપ્યું હોય. એ રીતે ‘સુકૃતસંકીર્તન’માં આપેલી ચાવડાઓની વંશાવલી મહત્ત્વની છે. ‘સુકૃતસંકીર્તન’ની રચના સં. ૧૨૭૮ અને ૧૨૮૭ની વચ્ચે ક્યારેક થયેલી છે.[2] એ કાવ્યના પ્રથમ સર્ગના ૧૦મા શ્લોકમાં પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે, એટલું જ નહિ પણ એ મન્દિરની તુલના પર્વત સાથે કરી છે, જે એના શિખરની ઊંચાઈ દર્શાવે છે—

अंतर्वसद्घनजनाद्भुतभारतो भू-
र्मा भ्रंश्यतादिति भृशं वनराजदेवः ।
पञ्चासराह्वनवपार्श्वजिनेशवेश्म-
व्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान

---

[1] ૧. પાટણ ભંડારની સૂચિ (ગાયકવાડ્ઝ ઓરિએન્ટલ સિરીઝ), પૃ. ૨૫૫

[2] ૨. જુઓ મારું પુસ્તક Literary Circle of Mahamatya Vastupala, પૃ. ૬૩

વળી એ કાવ્યના છેલ્લા સર્ગમાં (શ્લોક ૨) વસ્તુપાલનાં બાંધકામો વર્ણવતાં કર્તાએ કહ્યું છે કે અણહિલવાડ પાટણમાં પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવીને મંત્રીએ વનરાજની વૃદ્ધ થયેલી કીર્ત્તિને હસ્તાવલંબન આપ્યું હતું —

पञ्चासरा ह्वमणहिल्लपुरीपुरन्ध्री-
सीमन्तरत्नमिवपार्श्वजिनेशवेश्म ।
उद्धृत्य येन यशसा जनितो जरत्या
हस्तावलम्बनविधिर्वनराजकीर्तेः ॥

૩. ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘સુકૃતકીર્તિકલ્લોલિની’ (સં. ૧૨૭૭)

નાગેન્દ્રગચ્છના વિજયસેનસૂરિ જેઓ વસ્તુપાલના માતૃપક્ષે ગુરુ હતા તેમના શિષ્ય ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘સુકૃતકીર્ત્તિકલ્લોલિની’ કાવ્ય સં. ૧૨૭૭માં વસ્તુપાલે કરેલી શત્રુંજયની સંઘયાત્રા પ્રસંગે રચાયું હતું, અને વસ્તુપાલે શત્રુંજય ઉપર બંધાવેલા ઇંદ્રમંડપમાં એક શિલાપટ્ટ ઉપર કોતરીને તે મૂકવામાં આવ્યું હતું.[૩] મંત્રીનાં સુકૃતોની પ્રશસ્તિરૂપે રચાયેલા આ કાવ્યના ૧૪મા શ્લોકમાં કવિ કહે છે કે ગુર્જરભૂમિરૂપ સુન્દરીના મુખ સમાન અણહિલપુરના તિલકરૂપ આ પંચાસર ચૈત્ય વનરાજે બંધાવ્યું હતું, જેના શિખરનો ઊંચો કલશ સેંથાના મણિ જેવો શોભતો હતો —

स्फूर्जद्गूर्जरमण्डलावनिवधूवक्त्रोपमेऽस्मिन् पुरे
चैत्ये किञ्च विशेषकं व्यरचयत् **पञ्चासराह्वं** नृपः ।
यस्योच्चैः कलशश्चकास्ति रुचिभिः किञ्चिद्विभिन्नाम्बर-
श्यामत्वव्यपदेशकेशपदवीसीमन्तसीमामणिः ॥

૪. ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘ધર્માભ્યુદય’ મહાકાવ્ય (સં. ૧૨૯૦ પહેલાં)

ઉપર્યુક્ત ઉદયપ્રભસૂરિએ ‘ધર્માભ્યુદય’ અથવા ‘સંઘપતિચરિત્ર’ નામે પંદર સર્ગનું મહાકાવ્ય રચ્યું છે. એમાં મંત્રી વસ્તુપાલની સંઘયાત્રાનું વર્ણન હોઈ સં. ૧૨૭૭ની મોટી સંઘયાત્રા પછી તુરત એ રચાયું હોય એ સંભવિત છે, પણ સં. ૧૨૯૦ પહેલાં તો નિઃશંક એની રચના થયેલી છે, કેમ કે એ વર્ષમાં ખુદ વસ્તુપાલના હસ્તાક્ષરોમાં લખાયેલી એની તાડપત્રીય નકલ ખંભાતના ભંડારમાં છે. એ કાવ્યની પ્રશસ્તિમાં (શ્લોક ૭) નાગેન્દ્ર ગચ્છના આચાર્યોની ગુરુપરંપરા આપીને પોતાના ગુરુ વિજયસેનસૂરિ વિષે કર્તા કહે કે તેઓ પંચાસરા નામથી ઓળખાતા વનરાજવિહાર તીર્થમાં વ્યાખ્યાનો આપતા હતા —

पञ्चासराह्ववनराजविहारतीर्थे
प्रालेयभूमिधरभूतिधुरन्धरेऽस्मिन् ।
साक्षादघःकृतभवा तटिनीव यस्य
व्याख्येयमच्युतगुरुक्रमजा विभाति ॥

પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર બંધાયું ત્યારથી નાગેન્દ્ર ગચ્છના આચાર્યોનો એ સાથેનો સંબંધ જોતાં આ સ્વાભાવિક છે. વળી પંચાસરાનું મન્દિર તે જ વનરાજવિહાર એમ અહીં કર્તાએ સ્પષ્ટ કહ્યું છે.

---

[૩] એ જ, પૃ. ૭૧.

વસ્તુપાલે એ મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો હતો એનો ઉલ્લેખ પણ કાવ્યના પહેલા સર્ગ(શ્લોક ૨૨)માં છે —

> अणहिल्पाटकनगरादिराजवनराजकीर्त्तिकेलिगिरिम् ।
> **पञ्चासराहृवजिनगृह**मुद्दध्रे यः कुलं च निजम् ॥

૫. શ્રી પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરમાંનો સં. ૧૩૦૧ નો શિલાલેખ

આ મન્દિરમાંની વનરાજની મૂર્તિ પાસેની ઠ૦ આસાકની મૂર્તિ નીચે આ પ્રકારે શિલાલેખ છે—

(१) सं. १३०१ वर्षे वैशाख सुदि ९ शुक्रे पूर्वमंडलीवास्तव्य मोढज्ञातीय नागेंद्र...
(२) सुत श्रे० जाहूलणपुत्रेण श्रे० राजुकुक्षीसमुद्भूतेन ठ० आशाकेन संसारासार...
(३) योपार्जितवित्तेन **अस्मिन् महाराजश्रीवनराजविहारे** निजकीर्तिवल्लीवितान...
(४) कारितः तथा च ठ० आसाकस्य मूत्तिरियं सुत ठ० अरिसिंहेन कारिता प्रतिष्ठिता...
(५) संवंधे गच्छे **पंचासरातीर्थे** श्रीशीलगुणसूरिसंताने शिष्य श्री...
(६) देवचन्द्रसूरिभिः ॥ मंगलं महाश्रीः । शुभं भवतु ॥

આ શિલાલેખમાં પણ પંચાસરા તીર્થનો વનરાજવિહાર તરીકે ઉલ્લેખ છે. પંચાસરાના મન્દિરમાં શીલગુણસૂરિના શિષ્ય દેવચન્દ્રસૂરિની મૂર્તિ છે. એક મૂર્તિ વનરાજના મામા સુરપાળની ગણાય છે; પણ આખા યે મન્દિરમાંના બીજા કોઈ લેખમાં પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ નથી. એમાં એક માત્ર અપવાદ વનરાજની મૂર્તિ નીચેના લેખનો છે. એ શિલાલેખમાં સં. ૭૫૨ અને સં. ૮૫૨નો નિર્દેશ છે, પણ એની લિપિ એટલી પ્રાચીન લાગતી નથી. આ ઉપરાંત તેમાં સં. ૧૩૦૧ અને સં. ૧૪૧૭ના ઉલ્લેખ છે અને એક સ્થળે 'મહમદ પાતસાહ' અને 'પીરોજસાહ'ની પણ વાત છે. એ મૂર્તિની નીચે તથા તેની આસપાસ નીચેના પથ્થર ઉપર ત્રણેક શિલાલેખો ભેગા થઈ ગયા છે અને ઘસાયેલા હોવાને કારણે તે વિશેષ દુર્વાચ્ય બન્યા છે. પૂ. મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી, સ્વ. મોહનલાલ દલીચંદ દેસાઈ અને પં. લાલચંદ ગાંધીએ એ બંધ બેસાડવા પ્રયત્ન કર્યો છે અને તેમણે તૈયાર કરેલી એ લેખની વાચના નાગેન્દ્રગચ્છીય દેવેન્દ્રસૂરિકૃત 'ચન્દ્રપ્રભચરિત્ર'ની પ્રસ્તાવના(પૃ. ૧૧)માં છપાઈ છે. એનો એકદેશ નીચે મુજબ છે—

> ...सं. १३०१...**श्रीपार्श्वनाथचैत्ये** श्रीवनराज...राजराजश्री कडेससु (?) श्रीअणहल्लेस्वर शवायतनं त्रा पि...ति श्रीवनराजमूर्ति श्रीशीलगुणसूरि सगणे श्रीदेवचंद्रसूरिभिः प्रतिष्ठिता सं. १४१७ वर्षे

આ લેખમાંનું '...પાર્શ્વનાથ ચૈત્ય' એટલે 'પંચાસરા પાર્શ્વનાથ ચૈત્ય' એમ ગણવું જોઈએ. વનરાજે બંધાવેલા અણહિલ્લેશ્વર મહાદેવના મન્દિર ('શવાયતન')નો પણ એમાં નિર્દેશ છે. વનરાજની મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા દેવચન્દ્રસૂરિના હસ્તે થઈ હોવાનું એમાં જણાવ્યું છે અને તેની જ સાથે સં. ૧૪૧૭નો ઉલ્લેખ છે એનો મેળ બેસતો નથી. આ શિલાલેખની વધારે સારી વાચનાની હજી અપેક્ષા રહે છે.

૬. મેરુતુંગાચાર્યકૃત 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ (સં. ૧૩૬૧)

ગુજરાતના મધ્યકાલીન ઇતિહાસના સુપ્રસિદ્ધ સાધનગ્રન્થ 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ' અનુસાર, વનરાજે શીલગુણસૂરિને પોતાના સિંહાસન ઉપર બેસાડીને પ્રત્યુપકારબુદ્ધિથી સપ્તાંગ રાજ્ય આપવા માંડ્યું,

પણ સૂરિએ તેનો નિષેધ કર્યો; પછી સૂરિના આદેશથી વનરાજે પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું ચૈત્ય કરાવ્યું તથા તેમાં પોતાની આરાધક મૂર્તિ પણ સ્થાપિત કરી.[૪] —

पञ्चासरग्रामतः श्रीशीलगुणसूरीन् सभक्तिकमानीय धवलगृहे निजसिंहासने निवेश्य कृतज्ञचूडामणितया सप्ताङ्गमपि राज्यं तेभ्यः समर्पयंस्तैर्निःस्पृहैर्भूयो निषिद्धस्तत्प्रत्युपकारबुद्धया तदादेशाच्छ्रीपार्श्वनाथप्रतिमालङ्कृतं **पञ्चासराभिधानं चैत्यं निजाराधकमूर्तिसमेतं** च कारयामास ।

(આચાર્ય શ્રીજિનવિજયજીની વાચના, પૃ. ૧૩)

પ્રભાચન્દ્રસૂરિકૃત 'પ્રભાવકચરિત' (સં. ૧૩૩૪)ના 'અભયદેવસૂરિચરિત'માં કહ્યું છે કે "નાગેન્દ્રગચ્છરૂપી ભૂમિનો ઉદ્ધાર કરવામાં આદિવરાહ સમાન અને પંચાશ્રય નામે સ્થાનમાં આવેલા ચૈત્યમાં વસના (पञ्चाश्रयाभिधस्थानस्थितचैत्यनिवासिना) શ્રીદેવચન્દ્રસૂરિએ વનરાજને બાલ્યકાળમાં ઉછેર્યો હતો. વનરાજે આ નગર (અણહિલપુર) વસાવીને ત્યાં નવું રાજ્ય સ્થાપ્યું. એ રાજાએ ત્યાં વનરાજવિહાર બંધાવ્યો અને કૃતજ્ઞતાપૂર્વક એ ગુરુનો સત્કાર કર્યો" (શ્લોક ૭૨–૭૪). અહીં पञ्चाश्रयाभिधस्थानस्थितचैत्य એટલે પાટણનું પંચાસરા પાર્શ્વનાથ ચૈત્ય નહિ, પણ પંચાસર ગામમાં જ આવેલું ચૈત્ય, કે જ્યાં એ આચાર્ય પાટણની સ્થાપના પહેલાં રહેતા હશે. પાટણની સ્થાપના પછી વનરાજે બંધાવેલો 'વનરાજવિહાર' એ પંચાસરા પાર્શ્વનાથ ચૈત્યનું જ બીજું નામ છે એ 'ધર્માભ્યુદય'ના ઉલ્લેખથી સ્પષ્ટ છે. આ મન્દિરમાં ઠ૦ આસાકની મૂર્તિ નીચેનો શિલાલેખ પણ એ સૂચવે છે.

૭. જયશેખરસૂરિકૃત 'પંચાસરા વીનતી' (સં. ૧૪૬૦ આસપાસ)

સં. ૧૪૬૨માં સંસ્કૃતમાં 'પ્રબોધચિન્તામણિ' નામે આધ્યાત્મિક રૂપકગ્રન્થિ રચીને પછી એનું છટાદાર ગુજરાતી પદ્યમાં 'ત્રિભુવનદીપક પ્રબન્ધ' નામથી રૂપાન્તર કરનાર અંચલગચ્છીય આચાર્ય જયશેખરસૂરિનું સ્થાન જૂના ગુજરાતી સાહિત્યના સર્વોત્તમ કવિઓમાં છે. એમણે રચેલી કેટલીક પ્રકીર્ણ ગુજરાતી કાવ્યરચનાઓની ૨૧ પત્રની એક પ્રાચીન હસ્તપ્રત પૂ. મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી અને પૂ. મુનિશ્રી રમણીકવિજયજીએ ચાણસ્માના ભંડારમાંથી મેળવી હતી. એ પોથીના પાંચમા પત્ર ઉપર 'પંચાસરા વીનતી' એ નામનું પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું એક સુન્દર સંક્ષિપ્ત સ્તુતિકાવ્ય છે. આ પહેલાંના, પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર વિષેના ઉલ્લેખો, ઉપર સૂચવ્યા તેમ મળે છે, પણ એ વિષેનું ગુજરાતી ભાષામાં આ પહેલું જ ઉપલબ્ધ સ્તવન છે. આ સ્તવન જયશેખરસૂરિએ પાટણમાં રહીને જ રચ્યું હોય એ સંભવિત છે. એની પહેલી કડી નીચે મુજબ છે :

"સખે **પાસુ પંચાસરાધીશ** પેખઉં,
હુયઉ હર્ષ્યું કેતઉ ન જાણઉં સુલેખઉં,
કિયાં પાછિલઇ જન્મિ જે પુણ્યકાજ,
ફલિયાં સામટાં દેવ દીઠઇ તિ આજુ."

---

[૪] 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ'–અંતર્ગત કેટલાક પ્રબન્ધોનો આશરે ૪૦૦ વર્ષ પર થયેલો સંક્ષેપ 'પુરાતન પ્રબન્ધસંગ્રહ'ના પરિશિષ્ટમાં છપાયો છે તેમાં 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ'ના ઉપર્યુક્ત વૃત્તાન્તનો સારોદ્ધાર આપતાં કહ્યું છે (પૃ. ૧૨૮)– आचार्यवचसा श्रीपार्श्वप्रतिमालंकृतं निजाराधकमूर्तियुतं **पञ्चासरं** कारितम् । આજે પણ આ મન્દિરને સામાન્ય બોલીમાં 'પંચાસરા' નામે ઓળખવામાં આવે છે તે આ સાથે સરખાવી શકાય.

૮. સિદ્ધિસૂરિકૃત ‘પાટણ ચૈત્યપરિપાટી’ (સં. ૧૫૭૬)

પાટણનાં જૈન મન્દિરોનું વર્ણન કરતી ચાર પ્રાચીન ચૈત્યપરિપાટીઓ અત્યાર સુધીમાં મળેલી છે, જેમાંની બે—લલિતપ્રભસૂરિ અને હર્ષવિજયકૃત—આ પહેલાં શ્રીહંસવિજયજી લાયબ્રેરી, અમદાવાદ તરફથી પ્રકટ થયેલી છે. જુદા જુદા મહોલ્લા, શેરીઓ, રાજમાર્ગો અને પરાંનો તથા કેટલીક વિશિષ્ટ વ્યક્તિઓનો એમાં નિર્દેશ આવતો હોઈ સ્થાનિક ઇતિહાસ અને ભૂગોળ માટે એ બહુ અગત્યની છે. એ ચારમાં સૌથી પ્રાચીન ઉપલબ્ધ ચૈત્યપરિપાટી સિદ્ધિસૂરિની છે. એની નકલ પૂ. મુનિશ્રી રમણિકવિજયજી પાસેની હસ્તપ્રત ઉપરથી મેં કરી લીધી હતી. એમાં ૯મી કડીમાં નીચે પ્રમાણે પંચાસરા પાર્શ્વનાથનો ઉલ્લેખ છે :

“ મહૂકર મનહ મનોરથ પૂરઇ, **પાસ પંચાસરઇ** ભાવ વિચૂરઇ, સાર સંસારઇ લેમિ. ”

૯. સિંઘરાજકૃત ‘પાટણ ચૈત્યપરિપાટી’ (સં. ૧૬૧૩)

આ પરિપાટીની હસ્તપ્રત પણ મને પૂ. મુનિશ્રી રમણિકવિજયજી પાસે જોવા મળી હતી. એમાં પંચાસરા પાર્શ્વનાથનો તથા આસપાસનાં મન્દિરોનો નિર્દેશ કડી ૬૨થી ૬૫ સુધીમાં નીચે પ્રમાણે છે :

“ **પંચાસર શ્રીપાસ,** આશાપૂરણ જિનપ્રતિમા નવ વાદીઇ એ,
હરખ્યા હીયા મઝારિ, હરખ ભવનિ જઈ જિન દેખી આણંદિઆ એ. ૬૨
મૂલનાયક શ્રીઆદિ પ્રથમ તીર્થંકર, ત્રાસી પ્રતિમા વાંદીઇ એ,
ભમતી માહિ દેહરી રૂયડી નિરખીઇ નઇ ત્રીજઇ દેહરઇ આવીઆ એ. ૬૩
તિહાં પ્રતિમા પાંત્રીસ, ચુવીસવટ્ટા સૂ વાસપુજ નાયક ધણી એ,
ચુથિઇ જિન ઉગણીસ, પ્રતિમા પૂજીઇ મૂલનાયક માહાવીર તણી એ. ૬૪
પોસાલમાહિ દેહરૂ પાંચમૂ, જાઈનઇ નિરખીઇ નેમીસરુ એ,
તેર પ્રતિમા તિહાં વાંદી, પાપ નિકંદીનઇ સેવીઇ રાજલિવરુ એ.” ૬૫

એ એક જ પટાંગણમાં સત્તરમા સૈકાના આરંભમાં પાંચ મન્દિર હતાં. પંચાસરા પાર્શ્વનાથન મન્દિર પછી ૮૩ પ્રતિમાઓ સહિત જે આદિનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે તે હાલમાં નથી. તપાગચ્છનો ઉપાશ્રય, જે પોળિયા ઉપાશ્રય કે પોશાળ તરીકે ઓળખાય છે, એમાં તે સમયે નેમિનાથનું મન્દિર હોવાનો ઉલ્લેખ છે એ નોંધપાત્ર છે અને ચૈત્યવાસની પરંપરાનો દ્યોતક છે.

૧૦. લલિતપ્રભસૂરિકૃત ‘પાટણ ચૈત્યપરિપાટી’ (સં. ૧૬૪૮)

પૂનમિયા ગચ્છના આચાર્ય લલિતપ્રભસૂરિકૃત ચૈત્યપરિપાટીમાં કડી ૧૮–૨૦માં પંચાસરા પાર્શ્વનાથનો તથા આસપાસનાં મન્દિરોનો ઉલ્લેખ નીચે પ્રમાણે છે :

“ **પંચાસરઇ પાટકિ** અછઇ એ, ધુરિ વીર જિનવર સાર તુ;
નવ પ્રતિમા વંદી કરી એ, વાસપૂજ્ય જુહારિ તુ. ૧૮
સતાવીસ બિંબ તિહાં નમી એ, **પંચાસરુ પ્રભુ પાસ** તુ;
અવર સાત જિનવર નમું એ, વંછિત પૂરઇ આસ તુ. ૧૯
ઋષભદેહરઇ હિવઇ જિન નમું એ, દશ વલિ ભમતી હોઇ તુ;
નવઇ ધરે છઇ પાસ જિન, ત્રિહતાલીસ બિંબ જોઇ તુ.” ૨૦

આ ચૈત્યપરિપાટીમાં ‘પંચાસરપાટક’ અર્થાત્ પંચાસરવાડો એવો ઉલ્લેખ મન્દિરોના આ જૂથ માટે છે એ ધ્યાન ખેંચે છે. સિંઘરાજની જેમ લલિતપ્રભસૂરિએ પણ અહીં પાંચ મન્દિરો નોંધ્યાં છે. જો કે સિંઘરાજે પોશાળમાં નેમિનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ કર્યો છે તે અહીં નથી અને તેને બદલે ‘નવઇ ઘરિ’—નવા ઘરમાં પાર્શ્વ જિનનો નિર્દેશ કર્યો છે. નવા ઘરનો અર્થ ‘નવું દેવગૃહ’ લઈ એ તો એ મન્દિર સિંઘરાજની કૃતિ રચાઈ (સં. ૧૬૧૩) ત્યાર પછી નવું બન્યું હશે એમ કહી શકાય. વળી એ સમય દરમિયાન પોશાળામાંની પ્રતિમાઓ અન્યત્ર સ્થાપિત કરવામાં આવી હશે. એમ ન હોત તો લલિતપ્રભસૂરિએ એનો ઉલ્લેખ અવશ્ય કર્યો હોત.

૧૧. હર્ષવિજયકૃત ‘પાટણ ચૈત્યપરિપાટી’ (સં. ૧૭૨૯)

આમાં પંચાસરા સાથેનાં મન્દિરોનું વર્ણન નીચે મુજબ છે :

“પ્રથમ **પંચાસરે** જાઇઇં એ, તિહાં પ્રાસાદ ચ્યાર,
પંચાસર જિનવર તણો એ, દેખો દીદાર. ૪
ચોપાન બિંબ તિહાં અતિ ભલા એ, વલી **હીરવિહાર,**
પ્રતિમા ત્રિણ સહગુરુ તણી એ, મૂરતિ મનોહાર. ૫
તિહાંથી ઋષભ જિણંદ નમું એ, બિંબ પન્નર ગંભારઇ,
એકસો બિંબ અતિ ભલા એ, ભમતીએ જુહારઇ. ૬
વાસુપૂજ્યને દેહરે એ, બિંબ ત્રણ વખાણું,
મહાવીર પાસે વલી એ, બિંબ ચાર જ જાણું.” ૭

આમાં હીરવિહારનો ઉલ્લેખ મહત્ત્વનો છે. છેલ્લો જીર્ણોદ્ધાર થયો ત્યાર પહેલાંના પંચાસરાના મન્દિરમાં પેસતાં ડાબી બાજુએ એક ઓરડી હતી અને તેમાં આચાર્યો વગેરેની જ મૂર્તિઓ હતી. એમાં મુખ્ય વેદિકા ઉપર હીરવિજયસૂરિ, વિજયસેનસૂરિ અને વિજયદેવસૂરિ એ તપગચ્છના ત્રણ પ્રભાવક આચાર્યોની મૂર્તિઓ હતી. આ સ્થાન હીરવિહાર તરીકે ઓળખાતું હશે. એમાં હીરવિજયસૂરિની મૂર્તિ સં. ૧૬૬૨માં તથા વિજયસેનસૂરિ અને વિજયદેવસૂરિની મૂર્તિઓ સં. ૧૬૬૪માં પ્રતિષ્ઠિત થયેલી છે એમ તે સાથેના શિલાલેખો ઉપરથી જણાય છે.[5] આથી આ પહેલાંની ચૈત્યપરિપાટીઓમાં હીરવિહારનો ઉલ્લેખ ન હોય એ સમજાય એવું છે.

૧૨. ‘અહો શાલક બોલિ’ વર્ણક

આ જૂની ગુજરાતી ગદ્યમાં રચાયેલું વર્ણક છે. લિપિ ઉપરથી અનુમાને સત્તરમા સૈકામાં લખાયેલી જણાતી એની હસ્તપ્રત વડોદરાના શ્રી આત્મારામ જૈન જ્ઞાનમન્દિરમાંથી મળી હતી. વડોદરા યુનિવર્સિટી તરફથી પ્રકટ થયેલ ‘વર્ણક–સમુચ્ચય’માં આ કૃતિનો પણ સમાવેશ થયેલો છે. એમાં એક સ્થળે અણહિલપુર પાટણનું ટૂંકું વર્ણન છે, અને તેમાં પાટણના પ્રમુખ દેવાલય તરીકે પંચાસરાના મન્દિરનો પણ ઉલ્લેખ છે :

“હૂં તે અહ્મારું અણહીલપુર પાટણ વર્ણવૂં. પણિ કસૂ એક છિ જે અણહિલપુર પાટણ ? સઘટ ઘાટે કરી વિચત્ર ચિત્રામે કરી અભિરામ, મહામહોછવે ભલાં આરામ, **પંચાસર પ્રમુખ દેવ દેવાલા,**

---

[5] શ્રી જિનવિજયજી-સંપાદિત ‘પ્રાચીન જૈન લેખસંગ્રહ,’ ભાગ ૨ નં. ૫૧૧–૧૩.

જે નગરમાંહઇ દાનશાલા, પૌષધશાલા, ધરમશાલા, ગઢ મઢ મન્દિર પ્રકાર, ચુરાસી ચુહટાંની હટશ્રેણિ, માંહઇ વસ્ત સંપૂર્ણ વરતઇ...''

૧૩. દેવહર્ષકૃત 'પાટણની ગઝલ' (સં. ૧૮૬૬)

ખરતર ગચ્છના મુનિ દેવહર્ષે સં. ૧૮૬૬માં 'પાટણની ગઝલ' એ નામનું એક સ્થલવર્ણનાત્મક કાવ્ય રચ્યું છે.[૬] ગઈ શતાબ્દીના પાટણની સ્થાનિક પરિસ્થિતિ, નોંધપાત્ર સ્થળો તથા વિશિષ્ટ વ્યક્તિઓ આદિની માહિતી માટે આ રચના અગત્યની છે. એના અંતિમ પદ્ય—કલશરૂપ છપ્પાની છેલ્લી બે પંક્તિઓમાં નીચે પ્રમાણે પંચાસરાના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે :

> " પાટણ જસ કીધો પ્રગટ જિહાં **પાંચાસર** ત્રિભુવન ધણી,
> કવિ દેવહર્ષ મુખથી કહેં કુશલ રંગલીલા ઘણી."

કલશમાં આ રીતે એકમાત્ર પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ કર્યો છે, એ પાટણનાં જૈન મન્દિરોમાં એનું મહત્ત્વ દર્શાવે છે.

૧૪. 'પંચાસરા પાર્શ્વનાથ સ્તવન'

આ નામની બે સંક્ષિપ્ત ભાષાકૃતિઓ જાણવામાં આવી છે અને તે બન્ને વડોદરા જૈન જ્ઞાનમન્દિરમાં પૂ. મુનિશ્રી હંસવિજયજીના શાસ્ત્રસંગ્રહમાં (પ્રતિ નં. ૩૩૯૪ અને ૪૫૧૫) છે. બન્નેય સ્તવનોમાં કર્તાનું નામ કે રચ્યા સંવત નથી, પણ લિપિ ઉપરથી સો–દોઢસો વર્ષ પહેલાં તે લખાયેલાં જણાય છે. પહેલું સ્તવન 'પાસ પંચાસર ભેટ્યો હો, દૂખ મેટ્યો મુઝ ઘર આંગણે' એ પંક્તિથી તથા બીજું સ્તવન 'સુખકર શ્રીપંચાસરો પાસ, પાટણપુરનો રાજીઓ' એ પંક્તિથી શરૂ થાય છે. બન્નેયમાંથી કોઈ ખાસ ઐતિહાસિક હકીકત મળતી નથી. આ પ્રકારનાં બીજાં પણ સ્તવનો તપાસ કરતાં મળી આવવા સંભવ છે.

---

[૬] મારા વડે સંપાદિત, 'ફાર્બસ ગુજરાતી સભા ત્રૈમાસિક', એપ્રિલ–સપ્ટેમ્બર ૧૯૪૮માં.

ગુજરાતનું પ્રથમ ઇતિહાસકાવ્ય

પ્રા૦ જયન્ત પ્રે. ઠાકર, એમ. એ., કોવિદ

આપણા દેશમાં પ્રાચીન કાળમાં આજના જેવી ઇતિહાસદૃષ્ટિ ખીલેલી ન હતી તે દોષ આપણી સામે વારંવાર ધરવામાં આવે છે. પ્રાચીનોની ઇતિહાસની વ્યાખ્યા બહુ વ્યાપક હોવાથી તેમાં પ્રચલિત આખ્યાયિકાઓ તથા પૌરાણિક કથાઓ પણ સમાઈ જતી. આ જ કારણે રામાયણ અને મહાભારત બહુ દળદાર બનેલાં છે. તે વખતે ચરિત્રગ્રન્થો પણ જવલ્લે જ લખાતા, કારણ કે ધર્મને બહુ પ્રાધાન્ય મળવાથી ચમત્કારિક જીવનનું જ ચરિત્રચિત્રણ કરવાનું યોગ્ય લેખાતું. પાંચમી શતાબ્દીના મહાવંસો પછી છેક સાતમી સદીના બાણના **हर्षचरित**માં કાંઈક ઐતિહાસિક તત્ત્વ મળે છે તેમ કહી શકાય. આ **हर्षचरित**ના ચતુર્થ ઉચ્છ્વાસમાં '**गूर्जर**' શબ્દનો સર્વપ્રથમ પ્રયોગ જોવા મળે છે. ત્યાં સમ્રાટ્ હર્ષવર્ધનના પિતા પ્રભાકરવર્ધનને '**गूर्जरप्रजागरः**'—ગુજરાતને જાગરણ કરાવનાર—કહ્યો છે.

મુસલમાનોના સમ્પર્ક બાદ, વિક્રમના દશમા શતક પછી આપણે ત્યાં ઐતિહાસિક સામગ્રી અર્પનારા પ્રબન્ધો રચાવા લાગ્યા. વેરવિખેર ઐતિહાસિક સામગ્રીવાળા આવા સંસ્કૃત, પ્રાકૃત તથા અપભ્રંશમાં લખાયેલા ગ્રન્થોમાં બારમા શકતમાં રચાયેલી કાશ્મીરી કવિ કલ્હણકૃત **राजतरङ्गिणी** ખાસ નોંધપાત્ર છે; કેમ કે તે બીજાની માફક કેવળ સ્તુતિથી નહિ અટકતાં રાજાનાં દૂષણો પણ આલેખે છે. અગિયારમી સદીમાં થઈ ગયેલા, **विक्रमाङ्कदेवचरित**ના રચયિતા, કાશ્મીરના કવિ બિલ્હણના **कर्णसुन्दरी** નાટકનો નાયક ગુજરાતનો રાજા અને પ્રસિદ્ધ સિદ્ધરાજ જયસિંહનો પિતા કર્ણદેવ સોલંકી છે અને તેના કવિકલ્પિત વસ્તુમાં ઐતિહાસિક તત્ત્વો બીજરૂપે મળે છે.

ગુજરાતને માટે એ એક ગૌરવનો વિષય છે કે ભારતના બીજા કોઈ પણ રાજવંશ કરતાં ગુજરાતનાં ૩૦૦ વર્ષ જેટલા લાંબા શાસનકાળવાળા ચૌલુક્યવંશના ઇતિહાસની સામગ્રી અતિવિપુલ પ્રમાણમાં મળી શકી છે તેવું ડૉ. બ્યૂલર જેવાએ પણ કબૂલ કર્યું છે. [જુઓ 'ઇંડિયન ઍન્ટિકવરી,' ગ્રન્થ ૬, પૃ. ૧૮૦]

ગુજરાતના ઇતિહાસના આલેખનના વિષયમાં વિક્રમના ૧૨મા શતકના ઉત્તરાર્ધમાં તથા ૧૩માના પૂર્વાર્ધમાં થઈ ગયેલા, ગુજરાતના બે મહાન્ રાજાઓ સિદ્ધરાજ જયસિંહ અને કુમારપાલના સમકાલીન અને કલિકાલસર્વજ્ઞનું બિરુદ પ્રાપ્ત કરનારા મહાન્ જૈન આચાર્ય શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિનું સ્થાન મોખરે છે. તેમણે 'ગુજરાતના નાથ' સિદ્ધરાજ જયસિંહની પ્રેરણાથી **सिद्धहेमशब्दानुशासन** નામક નૂતન સંસ્કૃત-પ્રાકૃત વ્યાકરણ રચ્યું છે, જેના આઠ અધ્યાય છે અને દરેક અધ્યાય ચાર ચાર પાદમાં વહેંચાયેલો છે. આ બત્રીસે પાદને અન્તે પ્રશસ્તિનો એક-એક શ્લોક મૂકી તેમાં ગુજરાતમાં ચૌલુક્યવંશના સ્થાપક મૂળરાજથી માંડીને પોતાના સમકાલીન અને શિષ્ય કુમારપાલ સુધીના આઠે રાજાઓની ક્રમબદ્ધ નામાવલિ આપેલી છે. આ વ્યાકરણના નિયમોનાં તે જ ક્રમમાં ઉદાહરણો આપવા અર્થે ગુજરાતના આ મહાન્ સાહિત્યાચાર્યે સંસ્કૃત-પ્રાકૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યની રચના કરી છે, જેમાં ઉપરિનિર્દિષ્ટ ૩૨ શ્લોકોને વિસ્તારીને મૂલરાજ (વિ. સં. ૯૯૮થી ૧૦૫૩)થી કુમારપાલ (વિ. સં. ૧૧૯૯થી ૧૨૨૯) પર્યન્તનો ઇતિહાસ વણી લેવાનો પ્રશસ્ય પ્રયત્ન કરેલો છે. આમાં વલભીપુરના પ્રખ્યાત કવિ ભટ્ટિ(આશરે ઈ. સ. ૫૦૦ – ૬૫૦)ના વ્યાકરણકાવ્ય **रावणवध** અથવા **भट्टिकाव्य**ની સરસાઈ કરવાનો પ્રયાસ હોવાનો સંભવ છે. તે ગમે તે હોય;

પરંતુ ગુજરાતનો ૨૩૦ વર્ષનો ક્રમબદ્ધ ઇતિહાસ નિદર્શતો આ પ્રથમ જ ગ્રન્થ છે, અને તે દૃષ્ટિએ તેનું મૂલ્ય ઘણું છે.

બીજી રીતે પણ આ કાવ્યનું મહત્ત્વ ઘણું છે. મૂલરાજ જ્યારે પાટણનો અધિપતિ થયો ત્યારે તે પ્રદેશ તો ‘सारस्वतमण्डल’ તરીકે જ ઓળખાતો હતો. (મૂળરાજના પોતાના વિ. સં. ૧૦૪૩ના દાનપત્રમાં પણ આ જ નામ આપેલું છે.) મૂલરાજ જ્યાંથી આવ્યો તે રાજપૂતાનામાંના શ્રીમાલ-ભિન્નમાલની આસપાસનો પ્રદેશ ત્યારે ‘गुर्जरात्र – गुज्जरत्ता – गुर्जरदेश’ ગણાતો. ગુર્જરેશ્વર મૂલરાજ સારસ્વતમણ્ડલનો રાજા બન્યો તે પછી ગુર્જરેશનો પ્રદેશ તે ‘गुर्जरमण्डल–गुर्जरदेश–गुर्जरात्र–गुज्जरत्ता’ ગુજરાત કહેવાયો. આમ આપણા પ્રદેશને ‘ગુજરાત’ નામ પણ મૂળરાજના સમયમાં જ મળ્યું. (‘ગુજરાત’ વિષે વિશેષ ચર્ચા માટે જુઓ ડૉ. ભોગીલાલ સાંડેસરાકૃત ‘ઇતિહાસની કેડી’ પૃ. ૧૩૧–૧૫૨) તદુપરાન્ત, આ પ્રદેશ સમૃદ્ધિની ઉચ્ચતમ કોટિએ પણ આ સોલંકીયુગમાં જ – સિદ્ધરાજ અને કુમારપાલના શાસનસમયમાં – પહોંચેલો. આ રીતે પુરાણકથાનુસાર જેનો મૂળપુરુષ બ્રહ્માના ચુલુક એટલે ખોબામાંથી ઉત્પન્ન થયેલો મનાય છે તે ચૌલુક્ય કે સોલંકીવંશનો યુગ ગુજરાતના ઇતિહાસમાં સૌથી વધારે મહત્ત્વનો યુગ ગણાય, અને દ્વયાશ્રયમહાકાવ્ય પણ આ જ યુગનો ઇતિહાસ આપતું હોવાથી ગુજરાતના ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ તેનું મહત્ત્વ અદ્વિતીય છે.

ઇતિહાસ અને વ્યાકરણ એ બે આલમ્બનોને કારણે આ અઠ્ઠાવીસ સર્ગના મહાકાવ્યને ‘द्व्याश्रय’ નામ આપવામાં આવ્યું છે. પ્રથમ વીસ સર્ગના સંસ્કૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યમાં મૂળરાજ સોલંકીની કારકિર્દીથી તે કુમારપાલના શાસનકાલ સુધીનો ઇતિહાસ આલેખી આઠ સર્ગના પ્રાકૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યમાં કુમારપાલની અધૂરી કથાની પૂર્તિ કરવામાં આવી છે. આથી પ્રથમ વિભાગને ‘चौलुक्यवंशोत्कीर्तन’ તથા દ્વિતીય વિભાગને ‘कुमारपालचरित’ પણ કહેવામાં આવે છે.

હવે આપણે આ કાવ્યનું સંક્ષિપ્ત વસ્તુનિરીક્ષણ કરી લઈએ.

પહેલા સર્ગમાં અણહિલપાટક – પાટણ, રાજા મૂલરાજ, પ્રજાની સુખસમૃદ્ધિ તથા રાજાપ્રજાપ્રીતિનું સુંદર વર્ણન આપી પછીના ચાર સર્ગમાં સૌરાષ્ટ્રના પ્રજાપીડક ગ્રાહરિપુ ઉપરનો મૂલરાજનો વિજય વર્ણવ્યો છે. આ નિમિત્તે બન્ને પક્ષે ઉપસ્થિત અનેક રાજાઓનાં નામ આપવામાં આવ્યાં છે. ગ્રાહરિપુને તેની સ્ત્રીઓની આજીજીથી આંગળી કાપી છોડી મૂક્યો, જ્યારે તેનો મિત્ર કચ્છનો લક્ષરાજ—લોકકથાઓનો લાખો ફુલાણી—યુદ્ધમાં હણાયો.

છઠ્ઠા સર્ગમાં અંગ, વિન્ધ્ય, પાણ્ડુ, સિન્ધુ, વનવાસ (ઉત્તર કાનડા), શરજાચલ (દેવગિરિ), કોલ્લાપુર, કશ્મીર (તેના રાજા માટે ‘कीर’ શબ્દ વાપર્યો છે, શ્લોક ૨૩), કુરુ અને પાંચાલ (હિમાલયની તળેટીથી ચમ્બલ નદી સુધીનો પ્રદેશ, જેની રાજધાની કામ્પીલ્યનગરમાં હતી) જેવા દૂર-દૂરના દેશોના રાજાઓ તરફથી મૂલરાજને ચરણે આવેલી વિશિષ્ટ ભેટોનું વર્ણન છે, જે પછી લાટના દ્વારપે મોકલેલ નિષિદ્ધ લક્ષણોવાળા ગજરાજને નિમિત્ત બનાવી તેના ઉપર યુવરાજ ચામુણ્ડરાજે મેળવેલો વિજય આલેખેલો છે.

સાતમા સર્ગમાં કાશી તરફ જતા ચામુણ્ડરાજ(વિ. સં. ૧૦૫૩થી ૧૦૬૬)ને માલવાના રાજાએ લૂંટતાં તેનો પુત્ર વલ્લભરાજ (વિ. સં. ૧૦૬૬) તેની આજ્ઞાથી માલવા પ્રતિ પ્રયાણ કરે છે, પરન્તુ માર્ગમાં જ શીતળાના અસાધ્ય વ્યાધિથી તેનું મૃત્યુ થાય છે અને એ વાત છુપાવી સૈન્ય પાછું ફરે છે.

વલ્લભરાજ પછી રાજ્યારૂઢ થયેલા તેના ભાઈ દુર્લભરાજ (વિ. સં. ૧૦૬૬–૧૦૭૮) સાથેના મારવાડ (मरु) ના રાજા મહેન્દ્રની બહેન દુર્લભદેવીના સ્વયંવરલગ્નનું તથા તે નિમિત્તે દુર્લભરાજના બીજા ઘણા રાજાઓ સાથેના યશઃપ્રદ યુદ્ધનું વર્ણન પણ આ જ સર્ગમાં આવે છે.

આઠમા સર્ગમાં દુર્લભરાજના નાનાભાઈ નાગરાજના પુત્ર ભીમદેવ કે ભીમરાજ (વિ. સં. ૧૦૭૮–૧૧૨૦)ના યશસ્વી અને નીતિમય શાસનનું તેમ જ પરાક્રમી સિન્ધુરાજ હમ્મુકને તેણે દ્વન્દ્વયુદ્ધ કરી હરાવેલો તેનું સુન્દર આલેખન મળે છે.

સિન્ધુવિજય પછી નવમા સર્ગમાં ભીમદેવ ચેદિ (મધ્યપ્રદેશ) તરફ વળ્યો, પરન્તુ તેના દૂત દામોદર દ્વારા (કર્ણાટક, ગુજરાત અને ચેદિ ત્રણેએ સાથે હુમલો કરી હરાવેલા) માલવપતિ ભોજની સુવર્ણમણ્ડપિકા અને બીજાં નજરાણાં મોકલી ચેદિરાજે સન્ધિ કરી લીધી.

પરાક્રમી ભીમ પછી તેના જ્યેષ્ઠ પુત્ર ક્ષેમરાજે રાજ્ય ન સ્વીકારતાં નાના કર્ણરાજ(વિ. સં. ૧૧૨૦–૧૧૫૦)ને ગાદી મળે છે. કર્ણ અને દક્ષિણમાં આવેલા ચન્દ્રપુરના જયકેશીની પુત્રી મયણલ્લાદેવી(મીનળદેવી)ના ચિત્રદર્શનથી ઉદ્‌ભવેલા પ્રેમલગ્નનું અતિસુન્દર ચિત્રણ પણ આ જ સર્ગમાં આવે છે.

દશમા સર્ગમાં કર્ણરાજના તપથી પ્રસન્ન થઈ શ્રીલક્ષ્મી પ્રતાપ તેમ જ પુત્ર માટે વરદાન અર્પે છે, અને ૧૧મામાં "ગુજરાતનો નાથ" જયસિંહ (વિ. સં. ૧૧૫૦–૧૧૯૯) શાસક બને છે.

બારમા સર્ગમાં શ્રીસ્થળ(સિદ્ધપુર)ના બ્રાહ્મણોને પરેશાન કરનાર રાક્ષસરાજ (ખરી રીતે ભિલ્લરાજ) બર્બરક સાથે દ્વન્દ્વયુદ્ધ કરી જયસિંહ તેને પોતાનો દાસ બનાવે છે અને તેને શ્રીસ્થળનો જ રક્ષક સ્થાપે છે. "બાબરા ભૂત" તરીકે લોકપ્રવાદમાં ખ્યાતિ પામેલા એ ભિલ્લરાજના ચમત્કારોનો પણ કવિ અહીં પરિચય કરાવે છે.

તેરમા સર્ગમાં બીજો એક રસિક પ્રસંગ વર્ણવેલો છે. મહારાજા જયસિંહ રાત્રે વિક્રમની માફક વેષપરિવર્તન કરીને પ્રજાનાં સુખદુઃખ તથા વિચારો જાણવા નીકળી પડતો. એક રાત્રે કોઈ સ્ત્રીના કરુણ શબ્દો તેને કાને પડતાં તે તે બાજુ ગયો અને પૃચ્છા કરતાં આ પ્રમાણે જાણવા મળ્યું:

પાતાલમાં નાગલોકની ભોગવતી નામની નગરીમાં વાસુકિનો માનીતો નાગરાજ રત્નચૂડ રહેતો હતો. તેના પુત્ર કનકચૂડ નાગે એક વખત પોતાના સહાધ્યાયી દમન સાથેના વાદવિવાદમાં પત્નીને હોડમાં મૂકી. અહીં તેણે ભૂલ કરેલી અને સ્વાભાવિક રીતે જ દમન લવલ્લીની વેલીને હેમન્તઋતુમાં પુષ્પો આવે છે તેવું પ્રત્યક્ષ બતાવી જીતી ગયો. છતાં કનકચૂડ પાસે પત્નીની મુક્તિનો એક ઉપાય હતો.

ઘણા સમય પહેલાં વરુણના વરદાનને પ્રતાપે હુલ્લડ નામના ફણીએ પાતાલલોકને જલમાં ડુબાડવાનો વિચાર કરેલો, જેથી ગભરાયેલા નાગો તેને શરણે ગયેલા અને હુલ્લડે શાસન ફરમાવેલું કે પ્રતિવર્ષ ઉત્તરાયણે એક એક નાગે કાશ્મીરમાં કાયમ રહેતા પોતાની સ્તુતિપૂજા કરવા આવવું. તે બાદ હિમથી દુર્ગમ તેવા કાશ્મીર દેશમાં હુલ્લડ ચાલ્યો ગયો અને પૂર્વે 'સમગ્ર પૃથ્વીને પણ ઉખેડી નાખીએ' એવાં બણગાં ફૂંકનારા સર્પો હુલ્લડના કોપના ભયથી દર વર્ષે વારા પ્રમાણે નિયમિત રીતે તેની પૂજા અર્થે જવા લાગ્યા. આ વર્ષે દમનનો વારો આવ્યો હતો; એટલે હિમના દાહથી બચવા તેણે કનકચૂડ પાસે શરત મૂકી કે જો તે તેને હિમઘ્ન ઊષ લાવી આપે તો પોતે તેની પત્નીને પણમાંથી મુક્ત કરે. આથી છેલ્લો દાવ અજમાવવા કનકચૂડ પાટણ આવેલો અને એક ઊંડા કૂવામાથી ઊષ લાવવા તે તેમાં પડવા જતો હતો, પરંતુ તે અંધારો કૂવો વજ્રમુખી મક્ષિકાઓથી વ્યાપ્ત હોવાથી તેમાંથી જીવતા પાછા આવવાની આશા રખાય તેમ ન હતું, તેથી તેની પત્ની પણ સહગમન કરવા તત્પર થઈ હતી અને પોતાને ન વારવા પતિને વિનવતી હતી.

આ વૃત્તાન્ત સાંભળી આશ્વાસન આપી બાહોશ રાજા જયસિંહદેવે કાંઠા પરના વેતસવૃક્ષને વેગપૂર્વક મારવા માંડ્યું. તેના અવાજથી કૂવામાંથી માખાઓ એકદમ ઊડી ઉપર આવતી રહી. પછી

નિર્મક્ષિક બનેલા કૂવામાં રાજાએ વિનાવિલંબે ઝંપલાવ્યું અને ઊષનો ઘડો (ઘટી) ભરીને તત્કાળ બહાર કૂદી આવ્યો, અને ઊષ સાથે તે નાગદમ્પતીને બર્બરકાદિના રક્ષણ નીચે પાતાલમાં મોકલી દીધું. (કદ્રૂ અને વિનતાની પૌરાણિક કથા અહીં સરખાવવા યોગ્ય છે. નાગ લોકો સાથેનો ગુજરાતનો ઐતિહાસિક સંબંધ પૌરાણિક જેવા લાગતા આ કથાનક દ્વારા વર્ણવાયો છે એમ સમજવું ?)

ચૌદમા સર્ગમાં પણ ચમત્કારકથા આવે છે. યોગિનીઓના ચમત્કારને ન ગણકારતાં પોતાની પ્રતિમા બનાવી કામણપૂર્વક તેને બાળી નાખવાને પ્રવૃત્ત થયેલી બહુરૂપી યોગિની કાલિકાને હરાવી કર્મવીર જયસિંહે માળવાના વિદ્યાપ્રેમી રાજા યશોવર્મા ઉપર ચિરસ્મરણીય વિજય પ્રાપ્ત કર્યો અને અન્તે પંદરમા સર્ગમાં તે ભગવાન સોમનાથની કૃપાથી સુવર્ણસિદ્ધિ મેળવી “ सिद्धराज ” બન્યો. કેદારનાથના માર્ગને તેણે દુરસ્ત કરાવેલો, શ્રીસ્થળમાં રુદ્રમહાલય તથા જૈન ચૈત્ય બંધાવેલાં, પાટણમાં સહસ્રલિંગ તળાવ અને જૈન તથા જૈનેતર મન્દિરો બંધાવેલાં, સૌરાષ્ટ્રમાં સિંહપુર(શિહોર)ની સ્થાપના કરેલી—આ બધી વિગત પણ આ સર્ગમાં મળે છે.

સોળમા સર્ગથી કુમારપાલની કથા શરૂ થાય છે અને ત્રણ સર્ગમાં સપાદલક્ષ (અજમેર)ના આન્નરાજે તેના હાથે ખાધેલી હારનું મનોહર વર્ણન આપેલું છે; જ્યારે ઓગણીસમા સર્ગમા કુમારપાલ આન્ન (અર્ણોંરાજ)ની પુત્રી જલ્હણાને પાટણમાં પરણે છે અને તેનો બ્રાહ્મણ સેનાપતિ કાક—શ્રી મુનશીની નવલકથાઓમાં અમર બનેલો મંજરીપતિ કાક—અવન્તિના બલ્લાલ પર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે. સ્વાભાવિક રીતે જ ઉભયપક્ષસ્થ બીજા અનેક રાજાઓનો ઉલ્લેખ અહીં મળે છે.

આજે પણ ગુજરાત ઉપર જેની અસર છે તે કુમારપાલની પ્રખ્યાત अमारिघोषणानुं વિશમા સર્ગમાં વિસ્તૃત વર્ણન આપેલું છે. આમલકૈકાદશી(ફાલ્ગુન શુક્લ ૧૧)ના વૈષ્ણવ પર્વના દિવસે ત્રણ–ચાર દીન પશુઓને ખાટકીને ત્યાં વેચવા ખેંચી જતા એક માણસને જોઈ દયાર્દ્ર બનેલા તે મહારાજાએ મૃષાભિભાષણ, પરદારગમન, જન્તુવધ, માંસભક્ષણ અને મદ્યપાનનો નિષેધ ફરમાવ્યો તેટલું જ નહિ, પણ તેથી જેને નુકસાન થાય તેમ હતું તેવા બધાને ત્રણ ત્રણ વર્ષ ચાલે તેટલું ધાન્ય આપ્યું જેથી પોતાની આજ્ઞાનો કડક અમલ થાય. તદુપરાન્ત, એક મધ્યરાત્રે કોઈ સુન્દરીનું કરુણ રુદન સાંભળી રાજા તે તરફ ગયો તો એક વૃક્ષ સાથે પાશ બાંધી તે આત્મહત્યાની તૈયારી કરતી હતી. પૃચ્છા કરતાં જણાયું કે તે યુવતીના પુત્ર તેમ જ પતિ ગુજરી જવાથી નિયમ મુજબ તેનું સઘળું ધન રાજાને જશે અને તેથી તે સાવ નિરાધાર થઈ જતાં આત્મહત્યા એ જ તેના માટે એકમાત્ર માર્ગ હતો. કૃપાળુ રાજાએ તેને આશ્વાસન આપ્યું કે “ राजायं तेऽर्थं न ग्रहीता ग्रहीता ”—“ આ રાજા તારું ધન નહીં લઈ લે, નહીં લઈ લે ”—અને વિનાવિલંબે અપુત્રમૃતધન પરનો રાજ્યનો હક ઉઠાવી લીધો.

આ રીતે મધ્યયુગમાં સમાજસુધારણાનો નવો ચીલો પાડનાર અને કેદારપ્રસાદ તથા સોમનાથ-મન્દિરનો જીર્ણોંદ્ધાર કરાવી સ્વપ્નાદેશાનુસાર ગૂર્જરપુર–પાટણ–માં કુમારપાલેશ્વરની સ્થાપના કરનાર તેમ જ પાર્શ્વનાથનાં ચૈત્યો બંધાવનાર લોકપ્રિય રાજા કુમારપાલને આ પ્રમાણે આશીર્વાદ આપી સંસ્કૃત દ્વયાશ્રય કાવ્ય પૂરું થાય છે.

आयुष्मान् भव भूपता ३ इ अजय ३ (:) शान्त्या ३ सुबुद्धा ३ यृषी (३) ञ्
जिष्णा ३ बूर्जं तदै४न्दवे जय चिरं चौलुक्यचूडामणे ।
क्ष्मानृण्यीकरणात्प्रवर्तय निजं संवत्सरं चेत्यृषि—
ष्वाघोषत्सु सदा नृपः पदविधिर्यद्वत्समर्थोंभवत् ॥१०॥

અર્થાત્—“ હે રાજા ! તું આયુષ્માન્ થા. હે સુબુદ્ધિ ! શાન્તિમાં તું ઋષિઓથી પણ ચઢી જા. હે જિષ્ણુ ! તું બલિષ્ઠ બન. હે ચન્દ્રવંશી ! હે ચૌલુક્યચૂડામણિ ! ચિરકાલપર્યન્ત વિજયી થા ! અને પૃથ્વીને

ઋણમુક્ત બનાવીને પોતાનો સંવત્સર પ્રવર્તાવ ”–આ પ્રમાણે ઋષિઓ જ્યારે ઘોષણા કરતા (આશીર્વચન ઉચ્ચારતા) હતા ત્યારે રાજા (કુમારપાલ), જેમ કોઈ પણ પદ હમેશાં સમ્–અર્થ—અર્થ સાથે જ યોજાય છે તેમ, સમર્થ—શક્તિસંપત્તિવાળો—થયો.’

પ્રાકૃત દ્વયાશ્રયકાવ્ય કુમારપાલની આ અધૂરી કથા પૂરી કરે છે. પ્રથમ પાંચ તથા છઠ્ઠા સર્ગના પૂર્વાર્ધમાં પાટણનું, રાજા તથા પ્રજાની સમૃદ્ધિનું, મન્દિરો તથા સવારીની જાહોજલાલીનું અને રાજાની ઉદારતા તેમ જ ભક્તિ ઇત્યાદિનું વર્ણન મળે છે. છઠ્ઠા સર્ગના ઉત્તરાર્ધમાં કોંકણના મલ્લિકાર્જુન ઉપરના કુમારપાલના વિજય ઉપરાન્ત મથુરા. ચેદિ, દશાર્ણ, કાન્યકુબ્જ, મગધ, ગૌડ, સિન્ધ, શ્રીનગર, તિલિંગ, કાંચી વગેરે ઉપરની તેની સત્તા આલેખેલી છે.

છઠ્ઠા સર્ગમાં જંગલ(જાંગલ)ના રાજાએ કરેલી સ્તુતિ સુણી સૂતેલો કુમારપાલ સાતમામાં જાગ્રત થઈ કર્તવ્યચિન્તન કરે છે અને અન્તે આઠમા સર્ગમાં, તેની વિનતિથી, શ્રુતદેવી સરસ્વતી ધર્મોપદેશ આપે છે.

ઉપરના અવલોકનપરથી ગુજરાતની આણ કેટલા દૂર-દૂરના પ્રદેશોમાં વર્તતી હતી તેનો ખ્યાલ આવે છે. હેમચંદ્રાચાર્યની બીજી અતિબૃહદ્ કૃતિ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्यના દશમા પર્વના ચોથા સર્ગનો બાવનમો શ્લોક કુમારપાલના ગુજરાતની શાસનસીમા આ પ્રમાણે જણાવે છે :

> “ स कौवेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिदशापगाम् ।
> याम्यामाविन्ध्यमावार्धि पश्चिमां साधयिष्यति ॥ ”

અર્થાત્ – “ તે (કુમારપાલ) ઉત્તર દિશાને તુર્કસીમા સુધી, પૂર્વને ગંગાપર્યન્ત, દક્ષિણને વિન્ધ્યાચળ સુધી અને પશ્ચિમ દિશાને સમુદ્ર સુધી સાધશે–જીતશે.” અહીં ‘ साधयिष्यति ’ એ ભવિષ્યકાળ વાપરેલો છે તેનું કારણ એ છે કે આ શ્લોક ભગવાન્ મહાવીરના મુખમાં ભવિષ્યવાણીના રૂપમાં મૂકેલો છે.

આ સંક્ષિપ્ત અવલોકનપરથી જણાય છે કે એવા કેટલાક પ્રસંગો છે જે અન્ય પ્રબન્ધો તેમ જ ઉત્કીર્ણ લેખો દ્વારા સિદ્ધ થઈ ચૂકેલા છે અને છતાં દ્વયાશ્રય જેવા સમકાલીન ગ્રન્થમાં નિર્દેશ પણ પામતા નથી. તે જ પ્રમાણે બીજા પણ એવા પ્રસંગો દ્વયાશ્રયમાં મળે છે—વિશેષતઃ ચમત્કારયુક્ત—જેને ઇતિહાસ સાથે બહુ સંબંધ ન હોઈ શકે.

મૂળરાજનો ચાવડાઓ સાથેનો સંબંધ, તેનો શાકમ્ભરી(અજમેર)ના વિગ્રહરાજને હાથે થયેલો પરાભવ, માળવાના ભોજે ભીમને આપેલી હાર, નાડૂલ(નાડોલ)ના અણહીલ–અહિલને હાથે ભીમદેવનો પરાજય, ભીમના જ સમયમાં થયેલું મહમૂદ ગઝનવીનું સુપ્રસિદ્ધ સોમનાથ-આક્રમણ, માળવા અને શાકમ્ભરીના રાજાઓએ કરેલો કર્ણનો પરાજય, અને સિદ્ધરાજના શાસનકાળ દરમ્યાન કુમારપાળની વર્ષોની રખડપટ્ટી – જેવા પ્રસંગોનો નિર્દેશ પણ આ કાવ્યમાં મળતો નથી. જે વંશનું પોતે ઉત્કીર્તન કરે છે તથા જે કુલના રાજાના પ્રોત્સાહનથી ગ્રન્થ રચાય છે, તેને કલંકરૂપ લાગતા પ્રસંગોનો સમાવેશ પોતાની કૃતિમાં ન કરવાનો કવિનો હેતુ આ મૌનના મૂળમાં હોઈ શકે.

સંસ્કૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યનો ગુજરાતી અનુવાદ ઈ. સ. ૧૮૯૩માં પ્રકટ થયેલો. અનુવાદક શ્રી મણિલાલ નભુભાઈ દ્વિવેદી એવો તર્ક કરે છે કે મહમૂદના સોમનાથ-આક્રમણની વાત મુસલમાનોએ ઉપજાવી કાઢી પણ હોઈ શકે. “ ભારતમેં અંગ્રેજી રાજ ”ના પ્રખ્યાત લેખક પં. સુન્દરલાલજીએ પણ એવું અનુમાન કરેલું છે. પરન્તુ એવી શંકા લાવવાનું કોઈ કારણ નથી. વિ. સં. ૧૨૨૫માં કુમારપાલે સોમનાથના પાશુપતાચાર્ય ભાવબૃહસ્પતિની દેખરેખ નીચે સોમનાથના મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવેલો.

તે નિમિત્તે આલેખાયેલી સોમનાથની ભાવબૃહસ્પતિની પ્રશસ્તિમાં ભીમદેવે પથ્થરનું મન્દિર બંધાવ્યાનું સ્પષ્ટ કથન છે. પહેલાંનું લાકડાનું મન્દિર મહમૂદે તોડ્યા પછી આ પથ્થરનું બંધાવ્યું હોય તેમ કેમ ન બને ? મહમૂદના સમકાલીન અલ્બેરુની ઉપરાન્ત ૧૪મા શતકના પ્રારંભમાં થઈ ગયેલા શ્રીજિનપ્રભસૂરિ પણ તેમના विविधतीर्थकल्पમાં સોમનાથખંડનનો ઉલ્લેખ કરે છે. આ વિષયમાં માળવાના પ્રખ્યાત કવિ ધનપાલનો પણ ટેકો મળે છે એવું મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ "જૈનસાહિત્યસંશોધક"ના ત્રીજા ગ્રન્થમાં સિદ્ધ કર્યું છે. તે જ દિવસોમાં (૧૧મી સદીના અન્ત અને ૧૨મીના પ્રારંભમાં) થઈ ગયેલા આ કવિએ સ્વરચિત सत्यपुरमण्डनના श्रीमहावीर–उत्साहમાં મહમૂદના પરાક્રમની નોંધ કરી છે, જે સોમનાથ-આક્રમણને કલ્પિત માનનારને સચોટ જવાબરૂપ થઈ પડશે : જુઓ તેનો ત્રીજો જ શ્લોક :

भञ्जेविणु सिरिमाल देसु अनु अणहिल्वाडउं
चड्डावलि सोरट्ठु भग्गु पुणु देउलवाडउं ।
सोमेसरु सो तेहि भग्गु जणयणआणंदणु
भग्गु न सिरि सच्चउरि वीरु सिद्धत्थह नंदणु ॥

અહીં સ્પષ્ટ રીતે કહ્યું છે કે સિરિમાલ–શ્રીમાલ–ભિન્નમાલ, અણહિલવાડ (પાટણ), ચડ્ડાવલિ–ચન્દ્રાવતી (આબુની તળેટીમાં આવેલું), સોરઠ, દેલવાડા અને સોમેસરુ–સોમેશ્વર–શ્રીસોમનાથ ભાંગ્યાં; ન ભાંગ્યું એક સિરિ સચ્ચઉરિ–શ્રીસત્યપુરી–સાચોર. હેમચન્દ્રાચાર્ય જેવા સમર્થ લેખકે આવા મોટા બનાવનો નિર્દેશ પણ કર્યો નથી તે માટે ઉપર કારણ આપ્યું છે. દિલ્હીના રાજા વ્રજદેવે ભીમ અને બીજા રાજાઓનો સહકાર મેળવી, નાસતા મહમૂદના પાછલા લશ્કરને હરાવેલું અને થાણેશ્વર વગેરે કબજે કરી લીધેલા. દ્વયાશ્રયના આઠમા સર્ગના શ્લોક ૪૦થી ૧૨૫ સુધી ભીમે સિન્ધુરાજ હમ્મુકને હરાવેલો તેનું વિસ્તૃત વર્ણન આપેલું છે. વ્રજદેવના સહાયક અન્ય રાજાઓના તુરુષ્કવિજયનું કથન ઉત્કીર્ણ લેખોમાં મળે છે. આથી અનુમાન થાય છે કે દ્વયાશ્રયનું આ વર્ણન તે ઉપરના સમૂહવિજયનું હશે.

રાણકદેવી તથા જસમાના પ્રચલિત પ્રસંગો પણ ઉપર દર્શાવેલા કારણે જ નહીં આપ્યા હોય. છતાં માલવાવિજયનું વર્ણન તો છે જ, જેને ઉત્કીર્ણલેખોમાંના "अवन्तिनाथ" બિરુદથી ટેકો મળે છે અને સિદ્ધરાજના જ વિ. સં. ૧૧૯૬ના દોહદના લેખના સ્પષ્ટ શબ્દો છે કે :

"श्री जयसिंहदेवोऽस्ति भूपो गूर्जरमण्डले ।
येन कारागृहे क्षिप्तौ सुराष्ट्रमालवेश्वरौ ॥"

અર્થાત્–"ગૂર્જરમણ્ડલમાં શ્રીજયસિંહદેવ રાજા છે જેણે સુરાષ્ટ્ર (સૌરાષ્ટ્ર) તથા માલવાના રાજાઓને કારાગૃહમાં નાખ્યા છે."

વળી દ્વયાશ્રયના ૧૫મા સર્ગનો ૯૭મો શ્લોક કહે છે કે સૌરાષ્ટ્રમાં શત્રુંજય પર્વત પાસે તેણે સિંહપુર (શિહોર) વસાવ્યું :

"सोऽत्र सौपन्थ्य-सांकाश्य-सौतङ्गमिपुरोपमम ।
स्थानं सिंहपुरं चक्रे द्विजानां मौनिचित्तिजित् ॥"

અર્થાત્–"તે મૌનિચિત્તિજિત્ (રાજા)એ અહીં (શત્રુંજય પાસે) સૌપન્થ્ય, સાંકાશ્ય તથા સૌતંગમિ નગરો જેવા (સમૃદ્ધ) સિંહપુરની સ્થાપના કરી."

આ જ સમયે તેણે સિંહસંવત્સર પ્રવર્તાવ્યો હશે.

દ્વયા. ૧૫. ૫૦માં ભગવાન સોમનાથનું કૃપાવચન છે કે :

> "क्ष्मानृण्यायाधुना स्वर्णसिद्ध्या त्वं भव सिद्धिराट् ॥"

અર્થાત્–"હવે પૃથ્વીને અનૃણી કરવા માટે (મદ્દત્ત) સુવર્ણસિદ્ધિ વડે તું (સંવત્સર પ્રવર્તાવનાર) સિદ્ધિરાજ થા."

તે જ પ્રમાણે વડનગરપ્રાકારપ્રશસ્તિ (વિ. સં. ૧૨૦૮)નો ૧૧મો શ્લોક પણ કહે છે કે :

> "सद्यः सिद्धरसानृणीकृतजगद्गीतोपमानस्थिति—
> जज्ञे श्रीजयसिंहदेवनृपतिः श्रीसिद्धराजस्ततः ॥"

અર્થાત્–"તત્કાળ સિદ્ધરસ વડે ઋણમુક્ત કરાયેલું જગત્ જેની ઉપમાનસ્થિતિ ગાય છે (પ્રશંસે છે) તેવો શ્રીજયસિંહદેવ રાજા પછી **શ્રીસિદ્ધરાજ** બન્યો."

આજે વધારે પ્રચલિત થયેલા તેના "સિદ્ધરાજ" નામ પાછળ આ રહસ્ય છે.

સૌરાષ્ટ્રમાંના માંગરોળનો વિ. સં. ૧૨૦૨નો ઉત્કીર્ણ લેખ સિંહસંવત્ ૩૨ આપે છે. ભીમદેવ બીજાનું વિ. સં. ૧૨૬૪નું તામ્રપત્ર સિંહ સં. ૯૩ આપે છે. આ ગણતરી મુજબ વિ. સં. ૧૧૭૦થી સિંહસંવત્સર શરૂ થયો ગણાય. ઇતિહાસવિદોનું માનવું છે કે આ સંવત્નું પ્રવર્તન સિદ્ધરાજના સૌરાષ્ટ્ર–વિજયની સ્મૃતિમાં થયું હશે.

સોમેશ્વર (ઈ. સ. ૧૧૭૯–૧૨૬૨)ની कीर्तिकौमुदी તેમ જ સમકાલીન વિજયસેનસૂરિના रेवन्तगिरिरासुમાં પણ સિદ્ધરાજના ખેંગાર પરના વિજયનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે.

આશાપલ્લી ગામના આશાભીલને જીતી કર્ણદેવે કોછરબ દેવીનું મન્દિર, કર્ણસાગર તળાવ અને કર્ણેશ્વર મહાદેવનું મન્દિર બંધાવી કર્ણાવતી શહેર વસાવેલું તે હકીકત પણ દ્વયાશ્રયમાં જડતી નથી. આ કર્ણાવતીમાંથી આજનું અમદાવાદ વિસ્તર્યું. (વિશેષ ચર્ચા માટે જુઓ : સ્વ૦ રત્નમણિરાવનું 'ગુજરાતનું પાટનગર અમદાવાદ').

શાકમ્ભરી (અજમેર)ના આન્ન (અર્ણોરાજ) પરની જયસિંહની જીત વિષેના હેમચન્દ્રના મૌન માટે એવો લૂલો બચાવ કરી શકાય કે પાછળથી તેને સિદ્ધરાજે પોતાની પુત્રી કાંચનદેવી લગ્નમાં આપેલી. બીજા વિજયોની માફક શાકમ્ભરીવિજયનું સૂચક બિરુદ પોતે ધારણ કર્યું નથી તેથી સ્વ. દુર્ગાશંકર શાસ્ત્રી માને છે કે આ મોટો વિજય નહીં હોય પણ મૈત્રીસ્થાપના હશે. છતાં મૂળરાજે આબુના પરમાર ધરણીવરાહને પરાસ્ત કરેલો તેના અનુલ્લેખ માટે કોઈ કારણ જડતું નથી. અને આ એક મહત્ત્વનો બનાવ ગણાય, કેમકે ત્યારથી આબુપ્રદેશ ગુજરાતના શાસન નીચે આવ્યો.

વળી વંશાવલિ બરાબર આપી હોવા છતાં કાલક્રમ તો કોઈ સ્થળે આપેલો નથી.

ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ આ મોટાં દૂષણ લેખાય. પરંતુ આપણે એ ભૂલવું ન જોઈએ કે હેમચન્દ્રાચાર્યનો હેતુ કેવળ ઇતિહાસ આલેખવાનો નથી; પણ મહાકાવ્યનાં લક્ષણો લક્ષમાં રાખી, તે પ્રમાણેનાં આવશ્યક વર્ણનો વગેરે મૂકી, પોતાના વ્યાકરણના નિયમોનાં ઉદાહરણો આપતું મહાકાવ્ય રચવાનો અને તેમાં શકય તેટલા ઐતિહાસિક પ્રસંગોને સાંકળી લેવાનો જ છે. એ પણ નોંધવું જોઇએ કે બહુ લાગવગવાળા, પ્રત્યક્ષ જોનાર તથા રાજ્ય–દફતરો વગેરે દ્વારા પૂર્વની હકીકત મેળવવા શક્તિમાન્ એવા હેમચન્દ્રાચાર્યે રજૂ કરેલી વિગતો અતિવિશ્વસનીય છે. ચમત્કારો અને અલંકારો તો કાવ્યમાં હોય જ. વિક્રમનું અનુકરણ કરનારો મહત્ત્વાકાંક્ષી સિદ્ધરાજ જાતે પણ પોતાના વિષે યોગિનીઓ ઇત્યાદિની અદ્ભુતરસભરપૂર આખ્યાયિકાઓ પ્રચલિત કરે તે પણ સમજી શકાય તેવી વાત છે. દ્વયાશ્રયમાં જેને

રાક્ષસ કહ્યો છે તે ભિલ્લરાજ બર્બરક તે પછી એક જ સૈકામાં "બાબરો ભૂત" બની જાય છે તે સોમેશ્વર (ઈ. સ. ૧૧૭૯–૧૨૬૨)ની કીર્તિકૌમુદીમાંના નીચેના ઉદ્ધરણ પરથી સ્પષ્ટ થશે :

> "श्मशाने **यातुधानेन्द्रं** बद्ध्वा बर्ब्बरकाभिधम् ।
> सिद्धराजेति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥" २·३८.

અર્થાત્ – "બર્બરક નામના શ્મશાનમાંના મોટા ભૂતને બાંધીને તે રાજચન્દ્ર રાજાઓની પંક્તિઓમાં 'સિદ્ધરાજ' બન્યો."

તામ્રપત્રોમાં સિદ્ધરાજને बर्ब्बरकजिष्णु એવું વિશેષણ લગાડાયેલું હોવાથી આ પ્રસંગ બહુ મોટો ગણાતો હોવો જોઈએ.

પોતાના વિ. સં. ૧૨૫૬ના ભાદ્રપદ અમાસ વાર મંગળના પાટણના તામ્રપત્રમાં ભીમદેવ બીજો પોતાને "अभिनवसिद्धराज" કહેવરાવે છે. આ પછીનાં પણ કેટલાંક તામ્રપત્રોમાં આ બિરુદ મળે છે. આથી સમજાય છે કે માત્ર ૫૦ જ વર્ષમાં જયસિંહ સિદ્ધરાજ ચૌલુક્યવંશનો અનુકરણીય આદર્શ રાજા ગણાવા લાગેલો.

આ કાવ્યમાં વર્ણવેલા મૂળરાજના સૌરાષ્ટ્રવિજય તથા તેના જ શાસનકાળ દરમ્યાન ચામુણ્ડરાજના લાટવિજયને સ્વ૦ દુર્ગાશંકર શાસ્ત્રી કલ્પિત માને છે; પરન્તુ સ્વ૦ રા૦ ચુ૦ મોદીએ આનો સચોટ ઉત્તર આપેલો છે. મૂળરાજ પછી ભીમદેવ સુધી કોઈએ સૌરાષ્ટ્ર પર આક્રમણ કર્યાનું કથન મળતું નથી; જ્યારે સોમનાથની ભાવબૃહસ્પતિની પ્રશસ્તિમાં પણ ભીમદેવે સોમનાથનું પથ્થરનું મન્દિર બંધાવ્યાનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે, તે આપણે આગળ જોઈ ગયા. તે જ રીતે ચામુણ્ડરાજથી કર્ણદેવ સુધીના કોઈ ગુર્જરેશ્વરે લાટ જીત્યાનું સૂચન ક્યાંય મળતું નથી; જ્યારે કર્ણનું વિ. સં. ૧૧૩૧નું નવસારીનું તામ્રપત્ર તેની લાટ પરની સત્તાનું સૂચક છે. આથી આ પ્રસંગોને સત્ય માનવા પડે છે.

ઉપર ઉતારેલા સંસ્કૃત દ્વયાશ્રયના છેલ્લા શ્લોકમાં ઋષિઓ ચૌલુક્યચૂડામણિ રાજા કુમારપાલને પૃથ્વીને અનૃણી કરી સ્વકીય સંવત્સર-પ્રવર્તન માટે આદેશ – આશીર્વાદ આપે છે. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितના ૧૦મા પર્વના ૧૨મા સર્ગના ૭૭મા શ્લોકમાં શ્રી મહાવીરસ્વામીના મુખમાં મૂકેલી ભવિષ્યવાણી પણ કહે છે કે :

> "दायं दायं द्रविणानि विरचय्याऽनृणं जगत् ।
> अङ्कयिष्यति मेदिन्यां स संवत्सरमात्मनः ॥"

અર્થાત્ – "તે (કુમારપાલ) દ્રવ્ય આપી આપીને જગતને ઋણમુક્ત કરીને પૃથ્વી ઉપર નિજ સંવત્સર આંકશે — પ્રવર્તાવશે."

"શ્રી જૈન સત્યપ્રકાશ"ના ૯૩મા અંકમાં મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીએ શત્રુંજયની ચોમુખજીની ટૂંકના મૂળ મન્દિરના દરવાજાની ડાબી બાજુની એક ધાતુપ્રતિમા ઉપરનો લેખ પ્રકાશિત કરેલો, જેમાં "श्रीसिद्धहेमकुमार सं ४" આપેલી છે. હેમચન્દ્રાચાર્યના પોતાના "अभिधानचिन्तामणि" કોશમાં એક સ્થળે (૬. ૧૭૧) 'संवत्'નો અર્થ સમજાવતાં કહ્યું છે કે:

"यथा विक्रमसंवत् सिद्धहेमकुमारसंवत्"

આથી વિશેષ પ્રકાશ આ વિષય પર અદ્યપર્યન્ત પડ્યો નથી, પરન્તુ કુમારપાલની નૂતન સંવત્સર પ્રવર્તાવવાની તીવ્ર ઇચ્છા ફલીભૂત થઈ હશે, જેને પરિણામે સિદ્ધરાજ, હેમચન્દ્રાચાર્ય અને કુમારપાલ એ ત્રણે વિભૂતિઓનાં નામથી અંકિત આ સંવત્સર શરૂ થયો હશે.

ટૂંકમાં, દ્વ્યાશ્રયમાં આવેલો કોઈ ઐતિહાસિક પ્રસંગ ઉપજાવી કાઢેલો – કલ્પિત નથી. ઊલટું, અન્ય પ્રબન્ધો ઉપરાન્ત પુષ્કળ ઉત્કીર્ણ લેખો અને તામ્રપત્રોએ હેમચન્દ્રે આપેલી હકીકતને પુષ્ટિ આપેલી છે. ચૌલુક્યોની દ્વ્યાશ્રયમાંની વંશાવલિ પણ આ લેખોમાં તે જ ક્રમમાં જોવા મળે છે. અને ઐતિહાસિક પ્રસંગોનો નિર્દેશ દ્વ્યાશ્રયકાવ્યમાં નથી કરાયો, તેમાંના કેટલાક માટે કદાચ મૌખિક આખ્યાયિકાઓ ઉપરાન્ત વિશેષ સબળ પુરાવા મળ્યા ન પણ હોય. જો તેમ જ હોય, તો તે કવિની સજાગવૃત્તિ જ સૂચવે છે. સ્વ૦ રા૦ ચુ૦ મોદી કહે છે તેમ, શ્રી હેમાચાર્યે આ કાવ્યમાં પુરાવા વિનાની વિગતો ત્યજીને તથા કેવળ આખ્યાયિકાઓને વિના સંશોધને નહિ સ્વીકારતાં, એક સાચા ઇતિહાસકારને શોભે તેમ, યોગ્ય તુલનાપૂર્વક ઐતિહાસિક પ્રસંગોને સંગ્રહ્યા છે. દા૦ ત૦ માળવા પર ચઢેલા વલ્લભરાજને માર્ગમાં જ મૃત્યુ પામેલો ન વર્ણવતાં માળવા પર વિજય મેળવી પાછો આવતો ચીતરી કવિ કાવ્યને ઓપ પણ આપી શકત, પરન્તુ હકીકતને ફેરવવાનું આ સંયમી આચાર્યને રુચ્યું નથી. જ્યારે જયસિંહસૂરિ(ઈ. સ. ૧૩૬૬)એ તો પોતાના कुमारपालचरितમાં ચામુણ્ડરાજના હાથે માલવપતિ સિન્ધુરાજને હણાવ્યો છે ! આવી ઝીણી બાબતો પણ द्व्याश्रयमहाकाव्यનું મહત્ત્વ વધારે છે.

તત્કાલીન ગુજરાતની સમાજસ્થિતિ તથા સંસ્કૃતિ ઉપર પણ આ કાવ્ય ઘણો પ્રકાશ પાડે છે, જે એક સ્વતંત્ર નિબન્ધ માગી લે છે.

આ સર્વતોમુખી અવલોકનથી પ્રતીતિ થાય છે કે ભારતના સાંસ્કૃતિક અને રાજકીય ઇતિહાસના સાહિત્યમાં આ કાવ્યનું સ્થાન બહુ ઊંચું રહેશે. ખરેખર, ગુજરાતના એ સૌથી વધારે પ્રભાવશાળી મહારાજાધિરાજો ઉપર પરમ પ્રભાવ પાડનાર આચાર્ય શ્રીહેમચન્દ્રને ગુજરાતના પ્રથમ ઇતિહાસકાર ગણવામાં અને દ્વ્યાશ્રયમહાકાવ્યને ગુજરાતના પ્રથમ ઇતિહાસકાવ્ય તરીકે નવાજવામાં લેશ પણ અતિશયોક્તિ નથી.

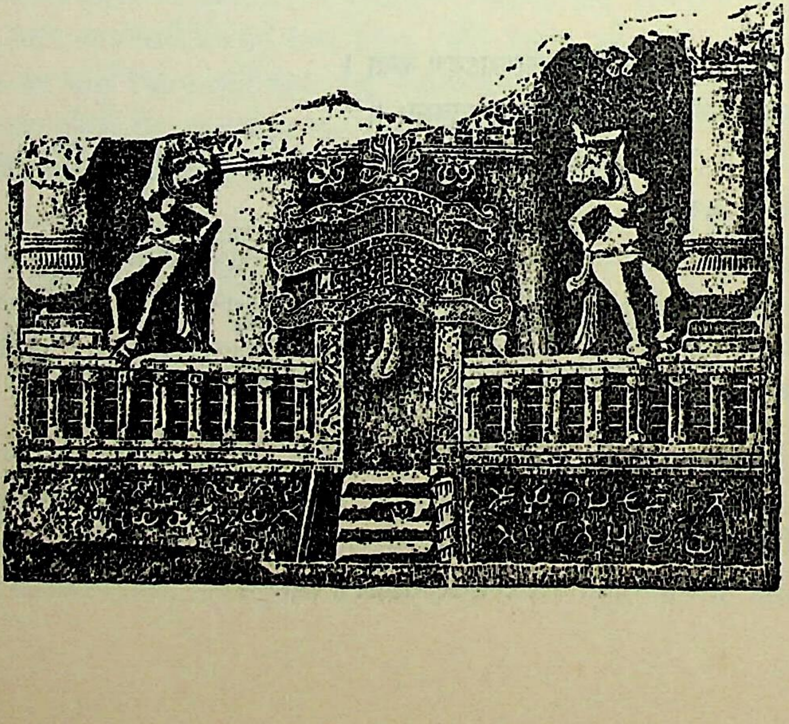

સોલંકી રાજવીઓનો ત્યાગધર્મ

શ્રી ચુનીલાલ વર્ધમાન શાહ

ગુજરાતમાં રાજ્ય ચલાવી ગયેલા સોલંકી વંશના રાજવીઓનો સમય ગુજરાત માટે સર્વ પ્રકારના વિકાસ તથા આબાદીનો સમય હતો. ધર્મસંસ્કારનું અને વિશેષે કરીને ત્યાગધર્મનું મહત્ત્વ ગુજરાતને એ કાળમાં વિશેષ સમજાયું. એ વંશના કેટલાક રાજવીઓએ તો ત્યાગધર્મને આચરણમાં મૂકીને ગુજરાતના લોકજીવન પર જે સુંદર છાપ પાડી હતી, તે ઇતિહાસમાં સુવર્ણાક્ષરે નોંધાયેલી રહેશે.

આર્યસંસ્કૃતિમાં પરાપૂર્વથી માનવજીવનના પ્રેય અને શ્રેયની વિચારણા થતી આવી છે. આર્યોએ જે જે ધર્મો સ્થાપ્યા તેમાં એ વિચારણા મુખ્યતયા પ્રવર્તેલી છે અને તેમાંથી જે સંપ્રદાયો નીકળ્યા તેઓએ પણ એ જ વિચારણાપૂર્વક પ્રેય તથા શ્રેય પ્રત્યે તર-તમ દૃષ્ટિ દાખવી છે. વૈદિકોની વિચારણાનો જે કાંઈ ઇતિહાસ સાંપડે છે તેમાં એક વાર પ્રેયદૃષ્ટિની વિશેષતા દેખાય છે તો બીજી વાર તેમાંથી શ્રેયદૃષ્ટિ ઉત્પન્ન થઈ હોય એવું ય માલૂમ પડે છે. વૈદિકોની પૂર્વે શ્રેયદૃષ્ટિ નહોતી એમ કહી શકાય તેમ નથી. ભારતમાં આવેલા આર્યોમાં એવી બે શાખા હતી તેના પુરાવા મળે છે. પ્રેયદૃષ્ટિમાંથી બહુધા ઐશ્વર્યવાદ અને દેવોપાસનાવાદ વિકસ્યો છે અને શ્રેયદૃષ્ટિમાંથી આત્મકલ્યાણસાધના અથવા ત્યાગવાદ વિકસ્યો છે. એ ત્યાગવાદનું બીજ જૈન ધર્મમાં રહેલું છે. બૌદ્ધ ધર્મમાં પણ તે જ છે. પૌરાણિક વૈદિક માર્ગમાં દેવોપાસનાનું બીજ રહેલું છે. બેઉનાં આત્યંતિક સ્વરૂપો જ્યારે જ્યારે સમાજના સમધારણમાં ગૂંચવણ ઉત્પન્ન કરનારાં લાગ્યાં છે, ત્યારે ત્યારે બેઉનો સમન્વય કરનારા માર્ગો યોજાયા છે. વૈદિક ધર્મમાં એ સમન્વયને પ્રબોધનારાં ઉપનિષદો છે. જૈન ધર્મ ત્યાગમાર્ગમાં દૃઢ રહ્યો છે, પણ તેના આત્યંતિક સ્વરૂપે તેના આરાધકોને ઓછા કરી નાખ્યા છે, અને એવો કાળ આવી રહ્યો છે કે જ્યારે આત્મકલ્યાણરૂપ શ્રેયની સાથે સંસારના તથા સમાજના હિતરૂપ પ્રેયની આરાધનાને વિસારી મૂકવાનું પાલવશે નહિ.

ગુજરાતમાં રાજ્ય કરી ગયેલા સોલંકી રાજવીઓએ રાજશાસન ચલાવવા છતાં ત્યાગધર્મના અવલંબનનું સુંદર દૃષ્ટાંત પૂરું પાડ્યું છે. એમ તો મગધમાંથી પણ એવા જ દૃષ્ટાંતો મળે છે, પણ તે ઐતિહાસિક કરતાં પૌરાણિક વિશેષ છે. સોલંકીવંશના રાજવીઓની ત્યાગધર્મની આરાધનાના પુરાવા ઇતિહાસમાંથી સારી પેઠે ઉપલબ્ધ થાય છે.

એ સોલંકી રાજવીઓનો આદિ પુરુષ મૂળરાજ હતો. મૂળરાજે ચાવડા વંશના પોતાના મામાનું રાજ્ય પડાવી લીધું હતું. તેનામાં જાણે પોતાના પૂર્વજોના પ્રદેશ કાન્યકુબ્જના ઋષિઓના જીવનસંસ્કાર ઊતર્યા હોય તેમ તેણે રાજશાસન ચલાવવાની સાથે સંસારત્યાગી તાપસો, ઋષિઓ, બ્રહ્મચારીઓની સંપર્કસાધના કર્યા કરી હતી. તે શૈવધર્મ પાળતો અને જૈન ધર્મને સારું માન આપતો. પ્રજાને સંસ્કારદાન કરવાનું તેનું મોટામાં મોટું કાર્ય એ હતું કે તેણે ઉત્તર પ્રદેશમાંથી ઋષિઓને–બ્રાહ્મણોને નિમંત્રી, તેમને ભૂમિ, ધન અને પશુઓનું દાન કરી, નાનાં–મોટા શિવાલયો બંધાવી, ગુજરાત-સૌરાષ્ટ્રમાં જ્ઞાન-સંસ્કારની પરબો સ્થાપી હતી. એ કાર્ય પાછળ તેણે પુષ્કળ ધન વાપર્યું હતું. તે કાળનાં મન્દિરો તથા તાપસોના આશ્રમો સંસ્કારધામો તથા ગુરુકુળો સમાં હતાં. મૂળરાજે દાનશાળાઓ સ્થાપીને રાજ્યમાં દાનવ્યવસ્થાનો અધિકારી પણ નીમ્યો હતો. તેનાં કેટલાંક દાનપત્રો ઉપલબ્ધ થયાં છે.

મૂળરાજે અનેક પરાક્રમો કરીને રાજ્ય જમાવ્યું હતું, તેમ રાજ્યનું ધન પ્રજાના પ્રેય-શ્રેયને માટે વાપરીને સમૃદ્ધિત્યાગનું દૃષ્ટાંત પોતાના વંશજોને માટે મૂક્યું હતું. એટલું કર્યા પછી વૃદ્ધ વયે તેણે રાજ્યનો ત્યાગ કરી, શ્રીસ્થળમાં સંન્યાસી તરીકે રહી પ્રભુભક્તિમાં છેવટનાં વર્ષો ગાળ્યાં હતાં.

મૂળરાજની પછી ગુર્જરેશ્વરની ગાદી પર જે જે સોલંકી વંશના રાજપુરુષો આવ્યા તેઓમાં ત્યાગધર્મની આરાધના કેટલાક કાળ સુધી જાણે સ્વાભાવિક બની હોય તેમ ચાલુ રહી. તેની પછી ચામુણ્ડ ગુર્જરેશ્વર થયો. તે શૈવ ધર્મ પાળતો, છતાં એક જૈન આચાર્યને તેણે ગુરુપદે સ્થાપી તેમના ઉપદેશનો લાભ લીધો હતો. તેણે ચાળીસેક વર્ષની વયે ગાદીએ બેસી ૧૩ વર્ષ રાજ્ય કરી રાજાપદનો ત્યાગ કર્યો હતો, એટલે તેના પુત્ર વલ્લભરાજને ગાદી પર બેસાડવામાં આવ્યો હતો. ચામુણ્ડમાં કામલોલુપતા વિશેષ હતી, એટલે પોતાની બહેનના આગ્રહથી તેણે ઇંદ્રિયદમન માટે સંન્યસ્ત લીધું હતું એમ ઇતિહાસ પરથી જણાય છે. સંન્યાસી વેશે કાશીની યાત્રાએ જતાં માળવાના પરમાર રાજાએ તેની પજવણી કરી હતી તેથી તે પાછો ફર્યો હતો, અને તેના પુત્રોએ માલવનરેશને હરાવ્યા પછી તેનો યાત્રામાર્ગ મુક્ત થયો હતો. પરંતુ ત્યાર પછી ચામુણ્ડ વધુ જીવ્યો નહિ. તેણે શુકલતીર્થમાં તપસ્યા કરતાં દેહત્યાગ કર્યો હતો.

ચામુણ્ડની પછી, વલ્લભરાજના ઓચિંતા મૃત્યુથી, દુર્લભરાજ ગુર્જરેશ્વર થયો. તેણે લોકોપયોગ માટે ‘ દુર્લભ સરોવર ’ બંધાવેલું જેને નવો ઘાટ આપી સિદ્ધરાજે ‘ સહસ્રલિંગ ’ તૈયાર કરાવેલું. દુર્લભરાજે પોતાના ભાઈ નાગરાજના પુત્ર ભીમદેવને રાજસિંહાસન પર સ્થાપિત કરીને સંન્યાસ અંગીકાર્યો હતો.

ભીમદેવ પ્રતાપી ગુર્જરેશ્વરોમાંનો એક હતો. તેના સમયમાં મહમુદ ગઝનવીએ તોડેલું સોમનાથનું શિવાલય તેણે ફરી બંધાવ્યું હતું. તેણે માળવા સાથે લડીને યશવિસ્તાર કર્યો હતો અને રાજ્યવિસ્તાર પણ કર્યો હતો. મંદિરો બાંધવામાં, દાનો આપવામાં તેણે દ્રવ્યનો ઉપયોગ સારી પેઠે કર્યો હતો. વૃદ્ધાવસ્થા થતાં તેણે તાપસ જીવન અંગીકારવાનો નિશ્ચય કર્યો અને તે પૂર્વે મોટા પુત્ર ક્ષેમરાજનો રાજ્યાભિષેક કરવાનો તેનો મનોભાવ હતો, પરંતુ ક્ષેમરાજ તો જુવાન વયથી તાપસ જીવનનો અનુરાગી હતો. તેણે રાજ્ય લેવાની ના કહી અને ગૃહત્યાગ કરી દધિસ્થળી પાસે આશ્રમ સ્થાપી ત્યાં નિવાસ કર્યો. આથી ભીમદેવે બીજા પુત્ર કર્ણદેવનો રાજ્યાભિષેક કરી પોતે તાપસ જીવન ગાળ્યું.

કર્ણદેવ મહાપરાક્રમી ગુર્જરેશ્વર હતો. તેણે કર્ણાવતી નગર વસાવ્યું હતું જે હાલનું અમદાવાદ છે. તેણે અત્યન્ત નાની વયના પુત્ર જયસિંહનો રાજ્યાભિષેક કરી સ્વર્ગગમન કર્યું હતું એમ ઇતિહાસ કહે છે.

સિદ્ધરાજ જયસિંહની નાની વયમાં તેની માતા મિનળદેવી રાજ્યનો કારભાર ચલાવતી હતી. સિદ્ધરાજ જેવો પરાક્રમી નીવડ્યો તેવો જ તે વિદ્યાપ્રેમી પણ હતો. ‘ સિદ્ધહૈમ ’ વ્યાકરણ, ‘ સહસ્રલિંગ સરોવર અને ‘ રુદ્રમહાલય ’ આદિ તેની કીર્તિનાં સ્મારકો છે. પરન્તુ કર્ણદેવથી તૂટેલી સોલંકી રાજવીઓની ત્યાગધર્મની આરાધના સિદ્ધરાજે ન કરી. તે અપુત્ર મૃત્યુ પામતાં ક્ષેમરાજનો પૌત્ર કુમારપાળ ગુર્જરેશ્વર થયો.

કુમારપાળ શૈવ અને જૈન ધર્મનો સંયુક્ત ઉપાસક હશે, એમ તેણે કરેલાં કેટલાંક ધર્મકાર્યો પરથી જણાય છે. તેણે શત્રુંજયની યાત્રા કરી હતી તેમ સોમનાથની યાત્રા ય કરી હતી. બેઉ ધર્મનાં તીર્થસ્થાનોનો તેણે ઉદ્ધાર કર્યો હતો. તેના જીવન ઉપર હેમચંદ્રાચાર્યના ઉપદેશનો એટલો પ્રભાવ પડ્યો હતો કે તે વિશેષાંશે જૈન ધર્મનો આરાધક રહ્યો હશે એમ માનવું ઘટે છે. કુમારપાળની ધર્મરુચિ અનુપમ હતી. તેણે સ્વયં ધર્મારાધન કરવા ઉપરાંત લોકોને ધર્મારાધક બનાવવા અને નિત્યજીવનમાં સુખી વા નમથકર

કર્યું હતું. તેણે ધનની, સુખ-વિલાસની અને અનેક સંસારી વસ્તુઓની આસક્તિ વ્રતગ્રહણ દ્વારા છોડી હતી. તે મૃત્યુ સુધી રાજા રહ્યો પરંતુ તેનું જીવન સંયમવડે શ્રેયોમાર્ગનું આરાધક નીવડ્યું હતું એમ જણાઈ આવે છે.

કુમારપાળ પછીના સોલંકી વંશના રાજવીઓમાં ત્યાગધર્મનું આરાધન ઉત્તરોત્તર ઘટતું ચાલ્યું હતું. માંહોમાંહેના સંઘર્ષણથી તેઓ ઘસાવા લાગ્યા હતા અને જીવનકલહમાં દટાઈ રહેવાથી સોલંકી વંશની ઊતરતી કળા આવી હતી.

રાજા રાજ્ય કરે, યુદ્ધો કરે, હિંસા કરે, પીડન કરે અને રસથી અનેક પ્રકારનાં સુખો માણે; એવો રાજવી વૃદ્ધ થાય, શક્તિ ઘટે, ઇંદ્રિયો શિથિલ બને, વિલાસની તૃપ્તિ અનુભવે અને પછી પુત્રને રાજ્ય સોંપી વાનપ્રસ્થ થાય, તાપસ બને, કિંવા સંન્યાસી બની એકાકી જીવન ગાળે અને છેવટે મૃત્યુ પામે : તે શું બહુ મહત્ત્વની ઘટના છે? પહેલાં પાપ કરવું અને પછી પાપનાં પ્રક્ષાલનનાં સત્કાર્યો કરવાં એ શું દંભાચરણ નથી? આવા પ્રશ્નો સોલંકી રાજવીઓ પૂરતા ઉપસ્થિત થતા નથી, તે પૂર્વે અને તે પછી થયેલા અનેક રાજવીઓ અને ઇતર વ્યક્તિઓને તે સ્પર્શે છે, કે જેમણે ઉત્તર જીવનમાં વાનપ્રસ્થ થવાનું કે સંસાર ત્યજી તપોમય જીવન ગાળવાનું ઇષ્ટ માન્યું હતું.

ત્યાગ ત્યારે જ ત્યાગ છે કે જ્યારે માનવી સિદ્ધિ-સમૃદ્ધિ સંપાદન કરનાર, પરાક્રમી કે વીરત્વશાલી હોય અને એ તરફ આસક્તિ ન રાખતાં તેનો ત્યાગ કરવા તત્પર બને. ત્યાગનું એ ઉચ્ચ બિંદુ છે. અસમર્થ કે અશક્તિમાનનો ત્યાગ તે ત્યાગના નામને યોગ્ય જ લેખાય, તે નિર્વીર્યત્વ કહેવાય. સ્વાભાવિક રીતે રજ-તમ-સત્ત્વના સંમિશ્રણરૂપ મનુષ્ય જીવનમાં પોતાના તેજને સ્ફુરાવવા લાગે છે. એ સ્ફુરણા દ્વારા કરેલી સિદ્ધિ કે પ્રાપ્ત કરેલી સમૃદ્ધિ પરની તેની આસક્તિ ત્યારે જ છૂટે છે—ઘટે છે—કે જ્યારે તેનો સત્ત્વગુણ ઉદયમાં આવે છે, પ્રિય વસ્તુની પ્રાપ્તિ કરતાં પ્રાપ્ત વસ્તુ પ્રત્યેનો રાગ ઘટે છે અને તેનો ત્યાગ કરવામાં રસ જાગે છે; એ રીતે તેને શ્રેયસ્‌નો—આત્મકલ્યાણનો પથ સાંપડે છે. પૂર્વકાળે જે જે રાજવીઓએ—જૈનો કે જૈનેતરોએ—પરાક્રમો કર્યાં છે અને પછી સંસારનો કે સુખસમૃદ્ધિનો ત્યાગ કર્યો છે તે પ્રેય અને શ્રેયનો સમન્વય છે અને આત્મકલ્યાણાર્થે કરાતા એકાંત સંસારત્યાગ કરતાં ઓછો મહત્ત્વનો નથી.

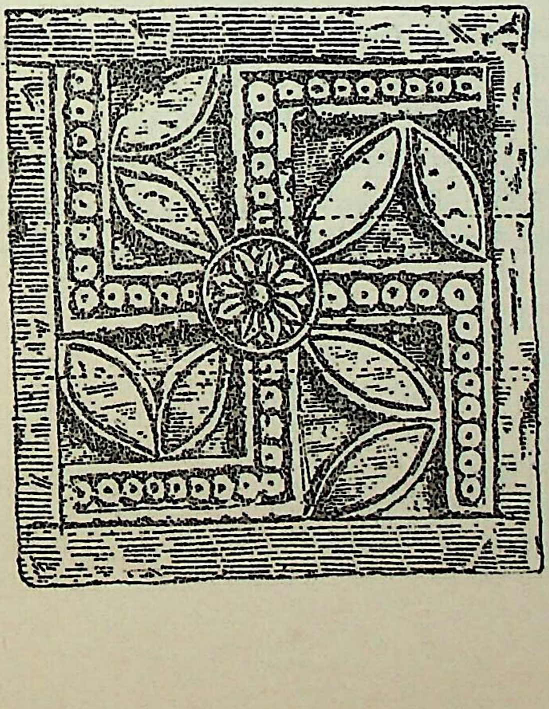

યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા

શ્રી કનૈયાલાલ ભાઈશંકર દવે

વૈદિક, બૌદ્ધ અને જૈન એ ત્રણે સંપ્રદાયોમાં યક્ષપૂજા સ્વીકારાઈ છે. તેની ઐતિહાસિકતા તપાસતાં તે અતિ પ્રાચીનકાળથી ઊતરી આવી હોવાનું જણાય છે. યક્ષો પ્રધાનદેવોના પરિવારમાં ગણાતા હોઈ, તેઓને દેવોના અનુચરો તરીકે કેટલેક સ્થળે બતાવ્યા છે. દેવતાઓની માફક યક્ષો, ગંધર્વો, અને વિદ્યાધરોના સ્વતંત્ર ગણો હોવાનું ધર્મશાસ્ત્રકારોએ માન્યું છે. તેઓને દેવોના કાર્યમાં મદદ કરનારા તેમના સેવકો તરીકે શાસ્ત્રકારોએ કલ્પ્યા છે. વૈદિક સંપ્રદાયમાં તો વેદથી આરંભી પુરાણો વગેરે કથાગ્રંથોમાં, તેમના વિવિધ ઉલ્લેખો રજૂ કરતાં यक्षगंधर्वराक्षसा : કહી યક્ષો, રાક્ષસો અને ગંધર્વોને એક જ કોટિમાં મૂક્યા છે. આથી યક્ષગણો દેવોથી ઊતરતી કોટિના હતા એમ સ્પષ્ટ જણાય છે. ભગવદ્‌ગીતામાં પણ यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ॥ એ ઉક્તિ અનુસાર, રાજસી-કામનાઓની ઇચ્છાવાળા યક્ષો-રાક્ષસો વગેરેની ઉપાસના કરતા હોવાનું ભગવાન્ કૃષ્ણે અર્જુનને જણાવ્યું છે.[1]

બૌદ્ધ સંપ્રદાયમાં તો યક્ષગણો પ્રત્યે લોકો પૂજ્યભાવ રાખતા હોવાના ઉલ્લેખો મળ્યા છે એટલું જ નહિ, પણ કેટલાક યક્ષો બૌદ્ધમતવાદી નહિ હોવાનું સુત્તનિપાતની એક આખ્યાયિકા ઉપરથી જાણવા મળે છે. બુદ્ધ ભગવાન જ્યારે આલવક ગામમાં ગયા ત્યારે તેમણે આલવક યક્ષના પ્રશ્નોનું સમાધાન કરી તેને બૌદ્ધ બનાવ્યો હોવાનું તે ગ્રંથકારે નોંધ્યું છે.[2] સંયુક્તનિકાય અને મહામાયૂરી ગ્રંથમાંથી જુદા જુદા યક્ષો અને તેનાં સ્થાનોની વિસ્તૃત માહિતી મળી આવે છે.[3] સુત્તનિપાતમાં પણ યક્ષોના સ્વતંત્ર મંદિરો હોવાના ઉલ્લેખો નોંધાયા છે.[4]

જૈન સંપ્રદાયમાં યક્ષપૂજા પ્રાચીનકાળથી પ્રચારમાં આવી હોવાનું જાણવા મળે છે. પ્રત્યેક તીર્થંકરોને સ્વતંત્ર યક્ષો હોવાનું રૂપાવતાર નિર્વાણકલિકા, અને પ્રતિષ્ઠાસારસંગ્રહ વગેરે ગ્રંથોમાં જણાવ્યું છે.[5] આથી જ દરેક તીર્થંકરોની પ્રતિમાના પરિકરોમાં, યક્ષો અને શાસનદેવીઓની મૂર્તિઓ, ખાસ કરીને મૂકવામાં આવે છે. તીર્થંકરોના યક્ષો સિવાય પૂર્ણભદ્ર, મણિભદ્ર, શાલિભદ્ર, લક્ષરથ, પૂર્ણરથ, શ્રવણ, સારવ્યલ, સર્વકામ, સમૃદ્ધિ, કડવક અને અસ્થાતા વગેરે યક્ષોનાં નામ કેટલાંક જૈન ધર્મશાસ્ત્રોમાંથી મળે છે. કલ્પસૂત્રમાં શૂલપાણિ, મુદ્ગરપાણિ, ઘંટિકયક્ષ, અને ભાંડીરયક્ષના ઉલ્લેખો નોંધાયા હોઈ, ભાંડીરયક્ષનું સ્થાન મથુરામાં તથા શૂલપાણિનું ચૈત્ય રાજગૃહમાં હોવાનું નોંધ્યું છે.[6] ઘંટીકયક્ષની આખ્યાયિકા નોંધતાં આ જ ગ્રંથકાર નોંધે છે કે, ડોંબી તેનો ભક્ત હતો અને જ્યારે જરૂર પડે ત્યારે, તે પોતાના ઉપાસ્યદેવ ઘંટીકયક્ષને પ્રશ્નો પૂછી, તેના સાચા જવાબો લોકોને કહેતો હતો.[7]

---

[1] ભગવદ્‌ગીતા અ. ૧૭ શ્લો. ૪

[2] સુત્તનિપાત આલવાકસુત્ત

[3] સંયુત્તનિકાય ૧. ૧૦. ૪ મહામાયૂરી બાય સેલ્વીનલેવી. પા. ૮૮

[4] સુત્તનિપાત. યક્ખસુત્ત

[5] નિર્વાણકલિકા પા. ૩૦થી ૩૭ રૂપાવતાર પા. ૧૩૫થી ૧૪૩

[6] બૃહત્કલ્પસૂત્ર. ક્ષેમંકરકીર્તિની વૃત્તિ પા. ૧૪૮૯

[7] એજન. – વિ. ૨. પા. ૪૧૪

આચારાંગ સૂત્રકારે મથુરામાં ભૂતગુહા નામે યક્ષાયતનની નોંધ લેતાં, તે આચાર્ય આર્યરક્ષિતે તેમાં કેટલોક વખત નિવાસ કર્યો હોવાનું જણાવ્યું છે.[૮] અંતકૃતદશાસૂત્ર દ્વારકા પાસે નંદનોદ્યાનમાં સુરપ્રિય યક્ષના મંદિરની નોંધ લે છે.[૯] વઢવાણ પાસે શૂળપાણિયક્ષના ઉપસર્ગની સ્થાપના છે. આથી પૂર્વકાળમાં અહીં શૂળપાણિયક્ષનું સ્થાન હશે, એમ તો જરૂર લાગે છે. આજે પણ વઢવાણ શહેરની બહાર શૂળપાણિયક્ષની દેરી મોજૂદ છે. તેવી જ રીતે શૌરિપુરમાં સારાંબરયક્ષના મંદિરની નોંધ પાક્ષિક સૂત્રકારે આપી છે.[૧૦] આનંદપુર(હાલનું વડનગર)ની અંદર યક્ષપૂજા સારી રીતે પ્રચલિત હતી, એમ આવશ્યક સૂત્રમાં જણાવ્યું છે.[૧૧] ઈ૦ સ૦ના પાંચમા-છઠ્ઠા સૈકામાં રચાયેલ, વાચક સંઘદાસગણિની વસુદેવહિંડીમાંથી સુરૂપ અને સુમનસ યક્ષોની નોંધ મળે છે.[૧૨] આ બધા પુરાવાઓ જૈન સંપ્રદાયમાં યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા વ્યક્ત કરતા હોઈ, તેમાં જણાવેલા બધા યક્ષો ઉપાસ્યદેવો તરીકે તે કાળે પ્રચલિત હતા કે કેમ, તેનો સ્પષ્ટ જવાબ આપવો મુશ્કેલ છે. છતાં કેટલાક યક્ષોની ઉપાસના તત્કાલીન સમાજમાં વહેતી હતી એમ પ્રાપ્ત ઉલ્લેખો ઉપરથી સમજી શકાય તેમ છે.

આ સિવાય ઐહિક કામનાઓ પરિપૂર્ણ કરનાર દેવ તરીકે વધુ માન્ય બનેલ મણિભદ્રયક્ષની ઉપાસના જૈન સંપ્રદાયમાં સારી રીતે પ્રચાર પામી છે. વૈદિક અને બૌદ્ધ સંપ્રદાયોમાં પણ, મણિભદ્રને યક્ષરાટ્ અર્થાત્ યક્ષોના અધિરાજ તરીકે જણાવતાં, તેની ઉપાસના માટે વિધિવિધાનો રજૂ કર્યાં છે. યક્ષોનો અધિપતિ કુબેર ગણાતો હોવા છતાં તેઓનો આદ્યપુરુષ મણિભદ્ર હોવાનું હિંદુ ધર્મનાં પુરાણો કહે છે. કશ્યપે સારી સૃષ્ટિનું નવસર્જન કર્યું ત્યારે, ખશા નામની પત્નીથી રજતનાભ નામે પુત્ર થયો. આ રજતનાભ મણિભદ્રનો પિતા હોવાનું વિષ્ણુધર્મોત્તર પુરાણમાં જણાવ્યું છે.[૧૩] પુરાણકાર યક્ષગણનો વિસ્તાર મણિભદ્ર અને તેના ભાઈ પૂર્ણભદ્રથી થયો હોવાનું સૂચવતાં તે બધા પુણ્યજન યક્ષો થયા હોવાનું કહે છે. આથી મણિભદ્ર યક્ષગણનો આદિ પૂર્વજ હતો એમ પુરાણોના આધારે જાણવા મળે છે. મહાભારત કાળે પણ મણિભદ્રયક્ષની ઉપાસના જાણીતી હતી. દમયંતી જ્યારે એકલી નિઃસહાય દશામાં વનમાં ભૂલી પડી ત્યારે તેને એક સાર્થવાહનો ભેટો થયો. આ સાર્થવાહ દમયંતીની વિતક વાર્તા સાંભળી તેના પ્રત્યે અનુકંપા પ્રદર્શિત કરતાં, મણિભદ્રયક્ષ પ્રસન્ન થાઓ, એવો આશીર્વાદ આપે છે.[૧૪] મોટે ભાગે સાર્થવાહો વ્યાપારી વૈશ્યો હોય એવી સામાન્ય માન્યતા છે. વૈશ્યોમાં મણિભદ્રની ઉપાસના શ્રદ્ધેય બની હોવાથી, તે કાળે પણ વ્યાપારીવર્ગમાં મણિભદ્ર યક્ષ પ્રત્યે વધુ પૂજ્યભાવ સેવાતો હોવાનું, અપરોક્ષ રીતે આમાંથી સૂચન મળે છે.

બૌદ્ધ સંપ્રદાયમાં કુબેરયક્ષને ઝંભલ તરીકે ઓળખવામાં આવે છે. તેની ઉપાસના માટે સ્વતંત્ર વિધિવિધાનો અને અનુષ્ઠાનો બૌદ્ધ તંત્રગ્રંથોમાં જણાવ્યાં છે. આ ઝંભલ અર્થાત્ કુબેરના અનુષ્ઠાનમાં મણિભદ્ર

---

[૮] આચારાંગસૂત્ર ચૂર્ણિ. પા. ૧૩૧

[૯] અંતકૃત દશાસૂત્ર પા. ૧

[૧૦] પાક્ષિકસૂત્ર યશોદેવસૂરિની વૃત્તિ પા. ૬૭

[૧૧] આવશ્યક સૂત્રચૂર્ણિ. પા. ૩૩૧

[૧૨] વસુદેવહિંડી. ગુ. ભાષાંતર ડૉ. ભોગીલાલ સાંડેસરા પા. ૪૪૧–૧૦૮

[૧૩] कश्यपस्य तु या पत्नी खसा नाम्नी त्वयेरिता ।
यस्याः पुत्री महात्मानौ कथितौ यक्ष राक्षसौ ॥२॥ विष्णुधर्मोत्तर-पु. खं. १ अ. १३७

[૧૪] મહાભારત, વનપર્વ, નલોપાખ્યાન

તથા પૂર્ણભદ્રને કુબેરના અગ્રભાગે બેસારવાનું સાધનમાલામાં જણાવ્યું છે.[૧૫] મણિભદ્ર યક્ષગણોનો આદિપુરુષ હોવા છતાં, તે કુબેરનો અનુચર–સેવક હતો એમ અનેક પુરાણોમાં નોંધ્યું છે. આ પરંપરાને અનુલક્ષી, ઝંભલના અનુષ્ઠાનમાં મણિભદ્રને તેના સેવક તરીકે સ્થાન મળ્યું હશે એમ માનવાને કારણ મળે છે એટલું જ નહિ, પણ બૌદ્ધ સંપ્રદાયમાં, મણિભદ્ર કુબેરના પરિવાર દેવ તરીકે સુપ્રસિદ્ધ હતા એમ સ્પષ્ટ જણાવે છે. મણિભદ્રનાં સ્વતંત્ર મન્દિરો પણ તે કાળે વિદ્યમાન હોવાની નોંધ મળે છે. મહામાયૂરીના કથન મુજબ તેમનો સ્વતંત્ર સંપ્રદાય તે સમયે બ્રહ્માવતીમાં હતો.[૧૬] પવાયા પ્રાચીન પદ્માવતીથી પ્રાપ્ત મણિભદ્રની એક શિરોભગ્ન પ્રતિમા આજે પણ ગ્વાલિયર મ્યુઝિયમમાં મૂકેલી છે. તેની નીચે પટ્ટીમાં કોતરેલ લેખના આધારે આ પ્રતિમા શિવનંદીના ચોથા વર્ષમાં પ્રતિષ્ઠિત કરી હોવાનું જાણવા મળે છે.[૧૭] આથી તે ઈ૦ સ૦ ના પહેલાબીજા સૈકા જેટલી પ્રાચીન હોવાનું વિદ્વાનો એ અનુમાન્યું છે.

જૈન સંપ્રદાયમાં તીર્થંકરોના યક્ષો સિવાય અન્યતર યક્ષોમાં મણિભદ્રનું સ્થાન અનન્ય હોવાનું સમજાય છે. સર્વકામનાઓ પરિપૂર્ણ કરનાર, એક ઉપાસ્ય દેવ તરીકે તેની ઉપાસના માટે અનુષ્ઠાનવિધાનો પણ રચાયાં છે. વાચક સંઘદાસગણિની વસુદેવહિંડીમાં, પ્રદ્યુમ્ન અને સાંબના પૂર્વજન્મની આલોચના કરતાં, તેઓ બન્ને આગળના જન્મમાં મણિભદ્ર અને પૂર્ણભદ્ર નામના શ્રેષ્ઠી હતા એવો ઉલ્લેખ છે.[૧૮] જો કે મણિભદ્રયક્ષ, અહીં પ્રદ્યુમ્નના ગત જન્મના મણિભદ્ર શ્રેષ્ઠી તરીકે અભિપ્રેત નથી છતાં મણિભદ્ર અને પૂર્ણભદ્ર નામોનું સામ્ય વિચારતાં જૈન, વૈદિક અને બૌદ્ધ એમ ત્રણે સંપ્રદાયોમાં મણિભદ્ર એક ભવ્ય પુરુષ તરીકે વિખ્યાત બન્યા હોવાનું તેની પાર્શ્વભૂમિકા જણાવે છે. શ્વેતાંબરોના કેટલાક ઉપાશ્રયોમાં આજે પણ મણિભદ્રયક્ષના સ્થાનો જોવામાં આવે છે. તપાગચ્છના તો તેઓ મુખ્ય વીરશ્રેષ્ઠ ગણાતા હોઈ, રવિકીર્તિએ મણિભદ્ર છંદમાં તેમને તપાગચ્છ કુલમંડણ તરીકે બિરદાવ્યા છે.[૧૯] આમ ભારતની મુખ્ય ધર્મત્રયીમાં સુપ્રસિદ્ધ બનેલ મણિભદ્રયક્ષ, એક વિશિષ્ટદેવ તરીકે જૈન સંપ્રદાયમાં ઉપાસ્ય બન્યા હતા એમ સમજાય છે. તેટલું જ નહિ પણ લક્ષ્મીપ્રદાતા અને કાર્યસિદ્ધિ આપનાર દેવ તરીકે તેમની ઉપાસના પ્રાચીન કાળમાં વધુ લોકાદર પામી હતી એવા ઉલ્લેખો મળે છે.

વિવિધતીર્થકલ્પમાં જીનપ્રભસૂરિએ શત્રુંજય પર્વતનું પરમપવિત્ર મહાત્મ્ય આલેખેલું છે. તેમાં આ તીર્થના રક્ષક કપર્દિયક્ષનો પણ સ્વતંત્ર કલ્પ લખતાં, આ યક્ષનું અહીં સ્થાન હોવાનું સૂચવ્યું છે. આ કપર્દિયક્ષની ઉપાસના ભગવાન કૃષ્ણે અહીં એક ગુફામાં કરી હતી.[૨૦] આ સિવાય ઉદયપ્રભસૂરિએ ધર્માભ્યુદય અપરનામ સંઘાધિપતિચરિત્રમાં, કપર્દિયક્ષોત્પત્તિ જણાવતાં તે કેવી રીતે જૈનધર્માવલંબી થઈ, શત્રુંજય પર્વત ઉપર યક્ષ બન્યો તે જણાવ્યું છે.[૨૧] આ બધા ગ્રંથોમાં તેને ગ્રામમહત્તર, અર્થાત્ ગામના પટેલ તરીકે સૂચવતાં, તે સુરાપાન વગેરે નિંદ્ય વ્યસનો સેવતો હતો. જેને કોઈ સૂરિશ્વરે

---

[૧૫] સાધનમાલા ભાગ ૨, ઝંભલસાધન પા. ૫૬૦

[૧૬] મહામાયૂરી બાય સેલ્વીન લેખ પા. ૮૯

[૧૭] राशः स्वामी शिवनंदीस्य संवत्सरे चतुर्थे...... मगिभद्र भक्ता गर्भ सुसिना भगवतो मणिभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति ॥ गोष्ठय भगवा आयु वळं वाचं ॥ આર્કેયૉલૉજીકલ સર્વે ઑફ ઈન્ડિયા એન્યુઅલ રિપોર્ટ. ૧૬૧૫–૧૬ પા. ૧૦૫–૬.

[૧૮] વાસુદેવહિંડી. ગુ. ભાષાંતર ડૉ. ભોગીલાલ સાંડેસરા પા. ૧૦૮

[૧૯] ઘંટાકર્ણ મંત્રતંત્ર કલ્પ. સંપાદક શ્રી. સારાભાઈ નવાબ પા. ૩૫

[૨૦] વિવિધતીર્થકલ્પ. કપર્દિયક્ષકલ્પ

[૨૧] ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્ય. સર્ગ ૭ પા. ૫૭–૫૮

પ્રબોધ આપી ભગવાન જીનેશ્વરનો મહાન ભક્ત બનાવ્યો. તે કાળધર્મ પામતાં અહીં શેત્રુંજય પર્વત ઉપર યક્ષ થયો અને આમહાતીર્થના રક્ષક તરીકે[૨૨] સ્થાન પામ્યો. આવી જ આખ્યાયિકા પુરાતન પ્રબંધ સંગ્રહમાં નોંધાઈ છે જેમાં તેને કોળી જણાવ્યો છે. કાર્પદયિક્ષની આખ્યાયિકા ગમે તે હો, પરંતુ પ્રભાવક યક્ષ તરીકે પૂજાતા અને, ભગવાન્ કૃષ્ણ જેવાએ જેની ઉપાસના કરી હોય, તે આવો શુદ્ર આત્મા ત્યાં પુજાતો હોવાની સંભાવના માટે શંકા રહે છે. છતાં એટલું તો સ્પષ્ટ છે કે કપર્દિયક્ષ પ્રત્યે જૈન સંપ્રદાયમાં પૂર્વકાળથી પૂજ્યભાવ હતો એટલું જ નહિ, પણ સંઘાધિપતિ મહામાત્ય વસ્તુપાળે આ યક્ષનો પ્રાસાદ શત્રુંજય પર્વત ઉપર બંધાવ્યો હતો. પુરાતન પ્રબંધસંગ્રહમાં તેના માટે જણાવ્યું છે કે, એક વખત શત્રુંજય પર્વત ઉપર વસ્તુપાળે કપર્દિયક્ષનો પ્રાસાદ બંધાવવાનું શરૂ કર્યું. જ્યાં જ્યાં તેઓ પ્રાસાદ બંધાવતા, ત્યાં ત્યાં તેમને ભૂમિગત–નિધિ–દ્રવ્ય પ્રાપ્ત થતું. તે જ પ્રમાણે આ પ્રસાદનું કામ શરૂ કરતાં, પાષાણો ખોદવા માંડ્યા ત્યારે, એક પાષાણશિલા નીચે, મોટો સર્પ લોકોના જોવામાં આવ્યો. પરંતુ મંત્રીશ્વરે ત્યાં આવી જોયું તો, તે અમૂલ્ય રત્નમંડિત એકાવલી હાર હતો. તેમણે બધાના દેખતાં તે હાર ઉપાડી લીધો અને કપર્દિયક્ષની અનન્ય ભાવે સ્તુતિ કરતાં, નીચે પ્રમાણે શ્લોક ઉચ્ચાર્યો :

चिंतामणिं न गणयामि न कलयामि, कल्पद्रुमं मनसि कामगविं न वीक्ष्ये ॥
ध्यायामि नो निधिमवीनगुणातिरेकमेकं कपर्दिनमहर्निशमेव सेवे ॥ १ ॥

ત્યારપછી તેમણે ત્યાં કપર્દિયક્ષનો પ્રાસાદ બંધાવ્યો.[૨૩] આમ જૈન સંપ્રદાયમાં કપર્દિયક્ષ અતિ પ્રાચીનકાળથી એક પરિવાર દેવ તરીકે પૂજ્ય મનાય છે. આ સિવાય શત્રુંજય પર્વત ઉપર મસાલીવાળા દેરાસરની પાસે એક દેરીમાં કવડયક્ષનું સ્થાન છે. આનું મૂળ નામ કડવક હશે પરંતુ પાછળથી લોકજીભે કવડ નામ ચડી ગયું હોય એમ મારું માનવું છે. આ બધા ગ્રંથસ્થ પુરાવાઓ અને પ્રાપ્ત યક્ષ પ્રતિમાઓ ઉપરથી જૈન સંપ્રદાયમાં યક્ષની ઉપાસના અતિ પ્રાચીનકાળથી ઊતરી આવી હોવાનું સમજાય છે. યક્ષપૂજાનો પ્રચાર જૈન સંપ્રદાયમાં કોણે અને ક્યારે દાખલ કર્યો, તેની નિશ્ચિત તવારીખ કોઈપણ ગ્રંથમાંથી મળી આવતી નથી. પરંતુ ભારતમાં તો આ પ્રવાહ ઠેઠ પાણિનિના સમયથી ચાલુ હોવાનું જાણવા મળે છે. યક્ષોના અધિપતિ કુબેરના મંદિરમાં શંખ, તૂણવ વગેરે વાદ્યો વગાડવાનું મહાભાષ્યમાં પતંજલીએ નોંધ્યું છે.[૨૪] ભવભૂતિના માલતીમાધવમાં યક્ષોપાસનાના ઉલ્લેખ આવતા હોઈ, તે કાળે યક્ષમંદિરો વિદ્યમાન હશે એમ જરૂર લાગે છે. અજંટાના ગુફામંદિરો તથા સાંચી અને ભરહુતનાં તોરણો, વેદિકાઓ વગેરેમાંથી યક્ષયુગલનાં સંખ્યાબંધ શિલ્પો મળી આવે છે. આ બધા પુરાવાઓ ભારતીય લોકસમાજમાં પ્રચલિત યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા ઈ. સ. પૂર્વેના કાળ સુધી લઈ જાય છે. તે કાળે દેવ તરીકે યક્ષોનું વ્યક્તિત્વ વધુ પૂજ્યતમ મનાતું હોવાના કારણે, જૈનાચાર્યોએ પણ પાછળથી યક્ષપૂજા અપનાવી હોય એમ લાગે છે. કાલિદાસ જેવો કવિ ચક્રવર્તિ મેઘદૂતમાં યક્ષને જ નાયક તરીકે કલ્પે છે. અર્થાત્ તે સમયમાં યક્ષો પ્રત્યે ઊંચી ભાવના અને શ્રદ્ધા તત્કાલીન સમાજમાં દૃઢ થઈ હોવાનું જણાય છે. આટલા લાંબા વિવેચન ઉપરથી એટલો નિષ્કર્ષ નીકળી શકે છે કે વૈદિક અને બૌદ્ધની માફક જૈન સંપ્રદાયમાં યક્ષોપાસના અતિ પ્રાચીન કાળથી ઊતરી આવી છે.

---

૨૨. પુરાતન પ્રબંધ સંગ્રહ, ભારતીય વિદ્યાભવન પ્રકાશિત, પા. ૧૦૧, કપર્દિયક્ષ જાવડી પ્રબંધ

૨૩. વસ્તુપાળ તેજપાળ પ્રબંધ, પા. ૬૪

૨૪. પાણિનિસૂત્ર પતંજલીભાષ્ય, ૨–૨–૩૪

યક્ષપૂજા માટે વૈદિક સંપ્રદાયમાંથી વિપુલ પ્રમાણમાં ગ્રંથસ્થ સાહિત્ય મળી આવે છે, પરંતુ તેટલાં પ્રાચીન શિલ્પો ખાસ કરીને કોઈ મળી આવ્યાં નથી. જ્યારે બૌદ્ધ સંપ્રદાયના સ્તુપો અને વેદિકાઓમાંથી પ્રાક્કાલિન કેટલાંએ સ્વરૂપો મળી આવ્યાં છે. શિલ્પ, સ્થાપત્ય અને મૂર્તિકળાનો સર્વતોમુખિ વિકાસ ગુપ્તકાળમાં ખૂબ વિકસ્યો હતો, એટલે તે સમયનાં કેટલાંક અનન્ય શિલ્પો જોવામાં આવ્યાં છે. ત્યાર પછી મધ્યકાળમાં તો મૂર્તિપૂજાનો પ્રચાર સારી રીતે સમસ્ત ભારતવર્ષમાં ફેલાયો અને યક્ષોનાં જુદા જુદાં સ્વરૂપો બહાર આવતાં સ્વતંત્ર દેવગણો તરીકે તેમનાં મન્દિરો પણ બનવા લાગ્યાં. જૈન સંપ્રદાયમાં પણ યક્ષપૂજાનો પ્રચાર મધ્યકાળમાં ખૂબ વિકસ્યો હોવાનું સમજાય છે. ચોવીસે તીર્થંકરોના યક્ષો અને શાસન દેવીઓનાં રૂપવિધાનો મધ્યકાળમાં નિશ્ચત થયાં હોવાનું નિર્વાણકાલિકા અને બીજા ગ્રંથો ઉપરથી જાણવા મળે છે. કર્પદયક્ષના રૂપવિધાન માટે ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્યમાં તેનો નિર્દેશ કર્યો હોઈ, કપર્દિને ચાર હાથ, તે પૈકી ડાબા તથા જમણા ઉપરના બેમાં પાશ તથા અંકુશ અને નીચેના બે બાજુના બેમાં દ્રવ્યની થેલી તથા બીજોરું મૂકવા જણાવ્યું છે.[૨૫] વધુમાં તેમનું વાહન હાથી હોવાનું કલ્પ્યું છે. શત્રુંજયનાં એકવીસ નામો વિવિધ તીર્થકલ્પમાં આલેખ્યાં હોઈ, આ યક્ષના સ્થાન ઉપરથી તેનું કપર્દિનિવાસ પણ એક નામ પડયું છે.[૨૬]

દરેક તીર્થંકરોના યક્ષો અને શાસનદેવીઓની નાનીમોટી અનેક પ્રતિમાઓ તેમના પરિકરોમાં મોટે ભાગે કોતરવામાં આવે છે; જ્યારે કેટલેક સ્થળે યક્ષોના સ્વતંત્ર વિગ્રહો, મન્દિરની અંદર દેવકુલિકા, કે ગોખલામાં બેસારવામાં આવ્યા હોય છે. આવી યક્ષપ્રતિમાઓ પૈકી કેટલીક સીરોહી રાજ્યમાંથી, કેટલીક પ્રદર્શનોમાંથી, કેટલીક મધ્યપ્રાંતમાં આવેલ દેવગઢના કિલ્લામાંથી, જ્યારે થોડીઘણી ગુજરાત-કાઠિયાવાડમાંથી મળી આવી છે. આવી સ્વતંત્ર યક્ષમૂર્તિઓ પૈકી ગોમુખ યક્ષની પ્રતિમા શત્રુંજય ઉપર મોતીશાની ટૂંકમાં આવેલ દેરાસરની અંદર મૂકેલી છે. યક્ષેટ યક્ષની એક પ્રતિમા પાટણમાં સાલવીવાડા જિલ્લાના ત્રિપુરેશ્વર મહાદેવમાં તથા શત્રુંજય ઉપર ચોમુખજીની ટૂંકના એક મન્દિરમાં છે. શિલ્પ અને મૂર્તિકલાની દૃષ્ટિએ તેનું રૂપવિન્યાસ સિદ્ધહસ્ત કલાકારના હાથે તૈયાર થયું હોવાનું જણાય છે. તુંબરુ યક્ષની એક મૂર્તિ આબુ ઉપર દેલવાડામાં, લુણવસહિ મન્દિરના દરવાજા બહાર એક ગોખલામાંથી મળી છે, જ્યારે માતંગ યક્ષની સુંદર પ્રતિમા શંખેશ્વરમાં બીજા નંબરની દેવકુલિકાની અંદર છે. આ યક્ષની બીજી એક મૂર્તિ સિરોહી રાજ્યના માલણુગામની અંદર મહાવીર સ્વામીના મન્દિરમાંથી મળી છે. બ્રહ્મયક્ષની પ્રતિમા માટે, ચંદ્રાવતી નગરીના દરવાજા બહાર ચંદ્રાવતી નદીના કિનારે હોવાનો ઉલ્લેખ મળ્યો છે, પરંતુ હાલમાં તે પ્રતિમા ત્યાં છે કે કેમ તે સંબંધી જાણવા મળ્યું નથી. મનુજ યક્ષની એક પ્રતિમા કલકત્તાના ઇન્ડિયન મ્યુઝિયમમાં છે. ષણ્મુખ યક્ષની એક મૂર્તિ ગિરનાર પર્વત ઉપર, નેમિનાથના દહેરાની ભમતીમાં આવેલ અંધારા ભોંયરામાં હોવાનું જાણવા મળ્યું છે. ગરૂડયક્ષની સુંદર પ્રતિમા, મધ્યપ્રાંતમાં આવેલ દેવગઢના કિલ્લામાં, એક મન્દિરની અંદરથી મળી છે, જેનો કલાવિન્યાસ અનન્ય હોવાનું જણાય છે. આ સિવાય સિરોહી રાજ્યના ભરાણા ગામમાં આવેલ જૈન મન્દિરમાંથી પણ આ યક્ષની બીજી મૂર્તિ મળી આવી છે. ગંધર્વ યક્ષની નાની પણ અપ્રતિમ પ્રતિમા આબુ ઉપર લુણવસહિના રંગમંડપમાં મૂકેલી છે. ગોમેધ યક્ષની પ્રતિમાનું એક શિલ્પ મથુરાના કલાપ્રદર્શનમાં તેમ જ બીજી એક મૂર્તિ દેવગઢના કિલ્લામાં હોવાનું જાણવા મળ્યું છે. પાર્શ્વ યક્ષની એક પ્રતિમા મુંબઈના પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમમાં મૂકેલી છે, જ્યારે બીજી મૂર્તિ સિરોહી રાજ્યના લાજ ગામની અંદર ચિંતામણિ પાર્શ્વનાથના

---

૨૫. ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્ય સર્ગ ૭મો ૬૩-૬૪

૨૬. વિવિધતિર્થકલ્પ કપર્દિયક્ષકલ્પ

મન્દિરમાં એક ગોખલામાં બેસાડેલી છે. ટૂંકમાં તીર્થંકરોના પરિકરો સિવાય પણ, યક્ષોની કેટલીક સ્વતંત્ર પ્રતિમાઓ પ્રાચીન અર્વાચીન મન્દિરોમાંથી મળી આવી છે, જે યક્ષપૂજાના પ્રચારની પ્રતીતિ આપે છે. આ સંપ્રદાયે યક્ષપૂજા અપનાવ્યા છતાં, યક્ષોના સ્વતંત્ર વિગ્રહો અલ્પસ્વલ્પ મળી આવ્યા છે. તેનું મુખ્ય કારણ તે બધા પરિવાર દેવ તરીકે સંપ્રદાયમાં સ્વીકાર્ય બન્યા હોવાથી, મૂળ નાયકોના પરિકારોમાં જ તેમને સ્થાન આપતાં તેમનાં સ્વતંત્ર મન્દિરો, કે વિગ્રહો બનાવવાની પરંપરા ઊતરી નહિ હોય એમ સમજાય છે. આગળ જણાવેલ યક્ષોની સ્વતંત્ર પ્રતિમાઓ પણ, ખાસ કરીને મૂળ નાયકના પરિવાર દેવ તરીકે, અગર કેટલેક સ્થળે તે યક્ષો પ્રત્યે અપૂર્વ શ્રદ્ધાના કારણે તેમની ઉપાસના માટે તેના ઉપાસકોએ મન્દિરમાં પધરાવી હશે એમ લાગે છે.

યક્ષરાટ્ તરીકે વધુ પ્રસિદ્ધ થયેલ મણિભદ્ર યક્ષની કેટલીક પ્રતિમાઓ ગુજરાત, રાજસ્થાન અને મધ્યપ્રાંતમાંથી મળી આવી છે. આ પૈકી પદ્માવતીથી પ્રાપ્ત ભગ્નશિરવાળી મૂર્તિ ગ્વાલિયરના પ્રદર્શનમાં મૂકેલી છે. આ સિવાય સિરોહી રાજ્યના લાજ, મઢાર અને માલણુ ગામોમાં, પિંડવાડા તહેસીલના બ્રાહ્મણવાડા તીર્થમાં, પાલણપુરથી આઠ ગાઉ દૂર મગરીવાડા ગામમાં, વિજાપુર તાલુકાના આગલોડ ગામમાં, દીવના એક જૈન મન્દિરમાં અને પ્રભાસ પાટણના તપાગચ્છીય ઉપાશ્રયમાંથી આ યક્ષની કેટલીક મૂર્તિઓ મળી આવી છે. યક્ષોની કેટલીક ધાતુપ્રતિમાઓ પણ જૈન મન્દિરમાં કે ઘર મન્દિરોમાંથી મળે છે. પાટણના ગોવર્ધનધારી મન્દિરમાં યક્ષની એક પ્રાચીન ધાતુપ્રતિમા છે, જે કલાની દૃષ્ટિએ અનુપમ હોવાનું તેના ભાસ્કર્ય ઉપરથી જણાય છે. આ પ્રતિમા વસ્તુપાળના વંશજ પેથડના પુત્ર સુહાકે સં. ૧૩૫૨માં બનાવી હોવાનો તેની પાછળ લેખ કોતરેલો છે.[૨૭] આવી પ્રતિમાઓ જૈન સમાજમાં યક્ષોપાસના વધુ લોકપ્રિય બની હોવાની પ્રતીતિ આપે છે.

---

[૨૭] સં. १३५२ वर्षे कार्तिक सुद ११ गुरौ सा. पेथड सुत सुहाकेन...गतिरूपनेन मूर्तिकारावियं

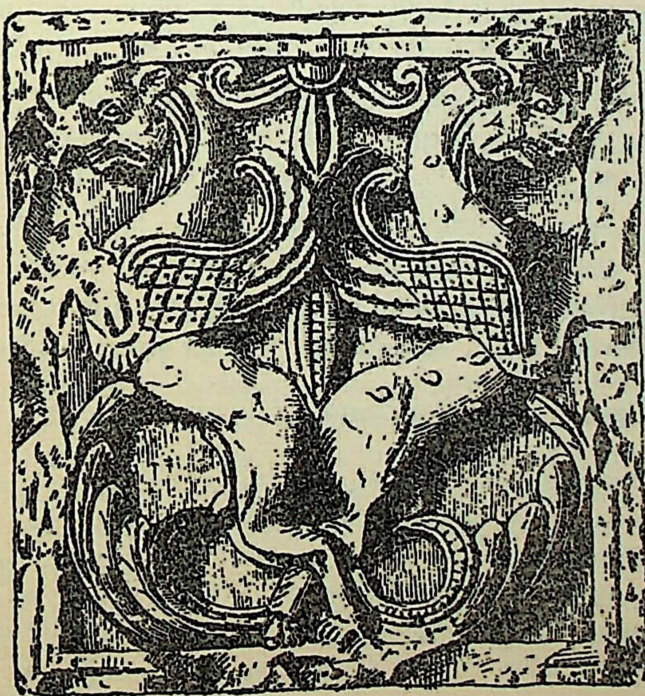

મહારાજા જયસિંહ સિદ્ધરાજના ચાંદીના સિક્કા

શ્રી અમૃત પંડ્યા

સુપ્રસિદ્ધ ઇતિહાસકાર ડૉ૦ હેમચંદ્રરાય પોતાના ગ્રંથ ‘ઉત્તર ભારતનો રાજવંશી ઇતિહાસ’માં લખે છે: “ભારતીય ઇતિહાસના પૂર્વ મધ્યકાળમાં રાજ્ય કરી ગયેલા અનેક રાજવંશોના મુકાબલે ગુજરાત-સૌરાષ્ટ્રના ચૌલુક્યો (સોલંકી)[૧]ના ઇતિહાસ માટે જોઈતી સામગ્રીની ઊણપ નથી. આ વંશના રાજાઓના સંખ્યાબંધ ઉત્કીર્ણ લેખો મળી આવ્યા હોય એટલું જ નહિ પણ એથી ય વધુ મહત્ત્વની વાત તો આ છે કે તારીખો સાથે એમના જીવનપ્રસંગોનું વર્ણન કરતા અનેક જૈન પ્રબંધો પણ આપણને ઉપલબ્ધ છે” (The Dynastic History of Northern India, Vol. II, Calcutta, 1936, P. 933). આ હકીકત છતાં સોલંકીઓની ઇતિહાસસામગ્રીની એક ઘણી જ મોટી ઊણપ છે તે ડૉ૦ હસમુખ સાંકળીઆના શબ્દોમાં કહીએ તો, “અનહિલ્લવાડના ચૌલુક્યોના સિક્કા મળતા નથી એ વાત કંઈક આશ્ચર્યકારક તો ખરી. આવડું વિશાળ અને સમૃદ્ધ સામ્રાજ્ય ધરાવતા રાજકર્ત્તાઓને તેમનું પોતાનું ચલણ તો અવશ્ય રહ્યું જ હશે.” (Archaeology of Gujarat, Bombay, 1941, P. 190).

અનહિલ્લપુરના આ ચૌલુક્યોને તેમનું પોતાનું ચલણ હતું તેની સાક્ષી તેમનું સમકાલીન સાહિત્ય પૂરે છે. શ્રીહેમચંદ્રાચાર્યકૃત દ્વયાશ્રયમાં આ ચલણના સિક્કા હોવાની નોંધ વિષે શ્રી રામલાલ ચુનીલાલ મોદીએ ધ્યાન દોર્યું હતું (‘સંસ્કૃત દ્વયાશ્રય કાવ્યમાં મધ્યકાલીન ગુજરાતની સામાજિક સ્થિતિ’, અમદાવાદ, ૧૯૪૨, પા. ૩૧). શ્રીધરાચાર્યકૃત ગણિતસારની એક જૂની ગુજરાતી ટીકામાં સોલંકીઓના સમયે પ્રચલિત સિક્કાઓને લગતી કેટલીક માહિતી ડૉ૦ ભોગીલાલ સાંડેસરાએ શોધી કાઢી હતી (J. Numismatic Society of India, VIII, 1948, P. 138). ન્યુમીસ્મેટીક સોસાયટી ઑફ઼ ઇન્ડિયા (ભારતીય નિષ્કવિદ્યા પરિષદ)ના ગ્વાલિયર ખાતેના ૪૨મા અધિવેશનના પ્રમુખ તરીકેના તેમના ભાષણમાં સ્વર્ગસ્થ શ્રી રણછોડલાલ જ્ઞાનીએ તાજેતરમાં શોધાયેલ અલાઉદ્દીન ખિલજીની ટંકશાળના અધિકારી શ્રી ઠક્કુર ફેરૂકૃત ‘દ્રવ્યપ્રકાશ’ નામક હસ્તપ્રતમાં કેટલાક સોલંકી રાજાઓના ખાસ સિક્કાઓનું વર્ણન હોવાની વાત જણાવી હતી (Ibid, XIV, 1952, P. 155). ડૉ૦ ઉમાકાંત શાહે હાલમાં આ સિક્કાઓને લગતી કેટલીક નવી માહિતી જૂના સાહિત્યમાંથી શોધી કાઢી છે. (‘Numismatic Data from Early Jain Literature’, J. of M. S. University of Baroda, III, 1, 1954, P. 57, તથા મને રૂબરૂમાં જણાવેલી કેટલીક માહિતી).

આ પ્રમાણે સોલંકી રાજવંશને પોતાનું ચલણ હતું એ વાત નિર્વિવાદ છે.

---

૧. આ ‘સોલંકીઓ’ ઉપરાંત ગુજરાતના ઇતિહાસમાં બીજા ‘ચાલુક્ય’ વંશો પણ થયા છે, દા૦ ત૦ ઊના–દેલવાડાના તામ્રપત્રો આપનાર ચાલુક્યો તથા સોલંકીઓનો જ સમકાલીન લાટનો ચાલુક્ય વંશ. દક્ષિણનાં ચાલુક્યો તો જાણીતા જ છે. સોલંકીવંશ વિષે નોંધપાત્ર બીના આ છે કે તેઓ પોતાના લેખોમાં પોતાને ‘ચાલુક્ય’ને બદલે ‘ચૌલુક્ય’ લખે છે. આ ઉપરથી ઇતિહાસકારો સોલંકીઓને ‘ચૌલુક્ય’ લખે છે. આ છતાં ‘ચાલુક્ય’ અને ‘ચૌલુક્ય’ નામો સમાન જેવાં હોવાથી તેમને ઇતિહાસકારો ‘અનહિલ્લપુરના ચૌલુક્યો’ પણ કહે છે. ગુજરાતમાં તેઓ પરંપરાગત કથાઓ પ્રમાણે ‘સોલંકી’ કહેવાય છે. સમકાલીન જૈનપ્રબંધો તથા બીજા સાહિત્યમાં પણ તેમને ‘ચૌલુક્ય’ કહ્યા છે.

આ હકીકત છતાં સોલંકીઓના સિક્કા કેમ મળી આવતા નથી તે વાત ભારતીય નિષ્કવિદ્યાનો એક કોયડો છે.

ઉત્તરપ્રદેશના ઝાન્સી જિલ્લાની ગરનાથા તહસીલના પંડવાહા ગામ ખાતે ૧૯૦૫માં ગૂર્જર–પ્રતિહાર રાજા ભોજદેવ(ઈ. ૮૪૦–૮૯૦ લગભગ)ના ચાંદીના સાત સિક્કાઓની સાથે સોનાના અનુક્રમે ૬૫ અને ૬૬ ગ્રેન વજનના તથા ·૮૫" અને ·૮૦" જેટલા વ્યાસવાળા બે જૂના સિક્કાઓ પણ મળી આવ્યા હતા. આ સિક્કાઓપર જૂની નાગરી લિપિ(મધ્યકાલીન)માં 'श्रीसिद्धराजः' એવું લખાણ હોવાથી શ્રી આર૦ બર્ને (R. Burn) તે ગુજરાતના સોલંકી 'સિદ્ધરાજ'ના હોવાનો અભિપ્રાય વ્યક્ત કર્યો હતો. (Numismatic Supplement to J. Asiatic Society of Bengal, VII, 1907, Article entitled, 'A New Medieval Gold Coin'). આ સિક્કા લખનઉના પ્રાદેશિક સંગ્રહસ્થાનમાં મૂકવામાં આવ્યા હતા જે હજુ પણ ત્યાં જ છે. ૧૯૩૬માં આ સિક્કા જાણીતા નિષ્કશાસ્ત્રી રાયબહાદુર શ્રી પ્રયાગદયાલે ફરી તપાસ્યા હતા. તેમની આ તપાસની બાબતમાં તેમણે ભારતીય પુરાતત્વખાતાના તત્કાલીન ડેપ્યુટી ડાયરેક્ટર જનરલ રાવબહાદુર કાશીનાથ ના૦ દીક્ષિતની સલાહ લઈ શ્રી બર્નના ઉપરોક્ત અભિપ્રાયને ટેકો આપતાં જણાવ્યું હતું, "આ બંને સિક્કાઓ પર ૧૧–૧૨મી સદીના અક્ષરોમાં બંને બાજુએ 'સિદ્ધરાજઃ' એવું લખાણ છે. આ રાજાના સમકાલીન મહારાજા ગોવિન્દચન્દ્ર (૧૧૧૨–૧૧૬૦)ના સિક્કાઓ સાથે વજન અને કદની દૃષ્ટિએ આ મળતા આવે છે પણ એમનો આકાર-પ્રકાર કંઈક જુદી જાતનો છે, કારણ કે એમની પાછળ કોઈ દેવ કે દેવીની આકૃતિ નથી. વળી આ સિક્કાઓની ધાતુ જો કે મિશ્રણ વગરનું શુદ્ધ સોનું જણાય છે, પણ તેમનો અસામાન્ય આકાર અને અક્ષરોની પડેલી છાપની અસ્પષ્ટતા જોતાં લાગે છે કે તે ચલણી સિક્કા તરીકે ભાગ્યે જ ઉપયુક્ત રહ્યા હોય. માળવાવિજય જેવા કોઈ ખાસ પ્રસંગની યાદગારમાં તે પાડ્યા હોય તો કહેવાય નહિ. ('Two Gold Coins of Siddharāja Jayasimha', Numismatic Supplement to J. Royal Asiatic Society of Bengal, III, 2, 1937, p. 117-118).

૧૯૩૩માં વડોદરા ખાતે ઇન્ડિયન ઓરીએન્ટલ કૉન્ફરન્સ (ભારતીય પ્રાચ્યવિદ્યા પરિષદ)નું સાતમું અધિવેશન ભરાયેલું તેમાં તે વખતના મુંબઈના પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર શ્રી ગિરિજાશંકર વલ્લભજી આચાર્યે ગુજરાતમાં નાણાકીય ચલણનો ઇતિહાસ (History of Coinage in India) આ નામનો નિબંધ વાંચતાં તેમાં એક સ્થળે નીચે પ્રમાણે જણાવ્યું હતું :

> "The 12th and 13th centuries of the Christian era form another obscure period in the history of Gujarat coinage. The Solankis and Vaghelas have been described in inscriptions as powerful monarchs ruling over Gujarat and Kathiawad and while they have built numerous wells and temples it is surprising that they never exercised the right of coining money. A few tiny copper pieces in Prof. Hodiwala's collection with the inscription Śrīmajjayasiṁha are hesitatingly assigned to Siddharāja Jayasiṁha but besides those pieces no coin of any of the rulers is available in Gujarat which can with certainty be assigned to any one of them." (Proceedings and Transactions of the Seventh All-India Oriental Conference, Baroda, 1933, P. 695).

સ્વ૦ શ્રી દુર્ગાશંકર કેવળરામ શાસ્ત્રી પોતાના 'ગુજરાતનો મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસ'ના બીજી આવૃત્તિ(અમદાવાદ, ૧૯૫૩)માં પા. ૩૨૪–૩૨૫ પર 'સિદ્ધરાજના સિક્કાઓ' આ મથાળા હેઠળ નીચે પ્રમાણે જણાવે છે:

> "બીજી એક વાત, ગુજરાતના મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસમાં પાટણના કોઈ રાજાએ પોતાના નામના સિક્કા પાડ્યા હોય એમ દેખાતું નથી એવું મેં લખ્યું છે (ગુજરાતના ઇતિહાસનાં સાધનો નામના નિબંધમાં), મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ ઉપર કહેલા અમદાવાદ સાહિત્ય સભા આગળના વ્યાખ્યાનમાં આ જ મતલબનું કહેલું છે (પૃ. ૫૬), તથા શ્રી ૨૦ ધ૦ જ્ઞાનીએ પણ એમ જ કહ્યું છે (બુદ્ધિવર્ધક વ્યાખ્યાનમાળા ૧૯૩૪–૩૫, પૃ૦ ૧, પા૦ ૫૮), અને શ્રી ગિ૦ વ૦ આચાર્યે શ્રીમજ્જયસિંહ અક્ષરોવાળા થોડા ત્રાંબાના કટકા સિવાય બારમા–તેરમા શતકના ગુજરાતના રાજાઓના સિક્કા મળતા નથી એમ પહેલાં લખેલું (વડોદરાની ૭મી ઓ૦ કાં૦નો રિપોર્ટ ૧૯૩૩, પા૦ ૬૯૫). છતાં શ્રી આચાર્યે અને શ્રી જ્ઞાનીએ જ હમણાં નીચેની માહિતી આપી છે કે ન્યુમિસ્મેટિક સપ્લિમેન્ટ નંબર ૭માં શ્રી આર૦ બર્ને સિદ્ધરાજના એક સોનાના સિક્કાની નોંધ કરી છે, જેમાં श्रीसिद्धराज: આ રીતે શબ્દ છે."

આ પ્રમાણે સોલંકી રાજવંશમાંથી એક માત્ર સિદ્ધરાજ જયસિંહના સિક્કા આપણને મળી આવ્યા છે. એક જ રાજાના આ બંને પ્રકારના સિક્કાઓ પર તેનાં બે જુદાં જુદાં નામો આપેલાં છે તે બીના નોંધપાત્ર છે, એટલે કે ઝાંસીના સિક્કાઓ પર 'સિદ્ધરાજ:' અને હોડીવાલા સંગ્રહના સિક્કાઓ પર 'જયસિંહ' આ પ્રમાણે નામો મળી આવે છે.

આ રાજાના તેના પોતાના ઉત્કીર્ણ લેખોમાં તેણે પોતાનું નામ 'જયસિંહ' લખેલું છે. દા૦ ત૦ હાલમાં ગુજરાત વિદ્યાસભા અમદાવાદને લાડોલ ખાતેથી મળી આવેલા તેના વિક્રમ સંવત્ ૧૧૫૬-(ઈ. ૧૦૯૯)ના તામ્રપત્રમાં તે પોતાના પૂર્વજોની નોંધ આપ્યા પછી પોતાના વિષે આ પ્રમાણે જણાવે છે:

> ૫–श्रीत्त्रैलोक्यमल्ल श्रीकर्ण्णदेवपादानुध्यातपरमभट्टारक महाराजाधिराज
>
> ૬–श्रीजयसिंहदेवः

("Two New Copper-Plate Inscriptions of the Chaulukya Dynasty', by Dr. H. G. Shastri in the J. Oriental Institute, M. S. University of Baroda, II, 4, P. 369).

આ તામ્રપત્રમાં લખાણની નીચે રાજાએ પોતાની જે સહી કરી છે તે આબેહૂબ આ પ્રમાણે છે:

श्रीजयसिंहदेवस्य

જયસિંહ સિદ્ધરાજની સહી

ઝાન્સીના સોનાના સિક્કાઓની આકૃતિ અને તેમાં આપેલ રાજાનું નામ આ પ્રમાણે છે :

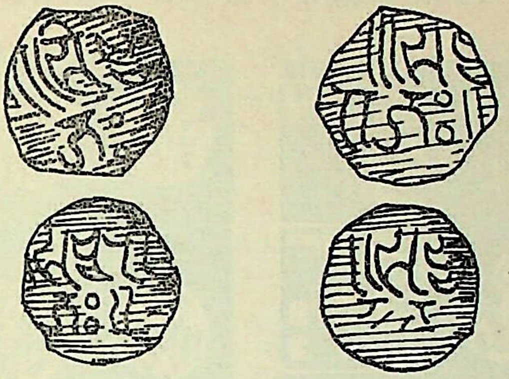

યુ. પી. માં ઝાન્સી પાસે પંહવાહા ગામે મળી આવેલા 'સિદ્ધરાજ'ના સોનાના સિક્કા : મૂળ આકાર પ્રમાણે.

ઝાન્સીના સિક્કાઓમાં 'સિદ્ધરાજ:' નામ જે અક્ષરશૈલીમાં છે તે અક્ષરશૈલી ગુજરાત અને તેની પાડોશના પ્રદેશોમાં પ્રચલિત તત્કાલીન અક્ષરશૈલી કરતાં મરોડમાં જરા જુદી પડે છે. ત્યારે શું ઝાન્સીના સિક્કાઓવાળો સિદ્ધરાજ તે ગુજરાતના સિદ્ધરાજ જયસિંહને બદલે મધ્ય કે પૂર્વ હિંદ તરફનો કોઈ બીજો સિદ્ધરાજ હતો? પણ હકીકત આ છે કે ઇતિહાસકારોને અત્યાર સુધી ગુજરાતના સિદ્ધરાજ સિવાય આ નામનો કોઈ બીજો રાજા રહ્યો હોવાનું પ્રમાણ હજુ સુધી મળ્યું નથી (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चारित्रकोश, ले. चित्राव, पुणें, १९३७, पृ० ८०८–८०९). વળી સિદ્ધરાજ જયસિંહનું સામ્રાજ્ય ઝાન્સી-(બુંદેલખંડ, પ્રાચીન નામ જેજકભૂક્તિ)ની લગભગ સુધી પ્રસરેલું હતું તે એક હકીકત છે.

પ્રો૦ હોડીવાલાના સિક્કાસંગ્રહમાંના श्रीमज्जयसिंह નામવાળા તાંબાના નાના નાના જે સિક્કાઓનો ઉલ્લેખ શ્રી આચાર્યે કર્યો છે તેમના વિષે કોઈ લેખ કે તેમના ચિત્રો પ્રગટ થયાનું જાણવામાં નથી.

વલ્લભવિદ્યાનગરના સંસ્થાપક-અધ્યક્ષ તથા નવી સ્થપાયલી સરદાર વલ્લભભાઈ યુનિવર્સિટીના ઉપકુલપતિ શ્રી ભાઈલાલભાઈ પટેલ ગુજરાતના ઇતિહાસ તથા તેની સાંસ્કૃતિક ઉન્નતિમાં ઊંડો રસ ધરાવે છે અને એના માટે તેઓ હંમેશ પ્રયત્નશીલ રહે છે. મુંબઈ ગેઝેટિયર ૧૮૯૬માં પ્રગટ થયું ત્યાર પછીના ૬૦ વર્ષના ગાળામાં ગુજરાતના ઇતિહાસને લગતી જે નવી સામગ્રી મળી આવી છે તે ફરી તપાસાય અને તેના આધારે ગુજરાતનો એક બૃહદ્ ઇતિહાસ તૈયાર થાય તે તેમની એક મહત્ત્વાકાંક્ષા છે અને પ્રવીણતા મેળવીને ભારતની પ્રાચીન લિપિઓના વાંચનમાં ગુજરાતના પ્રાચીન લેખો તેઓ પોતે ફરીથી તપાસી રહ્યા છે. ગુજરાતના ઇતિહાસના જે જે પ્રકરણો અંધારામાં છે તેમના પર પ્રકાશ પથરાય તેવી ઐતિહાસિક સામગ્રી મેળવવા માટે પણ તેઓ સતત પ્રયત્નશીલ રહે છે. સોલંકીઓના સિક્કા મળે તેના માટે તેઓ જ્યાં જ્યાં જાય છે ત્યાં ત્યાં આ વિષે તપાસ ચલાવે છે. વલ્લભવિદ્યાનગરની કૉલેજોમાં ભણત વિદ્યાર્થીઓ તેમના પોતાના ગામમાં જે ઐતિહાસિક અવશેષો કે સામગ્રી હોય તેમની માહિતી આપે તેવી સૂચના તેઓએ કરી છે અને તેથી મૂલ્યવાન ઐતિહાસિક માહિતી અવારનવાર મળ્યા કરે છે.

વલ્લભવિદ્યાનગરની એક કૉલેજમાં ભણતા મહેસાણા જિલ્લાના વીજાપુર તાલુકાના પીલવઈ ગામ-(કલોલ–વીજાપુર રેલવેલાઈન પર વીજાપુર આવતાં આ સ્ટેશન પહેલાં આવે છે અને ખડાયતાઓનાં ધામ ખડાત-મહુડી જવા માટે લોકો અહીં ઊતરે છે)ના શ્રી મોરલીધર મંગળદાસ શાહ નામના વિદ્યાર્થી

કેટલાક જૂના સિક્કા શ્રી ભાઈલાલભાઈને દેખાડવા લાવેલા તેમાં ચાંદીના થોડાક નાના નાના સિક્કાઓ પણ હતા જેમનો ફોટોગ્રાફ નીચે આપ્યો છે :

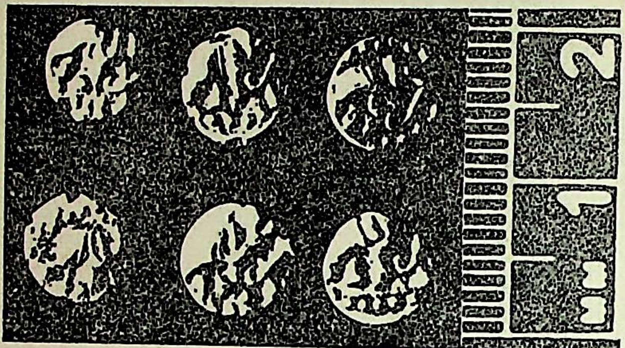

સિક્કાઓની આગલી બાજુએ હાથીની આકૃતિ છે જે લક્ષ્મીનું પ્રતીક હોઈ શકે.

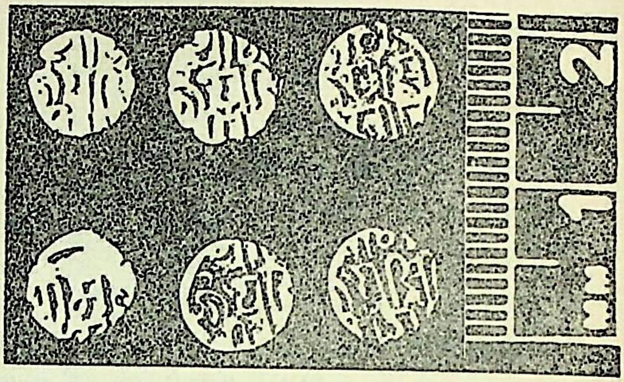

પાછલી બાજુએ લખાણની ત્રણ લીટીઓ છે જેમાંની પહેલીમાં કંઈક 'શ્રી' જેવું વંચાય છે. આ સિવાય બીજા અક્ષર કપાઈ ગયા છે. બીજી લીટીમાં શ્રીમજ્જયસિંહ આ નામ ૧૧-૧૨મા સૈકાની ગુજરાતમાં પ્રચલિત જૂની નાગરી લિપિમાં વંચાય છે અને ત્રીજી લીટીના અક્ષરો કપાઈ ગયા છે.

દરેક સિક્કાનો સરેરાશ વ્યાસ ૮ MM. (આ. ૫/૨").

દરેક સિક્કાનું સરેરાશ વજન ૭·૮૧૫ ગ્રેન.

શ્રી આચાર્યે ઉલ્લેખેલા નાના તાંબાના હોડીવાળા સંગ્રહના અપ્રગટ સિક્કા જે 'જયસિંહ'ના હતા તે જ રાજાના આ ચાંદીના સિક્કા આપણને મળી આવ્યા હોય એમ લાગે છે.

આ સિક્કાઓમાંનો જયસિંહ તે ગુજરાતનો જયસિંહ સિદ્ધરાજ હતો કે કોઈ બીજો રાજા હતો તે આપણે પહેલાં તપાસી લેવું ઘટે.

આપણા દેશના ઇતિહાસમાં જયસિંહ નામના અનેક રાજાઓ થયા છે તેમાંના ઓછામાં ઓછા ૨૦ જેટલા જયસિંહો તો ઠીક ઠીક જાણીતા છે. એમાંના સિંધ (ઈ૦ ૭૧૭-૭૨૪), કાશ્મીર (૧૧૨૮-૫૧), આન્ધ્ર (૬૩૩-૬૬૩) અને કર્ણાટક (૫૦૦, ૬૭૧-૯૨, ૧૦૧૮-૧૦૪૩, ૧૦૭૯-૧૦૮૧) ના જયસિંહોને આપણે જતા કરીશું કારણ કે આ રાજાઓ તો જે જૂની નાગરી લિપિ આપણને પ્રસ્તુત સિક્કાઓના લખાણમાં મળી આવી છે તે પ્રચલિત થતાં પહેલાં થયેલા અગર તો તેઓ જે પ્રદેશોમાં થયેલા ત્યાં નાગરી લિપિનું પ્રચલન રહ્યું નહોતું, દા૦ ત૦ આન્ધ્ર, કર્ણાટક, વગેરે. એટલે આ લિપિનો મુદ્દો તથા પ્રાદેશિક સાનિધ્ય જોતાં પ્રસ્તુત સિક્કાઓની બાબતમાં આપણે નીચેના જયસિંહોને લગતી વિચારણા જ ચલાવવાની રહે છે.

ડાહલ (મધ્યપ્રદેશનો નર્મદાકાંઠો) : **જયસિંહદેવ હૈહય** (ઈ. ૧૧૭૦-૧૧૮૦) : આ રાજાના સમયના જો કે ચાર ઉત્કીર્ણલેખો મળી આવ્યા છે (કલચૂરી સં૦ ૯૨૬ના રીવાનાં તામ્રપત્રો, ઇન્ડિયન ઍન્ટીકવરી ૧૮, પા૦ ૨૨૪-૨૭; ક૦ સં૦ ૯૨૮નો તેવરનો શિલાલેખ, એપી૦ ઇન્ડિ૦ ૨,૧૭;

ક૦ સં૦ ૯૨૬નો નાગપુર સંગ્રહસ્થાનનો લેખ, ઇન્ડિયન એન્ટીકવરી ૧૮, ૨૧૪-૧૮; અને કરનબેલનો લેખ, એપી. ઈ. ૫, ૬૦) પણ તેની કારકિર્દી પર તે પ્રકાશ ફેંકતા નથી.

માળવા : પરમાર જયસિંહ (૧૦૫૧-૧૦૫૯) : ભોજનો ઉત્તરાધિકારી તથા ગુજરાતના સોલંકી ભીમદેવ પ્રથમનો તેના જીવનના પાછલા ભાગનો સમકાલીન.

માળવા : પરમાર જયસિંહ (૧૦૬૮) : જયવર્માનો ઉત્તરાધિકારી તથા ગુજરાતના કર્ણ સોલંકી(૧૦૬૪-૧૦૯૪)નો સમકાલીન.

માળવા : પરમાર જયસિંહ (૧૩૦૮-૧૩૪૨) : માળવાનો છેલ્લો પરમાર. ઉદયપુર-માળવા ખાતે તેનો વિ૦ સં૦ ૧૩૬૬નો લેખ છે.

માળવા : જયસિંહ મંડપ(માંડુ)નો. : આ ધારની દક્ષિણે માંડુ નજીકના કેટલાક વિસ્તારનો નાનો રાજા હતો જેનો ઉલ્લેખ હમીરના બલવાન લેખ(એપી૦ ઈ૦ ૧૯, ૪૬-૫૦)માં મળી આવ્યો છે. આ ગુજરાતના વીસલદેવ વાઘેલાનો સમકાલીન હતો.

વાગડ (ડુંગરપુર-વાંસવાડા ક્ષેત્ર) : વિ૦ ૧૧૯૫(ઈ૦ ૧૨૫૧)ના વૈદ્યનાથમન્દિરના ઝારોલ ગામના શિલાલેખમાં એક **વાગડના જયસિંહ**ની નોંધ મળી આવે છે. તે ગુજરાતના ભીમ બીજા (૧૧૭૮-૧૨૪૧)નો સમકાલીન હતો.

એવાડ : ઈ૦ ૧૩૦૦ લગભગમાં મેવાડમાં **જયસિંહ સીસોદિયા** થયો હતો.

દક્ષિણ મારવાડ : જાલોરના માલદેવ સોનગરાનો દીકરો, જે ૧૪મા સૈકાના આરંભકાળે થયો હતો.

સૌરાષ્ટ્ર : 'મંડલીક નૃપચરિત' પ્રમાણે જૂનાગઢના ચુડાસમા રાજવંશમાં ઈ૦ ૧૪૧૫માં **રા'ખેંગાર** પછી એક **જયસિંહ** ગાદીએ બેઠો હતો. તેણે ૧૧ વર્ષ રાજ્ય કર્યું હતું. (Proc. Indian Hist. Congress, 1952, pp. 170-174, article by Shri H. D. Velankar).

ગુજરાત : જાણીતો **જયસિંહ સિદ્ધરાજ** (ઈ. ૧૦૯૪-૧૧૪૩)

પ્રસ્તુત સિક્કાઓમાંનો જયસિંહ ઉપરની યાદીમાંનો એકાદ રહ્યો હશે. ડાહલ (મધ્યપ્રદેશનો ઉત્તર ભાગ) ગુજરાતથી ઘણે દૂર છે પણ લિપિની દૃષ્ટિએ ડાહલના જયસિંહનો મુદ્દો આપણે વિચારવાનો રહે છે કારણ કે પૂર્વ મધ્યકાળમાં જ્યારે ગુજરાતમાં સોલંકીઓ અને ડાહલમાં હૈહયોનું રાજ્ય હતું ત્યારે બંને પ્રદેશોના લેખોમાં લગભગ સરખા પ્રકારની લિપિ પ્રચલિત હતી. માળવા વિષે પણ તેમ જ હતું. પણ આ જયસિંહ હૈહયના જીવનની કશી માહિતી તેના લેખોમાંથી મળતી નથી તે આપણે જોઈ ગયા છીએ. વળી તેના સિક્કા હજુ તેના પોતાના પ્રદેશમાં મળી આવ્યા નથી તો આટલે આઘે ગુજરાતમાં તો ક્યાંથી મળે તે વાત સમજાય તેવી છે. તેવી જ રીતે માળવાના જયસિંહોના સિક્કા માળવા કે બીજે ક્યાંય મળ્યા નથી. મંડપનો જયસિંહ ને તેવી જ રીતે વાગડ, મેવાડ અને દક્ષિણ મારવાડ (જાલોર)ના જયસિંહો એટલા બધા નાના રાજાઓ હતા કે તેમણે પોતાના સિક્કા પડાવ્યા હોય એમ ભાગ્યે જ બની શકે. તો પણ તેમના સિક્કા તેમના પોતાના પ્રદેશમાં ન મળી આવતાં છેક ગુજરાતમાં મળી આવે તે પણ બનવાજોગ નથી. સૌરાષ્ટ્રનો ચુડાસમા રા' જયસિંહ સોલંકીઓનો ખંડિયો રહ્યો હોવો જોઈએ ને ગુજરાતના સાર્વભૌમ સોલંકી જયસિંહે સિક્કા ન પડાવ્યા હોય અને આ જૂનાગઢના રા'એ સિક્કા પડાવ્યા હોય અને તે છેક ગુજરાત સુધી ચાલે તે વાત મનાય તેવી નથી.

'જયસિંહ'ના પ્રસ્તુત સિક્કા તાંબુ અને ચાંદી એમ બે ધાતુઓના મળી આવતાં સૂચન મળે છે કે આ પ્રકારના સિક્કા રીતસરના નાણાંકીય ચલણ માટે જ પાડવામાં આવ્યા હતા. વળી બંને પ્રકારના સિક્કા ગુજરાતમાં જ મળી આવ્યા છે. આ વસ્તુ સૂચન કરે છે કે આ સિક્કા ગુજરાતના જ કોઇ 'જયસિંહ' નામના મોટા રાજાના જ હોવા જોઈએ. સિક્કાઓ પર 'શ્રીમજ્જયસિંહ' નામ જૂની નાગરી લિપિમાં છે અને તેનો 'જ' અક્ષર જે આકારનો છે તે જોતાં કહી શકાય કે આ રાજા ૧૦માથી ૧૫મા સૈકા સુધીમાં થયો હોવો જોઈએ. ૧૯૫૪ની નાતાલમાં અમદાવાદ ખાતે ભરાયેલી ભારતીય ઇતિહાસ પરિષદના અધિવેશન પ્રસંગે ભરાયેલા પ્રદર્શનમાં આ સિક્કાઓના મોટા ફોટોગ્રાફો મૂકવામાં આવેલા તે વખતે ગુજરાતના પ્રાચીન જૈન સાહિત્યના પ્રકાણ્ડ વિદ્વાન મુનિ શ્રી પુણ્યવિજયજીએ આ સિક્કાઓનાં લખાણમાં જે 'શ્રી' શબ્દ છે તે જયસિંહ સિદ્ધરાજની સમકાલીન હસ્તપ્રતોમાં 'શ્રી'નો જેવો આકાર મળી આવે છે તેવો જ આકાર પ્રસ્તુત સિક્કાઓમાંના 'શ્રી'નો હોવાનો અભિપ્રાય આપેલો.

ભારતીય નિષ્કવિદ્યા પરિષદના મુખપત્રના હાલમાં પ્રગટ થયેલા તેના અંક(પુ. ૧૬ ભા. ૨, પા. ૨૬૩-૪)ના Miscellanea મથાળા હેઠળ સિક્કાઓને લગતી જે નવી શોધોની સંક્ષિપ્ત માહિતી પ્રગટ થઈ છે તેમાં 'The Coins of Jayasiṁha' આ નોંધમાં મેં પ્રસ્તુત સિક્કાઓનો ટૂંક પરિચય રજૂ કરતાં તે જયસિંહ સિદ્ધરાજના હોવાનું જણાવ્યું છે. એની નીચે આ પ્રમાણેની તંત્રીનોંધ અપાઈ છે:

> "Dr. U. P. Shah has suggested to us that these coins might belong to Jayasiṁha or Jayatsiṁha, who for some time usurped the Chaulukyan throne after Ajayapāla. A copper-plate charter of this ruler was obtained from Kadi, North Gujarat, dated in the year 1280 V. S. (Indian Antiquary, VI, p. 196), where we have in the last line Śrimajjayasiṁhadevasya.—Editor."

આ રાજાનું એક માત્ર તામ્રપત્ર મળી આવ્યું છે તે વાંચનાર જાણીતા વિદ્વાન ડૉ૦ બ્યુલરે જણાવ્યું છે:

> "Our grant No. 4 was issued by a Chaulukya ruler, Jayantasiṁha, who describes himself in the following terms....This vain-glorious passage is preceded by the usual vaṁśāvalī, beginning with Mūlarāja I, and ending with Bhīmadeva II. But after naming the latter and giving his titles, and just before the enumeration of Jayantasiṁha's own titles, follow the significant words *tadanantaram* sthāne, 'after him (Bhīma) in (his) place.' Considering these statements, and the further assertion, in the preamble to the grant, that Jayantasiṁha ruled over the *Vardhipathaka* and the Gambhūtā pathaka, it is evident that he was a usurper who supplanted Bhīma for a time. As one of Bhīma's own grants (No. 5) is dated in 1283 Vikrama and from *Anahilapāṭaka*, it follows that Jayantasiṁha, who dates his grant in 1280 Vikrama, must have been ejected by the rightful owner soon after issuing the grant." (Indian Antiquary, VI, 1877, P. 188).

આ થઈ લગભગ પોણોસો વર્ષ પૂર્વેની વાત. આ પછીના સમયમાં ગુજરાતના ચૌલુક્ય(સોલંકી) વંશના ઇતિહાસની જે કંઈ સામગ્રી મળી આવી છે તેના આધારે તૈયાર થયેલ સ્વ૦ શ્રી દુર્ગાશંકર કેવળરામ શાસ્ત્રીના ‘ગુજરાતનો મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસ’ નામના પુસ્તકની જે ૧૯૫૩માં બીજી સુધારેલી આવૃત્તિ બહાર પડી છે તેમાં આ રાજા વિષે (પા. ૪૧૮–૯) નીચે પ્રમાણે જણાવ્યું છે :

“ઈ. ૧૨૧૯(વિ. ૧૨૭૫)નો ભીમદેવ બીજાનો ભરાણાનો લેખ મળ્યો હોવાની ઉપર નોંધ કરી છે...પછી ઈ. ૧૨૧૯થી ૧૨૨૪ વચ્ચેના કોઈ પણ વર્ષમાં ઉપર કહેલા મુસલમાની હુમલાઓથી તથા પુષ્કળ દાનોથી જેની તિજોરીનું તળિયું દેખાઈ ગયું હતું તે ભીમદેવના રાજ્યને બળવાન મંડલિકોએ તથા મંત્રીઓએ દબાવવા માંડ્યું અને છેવટે જયંતસિંહે પાટણની ગાદી પચાવી પાડી...આ જયંતસિંહ મુખ્ય સોલંકી વંશનો કોઈ ભાયાત જ હોવો જોઇએ; જો કે કોઈ પ્રબંધમાં આનું નામ નથી અને એના લેખમાં એનો મુખ્ય વંશ સાથે સંબંધ બતાવ્યો નથી.”

આ હકીકત જોતાં ડૉ૦ ઉમાકાંતભાઈ શાહે મારી માન્યતા વિરુદ્ધ પ્રસ્તુત સિક્કા તે આ જયંતસિંહના હોવાની શક્યતા દર્શાવી છે તે સૂચવે છે કે તેમના મત પ્રમાણે વર્ષ બે વર્ષ માટે કોઈક ગાદી પચાવી પાડનારને તદ્દન નાના પ્રદેશ પર રાજ્ય કરનાર કોઈક એવો સોલંકી ભાયાત કે જેની નોંધ જૈન પ્રબંધાદિ તથા અન્ય સમકાલીન સાહિત્યના કર્ત્તાઓએ લેવાનું ઉચિત માન્યું નથી, તેના આ સિક્કા હોઈ શકે છે પણ જયસિંહ સિદ્ધરાજ જેવા ભારતવિખ્યાત અને મહાન રાજાના હોઈ શકતા નથી. ન્યુમિસ્મેટિક સોસાયટીના જર્નલના તંત્રીએ ડૉ૦ શાહના મંતવ્ય વિષે જે નોંધ લખી છે તેના પરથી જણાય છે કે ડૉ૦ શાહે પોતાની દલીલમાં આ જયંતસિંહની તેના તામ્રપત્ર પર श्रीमज्जयसिंह તરીકે તેણે કરેલી સહીનો દાખલો આપ્યો છે પણ જયસિંહ સિદ્ધરાજના તામ્રપત્રો પર પણ તેની ‘જયસિંહ’ નામની સહી મળી આવે છે તે વાતનો ઉલ્લેખ કર્યો જણાતો નથી. બંને સહીઓ વચ્ચે અંતર આટલું જ છે કે જયસિંહ સિદ્ધરાજની સહીમાં श्रीजयसिंहदेवस्य અને જયંતસિંહની સહીમાં श्रीमज्जयसिंहदेवस्य આ પ્રમાણે લખાણ છે ને પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર श्रीमज्जयसिंह લખાણ છે ને આ પ્રમાણે श्रीमत् શબ્દના કારણે સિક્કાઓનું લખાણ જયંતસિંહની સહીના લખાણ સાથે સામ્ય ધરાવે છે. પરંતુ આપણે આ હકીકત ધ્યાનમાં રાખવાની છે કે કોઈ રાજા પોતાના હાથે પોતાની સહી કરતાં આવાં વિશેષણો ન લખે. સોલંકી વંશના તામ્રપત્રોમાં મૂળરાજથી માંડી જ્યાં જ્યાં રાજાઓની સહીઓ મળી આવી છે ત્યાં ત્યાં તેમણે ક્યાંય श्रीमत् કે બીજાં વિશેષણ પોતાને હાથે સહીઓમાં લખ્યાં નથી; તેમ કરવાનું કોઈને શોભે પણ નહિ. બીજા પ્રદેશોમાં આ સમયનાં આવાં અનેક ઉદાહરણો મળી આવ્યાં છે કે જ્યાં રાજાઓ પોતાની સહીમાં श्रीमत् વિશેષણ વાપરતા નથી પણ તેમના સિક્કાઓ તથા તામ્રપત્રાદિમાં ઉલ્લેખિત તેમનાં નામો સાથે આ વિશેષણ વપરાયું છે.

વળી જયંતસિંહની સહીની બાબતમાં ડૉ૦ ઉમાકાંતભાઈએ જે ભાર મૂકયો છે તે સહી અશુદ્ધ છે તે વાત ઉલ્લેખનીય છે. આ રાજા પોતાના તામ્રપત્રમાં પોતાનું નામ સ્પષ્ટપણે ‘જયંતસિંહ’ હોવાનું જણાવે છે. આ તામ્રપત્ર ઉકેલનાર ડૉ૦ બ્યુલર તથા તેમની પછી તે ફરી વાંચનાર વિદ્વાનોએ તે श्रीमजयसिंहदेवस्य આ પ્રમાણે ઉકેલી છે. ડૉ૦ શાહ જણાવે છે તેમ તે સહીનું લખાણ श्रीमज्जयसिंहदेवस्य નથી. આ ઉપરથી લાગે છે કે આ રાજાને પોતાની સહી બરોબર કરતાં નહિ આવડતી હોય એટલે તેનાથી તામ્રપત્ર પર સહી કરતાં श्रीमज्जयंतसिंहदेवस्यને બદલે જેમાં બે અક્ષરો (ज् અને न्त) ખૂટે તે श्रीमजयसिंहदेवस्य લખાઈ ગયું. તામ્રપત્રો પર આવી અશુદ્ધ સહીઓના આવા અનેક દાખલા મળી આવ્યા છે.

આ બધા મુદ્દાઓની છણાવટ પછી એવો નિર્ણય બાંધી શકાય કે પ્રસ્તુત સિક્કાઓ કે જે કોઈ એવા ‘જયસિંહ’નાં છે કે જેનું ચલણ ઉત્તર ગુજરાત (કારણ તેના ચાંદીના સિક્કા આ પ્રદેશમાં પીલવઈ ખાતે મળ્યા છે) તથા સૌરાષ્ટ્ર(તેના તાંબાના સિક્કા આ પ્રદેશમાં મળેલા)માં ચાલ્યું હોય તે ‘જયસિંહ’ તે ‘જયસિંહ સિદ્ધરાજ’ જ હોઈ શકે છે. સોલંકી રાજાઓ સિક્કા પડાવતા તે વાત તેમના સમકાલીન સાહિત્ય પરથી આપણે જાણીએ છીએ.

ભારતીય સિક્કાઓના આકારપ્રકારના વિકાસનો અભ્યાસ કરતાં આપણને જણાય છે કે ગુપ્ત રાજાઓએ જે સિક્કા ચલાવેલા તેમાં ગુપ્તકાળ પછી ધીમે ધીમે કેટલોક ફેરફાર થતો ગયો અને ડાહલના હૈહય રાજા ગાંગેયદેવ(૧૦૧૫–૧૦૪૦)ના સમયે સિક્કાઓના આકાર–પ્રકારે જે વિશેષતા ધારણ કરેલી તે પ્રમાણે આ સિક્કાઓની આગલી બાજુ લક્ષ્મીની આકૃતિ અને પાછલી બાજુ સીધી ત્રણ સમાનાન્તર લીટીઓનું લખાણ હોય જેમાં ઇલ્કાબો સાથે સિક્કા ચલાવનાર રાજાનું નામ હોય. આ સિક્કાઓનો પ્રકાર ગાંગેયદેવની શૈલી તરીકે જાણીતો છે અને દક્ષિણ હિંદને બાદ કરતાં જ્યાં જ્યાં ગુર્જરપ્રતિહાર સામ્રાજ્યના પતન પછી જે અનેક રાજ્યો અસ્તિત્વમાં આવેલાં (દા૦ ત૦ ડાહલ, કનોજ, દિલ્હી, માળવા, વગેરેના હૈહય, તોમર, પરમાર ઇત્યાદિ વંશોનાં રાજ્યો જેમાં ગુજરાતનું સોલંકી રાજ્ય પણ એક હતું.) ત્યાં સઘળે આ ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કા પ્રચલિત થયા હતા. આ સિક્કાઓ એમના પ્રચલનના પ્રદેશોમાં મુસ્લિમ રાજ્યના આરંભ સુધી ચાલુ રહ્યા હતા. ‘જયસિંહ’ના પ્રસ્તુત સિક્કા આ ગાંગેયદેવની શૈલીના જ છે તે તેમના પરના લખાણની ત્રણ લીટીઓ વડે જણાય છે. ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કાઓ પર સામાન્યપણે એક બાજુ ગુપ્ત રાજાઓના સિક્કાઓની પરંપરારૂપે લક્ષ્મીની આકૃતિ મૂકવામાં આવતી. પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીની આકૃતિને બદલે હાથી છે. આપણા દેશના પ્રાચીન સિક્કાઓ પર દેવની આકૃતિના બદલે તેના પ્રતિનિધિ તરીકે તેના વાહનની આકૃતિ મૂકવાનો રિવાજ હતો. ગુપ્તોના સિક્કાઓ પર તેમના ઇષ્ટદેવ વિષ્ણુને બદલે તેના વાહન ગરુડની આકૃતિ જ મળી આવે છે તે જાણીતી વાત છે. ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કા કે જે ૧૧મીથી ૧૪મી સદી સુધી કાન્યકુબ્જ, બુંદેલખંડ, દિલ્હી તથા ગુજરાતના સોલંકીઓના સમકાલીન બીજા કેટલાય રાજવંશોએ પોતપોતાના પ્રદેશોમાં ચલણમાં મૂકેલા હતા તેમના પર શિવને બદલે તેના પ્રતિનિધિ તરીકે પોઠિયાની આકૃતિ મળી આવે છે. તો એવા સંજોગોમાં ‘જયસિંહ’ના પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર જે હાથીનું ચિહ્ન છે તે લક્ષ્મીનું પ્રતીક છે એમ માનવું ઉપયુક્ત જ છે. આ રીતે હાથીની આકૃતિ દક્ષિણના કેટલાક સિક્કાઓ પર પણ મળી આવી છે. મારા મિત્ર ડૉ૦ ઉમાકાંત શાહે મને એકવાર વાતચીતમાં જણાવેલું કે તેમને હાલમાં એક એવી જૂની સાહિત્યિક નોંધ મળી આવી છે જે સોલંકીઓના સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીની આકૃતિ રહી હોવાનું જણાવે છે. ‘જયસિંહ’ના પ્રસ્તુત સિક્કાઓ કદમાં છેક જ નાના છે અને તેમના પર લક્ષ્મીની આકૃતિ સમાઈ શકે તેમ નથી એટલે આવા સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીની જગાએ તેનું વાહન હાથી કે જે તેની સહેલી આકૃતિને લઈ ગમે તેટલા નાના સિક્કામાં સમાઈ શકે તે મૂકી હોય એમ માની શકાય.

ઉપર જણાવેલા બધા મુદ્દા આપણને આ નિર્ણય તરફ દોરી જાય છે કે પ્રસ્તુત સિક્કા ગુજરાતના સોલંકી રાજા જયસિંહ સિદ્ધરાજ(૧૦૯૪–૧૧૪૩)ના જ છે. સિદ્ધરાજ માત્ર ગુજરાત જ નહિ પણ આખા હિંદના ઇતિહાસમાં મોટો રાજા ગણાયો છે. તેણે મોટું સામ્રાજ્ય ઊભું કર્યું હતું. તેના પર આપણે ત્યાં ગુજરાતમાં ઇતિહાસ નવલકથાદિ સાહિત્ય ખૂબ લખાયું છે. પરંતુ ગુજરાત બહારના સાહિત્યમાં પણ તેના વિષે પુસ્તકો લેખાદિ લખાતાં રહે છે. હિંદી ભાષાના હાલ સૌથી મોટા અને પીઢ ગણાતા મહાકવિ શ્રી. મૈથિલીશરણ ગુપ્તે આપણા આ સિદ્ધરાજ વિષે હિંદી ભાષામાં ‘સિદ્ધરાજ’

નામનો એક ઉચ્ચ કોટિનો કાવ્યગ્રંથ લખ્યો છે જેના વિવેચન પર પણ હિંદીમાં સ્વતંત્ર પુસ્તકો લખાઇ ગયાં છે. આવા મોટા રાજાએ સિક્કાઓ પડાવ્યા હોય તે દેખીતું જ છે અને આ સિક્કા તાંબુ અને ચાંદી એમ બે ધાતુઓના જ મળી આવ્યા છે. ઝાન્સીના સોનાના સિક્કા તેના જ હોવાનો નિષ્ણાત નિષ્કશાસ્ત્રીઓએ અભિપ્રાય આપ્યો છે.

ગુજરાતમાં સોલંકીઓના જમાનામાં ગધૈયા (Indo-Sassasian) સિક્કાઓ જ ચાલુ રહેલા. આ વાત આ સિક્કાઓની શોધ તથા સમકાલીન સાહિત્યિક નોંધોના આધારે બરોબર લાગતી નથી.

આ હકીકત છતાં સોલંકીઓના સિક્કાઓ વિરલ સંજોગોમાં જ મળી આવે છે. તેમના ઉત્તરાધિકારીઓ ગુજરાતના મુસ્લિમ સુલતાનો(૧૪૦૩–૧૫૭૩)ના સિક્કાઓની જેમ તે અવારનવાર ઉપલબ્ધ થતા નથી. તેનું કારણ આ લાગે છે કે અલાઉદ્દીન ખીલજી (૧૨૯૫ – ૧૩૧૫) તરફથી તેના સેનાપતિ ઉલુઘખાને ૧૨૯૭માં ગુજરાત પર આક્રમણ કરી સોલંકી રાજ્યનો અંત આણ્યો હતો. પછી અહીં ખીલજી રાજ્ય સ્થપાયું હતું. અલાઉદ્દીનના રાજ્યમાં પ્રજા કચડાયેલી રહે અને તેના રાજ્યની સામે તે માથું ન ઊંચકી શકે તે માટે તેણે હિંદુ પ્રજા પર અસહ્ય કરવેરા નાખ્યા હતા. જીજિયા ઉપરાંત હિંદુઓ પર અનેક વેરાઓ લદાયા હતા. વળી ખેડૂત પાસેથી તેની ખેતીની ઊપજનો અર્ધોઅરધ ભાગ લેવામાં આવતો હતો. ખેડૂત પાસે માત્ર આવતો પાક વાવવા પૂરતી જ સગવડ રહે કે જેથી તે કર ભરવા પૂરતો જ જીવતો રહી શકે તેટલી હદ સુધી કરવેરાઓ મારફતે તેને આર્થિક દૃષ્ટિએ તદ્દન નીચોવી નાખવામાં આવતો. પરિણામે કુટુંબ, સમાજ, ધર્મ, ઇ૦ને લગતી જવાબદારીઓ પૂરી કરવા અલાઉદ્દીનના રાજ્યકાળમાં ગુજરાતના ખેડૂત, વેપારી તથા અન્ય વર્ગ પાસે જે કાંઈ નાણું, દરદાગીના ઇ૦ હતાં તે તેમણે બધાં કાઢી નાખવા પડ્યાં. આ રીતે અગાઉના સિક્કા કે બીજી વસ્તુઓના રૂપે ગુજરાતની પ્રજાનું સોનું ને ચાંદી દિલ્હી પહોંચ્યાં, જ્યાં આ બધાનો નાશ કરી નવા સિક્કા વગેરે પાડવામાં આવ્યા. સોલંકીઓના સિક્કાઓ આમ દિલ્હી ગળાવા માટે પહોંચતા તેની વિગત અલાઉદ્દીનની ટંકશાળના અમલદાર ઠક્કુર ફેરૂના પુસ્તક 'દ્રવ્યપ્રકાશ' પરથી જાણવા મળે છે.

આ છતાં જો ગુજરાતને આંગણે સોલંકીઓના સિક્કાઓ માટે સારી પેઠે તપાસ ચલાવવામાં આવે તો, જેમ આ લેખમાં જણાવેલા બે કિસ્સાઓમાં તે અચાનક મળી આવ્યા છે તેમ તે અનેક સ્થળે ચોક્કસ મળી આવે.

હેમચન્દ્રાચાર્ય : એમનું જીવન અને કવન

પ્રા૦ રમણલાલ સી૦ શાહ, એમ. એ.

ગુજરાતના ઇતિહાસમાં સુખ, સમૃદ્ધિ અને સંસ્કારિતાની દૃષ્ટિએ મહાન કહી શકાય એવો યુગ તે સોલંકી યુગ. આ યુગમાં મૂળરાજ, ભીમ, કર્ણ, સિદ્ધરાજ, કુમારપાળ એમ એક પછી એક પરાક્રમી, પ્રજાવત્સલ અને દૂરંદેશી રાજાઓ રાજ્ય કરી ગયા અને ગુજરાતની કીર્તિને એની ટોચે પહોંચાડી. લગભગ ત્રણસો વર્ષનો આ જમાનો ગુજરાતના ઇતિહાસમાં સુવર્ણયુગ તરીકે ઓળખાવા લાગ્યો. આ સુવર્ણયુગને એની પરાકાષ્ઠાએ પહોંચાડનાર સિદ્ધરાજ અને કુમારપાળ હતા. અને એ બન્ને રાજવીઓને મહાન બનાવનાર કલિકાલસર્વજ્ઞ, યુગપ્રવર્તક હેમચન્દ્રાચાર્ય હતા. જે સ્થાન વિક્રમાદિત્યના રાજ્યમાં કવિ કાલિદાસનું હતું, જે સ્થાન હર્ષના રાજ્યમાં બાણભટ્ટનું હતું તે સ્થાન સિદ્ધરાજ અને કુમારપાળના વખતમાં હેમચન્દ્રાચાર્યનું હતું. ઇતિહાસમાંથી હેમચન્દ્રાચાર્યને જો આપણે ખસેડી લઈએ તો એ સમયનું અપૂર્ણ અને અંધકારમય ચિત્ર આપણી સામે ખડું થવાનું. હેમચન્દ્રાચાર્ય ન હોત તો તત્કાલીન ગુજરાતી પ્રજા અને એ પ્રજાનાં ભાષા અને સાહિત્ય આટલાં સમૃદ્ધ ન હોત. હેમચન્દ્રાચાર્યના સમય પહેલાં માળવાના બજારોમાં ગુજરાતીઓની ઠેકડી ઊડતી. સાહિત્ય અને સંસ્કારિતામાં ગુજરાતીઓ શું સમજે એમ ગણી ગુજરાતીઓને તુચ્છ લેખવામાં આવતા. તેને બદલે ગુજરાતી પ્રજાને હેમચન્દ્રાચાર્યે કલા, સાહિત્ય અને સંસ્કારની દૃષ્ટિએ જાગ્રત અને સભાન બનાવી. એને લીધે એક સમય એવો આવ્યો કે જ્યારે પાટણમાં રહેવું અને પોતાની જાતને પટ્ટણી કહેવડાવવું એ ગૌરવ લેવાની વાત બની. તે સમયના ગુજરાતના સાધુઓ, શ્રેષ્ઠિઓ અને સૈનિકો ગુજરાત બહાર પંકાતા હતા.

હેમચન્દ્રાચાર્યના જીવન વિષે સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ગ્રંથોમાંથી પુષ્કળ માહિતી મળે છે. પ્રદ્યુમ્નસૂરિના 'પ્રભાવકચરિત્ર' મેરુતુંગાચાર્યના 'પ્રબંધચિંતામણિ,' રાજશેખરના 'પ્રબંધકોશ' અને જિનમંડન ઉપાધ્યાયના 'કુમારપાળચરિત્ર' નામના ગ્રંથોમાંથી હેમચન્દ્રાચાર્ય વિશે પુષ્કળ માહિતી મળી આવી છે. જેમ નરસિંહ અને મીરાં, તુકારામ અને જ્ઞાનેશ્વર, કબીર અને ચૈતન્ય જેવા સંતોના જીવન વિશે તેમ જ કાલિદાસ અને ભવભૂતિ જેવા કવિઓ કે વિક્રમ અને ભોજ જેવા રાજવીઓ વિશે અનેક દંતકથાઓ પ્રચલિત છે, તેમ હેમચન્દ્રાચાર્ય વિશે પણ ઘણી દંતકથાઓ પ્રચલિત છે. આમાંની કેટલીક દંતકથાઓ અવૈજ્ઞાનિક અને અનૈતિહાસિક અને કેટલીક તો દેખીતી રીતે જ ખોટી ઠરે એવી છે, કારણ કે એક ગ્રંથમાં એ એક રીતે આપવામાં આવી હોય અને બીજા ગ્રંથમાં બીજી રીતે આપવામાં આવી હોય. હેમચન્દ્રાચાર્યે પોતાના યોગના પ્રભાવ વડે અમાસની પૂનમ કરી નાખી હતી, મહમ્મદ ગઝનીને વિમાનમાં પોતાની પાસે આણ્યો હતો કે તાડપત્રી ખૂટતાં નવાં ઝાડ ઉગાડ્યાં હતાં—એવી એવી દંતકથાઓ ન માની શકાય એવી છે એમાં શંકા નથી.

હેમચન્દ્રાચાર્યનો જન્મ સંવત ૧૧૪૫માં કારતક શુદિ પૂનમને દિવસે ધંધુકામાં થયો હતો. એમના પિતાનું નામ ચાચ અને માતાનું નામ ચાહિણી (અથવા પાહિણી) હતું. હેમચન્દ્રાચાર્યનું બાલપણનું નામ ચંગ હતું. એમ કહેવાય છે કે એક વખત ધંધુકામાં દેવચન્દ્રસૂરિ પધારેલા તે સમયે ચાહિણી એમને વંદન કરવા જાય છે અને પોતે સ્વપ્નમાં એક રત્નચિંતામણિ જોયો હતો તેની વાત કરે છે. જ્યોતિષના જાણકાર દેવચંદ્રસૂરિ ચાહિણીના ચહેરાની રેખાઓ પારખીને કહે છે કે : તું એક રત્નચિંતામણિ જેવા

પુત્રને જન્મ આપીશ. ત્યાર પછી દેવચન્દ્રસૂરિ વિહાર કરતા ચાલ્યા ગયા. ફરી કેટલાંક વર્ષે જ્યારે દેવચન્દ્રસૂરિ પાછા ધંધુકામાં આવ્યા ત્યારે ચાહિણી એમને વંદન કરવા ગઈ. સાથે પાંચેક વર્ષનો ચંગ હતો. ચાહિણી જ્યારે વંદન કરતી હતી ત્યારે ચંગ મહારાજની પાટે ચઢી એમની પાસે બેસી ગયો હતો. તે સમયે દેવચન્દ્રસૂરિએ ચાહિણીને પેલા રત્નચિંતામણિની યાદ આપી, અને પુત્ર પોતાને સોંપવા કહ્યું. ચાહિણીનો પતિ તે સમયે બહારગામ વેપારાર્થે ગયો હતો; એટલે એને પૂછ્યા વિના પુત્ર કેવી રીતે આપી શકાય? દેવચન્દ્રસૂરિએ ચાહિણીને ખૂબ સમજાવી અને કહ્યું કે પતિ બહારગામ છે એ કદાચ ઈશ્વરી સંકેત હશે. અંતે ચાહિણીએ પોતાનો પુત્ર દીક્ષાર્થે દેવચન્દ્રસૂરિને સોંપી દીધો, અને દેવચન્દ્રસૂરિ વિહાર કરતા ખંભાત પહોંચ્યા. દરમ્યાન ચાચ બહારગામથી પાછો આવ્યો. પુત્રને ન જોતાં તુરત ગુસ્સે થઈ, ખાધાપીધા વિના પગપાળો ખંભાત આવી પહોંચ્યો અને મેલાઘેલા વેશે ઉદયન મંત્રી પાસે જઇ ફરિયાદ કરી. ઉદયન મંત્રીએ દેવચન્દ્રસૂરિ પાસેથી એનો પુત્ર મંગાવી એને પાછો સોંપ્યો, અને પછી સમજાવ્યું કે 'આ પુત્ર તારી પાસ રાખશો તો બહુ બહુ તો એ ધંધુકાનો નગરશેઠ બનશે; અને દેવચન્દ્રસૂરિને સોંપશે તો એક મહાન આચાર્ય થશે અને આખી દુનિયામાં નામ કાઢશે.' ઘણું સમજાવ્યા પછી ચાચે પોતાનો પુત્ર દેવચન્દ્રસૂરિને પાછો સોંપ્યો.

ત્યાર પછી નવમે વર્ષે ચંગને દીક્ષા આપવામાં આવી અને એનું નામ પાડવામાં આવ્યું સોમચન્દ્ર. નાના સોમચન્દ્રે ત્યાર પછી સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ભાષાનો અભ્યાસ કર્યો. સાથે સાથે વ્યાકરણ, કાવ્યાલંકાર, યોગ, ન્યાય, ઇતિહાસ, પુરાણ, તત્ત્વજ્ઞાન વગેરે ભિન્ન ભિન્ન શાખાઓનો પણ ઊંડો અભ્યાસ કર્યો. વિદ્યામાં પારંગત બનતાં આ સંયમી, અલ્પભાષી, તેજસ્વી યુવાન સાધુને વધુ અભ્યાસાર્થે કાશ્મીર જવાની ઇચ્છા થઈ. ગુરુએ એને સમજાવ્યું કે તારું સ્થાન ગુજરાતમાં છે, ગુજરાત બહાર જવાનાં સ્વપ્નાં સેવવાની જરૂર નથી. ઉત્તરોત્તર ગુરુને પણ પ્રતીતિ થતી જાય છે કે સોમચન્દ્રની દૃષ્ટિનો ઘણો વિકાસ થયો છે, એની પ્રજ્ઞા પરિણત બનવા લાગી છે, એની તેજસ્વિતા વધતી જ ચાલી છે. એટલે એમણે પોતાની પાટે આચાર્યપદે સોમચન્દ્રને સ્થાપવાનો નિશ્ચય કર્યો. અને વિ. સં. ૧૧૬૬માં સોમચન્દ્રને એકવીસમે વર્ષે દેવચન્દ્રસૂરિએ ખંભાતમાં વિધિપૂર્વક આચાર્યપદે સ્થાપ્યા અને એમનું નામ પાડવામાં આવ્યું હેમચન્દ્ર. એ સમયે હેમચન્દ્રાચાર્યની માતા, જેમણે પણ દીક્ષા લીધેલી છે તે હાજર હોય છે. માતાપુત્ર બંને આ રીતે સાધુજીવનમાં એકબીજાને નિહાળી પ્રસન્નતા અનુભવે છે. હેમચન્દ્રાચાર્ય પોતાની માતાને એ વખતે પ્રવર્તિનીનું પદ અપાવે છે.

અહીંથી હવે હેમચન્દ્રાચાર્યનો કીર્તિકાળ શરૂ થાય છે. પાટણમાં તે સમયે સિદ્ધરાજ (લોકોમાં જાણીતા સધરા જેસંગ)નું રાજ્ય ચાલતું હતું. એ સમયે હેમચન્દ્રાચાર્ય દેવસૂરિ સાથે પાટણમાં આવે છે અને બનારસથી આવેલા કુમુદચન્દ્ર સાથે ધર્મચર્ચામાં ભાગ લે છે. ત્યારથી સિદ્ધરાજને હેમચન્દ્રાચાર્યની પ્રતિભાનો પરિચય થાય છે. તે સમયે સિદ્ધરાજની વિદ્વદ્‌સભામાં રાજકવિ તરીકે શ્રીપાલને સ્થાન હતું, અને રાજપંડિત તરીકે દેવબોધને સ્થાન હતું, એ બન્નેને એકબીજા પ્રત્યે તેજોદ્વેષ હતો અને એકંદરે રાજાને એ બંનેથી અસંતોષ હતો. એટલે સિદ્ધરાજે પોતાની વિદ્વદ્‌સભામાં એ બંનેને બદલે હેમચન્દ્રાચાર્યને સ્થાન આપ્યું.

ત્યાર પછી સિદ્ધરાજે માલવા પર ચઢાઈ કરી. એમાં એને ફત્તેહ મળી. માલવાની અઢળક સમૃદ્ધિ ગુજરાતમાં લાવવા સાથે એના માણસો માલવાથી ગાડાંનાં ગાડાં ભરી હસ્તપ્રતો પણ લાવ્યા. એમાં કસિદ્ધરાજે 'ભોજ વ્યાકરણ'ની પ્રત જોઈ. પંડિતોને પૂછ્યું તો ગુજરાતમાં ક્યાંક 'ભોજ વ્યાકરણ', ક્યાંક ક્યાંક કાતંત્રનું વ્યાકરણ ચાલતું હતું. ગુજરાત પાસે પોતાનું કહી શકાય એવું વ્યાકરણ રચવાને હેમચન્દ્રાચાર્ય

સમર્થ છે એમ પંડિતોએ જણાવ્યું અને સિદ્ધરાજે હેમચન્દ્રાચાર્યને એવું વ્યાકરણ રચવાની વિનતિ કરી. એ માટે કાશ્મીરથી અને હિંદના બીજા ભાગોમાંથી ભિન્ન ભિન્ન વ્યાકરણોની પ્રતો સિદ્ધરાજે મંગાવી આપી. એનો સતત અને ઊંડો અભ્યાસ કરી હેમચન્દ્રાચાર્યે એક ઉત્તમ વ્યાકરણની રચના કરી. સિદ્ધરાજની વિનતિથી એ લખાયું માટે એની યાદગીરી રહે એટલા માટે એમણે વ્યાકરણનું નામ આપ્યું ‘ સિદ્ધહેમ. ’ આ વ્યાકરણની પંડિતોએ મુક્ત કંઠે પ્રશંસા કરી. સિદ્ધરાજે એની પહેલી હસ્તપ્રત હાથી પર અંબાડીમાં મૂકી નગરમાં ફેરવી અને એનો ઢંઢેરો પીટાવ્યો. ત્યાર પછી વિદ્વત્સભામાં એનું વિધિસરનું પઠન થયું. એ વ્યાકરણની હસ્તપ્રતો તૈયાર કરવા માટે ગુજરાતમાંથી ૩૦૦ જેટલા લહિયાઓને બોલાવવામાં આવ્યા. હસ્તપ્રતો તૈયાર થતાં હિંદુસ્તાનમાં ઠેરઠેર મોકલવામાં આવી. એની એક સુંદર હસ્તપ્રત રાજભંડારમાં પણ મૂકવામાં આવી અને ત્યારથી ગુજરાતમાં ‘ સિદ્ધહેમ ’ શીખવવાનું શરૂ થયું. કાકલ નામના એક વિદ્વાન પંડિતની પાટણમાં વ્યાકરણ શીખવવા માટે નિમણૂક કરવામાં આવી. આમ સિદ્ધરાજે હેમચન્દ્રાચાર્યના વ્યાકરણનું બહુમાન કર્યું, અને ત્યારથી હેમચન્દ્રાચાર્ય બીજી કૃતિઓની રચના કરવા તરફ પ્રેરાવા લાગ્યા.

સિદ્ધરાજ હેમચંદ્રાચાર્યની પ્રતિભાથી એટલા બધા પ્રભાવિત થયા કે ત્યારથી હેમચંદ્રાચાર્યે સિદ્ધરાજના મિત્ર અને માર્ગદર્શકનું સ્થાન લીધું. એને પરિણામે સિદ્ધરાજનો જૈન ધર્મ પ્રત્યેનો અનુરાગ વધ્યો; એને પરિણામે હેમચન્દ્રાચાર્યે સિદ્ધરાજના જીવન અને સોલંકી યુગ વિશે સંસ્કૃતમાં ‘ દ્વયાશ્રય ’ મહાકાવ્ય લખ્યું, એને પરિણામે સિદ્ધરાજ હેમચન્દ્રાચાર્ય સાથે જૈન દેરાસરમાં દર્શન કરવા જતા અને હેમચન્દ્રાચાર્ય સિદ્ધરાજ સાથે સોમનાથની યાત્રાએ જતા. ધાર્મિક સંકુચિતતા અને અસહિષ્ણુતાના એ જમાનામાં હેમચન્દ્રાચાર્ય ધર્મના સાંપ્રદાયિક સ્વરૂપથી પર હતા, અને માટે જ સોમનાથના શિવલિંગને ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै। કહીને પ્રણામ કરી સ્તુતિ કરવા લાગ્યા હતા. સિદ્ધરાજને સર્વધર્મસમન્વયનું માહાત્મ્ય સમજાવનાર પણ હેમચન્દ્રાચાર્ય જ હતા. કોઈ પણ ધર્મ માત્ર પોતે જ સાચો છે એવું મિથ્યાભિમાન ધરાવી ન શકે. દરેક ધર્મમાં કંઈક અવનવું રહસ્ય સમાયેલું છે; અને માટે જ સંજીવની ન્યાય પ્રમાણે બધા ધર્મનો સમભાવપૂર્વક અભ્યાસ કરનાર જ સાચો ધર્મ પામી શકે છે એમ હેમચન્દ્રાચાર્ય માનતા હતા અને એ પ્રમાણે માનતા સિદ્ધરાજને કર્યા હતા.

સિદ્ધરાજને સંતાન ન હોવાથી એની ગાદીએ આવે છે એનો ભત્રીજો કુમારપાળ; અને અહીંથી હેમચન્દ્રાચાર્યના જીવનનો ત્રીજો તબક્કો શરૂ થાય છે. જ્યોતિષના જાણકાર હેમચન્દ્રાચાર્યને અગાઉથી ખબર પડી ગઈ હતી કે નહિ તે બાજુ પર રાખીએ, પણ એટલું તો જરૂર કહી શકાય કે હેમચન્દ્રાચાર્યે સાધુબાવાને વેશે ભટકતા કુમારપાળને, સિદ્ધરાજના માણસો એનું ખૂન કરવા ફરતા હતા ત્યારે માત્ર માનવતાથી પ્રેરાઈ ને ઉપાશ્રયમાં તાડપત્રી નીચે સંતાડી દીધા હતા. આ ઉપકાર કુમારપાળ ભૂલ્યા ન હતા. રાજ્યરોહણ પછી શરૂઆતનાં પંદરેક વર્ષ રાજ્ય સ્થિર કરવામાં અને વિસ્તારવામાં ગયાં. ત્યાર પછી કુમારપાળ રાજાએ પોતાના ગુરુ હેમચન્દ્રાચાર્યની ઇચ્છાનુસાર વર્તવાનું શરૂ કર્યું. હેમચન્દ્રાચાર્યની ઇચ્છા મુજબ પોતાના રાજ્યમાં પશુવધ, જુગાર, શિકાર, માંસભક્ષણ, દારૂ વગેરે પર કુમારપાળે પ્રતિબંધ ફરમાવ્યો. રાજ્યની કુલદેવી કંટેશ્વરીને અપાતું બલિદાન બંધ કરાવ્યું. પુત્રરહિત વિધવાનું ધન જપ્ત થતું બંધ કરાવ્યું. જૈન ધર્મ પ્રત્યેના અનુરાગને લીધે ઠેર ઠેર જૈન મન્દિરો બંધાવ્યાં અને પરમાર્હતનું બિરુદ લોકો તરફથી મેળવ્યું. સિદ્ધરાજની જેમ કુમારપાળને પણ પુત્ર ન હોવાથી જિંદગીનાં છેલ્લા વર્ષોમાં એની નિરાશા વધી ગઈ હતી, તે સમયે એના મનનું સમાધાન કરાવવા માટે હેમચન્દ્રાચાર્યે યોગશાસ્ત્રની રચના કરી.

હેમચન્દ્રાચાર્યનું આખું જીવન સતત ઉદ્યોગપરાયણ હતું. એકંદરે દીર્ઘાયુષ્ય એમને સાંપડ્યું હતું. પોતાનો અવસાન સમય પાસે આવેલો જાણી તેમણે અનશનવ્રત શરૂ કર્યું. શિષ્યોને પણ અગાઉથી સૂચના આપી દીધી હતી. એમ કરતાં સં૦ ૧૨૨૯માં ૮૪ વર્ષની વયે એમનું અવસાન થયું.

સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં પણ હેમચન્દ્રાચાર્યનું અર્પણ જેવુંતેવું નથી. માત્ર હિંદુસ્તાનની અન્ય ભાષાઓના સાહિત્યમાં જ નહિ, વિશ્વસાહિત્યમાં જેને મૂકી શકાય એવી સર્વતોમુખી પ્રતિભાવાળા હેમચન્દ્રાચાર્ય હતા. એમની કીર્તિ દેશવિદેશના પ્રાચીન ભાષાસાહિત્યના અભ્યાસીઓમાં પ્રસરેલી છે. આશ્ચર્ય થશે કે અર્વાચીન સમયમાં એમના જીવન અને સાહિત્ય ઉપર સૌ પ્રથમ સુંદર સમીક્ષા કરનાર એક જર્મન પંડિત ડૉ૦ બુલ્હર છે. શ્રી કનૈયાલાલ મુનશીએ એમને યોગ્ય રીતે જ ગુજરાતના મહાન જ્યોતિર્ધર તરીકે ઓળખાવ્યા છે. એમની સાહિત્યસેવાનો સુંદર, સચોટ અને સંક્ષિપ્ત પરિચય સોમપ્રભસૂરિએ એક શ્લોકમાં આપ્યો છે :

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्वयाश्रयाऽलंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्रं नवम् ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं वद्धं येन न केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ॥

અર્થાત્—"નવું વ્યાકરણ, નવું છંદશાસ્ત્ર, દ્વયાશ્રય મહાકાવ્ય, નવું અલંકારશાસ્ત્ર, નવું યોગશાસ્ત્ર, નવું તર્કશાસ્ત્ર અને જિનવરોનાં નવાં ચરિત્ર—આ સઘળું જેમણે રચ્યું તે હેમચંદ્રાચાર્યે લોકોનો મોહ કઈ કઈ રીતે દૂર નથી કર્યો ?"

એટલે કે હેમચન્દ્રાચાર્યે પોતાના સમયમાં સાહિત્યના એક પણ ક્ષેત્રમાં પોતાનો અમૂલ્ય ફાળો આપવાનો બાકી રાખ્યો નહોતો.

એમણે સિદ્ધહેમ-શબ્દાનુશાસન નામના વ્યાકરણની રચના કરી. એ વ્યાકરણની એ સમયથી તે અત્યાર સુધી પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ભાષાના એક આધારભૂત વ્યાકરણ તરીકે ગણના થાય છે. પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ભાષાના બંધારણ વિષે આપણને હેમચન્દ્રાચાર્યના વ્યાકરણ જેવું આધારભૂત વ્યાકરણ બીજું એકે મળતું નથી; એટલે ભવિષ્યમાં પણ વર્ષો સુધી એમનું આ વ્યાકરણ જ આધારગ્રંથ તરીકે રહેશે. હેમચન્દ્રાચાર્યે આ વ્યાકરણમાં—વિશેષતઃ અપભ્રંશ ભાષાના વ્યાકરણના નિયમોમાં—ઉદાહરણ તરીકે વ્યવહાર, પ્રેમ, શૌર્ય અને શૃંગારના જે દૂહાઓ આપ્યા છે તે વ્યાકરણના ઉદાહરણ કરતાં ઉત્તમ કવિતા તરીકે વધુ જાણીતા થયા છે. એ દૂહાઓ એ જમાનાનો આપણને ખ્યાલ આપે છે અને સાથે સાથે સાધુ હેમચન્દ્રાચાર્ય સાંસારિક બાબતોને પણ અલિપ્ત રહી કેટલી ઝીણવટથી નિહાળતા હશે તેનો પણ ખ્યાલ આપે છે.

આ ઉપરાંત એમણે અનેકાર્થસંગ્રહ, અભિધાનચિંતામણિ અને દેશીનામમાલા જેવા શબ્દસંગ્રહો તૈયાર કર્યા. એ જમાનામાં એમણે એક નહિ, પણ ભિન્ન ભિન્ન દષ્ટિબિન્દુથી ત્રણ ત્રણ શબ્દકોષ તૈયાર કર્યા. સિદ્ધહેમ-શબ્દાનુશાસન પછી એમણે લિંગાનુશાસન, છંદાનુશાસન અને કાવ્યાનુશાસન એમ ત્રણ બીજાં શાસનોની રચના કરી. વ્યાકરણના નિયમના ઉદાહરણ તરીકે પણ રજૂ થઈ શકે એવા શ્લોકની રચના વડે એમણે સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં દ્વયાશ્રય નામનું મહાકાવ્ય લખ્યું. યોગશાસ્ત્ર, મહાવીરચરિત્ર અને પુરાણોની તોલે મૂકી શકાય એવા ત્રિષષ્ટીશલાકાપુરુષચરિત્ર જેવા મહાન ગ્રથો લખ્યા. એટલે સાહિત્યના ક્ષેત્રે પણ ભિન્નભિન્ન શાખાઓમાં એમણે પોતાનો વિશિષ્ટ ફાળો નોંધાવ્યો. હેમચન્દ્રાચાર્ય મહાન વિદ્વાન હતા, મહાન કોષકાર હતા, મહાન કવિ હતા અને મહાન વૈયાકરણી પણ હતા. એમની અજોડ પ્રતિભા વ્યાકરણ જેવા શુષ્ક ગણાતા વિષયમાં અને કવિતા જેવા

રસિક ગણાતા વિષયમાં એક સરખી આસાનીથી વિહરતી. સાહિત્યની સેવા અને ઉપાસનામાં એમણે પોતાની જિંદગીનાં લગભગ ૬૪ જેટલાં વર્ષ આપ્યાં. એમણે પોતાના સમયમાં સાહિત્યનો એક વિશિષ્ટ યુગ પ્રવર્તાવ્યો એમ કહી શકાય.

હેમચન્દ્રચાર્ય એક જૈનાચાર્ય અને પ્રખર સાહિત્યકાર તરીકે તો મહાન હતા, પણ એક માનવ તરીકે પણ મહાન હતા. તેઓ અત્યંત બાહોશ, તેજસ્વી અને વિનમ્ર હતા. હૃદયની વિશાળતા અને ઉદારતા વડે એમણે દેવબોધ કે શ્રીપાલ જેવા વિરોધી કે પ્રતિસ્પર્ધીને જીતી લીધા હતા. તેઓ સાધુ હતા, છતાં સાંસારિક બાબતોમાં રસ લેતા હતા અને તો પણ સંસારના રંગથી રંગાયા વિના તેઓ સાંસારિક પ્રવૃત્તિઓને પોતાના સાધુત્વના રંગથી રંગી દેતા. તેઓ હંમેશાં સંપ્રદાયથી પર જ રહ્યા હતા. પોતાના જીવન દરમ્યાન એક નહિ પણ બે રાજાઓને પોતાના વ્યક્તિત્વથી પ્રભાવિત કર્યા હતા અને અત્યંત કુનેહ, કાર્યકુશલતા અને સમભાવ વડે પોતાની ઇચ્છા મુજબ તેમની પાસે કાર્ય કરાવી શક્યા હતા. લાખોની સંખ્યામાં એમના અનુયાયીઓ હતા અને છતાં જુદો પંથ પ્રવર્તાવવાની એમણે કદી મહત્ત્વાકાંક્ષા સેવી નહોતી. એમના શિષ્યો તો એમનાં ગુણગાન ગાતાં થાકતા જ નહિ. કેટલાક તો विद्यांभोनिधिमंथमंदरगिरिः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः। જેવી પંક્તિઓ ઉચ્ચારી વર્ષોનાં વર્ષો સુધી પ્રાતઃકાળમાં એમનું સ્મરણ કરતા.

હેમચન્દ્રાચાર્ય માત્ર ગુજરાતના જ નહિ, માત્ર હિંદુસ્તાનના જ નહિ પણ જગતના એક મહાન માનવી હતા એમ નિઃસંકોચ જરૂર કહી શકાય.

એવા મહાન જ્યોતિર્ધરને આપણાં વંદન હો !

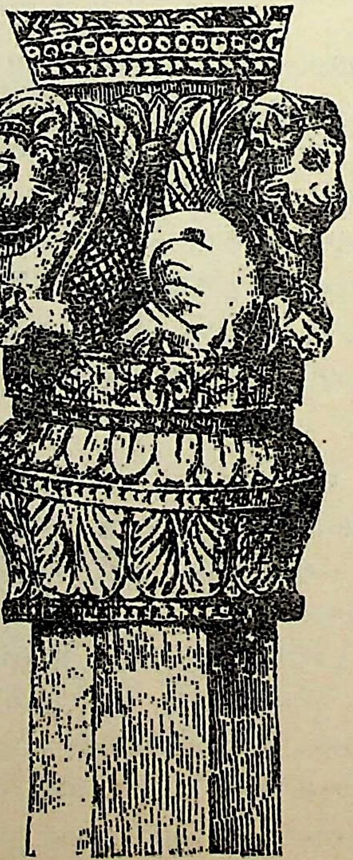

‘ખુશ્‌ફહમ’ સિદ્ધિચંદ્રગણિકૃત

नेमिनाथ चतुर्मासकम्

પ્રા૦ મંજુલાલ ર૦ મજમુદાર, એમ.એ., એલએલ. બી. પીએચ.ડી.,

સિદ્ધિચંદ્રગણિ ઉપાધ્યાય એ ભાનુચંદ્રના શિષ્ય થાય. આ બન્ને ગુરુ-શિષ્ય શહેનશાહ અકબરના દરબારમાં રહ્યા હતા અને સન્માનિત થયા હતા.

ગુરુ ઉપાધ્યાય ભાનુચંદ્ર અકબર પાસે સંસ્કૃતમાં ‘સૂર્યસહસ્ર નામ’ બોલતા; એટલે અકબરશાહ તેમના મુખેથી દર રવિવારે સૂર્યનાં સહસ્ર નામ શ્રવણ કરતા. ઇતિહાસનવીસ બદાઉનિ લખે છે કે “બ્રાહ્મણોની માફક સમ્રાટ પણ પ્રાતઃકાળે પૂર્વ દિશા તરફ મુખ રાખી ઊભા રહેતા અને સૂર્યની આરાધના કરતા; તેમ જ સૂર્યનાં સહસ્ર નામનો પણ સંસ્કૃત ભાષામાં જ ઉચ્ચાર કરતા” (બદાઉનિ ૨, ૩૩૨)

આવા પ્રભાવશાળી ગુરુના શિષ્ય સિદ્ધિચંદ્રે બાદશાહ અકબરને પ્રસન્ન કર્યા હતા; અને તે ઉપરથી સિદ્ધાચલ પર મન્દિરો બંધાવવાનો બાદશાહે જે નિષેધ કર્યો હતો તે તેમની પાસે જ દૂર કરાવ્યો હતો. સિદ્ધિચંદ્રે ‘યાવની’ એટલે ફારસી ભાષાના ઘણા ગ્રંથો બાદશાહને જિજ્ઞાસુ જાણી ભણાવ્યા હતા.

એક શાંતિચંદ્ર નામના મુનિએ પણ ‘कृपारसकोश’ નામે સંસ્કૃત કાવ્ય રચી અને સંભળાવી અકબરશાહ ઉપર ભારે અસર કરી હતી—જેને પરિણામે જીવદયાના પાલનમાં તથા ‘જજિયા’ જેવો કર કાઢી નાખવાની બાદશાહે કૃપા કરી હતી. આ શાંતિચંદ્ર ‘શતાવધાની’ હતા: એક સાથે સો જેટલી વસ્તુઓમાં તેઓ ધ્યાન રાખી તેને મગજમાં ઠસાવી શકતા. તેમની જેમ, ભાનુચંદ્રના શિષ્ય સિદ્ધિચંદ્ર પણ શતાવધાન કરી શકતા હતા. આ સિદ્ધિચંદ્રના પ્રયોગો જોઈ, બાદશાહે તેમને ‘ખુશ્‌ફહમ’ની પદવીથી વિભૂષિત કર્યા હતા.

કહેવાય છે કે એકવાર તો બાદશાહે બહુ સ્નેહથી એમનો હાથ પકડીને કહ્યું: “હું આપને પાંચ હજાર ઘોડાના મનસબવાળી મોટી પદવી અને જાગીર આપું છું. તેનો સ્વીકાર કરી તમે રાજા બનો, અને આ સાધુવેષનો ત્યાગ કરો.” પણ મુનિએ સાધુવેષને બદલ્યો નહિ.

બાણભટ્ટની ‘કાદમ્બરી’ પર તેના ‘પૂર્વખંડ’ની ટીકા ગુરુ ભાનુચંદ્રે અને ઉત્તરભાગની ટીકા શિષ્ય સિદ્ધિચંદ્રે કરેલી છે. તેની પુષ્પિકામાં તેમણે પોતાનો પરિચય આપ્યો છે તે ખૂબ ઉપયોગી છે:

“इति श्री पातसाहश्री अकब्बर जल्लालदिन सूर्यसहस्रनामाध्यापकः, श्रीशत्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृत विधायक महोपाध्याय श्री भानुचंद्रगणिविरचितायां तच्छिष्याष्टोत्तरशतावधान साधकप्रमुदित बादशाह श्री अकब्बरप्रदत्त ‘खुशफहम’पराभिधान श्रीसिद्धिचंद्रगणिरचितायां कादम्बरीटीकायामुत्तरखण्डटीका समाप्ता ।[1]”

---

[1] તેમ જ ગુરુશિષ્યે શોધિત ‘वसंतराज’ ટીકામાં આવો ઉલ્લેખ છે; અને ‘भक्तामरस्तोत्र’ની ટીકાના પ્રારંભમાં સિદ્ધિચંદ્રે આત્મપરિચય આપ્યો છે:

> “कर्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्तवादिनाम् ।
> वेत्ता षडपिशास्त्राणामध्येता फारसीमपि ॥
>
> अकब्बरसुरत्राणहृदयांबुजषट्पदः ।
> दधानः ‘खुशफहमिति’ बिरुदं शाहिनार्पितम् ॥
>
> तेन वाचकचंद्रेण सिद्धिचंद्रेण तन्यते ।
> भक्तामरस्य बालानां वृत्तिर्व्युत्पत्तिहेतवे ॥”

આ ‘ખુશ્ફહમ’ સિદ્ધિચન્દ્રગણિ જેવા સંસ્કૃત તથા ફારસીના પંડિત હતા તેવા, લોકભાષા ગુજરાતીના પણ સારા જ્ઞાતા હતા. તેમણે રચેલું એક ચાર ‘ટૂંક’નું ટૂંકું, છતાં છટાદાર ‘ચોમાસીકાવ્ય’ મુરબ્બી સ્વર્ગસ્થ મોહનલાલ દલીચંદ દેશાઈને પ્રાપ્ત થયું હતું. તેમણે તેની નકલ તેમની પાસેની જૂની પ્રતિ ઉપરથી ઉતારીને મને મોકલી હતી, જે આ પ્રસંગે પ્રસિદ્ધિમાં મૂકવાની તક હું લઉં છું. તેનું શ્રેય સ્વ૦ મોહનલાલભાઈને જ ઘટે છે.

આ કાવ્ય ઉપરથી સિદ્ધિચન્દ્રને આપણે ગુજરાતી કવિ તરીકે ઓળખવાનું બની શક્યું છે. આ ઉપરાંત આ કવિએ ‘कादम्बरी कथानक’નો ગુજરાતી ગદ્ય-સંક્ષેપ પણ તે કથાના જિજ્ઞાસુઓ માટે લખેલો છે જે ‘पुरातत्त्व ત્રૈમાસિક’ પુસ્તક ૫(૧૯૨૭)માં પ્રગટ થયો છે.

‘नेमिनाथ चतुर्मासकम्’ની રચના કવિના ફારસી ભાષાના અભ્યાસની પણ દ્યોતક છે. એમાં ચાર માસ(શ્રાવણ, ભાદરવો, આસો અને કાર્તક)માંથી પ્રત્યેક માસ માટે પહેલાં એક ‘દૂહો’ અને પછી બીજો ‘હરિગીત’ એમ બે છંદમાં પ્રાસાદિક રચના તેમણે કરી છે. ‘દૂહા’ના ચોથા ચરણનો અંત્ય શબ્દ બીજા છંદના પ્રારંભમાં સંભારવામાં આવ્યો છે; અને એ રીતે બન્ને છંદને ગૂંથી લઈ ‘સાંકળી’ ઉપજાવવામાં આવી છે.

પિંગળના ‘હરિગીત’ છંદ—જેમાંથી આગળ જતાં ‘ગજગતિ’ અને ‘**સારસી**’ છંદ બન્યા છે—તે હરિગીતમાં કવિએ કેટલેક સ્થળે બબ્બે અને કેટલેક સ્થળે ત્રણ ત્રણ અનુપ્રાસ ગોઠવ્યા છે. ‘ચારણી ઋતુગીતો’નો એક મધ્યકાલીન પદ્યપ્રકાર જાણીતો છે,[૨] પરંતુ તેની રચના બસો-અઢીસો વર્ષથી પ્રાચીન મળી આવી નથી.

તેની સરખામણીમાં સિદ્ધિચન્દ્રગણિની ‘चतुर्मासकम्’ની રચના પુરોગામી છે; અને તેથી વિશેષ પ્રાચીન છે. તેનો રચનાકાળ સંવતના સત્તરમા શતકનો પૂર્વાર્ધ છે, તથા જેના રચનાર સંબંધી ખૂબ ઐતિહાસિક માહિતી પ્રાપ્ત છે તેવું આ કાવ્ય, ગુજરાતી પદ્યસાહિત્યમાં વિરલ છે.

*

શ્રાવણ

(દૂહો) શ્રાવણ રિતુ રલિઆમણી, ધરા સીંચી જલધાર;
ચિત-ચાતક ‘પિઉપિઉ’ ચવઈ, મોર કીઉ મલ્હાર.

(હરિગીત) મલ્હાર મનહર કીય મયૂરહ, વીજ ચમકઈ ચિહુ વલઈ;
મદમસ્ત જોવન-જોર-માતી, વિરહી રાજુલ વિલવલઈ;
નિસિ અંધારી, નિરાધારી, પિયુ-વિહૂણી પદમણી;
ખુસફહમ સાંઈ મિલિ દિલખુસ, સુહાઈ રિતુ શ્રાવણી-૧

*

---

[૨] એક દૃષ્ટાંત જોઈએ:

(દૂહો) “વિનતા તમને વિનવે, નહિ નેઠો કે નેઠ;
એકવાર માધા ! આવજો, જો અબ આયો જેઠ.

(હરિગીત) અબ જેઠ આયો, લહેર લાયો, ચંત ચ્હાયો શ્યામને
જદુવંશ-જાયો, નાથ ના’યો, ક્હણ ક્હાયો કા’નને;
વનવેણુ વાતાં, રંગ-રાતાં, ગોળ ગાતાં ગાનને.
ભરપૂર જોબનમાંય, ભામન કહે રાધા કા’નને;
—જી ! કહે રાધા કા’નને—”

ભાદરવો

(દૂહો) ભાદ્રવ સર સુભર ભરે, નદીઆં નીર ન અંત;
વનિ વનિ ફૂલી વેલીઆં, ભમર ભણુઈ ભણુંત.

(હરિગીત) ભણુંત ભમરા ભમઈ ભૂતલિ, કરત કેલા કામિણી;
રસરંગ રાતી, લાઈ છાતી, સંગિ લાલ સુહામણી;
વિણુ–નાહ દાહ અગાહ વ્યાપિત નેમિ સમરું નિજપતિ;
સિદ્ધિચંદ્રકેરા આઉ 'સાહચ',–રટતી એમ રાજીમતિ–૨

*

આસો

(દૂહો) આસો અંગિ ઉમાહ અતિ, ચંદા–રયણી ચંગ;
નિરમલ જલ ઝૂલઈ નિપટ, લીલા–ગતિ લીલંગ.

(હરિગીત) લીલંગ લીલા લહરિ– લુબધા, હંસ ખેલઈ હરખસ્યું;
દુઃખ નિસિ દુહેલી સુણી, સહેલી ! નયણિ કબ પિય નિરખસ્યું?
સુખ પ્રીતિ સારી, કાં વિસારી? ચતુર ! નવ ભવકી ચલી.
સિદ્ધિચંદ્રકે પ્રભુ ચાહિ સનમુખ, રંગ રસિ પૂરો રલી–૩

*

કાર્તિક

(દૂહો) કઉતિગ કાતિગ માસકો, સુભિક્ષ ભયો સબ દેસ;
દંપતી–પર્વ દીપાલિકા, ભાવત પહરઈ ભેખ.

(હરિગીત) ભલ ભેખ રેખ બનાઈ ભામિની, સકલ લોક સ–ઊજમા;
આનંદ ગૃહ ગૃહ કરઈ ઉચ્છવ, અંગિ લાવઈ કુમકુમા;
ગિરિ: રૈવતાચલ મિલે જગગુરુ, શીખ રાજુલકુ દઈ;
સિદ્ધિચન્દ્રકે પ્રભુસુ, વર–પહિલી, સિદ્ધિપુર સુંદરી લઈ–૪

*

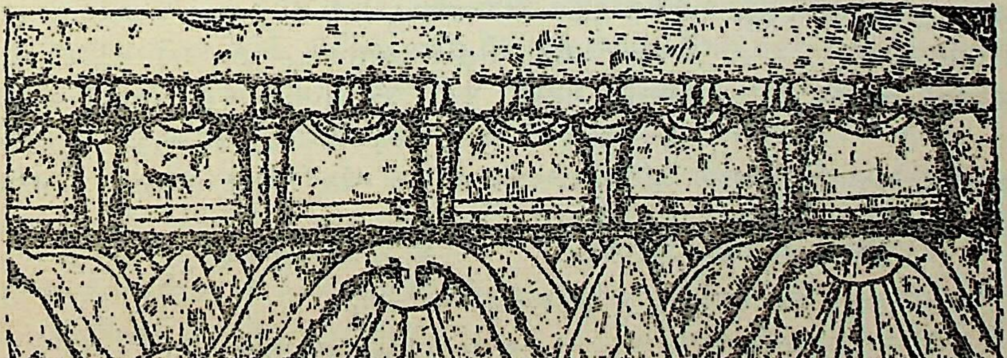

ભાવલિંગનું પ્રાધાન્ય

ડૉ૦ ભગવાનદાસ મનઃસુખભાઈ મહેતા, એમ. બી., બી. એસ.

'આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે;
વસ્તુગતે જે વસ્તુ પ્રકાશે, આનંદઘન મત સંગી રે.'

આ ટંકોત્કીર્ણ વીરવાણીની ઉદ્‌ઘોષણા કરનારા મહાગીતાર્થ વીતરાગ મુનીશ્વર મહર્ષિ **આનંદઘનજી**નું સુભાષિત વચનામૃત છે કે :

'પરિચય પાતક ઘાતક સાધુ શું, અકુશલ અપચય ચેત.'

પાતક–ઘાતક સાધુનો પરિચય

પાતકનો—પાપનો ઘાત—નાશ કરે, પાપ–દોષને હણી નાખે એવા સાચા સાધુ પુરુષનો પરિચય થાય તો ચિત્ત અકુશલ ભાવના અપચયવાળું (ન્યૂનતાવાળું) બને અને પ્રવચનવાણીની પ્રાપ્તિ થાય. પ્રાપ્ત હોય તેની પાસેથી પ્રાપ્તિ થાય. ઐશ્વર્યવંત હોય તે દારિદ્રય ફેડે. 'કૂવામાં હોય તો હવાડામાં આવે.' જેને પ્રવચનવાણી પ્રાપ્ત હોય અર્થાત્ આત્મપરિણામ પામી હોય, એવા 'પ્રાપ્ત' પરિણત ભાવિતાત્મા સાધુપુરુષ જ તેની પ્રાપ્તિમાં આપ્ત ગણાય. સાધુ કોણ ? અને કેવા હોય ? તે વિચારવા યોગ્ય છે. સાધુનાં કપડાં પહેર્યાં, દ્રવ્યલિંગ ધારણ કર્યું, એટલે સાધુ બની ગયા એમ નહિ, પણ આદર્શ સાધુગુણસંપન્ન હોય તે સાધુ, જેનો આત્મા સાધુત્વગુણે ભૂષિત હોય તે સાધુ, સમ્યગ્ દર્શન–જ્ઞાન–ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગને સમ્યક્‌પણે સાધે તે સાધુ, જે આત્મજ્ઞાની ને ખરેખરા આત્મારામી વીતરાગ હોય તે સાધુ, એ વાર્તા સ્પષ્ટ સમજી લેવા યોગ્ય છે. અત્રે આવા ભાવસાધુ જ મુખ્યપણે વિવક્ષિત છે. 'આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે,' તેમ જ 'મુનિગણ આતમરામી રે' ઇત્યાદિ **આનંદઘનજી**નાં અન્ય વચનો પણ આ જ સૂચવે છે.

ભાવસાધુનું જ માન્યપણું: નિષ્કષાયતા જ સાધુતાનો માપદંડ

શાસ્ત્રોક્ત સાધુ ગુણ–ભાવથી રહિત એવા દ્રવ્યાચાર્ય–દ્રવ્યસાધુ વગેરે તો ખોટા રૂપિયા જેવા છે. તેને માનવા તે તો કૂડાને રૂડા માનવા જેવું છે અને તે રૂડું નથી, માટે ભાવાચાર્ય–ભાવસાધુ આદિનું જ માન્યપણું શાસ્ત્રકારે સંમત કરેલું છે. આવશ્યકનિર્યુક્તિમાં ધાતુ અને છાપના દૃષ્ટાંતે **શ્રીભદ્રબાહુ સ્વામી**એ અને યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયમાં યોગબીજ પ્રસંગે **શ્રીહરિભદ્રસૂરિ**એ એ જ વાત સ્પષ્ટ કરી છે.[1] નમસ્કાર મંત્રમાં પણ પંચ પરમેષ્ઠિ મધ્યે જેને ગૌરવભર્યું સ્થાન આપ્યું છે તે મુખ્યપણે યથોક્ત ગુણગણગુરુ ભાવાચાર્ય–ભાવસાધુને અનુલક્ષીને. મહર્ષિ હરિભદ્રાચાર્યજીએ તો આ અંગે પંચાશક શાસ્ત્રમાં હરિગર્જના

---

[1] "आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु ।" — **શ્રી યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચય**

"किंविशिष्टेषु ? आह 'भावयोगिषु' न द्रव्याचार्यादिष्वधर्मजलक्षणेषु,
कूटरूपे खल्वकूटबुद्धेरप्यसुन्दरत्वात् ।" — **શ્રી યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયવૃત્તિ**

આ અંગે વિશેષ જિજ્ઞાસુએ આ લેખકે સવિસ્તર વિવેચન ('સુમનોનંદના' બૃહત્ ટીકા) કરેલ યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચય ગ્રંથનું અવલોકન કરવું.

કરી છે કે–[2] 'સાધુને કાલદોષથી હોય તો કવચિત્ અતિ અતિ સૂક્ષ્મ એવો સંજ્વલન કષાયનો ઉદય હોય, બાકી તો કષાય હોય જ નહિ, અને જો હોય તો તે સાધુ જ નથી. કારણ કે સર્વેય અતિચારો સંજ્વલનના ઉદયથી હોય છે, પણ અનંતાબંધી આદિ બાર કષાયના ઉદયથી તો સચોડો વ્રતભંગ થતો હોવાથી મૂલછેદ્ય પ્રાયશ્ચિત્ત લાગે છે, અર્થાત્ સાધુપણું જ મૂલથી નષ્ટ થાય છે. તાત્પર્ય કે લગભગ વીતરાગ જેવી–વીતરાગવત્ દશા જેની હોય તે જ સાધુ છે; અને વીતરાગતા—નિષ્કષાયતા એ જ સાધુતાની કસોટી વા માપદંડ છે.'

બાલજીવોની દ્રવ્યલિંગ-પ્રધાન દૃષ્ટિ

આમ સ્પષ્ટ શાસ્ત્રસ્થિતિ છતાં અજ્ઞ બાલજીવોની દૃષ્ટિ તો પ્રાયઃ લિંગ–બાહ્ય વેષ પ્રત્યે હોય છે, એટલે તે તો મુગ્ધ હોઈ ભોળવાઈ જઈ વેષમાં જ સાધુપણું કલ્પે છે, અને બાહ્યત્યાગી–સાધુવેષધારી પણ આત્મજ્ઞાનથી રહિત એવાઓને ગુરુ કરીને થાપે છે, અથવા આ તો અમારા કુલ સંપ્રદાયના આચાર્ય છે, અમારા મા'રાજ છે, એવા મમત્વ ભાવથી પ્રેરાઈને પોતાના કુલગુરુનું મમત્વ–અભિમાન રાખે છે, પણ ભાવયોગી એવા ભાવાચાર્ય, ભાવઉપાધ્યાય, ભાવસાધુનું જ મુખ્યપણે માન્યપણું શાસ્ત્રમાં કહ્યું છે, તે લક્ષમાં રાખતા નથી; તેમ જ બાહ્ય ગ્રંથત્યાગ માત્રથી બાહ્યલિંગ સુંદર છે એમ નથી. કારણ કે કંચુક માત્ર ત્યાગથી ભુજંગ નિર્વિષ બનતો નથી, એ વસ્તુસ્થિતિનો પણ વિચાર કરતા નથી.

"बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम् ।
आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्षते सर्वयत्नेन ॥
बाह्यं लिङ्गमसारं, तत्प्रतिबद्धा न धर्मनिष्पत्तिः ।
धारयति कार्यवशतो यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत् ॥
बाह्यग्रन्थत्यागान्न चारु नन्वत्र तदितरस्यापि ।
कञ्चुकमात्रत्यागान्न हि भुजगो निर्विषो भवति ॥" — શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત ષોડશક

"કૂટ લિંગ જિમ પ્રગટ વિડંબક, જાણી નમતાં દોષ;
નિદ્ધંધસ જાણીને નમતાં, તિમ જ કહ્યો તસ પોષ...રે જિનજી!"
— શ્રી યશોવિજયજીકૃત સા. ત્ર. ગાથાસ્તવન

સાચા સાધુ, ભાવ મુનિ, ભિક્ષુ, યતિ, શ્રમણ કોણ?

પણ પ્રાજ્ઞ જન તો આગમતત્ત્વનો વિચાર કરે છે; અર્થાત્ આગમાનુસાર, શાસ્ત્રમાં કહ્યા પ્રમાણે યથાસૂત્ર આચરણરૂપ તાત્ત્વિક સાધુત્વ છે કે કેમ તેની સમીક્ષા કરે છે, અને જેનામાં યથોક્ત આદર્શ નિર્ગ્રંથ શ્રમણપણું દૃશ્ય થાય તેનો જ સાચા સાધુપણે સ્વીકાર કરે છે. કારણ તે વિચારે છે કે—સમ્યગ્ દર્શન–જ્ઞાન–ચારિત્રમય શુદ્ધ મોક્ષમાર્ગની જે નિરંતર નિર્મળ સાધના કરતો હોય તે જ સાચો સાધુ છે, બાકી તો વેષધારી છે; જે શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપને જાણતો હોય, અનુભવતો હોય, જે આત્મારામી હોય તે જ ભાવમુનિ છે, બાકી તો નામમુનિ છે; જે દેહયાત્રા માત્ર નિર્દોષ વૃત્તિ કરી અપ્રમાદપણે નિર્ગ્રંથ જીવન પાળે છે તે જ ભિક્ષુ છે, બાકી તો પૌરુષઘ્ની–બલહરણી

---

૨. "चरिमाण वि तह णेयं संजलणकसायसंगमं चेव ।
माइट्ठाणं पायं असइं पि हु कालदोसेण ॥
सव्वेविय अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलछेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥" — શ્રી હરિભદ્રસૂરિકૃત પંચાશક

ભિક્ષા ભક્ષનારા પ્રમાદીઓ છે; જે રાગાદિ દોષથી શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપનો ઘાત ન થાય—હિંસા ન થાય એમ ભાવ અહિંસકપણે યતનાપૂર્વક વર્તે છે અને દ્રવ્યથી પણ કોઈ પણ જીવની કંઈ પણ હિંસા ન થાય એવી જયણા રાખે છે તે યતિ છે, બાકી તો વેષવિડંબક છે;[3] જે શુદ્ધ આત્મતત્ત્વનો જ્ઞાતા છે, જે શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપમાં સંયમનથી અને પ્રતપનથી સંયમ–તપ સંયુક્ત છે, જેનો રાગ ચાલ્યો ગયો છે, જે વીતરાગ છે, જે સુખ–દુઃખ પ્રત્યે સમવૃત્તિવાળો છે એવો શુદ્ધોપયોગરૂપ આત્મા તે જ શ્રમણ છે, બાકી તો નામશ્રમણ છે, દ્રવ્યલિંગી છે.

> "सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
> समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥" —મહર્ષિ કુંદકુંદાચાર્યજીકૃત પ્રવચનસાર

> "થોડા આર્ય અનારય જનથી, જૈન આર્યમાં થોડા;
> તેમાં પણ પરિણત જન થોડા, શ્રમણ અલપ–બહુ મોડા... રે જિનજી।
> વિનતડી અવધારો." —શ્રી યશોવિજયજી

સાધુગુણભૂષિત ભાવસાધુનું જ માન્યપણું

આમ જે વિચક્ષણ પ્રાજ્ઞજનો વિચારે છે તે તો ભાવવિહીન દ્રવ્યલિંગને પ્રાયઃ કંઈ પણ વજૂદ આપતા નથી; તેઓ તો મુખ્યપણે ભાવ–આત્મપરિણામ પ્રત્યે જ દૃષ્ટિ કરે છે, ભાવિતાત્મા એવા ભાવલિંગીને જ મહત્ત્વ આપે છે; દર્શન–જ્ઞાન–ચારિત્ર–તપ આદિ આત્મભાવના પ્રગટપણાના અને નિષ્કષાયપણાના અવિસંવાદી માપ ઉપરથી મૂલ્યાંકન કરે છે; સાચા નગદ રૂપિયાને જ સ્વીકારે છે. કારણ કે તે સારી પેઠે જાણે છે કે–ધાતુ ખોટી અને છાપ ખોટી, અથવા ધાતુ ખોટી અને છાપ સાચી, એ બે પ્રકાર કલઈના રૂપિયા જેવા બનાવટી (Counterfeit) મૂલ્યહીન દ્રવ્યલિંગી સાધુઓના છે, તે તો સર્વથા અમાન્ય–અસ્વીકાર્ય છે; અને ધાતુ સાચી પણ છાપ ખોટી, અથવા ધાતુ સાચી અને છાપ પણ સાચી, એ બે પ્રકાર ચાંદીના રૂપિયા જેવા સાચા મૂલ્યવાન ભાવલિંગી સાધુજનોના છે, અને તે જ સર્વથા માન્ય છે. એટલે દ્રવ્યથી તેમ જ ભાવથી જે સાધુ છે, અથવા દ્રવ્યથી નહિ છતાં ભાવથી જે સાધુ છે,–એ બન્ને પ્રકારના **ભાવસાધુને જ** તે માન્ય કરે છે. અમુક પુરુષમાં કેટલો આત્મગુણ પ્રગટયો છે? તે યોગમાર્ગે કેટલો આગળ વધ્યો છે? તે કેવી યોગ દશામાં વર્તે છે? તેનું ગુણસ્થાન કેવું છે? તેની અંદરની મુંડ (કષાય મુંડનરૂપ) મુંડાઈ છે કે નહિ? તેનો આત્મા પરમાર્થે 'સાધુ' 'મુનિ' બન્યો છે કે નહિ? ઇત્યાદિ તે તપાસી જુએ છે. કારણ કે તેના લક્ષણનું તેને બરાબર ભાન છે. તે જાણે છે કે–જે આત્મજ્ઞાની સમદર્શી વીતરાગ પુરુષ હોય, જે પૂર્વ પ્રારબ્ધ પ્રમાણે સર્વથા ઇચ્છારહિતપણે અપ્રાતબંધ ભાવથી વિચરતા હોય અને પરમશ્રુત એવા જે પુરુષની વાણી કદી પૂર્વે ન સાંભળી હોય એવી અપૂર્વ હોય, તે જ સાચા સદ્‌ગુરુ છે. 'छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ।' તે જાણે છે કે જે આત્મજ્ઞાની આત્માનુભવી હોય, જે નિરંતર આત્મભાવમાં રમણ કરનારા આત્મારામી હોય, જે વસ્તુનું સ્વરૂપ પ્રકાશનારા હોય,

---

[3] "हीणायारेहिं तह वेसविडंबगेहिं मलिणीकयं तित्थं । ઈ. ૩–૨૯૭
"वाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि ।
नमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥"
— મહર્ષિ હરિભદ્રસૂરિકૃત સંબોધ પ્રકરણ ૨–૭૬

અર્થાત્ — હીનાચારવંતોથી તથા વેષવિડંબકોથી તીર્થ મલિન કરાયેલું છે. ઈ૦ બાલજીવો એમ વદે છે કે આ પણ તીર્થંકરોનો વેષ છે, (માટે) નમન કરવા યોગ્ય છે. ધિક્કાર હો! ધિક્કાર હો! અહો! (આ) શિરશૂલ અમે કોની પાસે પોકારીએ?

જ્ઞાની સત્પુરુષોના સનાતન સંપ્રદાયને અનુસરનારા જે સદા અવંચક હોય અને જે સમકિતી પુરુષ સારભૂત એવી સંવર ક્રિયાના આચરનારા હોય, તે જ સાચા શ્રમણ છે, તે જ સાચા સાધુ છે, તે જ સાચા મુનિ છે, તે જ સાચા નિર્ગ્રંથ છે, બાકી તો ‘દ્રવ્યલિંગી’ વેષધારીઓ છે. આમ તે જાણતા હોઇ મુખ્યપણે તેવા સાચા ભાવયોગીઓને જ, ભાવાચાર્ય આદિને જ તે માને છે, તેમનાં આદર–ભક્તિ કરે છે.

“આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે;
વસ્તુગતે જે વસ્તુ પ્રકાશે, આનંદઘન મત સંગી રે...વાસુપૂજ્ય.
આગમધર ગુરુ સમકિતી, કિરિયા સંવર સાર રે;
સંપ્રદાયી અવંચક સદા, શુચિ અનુભવ આધાર રે...શાંતિ જિન.”

— શ્રી આનંદઘનજી

* * * *

“આત્મજ્ઞાન સમદર્શિતા, વિચરે ઉદય પ્રયોગ;
અપૂર્વ વાણી પરમશ્રુત, સદ્‌ગુરુ લક્ષણ યોગ્ય.”
આત્મજ્ઞાન ત્યાં મુનિપણું, તે સાચા ગુરુ હોય;
બાકી કુલગુરુ કલ્પના, આત્માર્થી નહીં જોય.”

— શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પ્રણીત શ્રી આત્મસિદ્ધિ

* * * *

“जं संमंति पासह, तं मोणंति पासह।” — શ્રી આચારાંગ સૂત્ર

* * * *

“કારજ સિદ્ધ ભયો તિનકો જિણે,
અંતર મુંડ મુંડાય લિયા રે.” — શ્રી ચિદાનંદજી

* * * *

“ધન્ય તે મુનિવરા રે, જે ચાલે સમ ભાવે;
ભવસાયર લીલાએ ઉતરે, સંયમ કિરિયા નાવે...ધન્ય૦
મોહપંક તજી ઉપર બેઠા, પંકજ પરે જે ન્યારા;
સિંહ પરે જે વિક્રમ શૂરા, ત્રિભુવન જન આધારા...ધન્ય૦”

— શ્રી યશોવિજયજી

પાતક ઘાતક સાધુ કેવા હોય?

આવા ભાવસાધુને જ મુખ્યપણે લક્ષગત રાખી અત્રે આનંદઘનજીએ ‘પાતક ઘાતક’ એવા સૂચક શબ્દપ્રયોગ કર્યો છે. ‘પાતક ઘાતક’ કોણ હોઈ શકે? જેણે પોતે પાપનો ઘાત કર્યો હોય તે જ અન્યના પાપનો ઘાતક હોઈ શકે, પણ પોતાના પાપનો ઘાત નથી કર્યો એવો જે શ્રીઉત્તરાધ્યયન અને દશવૈકાલિક સૂત્રમાં વર્ણવેલ ‘પાપશ્રમણ’ હોય તે પાતકઘાતક કેમ હોઈ શકે? એટલે એવા પાપશ્રમણની વાત તો ક્યાંય દૂર રહી! જેણે પાપનો ઘાત–નાશ કર્યો છે એવા નિષ્પાપ પુણ્યાત્મા સાધુ, કલ્યાણસંપન્ન પુણ્યમૂર્તિ સાચા સંતપુરુષ જ પાતકઘાતક હોય. આવા સત્પુરુષ દર્શનથી

પણ પાવન[૪] 'दर्शनादपि पावनाः' હોય છે, એમના દર્શન કરતાં પણ આત્મા પાવન થઈ જાય એવા તે પરમ પવિત્રાત્મા હોય છે. એમના પવિત્ર આત્મચારિત્રનો કોઈ એવો અદ્‌ભુત મૂક પ્રભાવ્ પડે છે કે બીજા જીવોને દેખતાં વેંત જ તેની અજબ જાદૂઈ અસર થાય છે. આવા કલ્યાણમૂર્તિ, દર્શનથી પણ પાવન, નિર્દોષ, નિર્વિકાર વીતરાગ એવા જ્ઞાની સત્પુરુષ, એમની સહજ દર્શનમાત્રથી પણ પાવનકારિણી ચમત્કારિક પ્રભાવતાથી સાચા મુમુક્ષુ યોગીઓને શીઘ્ર ઓળખાઈ જાય છે. કારણ કે તેવા મૌન મુનિનું દર્શન પણ હજારો વાગાડંબરી વાચસ્પતિઓનાં લાખો વ્યાખ્યાનો કરતાં અનંતગણો સચોટ બોધ આપે છે. સ્વદેહમાં પણ નિર્મમ એવા આ અવધૂત વીતરાગ મુનિનું સહજ ગુણસ્વરૂપ જ એવું અદ્‌ભુત હોય છે. જેમકે :

"શાંતિકે સાગર અરુ, નીતિકે નાગર નેક,
દયાકે આગર જ્ઞાન ધ્યાનકે નિધાન હો;

શુદ્ધ બુદ્ધિ બ્રહ્મચારી, મુખ બાનિ પૂર્ણ પ્યારી,
સજ્જનકે હિતકારી, ધર્મકે ઉદ્યાન હો;

રાગદ્વેષસેં રહિત, પરમ પુનિત નિત્ય,
ગુનસેં ખચિત ચિત્ત, સજ્જન સમાન હો;

રાજચંદ્ર ધૈર્ય પાળ, ધર્મ ઢાલ ક્રોધ કાલ,
મુનિ તુમ આગે મેરે, પ્રનામ અમાન હો."

— શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી

સૂત્રકૃતાંગમાં વર્ણવેલું નિર્ગ્રંથમુનિનું આદર્શ સ્વરૂપ

શ્રી **સૂત્રકૃતાંગ**ના[૫] દ્વિ. શ્રુ. સ્કં. ના ૭૦ મા સૂત્રમાં નિર્ગ્રંથમુનિનું આ પ્રકારે પરમસુંદર હૃદયંગમ વર્ણન કર્યું છે : 'તે અણગાર ભગવંતો ઈર્યાસમિત, ભાષાસમિત, એષણાસમિત, આદાનભંડમાત્ર-નિક્ષેપણાસમિત, પારિષ્ઠાપનિકાસમિત, મનસમિત, વચનસમિત, કાયસમિત, મનગુપ્ત, વચનગુપ્ત, કાયગુપ્ત, ગુપ્ત, ગુપ્તેન્દ્રિય, ગુપ્ત બ્રહ્મચારી, અક્રોધ, અમાન, અમાય, અલોભ, શાંત, પ્રશાંત, ઉપશાંત, પરિનિર્વૃત્ત, અનાશ્રવ, અગ્રંથ, છિન્નશ્રોત, નિરુપલેપ, કાંસ્યપાત્ર જેવા મુક્તજલ, શંખ જેવા નિરંજન, જીવ જેવા અપ્રતિહતગતિ, ગગનતલ જેવા નિરાલંબન, વાયુ જેવા અપ્રતિબંધ, શારદજલ જેવા શુદ્ધહૃદય, પુષ્કરપત્ર જેવા નિરુપલેપ, કૂર્મ જેવા ગુપ્તેંદ્રિય, વિહગ જેવા વિપ્રમુક્ત, ગેંડાના શીંગડા જેવા એકજાત, ભારંડ પક્ષી જેવા અપ્રમત્ત, કુંજર જેવા શૌંડીર (મસ્ત), વૃષભ જેવા સ્થિરસ્થામ, સિંહ જેવા દુર્ધર્ષ, મંદર જેવા·અપ્રકંપ, સાગર જેવા ગંભીર, ચંદ્ર જેવા સૌમ્ય લેશ્યાવંત, સૂર્ય જેવા દીપ્તતેજ, જાત્યસુવર્ણ જેવા જાતરૂપ, વસુંધરા જેવા સર્વસ્પર્શવિષહ, સુહુત હુતાશન જેવા તેજથી જ્વલંત હોય છે. તે ભગવંતોને ક્યાંય પણ પ્રતિબંધ હોતો નથી.

---

[૪] "सद्भिः कल्याणसंपन्नैः दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योगो योगावञ्चक उच्यते ॥" — શ્રી યોગદષ્ટિસમુચ્ચય

આ યોગાવંચકઆદિનું સ્વરૂપ સમજવા જુઓ મત્કૃત યોગદષ્ટિસમુચ્ચય વિવેચન.

[૫] "से जहा णामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया । ૭૦ "

પરમ ભાવિતાત્મા સાધુચરિત **શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી** પણ નિર્ગ્રંથ દશાનું તેવું જ હૃદયંગમ શબ્દચિત્ર રજૂ કરતું સ્વસંવેદનમય અપૂર્વ ભાવવાહી દિવ્ય સંગીત લલકારી ગયા છે કે :

"સર્વ ભાવથી ઔદાસીન્ય વૃત્તિ કરી,
માત્ર દેહ તે સંયમ હેતુ હોય જો;
અન્ય કારણે અન્ય કશું કલ્પે નહિ,
દેહે પણ કિંચિત મૂર્ચ્છા નવ જોય જો—અપૂર્વ અવસર૦

આત્મસ્થિરતા ત્રણ સંક્ષિપ્ત યોગની,
મુખ્યપણે તો વર્તે દેહ પર્યંત જો;
ઘોર પરીષહ કે ઉપસર્ગ ભયે કરી,
આવી શકે નહિ તે સ્થિરતાનો અંત જો—અપૂર્વ અવસર૦

સંયમના હેતુથી યોગ પ્રવર્ત્તના,
સ્વરૂપ લક્ષે જિન આજ્ઞા આધીન જો;
તે પણ ક્ષણ ક્ષણ ઘટતી જાતી સ્થિતિમાં,
અંતે થાયે નિજ સ્વરૂપમાં લીન જો—અપૂર્વ અવસર૦

બહુ ઉપસર્ગ કર્ત્તા પ્રત્યે પણ ક્રોધ નહિં,
વંદે ચક્રી તથાપિ ન મળે માન જો;
દેહ જાય પણ માયા થાય ન રોમમાં,
લોભ નહિ છો પ્રબળ સિદ્ધિ નિદાન જો—અપૂર્વ અવસર૦" ઇત્યાદિ.

— શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી

ભાવલિંગી ભાવસાધુનું જ પ્રાધાન્ય

આવા પરમ નિર્દોષ, પરમ નિર્વિકાર, વીતરાગ જ્ઞાની પવિત્ર પુરુષ જે કોઈ હોય તે જ બાહ્યાભ્યંતર ગ્રંથથી રહિત સાચા ભાવનિર્ગ્રંથ છે, તે જ શાસ્ત્રોક્ત સકલ સાધુગુણથી શોભતા સાધુચરિત સાચા સત્પુરુષ છે, તે જ આત્માના પ્રત્યક્ષ પ્રગટ સતસ્વરૂપને પ્રાપ્ત થયેલા સાચા સદ્‌ગુરુ છે, તેજ સર્વ પરભાવ–વિભાવનો સંન્યાસ–ત્યાગ કરનારા આત્મારામી સાચા 'સંન્યાસી'–ધર્મસંન્યાસયોગી છે, તે જ સર્વ પરભાવ–વિભાવ પ્રત્યે અગ્રહણબુદ્ધિરૂપ મૌન ભજનારા સાચા 'મુનિ' છે, તે જ સ્વરૂપવિશ્રાંત શાંતમૂર્ત્તિ સાચા 'સંત' છે, તેજ સહજ આત્મસ્વરૂપ પદનો સાક્ષાત્ યોગ પામેલ સાચા ભાવયોગી છે, તે જ સમભાવભાવિત સાચા ભાવશ્રમણ છે, તે જ યથોક્ત ભાવલિંગસંપન્ન સાચા ભાવસાધુ છે અને તે ભાવલિંગી ભાવસાધુનું જ પ્રાધાન્ય છે. હજારો દ્રવ્યલિંગીઓની જમાત એકઠી થતાં પણ જે જનકલ્યાણ કે શાસનઉદ્યોત નથી કરી શકતી, તે આવો એક ભાવલિંગી સાચો આદર્શ ભાવનિર્ગ્રંથ સહજ સ્વભાવે કરી શકે છે,—જેમ એક જ સૂર્ય કે ચંદ્ર વિશ્વમાં પ્રકાશ રેલાવી શકે છે; હજારો ટમટમતા તારાઓ એકત્રપણે પણ તેમ કરી શકતા નથી.

'तत्त्वार्थश्रद्धानम्–सम्यग्दर्शनम्' એટલે શું ?

શ્રી 'સંતબાલ'

ઉમાસ્વાતિવાચકે તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર રચ્યું છે. જેમાં જૈન આગમોનું સુંદર અને સંક્ષિપ્ત દોહન છે. તે સંસ્કૃતભાષીય ગ્રંથરત્નમાંનું એક સૂત્ર આ છે: 'તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનમ—સમ્યગ્દર્શનમ્.' આમાં એકલા તત્ત્વપરની શ્રદ્ધાને બદલે તત્ત્વ અને તત્ત્વનો અર્થ એ બન્ને પરની શ્રદ્ધાની મુખ્ય વાત છે. તત્ત્વ ભલે ત્રિકાલાબાધિત હોય, પણ તત્ત્વને નિરૂપતા અર્થો નિરંતર બદલ્યા જ કરે છે. તત્ત્વ ભીતરી વસ્તુ છે, જ્યારે અર્થોનો આધાર મોટે ભાગે બહારના સંયોગો ઉપર છે. દા૦ ત૦ શરીરરક્ષણને જો તત્ત્વ ગણીએ તો ટાઢમાં ગરમ કપડાં અર્થ થઈ શકે પણ તાપમાં ગરમ કપડાંનો ત્યાગ એ જ અર્થ થઈ શકે. માનવની એક પ્રકૃતિ એવી જાણે કુદરતી જેવી થઈ પડી હોય છે કે જે અર્થના આગ્રહોને તો ત્રિકાલાબાધિતની જેમ વળગી રહે છે, પણ તત્ત્વના આગ્રહોની પરવાય કરતી નથી. આથી જ જૈનધર્મ જેવો વિશ્વધર્મ કેટલા બધા સંકુચિત અને વિવિધ વાડાઓમાં પુરાઈ ગયો છે! જૈનો બોલે છે 'કેવલીપ્રજ્ઞપ્તધર્મનું હું શરણ લઉં છું.' પણ વ્યવહારમાં એકાંતવાદી જ બની જતા હોય છે. નહિ તો જે સમકિતમાં વિશ્વવિશાળદૃષ્ટિ પ્રાપ્ત થાય છે, તે જ સમકિતને નામે પોતપોતામાં કૂતરાંબિલાડાંની જેમ કાં બાઝી મરે!

કેવલીપ્રજ્ઞપ્તધર્મમાં કેવલી તરીકે જોઈએ તો મરુદેવી માતા પણ આવે અને ભરત ચક્રવર્તી પણ આવે. એક હાથીની અંબાડી ઉપર બેઠાંબેઠાં કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે, બીજો આરીસાભવનમાં શરીર સજાવટ કરતાં કરતાં કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે. આ બન્ને કેવલીઓનાં સાધનો કેવાં હતાં? એક તો આશ્રમ તરીકે ગૃહસ્થાશ્રમ અને બીજું વિલાસવૈભવની રાજ્યસામગ્રી. આથી જ જૈનાચાર્યોએ ગાયું: 'ભાવ એ જ પ્રધાન વસ્તુ છે અને તે ઝરો બહાર નથી, ભીતરમાં છે.' એ ભીતરનો ઝરો જાગ્રત કરવા માટે પ્રવ્રજ્યા અંગીકાર કરો અથવા ગૃહસ્થાશ્રમમાં રહો. સ્થૂળ ત્યાગ કરો વા ન કરો. અંતરની ગાંઠ મુખ્યત્વે છોડો. નહિ તો બહારની છોડેલી ગાંઠો પણ વધુ બાંધી દેશે તે રખે ભૂલતા. સાધુ થયેલો માનવી પણ અંતરની ગાંઠ મજબૂત થાય તો ચંડકોશિક જેવો સર્પજન્મ સાધુપણાને અંતે પામે છે અને એક દેડકો પણ અંતરની ગાંઠ છૂટતાં આત્મજ્ઞાનને પંથે તરત પડી જાય છે. જે તત્ત્વજ્ઞાન દેડકા અને વિષધર નાગ લગી મુક્તિમાર્ગ મોકળો કરાવી શકે, જે તત્ત્વજ્ઞાન દરરોજ સાત સાત ખૂન કરતા અર્જુન માળીને વીતરાગદર્શનમાત્રથી સમકિત અપાવી શકે, તે તત્ત્વજ્ઞાન માત્ર અમુક જ વાડાના માનવીઓ માટે હોઈ શકે એ વાત કેટલી બેહૂદી છે! ગઈ કાલે એક જૈનમુનિરાજને હું મળ્યો. વાતવાતમાં તેઓ કહે: 'બીજું તો ઠીક; વીતરાગને ન ભૂલશો.' હું સમજી શક્યો છું કે સર્વધર્મપ્રાર્થનામાં મહાવીરની સાથે બીજા ધર્મસંસ્થાપકોનાં નામો ઘણાં જૈન ભાઈબહેનોને ગમતાં નથી. જો કે એમાં તો મુખ્ય ગુણની પાસે જ તે તે ધર્મસંસ્થાપકનું નામ મુકાયું છે અને અહિંસાની દૃષ્ટિએ એ સર્વોપરી ગુણ પાસે મહાવીરનું નામ સૌથી પ્રથમ મુકાયું છે છતાં આમ થાય છે. ગુણપૂજાની દૃષ્ટિએ 'સર્વ સાધુઓને નમસ્કાર' એમ રોજ પંચપરમેષ્ઠીપદમાં ઉચ્ચારતાં આ ભાઈબહેનો એના મૂળ સત્યને જ કેમ ભૂલી જાય છે? યોગીશ્વર આનંદઘનજીને વારંવાર યાદ કરતાં તેઓ 'ષડ્દર્શન જિન અંગ ભણીજે'વાળું સ્તવન કેમ આચરતાં નથી? અનેકાંતવાદની વાતો કરતાં તેઓ બીજા ધર્મોની ઇમારતના સ્વીકાર ઉપર જ જૈન ધર્મનો વિશ્વધર્મધ્વજ ટકી શકે, તે તત્ત્વ કેમ ભૂલી જાય છે? કારણ કે તેમણે માની લીધું છે કે 'પોતે માનેલાં આગમો સિવાય બીજાં કોઈ આગમો નથી

અને તે આગમોના પણ પોતે માની લીધેલા અર્થો સિવાય બીજો કોઈ અર્થ નથી. તેઓ રોજ વાંચે છે ખરાં કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવમાં ભાવ જ મુખ્ય વસ્તુ છે. દાન, શીલ, તપ અને ભાવનામાં પણ ભાવના જ મુખ્ય વસ્તુ છે. છતાં આચારમાં ભૂલથાપ ખાઈ જાય છે. તત્ત્વાર્થમાં તત્ત્વ જ નિરપેક્ષ છે અર્થ તો સાપેક્ષ જ છે. આથી જ કેવલી ભગવાન જે અનુભવે છે, તે વાણીમાં ઉતારી શકતા નથી. કેવલીઓની વાણીને ગણધર કેવલીવાણીવત્ ગૂંથી શકતા નથી. ગણધરો જેમ ગૂંથે છે, તેમ વાચકો વાચી શકતા નથી. આટલું બધું સ્પષ્ટ હોવા છતાં અક્ષરોનાં બીબાંને પોતે માની લીધેલા અર્થમાં જ ત્રિકાલબાધિત માનીને ચાલનારાંઓ માટે ઉજ્જવળ ચારિત્ર્યના ચેપ સિવાય બીજો કોઈ બાહ્ય ઈલાજ જ નથી. ઉપર્યુક્ત મુનિરાજના મનમાં એમ પણ ભ્રમણા લાગી કે 'સમાજનાં કે રાષ્ટ્રનાં કામો તો બંધનરૂપ છે, મોક્ષમાર્ગ જુદો છે. ગાંધીજી રાજકીય પુરુષ ખરા, મોક્ષમાર્ગી નહિ' આવું આવું આ એક જ શા માટે, અનેક મુનિરાજો માનતા હોય છે. અરિહંતોને સિદ્ધો કરતાં આગળ મૂકનારા તેઓ માટે અરિહંતમાં રહેલા વ્યક્તિ અને સમષ્ટિના વિકાસના અવિનાભાવિ સાહચર્યને સમજી શકતા નથી. કારણ કે તત્ત્વ પર તેઓ ભાંગીતૂટી પણ શ્રદ્ધામાં દૃઢ રહી શકે છે, પણ અર્થવિકાસની આખી વ્યવહારુ વાતને જ ભૂલી જાય છે. જ્યાં શુદ્ધ વ્યવહાર જ સંભવિત નથી ત્યાં શુદ્ધ નિશ્ચયની વાત ટકે ક્યાં લગી? જૈન સાધુવર્ગ જેવી જ લગભગ ચુસ્ત વૈદિક સંન્યાસીવર્ગ અને ભક્તોની પણ આ જ દશા છે. બીજી બાજુ જેઓ સમાજસેવા કે રાષ્ટ્રસેવામાં પડેલાં છે, તેઓ વળી ધર્મનાં મૌલિક સત્યો તરફ જ બેદરકાર બની જતાં હોય છે! આમ એક બાજુ અર્થની શ્રદ્ધા અને બીજી બાજુ તત્ત્વની શ્રદ્ધાને નામે બન્નેના મૂળમાં મૌલિક સત્યની ઉપેક્ષા જ આવી જાય છે. આથી જ તત્ત્વની ત્રિકાલાબાધિતાને સામે રાખી તે દૃષ્ટિએ થતા અર્થવિકાસને લીધે પળે પળે થતા ફેરફારોને અપનાવવા જ જોઈએ, નહિ તો આત્મજ્ઞાન પોતે જ દૂર ભાગી જશે અને આત્મજ્ઞાનને નામે દંભપાખંડ, દલબંદી તથા બીજા અનર્થો વધી પડશે—જે આજે વધી પડેલા દેખાય છે જ. આનો ઉપાય તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનની સાચી વ્યાખ્યા સમજી, આચરી, સમાજને આચરાવવાની અનિવાર્ય જરૂરત છે.

મનુષ્ય એકલો નથી

શ્રી દલસુખ માલવણિયા

વૈદિક ઋષિઓએ કે મન્ત્રદ્રષ્ટાઓએ આ સંસારને કે આપણી આ દુનિયાને સર્વથા ત્યાગવાનો ઉપદેશ નથી આપ્યો. તેમને સ્વર્ગની કલ્પના કરવી ગમતી પણ એ સ્વર્ગ માટે ઉપાયો એવા યોજવામાં આવતા નહિ, જેથી આ દુનિયા રહેવાલાયક જ ન રહે. સ્વર્ગ માટેના પ્રયત્નમાં પણ આ દુનિયાના સુખમાં વધારો કરવો એ ધ્યેય રહેતું. ખરી રીતે કહીએ તો તેમનો ભાર પરલોક—સ્વર્ગ ઉપર નહિ પણ ઇહલોક ઉપર હતો. તેમના સમગ્ર પ્રયત્નનો સાર આ દુનિયામાં સુખ કેવી રીતે પ્રાપ્ત કરવું એની શોધ કરવામાં છે. તેમને આધ્યાત્મિક કરતા ભૌતિક સુખ વધારે ગમતું અને તે માટે તેમનો વિશેષ પ્રયત્ન રહેતો. ઉપનિષદ્‌ના ઋષિઓએ ભૌતિકને બદલે આધ્યાત્મિક સુખ ઉપર ભાર આપ્યો પણ તેમને મતે પણ આ દુનિયાને ત્યાગવાથી એ આધ્યાત્મિક સુખ પ્રાપ્ત થાય છે એમ મનાયું નથી. આત્મા સર્વવ્યાપી હોઈ ખરી રીતે આ દુનિયાને ત્યાગીને અન્યત્ર આધ્યાત્મિક સુખ અર્થે જવાનો પ્રશ્ન જ ઊઠતો નથી. એટલે તેમને પણ પ્રયત્ન આ દુનિયામાં આધ્યાત્મિક સુખની વૃદ્ધિ કેવી રીતે થાય એની શોધ કરવાનો હતો. પરિણામે જેને આપણે સંસાર કહીએ છીએ તે સર્વથા ત્યાજ્ય જ છે એવું મન્તવ્ય તેમનું નથી. એટલે બ્રહ્મપ્રાપ્તિ માત્ર સંન્યાસથી જ થાય છે એ મન્તવ્ય તેમણે કદી અપનાવ્યું નથી. સંન્યાસ બ્રહ્મપ્રાપ્તિમાં ઉપકારક છે પણ તે જ કારણ છે અને અન્ય નહિ, એમ તેમણે કદી કહ્યું નથી. એટલે જ જનક જેવા રાજાને પણ રાજ્યભાર વહન કરવા છતાં બ્રહ્મપ્રાપ્તિ થઈ એમ માનવામાં આવ્યું. સારાંશ એ છે કે તત્ત્વજ્ઞાન એ બ્રહ્મપ્રાપ્તિમાં કારણ છે, બાહ્ય આચાર કે કર્મકાંડ એ આવશ્યક નથી. બીજા શબ્દોમાં કહીએ તો તેમનો પ્રયત્ન વિદ્યમાન સંસારને નવું રૂપ આપવાનો છે. સંસાર એનો એ જ છે; પત્ની–પુત્ર–ધન–દોલત એ બધું જ એનું એ જ પણ તેને જોવાની દૃષ્ટિમાં પરિવર્તન કરવું આવશ્યક છે. એ જો થયું તો અહીં બેઠાં મોક્ષ છે અને એ જો ન થયું તો અહીં બેઠા સંસાર છે. આ તેમની દૃષ્ટિ છે. આ દૃષ્ટિનો જ વિકાસ આપણે શ્રીમદ્‌ભગવદ્‌ગીતામાં અનાસક્તિયોગ રૂપે જોઈએ. એટલે એમ કહી શકાય કે વૈદિક પરંપરામાં આ લોકને બગાડીને પરલોક સુધારવાની વાત નથી, પણ આ લોકને સુધારીને જ પરલોક સુધારી શકાય છે. ખરી રીતે એમ કહેવું જોઈએ કે પરલોક જેવી વસ્તુની પરવા તેમને નથી. પણ વિદ્યમાન જીવન અને ભવિષ્યનું જીવન એમ જીવનમાં ભેદ છે. આત્મા સર્વવ્યાપી હોઈ તેને ક્યાંઈ જવા-આવવાનું છે જ નહિ, પણ અત્યારે તેની જે અવસ્થા હોય તેથી વધારે સારી અવસ્થા કેમ પ્રાપ્ત કરે એ જ જોવાનું છે. એટલે વિદ્યમાનને બગાડીને ઉત્તરકાલ સારો થવાનો સંભવ ઓછો છે. જે લોકોની વચ્ચે આપણે રહીએ છીએ એ લોકોને જ સુધારવાથી—એ લોકોની દૃષ્ટિને જ ઠીક કરવાથી ઘણું કામ સરે છે. લોકથી અળગા થઈને જ સાધના કરી શકાય છે એવો એકાંત માર્ગ નથી. લોકની વચ્ચે રહી સાધના કરવી જોઈએ એ રાજમાર્ગ છે. આ દૃષ્ટિએ જોઈએ તો વૈદિક ધર્મે માત્ર સંન્યાસ જ નહિ પણ ગૃહસ્થ ધર્મ કે સમાજના ધર્મને પણ માન્ય રાખ્યો છે. ચાર આશ્રમની અને ચાર વર્ણની વ્યવસ્થા તેમને એટલા જ માટે કરવી પડી છે. તે તેમણે પોતાની દૃષ્ટિએ કરી છે અને તેનો પરમ ઉત્કર્ષ ગીતાના स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः એ સિદ્ધાન્તમાં સ્થાપ્યો છે. એટલે કે વર્ણાશ્રમધર્મનું યથાવત્ પાલન એ જ સુખ કે શ્રેય પ્રાપ્ત કરવાનું સાધન મનાયું તેમાં પણ વૈદિક

કર્મકાણ્ડની માન્યતાનો પ્રચાર કરનાર મીમાંસકો તો જીવનની અંતિમ ઘડી સુધી પણ વૈદિક શ્રૌતસ્માર્ત કર્તવ્યનું પાલન અનિવાર્ય માને છે અને તેમ કરતા કરતા મોક્ષપદની પ્રાપ્તિ થાય છે એમ માને છે. આચાર્ય શંકર વગેરે વેદાન્તીઓને આવો એકાંત ગમ્યો નહિ અને તેમણે સંન્યાસ ઉપર ભાર આપ્યો પણ તેમનો એ ઉપદેશ વૈદિક બહુજન સમાજને કદી સ્પર્શ્યો નથી. વેદાન્તી છતાં જીવનમાં વ્યવહાર તો વર્ણધર્મને અનુકૂળ જ રહેવાનો. શૂદ્ર કદી સંન્યાસી નહિ થવાનો એવી મર્યાદાથી ઉપર ઉડનારા વેદાન્તીઓ કવચિત જ મળે છે. એ બતાવે છે કે વૈદિક માર્ગનું મુખ્ય ધ્યેય સંન્યાસમાર્ગ નથી. આ જીવનને સર્વથા છોડવાનું નથી પણ આ જીવનને ઉદાત્ત કરવાનું છે. એટલે કે મુખ્ય માર્ગ ગૃહસ્થધર્મનો છે અને તે જ ધર્મનું યથાવત્ પાલન કરવાથી નિઃશ્રેયસપદની પ્રાપ્તિ પણ સુલભ બને છે.

આ માર્ગથી વિરુદ્ધ શ્રમણોનો સંન્યાસમાર્ગ છે. તે એકાશ્રમ સંસ્થા છે. ગૃહસ્થધર્મની વ્યવસ્થા અનિવાર્ય નથી. બ્રહ્મચારી વિના લગ્ને પણ સંન્યાસી થઈને એ માર્ગ અપનાવી શકે છે એટલું જ નહિ, પણ તેમ જો તે કરે તો તે યોગ્ય કર્યું મનાય છે. સંતતિ માટે લગ્ન કે લગ્ન કરી સંતતિનું સર્જન એ આવશ્યક ધર્મ નથી. એટલે શ્રમણમાર્ગમાં સામાજિક કર્તવ્યોની વ્યવસ્થાનો પણ સંભવ નથી. ધર્મ તો મુખ્ય અણગારનો જ છે. અગારધર્મ એ આંશિક અણગારધર્મ હોય તો તો ધર્મ કહેવાય, અન્યથા એ કાંઈ ધર્મકોટિમાં આવે નહિ. અણગારને સહાયરૂપે કે અણગારધર્મની તૈયારીરૂપે અગારધર્મ સંભવે છે પણ એથી સ્વતંત્ર એવો કોઈ અગારધર્મ સંભવી શકે નહિ. એટલે ગૃહસ્થધર્મની સામાજિક વ્યવસ્થા શ્રમણમાર્ગમાં નથી. જે કાંઈ વ્યવસ્થા છે તે ગૃહસ્થ એ સામાજિક પ્રાણી છતાં તે અસામાજિક પ્રાણી કેમ બને તેનો માર્ગ દેખાડવા પૂરતી છે. આથી વૈદિકોની જેમ શ્રમણોની કોઈ સ્મૃતિની રચના આવશ્યક મનાઈ નથી. પરિણામે શ્રમણોના હજાર પ્રયત્ન છતાં શ્રાવકો અર્થાત્ ગૃહસ્થોનો એક એવો સમાજ નથી રચાયો જે સર્વથા વૈદિક ગૃહસ્થ સમાજથી જુદો તરી આવે. સંન્યાસીઓ તો વ્યક્તિધર્મનું અનુસરણ કરતા હોઈ બ્રાહ્મણ સંન્યાસી વર્ગથી શ્રમણ સંન્યાસી વર્ગને જુદો તારવી શકાય છે, પણ ગૃહસ્થોમાં એવી તારવણી કરવાનું કોઈ સાધન નથી. કોઈ અમુક મન્દિરે કે ઉપાશ્રયે જાય એટલા માત્રથી તેને માટે સામાજિક વર્ગ અલગ નથી થઈ જતો પણ તેના સામાજિક રિવાજોમાં જો મૌલિક ભેદ પડતો હોય તો સમાજોમાં ભેદ પડે છે. વૈદિકો તો સંતતિ–ઉત્પાદન ધર્મ ગણે છે એટલે પોતાની સંપત્તિ સંતાનને મળે એવી સામાજિક વ્યવસ્થા કરે એ સમજી શકાય છે પણ શ્રમણોને અનુસરનારા શ્રાવકો સંતતિ ઉત્પન્ન કરવામાં ધર્મ માનતા નથી કે પુત્ર શ્રાદ્ધ કરશે તો પોતાની સદ્ગતિ થશે એમ પણ માનતા નથી છતાં તેમની સંપત્તિમાં તેમના પુત્રોનો જ અધિકાર છે એવું કેમ માને છે? દીક્ષા લેતી વખતે પણ અમુક દાન કરીને શેષ સંપત્તિ પુત્રો માટે જ કેમ રહેવા દે છે? આનો ખુલાસો એ જ છે કે શ્રમણોએ પોતાની દૃષ્ટિએ ગૃહસ્થધર્મની કોઈ સ્મૃતિ રચી જ નથી. કારણ તેમને મતે ગૃહસ્થધર્મ એ ધર્મ જ નથી, ધર્મ તો સંન્યાસધર્મ જ છે. ગૃહસ્થધર્મને ધર્મસંજ્ઞા એ જ અર્થમાં છે કે તેમાં તે અણગાર બનવાની તૈયારી કરે છે. આ દૃષ્ટિએ વિચારતા સ્મૃતિસંમત હિન્દુ ધર્મના કાયદાકાનૂનો જૈન સમાજે સદા અપનાવ્યા છે. પોતાની સ્વતંત્ર સ્મૃતિઓને આધારે કાયદાકાનૂનો કદી ઇતિહાસમાં બન્યા હોય એવું પ્રમાણ નથી; છતાં પોતે હિંન્દુ સમાજથી અળગા છે એવું આજે પોકારીને કહેવું પડે છે તે એટલું જ બતાવે છે હિન્દુઓ પાસેથી જૈનો અસ્પૃશ્યતા વગેરે શીખ્યા તે હવે જ્યારે હિન્દુઓ પણ એ વસ્તુને છોડવા તૈયાર થયા છે ત્યારે જૈનો પકડી રાખવા માગે છે. આ તો જરા પ્રાસંગિક થયું. પણ મૂળ મુદ્દો તો એ જ છે કે જૈનોએ કે શ્રમણોએ જે પ્રકારે શ્રમણ યા સંન્યાસી સમાજની વ્યવસ્થા કરી છે તે પ્રકારે શ્રાવક સમાજની સ્વતંત્ર વ્યવસ્થા કરી નથી તેનું કારણ તેમની એકાશ્રમ સંસ્થાની માન્યતામાં છે.

આ એકાશ્રમ સંસ્થા એ શ્રમણધર્મની વૈદિકધર્મ કરતા વિશેષતા છે. એથી અમુક લાભો થયા છે પણ જ્યારે એની બીજી બાજુનો વિચાર કરીએ છીએ ત્યારે સ્પષ્ટ જણાય છે કે જીવનનું એક અંગ જાણે અધૂરું જ રહી જાય છે. મનુષ્ય એ સામાજિક પ્રાણી છે એવી વ્યાખ્યા માનસશાસ્ત્રીઓ મનુષ્યની કરે છે, પણ એ વ્યાખ્યાનો જ વિરોધ શ્રમણધર્મની એકાશ્રમ વ્યવસ્થા સાથે છે. પ્રારંભથી જ તેને એ શીખવવામાં આવે છે કે તું એકલો આવ્યો છે અને એકલો જવાનો છે. તારે વળી માતા શું અને પિતા શું? એ સૌ તો સ્વાર્થના સગાં છે. સૌ–સૌનાં કર્મ નિરાળાં છે અને એને જ કારણે તે સુખી કે દુઃખી થાય છે. તારા કર્મ તું જ ભોગવવાનો છે—તેમાં કોઈ ભાગીદાર થવાનું નથી. વ્યાપાર–વ્યવસાયમાં એ બધાનું પોષણ કરવા નિમિત્તે તું શું શું પાપ નથી કરતો, પણ એ પાપનું ફળ તો તારે જ ભોગવવાનું. તારી આર્થિક કમાણીમાં ભાગ પડાવનાર પણ એ તારી પાપની કમાણીમાં તો ભાગ નહિ જ પડાવી શકે. માટે એ સૌને છોડીને સંસારને વોસરાવી દે. સંન્યાસી થઈ જા. તેમાં જ તારો ઉદ્ધાર છે. આનું પરિણામ એ છે કે શ્રાવકો એ જ ભાવના ભાવે છે કે આ બધા પાપથી ક્યારે છૂટું. તે જે ઘડીએ છોડી શકવાની સ્થિતિમાં આવે છે તે જ ઘડીએ બધું છોડીને નીકળી પડે છે અને સાધુ સંન્યાસી બની જાય છે. પરિણામે ગૃહસ્થજીવનમાં ઉત્કર્ષ કરવા પ્રત્યે અથવા તો આ લોકને સુધારવા પ્રત્યે ધ્યાન જતું જ નથી; પરલોક અર્થે જ બધું ધ્યાન અપાય છે. જે સમાજના આધારે જે સમાજની વચ્ચે રહી સંન્યાસમાર્ગનું પાલન સુકર છે તે જ સમાજ વિષે તદ્દન ઉપેક્ષા સેવવામાં આવે છે. પરિણામે જીવનદૃષ્ટિ એકાંગી બની જાય છે.

પ્રારંભમાં જૈન શ્રમણોનો માર્ગ એ એકલવિહારી માર્ગ હતો; એ માર્ગની જ પ્રતિષ્ઠા હતી, પણ અનુભવે શીખવ્યું કે સંઘબદ્ધ રહી સાધના કરવી સરલ છે એટલે સ્થવિર કલ્પ અને જિનકલ્પ થયા. પણ પાછો એક સમય આવ્યો કે જિનકલ્પ એટલે કે એકલવિહારનો લોપ થયો. દિગમ્બર મુનિઓનો પણ સંઘ બને છે. આ શું બતાવે છે? મનુષ્ય એ સામાજિક પ્રાણી છે અને તે સમાજમાં રહીને જ વિકસી શકે છે. આ નગ્નસત્યનો પરિત્યાગ કરીને મનુષ્યની એકલતાનો ઉપદેશ કરવો તે શું અસ્વાભાવિક નથી? સંન્યાસમાર્ગ એ વિરલ વ્યક્તિ માટે ભલે યોગ્ય હોય પણ સામાન્ય સમાજ માટે એ યોગ્ય નથી જ. તો પછી બધો ભાર સંન્યાસમાર્ગ ઉપર આપવાને બદલે ગૃહસ્થસમાજના ઉત્કર્ષ ઉપર આપવો એ હિતાવહ છે.

તાત્ત્વિકદૃષ્ટિએ જો કોઈ કોઈનું ન હોય અને કોઈ કોઈનું ભલું કરી શકે તેમ ન હોય તો સંન્યાસીઓનો સંઘ પણ અનાવશ્યક છે અને ગુરુશિષ્યભાવ પણ અનાવશ્યક છે. માતાપિતા કે આસપાસના દીનદુઃખીની સેવા કરવામાં જો આધ્યાત્મિક ઉન્નતિમાં બાધા પડતી હોય તો સાધુસમાજમાં રહી પરસ્પર સેવા કરવામાં આધ્યાત્મિક ઉન્નતિમાં બાધા કેમ નથી પડતી? જે સમાજ આપણને સ્વતઃ પ્રાપ્ત થયો છે તેનું આકર્ષણ વિશેષ હોય છે. એટલે વસ્તુતઃ એ સમાજની સેવા કરવામાં મનુષ્યની સ્વાભાવિક પ્રવૃત્તિ થાય જ છે. પણ એ સેવાને છોડાવીને બીજાની જ જો સેવા કરવાની હોય તો પ્રશસ્ય માર્ગ એ જ હોઈ શકે કે મનુષ્ય જે સમાજની સેવા કરતો હોય તે તો કરે જ ઉપરાંત તે સેવાનું ક્ષેત્ર યથાશક્તિ વધારે. આમાં તેનો સ્વાભાવિક વિકાસ છે. પણ તેને એકની સેવા છોડાવી બીજાની સેવામાં લગાડવો એ તો વ્યુત્ક્રમ છે. સેવા છોડાવવા સેવાની વિરુદ્ધમાં જે દલીલ આપવામાં આવે છે એ જ દલીલ તે અન્યત્ર કેમ ન કરે? તો પછી તેની નિષ્ઠા એક વખત સેવામાંથી નિવૃત્તિને પામી તે નિષ્ઠા આવે કેવી રીતે? રાજમાર્ગ એ જ હોઈ શકે કે તે જે કાર્ય કરતો હોય તેમાં જ આધ્યાત્મિકતાનો પુટ દેવાનો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ.

મનુષ્યની એ સામાન્ય પ્રવૃત્તિ હોય છે કે તે પોતાના સગાસંબંધીઓની યથાશક્તિ સેવા કરતો જ હોય છે. તેમાં તેને એ શિખવવામાં આવે કે તારું કુટુંબ તું ઉત્તરોત્તર વિશાળ કરતો જા. એક મહોલ્લામાં રહેનાર પડોશી ઉપરાંત જો બીજા ગામમાં રહેનાર સગાસંબંધીઓ સાથે જો પ્રેમ હોય તો તે પ્રેમનો ઉત્તરોત્તર વિકાસ કરણીય છે અને એ વિકાસ વિશ્વમૈત્રીમાં પરિણમાવવાની આવશ્યકતા છે. આમ જો કરવામાં આવે તો વ્યક્તિની સ્વાર્થી ભાવનાના દોષને બદલે તેની આધ્યાત્મિક પરાર્થભાવનાનો જ વિકાસ થાય છે અને તેમ થતાં સ્વાર્થજન્ય દોષનો ઉત્તરોત્તર હ્રાસ થઈ મહાકરુણામાં પરિણમે છે. આથી પોતાનો તો ઉદ્ધાર છે જ પણ સાથે સાથે જે સમાજમાં આપણે રહેતા હોઈએ તેનો પણ ઉદ્ધાર છે. એ સમાજ આપણને પછી તુચ્છ નથી લાગતો, છોડવા જેવો નથી લાગતો પણ ઉત્તરોત્તર વિકસિત કરવાની પ્રેરણા કરતો જણાય છે; તેમાં જ સ્વપરકલ્યાણ ભાવના વિકસે છે અને એ રીતે ખરી આધ્યાત્મિકતા પણ વિકસે છે. આ ક્રમ સ્વાભાવિક છે. એ સ્વાભાવિક ક્રમ છોડીને માત્ર સંન્યાસ ઉપર ભાર આપવા જતાં આપણે બન્ને બગાડ્યા છે. જેમાંથી સાચા સંન્યાસીઓ પાકવાનો સંભવ છે એ ભૂમિકા રૂપ શ્રાવક સમાજની ઉન્નતિ થતી નથી ને સંન્યાસી સમાજમાં જીવનની કૃત્રિમતા વધતી જાય છે. આ દોષ જો ટાળવો હોય તો એક જ રસ્તો છે કે માત્ર સાધુસંસ્થા ઉપર ભાર આપવો છોડી દઈએ અને જે સમાજ—ગૃહસ્થસમાજ જે આપણને સહજ પ્રાપ્ત છે તેની ઉપેક્ષા ન કરતા તેની જ ઉન્નતિ કરવા વિશેષ પ્રયત્નશીલ થઈએ. એવા ઉન્નત સમાજમાંથી સહજ ભાવે જે એકલવિહારી બનશે તે તે માર્ગને દિપાવશે અને એકલવિહારી નહિ બને તો પણ સમાજમાં સ્વપરકલ્યાણના માર્ગમાં લાગ્યા રહ્યા હશે તો પણ એ અનુચિત તો નથી જ.

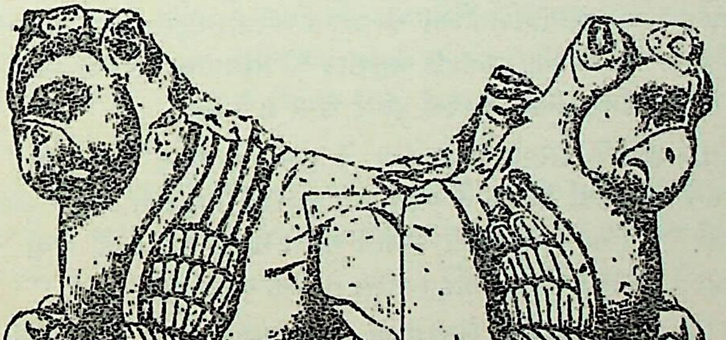

વાદિદેવસૂરિનું જન્મસ્થાન કયું?

શ્રી ગોકુળભાઈ દૌલતરામ ભટ્ટ

ગયે વર્ષે પંડિત બેચરદાસજી દોશીનો "ગુજરાતી ભાષાની ઉત્ક્રાન્તિ" નામક ગ્રન્થ ફરીને ઉથલાવતો હતો તેનાં પૃષ્ઠ ૨૨૧ ઉપરના એક ઉલ્લેખ તરફ મારું ધ્યાન વિશેષે કરીને ગયું:

"વાદિદેવસૂરિ સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત ભાષાના પ્રકાણ્ડ પંડિત હતા, પ્રખર નૈયાયિક અને અદ્‌ભુત કવિ હતા. શ્રી હરિભદ્રસૂરિની અનેકાન્તજયપતાકા ઉપર ટિપ્પણ લખનાર મુનિ ચંદ્રસૂરિ દેવસૂરિના ગુરુ પણ મહાપંડિત, તપસ્વી અને સુવિહિતાગ્રણી હતા અને વાદિદેવસૂરિના શિષ્યો ભદ્રેશ્વરસૂરિ તથા રત્નપ્રભસૂરિ વગેરે પણ મહાવિદ્વાન હતા. **વાદિદેવસૂરિનું જન્મસ્થાન 'મદ્દાહત' આજનું 'મદુઆ'** આબુની આસપાસ ગુજરાત દેશના અષ્ટાદશશતી નામના એક પ્રાંતમાં તે સ્થાન આવેલું છે. સૂરિનો જન્મ વિક્રમ સંવત્ ૧૧૪૩, જાતિ પોરવાડ, પિતા વીરનાગ, માતા જિનદેવી, આચાર્યનું મૂળ નામ પૂર્ણચંદ્ર. '**મદુઆ**'માં મહામારિનો ઉપદ્રવ થયો. વીરનાગ પોતાના એ ગામને છોડીને ભરૂચમાં રહેવા આવ્યો..."

શ્રીવાદિદેવસૂરિજીની વાદપટુતા, વિદ્વત્તાની વિગતોમાં ઊતરવાનો તથા ગુજરાતની સીમાની ચર્ચા કરવાનો ઉદ્દેશ અત્રે નથી. દેવસૂરિજી જેવા વિદ્વાનનું જન્મસ્થાન કયું એની જિજ્ઞાસા જાગી. 'મદ્દાહત' તે જ 'મદુઆ' કે 'મડાર–મદાર?' એવો તર્ક ઊઠ્યો. મને જે કાંઈ મળી શક્યું છે તે પંડિત બેચરદાસજી તથા અન્ય વિદ્વાનોની વિચારણા—પુનઃવિચારણા માટે તથા સત્ય તારવવાની દૃષ્ટિએ રજૂ કરું છું.

"વાદિદેવસૂરિજી પોતાના અદ્વિતીય 'પ્રમાણનયતત્ત્વાલોકાલંકાર' નામના ગ્રંથમાં પ્રમાણ અને નયનું સ્વરૂપ પોતાના કાળ સુધીની ભિન્નભિન્ન માન્યતાના અવલોકનપૂર્વક યોગ્ય એકીકરણ કરી બહુ જ સુંદર રીતે સ્થાપે છે". આ ગ્રન્થના ગુજરાતી અનુવાદક શ્રી મફતલાલ ઝવેરચંદ ગાંધી સન ૧૯૩૨માં સૂરિજીનો જીવનપરિચય ઉપર પ્રમાણે કરાવતાં પૃષ્ઠ ૮ ઉપર લખે છે:

"વાદિદેવસૂરિ જ્ઞાતિએ પોરવાડ વણિક હતા ને જેઓનો જન્મ '**મડ્ડાહત**' નામના ગામમાં થયો હતો, જે આજે ઉચ્ચારમાં બદલાઈને આબુ પાસે આવેલા વૈષ્ણવોના તીર્થ મદુઆ તરીકે પ્રસિદ્ધ છે... આ '**મડાર**' યા 'મદુઆ' ગામમાં દૈવયોગે મહાન મરકી થઈ અને જેથી પોતાના કુટુંબના રક્ષણ માટે વીરનાગને બાળક અને સ્ત્રી સહિત ભરૂચ નગરમાં આવવું પડ્યું..."

'મદ્દાહત' તે મદુઆ એ પંડિત બેચરદાસનું કથન; 'મડ્ડાહત' તે 'મદુઆ–મડાર' એ શ્રી ગાંધીનું વિધાન. મુનિ કલ્યાણવિજયજીના મતાનુસાર 'મડ્ડાહડ' આજનું 'મદુઆ' સ્થાન છે.

હવે આપણે આ સંબંધી અન્ય ઉપલબ્ધ વિગતોનું અવલોકન કરીએ.

આબુરોડ પાસે ૭ માઈલ દૂર આવેલા 'મદુઆ' સ્થાનનો ઇતિહાસ જાણી લેવો જરૂરી છે. મદુઆજી આબુરોડથી મડાર તરફ જતી પાકી સડક ઉપર આબુરોડથી ૭ માઈલ દૂર છે. તે મુંડસ્થલ (મુંગથલા) તીર્થથી અરધો માઈલ દૂર પશ્ચિમ દિશા તરફ છે. રાજા અંબરીષની રાણી તોરાવટીએ આ વૈષ્ણવ મન્દિર 'મધુસૂદન'નું બંધાવ્યું હતું. એમાં શ્રીકૃષ્ણ ભગવાનની ૪૦ ઇંચની ખડી પ્રતિમા છે.

મન્દિરની બહાર એક કોતરણીવાળો દરવાજો છે. આ ક્યાંકથી લાવવામાં આવ્યો છે. આ સ્થાનનું મૂળ નામ શિલાલેખોમાં ‘ફિલણીગાંવ ’ મળી આવે છે. સંવત ૧૬૦૦થી લખાયેલ તામ્રપત્રોમાં તથા અન્યત્ર ‘ મદુઆજી ’ તથા ‘ મધુસૂદન ’ આ નામોનો જ ઉલ્લેખ છે, ક્યાંય પણ આ સ્થાન માટે ‘ મદાહૃત , મડ્ડાહૃત, મડ્ડાહડ ’નો ઉલ્લેખ નથી.

‘ મડ્ડાહડ્ગચ્છની પરંપરા ’ નામક એક હિંદી લેખમાં [1] પુરાતત્વના અભ્યાસી રાજસ્થાનના વિદ્વાન શ્રી અગરચંદજી ભંવરમલજી નાહટા લખે છે :

“ મુનિવર જયન્તવિજયજી કે ઉલ્લેખાનુસાર મડ્ડાહડગચ્છકા નામકરણ જિસ મડ્ડાહડ સ્થાન કે નામસે હુઆ હૈ વહ વર્તમાન **મડાર** (મઢાર) હૈ, જો કિ સિરોહી સે નૈઋત્યકોણ મેં ૪૦ માઈલ ઔર ડીસાસે ઈસાનકોણ મેં ૨૪ માઈલ હૈ. ભટાણાસે વાયવ્ય કોણ મેં ૭ માઈલ ઔર ખરાડીસે (આબુરોડસે) ૨૬ માઈલ પશ્ચિમમેં હૈ. સિરોહી રાજ કે તહસીલકા યહ ગાંવ હૈ.

“મડ્ડાહડ સ્થાન પ્રાચીન હૈ. **સુપ્રસિદ્ધ વાદિદેવસૂરિ વહીં** કે પોરવાડ વીરનાગકે પુત્ર થે...

“મડારમેં અભી ધર્મનાથ ઔર મહાવીરસ્વામી કે દો મન્દિર હૈં. યહાં પર મેઘજી ભટ્ટારકા ઉપાસરાભી હૈ, જો કિ ગચ્છ કે થે. મણિભદ્રયક્ષકા મન્દિર, જો **મડાર** દેવીકા મન્દિર ભી કહલાતા હૈ...” (પૃષ્ઠ ૯૬).

સિરોહી મહારાવસાહેબના અંગત મંત્રી શ્રી અચલમલજી મોદી પાસેથી પણ નીચેની ખાસ વિગતો મળી છે :

(૧) સિરોહી શ્રી અજીતનાથ ભગવાન કે મન્દિર મેં એક પાર્શ્વનાથ ભગવાનકી એક તીર્થી હૈ, જિસ પર નિમ્નલિખિત લેખ હૈ :

“ સં. ૧૧૩૮ માર્ગ૦ શુ૦ ૧૦ ધારાગચ્છે **મડાહુડ** સ્થાને વર્ધમાન શ્રેયોર્થે દેવચંદ્ર સુતેન વણદેવ નકારિત ”

(૨) શ્રી દેલવાડા કે લુણવસહી કે વ્યવસ્થા કે શિલાલેખ મેં ઉક્ત મન્દિર કે વાર્ષિક અઠ્ઠાઈ મહોત્સવ મેં ફાગણ વદિ ૮ કા દિન **મડાહુડ** કે જૈનોં કો મનાના ઐસા ઉલ્લેખ હૈ.

(૩) **મડાહુડ** દેવી કે મન્દિર કે બહાર એક શિલાલેખ હૈ ઉસકા સંવત ભી ૧૨૮૭ કા હૈ.

(૪) શ્રી મેઘરચિત પ્રાચીન તીર્થમાળા સંગ્રહ પૃ૦ ૫૪ કડી ૧૧. ‘ મડાહડી સાડી વડગામ સાચરઉ શ્રી વીર પ્રણામ ’ (મડાર–મંડાર, વડગામ વગેરે વગેરે સાઠ ગામોનો સમૂહ છે જેને સાડી કહેવાય છે.)

આવી જ રીતના નામપ્રયોગો અન્ય તીર્થમાળાઓમાં છે : **નયર મડાડ, મઢાડિ** વગેરે.

વ્યુત્પત્તિશાસ્ત્રનો આધાર શોધવા જઈએ તો શું પરિણામ આવે ? આપણા પ્રસિદ્ધ પુરાતત્વવિદ્ મુનિ જિનવિજયજીને પૂછતાં તેમણે—

મદાહૃત–મડાદ–મઢાર–મડાર–મંડાર;

મદાહૃદ–મદાહૃત–મડાહર–મઢાર એ ક્રમ બતાવતાં કાસહૃદ–કાસહૃત–કારહર–કાયંદ્રા, (સિરોહી જિલ્લાનું કાસીંદ્રા) એ દૃષ્ટાંત આપ્યું.

તો પ્રશ્ન ઊઠે છે–**મદાહૃતનું મદુઆ** કેવી રીતે ફલિત થયું ?! વળી એ સ્થાને જૈનોની વસતિ હતી કે ?!

---

[1] અખિલ ભારતવર્ષીય જૈન શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક મુનિ સંમેલન સંસ્થાપિત શ્રી જૈન ધર્મસત્યપ્રકાશક સમિતિના માસિક મુખપત્ર ‘ શ્રી જૈન સત્યપ્રકાશ ’ના ૧૯૫૫ની સાલના ૧૫ ફેબ્રુઆરીના અંકમાં.

‘અમારિ’ પાલનના બે અપ્રકટ ઐતિહાસિક લેખો

શ્રી નાગકુમાર મકાતી

: ૧ :

समोऽहं सर्वभूतेषु એ ગીતાનું વચન લો કે अहिंसा परमो धर्मः એ જૈન શાસ્ત્રનું વચન લો—આપણને સ્પષ્ટ જણાય છે કે સર્વ કાળમાં સર્વ ધર્મોએ અહિંસા ઉપર જ ભાર મૂક્યો છે. મનુષ્યો પોતાના સ્વાર્થે ખાતર હિંસા આચરે પરંતુ આદર્શ તો ‘અહિંસા’નો જ રહ્યો છે. પાંચ મહાવ્રતોમાં ‘અહિંસા’નું સ્થાન પહેલું રહ્યું છે. આ વ્રત કાયિક, વાચિક અને માનસિક એમ ત્રિવિધ સ્વરૂપે દરેક વ્યક્તિએ પાળવું જોઈએ એટલું જ નહિ, પરંતુ શક્ય તેટલું બીજા પાસે પળાવવું પણ જોઈએ. સાર્વવર્ણિક ધર્મ અથવા સાધારણ ધર્મમાં પણ અહિંસાનું સ્થાન કદી બીજું આવ્યું નથી.

ભગવાન મહાવીર અને ભગવાન બુદ્ધે ઈસ્વીસન પૂર્વ લગભગ પાંચસો વર્ષ ઉપર ‘અહિંસા’નું ‘પરમધર્મ’ તરીકે પ્રતિપાદન કર્યું હતું. વચલા કાળમાં યજ્ઞહિંસા બંધ કરાવી શંકરાચાર્યે હિન્દુ ધર્મને નવે સ્વરૂપે ઓળખાવ્યો હતો. લગભગ બારમા સૈકામાં ગુર્જરેશ્વર કુમારપાળે[1] એ ભવ્ય પુરુષોને પગલે ચાલી ‘અમારિ ઘોષણા’ માળવા, મારવાડ, મેવાડ, સુરાષ્ટ્ર, કચ્છ, આનર્ત અને લાટમાં કરાવી હતી.

એ બુદ્ધ, મહાવીર અને કુમારપાળ જેવાના અધ્યાત્મક્ષેત્રે સીધા વારસ જેવા મહાત્મા ગાંધીજીએ વીસમી સદીમાં આ ‘અહિંસા’ને વિશ્વવ્યાપી બનાવવા પ્રચણ્ડ પુરુષાર્થ કર્યો અને તે ખાતર પ્રાણ પણ આપ્યા.

આમ પશ્ચિમ હિંદમાં, ખાસ કરીને અહિંસાનું પાલન કરવા અને કરાવવા અશોકના ગિરનાર ઉપરના શિલાલેખથી આરંભી અત્યાર લગીમાં ઠીકઠીક પ્રયત્નો થયા છે.

: ૨ :

આ લેખમાં પ્રાચીન કાળની વાતને બદલે સવંત ૧૫૦૭માં જૂનાગઢના ઉપરકોટ ઉપરના રા’ મંડળિકના શિલાલેખનો અને બીજો એક વડોદરામાં આજથી ૧૬૨ વર્ષ ઉપર વડોદરાના મહાજનને ખાટકીઓના પંચે લખી આપેલા દસ્તાવેજનો પરિચય કરાવવાનો છે : જે ‘અમારિ’ના ઇતિહાસમાં જાણવા જેવો ઉમેરો કરે છે.

મોગલ સમ્રાટો પાસેથી જૈન સાધુઓએ મેળવેલી સનદો અહીં સંભારવા જેવી છે.

બાણભટ્ટની ગદ્ય ‘કાદમ્બરી’નો પદ્ય અનુવાદ કરનાર ભાલણ રાજા તારાપીડની રાજધાનીનું વર્ણન પરિસંખ્યા અલંકારથી કરે છે. એના રાજ્યમાં સોગટાંબાજી(સારી, સં. શારી)ની રમતમાં જ મોંમાંથી ‘માર’ શબ્દ નીકળતો—વઢવાઢમાં નહિ : ‘સારી રમતાં મારિ.’ ‘નળદમયંતી રાસ’માં નયસુંદર પણ લખે છે કે નળના રાજ્યમાં ‘મારિ’ શબ્દ તે સારિઈ ભણૂં !

આમ ‘મારિ’ (સ્ત્રી.) હિંસા માત્ર સોગટી મારી નાખવામાં થતી; રાજ્યમાં નહિ. અને એમ એમનાં રાજ્યકાળમાં પ્રજા અહિંસા પાળતી અને પળાવતી હતી એમ જાણી શકાય છે.

---

[1] હેમચંદ્રાચાર્યે અભિધાનમાલામાં કુમારપાળના પર્યાય નીચે પ્રમાણે આપ્યા છે :

“कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हतः ।
मृतस्वमोक्ता, धर्मात्मा, मारिव्यसनवारकः ॥”

: ૩ :

જૂનાગઢ ઉપરકોટનો સં. ૧૫૦૭નો શિલાલેખ

સવંત ૧૫૦૭ના માઘ શુદ સપ્તમી દિને ગુરુવારે જૂનાગઢના રા' મંડળિકે બૃહત્ તપાગચ્છના રત્નસિંહસૂરિના પટ્ટાભિષેકના અવસરે, પંચમી, અષ્ટમી, ચતુર્દશી એટલા વિશેષ દિનોમાં સર્વ જીવની 'અમારિ' કરાવી. આ પહેલાં એકાદશી અને અમાવાસ્યામાં તેનું પાલન થતું હતું. આ સંબંધીનો મોટો શિલાલેખ જૂનાગઢના ઉપરકોટમાં છે.

"स्वस्ति श्री संवत १५०७ वर्षे माघसप्तमी दिने गुरुवार श्री राणाजी मेगलदे सुत राउलश्री महिपालदे सुत श्री मंडलिकप्रभुणा सर्वजीवकरुणाकरणतत्परेण औदार्य गांभीर्य चातुर्य शौर्यादि गुणरत्न रत्नसिंहसूरिणां पट्टाभिषेकावसरे स्तंभतीर्थवास्तव्य सा देवासुत हांसासुत राजकुलीन...समस्तजीवअभयदानकरण...कारकेण पंचमी-अष्टमी-चतुर्दशीदिनेषु सर्वजीव अमारि कारिता। राजा...नंतर सिंहासनोपविष्टेन श्रीमंडलिकराजाधिपेन श्री अमारि प्राग् लिखित स्वहस्तलिखित श्रीकरिसहितं समर्थितं। पुरापि एकादशीअमावास्ये पाल्यमाने स्तः। संप्रति एतेषु पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी अमावास्यादिनेषु राजाधिराज श्रीमंडलिकेण सर्वश्रेयः कल्याणकारिणी सर्वदुरितदुर्गोपसर्ग निवारिणी सर्वजीवअमारि कार्य...चिरं विजयतां।"

આ પછીનો આ શિલાલેખનો ગુજરાતી ભાગ, સવંત ૧૫૦૭ના સમયના પ્રચલિત વ્યાવહારિક ગુજરાતી ગદ્યનો કીમતી નમૂનો પૂરો પાડે છે. એટલે જેટલું મહત્ત્વ એ ગદ્યના અર્થનું છે તેટલું જ તેના સ્વરૂપનું પણ છે તે ભૂલવા જેવું નથી.

સવંત ૧૫૦૭ના રા' મંડળિકના ઉપરના સંસ્કૃત શિલાલેખમાંથી છેલ્લો ગુજરાતી ભાગ તે સમયના પ્રચલિત ગદ્યના દૃષ્ટાંતરૂપ છે. સંસ્કૃત લેખનો સાર એ છે કે માંડળિક (ત્રીજો) ગાદીએ બેઠો ત્યારે પાંચમ, આઠમ, એકાદશી, ચતુર્દશી ને અમાવાસ્યાના દિવસોએ કોઈપણ જીવ ન મારવાની 'અમારિ'ની તેણે આજ્ઞા કરી હતી. આ આજ્ઞા ઉક્ત ફકરામાં આપી છે. પાછળના ભાગમાં મંડલિકના ગુણગાનના શ્લોકો સંસ્કૃતમાં છે.

ગુજરાતી ભાગની પંદર પંક્તિઓ આ મુજબ છે :

"પ્રથમ શ્રેય ઈ જગતિ જીવ તર્પિવા સહી, બીજા લોક સમસ્તિ જીવ ન વિણાસિવા, લાવકમાર અનિ ચિડીયાર સીંચાણક રહિં વિ આહેડા ન કરિવા, મોર ન મારિવા, બાવર ખાંટ તુરક એહે દહાડે જીવ કોઈ ન વિણાસઈ, જિ મારસિ વધનિ મલેસિ, કુંભકાર પંચદિન નીમાડ ન કરઈ, જીકો ઇ દીહિ એણવી આણા ભંગ કરઈ એ હણીઈ, રા' શ્રીમાંડળિક નાથણી આણા સવકણઈ પાલિંવી, તેહનઈ ગુણ ઘણા હોસિઈ, જિકો જન ચુકઈ એ દોષની તેહણઈ અમારિ પ્રવર્તાવણહાર શ્રીમંડળિક પ્રભુ કઈ આશાતણા ઈછઈ."

વર્તમાન છાયા : (૧) પ્રથમ શ્રેય આ જગતમાં જીવ જરૂર ('સહી') તર્પવા; બીજું (૨) લોક સમસ્તે જીવ ન હણવા, લાવરાંમાર અને (૩) ચલ્લાંમાર બાજ માટે ('રહિં') પણ શિકાર ન કરવો. મોર (૪) ન મારવા. વાવર ખાંટ તુરક એ દહાડે કોઈ જીવ (૫) ન હણે. જે મારશે, તે વધને પામશે. કુંભાર (૬) એ પાંચ દિન નીમાડો ન કરે. જે કો એ દિવસે આ પ્રકારની આજ્ઞાનો (૭) ભંગ કરે તે મોતની શિક્ષા પામે. રા' શ્રીમંડળિક પૃથ્વીનાથની (૮) આજ્ઞા સહુ કોણે (= સહુ કોએ) પાળવી. તેણે (૯) ગુણ ઘણા થશે. જે કો જન ચૂકી જાય તેણે, (૧૦) અમારિ પ્રવર્તાવણહાર શ્રી મંડળિક ઇચ્છે છે કે પ્રભુને આશાતના કરવી.[૨]

---

૨. જૂનાગઢ કૉલેજના સંસ્કૃતના પ્રોફેસર શ્રી નર્મદાશંકર પૂરોહિતે આ આખો લેખ વાંચેલો; તેના ગુજરાતી ભાગનું સંશોધન–સંપાદન–ભાષાંતર દી. બા. પ્રો. કેશવલાલ ધ્રુવે કરેલું. તે 'શ્રી ફાર્બસ ગુજરાતી સભા ત્રૈમાસિક' ૧૯૫૨–૫૩ : (પ્રગટ તા. ૩૧–૬–૫૪)માં પ્રસિદ્ધ, પૃષ્ઠ ૩૭૬; સંસ્કૃત લેખની માહિતી માટે જુઓ 'જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ' શ્રી મોહનલાલ દેશાઈ કૃત (૧૯૩૩), પૃ. ૪૯૫, પાદનોંધ.

: ૪ :

વડોદરાની નરસિંહજીની પોળમાં પ્રસિદ્ધ ઝવેરી કુટુંબના સદ્દગૃહસ્થો શ્રીયુત કુમારપાળ લાલભાઈ ઝવેરી તથા શ્રી સત્યેન્દ્ર અંબાલાલ ઝવેરી એમણે પોતાનો લેખભંડાર પ્રા. મંજુલાલ ર. મજમુદારને બતાવ્યો. તેમાંથી આ નીચેનો દસ્તાવેજ ઐતિહાસિક તેમ જ સામાજિક દૃષ્ટિએ ખૂબ અગત્યનો જણાતાં પ્રા. મજમુદારે પ્રસિદ્ધિમાં મૂકવા માટે માગી લીધો હતો અને તેમણે તે મને બતાવીને ખૂબ ઉપકાર કર્યો છે. એમના સૌજન્યથી જ આ લેખ પ્રસિદ્ધ થઈ શકે છે.

વડોદરાનો સવંત ૧૮૪૮નો દસ્તાવેજ

માનાજીરાવ ગાયકવાડનો સિક્કો

સંવત ૧૮૪૮ના શ્રાવણ વદિ ૧૧ વાર ભોમે દીને કસ્બે વડોદરાના **શેઠ માહાજન સમસ્ત** જોગ તથા કસબે મજકુરનાં ખાટકીના મહેતર **ફેજુરતારજી** તથા **જમાલ લાલન** તથા કમાલનૂરણુ તથા **રહીમયારુ** તથા **એહમદ નસીર** તથા **મીઆજી કાસમ** તથા **રાજો મહમદજી** વગેરે ખાટકી પંચ સમસ્ત. જત અમે સરવે મલીને રાજીરજાવંદ થઈ ને માહાજનનેં લખી આપીએ છીએ જે આજ પુઠી વરસ ૧ મધે માસ ૧ **શ્રાવણ**નો તહેના દીન ૩૦ તથા બારે માસની **એકાદશી** ૨૪ તથા બારે માસના **સોમવાર** ૪૮ તથા **પચુસણ**ના દિવસ તે શ્રાવણ સુદ–૧થી તે ભાદરવા સુદ–૧૨ લગી, તથા મોહોટી **શીવરાત** ૧ તથા **રાંમનોમી** ૧, એટલા દિવસ અમો જીવની હંસા કરીએ તથા અમારો કસબ કરીએ તો સરકારના તથા માહાજનના ગુનેંગાર, ને ખૂન ૧ જનાવરનું કરીએ તા ગુનેંગારી રૂ. ૨૭૦૧] અંકે સતાવીશે ને એક પુરા સરકારમાં ભરીએ ને કોઈ ને રૂપઈઆ ન મલે તો તેનાં ઘરબાર ખાલસાઈ થાએ તથા નાક કાન કપાએ–એ પરમાંણે અમારી પેઢી દરપેઢી જાવો–ચંદર દીવાકર પાલીએ એ પરમાંણે અમો સરવે પંચ મલીનેં રાજીરજાવંદ થઈનેં માહાજન સમસ્તને લખી આપુ છે, તથા ઈદનો દિવસ, એટલા અણોજામાંહાં આવે તો સરકારનો હુકમ લેઈ ને દિવસ ૨ એ કામ કરીએ, એ લખુ બાપના બોલ સાથે પાલીએ.

અત્ર મતુ ૧ અત્ર સાખ

[ખાટકી પંચ સમસ્ત] [મહાજનની સહીઓ]

એકંદરે અહિંસાના દિવસ વર્ષમાંથી ત્રીજા ભાગના થવા જાય છે.

ઉપર ગણાવેલા અણોજાના દિવસોમાં જૈન અને હિંદુ જનતાના બન્ને વિભાગોના મુખ્ય મુખ્ય પવિત્ર ગણાતા દિવસોનો સમાવેશ થયેલો છે એ ધ્યાન ખેંચનારી બીના છે.

એકંદરે આ બન્ને લેખનું સાંસ્કૃતિક મહત્ત્વ પણ ધ્યાનમાં લેવા જેવું છે.

વડનગરની શિલ્પસમૃદ્ધિ

શ્રી રમણલાલ નાગરજી મહેતા

નાગરોનું આદિ નિવાસસ્થાન વડનગર મહેસાણા જિલ્લાના ખેરાળુ તાલુકામાં આવેલું છે. વડનગર શર્મિષ્ઠા તળાવના પશ્ચિમ અને દક્ષિણ કાંઠા પર વસેલું કેન્દ્રિત કિલ્લેબંદ નગર છે. સ્કંદપુરાણાન્તર્ગત નાગરખંડ આ નગરને ખૂબ પ્રાચીન દર્શાવે છે; અને તેનાં ચમત્કારપુર, નગર, આનંદપુર, આનર્તપુર વગેરે નામો આપે છે, તથા તેની ઉત્પત્તિ માટે અનેક વાતો દર્શાવે છે. આ બધી વાતો, વધુ પુરાવા સિવાય પુરવાર થઈ શકે એમ નથી. વડનગરનાં આનંદપુર અને આનર્તપુર વગેરે નામો મૈત્રકો અને રાષ્ટ્રકૂટોનાં તામ્રપત્રોમાં મળે છે. વડનગરનું સૌથી પ્રથમ વર્ણન હ્યુ એન સંગ નામના ચીની મુસાફરે કર્યું છે. તેમણે વડનગરને સમૃદ્ધ અને સાડા ત્રણ માઈલના ઘેરાવામાં વિસ્તરેલા નગર તરીકે વર્ણવ્યું છે.

હાલમાં વડનગરની પૂર્વ, ઉત્તર અને દક્ષિણ દિશાઓમાં પ્રાચીન ગભાણો છે. આ ગભાણોમાંથી ઘણીખરી પાછળની વસાહતો તથા બીજા કાળમાં ખોદાયેલાં અથવા ગળાવાયેલાં તળાવોને લીધે ખેરવિખેર થઈ ગયેલી છે. આ ગભાણોમાંથી ઈ૦ સ૦ની શરૂઆતના સૈકાઓમાં વપરાતાં માટીનાં વાસણો, શંખની બંગડીઓ, પ્રાચીન મુદ્રાઓ, મકાનોના પાયા વગેરે મળી આવે છે. આ સ્થળો પૈકી આમથેર માતાના દાકાડાવાસ પાસે અને ગૌરીકુંડ પાસે ઉત્ખનન કરતાં વડનગરની વસાહત ઈ૦ સ૦ ની શરૂઆતમાં અસ્તિત્વમાં આવી હોય એમ લાગે છે. પુરાતત્ત્વની નજરે, લગભગ બે હજાર વર્ષ જૂના આ નગરમાંથી, આમથેર માતા તથા શીતલા માતાનાં ચાલુક્ય સમય પહેલાનાં—રોડાનાં મન્દિરો સાથે સરખાવી શકાય એવાં—સુશોભિત મન્દિરો અને પ્રાચીન શિલ્પોના ઘણા નમૂનાઓ મળ્યા છે.

વડનગરમાંથી મળતાં ઘણાંખરાં શિલ્પો ગમે ત્યાં, આડાંઅવળાં, પડેલાં છે. કેટલાંક ત્યાંના મન્દિરોમાં પૂજાતાં કે અપૂજ પડેલાં છે; જ્યારે બીજાં કેટલાંક કિલ્લાના કોટમાં અથવા તળાવની પાળોમાં જડી દેવામાં આવ્યાં છે. અહીંથી મળતાં ઘણાંખરાં શિલ્પો રેતીના પથ્થરોનાં બનાવેલાં છે; જ્યારે થોડાં શીસ્ટ (schist) અને શીસ્ટોઇઝ(schistoize)નાં બનાવેલાં છે. વડનગરનાં શિલ્પો ઈડર અને ડુંગરપુરની અરવલ્લીની ગિરિમાળામાંથી મળતા પથ્થરોનાં બનેલાં છે.

ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ વડનગરનાં શિલ્પો ત્રણ વિભાગોમાં વહેંચી શકાય એમ છે :

(૧) ગુપ્ત અને ગુપ્તકાળ પછીનાં (ઈ૦ સ૦ ના પાંચમાથી દશમા સૈકા સુધીનાં).

(૨) ચાલુક્ય સમયનાં (ઈ૦ સ૦ ના અગિયારથી તેરમા સૈકા સુધીનાં).

(૩) ચાલુક્ય સમય પછીનાં ગુજરાતના મધ્યોત્તર કાળનાં (ઈ૦ સ૦ તેર પછીનાં).

આ બધાં શિલ્પો પથ્થરમાંથી ઉપસાવેલાં છે અને તે મોટે ભાગે મંદિરોમાં સુશોભનો માટે વપરાયેલાં હોય એમ લાગે છે જ્યારે કેટલાંક શિલ્પો પૂજાની મૂર્તિઓ છે.

પ્રથમ વિભાગમાં સુંદર કારીગીરીનાં સુડોળ શિલ્પો છે. કંઈક લંબગોળ અથવા ગોળ મુખાકૃતિ, ઘાટીલું શરીર, મોટો કેશભાર અને આછાં પણ સુરેખ આભૂષણોયુક્ત આ શિલ્પો મનોહર છે. આ શિલ્પોનું સૌંદર્ય એનાં કુશળ વિધાન, સપ્રમાણ તંદુરસ્ત અને સૌંદર્યવાન શરીર તથા સુરેખ નકશીકામમાં છે. આ યુગના ઉત્તરકાળમાં ઘણીવાર શરીરના પ્રમાણમાં પગ કંઈક ટૂંકા અને જડ લાગે છે

તથા કમર નીચેનો ભાગ નિર્બળ દેખાય છે. આ યુગનાં શિલ્પોમાં રેતીના પથ્થરનું મસ્તક, શીસ્ટનું અણઓળખાયેલું શિલ્પ તથા નાગછત્રવાળી માતાની પ્રતિમા, અરજણબારી બહારની ઉત્તર બાજુની ભીંતપરની પટ્ટિકા, હળધર, વરાહ, સપ્તમાતૃકા, ગણપતિ, કાર્તિકેય અને શીતળા માતાનાં મંદિરની છતનાં શિલ્પો તથા શર્મિષ્ઠા તળાવની પાળોમાં જડેલાં કેટલાંક શિલ્પો છે.

બીજા વિભાગનાં શિલ્પોનું વિધાન પહેલા યુગનાં શિલ્પો જેટલું સુંદર નથી. આ યુગમાં આભૂષણોનું પ્રમાણ વધુ છે. માનવશરીરનાં આલેખનમાં ધડ પગના પ્રમાણમાં કંઈક ટૂંકું અને પગ પાતળા તથા લાંબા હોય છે અને શરીરનો વળાંક પણ કેટલીક વાર અકુદરતી લાગે એવો હોય છે. આ યુગનાં ઘણાં શિલ્પો એકસરખાં, વિવિધ વ્યક્તિત્વ સિવાયનાં હોય છે. પરંતુ આ શિલ્પોમાં ખાસ કરીને નરથરમાં વિષયોની વિવિધતા ખૂબ આકર્ષક છે. આ યુગમાં મોટાં શિલ્પો એકધારાં, ખૂબ આભૂષણોથી સજ્જ અને જથ્થાબંધ ઉત્પન્ન કરવામાં આવતાં હોય એમ લાગે છે. આ યુગની શરૂઆતનાં શિલ્પોમાં આગલા યુગના ઉત્તરકાળની ખૂબ અસર છે પરંતુ પાછલા ભાગમાં આ યુગનાં શિલ્પોનાં ઘણાંખરાં લાક્ષણિક તત્ત્વો દેખા દે છે, અને તેમાં નાની નાની વિગતોને વધુ વિકસાવવામાં આવે છે. આ વિભાગની નકશીમાં પણ વિવિધતા છે. આ વિભાગનાં શિલ્પો વડનગરનાં તોરણો (નરસિંહ મહેતાની ચોરી), કિલ્લાની ભીંતો, ઘાસકોલ દરવાજા બહાર તથા ગામમાં ઘણી જગ્યાએ રખડતા નજર પડે છે.

ત્રીજા વિભાગનાં શિલ્પોમાં બીજા યુગની લાક્ષણિકતા ચાલી આવે છે, પરંતુ આ યુગનાં શિલ્પો વધુ નિર્જીવ અને ભાવવિનાનાં લાગે છે. આ યુગની કોતરણી કંઈક નબળી છે અને એમાં આગલા યુગનું વિષયવૈવિધ્ય નથી. આ યુગમાં પુરાણો અને મહાભારત–રામાયણનાં પાત્રો, અવતારો વગેરેનાં શિલ્પનું મોટું પ્રમાણ જોવામાં આવે છે. નર્તકીઓ, વ્યાઘ્રો અને નકશીકામમાં ગત યુગની અસર અહીં સ્પષ્ટ રીતે દેખાય છે અને આ વિષયમાં ગતયુગના નમૂનાઓની નકલ થઈ હોય એમ લાગે છે. મંદિરનાં સુશોભનાર્થે વપરાયેલાં આ શિલ્પોની સમગ્ર અસર એકંદર સારી થાય છે પરંતુ વ્યક્તિગત શિલ્પ ગતયુગોની સરખામણીમાં નિર્બળ છે. આ યુગનાં કેટલાંક શિલ્પોમાં મુસલમાન કાળનાં વસ્ત્રો દેખા દે છે જ્યારે બીજાં શિલ્પો ગતયુગનાં વસ્ત્રો દર્શાવે છે. આ વિભાગનાં શિલ્પો ખાસ કરીને હાટકેશ્વર અને બીજાં પાછળથી બંધાયેલાં મંદિરો જોવામાં આવે છે.

વડનગરનાં શિલ્પોનો અભ્યાસ કરતાં લાગે છે કે ગુજરાતની શિલ્પકળા તેના સમગ્ર ઐતિહાસિક યુગમાં સુવિકસિત હતી. શિલ્પ જે તે યુગની કળાશૈલીને અનુસરતાં હતાં. પહેલા વિભાગનાં શિલ્પો સામાન્યતઃ ગુજરાત અને તેની આજુબાજુના પ્રદેશના તે કાળનાં શિલ્પો સાથે ઘણું સામ્ય ધરાવે છે. ખાસ કરીને અરજણબારી પાસેની શિલ્પપટ્ટિકાનાં શિલ્પો વડોદરા પાસેથી અકોટામાંથી મળેલાં જૈન તામ્રશિલ્પો સાથે સામ્ય ધરાવે છે. આ નિકટવર્તી સામ્ય ચાલુક્ય સમય પહેલાં ગુજરાતમાં એક સમાન કલાપ્રવાહ હતો તેની સાક્ષી આપે છે. આ કલાપ્રવાહ ગુપ્તોના જમાનામાં દૃઢ થયો અને આ પ્રદેશમાં વિસ્તર્યો.

બીજા વિભાગનાં શિલ્પો ચાલુક્ય સમયનાં જૈન અને જૈનેતર શિલ્પની જ શૈલીનાં છે. ત્રીજા વિભાગનાં શિલ્પો પણ ગુજરાતની મધ્યોત્તર શિલ્પકળાની સમૃદ્ધિનાં સૂચક છે. આ યુગમાં ગુજરાતમાં કળા સુંદર જીવંત રાખવામાં જૈનોનો ઘણો મોટો ફાળો હતો. મુસલમાનોના હુમલા, તેમજ રાજ્યપરિવર્તનની અશાંતિના કઠણ કાળમાં જીવતી આ કલા ગતયુગોની પ્રફુલ્લતાને બદલે કંઈક હતાશા સાથે ઇહલોકના આનંદને બદલે પારલૌકિક સુખની વાંછના કરતી હોય એમ લાગે છે. આ યુગનો કલાકાર સારો અભ્યાસી હોઈ તત્કાલીન સમાજનાં વસ્ત્રો—પહેરવેશને પોતાની કળામાં વણી લે છે.

वडनगरनी शिल्पसमृद्धि

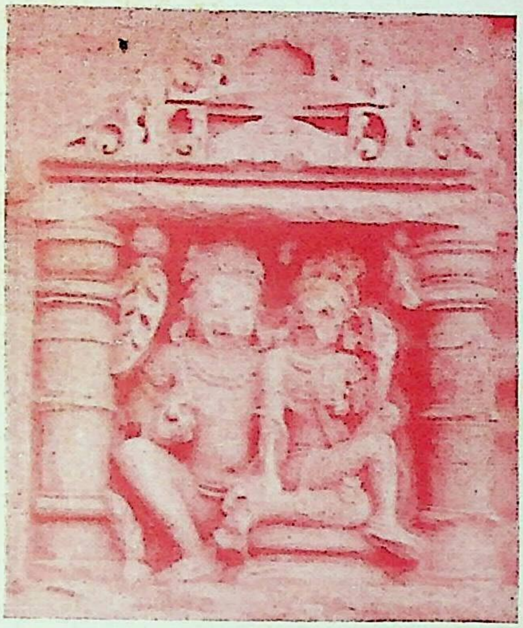

चित्र नं. १

युगल-शर्मिष्ठा तळावनी पाळ उपर जडेलुं शिल्प

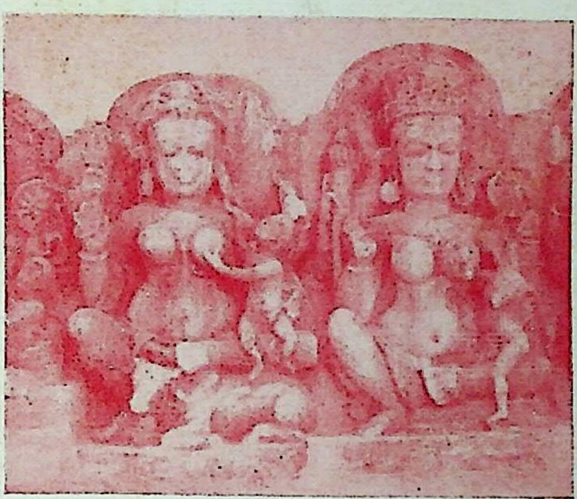

चित्र नं. २

आमथेरमातानां मंदिरमांनुं सप्तमातृकानुं शिल्प

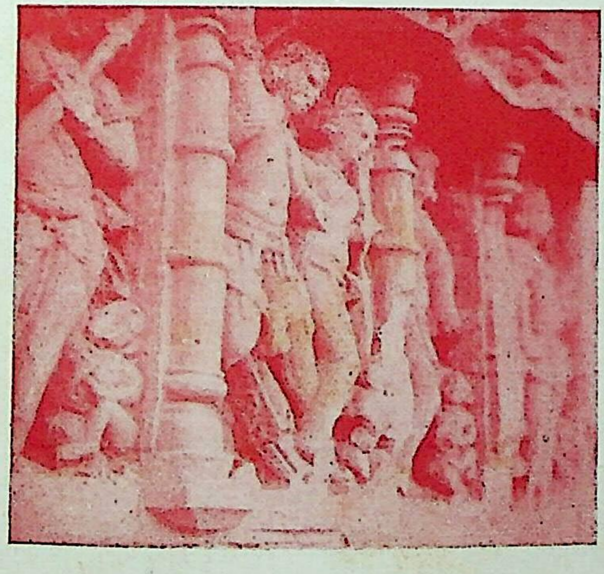

चित्र नं. ३

अरजण-बारीनी उत्तरे भींत परनी शिल्पपट्टिका

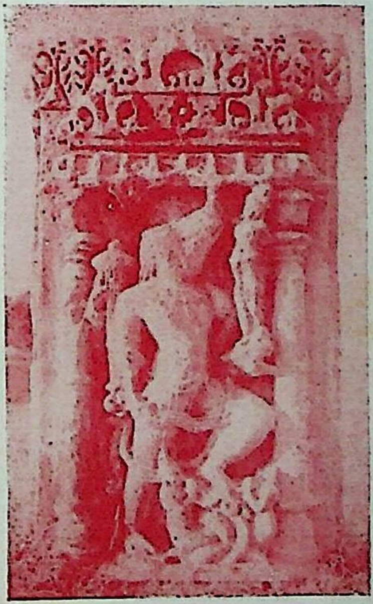

चित्र नं. ४

ठाकरडावासनी नजीक पडेली

नरवराहनी प्रतिमा

वडनगरनी शिल्पसमृद्धि

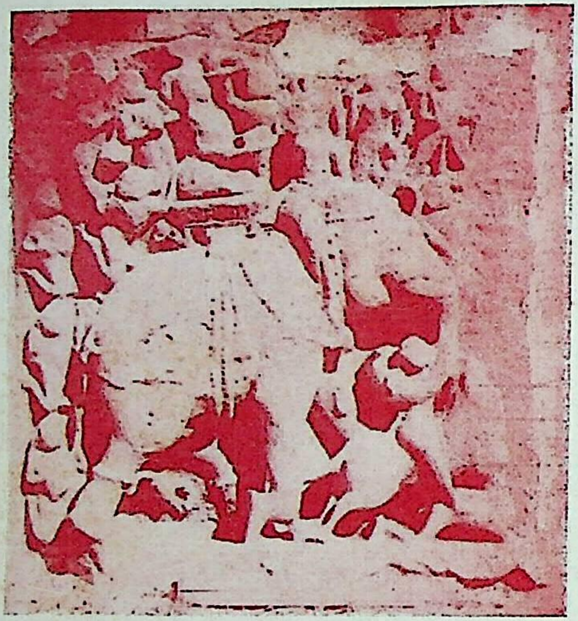

चित्र नं. ५

गौरीकुंडनी दीवालमां जडी दीधेल राजवंशीनी सवारी

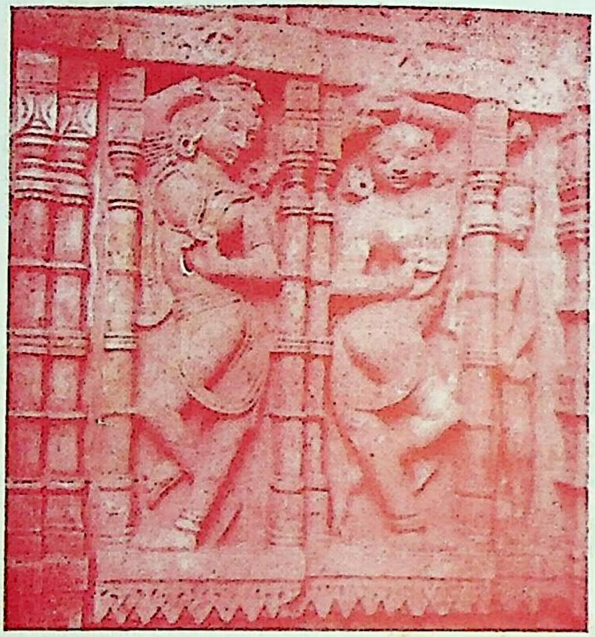

चित्र नं. ६

हाटकेश्वर मन्दिरनी भींत परनी नर्तकी

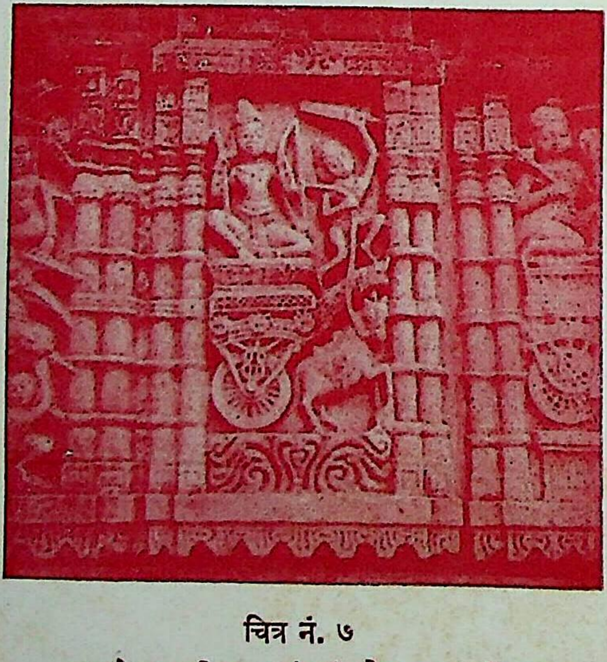

चित्र नं. ७

हाटकेश्वर मन्दिर परनुं पांडवोना रथनुं शिल्प

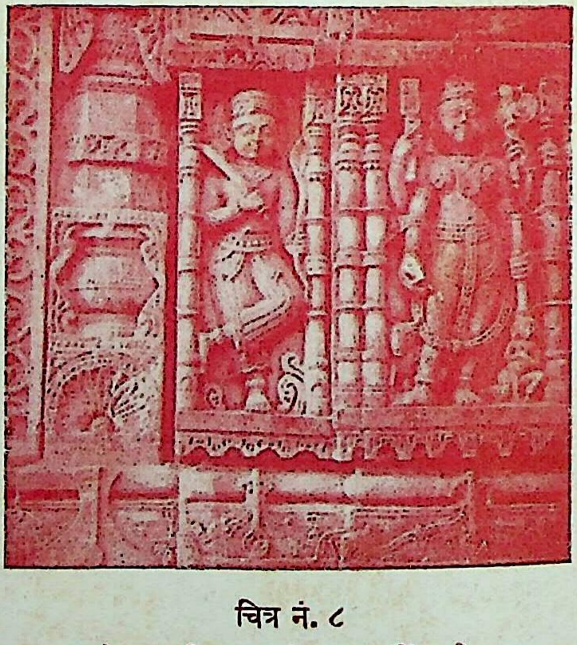

चित्र नं. ८

हाटकेश्वर मन्दिर परनां स्वाहा (?) अने गण

ચિત્રપરિચય

ચિત્ર ૧ : ઝરૂખામાં બેઠેલાં આ યુગલનું શિલ્પ શર્મિષ્ઠા તળાવની પાળમાં જડી લેવામાં આવ્યું છે. આ યુગલમાંના પુરુષે મુકુટ, કુંડળ, એકાવલી, બાજુબંધ અને કટિવસ્ત્ર પહેર્યાં છે. લલિતાસનમાં ગોળ બેઠક પર બેઠેલા આ પુરુષની હડપચી, નાક તથા આંખો ખંડિત છે. તેના ડાબા પગ પર બેઠેલી સ્ત્રીનું મોં તથા છાતીનો ભાગ તૂટી ગયો છે. તેનો જમણો હાથ પુરુષના પગ પર છે અને ડાબા હાથમાં અસ્પષ્ટ સાધન પકડેલું છે. તેણે પોતાના વાળ ઊંચા લઈને રત્નજડિત પાશથી બાંધ્યા હોય એમ લાગે છે. આ કેશગૂંફનની પદ્ધતિ અકોટાની ચામરધારિણી અને અરજણબારીની શિલ્પપટ્ટિકામાં સ્પષ્ટ દેખાય છે. તેણે કાનમાં કુંડળ, ગળામાં એકાવલી અને છાતીપર થઈને પેટપર એક જ રેખામાં લટકતો હાર, હાથમાં બાજુબંધ તથા વલય, કેડે કટીમેખલા અને પગમાં સાંકળાં પહેર્યાં છે. તેનું ઉત્તરીય જમણા હાથ પર સ્પષ્ટ દેખાય છે. આ શિલ્પના સપ્રમાણ શરીરમાં પગ કંઈક ટૂંકા છે.

ઝરૂખાના સ્થંભો, કુંભી અને શીર્ષ ગોળ છે. તેની પાસે પલ્લવ દેખાય છે. આ સ્થંભો પાટણ, રોડા વગેરે સ્થળોએથી મળતાં શિલ્પો પર દેખાય છે. છતપર છિન્ન ગવાક્ષોનું નકશીકામ છે. સંપૂર્ણ પીપળપાન ઘાટનાં ગવાક્ષોને છેદીને તેનો સુશોભન માટે ઉપયોગ અહીં સાતમી સદી પછી થવા માંડ્યો. આ શિલ્પ સમગ્ર દૃષ્ટિએ જોતાં નવમી સદીનું હોય એમ લાગે છે.

ચિત્ર ૨ : આમથેર માતામાં નવમી સદીનાં નાનાં મન્દિરો અને કેટલાંક શિલ્પો પડેલાં છે તે પૈકી સપ્તમાતૃકાનાં શિલ્પોમાંથી પાર્વતી અને વૈષ્ણવીનાં શિલ્પોનો આ ફોટો છે. આ સુરેખ અંકન, શાંત મુખમુદ્રા, કંબુગ્રીવા, સુડોળ શરીર, પીનપયોધર અને ત્રિવલી ઉદરવાળી માતૃકાઓના પગ પ્રમાણમાં જડ અને ટૂંકા છે. આછાં એકાવલી, બાજુબંધ જેવાં આભરણો અને જુદી જુદી જાતના મુકુટ ધારણ કરનાર આ શિલ્પો આઠમી સદીનાં હોય એમ લાગે છે.

ચિત્ર ૩ : અરજણબારી દરવાજા બહારની શિલ્પપટ્ટિકાના એક ભાગનું આ ચિત્ર છે. આખી શિલ્પપટ્ટિકામાં યુગલો અને એકાકી પુરુષ અને સ્ત્રીની પ્રતિમાઓ છે. આ શિલ્પમાંની સ્ત્રીઓ વસ્ત્રાભૂષણ અને દેહની દૃષ્ટિએ વડોદરાની ચામરધારિણી સાથે ખૂબ સામ્ય ધરાવે છે અને તે નવમી સદીમાં તૈયાર થયાં હોય એમ લાગે છે. પાછળથી આ પટ્ટિકા કિલ્લાની દીવાલમાં જડી લેવામાં આવી હશે. આ શિલ્પમાંની કેટલાક પુરુષોની પ્રતિમાઓ આવતા યુગની શૈલી દર્શાવે છે.

ચિત્ર ૪ : અમરથોલ દરવાજાના ઠાકરડાવાસના ઈશાન કોણ પર મોટી નરવરાહની પ્રતિમા છે. વરાહનું શરીર સપ્રમાણ છે. તેના જમણા હાથ પર પૃથ્વીદેવીની મૂર્તિ છે. તેના ડાબા પગ નીચે નાગ દર્શાવ્યા છે. વરાહની આજુબાજુના સ્થંભો છત અને છતપરની ગવાક્ષ, વેલ વગેરેની કોતરણી, આ શિલ્પ દશમી સદીનું હોય એમ દર્શાવે છે.

ચિત્ર ૫ : ગૌરીકુંડની દીવાલમાં જડી દીધેલું કોઈ રાજવંશીની સવારીનું દૃશ્ય છે. સુશોભિત વેગથી દોડતો હાથી, તેની આગળ ફાળ ભરતો ઘોડેસ્વાર શિકારી એના વિષયથી મનોહર છે. આ શિલ્પ જેવાં શિલ્પો આબુ, ડભોઈ અને બીજાં ચાલુક્યયુગનાં મન્દિરો પર અનેક જોવામાં આવે છે.

ચિત્ર ૬: હાટકેશ્વરનાં મન્દિરની ભીંત પરની આ નર્તકી અથવા અપ્સરાઓના દેહનો વળાંક ખૂબ અકુદરતી છે અને મધ્યકાલીન ખજુરાહો, ઓરિસ્સા અને ગુજરાતમાં દેખાતાં શિલ્પોની એમાં નકલ હોય એમ લાગે છે. તેનાં ભારે જડબાં, આગળ આવતી હડપચી, સીધું નાક, ત્રિપાર્શ્વ મુખાકૃતિ, પ્રલંબ નેત્રો તથા ખાસ કરીને આગળ દેખાતી સામી બાજુની આંખ મધ્યકાલીન ગુજરાતી ચિત્રકળાનો ખ્યાલ આપે છે. એનાં આભૂષણો પ્રમાણમાં જડ છે અને આગલા યુગ જેટલાં સુરેખ નથી. આ શિલ્પો ગતયુગનાં અનુકરણ જેવાં લાગે છે.

ચિત્ર ૭: હાટકેશ્વરનાં મન્દિરપરનાં આ શિલ્પમાં યુદ્ધમાં જતા પાંડવોના રથ જણાય છે. રથનાં પૈડાં દોરીથી બાંધેલાં છે. તેના ઘોડા પ્રમાણમાં નાના અને બરાબર જોતરાયા ન હોય એવા લાગે છે. સારથિ બેસવાને બદલે ઊભો હોય અને હાથમાં તલવાર લઈ તે રથ હાંકતો હોય એવો લાગે છે આ પાંડવોની પાઘડીઓ સોળમી અને સત્તરમી સદીમાં ઉપયોગમાં આવતી કુલેહનો વધુ ખ્યાલ આપે છે.

ચિત્ર ૮: આ શિલ્પ પણ હાટકેશ્વરનાં મન્દિરનું છે. એનો મોટો સ્થંભ પૂર્ણ ઘટપલ્લવથી સુશોભિત છે. પરંતુ આજુબાજુની નકશી મધ્યોત્તરકાળની છે. આના હાથમાં નાગ અને ખડ્ગ ધારણ કરેલા ગણે પાયજામો અને છજ્જેદાર પાઘ ધારણ કરી છે. સાથેની સ્વાહા(?)ની પ્રતિમાનાં વસ્ત્રાલંકારો પણ લાકડાની કોતરણીમાં મળતાં શિલ્પો જેવાં છે અને તે પણ સોળમી સદી કરતાં આગળના નથી.

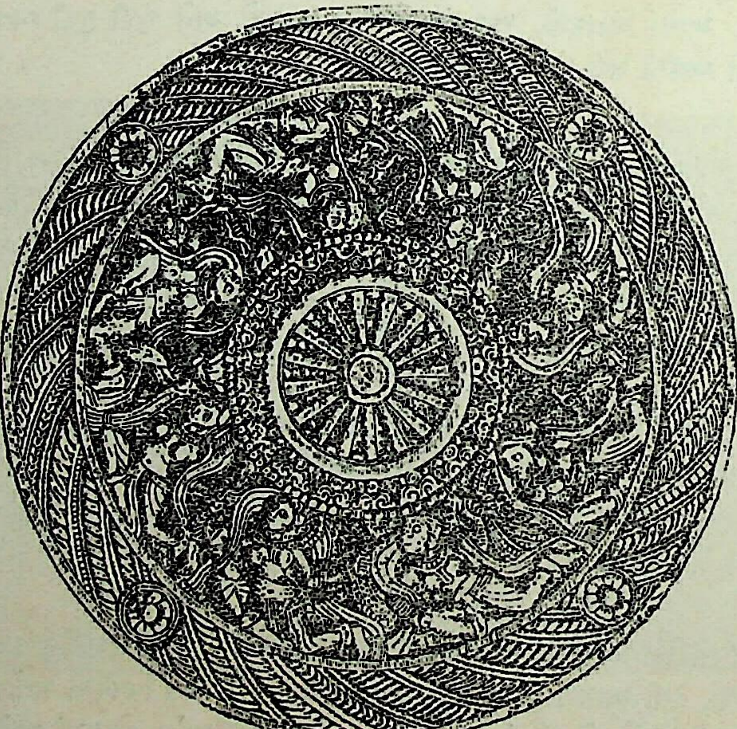

ब्रह्म व्रतेषु व्रतम्

શ્રી મનસુખલાલ તારાચંદ મહેતા

જ્ઞાનમાં જેમ કેવળજ્ઞાન અને ધ્યાનમાં જેમ શુકલ ધ્યાન સૌથી શ્રેષ્ઠ છે, તેમ તપમાં બ્રહ્મચર્ય એ ઉત્તમોત્તમ તપ છે. પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્રમાં કહ્યું છે કે :— स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं। અર્થાત્ જે શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યનું સેવન કરે છે તે જ ખરો ઋષિ છે, તે જ સાચો મુનિ છે, તે જ સાચો સંયમી છે, અને તે જ ખરો ભિક્ષુ છે.

બ્રહ્મચર્યનો જો વ્યુત્પત્તિથી અર્થ કરવામાં આવે તો ब्रह्माणि चरणमिति ब्रह्मचर्यम्। અર્થાત્ આત્મામાં વિચારવું એનું નામ ‘ બ્રહ્મચર્ય.’ પતંજલિ યોગસૂત્રમાં બ્રહ્મચર્ય વિષે લખતાં કહ્યું છે કે : ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। અર્થાત્ બ્રહ્મચર્યની દૃઢતા થવાથી અદ્‌ભુત વીરતાની પ્રાપ્તિ થાય છે.

બ્રહ્મચર્યના પાલનથી મગજમાં ઘણી જ બળવાન શક્તિનો સંચય થાય છે, અને તેની ઇચ્છાશક્તિ પણ અસાધારણ રીતે બળવાન થઈ જાય છે. બ્રહ્મચર્ય વગર માનસિક અને આધ્યાત્મિક બળ સંભવતું જ નથી. આપણા મહાન આચાર્યો શ્રીસિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રીહરિભદ્રસૂરિજી, શ્રીહેમચંદ્રાચાર્યજી, શ્રીયશોવિજયજી સૌ નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચારીઓ જ હતાં. સ્વામી રામતીર્થ, સ્વામી વિવેકાનંદ અને મહર્ષિ રમણ જેવા યોગી પુરુષો પોતાના જીવનકાળમાં જે મહાન કાર્યો કરી ગયા છે, તે બધાના મૂળમાં બ્રહ્મચર્યની જ શક્તિ હતી. આચાર્ય શ્રી વિનોબાજી ભાવેએ આ ઉંમરે ભારતમાં ભૂમિદાનરૂપી શ્રેષ્ઠ યજ્ઞ શરૂ કરી જગતની પ્રજાને શાંતિ અને સેવાનો એક નવો જ માર્ગ બતાવ્યો છે; આ મહાન કાર્યની પાછળ પણ તેમના નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચર્યની શક્તિનો કાંઈ ઓછો હિસ્સો નથી.

શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યનું પાલન જ્યાંસુધી પાંચ ઇન્દ્રિયો, ક્રોધ–માન–માયા–લોભ તેમ જ સૌથી દુર્જય એવું પોતાનું મન ન જિતાય ત્યાં સુધી શક્ય નથી. શીલનો અર્થ આપણાં શાસ્ત્રોમાં માત્ર વીર્યનિરોધરૂપી સ્થૂલ બ્રહ્મચર્ય કરવામાં નથી આવ્યો, પરન્તુ મન, વચન અને કાયાએ કરી ઇન્દ્રિયો પર જય મેળવી, તેમની દુષ્પ્રવૃત્તિમાંથી મુક્ત થવું એ જ શીલની શુદ્ધ વ્યાખ્યા છે. માત્ર ઇન્દ્રિયોના દમનથી બ્રહ્મચર્ય પાળવું એ શક્ય નથી. મહાત્મા ટૉલસ્ટૉયે આ બાબત પર પોતાના વિચારો દર્શાવતાં કહ્યું છે કે : ‘ અન્ય સર્વ સદ્‌ગુણોની પેઠે બ્રહ્મચર્ય પણ પાપ કરવાની અશક્યતા કે અશક્તિ દ્વારા નહિ પણ ઇચ્છાબળે અને શ્રદ્ધા સામર્થ્ય વડે સંપાદિત થાય ત્યારે કામનું છે. અકરાંતિયા ન થવા ખાતર માણસ જાતે જઠરમાં રોગ પેદા કરે, અગર લડાઈ ન કરવા ખાતર જાતે પોતાના હાથ બાંધે, અથવા અપશબ્દો ન વાપરવા જાતે પોતાની જીભ કાપી નાખે તો તો પાપ કર્યું ન કર્યું સરખું જ છે. ઈશ્વરે માનવીને અત્યારે એ છે એવું બનાવ્યું છે, એના વિષયી દેહમાં દૈવી આત્માનો સંચાર કર્યો છે, તે ઈશ્વરકૃતિને સુધારવા એ દેહને છેદીભેદીને પાંગળો બનાવે એટલા માટે નહિ, પણ એ આત્મા એની દૈહિક વિષયવાસનાને તાબે કરે એટલા ખાતર જ.’

શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યના પાલન માટે માણસ પાસે કોઈ વિશાળ કલ્પના હોવી જોઈએ, અને તેમાં જ સદૈવ ચિત્ત અને શરીરને ઓતપ્રોત કરી નાખવાં જોઈએ કે જેથી વિષયના સ્મરણને અવકાશ જ ન રહે. વિશાળ કલ્પના રાખતાં બ્રહ્મચર્યનું પાલન સહજ બની જાય છે. પ્રસિદ્ધ રસાયનશાસ્ત્રી જૉન ડૉલ્ટનના વિષે એમ કહેવાય છે કે તેમની વૃદ્ધાવસ્થામાં કોઈએ તેમને અવિવાહિત રહેવાનું કારણ પૂછ્યું. તેનાં

જવાબમાં ડૉલ્ટને કહ્યું : ‘ આ પ્રશ્ન જ તમે સૌથી પ્રથમ મને સૂઝવ્યો, બાકી તો મારું જીવન વિજ્ઞાનના અભ્યાસમાં ક્યાં ચાલ્યું ગયું તેની મને ખબર જ નથી.’ ભીષ્મ પિતામહે પિતાના સુખરૂપી એક ભવ્ય આદર્શ અર્થે બ્રહ્મચર્યવ્રત સ્વીકાર્યું, અને પછી તો પિતાનું સુખ જ એમનું બ્રહ્મ બની ગયું અને પરિણામે આદર્શ બ્રહ્મચારી બની ગયા. માઇકલ ઍન્જેલોને કોઈએ વિવાહ કરવાની સૂચના કરી, ત્યારે તેણે જવાબ આપ્યો : ‘ ચિત્રકળા મારી એવી સહચરી છે કે તે કોઈ સપત્ની સાંખી નથી શકતી.’ આ બધાં દૃષ્ટાંતો, બ્રહ્મચર્યના પાલનમાં વિશાળ કલ્પના—ભવ્ય આદર્શો કેવાં અને કેટલાં મદદરૂપ થાય છે તેની સાબિતી આપે છે.

આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરિજી મહારાજસાહેબે બ્રહ્મચર્યવ્રતની પૂજાની રચનામાં બ્રહ્મચર્યની મહત્તા, જરૂરિયાત અને શક્તિનું અદ્‌ભુત વર્ણન કર્યું છે, એટલું જ નહિ પણ બ્રહ્મચર્યના વિષય ઉપર જૈન આગમોના મૂળ સૂત્રોમાં જે જે કહેવામાં આવ્યું છે, તેનો મુખ્ય સાર પણ આ પૂજાઓમાં વણી લેવામાં આવ્યો છે. જે વ્યક્તિએ શુદ્ધ, પવિત્ર, નિર્મળ બ્રહ્મચર્યનું પાલન કર્યું હોય તેવી જ વ્યક્તિથી આવી મહાન પૂજાની રચના થઈ શકે. આ પૂજાઓનાં પદે પદે અમૃત ઝરે છે, કડીએ કડીએ દિવ્ય પ્રકાશ મળે છે, અને શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યમાં કેટલી શક્તિ રહેલી છે તેનું ભાન થતાં, હૃદય પ્રફુલ્લિત બને છે. પાંચ મહાવ્રતોમાં બ્રહ્મચર્યવ્રતની શ્રેષ્ઠતા બતાવતાં પૂજામાં કહેવામાં આવ્યું છે કે :

અન્ય વ્રતો મેં જો વ્રત ખંડિત, હોવે સો ખંડિત સહિયે,
ઇક બ્રહ્મચર્ય કે, હુયે ખંડિત, પાંચો ખંડિત કહીએ.

બ્રહ્મચર્યવ્રત સિવાય જો અન્ય વ્રત ખંડિત થાય તો માત્ર તે વ્રત ખંડિત થયું કહેવાય, પરન્તુ બ્રહ્મચર્યવ્રતના ખંડિત થવાના કારણે તો પાંચે વ્રત ખંડિત થાય છે. આ દૃષ્ટિએ પાંચે વ્રતોમાં બ્રહ્મચર્યવ્રતની મહત્તા સવિશેષ છે. આ હકીકત સમજાવતાં શ્રીમદ્ હરિભદ્રસૂરિજી ‘ વૃદ્ધ વ્યાખ્યા ’ તરીકે કથન ટાંકતા કહે છે : “ વેશ્યામાં મન જવાથી અમૈથુનવ્રત ખંડિત થાય છે; વેશ્યાદિમાં ચિત્ત રાખી ભિક્ષા માટે જતાં જીવજંતુ કચરાવાથી હિંસા થાય છે; બીજો પૂછે ત્યારે છુપાવવા જતાં અસત્ય બોલવું પડે છે; વેશ્યાની રજા વિના તેના મુખનું દર્શન કરવું એ ચોરી છે તથા તેનામાં મમતા કરવી એ પરિગ્રહ છે ” એટલે બ્રહ્મચર્યવ્રતના ભંગ સાથે પાંચે વ્રતોનો પણ ભંગ થાય છે.

બ્રહ્મચર્ય સાધકે કેવા સ્થાનમાં રહેવું, કેવા કેવા નિમિત્તોથી દૂર રહેવું તેમજ તત્ત્વ દૃષ્ટિએ સ્ત્રીનું સ્વરૂપ સમજાવતાં પૂજામાં કહેવામાં આવ્યું છે કે :

સ્ત્રી પશુ પંડક સેવિત થાનક, સેવે નહીં અનગાર;
સોલવે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમેં, બ્રહ્મ સમાધિ વિચાર.
નારી કથા વિકથા કહી, જિનવર ત્રીજે અંગ;
સપ્તમ અંગે સૂચના, દંડ અનર્થે પ્રસંગ.
અજ્ઞાની પશુ-કેલી નિરખત, હોવે ચિત્ત વિકાર,
લખમણા જિમ સાધ્વી વસ મોહે, બહુત રુલી સંસાર.
સંભૂત મુનિ ચિત્ત દીનો, ફરસે તપ નિષ્ફળ કીનો,
ચક્રીપદ માંગ કે લીનો રે, — બ્રહ્મચારી ધીર વીર.
હાથ પાંવ છેદે હુએ રે, કાન નાક ભી જેહ,
બુઢ્ઢી સો વરસા તણી રે, બ્રહ્મચારી તજે તેહ રે.
અપવિત્ર મલ કોઠરી, કલહ કદાગ્રહ ઠામ,
બ્યારાં સ્રોત વહે સદા, ચર્મદતિ જસનામ.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં કહ્યું છે કે : બ્રહ્મચર્યના સાધકે સ્ત્રી, પશુ અને નપુંસક હોય તેવા સ્થળે રહેવું નહિ, તેમ જ સ્ત્રીઓની શૃંગારવર્ધક કથાઓ પણ કહેવી નહિ. ઇન્દ્રિયોનો સ્વભાવ છે કે, સામા આવેલા વિષયને ગ્રહણ કરવો અને વિષયોનો સ્વભાવ છે કે, ઇન્દ્રિયો વડે ગ્રહણ થવું. સાધ્વી લખમણાને, ઇન્દ્રિયોના આવા સ્વભાવના કારણે જ, અજ્ઞાન પશુઓની કામક્રીડા જોતાં ચિત્તમાં વિકાર ઉત્પન્ન થયો, અને પરિણામે અનંત વખત ભવભ્રમણ કરવું પડ્યું. બ્રહ્મચર્યના સાધકે એટલા માટે જ આવાં બધાં નિમિત્તોથી દૂર રહેવું આવશ્યક છે. નિમિત્તોની જીવ પર કેટલી બધી અસર થાય છે, તેના સમર્થનમાં ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં સંભૂતિ મુનિની વાત કહેવામાં આવી છે.

સંભૂતિ મુનિ પાસે એક વખતે સનતકુમાર ચક્રવર્તી અને તેની રાણી સુનંદા વંદન કરવા ગયાં હતાં. વંદન કરતાં સુનંદાના મસ્તક પરથી વાળની એક લટ નીચે સરી પડી. આ વાળની લટનો સ્પર્શ મુનિરાજને થયો અને પરિણામે તેના ચિત્તમાં રાગ ઉત્પન્ન થયો. કામદેવ છે તો અંગરહિત, પણ તેની શક્તિની પ્રબળતા અગાધ છે. તે સ્પર્શના સુખનો અનુભવ થતાં સંભૂતિ મુનિએ વિચાર કર્યો કે : 'અહો ! આ કમળમુખીના વાળનો સ્પર્શ પણ આવું અદ્ભુત સુખ આપે છે તો પછી તેના શરીરનો સ્પર્શ કેવું સુખ આપતો હશે ?' ઊર્ધ્વગતિ માટે સાધકે પળે પળે પ્રયત્ન કરવો પડે છે, પણ નીચે પડવામાં તો ગતિનો વેગ વિનાપ્રયત્ને વધતો જ રહે છે, એટલે સંભૂતિ મુનિએ તો ત્યાં જ નિયાણું બાંધ્યું કે : 'મેં આ દુષ્કર તપસ્યા કરી છે તેનું કાંઈ પણ ફળ હોય તો હું આવતા ભવમાં આવી અનેક સ્ત્રીઓનો સ્વામી થાઉં.' પરિણામે સંભૂતિ મુનિના જીવે 'બ્રહ્મદત્ત' તરીકે જન્મ ધારણ કર્યો અને બાંધેલા નિયાણાને કારણે પુષ્કળ ભોગો ભોગવી સાતમા નરકે જવું પડ્યું.

સ્ત્રીસંગથી બ્રહ્મચારીએ દૂર જ રહેવું. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર(અધ્યયન–૩૨)માં તો ત્યાં સુધી લખ્યું છે કે : 'જેમ બિલાડાના સ્થાનની પાસે ઉંદરોનું રહેવું પ્રશસ્ત નથી તેમ સ્ત્રીઓના સ્થાનની પાસે બ્રહ્મચારી પુરુષોનો નિવાસ પણ યોગ્ય નથી.' બ્રહ્મચર્ય સાધક માટે સ્ત્રીસંસર્ગના ત્યાગની જરૂરિયાત પર ભાર મૂકી દશવૈકાલિક સૂત્ર(અધ્યયન ૮–૫૬)માં કહેવામાં આવ્યું છે કે :

हत्थ पाय पलिच्छिन्नं कण्णनास विगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

અર્થાત્ જેના હાથ પગ કપાઈ ગયા હોય તથા જેનાં નાકકાન બેડોળ થઈ ગયા હોય, એવી સો વરસની સ્ત્રીનો પણ બ્રહ્મચર્ય સાધકે સંસર્ગ ન કરવો. તત્ત્વદૃષ્ટિએ સ્ત્રીના સ્વરૂપનું વર્ણન કરતાં શ્રી યશોવિજયજી મહારાજે જ્ઞાનસારમાં કહ્યું છે કે :

बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु साक्षात् सा विण्मूत्रपिठरोदरी ॥

અર્થાત્ બાહ્યદૃષ્ટિને અમૃતના સાર વડે ઘડેલી સ્ત્રી સુંદરી ભાસે છે, ત્યારે તત્ત્વદૃષ્ટિને તો તે સ્ત્રી પ્રત્યક્ષ વિષ્ટા અને મૂત્રની હાંડલી જેવી લાગે છે. વાસ્તવિક રીતે જોતાં તો, સ્ત્રીનું શરીર કે પુરુષનું શરીર માત્ર લોહી, રુધિર, માંસ, મેદ, હાડકાં, મજ્જા, વીર્ય, આંતરડાં અને વિષ્ટારૂપ અપવિત્ર પદાર્થોનો ભંડાર નથી તો બીજું શું છે? આચાર્ય મહારાજસાહેબે એટલા માટે જ કહ્યું છે કે : 'અપવિત્ર મલ કોઠારી.' તે પછી તરત જ, બીજા અર્ધપદમાં 'કલહ કદાગ્રહ ઠામ' એમ લખ્યું છે. છેતરવું, ક્રૂરપણું, ચંચલતા અને કુશીલપણું એ સ્ત્રીના સ્વાભાવિક જ દોષો છે, એવી સ્ત્રીમાં રતિ કરે એને મૂર્ખ ન કહેવો તો શું કહેવું ? આ દોહરાની બીજી પંક્તિમાં કહ્યું છે કે : 'ગ્યારાં સ્રોત વહે સદા, ચર્મ દતિ જસ નામ.' અર્થાત

દુર્ગંધી પદાર્થોના ભંડારરૂપી સ્ત્રી શરીરનાં અગિયાર અંગોમાંથી ગટરમાંના કચરાની માફક નિરંતર મેલ વહ્યા કરે છે; તેથી કરીને આવા શરીરને ચામડાની પખાલ સાથે સરખાવવામાં આવ્યું છે. પુરુષના શરીરનું પણ આવું જ છે અને પુરુષ પણ ઠગાઈ, ક્રૂરતા, ચંચળતા અને કુશીલતામાં રસ નથી લેતો એમ નથી જ. શરીર કરતાં સ્ત્રી કે પુરુષની વાસના જ મહાદોષને પાત્ર છે.

સ્ત્રી કે પુરુષ માટે તમામ ઇન્દ્રિયો પર એકીવખતે સંયમ કેળવ્યા સિવાય બ્રહ્મચર્યનું પાલન શક્ય નથી; એથી કરીને, બીજી બાબતો વિષે બ્રહ્મચર્યસાધકે જે ખ્યાલ રાખવાનો છે તેનો નિર્દેશ કરતાં પૂજામાં જણાવવામાં આવ્યું છે કે:

પુષ્ટિકાર આહાર ન ખાવે, વિગય અધિક મેં મન ન લગાવે:
રસના વસ જો સરસ આહારી, ચઉ ગતિ દુઃખ પાવે વો ભારી.
માદક આહારસે મન્મથ જાગે, ઇસિ કારણ બ્રહ્મચારી ત્યાગે,
રસના જીપક ગૃહી અનગારી, નમન કરત જગમેં નરનારી.
ખાટા ખારા ચરચરા, મીઠા વિવિધ પ્રકાર,
રસ લાલચ અધિકા ભમે, હોવે રોગ પ્રકાર.
કામ દીપાવન ભૂષણ દૂષણ, અંગ વિભૂષણ ટાળી,
નાટક ચેટક રાસ સિનેમા, દેખે નહીં બ્રહ્મચારી
સાદે કપડે પહને ભૂષણ નવિ ધારે.

વિષયવાસના સામેનો વિગ્રહ જીવનમાં સૌથી મહાન અને કપરો વિગ્રહ છે. આ વિગ્રહમાં વિજય મેળવવા માટે એને અનુરૂપ થાય તેવું વાતાવરણ અને સાધનો પણ જરૂરનાં છે. શરીર અને મનને ચંચળ કરે એવાં તીખાં તમતમતાં તેમ જ સ્વાદિષ્ટ અને રસાળાં ભોજનનો બ્રહ્મચર્યસાધકે ત્યાગ કરવો જોઈએ; કારણ કે આવાં પ્રકારનાં ભોજનો શરીરમાં વિકાર ઉત્પન્ન કરે છે.

જીભની મારણ અને તારણ શક્તિનો ઉલ્લેખ કરી કોઈએ સાચું જ કહ્યું છે કે, રસોની લાલચુ, રોગ માત્રની જન્મભૂમિ અને બીજી તમામ ઇન્દ્રિયોને મારનારી અને તારનારી, યોગારૂઢને પણ બલાત્ ખેંચી નીચે ઢસડનારી, સૌ કામનાને જન્માવનારી એવી જીભને હમેશાં વશમાં લાવવી. અગાઉના વખતમાં યુદ્ધ લડાતાં તેમાં સેનાધિપતિ એટલે લશ્કરનો મૂળ નાયક મરણ પામે અગર નાસી જાય કે તુરત તેના લશ્કરમાં ભંગાણ પડે, અને પછી તુરત જ લશ્કર તાબે થાય એવી પ્રથા હતી. સ્વાદેન્દ્રિયની બાબતમાં પણ આવું જ છે. ઇન્દ્રિયોમાં પણ સૌને બહેકાવનારી, નચાવનારી અને તોફાન મચાવનારી જીભને કાબૂમાં લેવામાં આવે, તો બીજી ઇન્દ્રિયો આપોઆપ તેની પાછળ શરણ સ્વીકારે છે. જગતમાં મૃત્યુ પામતાં માનવોમાંથી મોટા ભાગનાં માનવીઓ વધુ પ્રમાણમાં અને નહિ ખાવા જેવી વસ્તુઓના ઉપભોગનાં કારણે જ મૃત્યુ પામે છે. માણસો ભૂખ સંતોષવા નથી ખાતાં પરન્તુ જીભના સ્વાદ અર્થે ખાય છે. બ્રહ્મચર્ય સાધકે સંયમી જીવન જીવવા માટે, દેહના પોષણ અર્થે ખાવાનું છે અને રસલોલુપતાને કાબૂમાં લેવી એ તેનું સૌથી પ્રથમ કર્તવ્ય છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર(અ. ૩૨-૧૦)માં કહેવામાં આવ્યું છે કે:

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दितिकरा नराणं ।
दित्तंच कामा समभिद्द्वन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥

અર્થાત્ ઘી–દૂધ વગેરે દીપ્તિ કરનારા રસો યથેચ્છ ન સેવવા; કારણ કે જેમ સ્વાદુ ફળવાળા વૃક્ષ તરફ પક્ષીઓ ટોળાબંધ દોડી આવે છે તેમ તેવા માણસ તરફ કામવાસનાઓ દોડી આવે છે. રસનેન્દ્રિય

અને જનનેન્દ્રિયને બહેનોની માફક અતિનિકટનો સંબંધ છે. રસની લોલુપતા કામને જાગ્રત કરે છે, એ સૂત્ર બ્રહ્મચર્ય સાધકે નિરંતર ધ્યાનમાં રાખવાનું છે: જીભમાં હાડકું નથી, પરન્તુ તેમ છતાં, એ હાડકા વિનાની જીભલડીમાં હાડકાંવાળાં બીજાં અંગોનો નાશ કરવાની તો અદ્‌ભુત શક્તિ છે.

कामोत्पादकद्रव्यस्य दर्शनात् स्खलति व्रतम्

અર્થાત્ કામને ઉપજાવે એવા દ્રવ્યના દર્શનથી વ્રતભંગ થાય છે, એટલા માટે જ આચાર્ય મહારાજશ્રીએ પૂજામાં કહ્યું છે કે બ્રહ્મચારી કદી નાટક, ચેટક, રાસ, સિનેમા જોવા જાય નહિ. બ્રહ્મચર્ય સાધક માટે શારીરિક ટાપટીપ, સ્ત્રીનો સંસર્ગ અને રસદાર અન્નપાન એ ત્રણે તાલપુટ્ટ (હાથમાં પકડતાં જ તાળવું ફોડી નાખે તેવું મહાભયંકર) વિષ જેવા હોવાનું દશવૈકાલિક સૂત્રમાં કહેવામાં આવ્યું છે.

વિકારોત્તેજક શબ્દોના પઠન કે શ્રવણથી પણ અંતરમાં ઠરેલા કે સૂતેલા વિકારો જાગ્રત થાય છે, માટે બ્રહ્મચર્યસાધકે કામવાસના જાગે તેવું વાચન ન કરવું, એવા શબ્દો ન સાંભળવા, એવાં સુગન્ધયુક્ત દ્રવ્યોનું સેવન ન કરવું, તેમ જ એવું કોઈ દશ્ય ન જોવું. ઇન્દ્રિયોનો ઉપયોગ તો બ્રહ્મચારી અને અબ્રહ્મચારી બંને જ કરે છે, પરન્તુ બન્નેના આચારવિચારમાં ભારે ભેદ રહે છે. મહાત્મા ગાંધીએ આ વિષે લખતાં કહ્યું છે કે : “બ્રહ્મચર્યનો પ્રયત્ન કરનારા ઘણા નિષ્ફળ જાય છે, કેમકે તેઓ ખાવાપીવામાં જોવા ઇત્યાદિમાં અબ્રહ્મચારીની જેમ રહેવા માગતા છતાં બ્રહ્મચર્યનું પાલન ઇચ્છે છે. આ પ્રયત્ન ઉષ્ણઋતુમાં શીતઋતુનો અનુભવ લેવાના પ્રયત્ન જેવો કહેવાય. સંયમીના અને સ્વચ્છંદીના, ભોગીના અને ત્યાગીના, જીવન વચ્ચે ભેદ હોવો જ જોઈએ. સામ્ય હોય છે તે તો ઉપરથી દેખીતું જ. ભેદ ચોખ્ખો તરી આવવો જોઈએ. આંખનો ઉપયોગ બંને કરે, પણ બ્રહ્મચારી દેવદર્શન કરે, ભોગી નાટકચેટકમાં લીન રહે; બન્ને કાનનો ઉપયોગ કરે, પણ એક ઈશ્વર ભજન સાંભળે, બીજો વિલાસી ગીતો સાંભળવામાં મોજ માણે; એક શરીરરૂપ તીર્થક્ષેત્રને નભાવવા પૂરતું દેહને ભાડું આપે, બીજો સ્વાદને ખાતર દેહમાં અનેક વસ્તુઓ ભરી તેને દુર્ગંધિત કરી મૂકે. આમ બંનેના આચારવિચારમાં ભેદ રહ્યા જ કરે.”

જે પૂર્ણ બ્રહ્મચારી છે તેના માટે આ સંસારમાં કશું જ અસાધ્ય નથી; બ્રહ્મચર્યનું બહુમાન કરતાં આચાર્યશ્રી પૂજામાં કહે છે કે :

બ્રહ્મચર્ય શુદ્ધ જેહ, પરમ પૂત તાસ દેહ,
દેવ સેવ કરત નેહ, જય જય જય બ્રહ્મચારી.

વીતરાગ સમ જાનિયે, બ્રહ્મચારી નિરાગ,
બ્રહ્મચર્ય તપસે મિલે, મોક્ષ પરમ પદ ધામ.

નૂતન શ્રી જિન ચૈત્ય બનાવે, કોટિ નિષ્કદાન કરીને,
હોવે નહિ બ્રહ્મચર્ય બરાબર, આગમ પાઠ ઉચ્ચારીને.

માનવીમાં ક્રોધ, લોભ, માન, માયા, રાગ, દ્વેષ, ઈર્ષા, મોહ, મમતા, અધીરાઈ, ઝેર, વેર, કામવાસનાઓ, ઇચ્છાઓ, પરનિન્દા, અહંકાર, અભિમાન, ક્રૂરતા, નિર્દયતા, અદેખાઈ, ધૂર્તતા, નિર્લજ્જતા, નફટતા, નાલાયકીપણું, પ્રપંચીપણું ઇત્યાદિ જોવામાં આવે છે; તે બધાંના મૂળમાં કારણરૂપ અબ્રહ્મચર્ય છે. બ્રહ્મચર્યના આચરણથી આ બધા દોષોનો નાશ થાય છે, તેમ જ ક્ષમા, માર્દવતા, નમ્રતા, સરલતા, નિરભિમાનપણું, તપશ્ચર્યા, સંયમ, સત્ય, પવિત્રતા, અકિંચનપણાના ગુણો પ્રાપ્ત થઈ શકે છે. આચાર્યશ્રીએ તેથી જ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો ઉપદેશ આપતાં પૂજામાં કહ્યું છે કે: ‘દેવો અને દાનવો પણ દુષ્કર એવા બ્રહ્મચર્યના પાળનારને નમસ્કાર કરે છે.’ બ્રહ્મચારીની વીતરાગ સાથે સરખામણી કરી છે, એ ઉપરથી

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nariạ, Varanasi

બ્રહ્મચર્યનું માહાત્મ્ય સમજી શકાય છે. માનવી માટે ‘ બ્રહ્મચર્ય ’થી કોઈ વિશેષ મોટી સાધના નથી. અન્ય ધર્મશાસ્ત્રો પણ કહે છે કે: કામિની અને કાંચન રૂપ સૂતરથી સર્વ જગત વીંટાયેલું છે, તેમાં જે મનુષ્ય વિરક્ત છે તે પરમેશ્વર છે.

સૌથી છેલ્લે આચાર્યશ્રીએ પૂજનમાં કહ્યું છે કે: ‘ કરોડો સોનામહોરોનું દાન કરી જે કોઈ જિનચૈત્ય બનાવે, તે પણ શુદ્ધ બ્રહ્મચારીની તોલે આવી શકે નહિ, એટલે કે જિનચૈત્ય ચણાવવામાં જે લાભ થાય છે તે કરતાં બ્રહ્મચર્યનું ફળ અનેકગણું વધી જાય છે.’ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહેવામાં આવ્યું છે કે “ મહિને મહિને લાખો ગાયો દેનારાના દાન કરતાં, કાંઈ ન આપનારાનું ય સંયમાચરણ શ્રેષ્ઠ છે. ”

વિશુદ્ધ બ્રહ્મચર્યપાલનની શક્યતા જગતના દરેક સ્ત્રીપુરુષના માટે છે. આ કાર્ય કપરું છે, પણ પુરુષાર્થ વડે એ સિદ્ધ થઈ શકે છે. એની સિદ્ધિ માટે અનેકવાર જન્મો લેવા પડે, અને અનેક જન્મોને અંતે આવી સિદ્ધિની પ્રાપ્તિ થાય તો પણ તેથી આપણે નિરાશ થવાનું કારણ નથી. મહાસમર્થ વિચારક અને તત્ત્વચિંતક સ્વ૦ શ્રી કિશોરલાલ મશરૂવાળાએ બ્રહ્મચર્યસાધનાના માર્ગમર્યાદાના નિયમોનો ઉલ્લેખ કરતાં એક સ્થળે લખ્યું છે કે: “ જેના વંશમાં કેટલી યે પેઢી સુધી એકપત્નીવ્રત તથા એકપતિવ્રત જળવાયાં હશે, તેમાં યે કેટલી યે પેઢી સુધી બ્રહ્મચર્ય માટે પ્રયત્ન ચાલ્યો હશે, તેની પેઢીમાં નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચારી પાકે. ”

મહાત્મા ટૉલસ્ટૉયનાં લખાણોનો સંગ્રહ જે ‘The Relations of the Sexes’ના નામથી તેમના મૃત્યુ બાદ પ્રકટ થયેલો છે, તેમાં જણાવવામાં અવ્યું છે કે: “ પ્રકૃતિએ માનવીમાં વિષય-પરાયણતાની પાશવવૃત્તિ ભેગી પવિત્રતા અને ચારિત્રવિશુદ્ધિની આધ્યાત્મિક વૃત્તિ પણ રોપી છે. બ્રહ્મચર્ય અને ચારિત્રવિશુદ્ધિ એ એવી ભાવના છે કે એને સિદ્ધ કરવા માણસે સદા યે સર્વાવસ્થામાં મથ્યા જ કરવું ઘટે. જેમ જેમ વિશેષ તમે એ ભાવનાને સિદ્ધ કરશો, તેમ તેમ ઈશ્વરની આંખમાં તમે વિશેષ પુણ્યાર્જન કરશો; પણ અપ્રત્યક્ષ વાત જવા દઈએ ને કેવળ પ્રત્યક્ષ વાત જ કરીએ તો પણ તમારું પોતાનું કલ્યાણ પણ તમે વિશેષ પ્રમાણમાં સાધી શકશો; કેમકે શરીરપરાયણને વિષયાધીન બની જવા કરતાં બ્રહ્મચર્યપાલન અને વિશુદ્ધિરક્ષણ કરવાથી મનુષ્ય ઈશ્વરની વિશેષ આરાધના કરી શકે છે. ”

પ્રાચીન કાળના ઋષિમુનિઓ મનુ, યાજ્ઞવલ્ક્ય, અત્રિ વગેરેનાં સ્ત્રી સંબંધેના વિચારો સ્મૃતિઓમાં સંગ્રહાયેલાં છે, તેમાં, તેમ જ આપણી ધર્મકથાઓમાં સ્ત્રીઓની બાબત પરત્વે નૈતિક ભાવનાને લાંછન લાગે એવાં અનેક કથનો જોવામાં આવે છે. ‘ સ્ત્રીમાં માયાશીલતા, ક્રૂરતા, ચંચલતા, કુટિલતાના દોષો બધા સ્વાભાવિક છે તેથી તેનાથી દૂર રહેવું ’—‘ અપાર ઉદધિનો પાર પામવો શક્ય છે પણ પ્રકૃતિથી દુરાચરણ એવી સ્ત્રીનો પાર પામવો અશક્ય છે ’—‘ સ્ત્રી સંસારનું બીજ છે, નરકદ્વારનો માર્ગદર્શક દીપક છે, શોકની જડ છે, કજિયાકંકાસનું મૂળ છે, દુઃખની ખાણ છે ’—આ અને આવાં વચનો ગોખી ગોખીને બ્રહ્મચર્યના પાલનનો જમાનો હવે પૂરો થયો છે. આપણા ઋષિમુનિઓએ ગ્રંથોની રચના કરી તે પછી જગતમાં અનેક ફેરફારો થઈ ગયા છે. માનવી એ વખતે જેવો હતો તેવો જ અત્યારે છે એમ માનવું એ નરી મૂર્ખાઈ છે. નદીનું વહેણ દેખાય છે તો એકસરખું, પણ તેમ છતાં પળે પળે તેમાં જૂનો પ્રવાહ પસાર થઈ નવો પ્રવાહ વહે છે, તેમ, માનવસ્વભાવ પણ હંમેશાં વિકસિત થઈ રહ્યો છે જ. પૂર્વ-જન્મનાં કોઈ યોગભ્રષ્ટ આત્માની વાત બાજુએ રાખીએ તો, માનવી માત્રમાં ભોગવાસનાની વૃત્તિ રહેલી હોય છે, પણ સાથે સાથે, ધર્મવાસના અને ધર્મપ્રેરણાની પણ ભારે પ્રબળ વૃત્તિ રહેલી હોય છે. કુરુક્ષેત્રના મહાભારતના યુદ્ધની માફક માનવીની અંદર શુભ અને અશુભ વૃત્તિઓનું નિરંતર યુદ્ધ લડાઇ રહેલું જ હોય છે. સામાન્ય રીતે આવી વૃત્તિઓનું વલણ ઇન્દ્રિયજન્ય ભોગોના શમન પ્રત્યે જાય છે એ

ખરું છે, પરન્તુ આ સ્થિતિ માટે સ્ત્રીજાતિને શા માટે જવાબદાર ગણવામાં આવે છે તે સમજી શકાતું નથી. સ્ત્રી પુરુષ પ્રત્યે ધિક્કાર કે દ્વેષની ભાવના સેવે, અગર પુરુષ સ્ત્રી પ્રત્યે ધિક્કાર કે દ્વેષની ભાવના સેવે, તેથી કાંઈ આવી વાસનાઓમાંથી મુક્ત બની શકાતું નથી. આવી ભાવનાથી, કદાચ, બહુ બહુ તો અમુક વખત સુધી વૃત્તિઓ સુપ્ત મનમાં દબાયેલી કે સંતાયેલી પડી રહે એટલું જ.

ઋષિમુનિઓ રચિત સ્મૃતિઓમાં તેમ જ અન્ય અનેક કથાઓમાં સાધકના માટે બ્રહ્મચર્યપાલનમાં સ્ત્રીને કાંટારૂપે માનવામાં આવી છે એટલું જ નહિ, પણ સ્ત્રી જાતિ પર નિર્લજ્જ પ્રહારો અને હીચકારા હુમલાઓ કરવામાં આવ્યાં છે. સ્ત્રી કેમ જાણે રાક્ષસી હોય અને બ્રહ્મચર્ય સાધકને કેમ જાણે ગળી જવા માટે જ જન્મી હોય, એવી રીતે ચીતરવામાં આવી છે.

એક દૃષ્ટિએ તો સ્ત્રીજાતનાં આવાં આવાં બેહૂદાં વર્ણનો કરી, આપણા ઋષિમુનિઓએ પુરુષજાતની નબળાઈનું માત્ર એક પ્રદર્શન જ કર્યું છે. એક વિદ્વાન મહાપુરુષે લખ્યું છે કે: "It is only imperfection that complains of what is imperfect. The more perfect we are, the more gentle and quiet we become towards the defects of others." અર્થાત્ જેઓ માત્ર અપૂર્ણ છે તે જ બીજાઓની અપૂર્ણતા માટે ફરિયાદ કરે છે; જેટલી હદે માનવી પૂર્ણ બને છે, તેટલી હદે બીજાઓના દોષો પ્રત્યે તે વધુ નમ્ર અને શાંત બનશે. શ્રીસ્થૂલિભદ્રજીના કોશાને ત્યાંના ચોમાસાની વાત, અર્જુન અને ઉર્વશીનો પ્રસંગ, તેમ જ સુદર્શન શેઠનું મહારાણી અભયા સાથેનું વર્તન—આ બધા દાખલાઓમાંથી આપણને ખાતરી થવી જોઈએ કે સુદૃઢ, સબળ અને સશક્ત માનવીને જગતની કોઈ પણ શક્તિ, કોઈ પણ સ્ત્રી કે કોઈ પણ પ્રલોભન ચલાયમાન કરી શકતાં નથી. જેઓ ચલાયમાન થાય છે, તેમાં તેટલા અંશે પુરુષત્વની ખામી છે. આ દોષનું આરોપણ બીજામાં કરવાથી શું ફાયદો છે? જે સાધકો બ્રહ્મચર્યના માર્ગથી ચ્યૂત થઈને પતનના માર્ગે ઘસડાય છે, અને બચાવમાં સંજોગો અને સ્ત્રીનો દોષ કાઢે છે, તેઓ ધૂર્ત અને શયતાન છે તેમ જ પુરુષ કહેવરાવવાને લાયક નથી.

પુરુષ કરતાં સ્ત્રી અનેકગણી કામી છે, એવી અર્થહીન અને બેવકૂફી ભરેલી વાતો કરનારા માટે, માનસશાસ્ત્રી ડૉ. મેક્ડૂગલનો સ્ત્રી સંબંધેનો અભિપ્રાય જાણવા જેવો છે. તેઓ કહે છે કે: "સ્ત્રીસ્વભાવ વધારે ભાવનાવશ છે, એના પ્રત્યે જે લાગણી બતાવવામાં આવે તેની અસર એના પર પુરુષ પર થાય તે કરતાં વધારે થાય છે. આનો અર્થ એ થાય કે સ્ત્રીની ભોગેચ્છા સદા યે અતૃપ્ત રહે છે એમ નહિ; પણ સ્ત્રી, સામાન્ય રીતે, સદા યે ભાવની–હેતની ભૂખી રહે છે. આથી, એના પ્રત્યે જે દાક્ષિણ્ય બતાવવામાં આવે તેનો પડઘો એના અંતરમાંથી ઊઠ્યા વિના રહેતો નથી. આનું પરિણામ એના હૃદય પર એટલું બધું થાય છે કે એને પોતાના હિતાહિતનું બહુ ભાન રહેતું નથી, અને એના પ્રત્યે લાગણી બતાવનારને સંતોષ આપવા એ ગમે તે કરવા તૈયાર થઈ જાય છે. એ વેગ ક્ષણિક રહે એમ બને; પાછળથી એનો ઉદ્વેગ પહેલા વેગ કરતાં યે વધારે બળવાન થાય; પણ તે ક્ષણે એ ભાન ભૂલી જાય છે. ધૂર્ત પુરુષ એના આ સ્વભાવનો લાભ ઉઠાવે છે અને એને પોતાનો શિકાર બનાવે છે."

રૂપને નજરે પડતું રોકી શકાય તેમ નથી, તેથી જ નિર્ગ્રંથને આંખથી મનોહર રૂપ દેખી અગર ન ગમતાં રૂપો દેખી તેમાં આસક્તિ કે દ્વેષ કરવાની જ્ઞાની મહાત્માઓએ ના પાડી છે, અને આમ છતાં, સ્ત્રીથી અલિપ્ત રહી શકાય તે માટે સ્ત્રીની બાબતમાં કેવી કેવી દુષ્ટતાભરેલી વાતો કરવામાં આવી છે!

આજ સુધી આ રીતે આચરેલા પાપોનું હવે પ્રાયશ્ચિત્ત કરવું જોઈએ. માતા અને પુત્ર વચ્ચેનો પ્રેમ એ નૈસર્ગિક અને જગતમાં સૌથી અધિક પવિત્ર છે. બ્રહ્મચર્યસાધકે જગતની સ્ત્રીમાત્રમાં માતાનું

સ્વરૂપ જોવાની ભાવના કેળવવાની છે. તિરસ્કાર કે ધિક્કારની દૃષ્ટિના માર્ગે નહિ, પણ આ જ માર્ગે બ્રહ્મચર્યસાધક પોતાના બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરી શકશે; બ્રહ્મચર્યપાલનનો આ જ પવિત્ર માર્ગ છે.

આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરિજી મહારાજસાહેબે 'બ્રહ્મચર્ય' એ એક અપૂર્વ સાધના અને માનવીની મહાન સિદ્ધિ છે એવો ઉપદેશ બ્રહ્મચર્યવ્રતની પૂજામાં આપ્યો છે. અહીં તો આ પૂજામાંથી માત્ર ચૂંટી ચૂંટીને થોડી પંક્તિઓની વાનગી જ મૂકી છે, બાકી સમગ્ર પૂજાના અર્થ અને વિવેચન કરવામાં આવે તો તો આ સ્મારક ગ્રંથનાં તમામ પાનાંઓ પણ પૂરતાં ન થાય.

જ્યારે પંચેન્દ્રિયોને લાડ લડાવવા નિત્ય નવી નવી શોધો અને વસ્તુઓની ઉત્પત્તિ થયા જ કરે છે, મન અને લાગણીને ઉશ્કેરે તેવા જાતજાતનાં અને ભાતભાતનાં સિનેમાગૃહો અને નાટ્યઘરો વધતાં જ જાય છે, તેમ જ જે જમાનામાં આચાર, વિચાર, પહેરવેશ અને ટાપટીપની દૃષ્ટિએ ગૃહસ્થ સ્ત્રીપુરુષો અને નટનટીઓ વચ્ચેના ભેદો ઘટતા જતા જોવામાં આવે છે, તે જમાનામાં, આચાર્ય મહારાજશ્રીની આ પૂજાના અભ્યાસને સમગ્ર ભારતની ધાર્મિક પાઠશાળાઓમાં તેમ જ અન્ય ધાર્મિક શિક્ષણની સંસ્થાઓમાં પાઠ્યપુસ્તક તરીકે ફરજિયાત દાખલ કરવામાં આવશે તો આજની બાળપ્રજાને માટે ભવિષ્યમાં આ પૂજાનો અભ્યાસ એક આશીર્વાદરૂપ થઈ પડશે.

આચાર્ય મહારાજશ્રીએ એમના જીવનમાં અપૂર્વ સાધના દ્વારા નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચર્યનું પાલન કર્યું છે. એમના જીવન દરમ્યાન જે જે મહાન કાર્યો તેમણે કર્યાં છે તે બધાંમાં પણ બ્રહ્મચર્ય શક્તિનો અપૂર્વ હિસ્સો છે. છેલ્લી અવસ્થામાં એમની આંખનું સફળ ઑપરેશન કરવામાં આવેલું, અને તે દ્વારા ઝાંખી દૃષ્ટિ પ્રાપ્ત કરવાને તેઓ શક્તિમાન થયેલા. બાહ્યદૃષ્ટિએ આ ઑપરેશન ભલે ડૉક્ટરોની એક અપૂર્વ સિદ્ધિ જેવું લાગે, પણ તત્ત્વદૃષ્ટિએ વિચાર કરતાં તો મને આમાં તેમના સંયમની—બ્રહ્મચર્યની જ એક સિદ્ધિ જેવું લાગે છે. આ તપના કારણે જ એમને એમનાં મૃત્યુની ઝાંખી થઈ ગઈ હતી.

બ્રહ્મચર્ય તપની આરાધના માટે એમણે જે માર્ગ બતાવ્યો છે, તે માર્ગ ગ્રહણ કરી, તેમના જીવનનાં અધૂરાં કાર્યો પૂર્ણ કરવાને આપણે તત્પર થઈએ, અને તે દિશામાં પ્રયત્નો શરૂ કરીએ તો જ તેમના આત્માને શાંતિ થાય અને તો જ આપણે તેમના ભક્ત કહેવરાવવાને લાયક થઈ શકીએ.

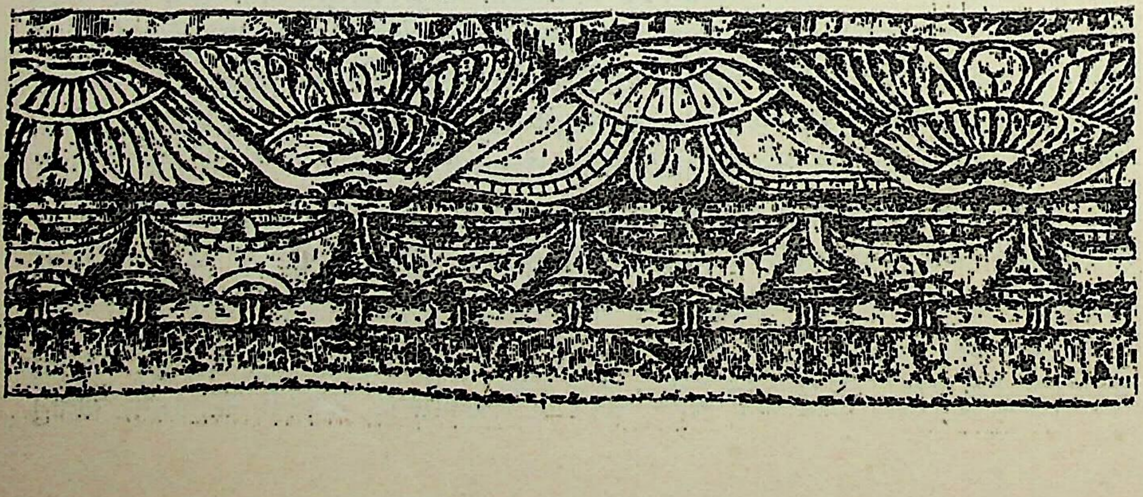

ધર્મ અને સંસ્કૃતિ

મુનિશ્રી કલ્યાણચન્દ્રજી

અખિલ વિશ્વમાં સમગ્ર સચરાચર તત્ત્વો પોતપોતાનો ધર્મ બજાવતાં રહે છે. આ એક અકાટ્ય બંધારણ છે. એક પણ તત્ત્વ એનાથી બહાર જઈ શકતું નથી. તમામ તત્ત્વોમાં જીવતત્ત્વ અગ્રસ્થાને છે. આ મંતવ્ય સર્વમાન્ય અને શાશ્વત છે. કેટલાક જીવોને એનું લક્ષ હોતું નથી; અને લક્ષ વિનાની પ્રવૃત્તિનું પરિણામ બહુધા જીવો જોઈ કે જાણી શકતા નથી. અમુક જીવાત્માઓ તો લક્ષ વિના એક ડગ પણ ભરતા નથી. એ સમજતા હોય છે કે લક્ષ વિનાની પ્રવૃત્તિનો કશો જ અર્થ નથી. લક્ષ સાધ્યા વિનાનું બાણ જેમ નિષ્ફળ જાય છે તેવી જ રીતે લક્ષ સાધ્યા વિનાની પ્રવૃત્તિ પણ નિરર્થક થાય છે. લક્ષને સિદ્ધ કર્યા બાદ બાણ ખાલી ન જાય તેમ લક્ષસિદ્ધિવાળી પ્રવૃત્તિ પણ ફલપ્રદ જ નીવડે છે. જાણ્યે કે અજાણ્યે થયેલી કોઈ પણ પ્રવૃત્તિનું ફળ તો અવશ્ય મળે છે, પરન્તુ સમજણ વિનાની પ્રવૃત્તિના પરિણામનો કશો અર્થ હોતો નથી. સમજણપૂર્વકની જ્ઞાનયુક્ત પ્રવૃત્તિનું પરિણામ જ ખરું પરિણામ કહી શકાય. એટલા માટે જ જ્ઞાની પુરુષો કહી ગયા છે કે જે કંઈ કરવું તે હંમેશાં લક્ષપૂર્વક કરવું કારણ કે લક્ષપૂર્વક કરાયેલી પ્રવૃત્તિ જ ફળ આપે છે.

આજે દરેક મનુષ્ય કંઈ ને કંઈ કરતો જોવામાં આવે છે. કેટલાક લક્ષનો નિર્ણય કર્યા બાદ જ કાર્ય હાથ પર લે છે અને કેટલાક લક્ષ વિના જ કાર્ય કરવા તત્પર બની જાય છે. જે કાર્ય લક્ષ વિના કરવામાં આવે છે તે નિરર્થક અથવા બોજારૂપ નીવડે છે. જેને કોઈ પણ કાર્ય કરવાની સાચી અભિલાષા હોય તેણે પ્રથમ પોતાના કાર્યની દિશા નક્કી કરી લેવી જોઈએ. તેની સાથે સાધ્યને પ્રાપ્ત કરવાનું જ્ઞાન પણ અવશ્ય હોવું જોઈએ. તથારૂપ જ્ઞાનના અભાવે કોઈ પણ કાર્યની સંસિદ્ધિ અતિ મુશ્કેલ થઈ પડે છે.

સાધ્ય અને સાધનનું યથાર્થ જ્ઞાન જેણે પ્રાપ્ત કર્યું હોય તે જિજ્ઞાસુ જ ધર્મની સાચી આરાધના કરી શકે. દુનિયામાં જે સત્ય ધર્મ છે તે સાધ્ય છે. તેને પ્રાપ્ત કરવાનાં જે ઉપક્રમો તે સાધન છે. આજે કેટલાક એવી માન્યતા ધરાવતા હોય છે કે શાસ્ત્રોમાં જે ક્રિયા કરવાનું બતાવવામાં આવેલ છે તે પ્રમાણે કરવું એનું નામ જ યથાર્થ ધર્મ. જ્યારે કેટલાક એમ માનતા હોય છે કે ગુરુના ફરમાન પ્રમાણે વર્તવું એનું નામ જ સાચો ધર્મ. કોઈની એવી માન્યતા હોય છે કે દયા, દાન, તપશ્ચર્યા, વ્રત–નિયમોનું પાલન કરવું, એ જ સત્ય ધર્મ છે અને કેટલાક એ બધી બાબતોને પાંપળા જ માનતા હોય છે. એ તો સેવાને જ સાચામાં સાચો ધર્મ માનતા હોય છે. કેટલાક તો એથી પણ આગળ વધીને એમ બોલતા સંભળાય છે કે પોતાની બુદ્ધિથી નીતિના માર્ગનો નિર્ણય કરીને તે માર્ગે ચાલ્યા જવું એ જ ખરો ધર્મ છે. કોઈ પોતાની ફરજને જ ધર્મ માને છે. કેટલાક કહે છે કે ઘણાં માણસો જે માર્ગે ચાલ્યા હોય તે માર્ગે ચાલવું એ જ ધર્મ. કેટલાક સમષ્ટિ ધર્મને જ ધર્મ માને છે, જ્યારે કેટલાક વ્યક્તિગત ધર્મને જ ધર્મ માનતા હોય છે. કેટલાક સમગ્ર વિશ્વનો એક જ ધર્મ માને છે, એને જ સત્ય અને સામાન્ય ધર્મ સમજે છે. કોઈ દેશકાળને અનુસરવામાં જ ધર્મ માને છે. કેટલાક પોતાને તત્ત્વવેત્તા માની ધર્મના અનેક પ્રકારો બતાવતા હોય છે. આમ ધર્મની વિવિધ માન્યતાઓ વચ્ચે માનવપ્રાણી આજે અટવાઈ રહ્યો છે. સૌ કોઈ પોતપોતાની રુચિ અનુસાર ધર્મની વ્યાખ્યા કરતા નજરે પડે છે.

આ પરથી એટલું તો અવશ્ય ફલિત થાય છે કે ધર્મતત્ત્વ એ શાશ્વત અને સર્વવ્યાપક છે. કોઈ એવો દેશ, કાળ કે સમાજ નથી, જેમાં ધર્મતત્ત્વનો અભાવ હોય. ધર્મતત્ત્વને એક યા બીજી રીતે સંસારીઓએ કે ત્યાગીઓએ, ગ્રામીણોએ કે નાગરિકોએ અપનાવેલો જોવામાં આવે છે. કારણ કે ધર્મતત્ત્વ પ્રત્યેક માનવીના અંતઃકરણ સાથે એવી રીતે ઓતપ્રોત થયેલ છે કે તેને માનવહૃદયથી છૂટું પાડી શકાતું નથી.

ઘણી વાર આસ્તિકો અને નાસ્તિકોએ એકબીજાને પરાસ્ત કરવા માટે તુમુલ યુદ્ધ પણ ખેલ્યાં છે. પરંતુ સાચા જ્ઞાનને અભાવે અહંકારવૃત્તિને પોષ્યા સિવાય વિશેષ કંઈ કરી શક્યા હોય એવું જણાયું નથી. ચૈતન્યવાદ અને જડવાદ એ બેમાંનો એકે વાદ કદી પણ મૂળ સમૂળો નાશ પામેલ હોય એવું નથી. ઉભય વાદના હિમાયતીઓએ પોતપોતાની મહત્તા સિદ્ધ કરવા આકાશ–પાતાળ એક કરેલ છતાં પોતાની હાર કોઈએ કબૂલ કરેલ નથી.

આપણે એટલું તો અવશ્ય જાણીએ છીએ કે ત્રણે કાળમાં ચૈતન્યવાદ અને ધર્મતત્ત્વ પ્રત્યે વિચારશીલ મનુષ્યો પોતાની અભિરુચિ બતાવતા જ રહેલા છે. જે વસ્તુ સર્વમાન્ય અને સર્વવ્યાપક છે તેનો આશ્રય એક યા બીજી રીતે લીધા વિના કોઈને ચાલતું નથી. પછી ભલે તે હિંદુ હોય કે મુસ્લિમ હોય, બૌદ્ધ હોય કે જૈન હોય, ખ્રિસ્તી હોય કે જરથોસ્તી હોય, ગમે તે હોય! છતાં દરેકે પોતપોતાના ધર્મને જ મહાન માનેલ છે અને એમ માનવાનો દરેકને હક્ક છે. પરંતુ પોતાની માન્યતા સંપૂર્ણ સત્ય છે, અર્ધસત્ય છે કે સત્યથી વેગળી છે, તેનો વિચાર કરવાની કોઈને પડી હોય એવું જણાતું નથી. આમ છતાં એટલું તો તદ્દન સ્પષ્ટ છે કે જ્યાં કેવળ અહંતાપૂર્વકના આગ્રહનું જ અસ્તિત્વ હોય ત્યાં ધર્મતત્ત્વને સ્થાન જ ન હોય. અલબત્ત, ધર્મ શબ્દનું જોડાણ તો પ્રત્યેક કાર્યમાં અને પ્રત્યેક પ્રસંગમાં થતું જોવામાં આવે છે. દાખલા તરીકે દેશ, ગ્રામ, વર્ણ, આશ્રમ, સ્ત્રી, પુરુષ, પિતા, માતા, બંધુ, સખા આદિ દરેક શબ્દની સાથે ધર્મ શબ્દનું જોડાણ થતું અનુભવાય છે. કારણ કે ધર્મ શબ્દમાં જ કોઈ અનેરી તાકાત રહેલી છે. એના વિના કોઈને પણ ચાલતું નથી. ચિંતિત વસ્તુને પ્રાપ્ત કરાવનાર ધર્મ છે. ભીડ પડયે રક્ષણ કરનાર પણ ધર્મ છે. એ એની વાસ્તવિક અને સર્વમાન્ય વ્યાખ્યા પરથી જ સિદ્ધ થાય છે.

ધર્મ શબ્દ ધૃ ધાતુ પરથી નીકળેલ છે. એનો અર્થ થાય છે, ધારણ કરવું અથવા પોષવું. પૃથ્વીના પ્રત્યેક પદાર્થને જે ધારણ કરે છે અને પોષે છે એનું નામ જ ધર્મ છે. રૂપધર્મનું જે આરાધન કરે તે અવશ્ય નિઃશ્રેયસ્ અને અભ્યુદયને પ્રાપ્ત કરી શકે અને એનું જે ઉલ્લંઘન કરે તે સ્વયં વિનાશને વહોરી લે. આ ધર્મનો સ્વીકાર પ્રત્યેક ધર્મનાં ધર્મશાસ્ત્રોમાં કરેલો જોવામાં આવે છે, પરંતુ જે એકાંત દૃષ્ટિવાળા હોય છે તે કેવળ પોતાના ધર્મનું જ અભિમાન રાખતા દેખાય છે. એ તો માત્ર અભિનિવેશ છે, મિથ્યા છે. આ અભિનિવેશે જ આજે માનવોને માનવતા-વિહોણા બનાવી દીધા છે. એવા મનુષ્યો પોતાના સમાજમાં ચાહે તેવા મહાન મનાતા હોય, પરંતુ ખરી રીતે તો તે પામર જ છે. ઇતર ધર્મોના શાસ્ત્રોને સ્પર્શવામાં પણ તે પાપ સમજતા હોય છે. ખરું કહીએ તો કલ્યાણને બદલે અકલ્યાણને માર્ગે જ તે ગતિ કરી રહેલા હોય છે. જેની એકાંત દૃષ્ટિ નષ્ટ થઈ ગઈ હોય અને જેને અનેકાંત દૃષ્ટિ સમ્યગ્તયા સાંપડેલ હોય, તે જ સાચો મહાપુરુષ છે. એવા પુરુષો સ્વસમય કે પરસમયમાં કશો ભેદ જોતા નથી. પ્રત્યેક ધર્મનાં ધર્મશાસ્ત્રોમાં એ ધર્મતત્ત્વના સત્ય સ્વરૂપને જ જુએ છે. એઓ એમ માનતા હોય છે કે ધર્મ, અર્થ, કામ અને મોક્ષ એ ચારે પુરુષાર્થની સંસિદ્ધિ માટે શાસ્ત્રો છે. અપૂર્વ અને મહાન એવા માનવધર્મને ધન્ય બનાવવા માટે એ ચારે વર્ગની અનિવાર્ય આવશ્યકતા છે એમ એ માનતા હોય છે. ધર્મવર્ગ એ સૌમાં શ્રેષ્ઠ છે. એની સંસિદ્ધિ વડે જ બાકીના ત્રણે વર્ગની સાર્થકતા સમજાય છે. ધર્મવર્ગ સિવાય એ

ત્રણે વર્ગની કશી મહત્તા નથી. આ કારણથી જ ધર્મ એ સર્વગ્રાહી મનાય છે. રાજકીય અને સામાજિક વ્યવસ્થા જાળવવા માટે પણ મહાપુરુષો તો ધર્મને જ અગ્રસ્થાન આપે છે. કારણ કે ધર્મતત્ત્વ સર્વમાન્ય અને સર્વસામાન્ય છે. જે ક્રિયા આપણને પરમ લક્ષ તરફ લઈ જવા સાર્થક બને તે જ સાચો ધર્મ અને જે ક્રિયા એનાથી ઊલટે માર્ગે લઈ જાય તે અધર્મ. પ્રત્યેક ધર્મમાં આજે વિભિન્નતા જોવામાં આવે છે એનું કારણ એ છે કે પ્રત્યેક મનુષ્યની પ્રકૃતિ અને પ્રવૃત્તિમાં ભિન્નતા છે. આથી ધર્મના બાહ્ય સ્વરૂપમાં દેશ–કાળ અનુસાર પરિવર્તન સ્વાભાવિક છે, પરન્તુ નિશ્ચય સ્વરૂપમાં તો કશો જ ફેરફાર થતો નથી. જ્ઞાની મહાપુરુષોનો એ સિદ્ધાંત છે.

કોઈ એમ કહે છે કે ધર્મ અને વ્યવહારને કશો સંબંધ છે જ નહિ. આ કથન વાસ્તવિક નથી. અલબત્ત, એમની વચ્ચે સમવાય સંબંધ નથી. જેના વિના જે વસ્તુ કહેવાય નહિ એનું નામ સમવાય સંબંધ. પરન્તુ જેનો સંયોગ સંબંધ છે તે તો મળે પણ અને અલગ પણ પડે. જેનો સંયોગ થાય તેનો વિયોગ પણ થાય, એ તો અટલ નિયમ છે. ધર્મ અને વ્યવહારનો સંયોગસંબંધ તો પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવે છે: જ્યારે આત્મા નિશ્ચયનયના સ્વરૂપમાં રમણ કરે છે અને એમાં સ્થિત થાય છે ત્યારે વ્યવહાર સ્વયં અલગ પડી જાય છે; ત્યાં વ્યવહારની કશી અપેક્ષા રહેતી નથી, પરન્તુ ધર્મતત્ત્વ એનાથી નીચેના થરમાં હોય છે ત્યારે તો તેને વ્યવહારનો આશ્રય અવશ્ય લેવો પડે છે. કેમકે વ્યવહાર એ નિશ્ચયનયમાં જવાના કારણરૂપ છે. એ માત્ર નિમિત્ત પૂરતું ઉપાદાન કારણ નથી એ કોઈ ન ભૂલે! વ્યવહારના બે પ્રકાર છે: એક સદ્‌વ્યવહાર, બીજો અસદ્‌વ્યવહાર. સદ્‌વ્યવહાર એ નિશ્ચય સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ કરવામાં કારણરૂપ બને છે, અસદ્‌વ્યવહાર નહિ. આજે તો સમાજની પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિ અસદ્‌વ્યવહારને અવલંબી રહેલ હોય એમ દેખાય છે. આ કંઈ ઓછા દુ:ખની વાત નથી.

ભારતવર્ષમાં તો પરાપૂર્વથી આધ્યાત્મિકતા ચાલી આવે છે. માત્ર એટલું જ નહિ પણ એને અગ્રસ્થાન આપવામાં આવેલ છે. સમાજની પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિના મૂળમાં આધ્યાત્મની ઝલક દેખાય છે. સમાજ, રાજ્ય, કુટુંબ, વ્યાપાર વગેરે તમામનું ચણતર આધ્યાત્મિક ભૂમિ પર થયેલ હોય એમ સમજાય છે. પરન્તુ આજના ભારતવાસીઓ પ્રાયઃ પાશ્ચાત્ય સંસ્કૃતિનું પાન કરીને મૂળભૂત વસ્તુને ભૂલતા હોય એવું દેખાય છે. આ કારણથી જ ભારતનું અધઃપતન જોવામાં આવે છે. પાશ્ચાત્ય સંસ્કૃતિના અયોગ્ય અનુકરણે જ આજે આપણને આ દશાએ પહોંચાડ્યા છે. પાશ્ચાત્ય પ્રજાના ગુણોનું અનુકરણ કરવાને બદલે આપણે બીજી બાબતોનું જ અનુકરણ કરીએ છીએ. ભારતવાસીઓ પોતાના મૂળભૂત સિદ્ધાંતો અને સંસ્કારોને ભૂલી જઈ, જડવાદને અપનાવી પોતાનું વ્યક્તિત્વ ગુમાવી બેઠા છે; પરંતુ સદ્‌ભાગ્યે આજે ભારતવર્ષ પોતાનું ખોળિયું પલટાવી રહેલ હોય એમ જણાય છે. આ સંક્રાન્તિ કાળે પ્રત્યેક ભારતવાસીએ લક્ષમાં રાખવું જોઈએ કે ભારતીય સંસ્કૃતિ આધ્યાત્મવાદના પાયા ઉપર અવલંબેલી છે માટે એને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખીને જ રાષ્ટ્રનો વિકાસ સાધવાની જરૂર છે. જો આ રીતે ભારતની રચના કરવામાં આવે તો ભારતવર્ષ જગતનું એક સર્વોપરી રાષ્ટ્ર બની જાય એમાં શંકાને સ્થાન નથી. આધ્યાત્મ તત્ત્વને જો આજના રાષ્ટ્રના ઘડવૈયા ભૂલ્યા તો ભવ ભૂલ્યા જેવું થશે. કોઈ પણ દેશની પ્રજા પોતાની ભૂતકાલીન સંસ્કૃતિને ભૂલી શકતી નથી એના અનેક દાખલા ઇતિહાસના પટ પર મોજૂદ છે.

અમેરિકન પ્રજા આજે ખૂબ ખૂબ આગળ વધેલી ગણાય છે. આમ છતાં એ પોતાના જડવાદના સંસ્કારોને ભૂલી શકતી નથી. એ જ પ્રમાણે ભારતવર્ષની પ્રજા પોતાના ચૈતન્યવાદને કદી ભૂલી શકવાની નથી. આમ છતાં એમાં અપવાદ પણ હોય છે. વિદેશોમાં પણ આજે કેટલાક ચૈતન્યવાદના ઉપાસકો જોવામાં આવે છે. ચૈતન્યવાદને સમજવા એ અથાગ પરિશ્રમ પણ ઉઠાવી રહેલા જણાય છે. જ્યારે આ

તરફ જોતાં ભારતવાસીઓ આધ્યાત્મને જે સ્વરૂપે ઝીલવું જોઈએ તે સ્વરૂપે ઝીલી શકતા નથી. માટે રાષ્ટ્રના નવસર્જકોને અમારી સમયસરની ચેતવણી છે કે તેઓ ભારતની સંસ્કૃતિના પાયારૂપ આધ્યાત્મવાદને કદી ન ભૂલે! અલબત્ત, દેશકાળને લક્ષમાં રાખીને રાષ્ટ્રઘડતરમાં જે ફેરફાર કરવા ઘટે તે સામે કોઈને પણ વાંધો ન હોય, પરંતુ મૂળભૂત સિદ્ધાંતોને બાજુ પર રાખીને કેવળ જડવાદને જ જો સ્થાન આપવામાં આવશે તો એક દિવસ પસ્તાવાનો પ્રસંગ આવ્યા વિના રહેશે નહિ.

ભારતવર્ષની ભૂતપૂર્વ ભાવનાઓને લક્ષમાં લઈને જો રાષ્ટ્રનું ઘડતર થશે તો જ વ્યક્તિગત જીવનને ઘડવાનું કાર્ય સરલ થશે. રાષ્ટ્રઘડતરની સાથે વ્યક્તિગત ઘડતર ગાઢ સંબંધ ધરાવે છે. રાષ્ટ્રના ઘડવૈયા આ નક્કર સત્ય ન ભૂલે! સમાજ–જીવન અને વ્યક્તિગત જીવન ઉભય એકબીજા પર નિર્ભર છે. વ્યક્તિઓનું સંગઠન એનું જ નામ સમાજ છે. સામાજિક જીવનનો વિકાસ અગ્રગણ્ય વ્યક્તિઓનાં જીવન પર રહેલો હોય છે. આજે મનુષ્યોને પરિમિત વિચારોમાં જ બંધાઈ રહેવું પાલવે તેમ નથી. પરંપરાથી ચાલ્યા આવતા શુષ્ક વિધાનો તેમ જ સંપ્રદાયો અને વાડાઓનાં બંધનો આજે બહુધા કોઈને પણ રુચતા નથી. કારણ કે આજની પ્રજાનું માનસ ઉત્તરોત્તર બુદ્ધિ–પ્રધાન બનતું જાય છે. પ્રજાનું સમન્વય કરવા તરફ એની વિશાળ દૃષ્ટિ અને બુદ્ધિ ગતિ કરી રહેલાં હોય એમ સમજી શકાય છે.

આવા સંક્રાન્તિના સમયે એક વસ્તુ ખાસ લક્ષમાં રાખવાની છે કે ભારતીય જનતાનાં જીવનમાં મૂળથી જ રહેલાં ધર્મ અને સંસ્કૃતિનાં તત્ત્વોનો નાશ ન થાય એ દૃષ્ટિએ જો રાષ્ટ્રના ઘડવૈયાઓ પ્રજાજીવનને ઘડવાનું કાર્ય કરશે તો ભારતવર્ષ ફરી એકવાર આખી દુનિયામાં પોતાની સંસ્કૃતિને પ્રકાશમાં આણવા શક્તિમાન થશે.

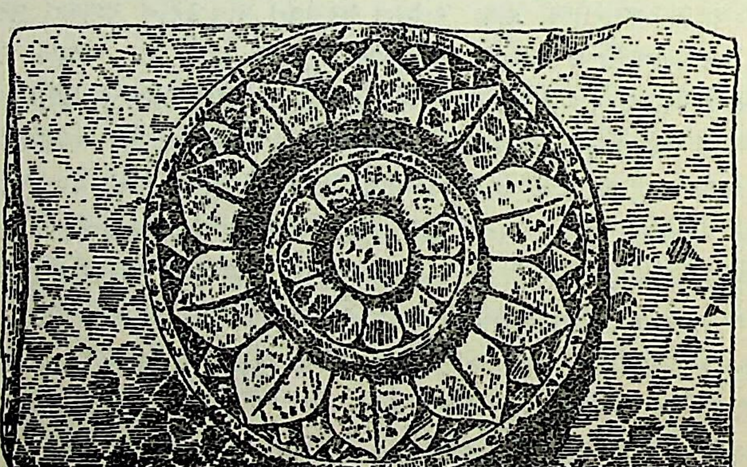

શ્રીમહાવીર પરમાત્માનું વ્યાપક જીવન

શ્રી ફતેહચંદ ઝવેરભાઈ શાહ

कल्याणपादपारामं श्रुतगंगाहिमाचलम् । विश्वांभोजरविं देवं वंदे श्रीज्ञातनंदनम् ॥
पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशना गिरः । भव्या नामांतरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥

શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્ય–પરિશિષ્ટ પર્વ

શ્રી વીરપરમાત્માનું ૨૫૫૩મું જન્મકલ્યાણક તાજેતરમાં જ ચૈત્રશુક્લ ત્રયોદશીના મંગલમય દિને અખિલ ભારતમાં ઊજવાઈ ગયું. મહાન પુરુષોના જન્મદિવસો આપણે માટે લાલ બત્તી જેવા છે. આપણને સમયસરની ચેતવણી આપે છે, સાચી દિશાનું ભાન કરાવે છે, તેમ જ આપણા વર્તમાન જીવન વિષે વિચારવાની તક રજૂ કરે છે કે આપણે અત્યારે ક્યાં છીએ, ક્યાં જઈ રહ્યા છીએ અને ક્યાં જવું જોઈએ ? લગભગ ૨૫૫૩ વર્ષ પહેલાનો દિવસ એટલે પ્રાચીન ભૂતકાળનો દિવસ; છતાં તે એટલો તેજસ્વી છે કે આપણી આંતરદૃષ્ટિને ઉઘાડે છે; સૂર્ય આપણાથી જેટલો દૂર છે તેટલી દૂર બીજી કોઇ ચીજ હોય તો કદાપિ ન દેખાય, પરંતુ સૂર્ય એટલો તેજસ્વી છે કે તે એટલો બધો દૂર હોવા છતાં સૌથી વધારે દેખાઇ શકે છે; મહાપુરુષોના સ્મરણીય દિવસો એવી જ રીતે તેજસ્વી હોય છે, જે હજારો વર્ષ સુધી લોકોને દેખાય છે એટલું જ નહિ, પણ તેમાંથી આધ્યાત્મિક પ્રેરણાઓ spiritual intuitions મળી રહે છે.

પ્રભુ મહાવીરના જીવનના એકેએક આદર્શ એટલા આકર્ષક છે કે તેનો વિચાર માત્ર આશ્ચર્યચકિત બનાવી મૂકે છે. એમની અહિંસા આકાશની સમાન વ્યાપક અને સૂક્ષ્મ છે; એમની તપશ્ચર્યા અને સહનશક્તિ અનુપમ છે; એમની ગૃહસ્થ અને સાધુસંઘની વ્યવસ્થાપકતા-બંધારણ મહાન રાજનીતિજ્ઞનોને પણ મુગ્ધ કરે એવી છે.

પરંતુ એનાથી વિશેષ જે વસ્તુ એમના જીવનમાં દૃષ્ટિગોચર થાય છે તે એમની સમન્વયશક્ત છે. અગ્નિ અને પાણી જેવી બે વિરોધી વસ્તુઓનો જ્યારે સમન્વય કરવામાં આવે છે ત્યારે ઍન્જિનમાં જે શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તેથી વિશાળ રેલવેગાડી વાયુવેગે દોડી શકે છે; સમન્વયના આધારે જ સંસાર ચાલે છે; એથી જ પ્રકૃતિ વિકાસ કરી રહી છે અને જગત્ ઉન્નતિ કરતું ચાલ્યું છે. તેથી જ શ્રી ઉમાસ્વાતિજીએ તત્ત્વાર્થસૂત્રમાં ‘ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ’ એ સૂત્ર મૂક્યું છે.

ભગવાન મહાવીરનો સમન્વયવાદ એ જ અનેકાંતવાદ; પરંતુ આપણે તે ભૂલી જઈ અનેકાંતની ચર્ચામાં સમન્વય શોધવાને બદલે ખંડનની ભાવનાને વધારે જોર આપ્યું છે; ગમે તે એક જ નયને પકડી રાખવાને અંગે અન્ય નયોનો અપલાપ થવાથી અનેકાંત એકાંત બની ગયો.

પરમાત્મા મહાવીર પાસે કેવલજ્ઞાનરૂપ દીપક હતો તેમાંથી ગણધર મહારાજાઓરૂપ અનેક દીપકો પ્રકટ્યા; કેવલજ્ઞાનના બિંદુરૂપ દ્વાદશાંગીનું જ્ઞાન એમણે જગત્ સમક્ષ મૂક્યું; ત્રીજા ભવમાં મન–વચન–કાયાની પવિત્રતાથી રોમરાયની વિકસ્વરતાપૂર્વક ‘ સવિજીવ કરું શાસન રસી ’ની ભાવનાનો જે સંકલ્પ વીર્યોલ્લાસપૂર્વક કર્યો હતો તેના પુણ્યાનુબંધી પુણ્યથી તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત થતાં કેવલજ્ઞાનના સારભૂત

દ્વાદશાંગીનાં સૂત્રો જગત્ સમક્ષ મૂકયાં જે હજારો વર્ષ સુધી ભવ્યાત્માઓ ગ્રહણ કરશે અને મુક્તિ માટે જન્મજન્માંતરમાં પ્રયાણ કરશે. ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ એ સારભૂત સૂત્રમાં કહેવામાં આવ્યું છે કે આ જગત્‌ના તમામ પદાર્થો અનાદિ હોવા છતાં ઉત્પન્ન થાય છે, નાશ પામે છે, પણ સત્તારૂપે અચળ રહે છે; આ વિજ્ઞાન એમણે વર્ષો પહેલાં જનસમાજ સમક્ષ મૂકયું.

મહાન ઈશ્વર શ્રીમહાવીરે જગત્ બનાવ્યું નથી પણ જગત્‌નું સ્વરૂપ બતાવ્યું છે; આત્મા પોતે જ બ્રહ્મા, વિષ્ણુ અને મહેશ્વર છે, માતાના ગર્ભમાં આવી પોતે જ આહાર લેવામૂકવા વગેરે છ પર્યાપ્તિઓ (શક્તિઓ) ઉત્પન્ન કરે છે અને જીવનપર્યંત તે શક્તિઓનું પાલન કરે છે. તેમ જ જીવન પૂરું થયે તે વિસર્જન કરે છે; અને નવા જન્મોમાં એ રીતે ક્રિયા થયા કરે છે. આ વસ્તુસ્થિતિમાં કર્મજન્ય કાર્ય છે; અન્ય કોઈનું નથી. આત્મા અને કર્મ મળીને આ સંસાર અનાદિકાળથી સરજાયો છે, સરજાય છે અને સરજાશે. જગત્‌કર્તા ઈશ્વર જેવી વચ્ચે કોઈ વ્યક્તિ રહેતી નથી; આ તેમનો સર્વજ્ઞ સિદ્ધાંત છે.

એમનું તત્ત્વજ્ઞાન નિત્યાનિત્યપણું, એકઅનેકપણું, મૂર્તઅમૂર્તપણું, નિશ્ચય અને વ્યવહાર, દ્રવ્યગુણ પર્યાય, સાત નયો, સપ્તભંગીઓ, છ દ્રવ્યો, પાંચ સમવાયો અને ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः વગેરે સૂક્ષ્મ હકીકતોથી ભરપૂર છે; આઠ કર્મોનું સૂક્ષ્મ સ્વરૂપ બંધ, ઉદય, ઉદીરણા, સત્તા, સંક્રમણ વગેરે અન્ય દર્શનોમાં દૃષ્ટિગોચર થતું નથી.

હવે એ પ્રશ્ન થાય છે કે પરમાત્મા મહાવીર તીર્થંકર કેમ બન્યા ? આ અવસર્પિણી કાળમાં ત્રેવીસ તીર્થંકરો જગત્‌ના જીવોના ઉદ્ધાર અર્થે થયા પછી એમનો જન્મ તીર્થંકરરૂપે કેમ થયો ? શ્રીમાન હરિભદ્રસૂરિકૃત યોગબિંદુમાં ખાસ હકીકત છે કે આ સંસારનાં સર્વ કલેશો અને ધંધામાંથી સર્વ જીવોનો મન, વચન અને શરીરથી અંતઃકરણની ભાવનાપૂર્વક ઉદ્ધાર ઇચ્છનાર અને તે માટે સક્રિય પ્રયત્નની તાલાવેલીથી આત્મા તીર્થંકર બને છે; સંઘ, જ્ઞાતિ અને દેશનો ઉદ્ધાર ઇચ્છનાર ગણધર બને છે અને માત્ર પોતાનો જ ઉદ્ધાર ઇચ્છનાર સામાન્ય કેવલી બની શકે છે. શ્રીમદ્ ઉમાસ્વાતિવાચકે પણ તત્ત્વાર્થસૂત્રની કારિકામાં भावितभावो भवेष्वनेकेषु એ શ્લોકદ્વારા અનેક જન્મોના શુભસંસ્કારોના પરિપાકરૂપે વિશ્વદીપક શ્રીમહાવીરના જન્મને વર્ણવ્યો છે; બુદ્ધ માટે પણ કહેવાય છે કે તેમણે બોધિસત્ત્વ તરીકેના પૂર્વ જન્મોમાં પ્રજ્ઞા, દાન, જ્ઞાન, શીલ અને ક્ષમા વગેરે દશ પારમિતાઓ સાધી હતી અને પછીથી બુદ્ધ તરીકેનો જન્મ થયો હતો.

આ આત્મા સંયોગવશાત્ કર્મની વિચિત્રતાથી કઈ સ્થિતિએ પહોંચે છે, કેવા દુઃખ અનુભવે છે, જીવનવિકાસના માર્ગમાં આવ્યા છતાં કેવી રીતે અધઃપતનના ઊંડા ખાડામાં પટકાઈ પડે છે અને પછી કેવા પુરુષાર્થ અને કેવું અપૂર્વ વીર્ય તારવી સંપૂર્ણ ઉન્નતિના શિખરે પહોંચે છે એ દૃષ્ટાંત શ્રીમહાવીર પ્રભુનું મુખ્ય અને અદ્‌ભુત છે. નયસારના ભવમાં સમ્યકત્વ પ્રાપ્ત કરી પછી વમી નાખ્યું; પરંતુ જેમ બીજનો ચન્દ્રમા પૂર્ણિમા બની જાય છે તેમ આખરે તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત કર્યું; તે વચ્ચેના છવ્વીસ જન્મો એમના જીવનમાંથી મનનપૂર્વક સમજવાથી કર્મ અને આત્માની લડાઈમાં છેવટે આત્માનો જય થાય છે. કેમકે એમનો પુરુષાર્થ ક્રમેક્રમે બળવાન થતો ગયો અને સત્તાવીસમા ભવમાં તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત કર્યું. છેવટે કર્મો ઉપર વિજય મેળવી સ્વતંત્ર મુક્તિપદ પ્રાપ્ત કર્યું અને આપણને પૂજ્ય બન્યા. સંસારમાં અનેક જીવો જન્મે છે અને મૃત્યુ પામે છે તે તો સામાન્ય ક્રમ છે, તેનો ઊહાપોહ હોતો નથી; પરંતુ વિપત્તિના પહાડ તૂટી પડ્યા હોય, મરણાંત કષ્ટો, ઉપસર્ગો એક પછી એક આવતા હોય, એક વખત ઉન્નતિના શિખરે ગયા પછી અધઃપતનના ખાડામાં પડ્યા રહેવું પડયું હોય છતાં હિમ્મતપૂર્વક, આત્મશ્રદ્ધાપૂર્વક, પુરુષાર્થપૂર્વક અડગપણે કોઈની પણ દયાની ભિક્ષા માગ્યા વગર, દેવ કે ઇંદ્રની સહાયની અપેક્ષા વગર, આર્તધ્યાન કે

રૌદ્રધ્યાન કર્યા વગર, ઉપસર્ગ કરનાર પાપી વ્યક્તિઓ ઉપર પણ અનુકંપા ચિંતવીને પોતે કરેલાં પૂર્વ કર્મોનાં ફળ સમજી, તેને બહાદુરીથી ભોગવી, ઉન્નત અને દિવ્ય આધ્યાત્મિક જીવન જીવી, સંસારના અનેક પ્રાણીઓનું કલ્યાણ કરી મુક્તિસ્થાનમાં પધાર્યા છે; આવું મહાન અને પ્રભાવશાળી વ્યાપક જીવન વીર પરમાત્માનું છે; આ રીતે પોતાના આત્માનો સંપૂર્ણ વિકાસ સાધી ઉન્નતિના શિખરે ચડનાર આત્માઓ જ મહાપુરુષો અને વિશ્વવંદ્ય બને છે.

પરમાત્મા મહાવીરે કહ્યું છે કે મારી પાસે મુક્તિ કે મોક્ષ નામની કોઈ ચીજ નથી કે હું તમને આપી શકું: પણ તમો સમ્યગ્ દર્શન–જ્ઞાન અને ચારિત્રના માર્ગે ચાલવા પ્રયત્ન કરશો, જિનપ્રતિમા અને જિનાગમનું આલંબન લેશો, ગુણદૃષ્ટિ રાખી સમભાવની વૃદ્ધિ કરશો, જ્ઞાન અને ક્રિયા ઉભયની સાધના કરશો, સાત નયોને સાપેક્ષ રાખી, ખંડનાત્મક પ્રવૃત્તિથી દૂર રહી અનેકાંતવાદ સ્વીકારશો, અહિંસા, તપ, ત્યાગ અને સંયમમાં પુરુષાર્થ કરશો, શ્રદ્ધાબળ, જ્ઞાનબળ, ચારિત્રબળ, અને ધ્યાનબળનો આત્મામાં વિકાસ કરતા રહેશો અને ભવાંતર માટે પણ શુભસંસ્કારો લેતા જશો તો અવશ્ય આ અનાદ્યનંત સંસારનો તમારે માટે છેડો આવશે તેમ જ આત્માના અનંત ગુણોનો વિકાસ થતાં કર્મથી સ્વતંત્ર રીતે પોતે જ પોતાને મુક્ત કરી શકશે. પરમાત્મા મહાવીરે કર્મનો સૂક્ષ્મ સિદ્ધાંત કેવલજ્ઞાનથી તપાસી જે રીતે રજૂ કર્યો છે તે સર્વજ્ઞપણાની સાબિતી છે; આત્મા પોતાથી પર–જડભાવ–વિભાવ પરિણતિમાં પડે ત્યાર પછી રાગ, દ્વેષ, ચાર કષાયો વગેરે વડે શરીર, પુત્ર, પરિવાર, હાટ, હવેલી વગેરેમાં મમત્વો વધતા જાય એ રીતે વિષચક્રમાં આત્માં ગૂંચવાઈ કર્મ બાંધી રહ્યો છે; જ્ઞાનચેતનાની જાગૃતિ વગર કર્મચેતના અને કર્મફળચેતના અનુભવી રહ્યો છે; આ કર્મોનું બંધ, ઉદય, ઉદીરણા સત્તા, સંક્રમણ વગેરેનું સૂક્ષ્મ સ્વરૂપ જૈન દર્શનસિવાય અન્ય સ્થળે નથી; અહિંસા, સત્ય, અસ્તેય, બ્રહ્મચર્ય અને અપરિગ્રહ, ચાર અનુયોગો, માર્ગાનુસારીપણું, જિનપૂજા, જીવદયા, ગુણસ્થાનો, ગૃહસ્થનાં બાર વ્રતો, ઓછામાં ઓછી ગૃહસ્થની સવા વસા દયા, સાધુધર્મની વીસ વસા દયા, દાન, શીલ, તપ અને ભાવ, દ્રવ્યગુણપર્યાય, નવતત્ત્વો વગેરે તત્ત્વજ્ઞાન અને ક્રિયામાર્ગનું ઉચ્ચ બંધારણ—વીર પ્રભુએ વ્યાપક દૃષ્ટિએ આપણી સમક્ષ મૂકેલું છે; એ બંધારણ પ્રમાણે જો મનુષ્ય વર્તે તો ઓછામાં ઓછા ભવે પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય ઉપાર્જન કરી પ્રાંતે નિર્જરા થતાં સર્વ કર્મોનો ક્ષય કરી મુક્તિપદ પ્રાપ્ત કરી શકે.

પરમાત્મા મહાવીરે જે સિદ્ધાંતો આપણી સમક્ષ મૂકયા છે તે ૨+૨=૪ જેવાં ચોકકસ છે. એમણે નવા મૂકયા નથી. પૂર્વના તીર્થંકર સર્વજ્ઞોના પણ એ જ સિદ્ધાંતો શાશ્વત છે; સત્ય એક જ હોઈ શકે છે.

કાલ, સ્વભાવ, ભવિતવ્યતા, ઉદ્યમ અને કર્મરૂપ પાંચ સમવાયોથી જગત્–સંસાર ચાલ્યા કરે છે; તેમાં વચ્ચે કોઈ બીજી વ્યક્તિની જરૂર રહેતી નથી; કર્મ અને આત્માના પુરુષાર્થ બાબતમાં એમણે કર્મનું સ્વરૂપ આત્માને અધઃપતન કરાવનારું બતાવીને છેવટે પુરુષાર્થ ઉપર મુખ્યતા મૂકી છે; પુરુષાર્થ કર્યા વગર કર્મનો વિનાશ ન થઈ શકે. આપણા આત્મામાં ભૂતપૂર્વ કર્મોના સામ્રાજ્યને લઈ ને નિર્બળતાઓ ભરી પડી છે જેથી આપણને કાળનો પરિપાક થયો નથી. કર્મનું બળ છે, ભવિતવ્યતા બળવાન છે વગેરે વગેરે નિમિત્તોને આગળ કરીને આપણે આશ્વાસન લઈએ છીએ અને આપણી નિર્બળતા છુપાવીએ છીએ. પણ પુરુષાર્થને આગળ કરીએ એટલે ક્રમે ક્રમે કાળ અને ભવિતવ્યતા વગેરે સમવાયો તેમાં સમાઈ જાય છે અને આત્મા બળવત્તર બનતાં સકળ કર્મોનો ક્ષય કરી શકે છે.

શ્રી વીર પરમાત્માના આલંબનથી અનેક આત્માઓ એમની હયાતિમાં સંસારસમુદ્રથી તર્યા છે; મેઘકુમાર, ચંડકૌશિક સર્પ, અર્જુનમાલી, ચંદનબાલા વગેરે વગેરે. એમનું શાસન હજી સાડા અઢાર હજાર વર્ષ લગભગ રહેશે. અગિયારે ગણધરો ને વેદવાક્યોનો જૈનદર્શનમાં સમન્વય કરી પ્રતિબોધ એમણે

કર્યો આ તેમની અપૂર્વ વિશિષ્ટતા છે; તેથી જ શ્રીમદ્ આનંદઘનજીએ 'ષડ્દર્શન જિન અંગ ભણીજે' રૂપે શ્રીનેમનાથજીના સ્તવનમાં કહ્યું છે.

પદાર્થવિજ્ઞાન(Science) તો પરમાત્મા મહાવીરના અનંતજ્ઞાનનો એક વિભાગ છે; દા૦ ત૦ શ્રીભગવતી સૂત્રમાં ભાષાવર્ગણાના પુદ્ગલોને કયા કયા વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શો છે તે ગૌતમ સ્વામીજીના પ્રશ્નોનો ઉત્તર પ્રભુ મહાવીરે આપ્યો છે; આવું સૂક્ષ્મજ્ઞાન સર્વજ્ઞ સિવાય બીજાને હોઈ શકે નહિ; હજારો વર્ષ પહેલાં પરમાત્માએ કહ્યું છે કે ભાષાવર્ગણા એ પુદ્ગલરૂપ છે. તે હાલમાં રેડીઓ અને ગ્રામોફોન દ્વારા સિદ્ધ થયું છે તેમ જ શરીરની છાયાના અને પ્રકાશનાં પુદ્ગલો પણ કૅમેરાથી ઝડપાયા છે.

પરમાત્મા મહાવીરના વ્યાપક જીવનના સારરૂપે આપણે એમનું આલંબન સ્વીકારી એમની આજ્ઞા પ્રમાણે વર્તવા પ્રયત્નશીલ થઈએ, સંગઠિત થઈ એમના જીવનસિદ્ધાંતોને કાર્યમાં ઉતારીએ, નજીવા કલેશોને તિલાંજલી આપી જૈન સમાજની ઉન્નતિ માટે એકત્ર થઈએ, એમના સિદ્ધાંતો પરદેશમાં ફેલાવવા મિશનો મોકલીએ, એમના જીવનનો મહાન ગ્રંથ—ઐતિહાસિક, વૈજ્ઞાનિક, યૌગિક અને આધ્યાત્મિક રીતે ગૃહસ્થજીવન, સાધુજીવન, માતૃ–પિતૃ–ભક્તિ, બંધુસ્નેહ, ગણધરવાદ, તીર્થસ્થાપના વગેરે અનેક દૃષ્ટિબિંદુઓથી સરળ ભાષામાં તૈયાર કરાવીએ, આલસ્ય ખંખેરી પુરુષાર્થ–પરાયણ થતા રહીએ, અહિંસા, સંયમ, તપ, સામાયિક, બ્રહ્મચર્ય, દાનધર્મ વગેરેમાં પ્રગતિ કરતા રહીએ તો તે સંસ્કારો પાડતાં પાડતાં આપણે આપણા આત્માની અનંત શક્તિઓનો વિકાસ કરી એમની માફક અવશ્ય મુક્તિગામી બની શકશું એ નિર્વિવાદ સત્ય છે.

ભગવાન મહાવીરનો આર્હતધર્મ ઉદ્ઘોષણા કરે છે કે 'કર્તવ્યકર્મોને આદરી સદ્વર્તન ધારણ કરજો, ઉદાસીનતા, ખેદ, ચિંતા અને ભય કે જે મનોબળને નબળું પાડનાર છે અને આત્માના ભાવિ ઉદયને અટકાવનાર છે તેમને હૃદયમાં પેસવા દેશો નહિ, નિરંતર આત્મચિંતવન કરજો, કટુતામાં મધુરતા રાખજો, દુઃખમાં સુખ માની લેતાં શીખજો, દુઃખોને અનુભવી ઢીલા થશો નહિ અને સંતાપનાં રોદણાં રડશો નહિ; તમારા આત્માને દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રમાં ઓતપ્રોત કરી નિશ્ચય બળ(will power)થી તેને ટકાવી રાખી ઉત્તરોત્તર પ્રગતિ કરજો.'

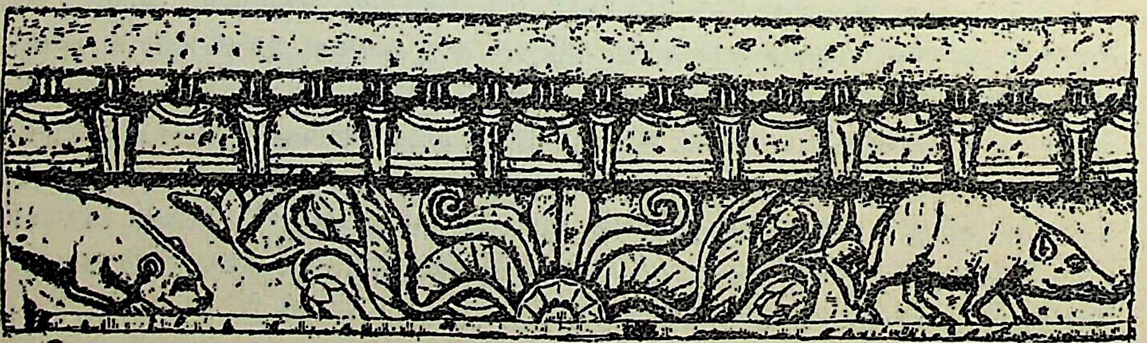

નિર્ગ્રંથ સિદ્ધાંતની ઉત્તમતા

ડૉ૦ વલ્લભદાસ નેણસીભાઈ

અનંત પ્રકારનાં શારીરિક માનસિક દુ:ખોએ આકુલવ્યાકુલ જીવોને તે દુ:ખોથી છૂટવાની બહુ પ્રકારે ઇચ્છા છતાં તેમાંથી તે મુક્ત થઈ શકતા નથી તેનું શું કારણ? એવો પ્રશ્ન અનેક જીવોને ઉત્પન્ન થયા કરે. પણ તેનું યથાર્થ સમાધાન કોઈ વિરલ જીવને જ પ્રાપ્ત થાય છે. જ્યાં સુધી દુ:ખનું મૂળ કારણ યથાર્થપણે જાણવામાં ન આવ્યું હોય ત્યાં સુધી તે ટાળવાને માટે ગમે તેવો પ્રયત્ન કરવામાં આવે તો પણ દુ:ખનો ક્ષય થઈ શકે નહિ અને ગમે તેટલી અરુચિ, અપ્રિયતા અને અભાવ તે દુ:ખ પ્રત્યે હોય છતાં એને અનુભવ્યા જ કરવું પડે. અવાસ્તવિક ઉપાયથી તે દુ:ખ મટાડવાનો પ્રયત્ન કરવામાં આવે, અને તે પ્રયત્ન ન સહન થઈ શકે એટલા પરિશ્રમપૂર્વક કર્યો હોય છતાં તે દુ:ખ ન મટવાથી દુ:ખ મટાડવા ઇચ્છતા મુમુક્ષુને અત્યંત વ્યામોહ થઈ આવે છે અથવા થયા કરે છે કે આનું શું કારણ? આ દુ:ખ ટળતું કેમ નથી? કોઈ પણ પ્રકારે મારે તે દુ:ખની પ્રાપ્તિ ઇચ્છિત નહિ છતાં, સ્વપ્ને ય પણ તેના પ્રત્યે કંઈ પણ વૃત્તિ નહિ છતાં, તેની પ્રાપ્તિ થયા કરે છે અને હું જે જે પ્રયત્નો કરું છું તે તે બધા નિષ્ફળ થઈ દુ:ખ અનુભવ્યા જ કરું છું એનું શું કારણ?

શું એ દુ:ખ કોઈને મટતું જ નહિ હોય? દુ:ખી થવું એ જ જીવનો સ્વભાવ હશે? શું કોઈ એક જગતકર્તા ઈશ્વર હશે તેણે આમ જ કરવું યોગ્ય ગણ્યું હશે? શું ભવિતવ્યને આધીન એ વાત હશે? અથવા કોઈક મારા કરેલા આગલા અપરાધોનું ફળ હશે? વગેરે અનેક પ્રકારના વિકલ્પો જે જીવો મનસહિત દેહધારી છે તે કર્યા કરે છે, અને જે જીવો મનરહિત છે તે અવ્યક્તપણે દુ:ખનો અનુભવ કરે છે અને અવ્યક્તપણે તે દુ:ખ મટે એવી ઇચ્છા રાખ્યા કરે છે.

આ જગતને વિષે પ્રાણીમાત્રની વ્યક્ત અથવા અવ્યક્ત ઇચ્છા પણ એ જ છે કે કોઈ પણ પ્રકારે મને દુ:ખ ન હો અને સર્વથા સુખ હો. પ્રયત્ન પણ એ જ અર્થે છતાં તે દુ:ખ શા માટે મટતું નથી એવો પ્રશ્ન ઘણા ઘણા વિચારવાનોને પણ ભૂતકાળે ઉત્પન્ન થયો હતો, વર્તમાનકાળે પણ થાય છે અને ભવિષ્યકાળે પણ થશે. તે અનંત અનંત વિચારવાનોમાંથી અનંત વિચારવાનો તેના યથાર્થ સમાધાનને પામ્યા અને દુ:ખથી મુક્ત થયા. વર્તમાનકાળે પણ જે જે વિચારવાનો યથાર્થ સમાધાન પામે છે તે પણ તથારૂપ ફળને પામે છે અને ભવિષ્યકાળે પણ જે જે વિચારવાનો યથાર્થ સમાધાન પામશે, તે તે તથારૂપ ફળને પામશે એમાં સંશય નથી.

શરીરનું દુ:ખ માત્ર ઔષધ કરવાથી મટી જતું હોત, મનનું દુ:ખ ધનાદિ મળવાથી મટી જતું હોત અને બાહ્ય સંસર્ગ સંબંધનું દુ:ખ મનને કંઈ અસર ઉપજાવી શકતું નહોત તો દુ:ખ મટવા માટે જે જે પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે તે તે સર્વ સફળ થાત. પણ જ્યારે તેમ બનતું જોવામાં ન આવ્યું ત્યારે જ વિચારવાનોને પ્રશ્ન ઉત્પન્ન થયો કે દુ:ખ મટવા માટે બીજો જ ઉપાય હોવો જોઈએ. આ જે કરવામાં આવે છે તે ઉપાય અયથાર્થ છે અને બધો શ્રમ વૃથા છે, માટે તે દુ:ખનું મૂળ કારણ જો યથાર્થ જાણવામાં આવે અને તે જ પ્રમાણે ઉપાય કરવામાં આવે તો દુ:ખ મટે; નહિ તો નહિ જ મટે.

જે વિચારવાનો દુ:ખનું યથાર્થ મૂળ કારણ વિચારવા ઊઠ્યા, તેમાં પણ કોઈક જ તેનું યથાર્થ સમાધાન પામ્યા અને ઘણા યથાર્થ સમાધાન નહિ પામતાં છતાં મતિવ્યામોહાદિ કારણથી યથાર્થ સમાધાન પામ્યા

છીએ એમ માનવા લાગ્યા અને તે પ્રમાણે ઉપદેશ કરવા લાગ્યા. ઘણા લોકો વળી તેને અનુસરવા પણ લાગ્યા. જગતમાં જુદા જુદા ધર્મમત જોવામાં આવે છે તેની ઉત્પત્તિનું કારણ એ જ છે.

'ધર્મથી દુઃખ મટે' એમ ઘણાખરા વિચારવાનોની માન્યતા થઈ, પણ ધર્મનું સ્વરૂપ[1] સમજવામાં એકબીજામાં ઘણો તફાવત પડ્યો. ઘણા તો પોતાનો મૂળ વિષય ચૂકી ગયા અને ઘણા તો તે વિષયમાં મતિ થાકવાથી અનેક પ્રકારે નાસ્તિકાદિ પરિણામોને પામ્યા.

સર્વ દુઃખનો આત્યંતિક અભાવ અને પરમ અવ્યાબાધ સુખની પ્રાપ્તિ એ જ 'મોક્ષ' છે અને તે જ 'પરમહિત' છે. વીતરાગ સન્માર્ગ તેનો 'સદુપાય' છે, તે સન્માર્ગનો આ પ્રમાણે સંક્ષેપ છે:

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રની એકત્રતા તે 'મોક્ષમાર્ગ' છે. સર્વજ્ઞના જ્ઞાનમાં ભાસ્યમાન તત્ત્વોની સમ્યક્ પ્રતીતિ થવી તે 'સમ્યગ્દર્શન' છે, તત્ત્વનો બોધ થવો તે સમ્યગ્જ્ઞાન છે. ઉપાદેય તત્ત્વનો અભ્યાસ થવો તે 'સમ્યક્ચારિત્ર' છે. શુદ્ધ આત્મપદ સ્વરૂપ એવાં વીતરાગપદમાં સ્થિતિ થવી તે એ ત્રણેની એકત્રતા છે. સર્વજ્ઞદેવ, નિર્ગ્રંથગુરુ અને સર્વજ્ઞોપદિષ્ટ ધર્મની પ્રતીતિથી 'તત્ત્વપ્રતીતિ' પ્રાપ્ત થાય છે.

સર્વ જ્ઞાનાવરણ, સર્વ દર્શનાવરણ, સર્વ મોહ અને સર્વ વીર્યાદિ અંતરાયનો ક્ષય થવાથી આત્માને 'સર્વજ્ઞ વીતરાગ-સ્વભાવ' પ્રગટે છે. નિર્ગ્રંથપદના અભ્યાસનો ઉત્તરોત્તર ક્રમ તેનો 'માર્ગ' છે. તેનું રહસ્ય 'સર્વજ્ઞોપદિષ્ટધર્મ' છે.

* * *

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રમાં સમ્યગ્દર્શનની મુખ્યતા ઘણે સ્થળે તે વીતરાગોએ કહી છે; જો કે સમ્યગ્જ્ઞાનથી જ સમ્યગ્દર્શનનું પણ ઓળખાણ થાય છે, તો પણ સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિ વગરનું જ્ઞાન સંસાર એટલે દુઃખના હેતુરૂપે હોવાથી સમ્યગ્દર્શનનું મુખ્યપણું ગ્રહણ કર્યું છે.

જેમ જેમ સમ્યગ્દર્શન શુદ્ધ થતું જાય છે, તેમ તેમ સમ્યક્ચારિત્ર પ્રત્યે વીર્ય ઉલ્લસતું જાય છે; અને ક્રમે કરીને સમ્યક્ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થવાનો વખત આવે છે, જેથી આત્મામાં સ્થિર સ્વભાવ સિદ્ધ થતો જાય છે, અને ક્રમે કરીને પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવ પ્રગટે છે; અને આત્મા નિજપદમાં લીન થઈ સર્વ કર્મકલંકથી રહિત થવાથી એક શુદ્ધ આત્મસ્વભાવરૂપ મોક્ષમાં પરમ અવ્યાબાધ સુખના અનુભવસમુદ્રમાં સ્થિત થાય છે.

સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિથી જેમ જ્ઞાન સમ્યક્સ્વભાવને પામે છે એ સમ્યગ્દર્શનનો પરમ ઉપકાર છે, તેમ સમ્યગ્દર્શન ક્રમે કરી શુદ્ધ થતું જઈ પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવ સમ્યક્ચારિત્રને પ્રાપ્ત થાય તેને અર્થે સમ્યગ્જ્ઞાનના બળની તેને ખરેખરી આવશ્યકતા છે. તે સમ્યક્જ્ઞાનપ્રાપ્તિનો ઉપાય વીતરાગશ્રુત અને તે શ્રુતતત્ત્વોપદેષ્ટા મહાત્મા છે.

---

[1] આત્માને સ્વભાવમાં ધારે તે 'ધર્મ', આત્માનો સ્વભાવ તે ધર્મ, સ્વભાવમાંથી પરભાવમાં ન જવા દે તે ધર્મ, પરભાવ વડે કરીને આત્માને દુર્ગતિએ જવું પડે તે ન જવા દેતાં સ્વભાવમાં ધરી રાખે તે ધર્મ, સમ્યક્ શ્રદ્ધાન, જ્ઞાન અને સ્વરૂપાચરણ તે ધર્મ, સમ્યગ્જ્ઞાન, સમ્યગ્દર્શન, સમ્યક્ચારિત્ર એ રત્નત્રયીને શ્રીતીર્થંકરદેવ ધર્મ કહે છે. ષટ્દ્રવ્યનું શ્રદ્ધાન, જ્ઞાન અને સ્વરૂપાચરણ તે ધર્મ: જે સંસારના પરિભ્રમણથી છોડાવી ઉત્તમ સુખમાં ધરી રાખે તે ધર્મ.
(રત્નકરંડ શ્રાવકાચાર)

'ધર્મ' એ વસ્તુ બહુ ગુપ્ત રહી છે. તે બાહ્ય સંશોધનથી મળવાની નથી. અપૂર્વ અંતર્સંશોધનથી તે પ્રાપ્ત થાય છે, તે અંતર્સંશોધન કોઈક મહાભાગ્ય સદ્ગુરુ અનુગ્રહે પામે છે. (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર)

વીતરાગશ્રુતના પરમ રહસ્યને પ્રાપ્ત થયેલા અસંગ અને પરમકરુણાશીલ મહાત્માનો યોગ પ્રાપ્ત થવો અતિશય કઠણ છે. મહદ્‌ભાગ્યોદયના યોગથી જ તે યોગ પ્રાપ્ત થાય છે એમાં સંશય નથી. કહ્યું છે કે : तहा रुवाणं समणाणं—

તે શ્રમણ મહાત્માઓનાં પ્રવૃત્તિલક્ષણ પરમપુરુષે આ પ્રમાણે કહ્યાં છે :

અભ્યંતરદશાનાં ચિહ્ન તે મહાત્માઓનાં પ્રવૃત્તિલક્ષણથી નિર્ણીત કરી શકાય; જો કે પ્રવૃત્તિલક્ષણ કરતાં અભ્યંતરદશા વિષેનો નિશ્ચય અન્ય પણ નીકળે છે. કોઈ એક શુદ્ધ વૃત્તિમાન મુમુક્ષુને તેવી અભ્યંતરદશાની પરીક્ષા આવે છે.

* * *

યદ્યપિ તેવા મહાત્મા પુરુષનો ક્વચિત્ યોગ બને છે, તો પણ શુદ્ધ વૃત્તિમાન મુમુક્ષુ હોય તો તે અપૂર્વ ગુણને તેવા મુહૂર્તમાત્રના સમાગમમાં પ્રાપ્ત કરી શકે છે. જેવા મહાત્મા પુરુષના વચન પ્રતાપથી મુહૂર્તમાત્રમાં ચક્રવર્તીઓ પોતાનું રાજપાટ છોડી ભયંકર વનમાં તપશ્ચર્યા કરવાને ચાલી નીકળતા હતા, તેવા મહાત્મા પુરુષના યોગથી અપૂર્વ ગુણ કેમ પ્રાપ્ત ન થાય ?

સારા દેશકાળમાં પણ ક્વચિત્ તેવા મહાત્માનો યોગ બની આવે છે, કેમકે તેઓ અપ્રતિબદ્ધ વિહારી હોય છે. ત્યારે એવા પુરુષોનો નિત્યસંગ રહી શકે તેમ શી રીતે બની શકે કે જેથી મુમુક્ષુ જીવ સર્વ દુઃખ ક્ષય કરવાનાં અનન્ય કારણોને પૂર્ણપણે ઉપાસી શકે ? તેનો માર્ગ આ પ્રમાણે ભગવાન જિને અવલોક્યો છે :

નિત્ય તેમના સમાગમમાં આજ્ઞાધીનપણે વર્તવું જોઈએ, અને તે માટે બાહ્યાભ્યંતર પરિગ્રહાદિ ત્યાગ જ યોગ્ય છે.

જેઓ સર્વથા તેવો ત્યાગ કરવાને સમર્થ નથી, તેમણે આ પ્રમાણે દેશત્યાગપૂર્વક કરવું યોગ્ય છે. તેનું સ્વરૂપ આ પ્રમાણે ઉપદેશ્યું છે :

તે મહાત્માપુરુષના ગુણાતિશયપણાથી, સમ્યક્‌ચરણથી, પરમજ્ઞાનથી, પરમશાંતિથી, પરમનિવૃત્તિથી મુમુક્ષુ જીવની અશુભ વૃત્તિઓ પરાવર્તન થઈ શુભસ્વભાવને પામી સ્વરૂપ પ્રત્યે વળતી જાય છે.

તે પુરુષનાં વચનો આગમસ્વરૂપ છે, તો પણ વારંવાર પોતાથી વચનયોગની પ્રવૃત્તિ ન થાય તેથી, તથા નિરંતર સમાગમનો યોગ ન બને તેથી, તથા તે વચનનું શ્રવણ તાદૃશ સ્મરણમાં ન રહે તેથી, તેમ જ કેટલાક ભાવોનું સ્વરૂપ જાણવામાં પરિવર્તનની જરૂર હોય છે તેથી, અને અનુપ્રેક્ષાનું બળ વૃદ્ધિ પામવાને અર્થે વીતરાગશ્રુત વીતરાગશાસ્ત્ર એક બળવાન ઉપકારી સાધન છે; જો કે તેવા મહાત્મા પુરુષ દ્વારા જ પ્રથમ તેનું રહસ્ય જાણવું જોઈએ, પછી વિશુદ્ધ દૃષ્ટિ થયે મહાત્માના સમાગમના અંતરાયમાં પણ તે શ્રુત બળવાન ઉપકાર કરે છે; અથવા જ્યાં કેવળ તેવા મહાત્માઓનો યોગ બની જ શકતો નથી ત્યાં પણ વિશુદ્ધ દૃષ્ટિવાનને વીતરાગશ્રુત પરમોપકારી છે અને તે જ અર્થે થઈને મહત્પુરુષોએ એક શ્લોકથી માંડી દ્વાદશાંગપર્યંત રચના કરી છે.

* * *

કાળના દોષથી અપાર શ્રુતસાગરનો ઘણો ભાગ વિસર્જન થતો ગયો અને બિંદુમાત્ર અથવા અલ્પમાત્ર વર્તમાનમાં વિદ્યમાન છે.

ઘણાં સ્થળો વિસર્જન થવાથી, ઘણાં સ્થળોમાં સ્થૂળનિરૂપણ રહ્યું હોવાથી નિર્ગ્રંથભગવાનના તે શ્રુતનો પૂર્ણ લાભ વર્તમાન મનુષ્યોને આ ક્ષેત્રે પ્રાપ્ત થતો નથી.

ઘણા મતમતાંતરાદિ ઉત્પન્ન થવાનો હેતુ પણ એ જ છે, અને તેથી જ નિર્મળ આત્મતત્ત્વના અભ્યાસી મહાત્માઓની અલ્પતા થઈ.

શ્રુત અલ્પ રહ્યા છતાં, મતાંતર ઘણા છતાં, સમાધાનના કેટલાંક સાધનો પરોક્ષ છતાં, મહાત્મા પુરુષોનું ક્વચિતત્વ છતાં, હે આર્યજનો! સમ્યગ્દર્શન, શ્રુતનું રહસ્ય એવો પરમપદનો પંથ, આત્માનુભવના હેતુ, સમ્યક્ચારિત્ર અને વિશુદ્ધ આત્મધ્યાન આજે પણ વિદ્યમાન છે એ પરમ હર્ષનું કારણ છે.

વર્તમાનકાળનું નામ દુષમકાળ છે. તેથી દુઃખે કરીને,—ઘણા અંતરાયથી, પ્રતિકૂળતાથી, સાધનનું દુર્લભપણું હોવાથી મોક્ષમાર્ગની પ્રાપ્તિ થાય છે; પણ વર્તમાનમાં મોક્ષમાર્ગનો વિચ્છેદ છે એમ ચિંતવવું જોઈતું નથી.

* * *

જે અલ્પ સ્થળો રહ્યાં તેને એકાદશાંગને નામે શ્વેતાંબર આચાર્યો કહે છે, દિગમ્બરો તેમાં અનુમત નહિ થતાં એમ કહે છે કે:

વિસંવાદ કે મતાગ્રહની દૃષ્ટિએ તેમાં બન્ને કેવળ ભિન્ન ભિન્ન માર્ગની પેઠે જોવામાં આવે છે. દીર્ઘ દૃષ્ટિએ જોતાં તેનાં જુદાં જ કારણો જોવામાં આવે છે.

વિવાદના ઘણાં સ્થળો તો અપ્રયોજન જેવાં છે; પ્રયોજન જેવા છે તે પણ પરોક્ષ છે.

* * *

દિગંબર અને શ્વેતાંબર એવા એ ભેદ જિનદર્શનમાં મુખ્ય છે. મતદૃષ્ટિથી તેમાં મોટું અંતર જોવામાં આવે છે. તત્ત્વદૃષ્ટિથી તેવો વિશેષ ભેદ જિનદર્શનમાં મુખ્યપણે પરોક્ષ છે; જે પ્રત્યક્ષ કાર્યભૂત થઈ શકે તેવા છે તેમાં તેવો ભેદ નથી; માટે બંને સંપ્રદાયમાં ઉત્પન્ન થતા ગુણવાન પુરુષો સમ્યગ્દૃષ્ટિથી જુએ છે; અને જેમ તત્ત્વપ્રતીતિનો અંતરાય ઓછો થાય તેમ પ્રવર્તે છે.

* * *

શ્રીમાન વર્ધમાનજિન વર્તમાનકાળના ચરમ તીર્થંકરદેવની શિક્ષાથી હાલ મોક્ષમાર્ગનું અસ્તિત્વ વર્તે છે. તેમના આ ઉપકારને સુવિહિત પુરુષો વારંવાર આશ્ચર્યમય દેખે છે.

* * *

જે ધર્મ સંસાર પરીક્ષીણ કરવામાં સર્વથા ઉત્તમ હોય અને નિજસ્વભાવમાં સ્થિતિ કરાવવાને બળવાન હોય તે જ ઉત્તમ અને તે જ બળવાન છે. **(શ્રીમદ્ રાજચંદ્રગ્રંથમાંથી સંકલિત)**

સાંપ્રદાયિક વ્યામોહમાં શ્રીમદ્‌નું સાચું મૂલ્ય આપણે ન સમજી શક્યા પણ આવા આત્માર્થી અને આત્મદર્શી પુરુષને ઓળખવામાં જ જૈનદર્શનની ગુણગ્રાહકદૃષ્ટિ સમાયેલ છે. કમનસીબે આવી દૃષ્ટિનો આપણે ત્યાં બહુ અભાવ છે, પણ જે આવી દૃષ્ટિ દાખવશે અને શ્રીમદ્‌ની આત્મસાધના સમજવા પ્રયત્ન કરશે એ જરૂર ધર્મલાભ મેળવશે.

જૈન જાતકોના ચિત્રપ્રસંગોવાળી કલ્પસૂત્રની સુવર્ણાક્ષરી પ્રત

શ્રી સારાભાઈ મણિલાલ નવાબ

કલ્પસૂત્રની હસ્તપ્રતોમાં સંગ્રહાયેલી કળાલક્ષ્મીનું દિગ્દર્શન કરાવવા જૈનચિત્રકલ્પદ્રુમ, જૈનચિત્રકલ્પલતા, ચિત્રકલ્પસૂત્ર, પવિત્ર કલ્પસૂત્ર, અષ્ટાન્હિકા–કલ્પસુબોધિકા વગેરે મારાં પ્રકાશનો દ્વારા યથાશક્તિ પ્રયત્ન મેં કરેલો છે.

જૈન મંત્રીઓ તથા જૈન શ્રીમાનોએ જેવી રીતે શિલ્પસ્થાપત્ય કલાને ઉત્તેજન આપેલું છે; તેવી જ રીતે જૈન ધર્મના ધાર્મિક ગ્રંથોમાં ચિત્રો ચીતરાવીને ચિત્રકલાને પણ ઉત્તેજન આપેલું છે. આ વાત કલારસિકોના ધ્યાન બહાર તો નથી જ.

અત્યારસુધી કલ્પસૂત્રની સેંકડો સચિત્ર હસ્તપ્રતોનું મેં નિરીક્ષણ કર્યું છે; તેમાં અમદાવાદના જૈન ગ્રંથભંડારો પૈકીની બે સુવર્ણાક્ષરી કલ્પસૂત્રની હસ્તપ્રતો વિશિષ્ટ પ્રકારની છે :

૧. અમદાવાદના દેવસાના પાડામાં આવેલા શ્રીદયાવિમલજી શાસ્ત્રસંગ્રહની હસ્તપ્રત કે જેમાં સંગીતશાસ્ત્રના ગ્રામ, સ્વર, મૂર્છના અને તાલ વગેરે તથા આકાશચારી, પાદચારી, ભોમચારી, દેશચારી તથા નૃત્યનાં હસ્તલક્ષણો વગેરેને લગતાં નાટ્યશાસ્ત્રના લગભગ ત્રણસો ચિત્રપ્રસંગો આપવામાં આવેલા છે.[૧] આ પ્રમાણે સંગીત અને નાટ્યશાસ્ત્રના ચિત્રપ્રસંગો ઉપરાંત આ પ્રતની કિનારોમાં જુદી જુદી જાતની વેલબુટ્ટીઓ, અભિનયભર્યાં પ્રાણીઓ, સિંહ, હાથી, બળદ, મોર વગેરે પશુ-પક્ષીઓનાં વિવિધ ચિત્રો તથા કલ્પસૂત્રને લગતા વિવિધ ચિત્ર–પ્રસંગો બીજી કોઈ પણ હસ્તપ્રતમાં જોવામાં આવેલ નથી. વળી આ પ્રતમાં પશ્ચિમ ભારતની ચિત્રકલા સાથે સાથે ઇરાની ચિત્રકલા પણ જોવા મળે છે, જે તેની ખાસ લાક્ષણિકતા છે.

૨. અમદાવાદની સામળાની પોળમાં આવેલા શ્રીપાર્શ્વચન્દ્રગચ્છના ઉપાશ્રયમાં આવેલા શ્રી ભ્રાતૃચન્દ્રસૂરિશ્વરજી જ્ઞાનભંડારમાં આવેલી સંવત ૧૫૧૬માં પાટણ શહેરમાં લખાયેલી સુવર્ણાક્ષરી હસ્તપ્રતમાં જૈનોના ચોવીસ તીર્થંકરો પૈકી ૧. શ્રીઋષભદેવ, ૨૨. શ્રીનેમિનાથજી, ૨૩. શ્રીપાર્શ્વનાથજી તથા ૨૪. શ્રીમહાવીર સ્વામીજીના પૂર્વભવો તથા આ ચારે તીર્થંકરોના મુખ્ય જીવનપ્રસંગો, પ્રતનાં પાનાંઓની ઉપરનીચેની કિનારોમાં તથા બંને બાજુના હાંસિયાઓમાં ચીતરેલા છે.

આ લેખમાં પ્રસ્તુત સામળાની પોળના ઉપાશ્રયની પ્રતનો પરિચય આપવાનું મેં યોગ્ય ધાર્યું છે.

કલ્પસૂત્રની આ સુવર્ણાક્ષરી પ્રત ઉપરોક્ત ભંડારની પોથી નં. ૨૮માં આવેલી છે. આ પ્રતમાં કુલ પાનાં ૧૧૮ કલ્પસૂત્રનાં છે અને ૧૦ પાનાં કાલકકથાનાં છે. કલ્પસૂત્રમાં ચિત્રસંખ્યા ૪૪ છે અને કાલકકથામાં ચિત્ર ૧ છે. પ્રતના અંતે આ પ્રમાણે પુષ્પિકાઓ છે :

કલ્પસૂત્રના અંતે : संवत् १५१६ वर्षे श्रावण सुदि पंचमी सोमे मं० वाछाकेन शुभंभूयात् ।

કાલકકથાના અંતે : संवत् १५१६ वर्षे श्रावण सुदि पंचमी सोमे श्रीपत्तने श्रीधर्मघोषगच्छे श्रीपद्माणंदसूरि वि० भम्नीबाई पूनाई कल्पपुस्तिका लिखापितं ॥ छ ॥

---

[૧] આ બધા ચિત્રપ્રસંગો તેના વિસ્તૃત પરિચય સાથે મારા તરફથી હવે પછી પ્રસિદ્ધ કરવામાં આવનાર છે.

આ પ્રતમાં નીચે પ્રમાણેનાં ૪૪ ચિત્રો છે :

૧. મહાવીરપ્રભુનું ચ્યવન, ૨. ગૌતમસ્વામીજી, ૩. દેવાનંદાનાં ચૌદ સ્વપ્ન, ૪. ઇંદ્રસભા, ૫. શક્રસ્તવ, ૬. શક્રાજ્ઞા, ૭. ગર્ભાપહાર, ૮. ગર્ભસંક્રમણ, ૯. ત્રિશલાનાં ચૌદ સ્વપ્ન, ૧૦. મલ્લયુદ્ધ, ૧૧. સિદ્ધાર્થનું સ્નાન, ૧૨. સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા, ૧૩. સ્વપ્નપાઠકો, ૧૪. ગર્ભ નહિ ફરકવાથી ત્રિશલાનો શોક, ૧૫. ગર્ભ ફરકવાથી ત્રિશલાનો આનંદ, ૧૬. પ્રભુ શ્રીમહાવીરનો જન્મ, ૧૭. જન્માભિષેક, ૧૮. છઠ્ઠી જાગરણ, ૧૯. નિશાલગણણું, ૨૦. સંવત્સરીદાન, ૨૧. ચંદ્રલેખા પાલખી, ૨૨. પંચમુષ્ટિલોચ, ૨૩. પ્રભુ મહાવીરનું સમવસરણ, ૨૪. મહાવીર નિર્વાણ, ૨૫. પાર્શ્વચ્યવન, ૨૬. પાર્શ્વપ્રભુના પૂર્વભવો–કિનારમાં, ૨૭. પાર્શ્વજન્મ, ૨૮. પાર્શ્વપ્રભુનું સંવત્સરીદાન તથા પાર્શ્વપ્રભુનો લોચ, ૨૯. પાર્શ્વપ્રભુને ઉપસર્ગ, ૩૦. પાર્શ્વપ્રભુનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૩૧. શ્રીનેમિનાથજીનો જન્મ, ૩૨. શ્રીનેમિનાથજીનું સંવત્સરીદાન અને પંચમુષ્ટિલોચ, ૩૩. શ્રીનેમિનાથજીની જાન, ૩૪. શ્રીનેમિનાથજીનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૩૫. દશ તીર્થંકરો, ૩૬. દશ તીર્થંકરો, ૩૭. શ્રીઋષભદેવનું ચ્યવન, ૩૮. શ્રીઋષભદેવનો જન્મ, ૩૯. શ્રીઋષભદેવનું સંવત્સરીદાન તથા પંચમુષ્ટિલોચ, ૪૦. શ્રીઋષભદેવનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૪૧. અગિયાર ગણધરો, ૪૨. આર્યસ્થૂલિભદ્ર અને કોશા, ૪૩. ચતુર્વિધ સંઘ અને ૪૪. ચતુર્વિધ સંઘ.

ઉપરોક્ત ૪૪ ચિત્રો ઉપરાંત આ પ્રતની કિનારો તથા હાંસિયાઓમાં નીચે પ્રમાણેનાં ચારે તીર્થંકરોનાં પૂર્વભવોના તથા તીર્થંકરોના ભવોના ચિત્રપ્રસંગો ચીતરાયેલાં છે :

૧. પ્રતનું પાનું ૧ : પાનાની ડાબી બાજુના હાંસિયામાં ઉપરના ભાગમાં વાજિંત્ર વગાડતી એક કિન્નરી ઊભેલી છે. મધ્ય ભાગમાં એક હાથીસવાર હાથમાં કળશ લઈને પ્રભુમહાવીરની ભક્તિ કરવા જતો દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં એક દંપતી પ્રભુભક્તિની ઉત્સુકતા દર્શાવતું બેઠેલું છે.

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ઊભેલો ગૃહસ્થ પ્રભુની સ્તુતિ કરે છે. નીચેના ભાગમાં પોતાના ઊંચા કરેલા ડાબા હાથથી ચામર વીંઝતી એક સ્ત્રી (શ્રાવિકા) પ્રભુની ભક્તિ કરતી ઊભેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં વાંસળી વગાડતો એક કિન્નર ઊભેલો છે. મધ્ય ભાગમાં એક હાથીસવાર પ્રભુની ભક્તિ કરવા જતો દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં પ્રભુની ભક્તિ કરતાં દંપતી ઊભેલાં છે.

૨. પ્રતનું પાનું ૨ : પ્રથમ ભાગ : ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં એક ગૃહસ્થ બેઠેલો છે. મધ્ય ભાગમાં એક સ્ત્રી બેઠેલી છે. નીચેના ભાગમાં બંને હાથે ફૂલની માળા પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે.

મધ્ય ભાગના હાંસિયામાં ભૂમિતિની સુંદર ચિત્રાકૃતિઓ રજૂ કરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં એક સ્ત્રી પોતાના જમણા હાથમાં પોતાના માથાના વાળની લટ પકડીને ઊભેલી છે, તેના વાળમાંથી ટપકતું પાણી નીચે ઊભેલા હંસના મુખમાં પડે છે. મધ્ય ભાગમાં બે ગૃહસ્થો ઊભેલા છે. નીચેના ભાગમાં એક માણસ ઘોડાને દોરીને ચાલતો દેખાય છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે ત્રણ સ્ત્રીઓ નૃત્ય કરતી અને ત્રણ પુરુષો જુદ જુદા વાદ્યો વગાડતા દેખાય છે; તથા બે પુરુષો બેઠેલા છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે બે ઘોડા, બે હાથી અને બે પુરુષો ચીતરેલા છે. પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ મહાવીરના પાંચે કલ્યાણકો ઉત્તરાફાલ્ગુની નક્ષત્રમાં થયાનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૩. પ્રતનું પાનું ૨ : પાનાના આંકવાળી બાજુ : ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ધરણેંદ્ર, મધ્ય ભાગમાં પદ્માવતી અને નીચેના ભાગમાં દેવી સરસ્વતી ચીતરેલાં છે.

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ચક્રેશ્વરીદેવી, મધ્ય ભાગમાં તથા નીચેના ભાગમાં ચાર હાથવાળો એક–એક દેવ ચીતરેલો છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં અંબિકાદેવી છે, મધ્ય ભાગમાં શક્રેંદ્ર છે અને નીચેના ભાગમાં ગોમેધયક્ષ ચીતરેલો છે.

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રીમહાવીરના ચ્યવન કલ્યાણકનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૪. પ્રતના પાના ૩નો પ્રથમ ભાગ : ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુના પિતા શ્રીઋષભદત્ત બ્રાહ્મણનું ઘર ચીતરેલું છે. મધ્ય ભાગમાં ઋષભદત્ત બ્રાહ્મણ તથા દેવાનંદા બ્રાહ્મણી (પ્રભુ મહાવીરના પિતા તથા માતા) બેઠેલાં છે. નીચેના ભાગમાં વહેતી નદીની પાસેથી હાથમાં લાકડી પકડીને પસાર થતો એક પુરુષ ઊભેલો છે.

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં સિદ્ધાર્થ ક્ષત્રિય બેઠેલા છે. નીચેના ભાગમાં હાથમાં દર્પણ પકડીને ત્રિશલા માતા બેઠેલાં છે. તેમની સામે એક પરિચારિકા ઊભેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં સિદ્ધાર્થ ક્ષત્રિય અને સ્થાપનાચાર્ય છે. બીજા ભાગમાં સ્થાપનાચાર્ય અને ઋષભદત્ત બ્રાહ્મણ છે. ત્રીજા ભાગમાં સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા છે. ચોથા ભાગમાં ઋષભદત્ત અને દેવાનંદા બેઠેલાં છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે એક મોર, દૂધ ભરેલાં બે મટકાંઓ (?), ખભે ઘીનું કુડલું લઈને જતો એક માણસ, બે ચામર વીંઝતા પુરુષો, નૃત્ય કરતી ત્રણ સ્ત્રીઓ તથા જુદાં જુદાં વાદ્યો વગાડતી બીજી ત્રણ સ્ત્રીઓ ચીતરેલી છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે બે ઘોડા, ત્રણ હાથી, હાથમાં પૂજનની સામગ્રી લઈને બેઠેલા ત્રણ પુરુષો, હાથમાં ઢાલ તથા તલવાર પકડીને ચાલતા બે સૈનિકો અને છેવટે એક હંસપક્ષી ચીતરેલ છે.

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રીમહાવીરના ચ્યવન કલ્યાણકનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૫. પ્રતનું પાનું ૩ : પાનાના આંકવાળી બાજુ : ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ચામર પકડીને ઊભેલી સ્ત્રીઓ છે. નીચેના ભાગમાં હાથમાં વીણા પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે.

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર ફૂલોનો એક છોડ ચીતરેલો છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પણ ચામર પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે. નીચેના ભાગમાં એક હાથમાં વીણા તથા બીજા હાથમાં ફૂલ પકડીને ઊભેલી સ્ત્રી છે.

પાનાની મધ્યમાં દેવાનંદા ચૌદ સ્વપ્ન જુએ છે, તેનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૬. પ્રતના પાના ૪૪નો પ્રથમ ભાગ : ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવ નયસારનો પ્રસંગ તથા ઉપરની કિનારમાં તેઓશ્રીના બીજાથી સાતમા ભવ સુધીના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

મધ્ય હાંસિયામાં ભૂમિતિની સુંદર ચિત્રાકૃતિઓ ચીતરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયામાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના આઠમા ભવથી અગિયારમા ભવ સુધીના પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

નીચેની કિનારમાં જમણી બાજુથી ડાબી બાજુ તરફ અનુક્રમે પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના બારમા ભવથી સત્તરમા ભવ સુધીના પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

ડાબી બાજુનાં હાંસિયાની મધ્ય ભાગમાં તથા નીચેના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના અઢારમા તથા ઓગણીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના વીસ, એકવીસ અને ત્રેવીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે.

બાવીસમા પૂર્વભવની રજૂઆત ઉપરની કિનારમાં જ ચાર ઝાડોની સાથે એક માણસ ચીતરીને કરેલી છે.

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રી મહાવીરસ્વામીના જન્મ સમયે જગતમાં કેવું વાતાવરણ હતું તેનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૭. પ્રતના પાના ૪૪નો આંકવાળો ભાગ: ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના ચોવીસમા ભવની, મધ્ય ભાગમાં પચ્ચીસમા ભવ અને નીચેના ભાગમાં છવ્વીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે.

મધ્ય હાંસિયામાં ભૂમિતિની સુંદર આકૃતિ ચીતરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરને સાધુ-અવસ્થામાં બંને કાનમાં ખીલા ઠોકીને ગોવાળિયાએ કરેલા ઉપસર્ગનો પ્રસંગ અને નીચેના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પગની પાસે ખીર રાંધતા ગોવાળિયાના પ્રસંગની રજૂઆત કરેલી છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે એક બેઠેલો પુરુષ, સાધુને આહાર આપતી એક સ્ત્રી, સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા તથા બંને હાથની અંજલિ જોડીને બેઠેલા બે ગૃહસ્થો તથા બે સ્ત્રીઓની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે ઊભેલા ત્રણ ઘોડાઓ તથા ત્રણ હાથીઓ ચીતરેલા છે.

આ પાનાની મધ્યમાં પણ પ્રભુ મહાવીરના જન્મને લગતું જ વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૮. પ્રતના પાના ૬૭નો પ્રથમ ભાગ: ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં અરવિંદ રાજાની રજૂઆત કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવના માતાપિતાનો પ્રસંગ છે. નીચેના ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના આઠમા ભવનો પ્રસંગ ચીતરેલો છે.

ઉપરની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવની રજૂઆત સુંદર રીતે કરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયામાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના બીજા, ત્રીજા અને ચોથા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

નીચેની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પાંચમા, છઠ્ઠા અને સાતમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

૯. પ્રતના પાના ૬૭નો આંકવાળો ભાગ: ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ શ્રીપાર્શ્વનાથજીના તીર્થંકરના ભવના માતાપિતા અશ્વસેન રાજા તથા વામાદેવી રાણીની રજૂઆત કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના નવમા ભવના દેવવિમાનની તથા નીચેના ભાગમાં કમઠના નરકાવાસમાં ઉત્પન્ન થયેલા પ્રસંગની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે.

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર ચિત્રાકૃતિઓ ચીતરેલી છે.

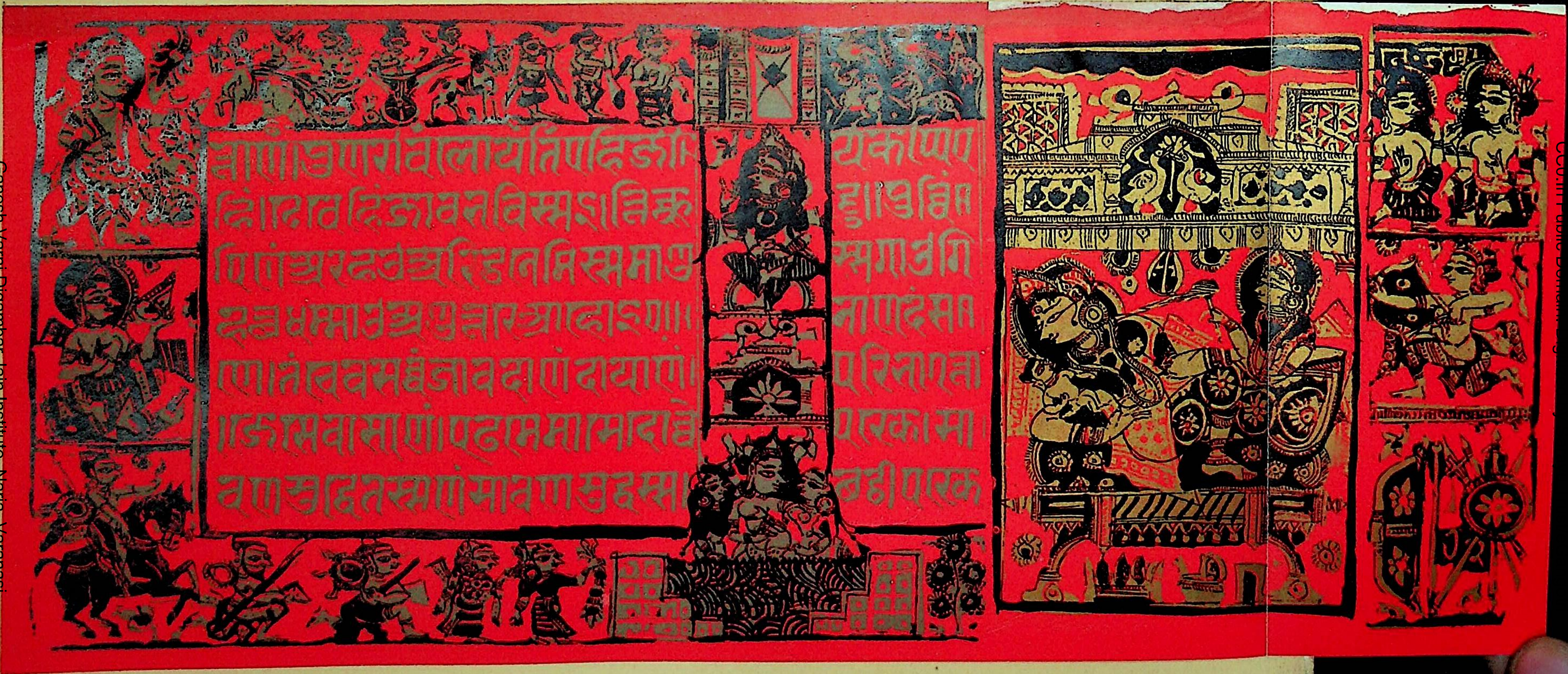

चित्र १. श्री नेमिनाथजीनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પંચાગ્નિ તપ તપતો કમઠ તાપસ અને તેની બાજુમાં જ લાકડું ચીરીને બળતો સર્પ કાઢતો શ્રીપાર્શ્વકુમારનો સેવક ઊભેલો છે. મધ્ય ભાગમાં હાથી ઉપર બેસીને શ્રીપાર્શ્વકુમાર તથા રાણી પ્રભાવતી વારાણસી નગરી તરફ જતાં દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં ઝાડી બતાવીને વારાણસી નગરીની બહારનું ઉદ્યાન રજૂ કરેલું છે.

ઉપરની કિનારમાં એક બેઠેલો પુરુષ અને છ હંસપક્ષીઓની હાર ચીતરેલી છે. નીચેની કિનારમાં એક કેસરીસિંહ તથા વેલબુટ્ટાની સુંદર કલાકૃતિ રજૂ કરેલી છે.

પાના ૬૭ની બંને બાજુએ પ્રભુ શ્રીપાર્શ્વનાથના ચ્યવન અને જન્મકલ્યાણકને લગતું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે.

૧૦. પ્રતના પાના ૭૩નો પ્રથમ ભાગ: ડાબી બાજુના હાંસિયામાં ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ શ્રીનેમિનાથજીના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવના, મધ્ય ભાગમાં બીજા ભવના અને નીચેના ભાગમાં ત્રીજા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના ચોથા ભવના અને મધ્ય ભાગ તથા નીચેના ભાગમાં પાંચમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં છઠ્ઠા ભવના, મધ્ય ભાગમાં સાતમા ભવના અને નીચેના ભાગમાં આઠમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે ચાર હાથી અને પાંચ કેસરીસિંહની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે ગૃહસ્થ યુગલ, યશોમતી રાણીની બંને બાજુની એકેક પરિચારિકા, એક દંપતી યુગલ, એક સ્ત્રી તથા એક પુરુષ બેઠેલાં છે.

પાનાની મધ્યમાં સોનાની શાહીથી પ્રભુશ્રી નેમિનાથજીના જન્મનું વર્ણન લખેલું છે.

૧૧. પ્રતના પાના ૭૩નો આંકવાળો ભાગ: આ પાનામાં શ્રીનેમિનાથજીના તીર્થંકરના ભવના મુખ્ય મુખ્ય જીવન–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે (જુઓ ચિત્ર નં. ૧).

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં શ્રીનેમિકુમારે લંબાવેલા હાથને વાળવા જતાં વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ લટકી રહેલા દેખાય છે. હાંસિયાના મધ્ય ભાગમાં શ્રીનેમિકુમાર શ્રીકૃષ્ણની આયુધશાળામાં જઈ ને શંખ ફૂંકતા દેખાય છે. હાંસિયાના નીચેના ભાગમાં એક ઘોડેસવાર જતો દેખાય છે.

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં લગ્નની ચોરી રજૂ કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પરણવા આવતા નેમિકુમારની રાહ જોતી રાજુલ રાજકુમારી બેઠેલી છે. નીચેના ભાગમાં શ્રીનેમિકુમાર કૃષ્ણ વાસુદેવની રાણીઓ સાથે જલક્રીડા કરતા દેખાય છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં શ્રીકૃષ્ણ વાસુદેવ તથા ઇંદ્ર બેઠેલા છે. મધ્ય ભાગમાં શ્રીનેમિકુમાર સારંગ ધનુષ્ય વાળતા દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં વાસુદેવનાં આયુધો ચીતરેલાં છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે રથ પાછો વાળતા અને રથમાં બેસીને જતા શ્રીનેમિકુમાર દેખાય છે. રથની આગળ બે શરણાઈઓ વગાડનારા તથા એક પુરુષ ઊભેલો છે. તેની આગળ લગ્નની ચોરી છે. ચોરીની બાજુમાં પક્ષીઓ તથા પશુઓ પોકાર પાડતાં દેખાય છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે બે પદાતિ સૈનિકો, બે સ્ત્રીઓ, પાણીની વાવ તથા એક વૃક્ષ ચીતરેલું છે.

પાનાની મધ્યમાં સોનાની શાહીથી શ્રીનેમિનાથજીના જીવનનું વર્ણન લખેલું છે.

૧૨. પ્રતના પાના ૮૨નો પ્રથમ ભાગઃ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ શ્રીઋષભદેવના પૂર્વભવો પૈકીનો પહેલા ભવનો પ્રસંગ, મધ્ય ભાગમાં બીજા ભવનો પ્રસંગ, તથા નીચેના ભાગમાં ત્રીજા ભવના ચિત્ર–પ્રસગો રજૂ કરેલા છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે પૂર્વભવો પૈકીના ચોથા ભવના, પાંચમા ભવના, છઠ્ઠા ભવના અને સાતમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

મધ્ય હાંસિયાના મધ્ય ભાગમાં આઠમા ભવના અને નીચેના ભાગમાં નવમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે.

દશમા અને અગિયારમા ભવના ચિત્ર–પ્રસંગો ઉપરની કિનારમાં જ રજૂ કરેલા છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુના અગિયારમા ભવનો જ ચિત્ર–પ્રસંગ અને મધ્ય ભાગમાં પ્રભુના છ યે મિત્રોની રજૂઆત કરેલી છે. નીચેના ભાગમાં બારમા ભવનો ચિત્ર–પ્રસંગ રજૂ કરેલો છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે ચાર પુરુષો બેઠેલા છે, પછી એક ગાય છે. ગાયની બાજુમાં બે ઘડા છે. ઘડાની બાજુમાં એક સ્ત્રી પલંગમાં સૂતેલી છે. સ્ત્રીની બાજુમાં એક સ્ત્રી પરિચારિકા અને બે પુરુષો બેઠેલા છે.

પાનાની મધ્યમાં સોનાની શાહીથી પ્રથમ તીર્થંકર શ્રીઋષભદેવ પ્રભુના ચ્યવનનું તથા સ્વપ્નનું વર્ણન લખેલું છે.

૧૩. પ્રતના પાના ૮૨નો આંકવાળો ભાગ : આ પાનામાં પ્રભુ શ્રીઋષભદેવના તીર્થંકરના ભવના મુખ્ય મુખ્ય જીવન–પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે (જુઓ ચિત્ર નં. ૨).

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ત્રણે ભાગોમાં પ્રભુનો પ્રથમ રાજા તરીકે સૌધર્મેન્દ્ર તથા યુગલિયાઓ રાજ્યાભિષેક કરે છે તેને લગતા ચિત્ર–પ્રસંગોની રજૂઆત કરેલી છે.

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર વેલબુટ્ટીઓ ચીતરેલી છે.

ઉપરની કિનારમાં ઇંદ્રિ, પ્રભુનું લગ્ન સુનંદાની સાથે કરતા દેખાય છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં સામે બેઠેલી બ્રાહ્મીને શ્રીઋષભ લિપિઓનું જ્ઞાન અને સુંદરીને ગણિતનું શિક્ષણ આપતા રજૂ કરેલા છે. મધ્ય ભાગમાં હાથી ઉપર બેઠેલા શ્રીઋષભ કુંભકારની કળા પ્રગટ કરતા દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં એક યુગલિક દંપતી રજૂ કરેલું છે.

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે એક હંસ, એક પુરુષ, સ્થાપનાચાર્ય, એક પુરુષ અને બે યુગલિક દંપતી રજૂ કરેલાં છે.

પાનાની મધ્યમાં સોનાની શાહીથી શ્રીઋષભદેવ પ્રભુના જન્મનું વર્ણન લખેલું છે.

૧૪. કાલકકથાના પાના એકનો પ્રથમ ભાગ : આર્યકાલકના જીવન–પ્રસંગો :

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં આર્યકાલકના જન્મનો પ્રસંગ રજૂ કરેલો છે. મધ્ય ભાગમાં આર્યકાલકની માતા રાણી સુરસુંદરી બેઠેલી છે. નીચેના ભાગમાં વૈરિસિંહ રાજા તથા રાણી સુરસુંદરી–કાલકકુમારના માતપિતા–બેઠેલાં છે.

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર કલ્પનાકૃતિ રજૂ કરેલી છે.

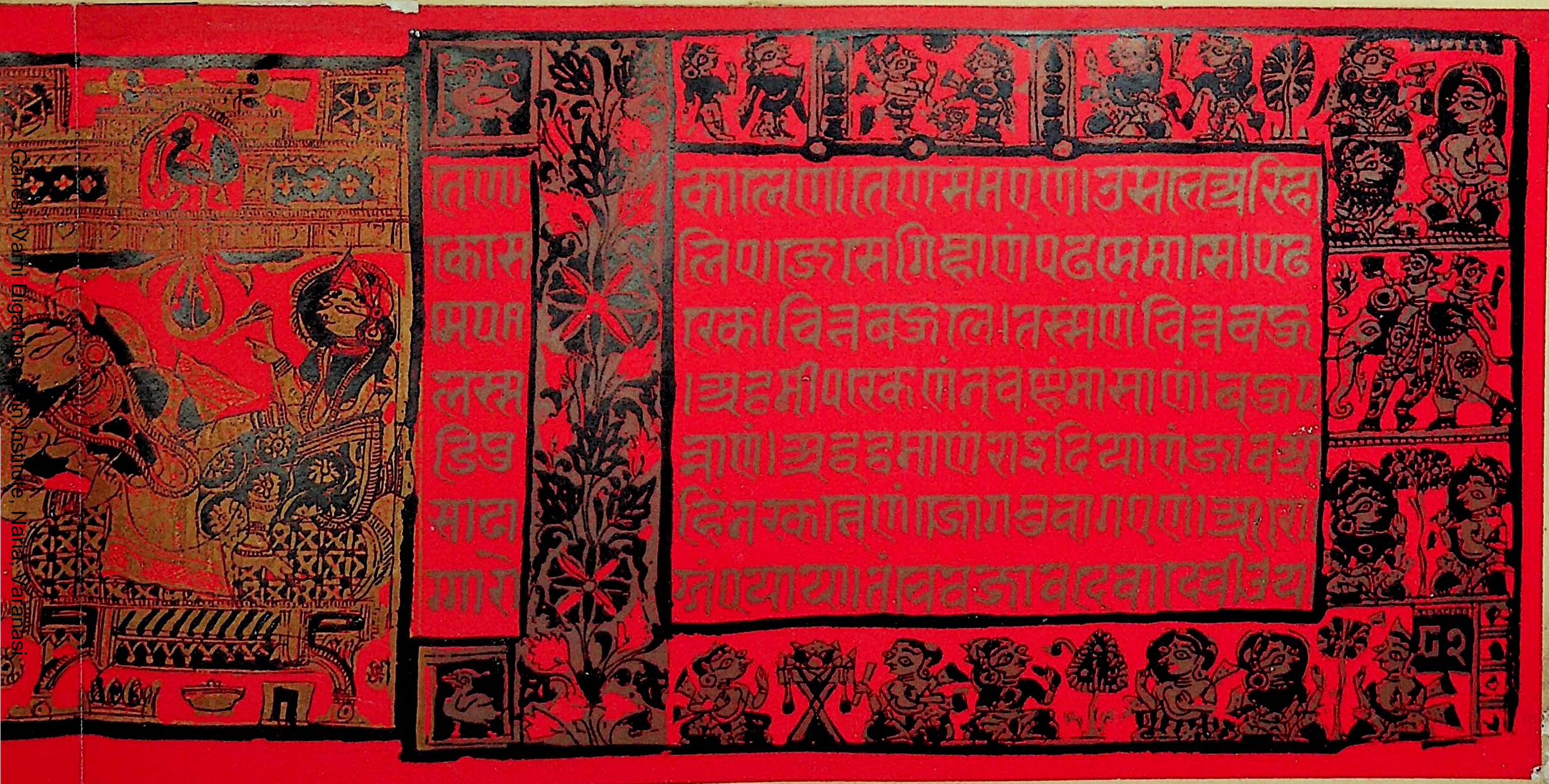

चित्र २. श्री ऋषभदेवनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં રાજકુમારી સરસ્વતી એક પરિચારિકા સાથે વૃક્ષ નીચે ઊભેલી છે. મધ્ય ભાગમાં ગર્દભિલ્લ રાજા ઘોડા પર બેસીને જતો દેખાય છે. નીચેના ભાગમાં એક સ્ત્રીની રજૂઆત કરેલી છે.

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે ૭ સ્ત્રીઓ, એક દંપતી યુગલ, એક પુરુષ, એક પુરુષ અને એક ભૂમિતિની આકૃતિ ચીતરેલી છે.

નીચેની કિનારમાં બે પુરુષો, એક વૃક્ષ, ચાર સ્ત્રીઓ, એક પુરુષ, એક સ્ત્રી, એક પુરુષ અને એક સ્ત્રી બેઠેલાં છે.

પાનાની મધ્યમાં “श्री वीर वाक्यानुमतं सुपर्व्वं” થી શરૂ થતી ‘કાલકકથા’[2] સોનાની શાહીથી લખેલી છે.

૧૫. કાલકકથાના પાના એકનો આંકવાળો ભાગ :

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં દર્પણકન્યા તથા નીચેના ભાગમાં શુકકન્યા હાથમાં પોપટ લઈને ઊભેલી છે.

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર કલ્પનાકૃતિ ચીતરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં શુકકન્યા ઊભેલી છે અને નીચેના ભાગમાં ચામરકન્યા હાથમાં ચામર પકડીને ઊભેલી છે.

ઉપર અને નીચેની કિનારમાં સુંદર કલ્પનાકૃતિઓ છે.

ઉપરોક્ત ૧થી ૧૫ પાનાંઓ મારા તરફથી ઈ૦ સ૦ ૧૯૫૪માં ‘કલ્પસૂત્રનાં સોનેરી પાનાંઓ તથા ચિત્રો’ના નામથી માત્ર સવાસો નકલોની મર્યાદિત આવૃત્તિમાં હૂબહૂ સોનેરી શાહીમાં છપાવવામાં આવેલી હતી, જે લગભગ અપ્રાપ્ય થવાની તૈયારીમાં છે.

વળી દરેક માણસ તે કૃતિ મેળવી શકે નહિ અને આવી સુંદર કલાકૃતિવાળી હસ્તપ્રત તરફ કલારસિકોનું ધ્યાન ખેંચવાની એકમાત્ર મહેચ્છાથી આ નાનો લેખ લખવા હું ઉદ્યુક્ત થયો છું; અને આશા રાખું છું કે આ લેખ વાંચીને જૈન ભાઈઓ તથા આ લેખ વાંચનાર કલારસિકોને અમદાવાદ આવવાનો પ્રસંગ બને ત્યારે ઉપરોક્ત બંને સુવર્ણાક્ષરી હસ્તપ્રતોની અંદર સંગ્રહાયેલી કળાલક્ષ્મીનું દર્શન કરે.

પ્રાંતે, આ સામળાની પોળવાળી હસ્તપ્રતની મને સૌથી પ્રથમ જાણ કરવા માટે વિદ્વદ્વર્ય ગુરુદેવ શ્રીપુણ્યવિજયજીનો અને શ્રીપાર્શ્વચંદ્રગચ્છના ઉપાશ્રયે તે વખતે બિરાજતા પૂજ્ય શ્રીવૃદ્ધિચંદ્રજીનો આભાર માનવાની આ તક લઉં છું.

---

[2] કાલિકાચાર્ય સંબંધી જુદા જુદા જૈનાચાર્યોએ રચેલી ૩૬ કાલકકથાઓ ૮૮ ચિત્રો સાથે ‘કાલકકથાસંગ્રહ’ નામના ગ્રંથમાં મારા તરફથી પ્રસિદ્ધ થયેલ છે.

ચિત્ર–પરિચય

૧ : કેટલાક પ્રાચીન જૈન શિલ્પો

ચિત્ર નં. ૧ : રાજગૃહી વૈભારગિરિ ઉપરની ગુપ્તકાલીન પ્રતિમા : આ પ્રતિમા ઉપર ભગવાનના આસનની નીચે જે જીર્ણ લેખ છે તે ગુપ્તકાલીન બ્રાહ્મીમાં લખાયેલો છે અને તેમાં ચંદ્રગુપ્તનું નામ છે. શ્રી રમાપ્રસાદ ચંદાજીના મતે એ ગુપ્ત રાજવી ચંદ્રગુપ્ત બીજાના સમયનો લાગે છે. શ્રી રમાપ્રસાદની આ ધારણા યોગ્ય જ છે કેમકે કળાની દૃષ્ટિએ પણ આ પ્રતિમાને ઈ. સ. ના પાંચમા સૈકાની શરૂઆતમાં મૂકી શકાય. જો કે શ્રી રમાપ્રસાદ ચંદાજીએ એને શ્રી નેમિનાથજીની યુવાનીની આકૃતિ ધારેલી તે વ્યાજબી નથી. સદર પ્રતિમાની નીચેના ભાગમાં સિંહાસનની મધ્યમાં ચક્રપુરુષની ઊભી સુંદર આકૃતિ છે. ગુપ્તકાળમાં આવી ચક્રપુરુષની પ્રથા શરૂ થઈ. વચમાં ધર્મચક્રને સ્થાને ચક્રપુરુષ (પાછળ ચક્ર સાથે) મૂકી તેની બે બાજુએ એક એક શંખની આકૃતિ છે. ધર્મચક્રની બે બાજુએ આમ લાંછન મૂકવાની પ્રથા પાછળથી ચાલુ રહી નહિ. સાથે બે મૃગ મૂકી એને આસનમાં બીજી જગાએ મૂકવામાં આવ્યું.

તીર્થંકરોનાં લાંછનોની પ્રથા ગુપ્તકાળમાં શરૂ થઈ લાગે છે, ને ઉપલબ્ધ લાંછનયુક્ત પ્રતિમાઓમાં આ સૌથી જૂની છે. કલ્પસૂત્રમાં લાંછનોની યાદી નથી, તેમ જ મથુરાના કંકાલીટીલાની ઈ. સ. ના પહેલા-બીજા સૈકાની પ્રતિમાઓમાં પણ લાંછનો દૃષ્ટિગોચર થતાં નથી; એટલે અત્યારે તો રાજગૃહીની આ પ્રતિમા જૈન મૂર્તિશાસ્ત્રના અભ્યાસની દૃષ્ટિએ એક ઐતિહાસિક સીમાચિહ્ન રૂપ છે. ચક્રપુરુષની આકૃતિ ગુપ્તકાલીન શિલ્પકળાનો એક અતિ સુંદર નમૂનો છે.

ચિત્ર નં. ૨ : રાજગૃહીની સોનભંડાર ગુફામાંના ચોમુખજીની મૂર્તિ : આ પ્રતિમાની છબીમાં શ્રીસંભવનાથજીની કાયોત્સર્ગ પ્રતિમાના દર્શન થાય છે આસનમાં ધર્મચક્રની બેઉ બાજુએ અશ્વ–લાંછન છે. આ પ્રતિમા ઈ. સ.ના સાતમા–આઠમા સૈકાની હોય એમ લાગે છે. પણ લાંછનની બે બાજુએ હરિણ મૂકવાની પ્રથા આ યુગમાં શરૂ થઈ દેખાતી નથી. આ ચૌમુખજીની બીજી બાજુએ અજીતનાથજી વગેરેની પ્રતિમાઓ છે.

ચૌમુખજીની પ્રતિમા આ ગુફામાં પાછળથી પ્રતિષ્ઠિત થઈ લાગે છે. મૂળ આ સોનભંડાર ગુફા શ્રીવજ્રસ્વામીએ કોતરાવી હતી. સોનભંડાર ગુફામાં બે લીટીમાં કોતરેલા એક લેખમાં જણાવ્યું છે કે દીર્ઘ તેજયુક્ત આચાર્યરત્ન મુનિ વૈરદેવે તપસ્વીને રહેવાયોગ્ય અર્હતની પ્રતિષ્ઠાયુક્ત બે ગુફાઓ નિર્વાણ લાભાર્થે બનાવડાવી. આ દીર્ઘ તેજયુક્ત આચાર્યરત્ન વૈરદેવ તે વજ્રસ્વામી જ હોઈ શકે.

ચિત્ર નં. ૩ : શ્રીજિનભદ્ર વાચનાચાર્ય પ્રતિષ્ઠિત શ્રીઋષભદેવની ધાતુપ્રતિમા : અકોટામાંથી પ્રાપ્ત થયેલી આ પ્રતિમા મનોહર છે. પાછળનો પરિકરનો અથવા પ્રભાવલિનો ભાગ ઉપલબ્ધ નથી. જમણી બાજુમાં યક્ષ અને અંબિકાદેવી છે. બધી જ પ્રાચીન પ્રતિમાઓમાં સર્વે તીર્થંકરોના શાસનદેવ તરીકે આ જ યક્ષ અને દ્વિભુજ અંબિકા મળે છે. ભગવાન કાયોત્સર્ગ ધ્યાને મોટા પાટ ઉપર ઊભા છે. પાટની પાછળની ધારે લેખ કોતરેલો છે. તેમાં લખ્યું છે : ૐ देव धर्मायंयिं निवृति कुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य ॥

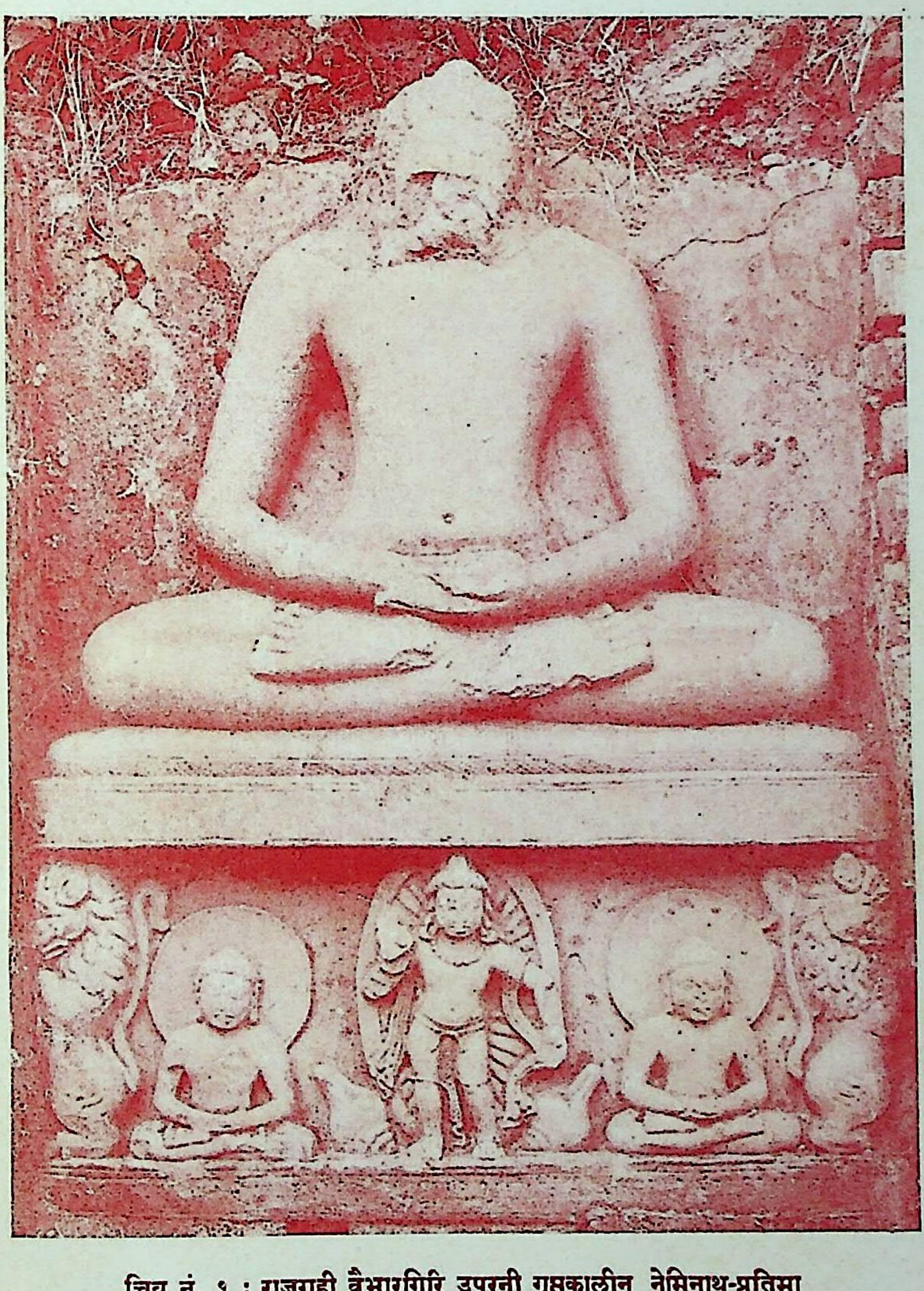

चित्र नं. १ : राजगृही वैभारगिरि उपरनी गुप्तकालीन नेमिनाथ-प्रतिमा
Image of Neminātha, Vaibhāragiri, Rājgir, c. 5th century A.D.

कॉपीराइट : आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ]

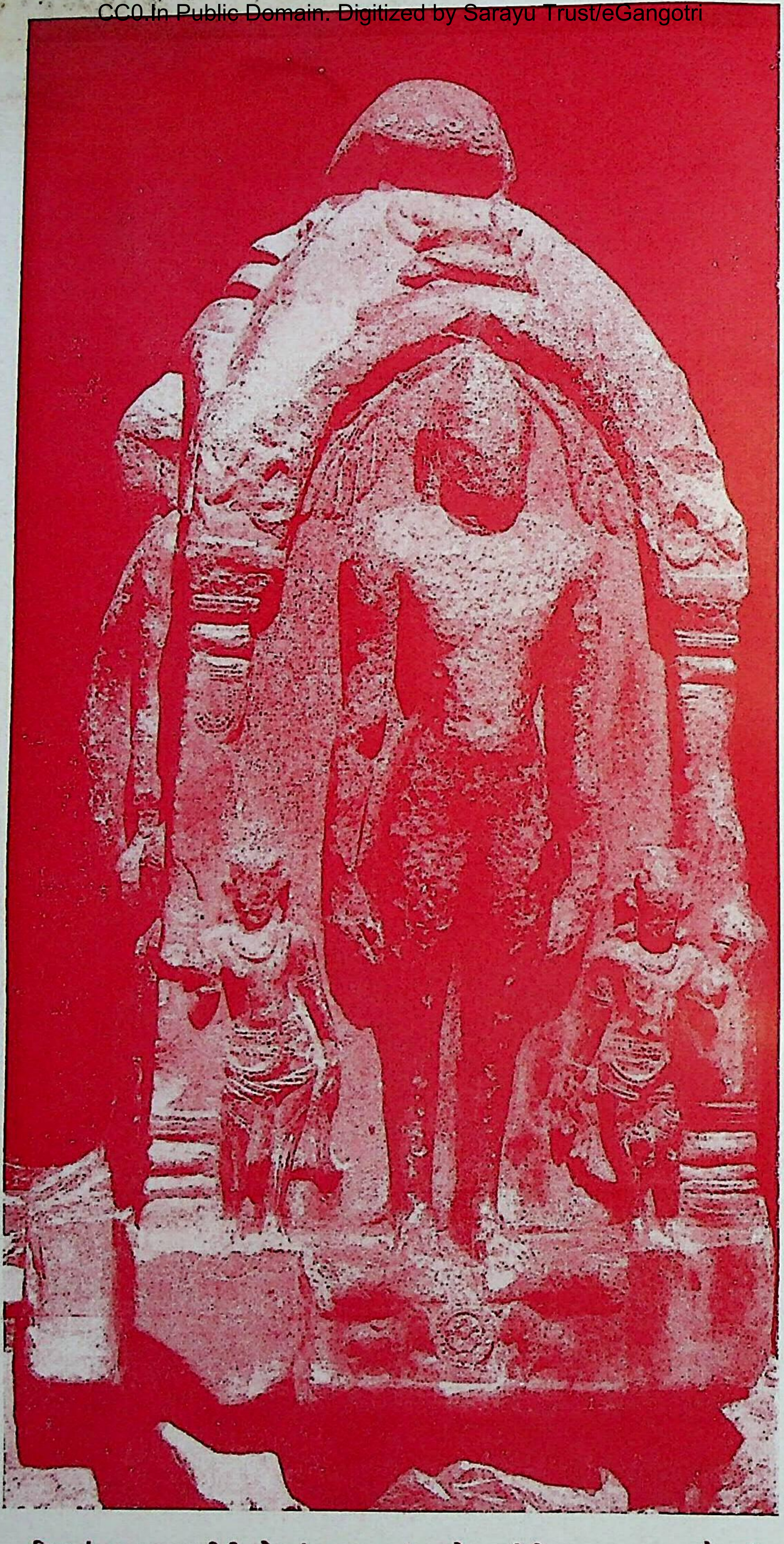

चित्र नं. २ : राजगृहीनी सोनभंडार गुफामांना चोमुखजीनी सातमा-आठमा सैकानी संभवनाथजी कार्योत्सर्ग मूर्ति

Quadruple Image of Sambhavnātha, Sonbhaṇḍār cave, Rājgir, c. 7th-8th Century

कॉपीराइट : आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ]

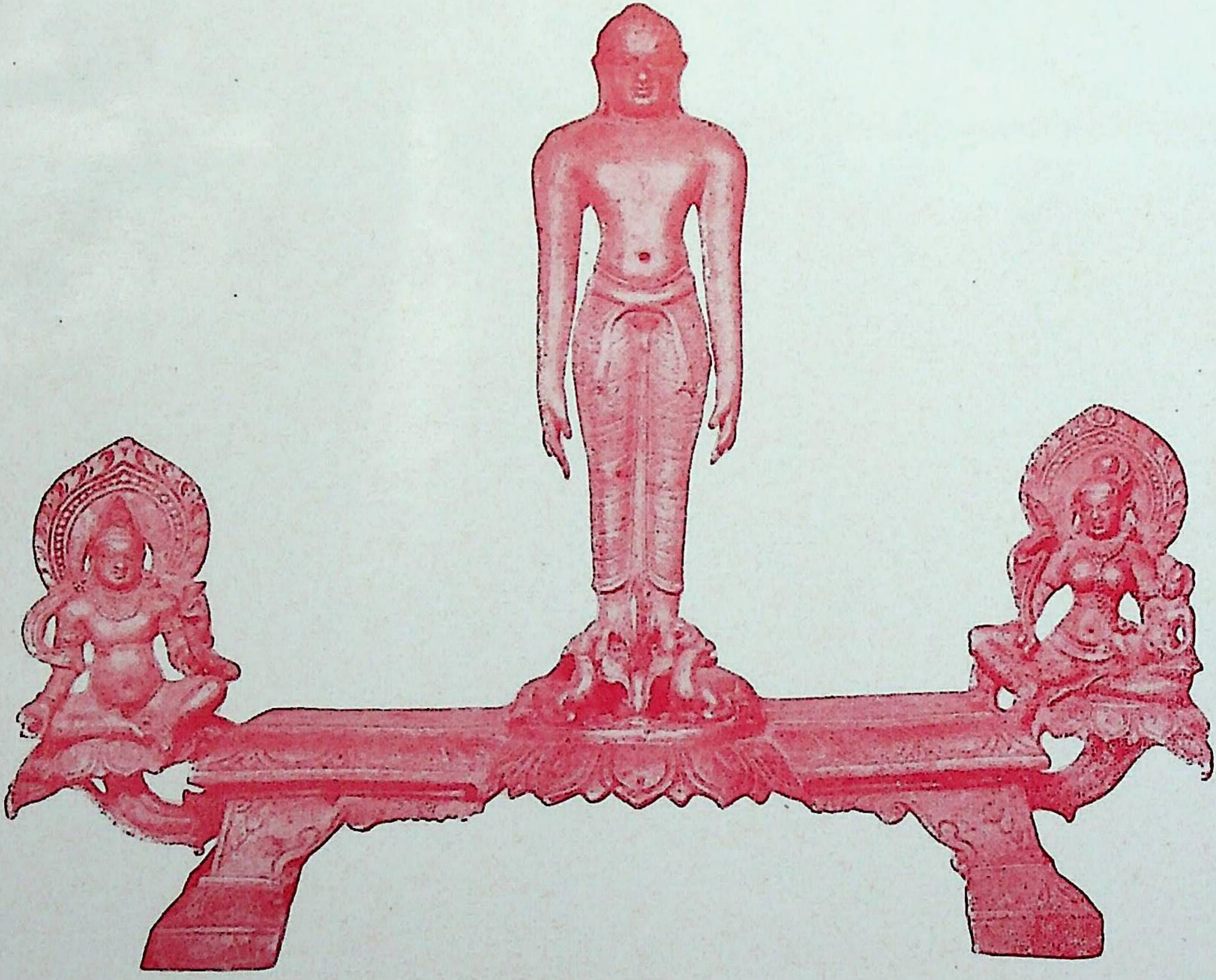

चित्र नं. ३ : ई. स. ५२५-५५० आसपासनी श्रीजिनभद्र वाचनाचार्य प्रतिष्ठित श्रीऋषभदेवनी धातुप्रतिमा

Ṛṣabhanātha from Akoṭā, Bronze, c. 525-50 A.D. Installed by Śri Jinabhadra Vācanā cārya (Jinabhadra Gaṇi Kṣamāśramaṇa)

[फोटो : डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह

वडोदरा म्युझियमना सौजन्यथी]

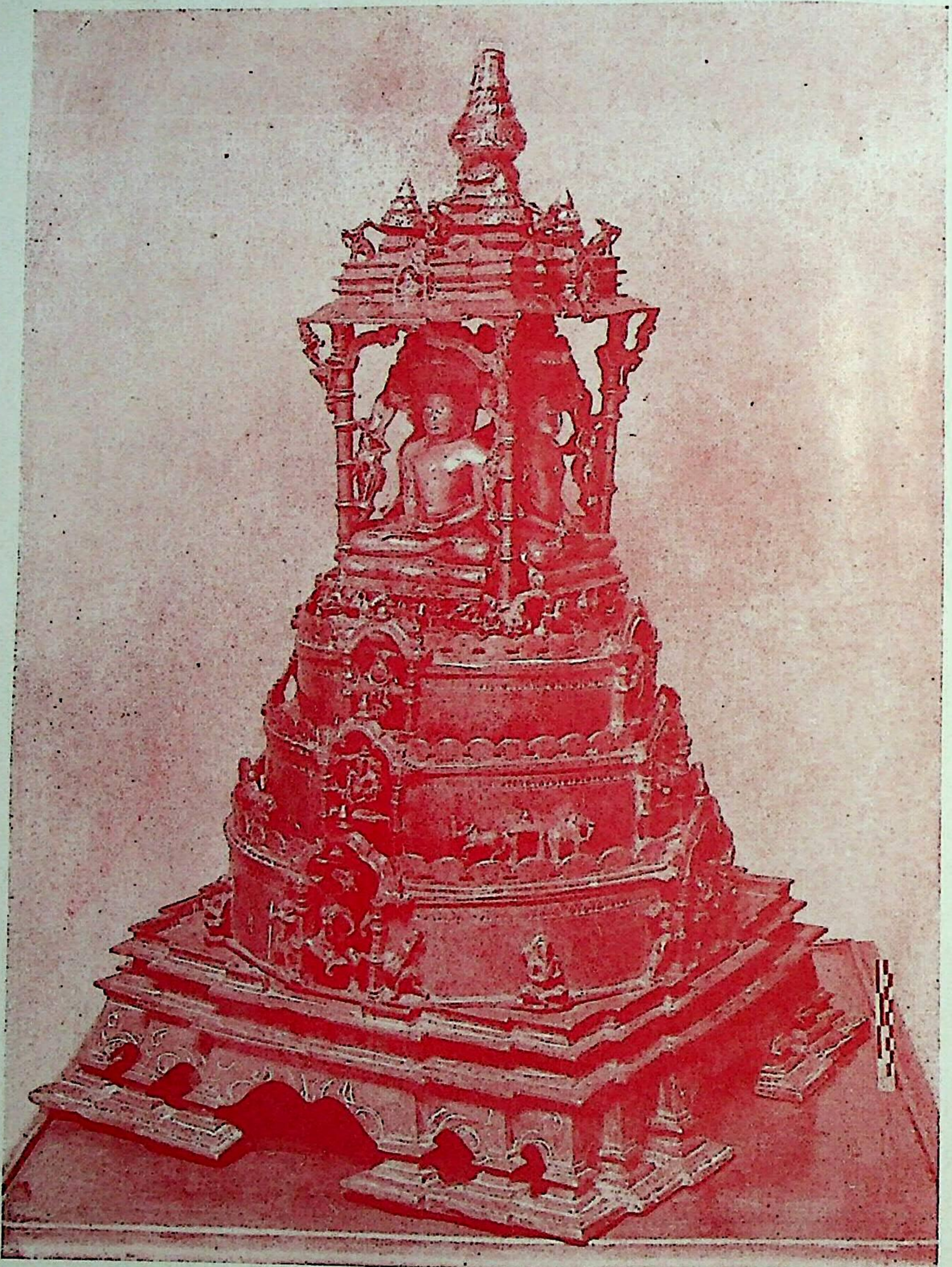

चित्र नं. ४ : ई. स. १०५३-६३ वच्चे प्रतिष्ठित थएल धातुनुं समवसरण
Bronze Sculpture of a Samavasaraṇa (c. 1053-63 A.D.) (Now in a Jaina Shrine, Surat)

फोटो : डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह]

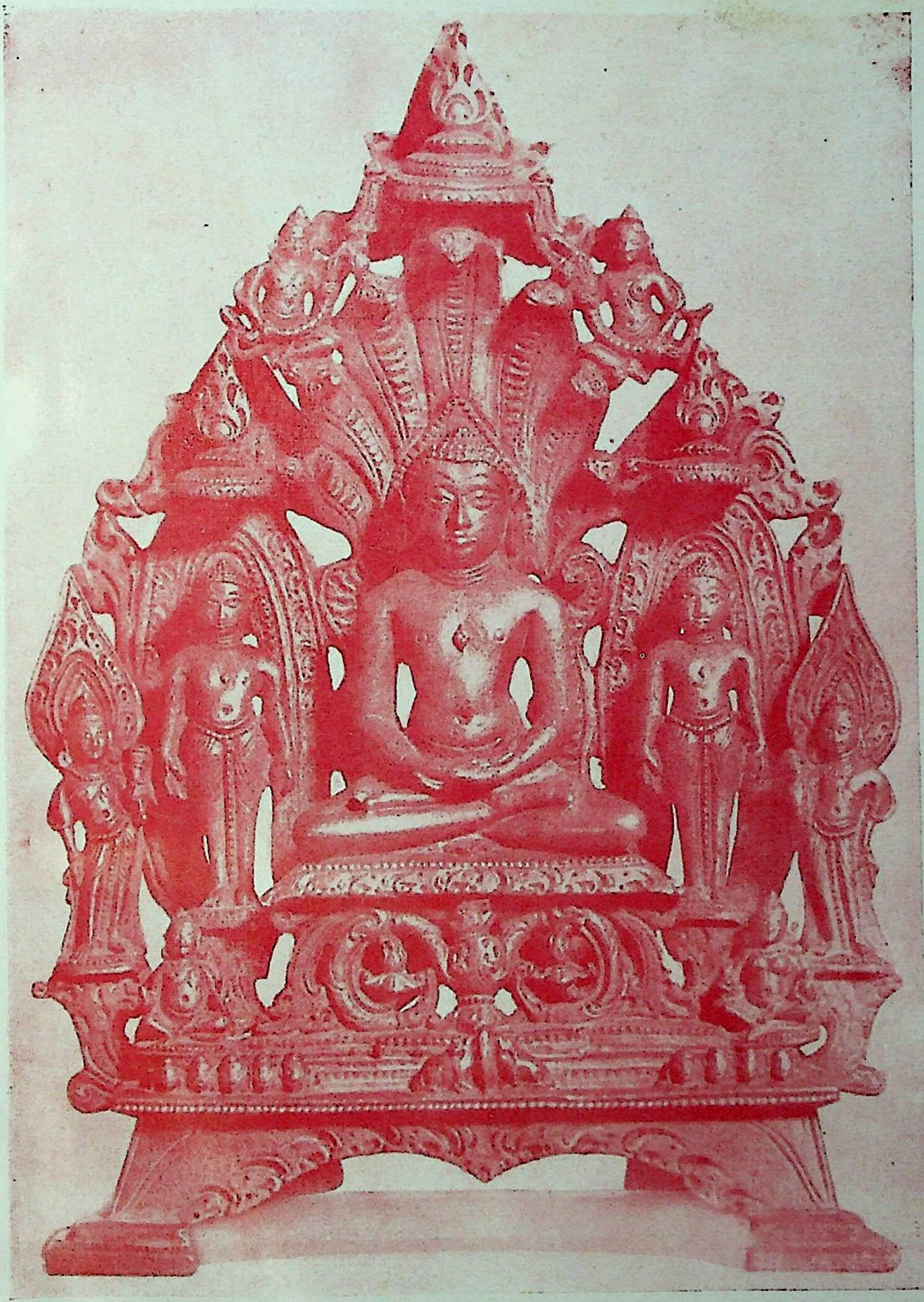

चित्र नं. ५ : लीलवादेवा पासेथी मळेली प्राचीन पश्चिम भारतीय कलानी धातुप्रतिमा,—श्रीपार्श्वनाथजीनी त्रितीर्थी
Pārśvanātha Tri-Tīrthī found near Lilvādeva, V. S. 1093

[वडोदरा म्युझियमना सौजन्यथी]

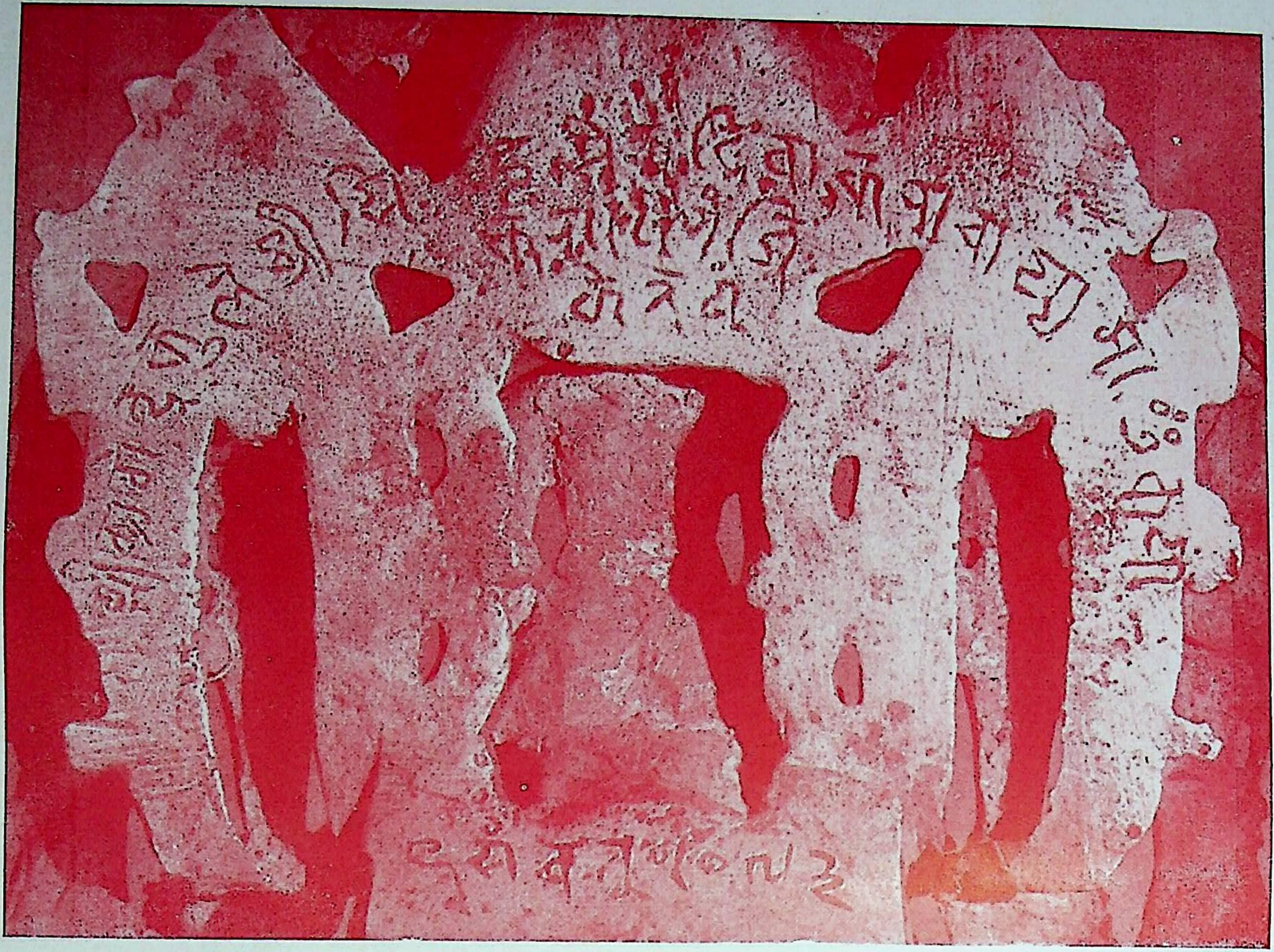

चित्र नं. ६ : लीलवादेवा पासेथी मळेल श्रीपार्श्वनाथजीनी त्रितीर्थी प्रतिमानो सं. १०९३ नो लेख
Back of Pārśvanātha Tri-Tīrthi showing inscription bearing Samvat Year 1093

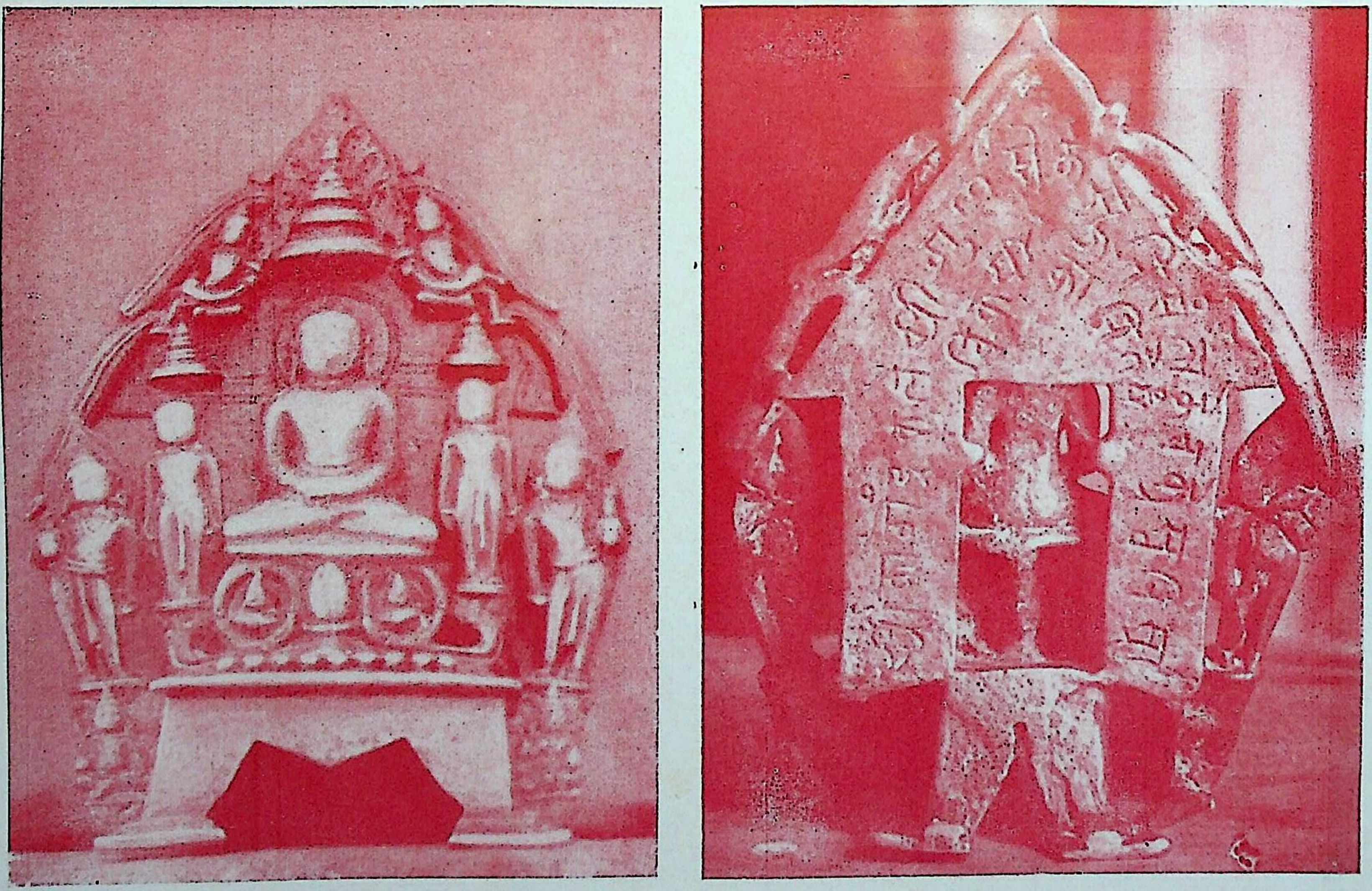

चित्र नं. ७-८ : वडोदराना दादापार्श्वजीना दहेरासरमांनी विक्रमना अगियारमा सैकाना उत्तरार्द्धनी त्रितीर्थिक धातुप्रतिमा
Tri-Tīrthi in the Dadā Pārśvanātha Temple, Baroda : Back showing inscription (c. 11th Century A.D.)

फोटो : डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह]

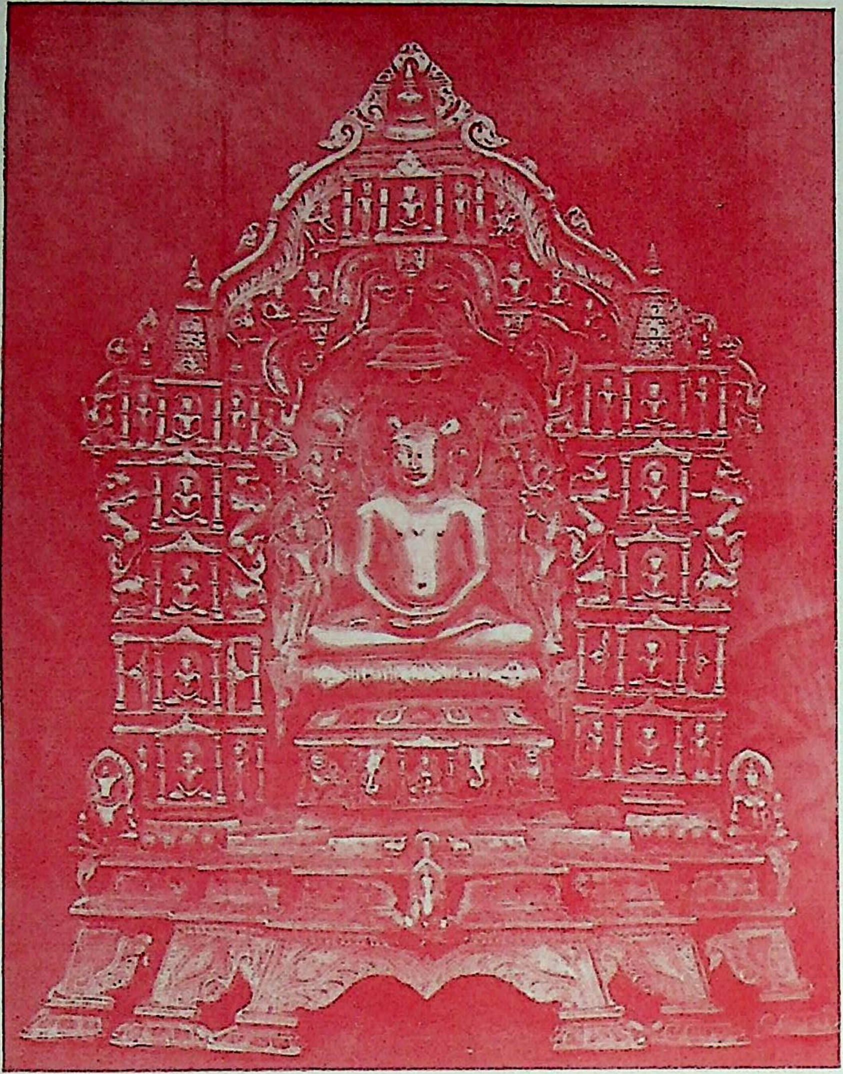

चित्र नं. ९ : ई. स. १०९४-९५मां भरायेल आदिनाथजीनी चोवीसी
Ādinātha Chovisi installed in 1094-95 A.D. (Piṇḍwādā)

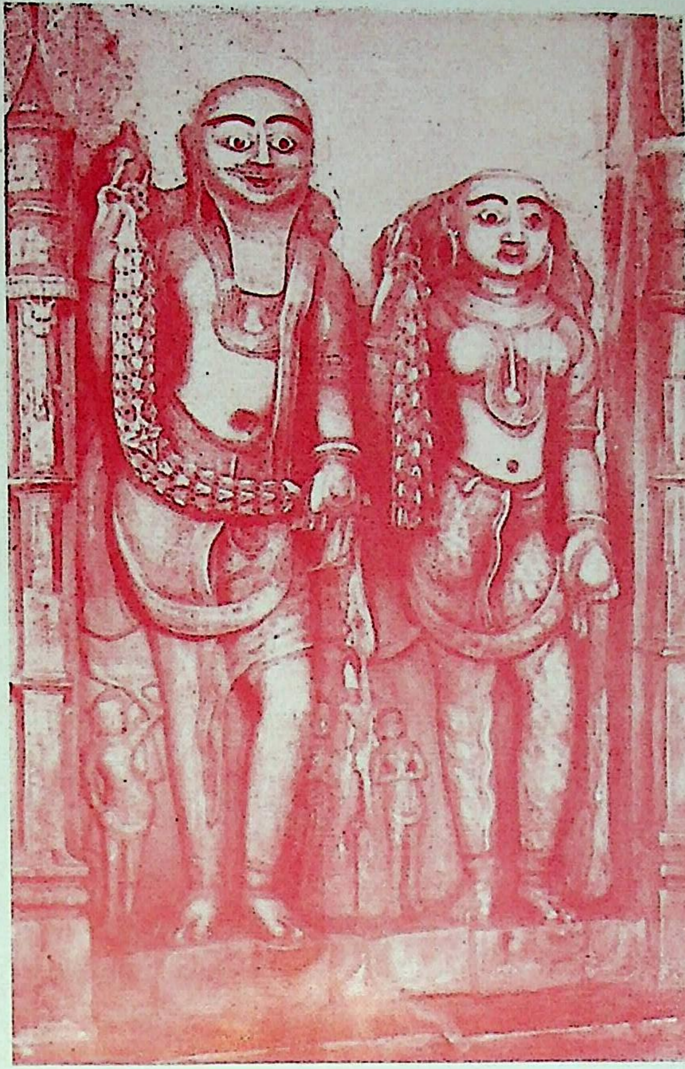

चित्र नं. १० : महाअमात्य तेजपाल तथा अनुपमादेवी
Tejpāla and Anupamādevi in Lūṇa-Vasahi (Ābu)

फोटो : डा. उमाकान्त प्रे. शाह]

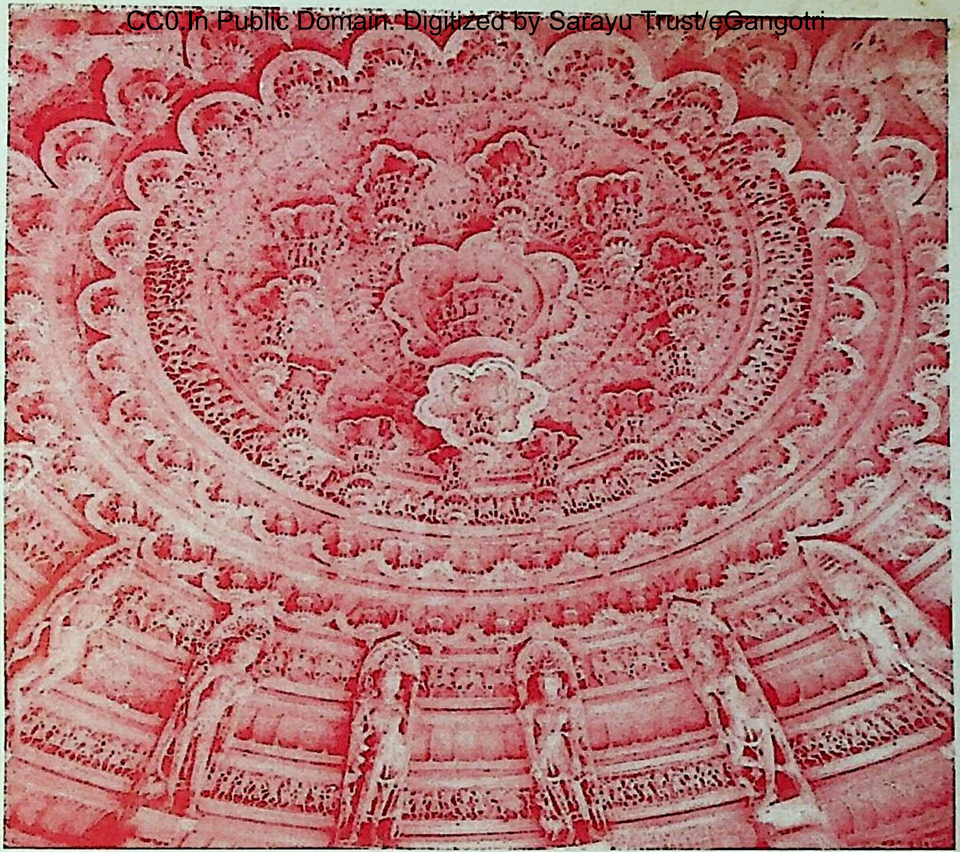

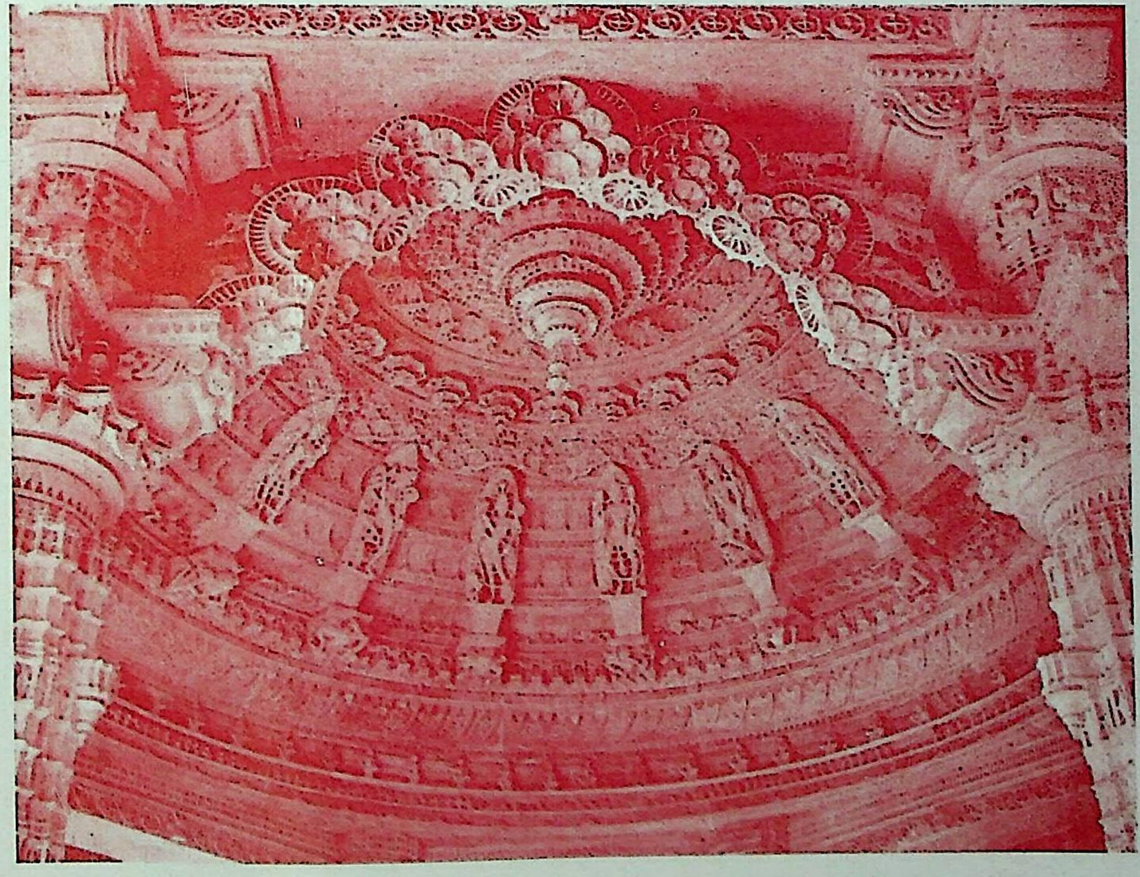

चित्र नं. ११-१२ : आबु-विमलवसही अने लूणवसहीना रंगमंडपनी छत

No. 11 : Richly carved dome with famous lotus pendent, Vimala-Vasahi
No. 12 : Ornamental pendent and arch, Lūṇa-Vasahī (Ābu)

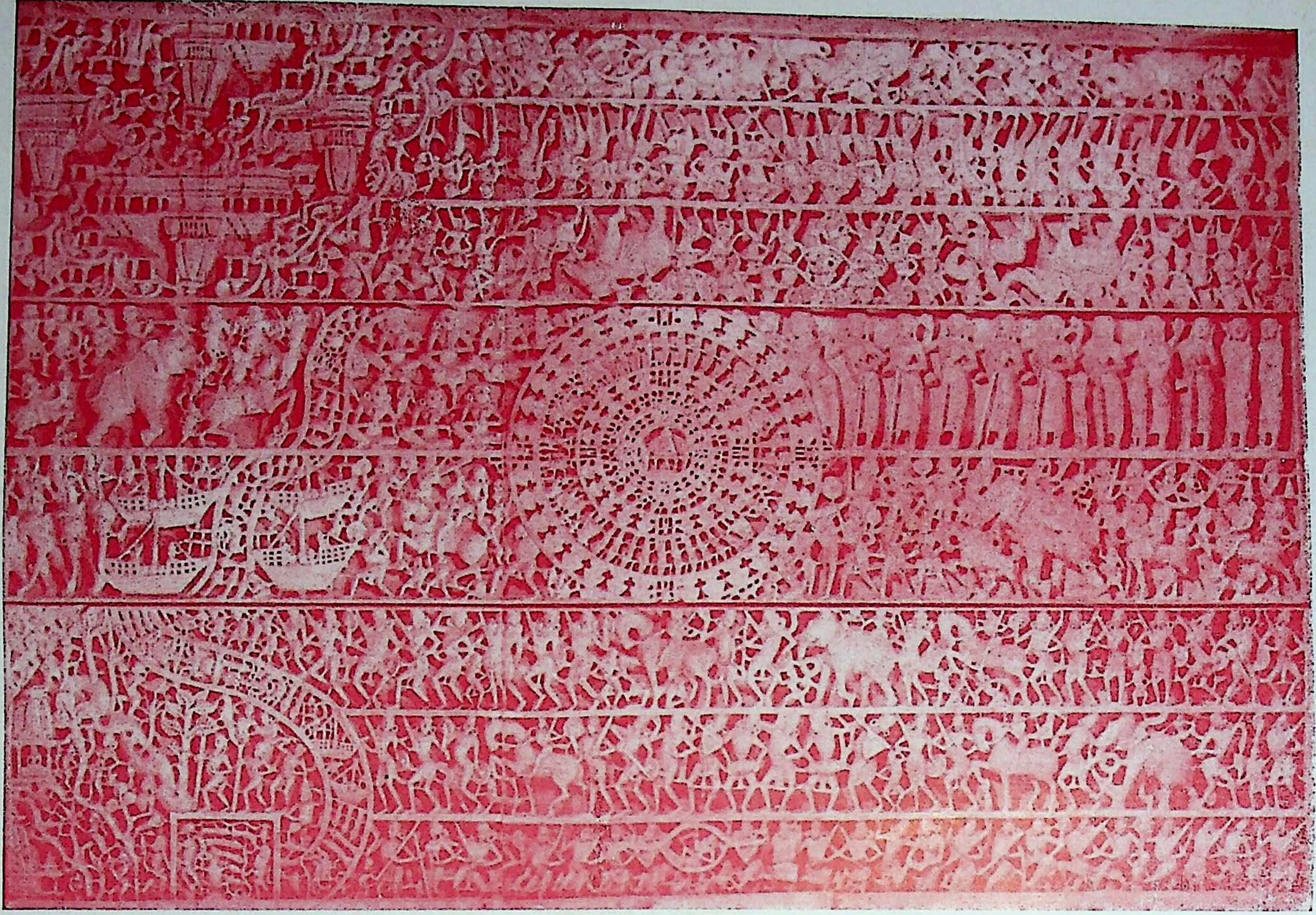

चित्र नं. १३ : आबु-लूणवसहीना छत उपर गिरनार अने द्वारिका नगरी तथा समवसरणनां दृश्यो

Relief plaque from a ceiling, Lūṇa-Vasahī (Ābu) showing port of Dvārikā, Mt. Girnār and Samavasaraṇa
13th Century

फोटो : श्री जगन महेता]

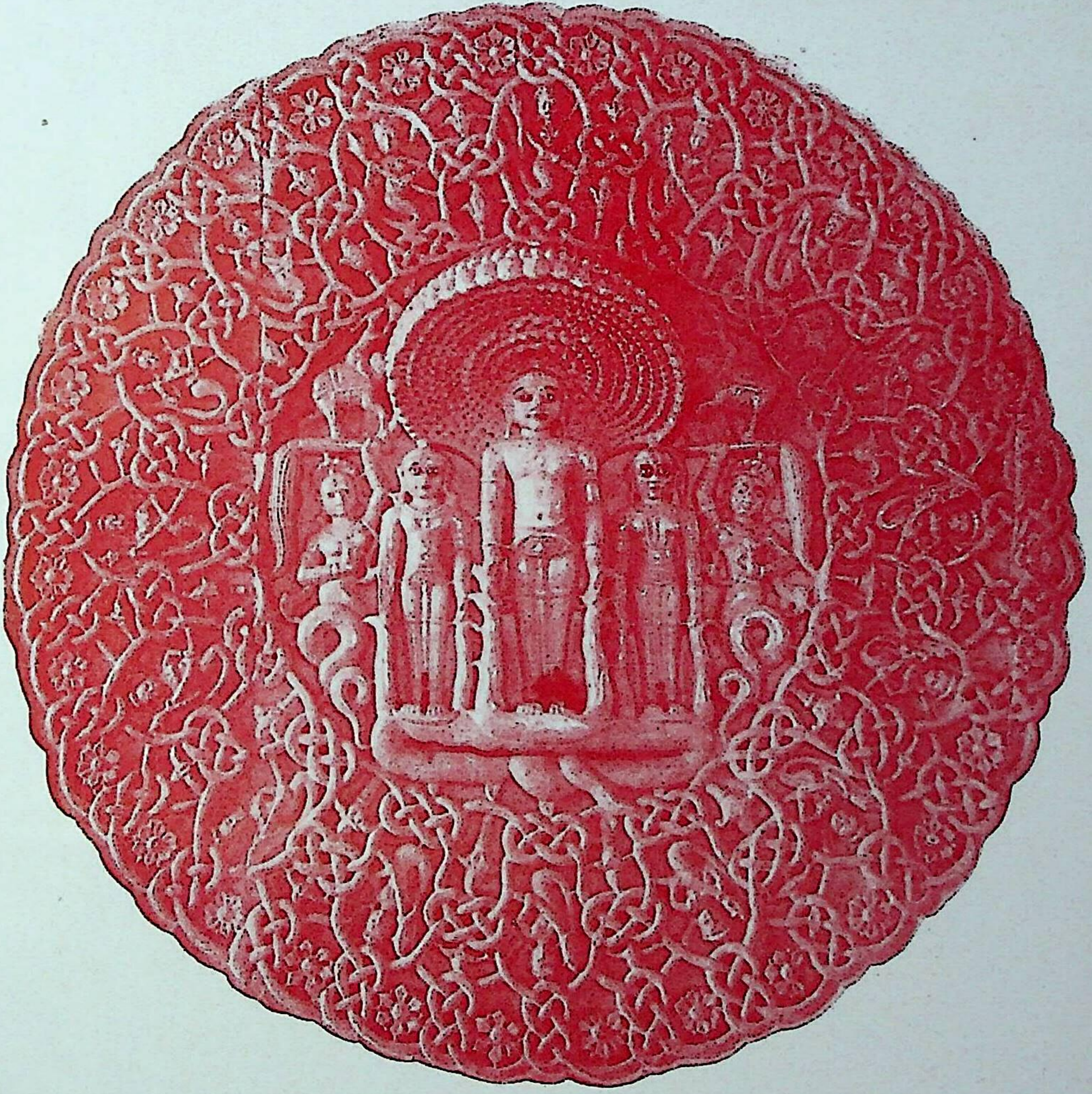

चित्र नं. १४ : राणकपुरनो सहस्त्रफणा पार्श्वनाथनो पाषाणपट

Dexterously carved image of Pārśvanātha with a canopy of a thousand snake-hoods.
Rānakpur, 19th Century

फोटो : श्री आर. भारध्वज]

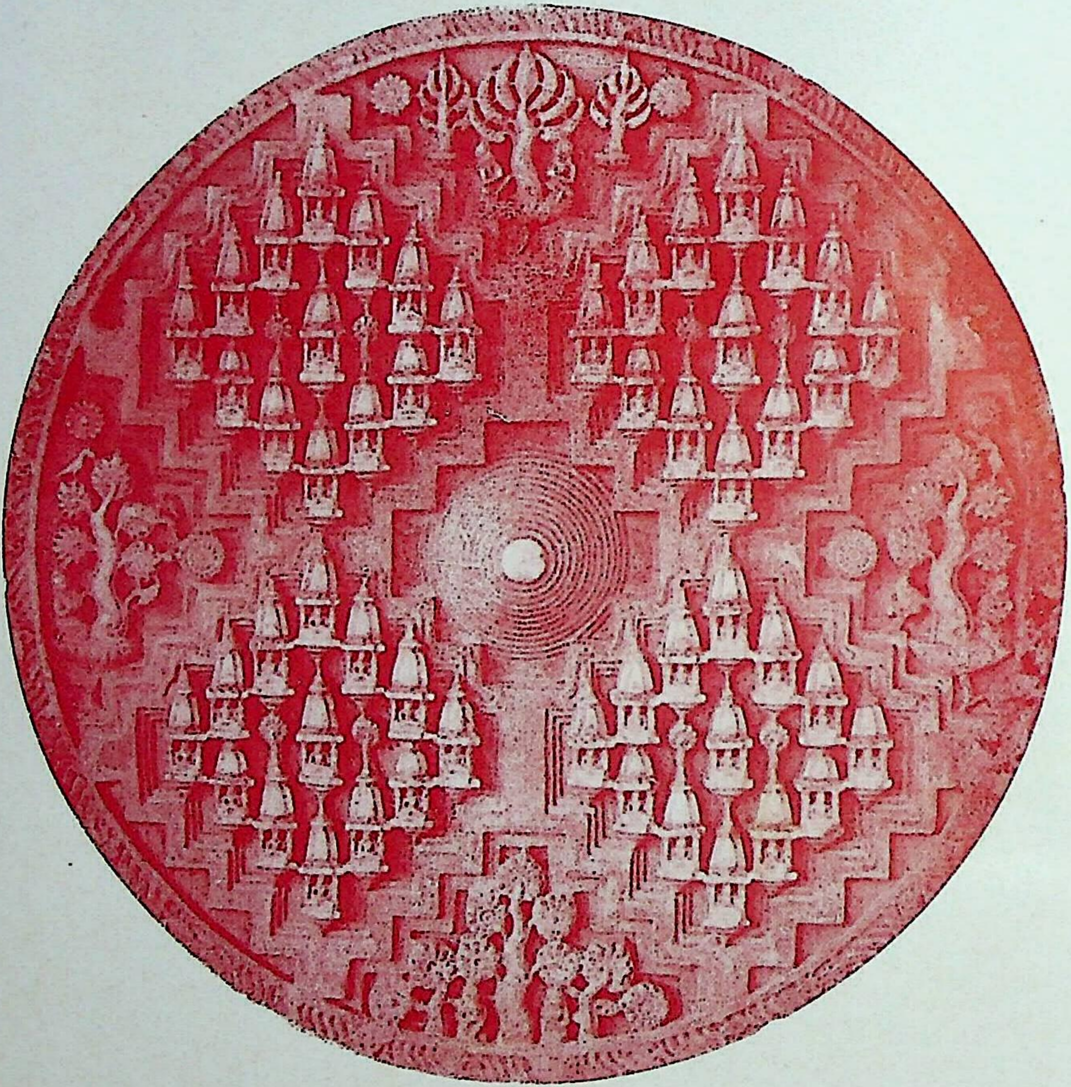

चित्र नं. १५ : राणकपुरना चौमुखजी मन्दिरना पाषाण पर कोतरेल नन्दीश्वर द्वीपनो बावन जिनालयनो पट

Marble plaque of Nandiśwardwīpa, Rāṇakpur, 15th Century

फोटो : डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह]

જૈન સત્યપ્રકાશ, વર્ષ ૧૭, અંક ૪માં આ પ્રતિમાની વિગતવાર ચર્ચા કરી આ લેખકે બતાવ્યું છે તેમ આ પ્રતિમાના સ્થાપક શ્રીજિનભદ્રવાચનાચાર્યને શ્રીજિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ તરીકે ઓળખવાને કંઈજ હરકત નથી. પ્રતિમાનો સમય ઈ. સ. ૫૨૫–૫૪૦ આસપાસ મૂકી શકાય તેમ છે, જે સમયમાં મહાન આગમિક આચાર્ય વિશેષાવશ્યક – ભાષ્યકાર શ્રીજિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ થઈ ગયા.

ગણધરવાદ(ગુજરાતી)ની પોતાની પ્રસ્તાવનામાં મારા ઉપરના મન્તવ્યને શ્રી દલસુખભાઈ માલવણિયાએ વધુ કારણો દર્શાવી સમર્થન આપ્યું છે. કળાની દૃષ્ટિએ આ પ્રતિમા અંગે વધુ વિવેચન આ લેખકના ટૂંકમાં પ્રસિદ્ધ થનાર પુસ્તક The Art of Akota Bronzesમાં આવશે.

ચિત્ર નં. ૪ : ધાતુનું સમવસરણ : આ એક સુંદર એવું મોટું ધાતુનું સમવસરણ છે, જે લગભગ બત્રીસ ઈંચિ ઊંચું છે. ત્રણે ગઢ તેના દરવાજા સાથે બતાવ્યા છે અને ઉપરના ભાગમાં ચૌમુખજી બિરાજે છે. સમવસરણની નીચેની ધારે એક ઘસાયેલો લેખ છે, જે પૂરો વંચાતો નથી. તેમાં શરૂમાં સં. ૧૧૧× ૨૫૯ છે. સંવતનો છેલ્લો આંક ૨૫૯ નથી એટલે આ સમવસરણ ઈ. સ. ૧૦૫૩–૧૦૬૩ની વચ્ચે ભરાયું—પ્રતિષ્ઠિત થયું ગણી શકાય.

હાલમાં સૂરતમાં વડા ચૌટાના એક દહેરાસરમાં આ ભવ્ય સમવસરણ છે. કહે છે કે મારવાડના કોઈ ગામમાંથી લાવી તેને અહીં પધરાવ્યું છે. કળાની દૃષ્ટિએ એ તત્કાલીન ગુજરાતી કળાનું જ છે. તે સમયની ગુજરાત અને મારવાડની જૈન પ્રતિમાઓ એકસરખી કળાશૈલીની બનતી હતી.

નીચે લેખ અને સંવત હોવાથી ગુજરાતની ધાતુ–શિલ્પ–કલાનો આ બહુ અગત્યનો નમૂનો છે, જેથી એની પૂરી સાચવણી રાખવી ઘટે છે. ચૌમુખજીવાળો ભાગ છૂટો કરી ઉતારી શકાય છે.

ચિત્ર નં. ૫–૬ : લીલવાદેવા પાસેથી મળેલી ધાતુપ્રતિમા : આ ધાતુપ્રતિમા ઝાલોદ તાલુકામાં લીલવાદેવા પાસેથી મળેલી સાત પ્રતિમાઓમાંની એક છે. આ પ્રતિમાની પાછળ લેખ છે (ચિત્ર ૬) તે આ પ્રમાણે છે : ॐ संवत् १०९३ — श्री नागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेन दिवाकराचाय्य(र्य्यं) (गच्छे) माइंकया करापित्तं जिनत्रयं.

આ પ્રતિમા શ્રીપાર્શ્વનાથજીની ત્રિતીર્થી છે. આ પ્રતિમા પ્રાચીન પશ્ચિમ ભારતીય કળાના અંતિમ સમયની છે અને એમાં ગુર્જરોની કળા દૃષ્ટિગોચર થાય છે. લીલવાદેવાની વધુ પ્રતિમાઓ માટે જુઓ Bulletin of the Baroda Museum, Vol. IX

ચિત્ર નં. ૭–૮ : વડોદરાના દાદાપાર્શ્વનાથજીના દહેરાસરમાંની ધાતુપ્રતિમા : વડોદરાના દાદાપાર્શ્વનાથજીના પ્રાચીન દહેરાસરમાં આ ધાતુપ્રતિમા છે. પાછળનો ભાગ લેખ સહિત છાપ્યો છે, જ્યારે ચિત્ર ૮માં આગળનો દર્શનીય ભાગ છે. પ્રતિમા ઘસાઈ ગયેલ છે. લેખ આ પ્રમાણે છે : श्री नागेंद्रकुले श्रीगुणसेनसूरिसंताने चक्रेस्वरी स्राविकया कारितेयं.

લિપિ જોતાં આ લેખ વિક્રમના અગિયારમા સૈકાના ઉત્તરાર્ધમાં મૂકી શકાય તેમ છે.

પ્રતિમા ત્રિતીર્થિક છે. મોટા પદ્મ ઉપર ભગવાન બિરાજે છે પણ પદ્મપ્રભુ નથી. વાસ્તવમાં આવી રચના પ્રાચીન મૂર્તિઓમાં તીર્થંકર પ્રતિમાઓનાં આસનોમાં આવે છે.

ઈ. સ. ૧૯૩૮ કે ઈ.સ. ૧૯૩૯માં હું પૂ. શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજશ્રીના દર્શનાર્થે પાટણ ગયો ત્યારે મને એઓશ્રીએ જણાવેલું કે વડોદરાના રાજમહેલ – લક્ષ્મીવિલાસ પેલેસના પાયા ખોદતા એક ધાતુપ્રતિમા મળી હતી તે દાદાજીના દહેરાસરજીમાં છે. ત્યારે તેઓશ્રી ફોટો પણ બરોબર જોઈ શકે તેમ નહોતું પણ મારું અનુમાન એ છે કે એ પ્રતિમા તે આ હશે.

પ્રાચીન અકોટા રાજમહેલથી બહુ દૂર નથી. અકોટાની મળેલી જૈન પ્રતિમાઓનો અભ્યાસ કરતાં લાગે છે કે આ પ્રતિમાને છેવટે ઈ.સ.ના અગિયારમા સૈકાની ગણવામાં કોઈ ભૂલ થવા સંભવ નથી.

ચિત્ર નં. ૯: આદિનાથજી ચોવીસી : આદિનાથજીની ચોવીસીનું આ શિલ્પ છે. વચમાં પદ્માસને શ્રીઋષભદેવજી છે. પીઠ ઉપર જમણી બાજુએ ગોમુખયક્ષ છે, જ્યારે ડાબી બાજુએ અંબિકાયક્ષી છે. સિંહાસનની વચમાં આદિશક્તિ છે. ધર્મચક્રની નીચે, પીઠના મધ્ય ભાગે કંઈ આકૃતિ છે તે સમજાતું નથી. ચોવીસીની રચના સુંદર તોરણરૂપે કરેલી છે અને એ બાજુના સ્તમ્ભો ઉપર નાનાં શિખરો છે. આ પ્રતિમાની પાછળ લેખ છે તે આ પ્રમાણે છે : संवत ११५१ : वीहिल तनुजश्राद्धः यशोवर्द्धन (कः) जशो (यशः) (अ) चीकरदिमं रुच्यं चतुर्विंशतिपट(पट्ट)कं ॥

આમ આ ધાતુપ્રતિમા સં. ૧૧૫૧ = ઈ. સ. ૧૦૯૪–૯૫માં ભરાઈ હતી. એ પ્રતિમા ઉપર લેખ તેમ જ તેનો ભરાવ્યાનો સંવત આપ્યો હોવાથી કળાની દૃષ્ટિએ આ પ્રતિમાનો અભ્યાસ ઉપયોગી થઈ પડે છે. ઉપરાંત આમાં ધ્યાનમાં રાખવા જેવું એ છે કે ગોમુખયક્ષ હોવા છતાં યક્ષી તરીકે ચક્રેશ્વરીને બદલે અંબિકા જ હજુ ચાલુ રહે છે.

આ પ્રતિમા શિરોહી રાજ્યમાં આવેલા વસંતગઢમાંથી મળી હતી અને હાલ પિંડવાડાના જૈન મંદિરમાં પૂજાય છે. વધુ વિવેચન માટે જુઓ લલિત–કલા, અંક પહેલો.

ચિત્ર નં. ૧૦: મહાઅમાત્ય તેજપાલ તથા અનુપમાદેવી : ગુજરાતના વિખ્યાત મંત્રીશ્વરો વસ્તુપાલ–તેજપાલ પૈકી લૂણવસહી મન્દિર બંધાવનાર મહાઅમાત્ય તેજપાલ તથા તેમના પત્ની શ્રી અનુપમાદેવીની આ સુંદર શિલ્પાકૃતિઓ છે. આબુમાં લૂણવસહીની હસ્તિ–શાલામાં આ શિલ્પ છે. શિલ્પમાં તત્કાલીન વેશભૂષાનો સુંદર ખ્યાલ આવે છે. અનુપમાદેવીના વસ્ત્રની ભાત પણ બતાવી છે. આ શિલ્પ લૂણવસહી બંધાઈ તે સમયનું જ છે.

ચિત્ર નં. ૧૧–૧૨ : વિમલવસહી અને લૂણવસહીના રંગમંડપની છત : આબુના વિશ્વવિખ્યાત વિમલવસહી અને લૂણવસહીના રંગમંડપની છતની કોતરણીની બારીકાઈ, સુંદરતા અને અધિકતાનો ખ્યાલ અહીં મળે છે. વિમલવસહી રંગમંડપ છતના પ્રથમ ચિત્રમાં સોળ વિદ્યાદેવીઓની સુંદર ઊભી મૂર્તિઓ છે. આ રંગમંડપની છત પદ્મલંબક (કાચલા ઝુમ્મર) ને લીધે પ્રખ્યાત છે. તે ઉપરાંત મનુષ્ય જીવનના અનેક પ્રસંગોની સુંદર રજૂઆત કરેલ છે. આ રંગમંડપ કુમારપાળના મંત્રીશ્વર પૃથ્વીપાલે વિ. સં. ૧૨૦૪–૦૬ (ઈ. સ. ૧૧૪૮–૫૦)માં કરાવ્યો હતો. લૂણવસહીનું બીજું ચિત્ર કમાન, ઝુમ્મર અને છતની અદ્‌ભુત કોતરણીની રજૂઆત કરે છે. આ રંગમંડપ ગુજરાતના મહામંત્રી તેજપાલે કરાવ્યો હતો.

ચિત્ર નં. ૧૩ : દ્વારિકા નગરી તથા સમવસરણ : આબુના લૂણવસહીની દેરી નં. ૯ના બીજા ગુમ્મજની છતમાં દ્વારિકા નગરી, ગિરનાર પર્વત અને સમવસરણનો ભાવ છે. છતની વચ્ચે સમવસરણ છે. સાધુ–સાધ્વી અને શ્રાવક–શ્રાવિકાઓ વગેરે મૂળનાયક શ્રીનેમિનાથજી ભગવાનના દર્શન માટે જતા જણાય છે. એક ખૂણામાં સમુદ્ર, ખાડી, જળચર જીવો, વહાણો, જંગલ અને મન્દિરો છે. આ દેખાવ દ્વારિકા નગરીના બંદરનો છે. એક બાજુ ખૂણામાં એક પર્વત ઉપર ચાર શિખરબંધ મન્દિરો, નાની દેરીઓ, વૃક્ષો અને બહાર ભગવાન કાઉસ્સગ્ગ ધ્યાને ઊભા છે. આ ગિરનાર પર્વતનો ભાવ છે.

ચિત્ર નં. ૧૪ : સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથનો પાષાણપટ : ત્રૈલોક્ય દીપિકા યાને ધરણવિહાર નામે પ્રસિદ્ધ નલિની ગુલ્મના કળાકૌશલ્યના આદર્શ નમૂનારૂપ મન્દિર શ્રી ધરણાશાહે પંદરમા સૈકામાં બંધાવેલ છે. રાણકપુરના આ જિન પ્રાસાદમાં એક મોટો સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથનો પટ છે. સૂર્યની આકૃતિ વચ્ચે નાગિણીઓ સાથેનું આ એક પ્રકારનું સંયોજિત ચિત્ર નાગના જુદા જુદા નાગપાશથી અલંકૃત થયેલ મનોહર દૃશ્ય રજૂ કરે છે. આ પટ વિ. સં. ૧૯૦૩માં પ્રતિષ્ઠિત થયેલ છે. તેની કારીગીરી જોતાં લાગે છે કે વિક્રમ સંવત ઓગણીસમી સદીના અંત સુધી પણ ગુજરાત-મારવાડમાં શિલ્પકળાની સારી પરંપરા જળવાઈ હતી. આવો સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથ પાષાણપટ ભારતમાં બીજે ક્યાંય નથી.

ચિત્ર નં. ૧૫ : પાષાણ પર કોતરેલ નન્દીશ્વર દ્વીપ : આ નન્દીશ્વર દ્વીપની રચના દેખાડતું પાષાણ ઉપર કોતરેલું શિલ્પ છે, જે નન્દીશ્વર દ્વીપના પટના નામથી ઓળખાય છે. આ પટ ઘણો મોટો છે અને ધરણાશાહના બંધાવેલા રાણકપુરના ચૌમુખજીના વિખ્યાત મન્દિરમાં છે.

વાસ્તવમાં આમાં નન્દીશ્વર દ્વીપના બાવન જિનાલય જ રજૂ કરવાનો પ્રયત્ન થયો છે. દ્વીપના વર્ણન મુજબ એની ભૌગોલિક રચના બતાવી નથી એટલે 'નન્દીશ્વર દ્વીપ બાવન જિનાલય પટ' કહી શકાય. આ પટ બનાવવામાં કળાકારે સુન્દર કારીગીરી બતાવી છે.

ડૉ૦ ઉમાકાન્ત પ્રેમાનંદ શાહ

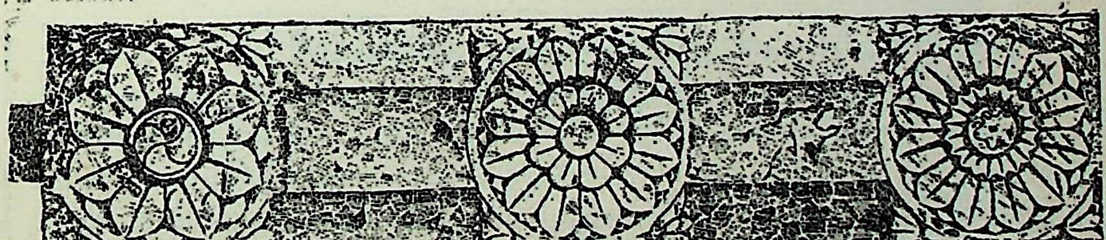

૨ : જૈન સાધ્વીજીઓની ભવ્ય પાષાણ-પ્રતિમાઓ

જૈન શિલ્પકામોમાં પ્રાચીનકાળમાં આચાર્યો–સાધુઓ–સાધ્વીઓનાં સ્મારકો તરીકે સ્તૂપો અને પાદુકાઓને સ્થાન હતું. પાછળથી તેમાં મૂર્તિશિલ્પની પ્રથાએ પ્રવેશ કર્યો અને પરિણામે ભારતના જુદા જુદા વિભાગમાં જૈન શ્રમણોની મૂર્તિઓ—ભલે અલ્પ સંખ્યામાં પણ—જોવા મળે છે જે જાણીતી બાબત છે. પણ જૈન આર્યા–સાધ્વીજીનાં મૂર્તિશિલ્પો ક્વચિત જ અસ્તિત્વ ધરાવતાં હોઈ તે બાબત લગભગ અદ્યાપિ અપ્રકાશિત જેવી જ રહી છે. અહીંયાં ત્રણ સાધ્વીની મૂર્તિઓ એક સાથે જ, પ્રથમ વાર જ પ્રકાશિત થાય છે. સાધ્વા-શિલ્પનો પ્રારંભ ક્યારે થયો તેનો હજુ ચોક્કસ નિર્ણય નથી થયો પણ નં. એકની મૂર્તિ ૧૩મી સદીના પ્રારંભકાળની હોઈ, સંભવ છે કે તે અગાઉના સમયથી આ પ્રવૃત્તિ શરૂ થઈ હોય. જૈન સંઘના બંધારણ મુજબ સાધ્વીજીનું સ્થાન સાધુ પછી બીજે જ નંબરે હોઈ, આ પ્રથા દ્વારા પૂજ્યતાની દૃષ્ટિએ બેઉમાં સમાનત્વની પ્રતીતિ કરાવવાનો હેતુ પણ હોઈ શકે. સાધ્વી મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠાનું વિધાન પંદરમી સદીમાં રચાયેલા શ્વે० आचारदिनकर ગ્રંથના ૧૩મા અધિકારમાં છે. બાકી શ્રમણ–શ્રમણીના શિલ્પવિષયક ક્ષેત્રમાં સાદ્યંત પ્રકાશ પાડવાની તદ્વિષયક અભ્યાસીઓને જરૂર ખરી.

*

ચિત્ર નં. ૧ : જૈન આર્યા–સાધ્વીજીની આરસપાષાણની ઊભી મૂર્તિ : કુશળ શિલ્પીએ તેમના હાથમાં સાધુજીવનના પ્રતીકસમાન રજોહરણ–ઓઘો, મુહપત્તિ–મુખવસ્ત્રિકા આપી બે હાથ જોડી નમસ્કાર કરતી બતાવી છે. એમાં કટિમરોડથી ઊભવાની અને હાથ જોડવાની મુદ્રા દ્વારા નમ્રતાનો જે ભાવ સૂચિત કર્યો છે તેથી, અને મુખાકૃતિને ધ્યાનસ્થ બતાવી, મુખારવિંદ ઉપર અખૂટ શાંતિ, વિનીતભાવ અને લાવણ્યપૂર્ણ તેજસ્વિતાનું જે દર્શન કરાવ્યું છે તેથી મૂર્તિ રમ્ય અને દર્શનીય બની ગઈ છે. મૂર્તિ નિહાળતાં ત્યાગજીવનની સ્વયંસ્ફુરિત શાંતિના આપણને સહસા દર્શન થાય છે.

મૂર્તિમાં મસ્તકથી પાદ સુધી વસ્ત્રપરિધાન અને ડાબા ખભે ઊનની કંબલ નાખીને ચકોર કળાકારે જૈન સાધ્વીજીની વેષભૂષાનું વાસ્તવિક દર્શન કરાવ્યું છે. પગની બંને બાજુએ બે ઉપાસિકાઓ છે.

મૂર્તિની નીચેના ભાગમાં સં. १२०५ श्री महत्तरा सपरिवारा... ॥ આ પ્રમાણેનો ટૂંકો લેખ છે. આ લેખમાં સાધ્વીજીનું નામ અંકિત નથી. આ મૂર્તિ આ પરિચય લખનારના સંગ્રહમાં છે.

ચિત્ર નં. ૨ : જૈન સાધ્વીજીની સંગેમરમરના પાષાણમાં કોરી કાઢેલી બેઠી મૂર્તિ : આ મૂર્તિ સવસ્ત્ર છે. પ્રવચન કે ગણધર મુદ્રા જેવો ખ્યાલ આપતી ભદ્રાસન ઉપર સ્થિત છે. ડાબા હાથમાં મુખવસ્ત્રિકા છે, જમણો હાથ ખંડિત થઈ ગયો છે, તે છતાં તેનો જેટલો ભાગ છાતી પર દેખાય છે તે ઉપરથી લાગે છે કે શિલ્પીએ હાથમાં માળા આપી હોય. તેમનું રજોહરણ–ઓઘો પ્રાચીનકાળમાં શ્રમણોની મૂર્તિઓમાં બહુધા જે રીતે બતાવાતું તે રીતે અહીં પણ મસ્તકના પાછલા ભાગમાં બતાવેલ છે.

મૂર્તિમાં પારિપાર્શ્વકો તરીકે કુશળ શિલ્પીએ કુલ ચાર રૂપઆકૃતિઓ બતાવી છે. આ પારિપાર્શ્વકો સાધ્વી નહિ પણ ગૃહસ્થ શ્રાવિકાઓ છે, પણ દુર્ભાગ્યે ડાબી–જમણી બાજુની એક એક

जैन साध्वीजीओनी पाषाण-प्रतिमाओ

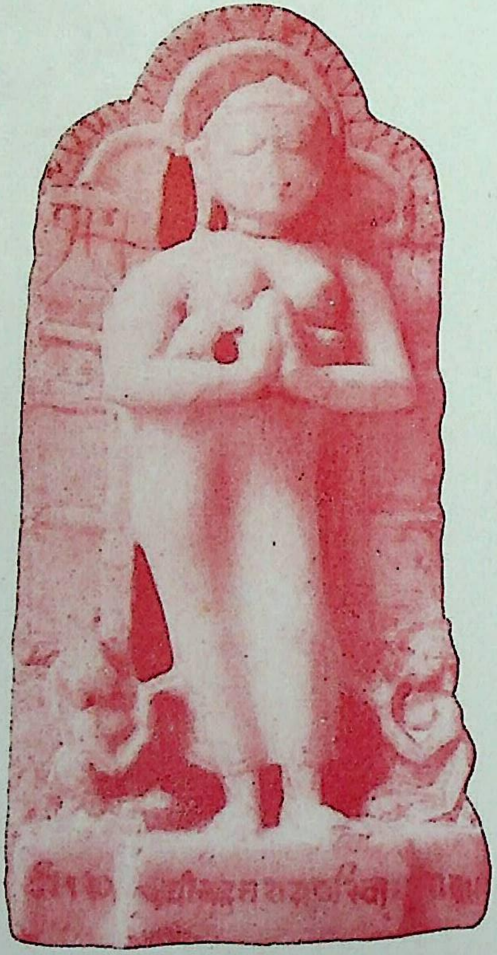

चित्र नं. १
सं. १२०५नी साध्वीजीनी प्रतिमा
[मुनिश्री यशोविजयजी महाराजना संग्रहमांथी]

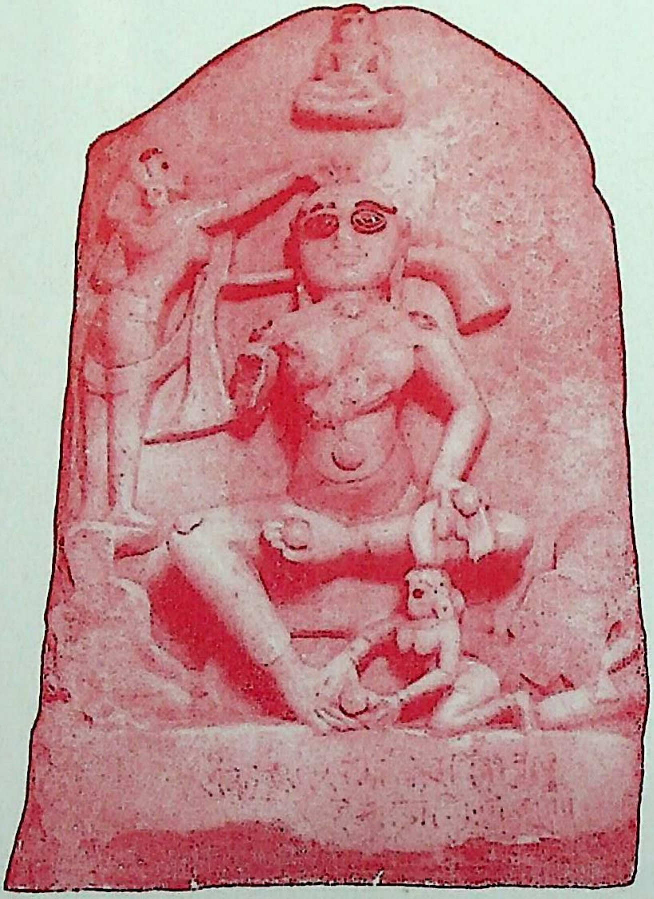

चित्र नं. २
वि. सं. १२५५नी साध्वीजीनी प्रतिमा
[पाटण-अष्टापदजीना मन्दिरमांथी]

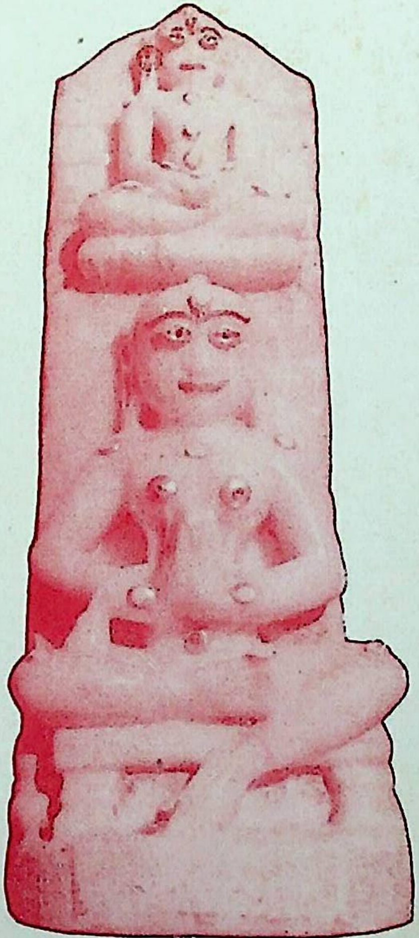

चित्र नं. ३
वि. सं. १२९८नी साध्वीजीनी प्रतिमा
[मातरना मन्दिरमांथी]

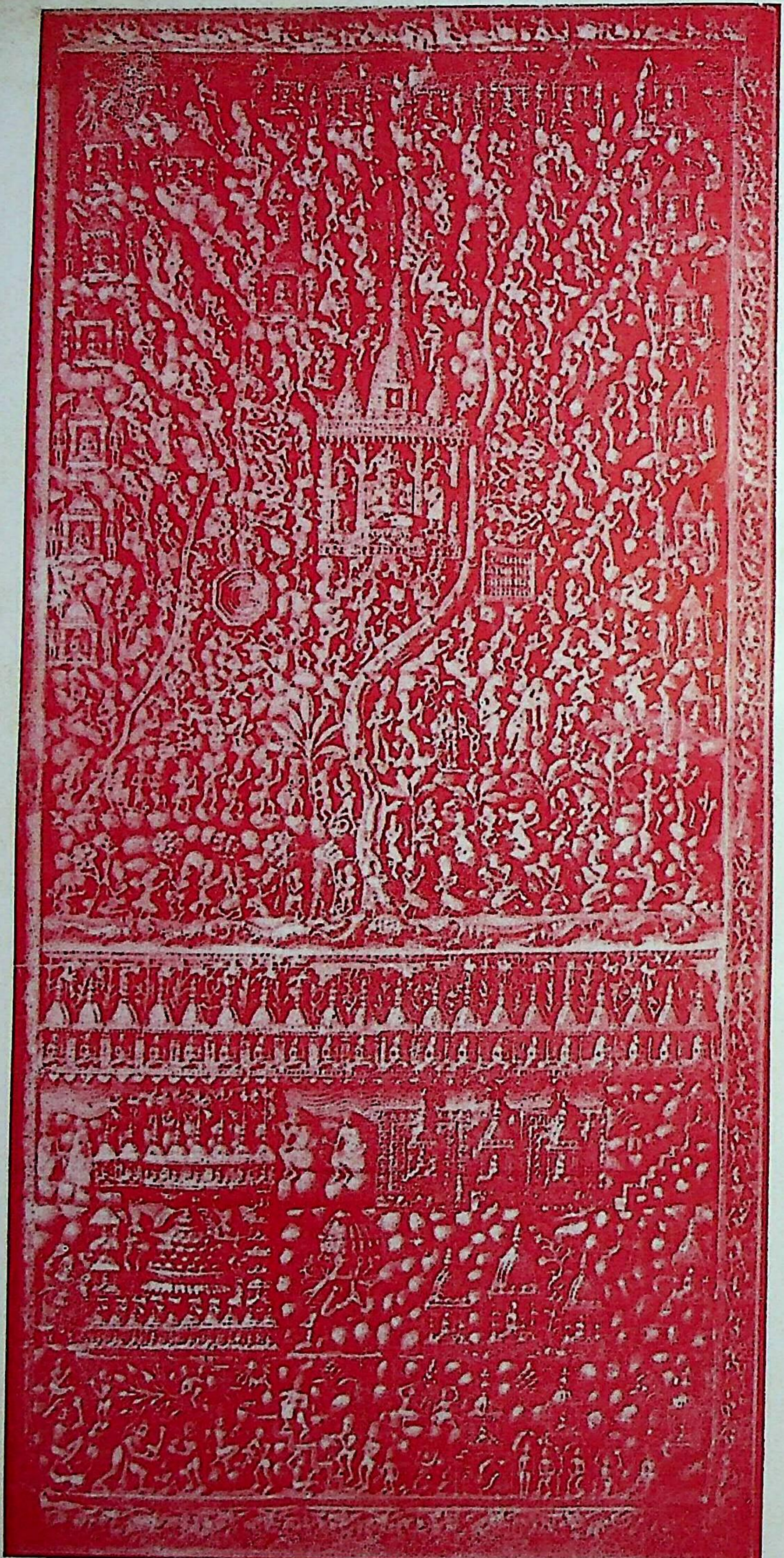

पाटणना जैन मन्दिरनो एक सुंदर काष्टपट

આકૃતિ ખંડિત થઈ ગઈ છે. છતાં એમ લાગે છે કે ચારેયને કળાકારે કંઈ ને કંઈ કાર્યરત બનાવી સેવા અને ઉપાસનાનો એક ભાવવાહી આદર્શ રજૂ કર્યો છે. એમાં જે બે આકૃતિઓ અખંડ દેખાય છે તેમાં એક ઊભી ને બીજી બેઠી છે. ઊભી આકૃતિ ઊભવાના કોઈ સાધન ઉપર ઊભા રહીને પોતાનાં પૂજ્ય સાધ્વીજીની વાસક્ષેપથી પૂજા કરતી હોય તેમ લાગે છે. શિલ્પીએ તેની ઊભવાની પદ્ધતિ ખૂબ જ આકર્ષક અને વિનયભાવભરી બતાવી છે. મુખ ઉપર પૂજા અને ભક્તિનો ઊંડો ભાવ વ્યક્ત કર્યો છે. તેને સવસ્ત્ર બનાવી મૂર્તિમાં ઉત્તરીય વસ્ત્ર જે ખૂબીથી નાખ્યું છે તે શિલ્પકળાના ગૌરવમાં સવિશેષ ઉમેરો કરે છે. એ કૃતિ કોઈ અગ્રણી ભક્તશ્રાવિકાની સંભવે છે. સાધ્વી મૂર્તિના પલાંઠી વાળેલા ડાબા પગ નીચે, ઘૂંટણિયે પડેલી જે ઉપાસિકા બતાવી છે તેના મુખ ઉપર શિલ્પીએ આંતરભક્તિભાવ અને પ્રસન્નતાનું મનોરમ દૃશ્ય બતાવ્યું છે. મૂર્તિ ઉપર તીર્થંકરની એક પ્રતિમા પણ ઉપસાવી કાઢી છે.

આ શિલ્પનું સમગ્ર દર્શન એટલું આકર્ષક અને ભાવવાહી છે કે જેથી આપણે પ્રાપ્ય સાધ્વીમૂર્તિ-શિલ્પમાં આને સર્વશ્રેષ્ઠ તરીકે સહેજે બિરદાવી શકીએ.

પણ ખેદની વાત એટલી જ કે કળા અને સૌંદર્યના જ્ઞાનરસથી અનભિજ્ઞ અને શુષ્ક એવા વહીવટદારોએ તે મૂર્તિ ઉપર પ્રમાણથી વધુ મોટા અને મેળ વિનાના બાઘા જેવા ચક્ષુઓ, મોટી ભ્રમરો, નવે અંગે તદ્દન બિનજરૂરી મોટા ચાંદા જેવા ટીકાઓ ચોટાડી મૂર્તિની સુંદરતા અને ભવ્યતામાં ભારે ઊણપ આણવા સાથે કદ્રૂપતાનાં દર્શન કરાવ્યાં છે.

મૂર્તિ નીચે :— वि. सं. १२५५ कार्तिक वदि ११ बुधे देमतिगणीनी मूर्ति [:] ॥ આ પ્રમાણે લેખ કોતરેલો છે. આ મૂર્તિ ગુજરાત-પાટણના અષ્ટાપદજીના મંદિરમાં છે.

ચિત્ર નં. ૩ : આરસપાષાણની સાધ્વીજીની મૂર્તિ : સાધ્વીજીની આ મૂર્તિ પોતાના મસ્તક ઉપર રહેલી સ્વઆરાધ્ય જિન પ્રતિમાને નમસ્કાર કરવા ભદ્રાસન પર પ્રવચન(?)મુદ્રાએ હાથ જોડીને બેઠેલાં હોય તેવો ભાવ રજૂ કરે છે. તેઓ સવસ્ત્ર છે. તેમની ડાબી બાજુએ દીક્ષિત અવસ્થા સૂચક અને અહિંસા ધર્મના પ્રતીક સમાન રજોહરણ–ઓઘો દેખાય છે, જેની દાંડી હાથના કાંડા ઉપર થઈ ને ઠેઠ ઉદર ભાગને સ્પર્શેલી છે. ડાબા હાથની કોણી નીચે લટકતો વસ્ત્રનો છેડો દેખાય છે. આનું શિલ્પકામ સ્થૂલ પદ્ધતિનું ગ્રામીણ ઢબના મિશ્રણવાળું છે. આમાં પણ વહીવટદારોએ નવાંગે ટીકાઓ નિરર્થક ચોડ્યા છે.

……

જનતાની અજ્ઞાનતાને કારણે માતર તીર્થની આ મૂર્તિ "શ્રી ગૌતમસ્વામીજીએ ભગવાન મહાવીરને મસ્તક ઉપર ધારણ કર્યા છે" એ રીતે જ વર્ષોથી ઓળખાતી ને પૂજાતી હતી. પણ બે વરસ પર મારું ત્યાં જવાનું થતાં આ ભ્રમ દૂર કરાવ્યો અને એ પ્રતિમાજીને બાજુમાંથી ઉઠાવી સન્મુખ પધરાવવા સૂચન કર્યું હતું. તેની નીચેના શિલાલેખમાં વિ. સં. ૧૨૯૮નો ઉલ્લેખ છે ને आर्यपद्मसिरि એવું નામ છે. સમયના અભાવે ને લેખની વધુ અસ્પષ્ટતાના કારણે સંપૂર્ણ લેખ લઈ શકાયો નથી. આ મૂર્તિ ગુજરાતના ખેડા પાસેના માતર તીર્થની છે.

ઉપરની ત્રણેય મૂર્તિઓ એક જ સૈકાની અને વળી આદિ, મધ્ય અને અન્તના ભાગની છે.

મુનિશ્રી યશોવિજયજી

૩ : પાટણના જૈન મંદિરમાંનો એક સુંદર કાષ્ઠપટ

પાટણના કનાશાના પાડામાં જોડાજોડ આવેલ બે જૈન મંદિરો પૈકીના એકમાં આ કાષ્ઠપટ મંદિરની જમણી બાજુની ભીંતમાં સુરક્ષિતપણે જડી દીધેલો છે. સમસ્ત ગુજરાતમાં આટલો મોટો તીર્થકાષ્ઠપટ ભાગ્યે જ અન્ય હશે.

પ્રાચીનકાળે કાષ્ઠરચનાથી મંદિરો થતાં તેની પરંપરારૂપે આ કાષ્ઠશિલ્પની કૃતિમાં ઉપલા ભાગમાં વર્તમાનયુગના વીશ તીર્થંકરોની નિર્વાણભૂમિરૂપે સમેતશિખર તીર્થ અને યુગના આદ્ય તીર્થંકર ભગવાન ઋષભદેવની નિર્વાણભૂમિ તરીકે અષ્ટાપદ તીર્થ વગેરેનું કોતરકામ થયેલું છે.

સમેતશિખરમાં શિલ્પીએ ત્રણે ય દિશામાં ફરતી વીશ ટેકરીઓ ઉપરની વીશ દેવકુલિકાઓ–દહેરીઓ તેમની મૂર્તિઓ સાથે બુદ્ધિપૂર્વક ગોઠવી છે. વચમાં ત્રણ શિખરોથી સુશોભિત ભગવાન પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાથી અલંકૃત અતિભવ્ય જલમંદિર સુંદર ને સુસ્પષ્ટ કોતરકામથી બતાવ્યું છે.

ઉપરાંત પ્રસ્તુત પહાડ પક્ષીઓ, જલજંતુપૂર્ણ નદી, વાવો, સરોવરો, કુંડો, વૃક્ષો, વનરાજીઓ, ધ્યાન ને તપ કરતાં અનેક સંતો–ઋષિઓ ને યાત્રાર્થે ચઢતાઊતરતા માનવોની તાદશ ને રમ્ય આકૃતિઓથી કાષ્ટપટને ભરપૂર બનાવ્યો છે.

નીચેના ભાગમાં અષ્ટાપદ પર્વત 'ચત્તારિઅટ્ઠદશદોય'ના નિયમ મુજબ ચોવીશ તીર્થંકરોની ફરતી શિખરબંધી દેવકુલિકાઓથી શોભે છે. આ મંદિરના મધ્ય ભાગે ઋષભદેવ ભગવાનની નિર્વાણભૂમિ ઉપર જૈનશાસ્ત્રના કથન મુજબ મંદિરને બદલે અલંકૃત રીતે સ્તૂપરચના બતાવી છે અને ઉપરના ભાગે બંને બાજુએ ચામરધારી તરીકે ઈન્દ્રો બે બતાવ્યા છે. આમ પ્રાચીનકાળની મૂળ પ્રથા અહીં બરાબર દેખાય છે. સમગ્ર મંદિરની જમણી બાજુ તન્તુવાદ્ય બજાવતા દશશિર રાવણ અને તેની ડાબી બાજુ તેમની જ પત્ની મંદોદરીને ભગવાન આગળ ભક્તિનૃત્ય કરતાં બતાવ્યાં છે. વળી મંદિરના નીચેના ભાગે સૂર્ય બતાવીને, તેના કિરણના આધારે ગૌતમસ્વામી યાત્રાર્થે પહોંચ્યા તે ભાવ રજૂ કર્યો છે. ઉપરના ભાગે જંઘાચારણ–વિદ્યાચારણ મુનિઓ યાત્રા કરવા આવ્યાનું દર્શાવ્યું છે. નીચે સગરચક્રીના પુત્રો તીર્થરક્ષણાર્થે ખાઈ ખોદી રહ્યાનું બતાવ્યું છે. આજુબાજુ જુદાં જુદાં આસનો દ્વારા તપ ને ધ્યાન કરી રહેલા ઋષિમુનિઓ બતાવ્યા છે. ઉપરના ભાગે વીશ વિહરમાન જિનની દહેરીઓ અને અન્ય તીર્થમંદિરો બતાવ્યાં હોય તેમ જણાય છે.

આ તીર્થપટ ગુજરાતના કાષ્ઠશિલ્પમાં બહુમૂલ્ય વસ્તુ છે. તેનું માપ આશરે ૩ાા' × ૭' છે. અને સમય આશરે ૧૭–૧૮મી શતાબ્દી વચ્ચેનો ગણી શકાય. શ્રીપંચાસરજીની પ્રતિષ્ઠા પ્રસંગે તેનું મને પ્રથમ જ દર્શન થયું હતું.

મુનિશ્રી યશોવિજયજી

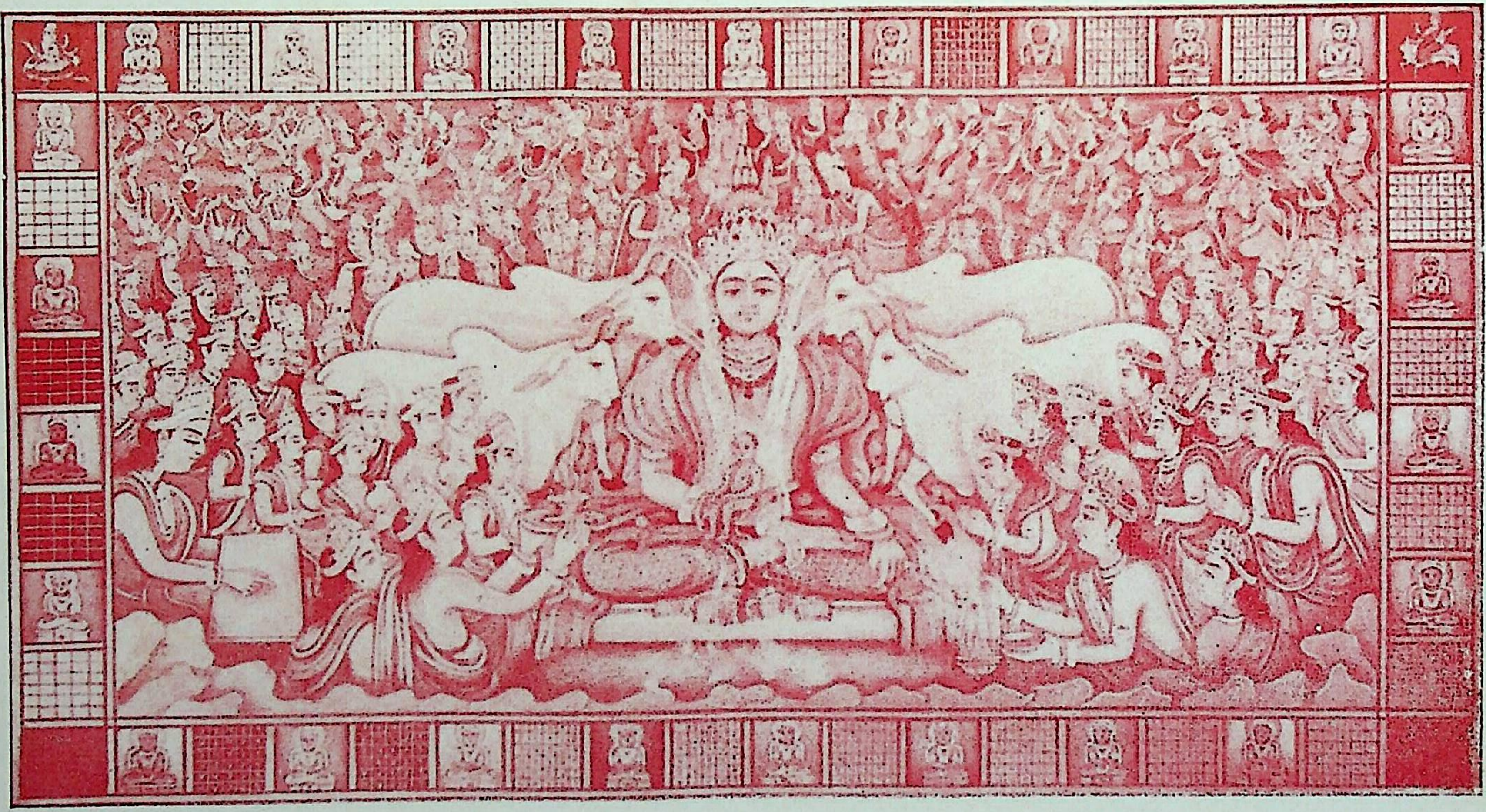

श्रमण भगवान महावीरनो मेरूपर्वत उपर जन्माभिषेक

सौधर्मेन्द्र भगवानने खोळामां लइने बेठा छे. वृषभरूपधारी इंद्रो-देवगण अभिषेकोत्सव उजवी रह्या छे. धार्मिक चित्रो द्वारा कळाने उत्तेजन आपवानी जैन साधुओनी परंपरा घणा सैकाओथी जोवा मळे छे. आजे पण जैन श्रमणो सर्वमान्य पवित्र कल्पसूत्रचित्रोनुं सर्जन करावे छे. आ चित्र पू. मुनिवर श्रीयशोविजयजी महाराजना संग्रह पैकीनुं जयपुरी कळानुं प्रतीक छे.

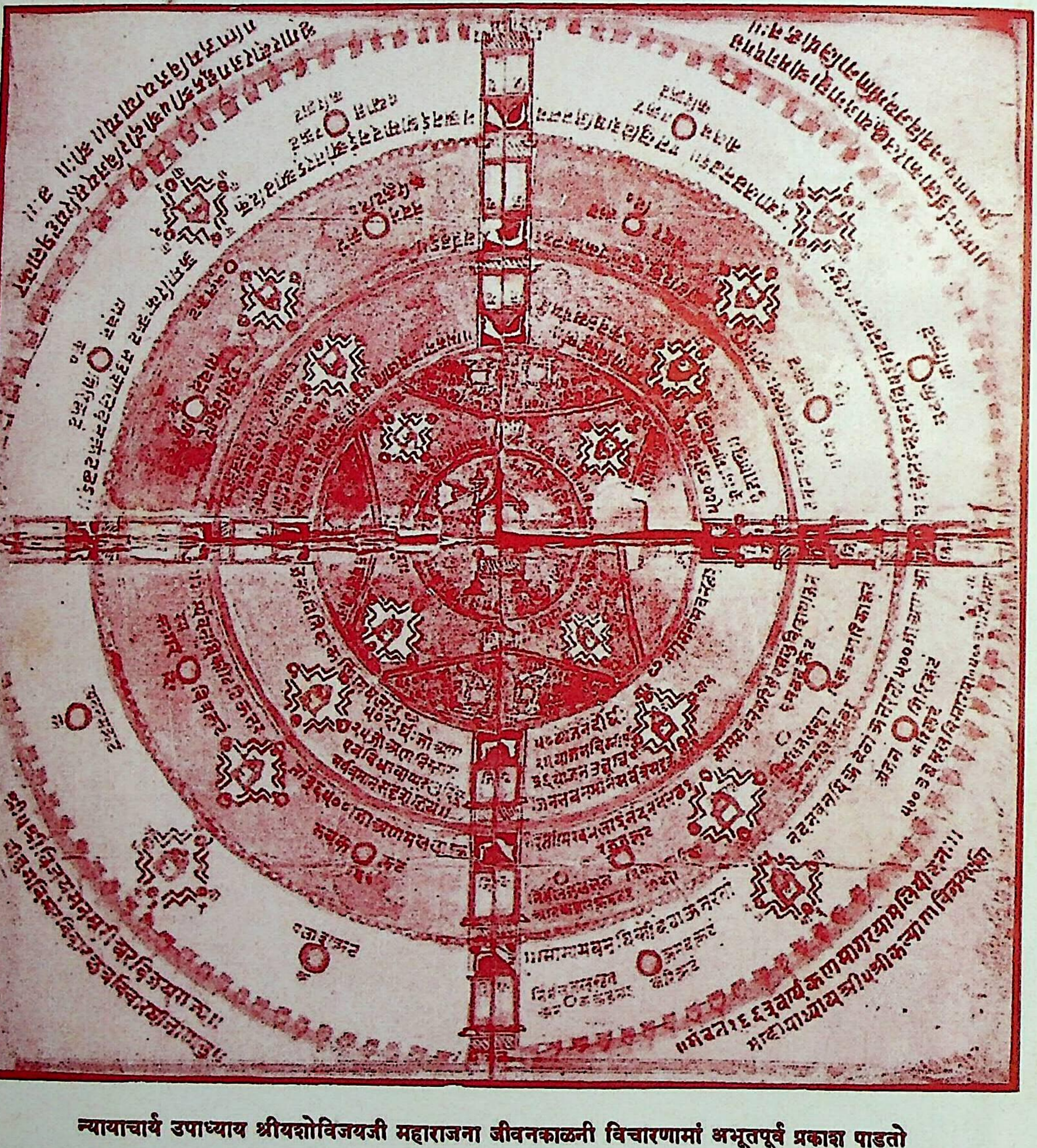

न्यायाचार्य उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना जीवनकाळनी विचारणामां अभूतपूर्व प्रकाश पाडतो
वि. सं. १६६३मां चीतरायलो ऐतिहासिक वस्त्रपट

૪ : ઐતિહાસિક વસ્ત્રપટ

ન્યાયાચાર્ય ઉપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના જીવનકાળની વિચારણામાં અભૂતપૂર્વ પ્રકાશ પાડતો વિ. સં. ૧૬૬૩માં ચીતરાયેલો આ ઐતિહાસિક વસ્ત્રપટ જૈન ધર્મની માન્યતા મુજબ દોરાયેલા મેરુપર્વતનો છે. મેરુપર્વતને ફરતી જે પુષ્પિકા છે એ અતિમૂલ્યવતી હોવાને કારણે પ્રથમ જ પ્રકાશમાં મૂક્યો છે.

આ વસ્ત્રપટ વિ. સં. ૧૬૬૩માં ઉ. ગુજરાતમાં કનોડા–ગાંભૂ પાસે આવેલા कणसागर ગામમાં ચીતરાયેલો છે. તેના આલેખક જૈન શાસનના અદ્‌ભુત જ્યોતિર્ધર પ્રકાણ્ડ વિદ્વાન, સર્વદર્શનવિજ્ઞ, સેંકડો ગ્રંથોના રચયિતા, ન્યાયાચાર્ય, ન્યાયવિશારદ મહોપાધ્યાય ૧૦૦૮ શ્રીમદ્ યશોવિજયજી મહારાજના ગુરુદેવ પૂજ્યશ્રી નયવિજયજી મહારાજ છે અને તેમણે પોતે જ પટમાં गणिजसविजययोग्यं લખીને સ્વશિષ્ય શ્રી યશોવિજયજી ગણિ માટે જ તૈયાર કર્યો છે તેમ સ્પષ્ટ કર્યું છે. ઉપાધ્યાયજીનો જીવનકાળ નક્કી કરવા માટે એક અમૂલ્ય ઐતિહાસિક દસ્તાવેજ જેવો આ પટ બની ગયો છે.

પૂ. ઉપાધ્યાયજીની જન્મ, દીક્ષા, વડીદીક્ષા, પદપ્રાપ્તિ કે અવસાન અંગેની આધારભૂત તિથિ મળતી નથી. માત્ર સંવતો ને તે પણ જન્મની, વડીદીક્ષા, પદપ્રાપ્તિ ને સ્વર્ગગમનની “સુજસવેલી”માં માત્ર મળે છે. લઘુદીક્ષાની તી સાલ પણ નહિ.

એમાં વડીદીક્ષાની સાલ ૧૬૮૯ નોંધી છે તેથી દીક્ષા વચ્ચે થોડા મહિનાનું અંતર હોવું જોઈએ.

બીજી બાજુ આ પટની પુષ્પિકામાં તો ૧૬૬૩ની સાલ વખતે ઉપાધ્યાયજીને ગણિ તરીકે ઓળખાવ્યા છે. આ પુષ્પિકાના પુરાવાના આધારે પચાસેક વર્ષથી જે વિદ્વાનો તેમનો જીવનકાળ લગભગ ૧૦૦ વર્ષનો છે એવું કહેતા આવ્યા છે તેને સમર્થન મળે છે. *

મુનિશ્રી યશોવિજયજી

---

* આ પટ પૂ. આચાર્યશ્રી વિજયધર્મસૂરિજી મહારાજના શિષ્ય મુનિશ્રી યશોવિજયજી મહારાજને સં. ૨૦૦૯ માં અમદાવાદ મુકામે અણધાર્યો પ્રાપ્ત થયો હતો. પટનું માપ ૧૦"×૧૦" છે. આ પટ મુનિશ્રી યશોવિજયજી મહારાજના સંગ્રહમાં છે.— સંપાદકો.

સુપાસનાહચરિયંની હસ્તલિખિત પોથીમાંનાં રંગીન ચિત્રો

મુનીશ્રી પુણ્યવિજયજી

શ્રી લક્ષ્મણગણિવિરચિત પ્રાકૃત સુપાસનાહચરિયંની હસ્તલિખિત પ્રાચીન પ્રતિમાંથી પસંદ કરીને ૭ સુંદરતમ ચિત્રો આ સ્મારક ગ્રંથમાં આપવામાં આવ્યાં છે. આ પ્રતિ, પાટણના "શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્ય જૈન જ્ઞાનમંદિર"માં ત્યાંના તપાગચ્છીય જૈન સંઘની સમ્મતિથી મૂકાયેલા 'તપાગચ્છીય જૈન જ્ઞાનભંડાર'ની છે. આ આખી પોથીમાં શ્રી સુપાર્શ્વનાથચરિત્રમાંના વિવિધ પ્રસંગોને દર્શાવતાં બધાં મળીને ૩૭ ચિત્રો છે, જે પૈકી ૩૧થી ૩૬ સુધીનાં ચિત્રો પ્રતિના માર્જીનને બાદ કરીને આખા પાનામાં આલેખાયેલાં છે અને બાકીનાં ચિત્રો પાનાના અર્ધા કે ત્રીજા ભાગમાં આલેખાયેલાં છે. દરેક ચિત્રની બાજુમાં ચિત્રનો ક્રમાંક અને તેનો પરિચય આપવામાં આવ્યો છે, જેનો ક્રમવાર ઉતારો આ ચિત્રપરિચયમાં આપવામાં આવશે. પ્રતિમાંનાં ૨૦, ૪૩ અને ૩૩૨ એ ત્રણ પાનાં ખોવાઈ જવાને કારણે કે જીર્ણ થઈ જવાને કારણે નવાં લખાયેલાં છે અને તેમાં ચિત્રો પણ આલેખવામાં આવ્યાં છે, જે મૂળ ચિત્રકળાને પહોંચી શકતાં નથી. આ કારણસર પ્રતિમાં ક્રમાંક ૨-૩-૧૫-૧૬ અને ૩૧ એમ પાંચ ચિત્રો નવીન છે, જ્યારે બાકીનાં બધાં જ ચિત્રો પ્રાચીન અને બરાબર સુવ્યવસ્થિત રીતે સચવાયેલાં છે. આખી પ્રતિ લગભગ જીર્ણદશાએ પહોંચવા છતાં તે આજ સુધી જે રીતે સચવાયેલી છે એ રીતે સચવાશે તો હજુ પણ બીજી બે-ચાર સદીઓ સુધી પ્રતિને કે ચિત્રોને આંચ આવે તેમ નથી.

આ પ્રતિનો નંબર ૧૫૦૬૯ છે અને તેની પત્રસંખ્યા ૪૪૩ છે. પ્રતિની લંબાઈ-પહોળાઈ ૧૧। × ૪।। ઇંચિની છે. પાનાની દરેક બાજુ પર બાર લીટીઓ અને દરેક લીટીમાં ૩૨થી ૩૮ અક્ષરો લખેલા છે. પ્રતિની લિપિ સુંદર અને સચિત્ર સુંદર પોથીમાં શોભે તેવી છે. પ્રતિ વિક્રમ સંવત્ ૧૪૭૯–૮૦માં લખાયેલી છે. તેના અંતમાં નીચે પ્રમાણે લેખનસમયાદિને સૂચવતી પુષ્પિકા છે :

संवत् १४८० वर्षे । शाके १३४५ प्रवर्त्तमाने । ज्येष्ठ वदि १० शुक्रे ववकरणे । मेदपाटदेशे । देवकुलवाटके । राजाधिराजराणामोकलविजयराज्ये । श्रीमद्बृहद्गच्छे । मड्डाहडीय भट्टारक श्रीहरिभद्रसूरिपरिवारभूषण पं० भावचंद्रस्य शिष्यलेशेन । मुनि । हीराणंदेन लिलिखिरे ।

नंदे मुनौ युगे चंद्रे १४७९ ज्येष्ठमासे सितेतरे ।
दशम्यां लेखयामास शुभाय ग्रन्थपुस्तकम् ॥ १ ॥
नंद–मुनि–वेद–चंद्रे वर्षे श्रीविक्रमस्य ज्येष्ठशिते ।
अलिखत् **सुपार्श्वचरितं हीराणंदो** मुनींद्रोऽयम् ॥ २ ॥

આ પુષ્પિકામાં એટલું જણાવવામાં આવ્યું છે કે વિ. સં. ૧૪૭૯માં મેદપાટ-મેવાડ દેશના દેવકુલવાટક—દેલવાડામાં રાણા **શ્રીમોકલ**ના રાજ્યમાં બૃહદ્ગચ્છાંતર્ગત મડ્ડાહડીય આચાર્યશ્રી હરિભદ્રસૂરિના શિષ્ય ભાવચંદ્રના શિષ્ય હીરાણંદે આ પ્રતિ લખી છે.

CC0.In Publiç Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

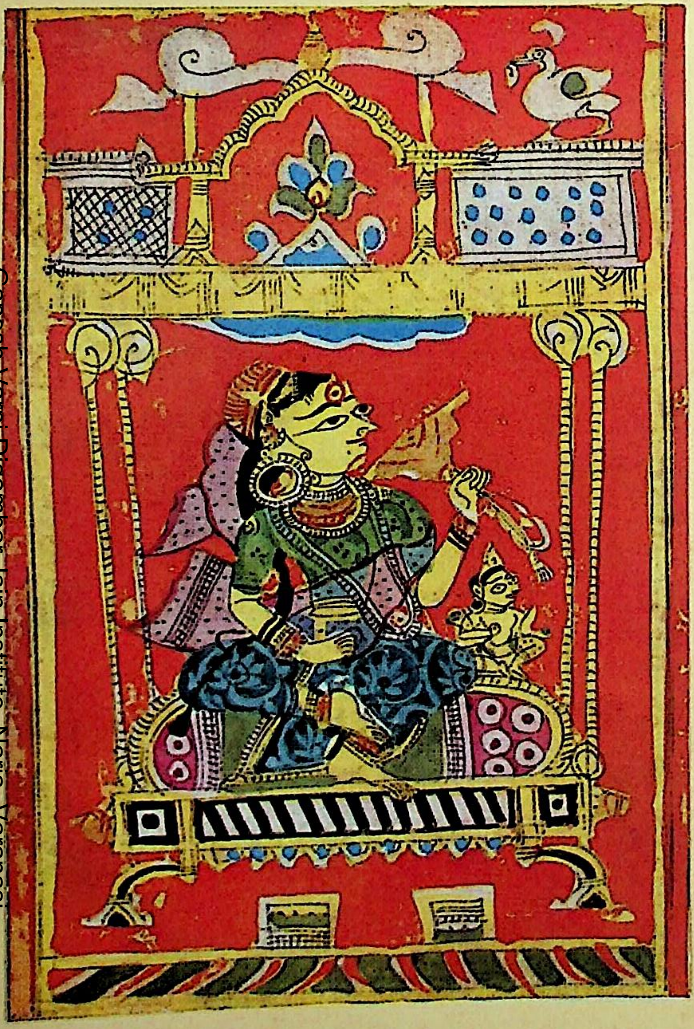

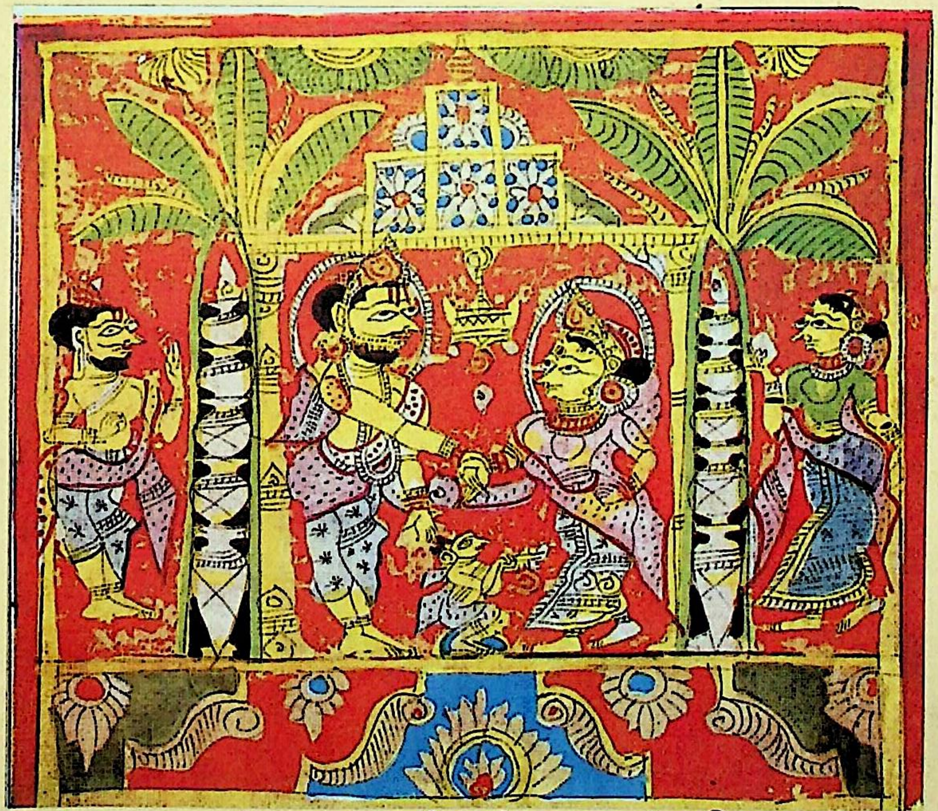

चित्र नं. २. सोमा राजकुमारी साथे भगवाननुं पाणिग्रहण.

←चित्र नं. १. वासभवनमां पृथ्वीमाता साथे भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ.

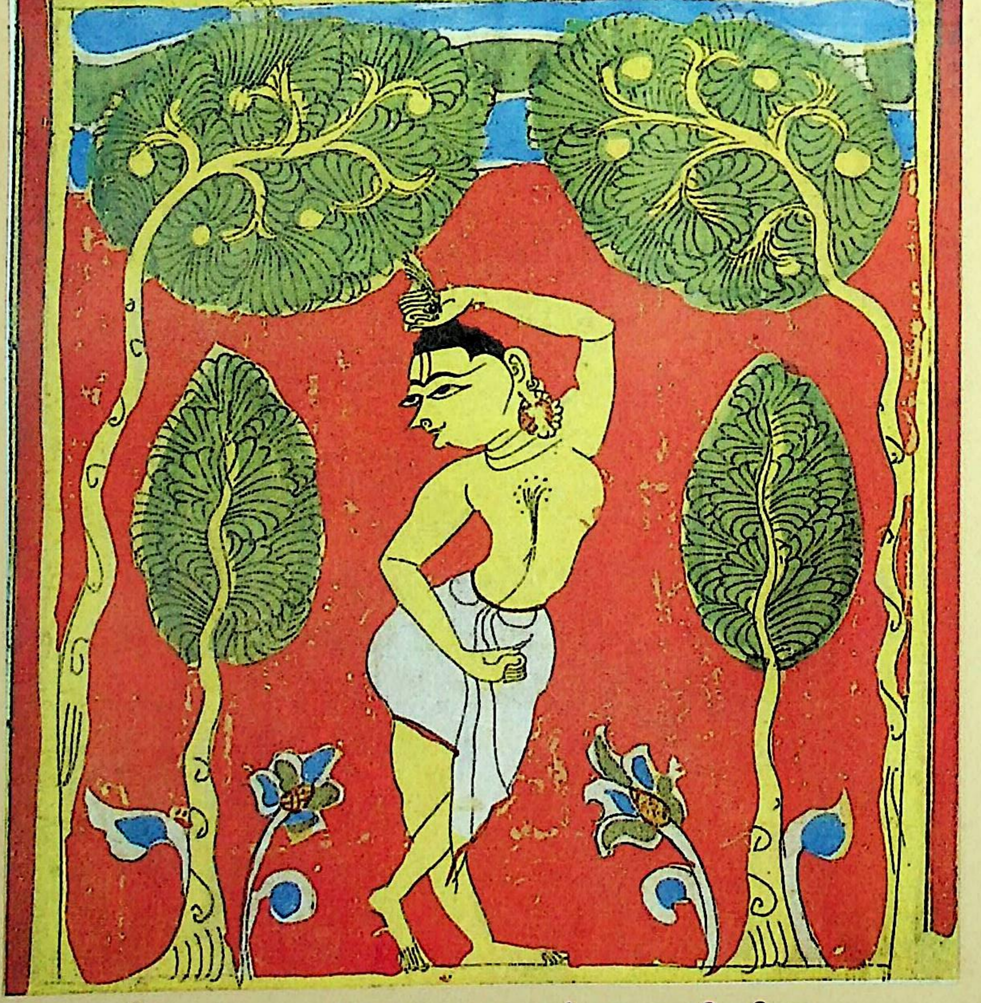

चित्र नं. ३. सहस्राम्रवन उद्यानमां भगवाननी दीक्षा.

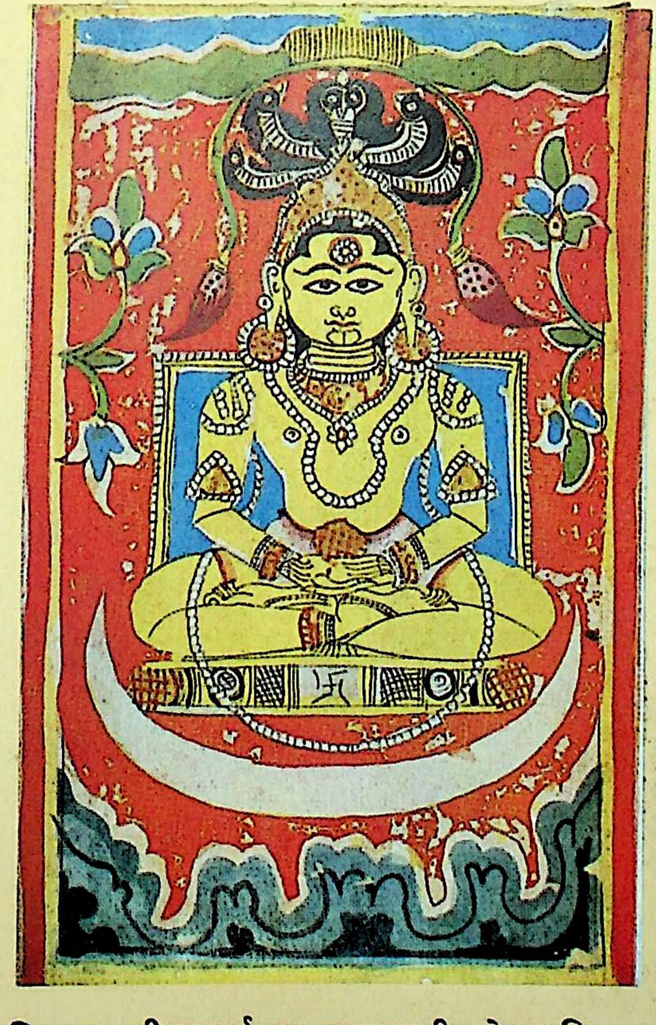

चित्र ५. श्रीसुपार्श्वनाथ भगवाननी मोक्षप्राप्ति.

પ્રતિની પુષ્પિકામાં એ જણાવવામાં નથી આવ્યું કે પ્રતિમાંનાં ચિત્રો હીરાણંદમુનિએ પોતે આલેખેલાં છે કે કોઈ નિષ્ણાત ચિત્રકારે આલેખેલાં છે. સંભવતઃ હીરાણંદનાં આલેખેલાં ચિત્રો નહિ હોય. છતાં એ પ્રશ્ન સામાન્ય રીતે અણઉકેલ્યો જ ગણાય.

ચિત્રોની લંબાઈ-પહોળાઈ વધારેમાં વધારે ૮।×૪।। ઈંચની છે અને ઓછામાં ઓછી ૩।×૪।। ઈંચ છે. મોટા ભાગનાં ચિત્રો ૩।×૪।। ઈંચનાં છે. કોઈ કોઈ ચિત્ર ૪।।×૪।। ઈંચનાં પણ છે. ચિત્રોમાં લાલ, લીલો, પીળો, આસમાની, ગુલાબી, કાળો, સફેદ, સોનેરી અને રૂપેરી એમ નવ રંગનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે. રંગોની બનાવટ અને મિશ્રણો અતિશ્રેષ્ઠ હોઈ પ્રતિ પ્રાચીન અને તે સાથે જીર્ણ થવા છતાં રંગોની ઝમક અને તેનું સૌષ્ઠવ આજે પણ આંખને આકર્ષે છે. આપણે ત્યાં પ્રાચીન કાળથી ઘણા ઘણા રંગોનું નિર્માણ અને તેનો ઉપયોગ થતો હતો, જેનું ભાન આપણને પ્રાચીન ગ્રંથોમાંનાં ચિત્રો અને પ્રાચીન ચિત્રપટ્ટિકાઓના દર્શનથી થાય છે. આ રંગો મુખ્યત્વે વનસ્પતિ, માટી અને ધાતુઓમાંથી બનતા હતા. જેને લગતા ઘણા ઘણા ઉલ્લેખો આપણને પ્રાચીન ગ્રંથોમાં અને ખાસ કરીને વિપ્રકીર્ણ પ્રાચીન પાનાંઓમાંથી મળી આવે છે. આવા કેટલાક ઉલ્લેખોની નોંધ મેં ભાઈ સારાભાઈ નવાબ સંપાદિત "ચિત્રકલ્પદ્રુમ"માંના મારા "ભારતીય જૈન શ્રમણસંસ્કૃતિ અને જૈન લેખનકળા" નામના અતિવિસ્તૃત લેખમાં આપી છે. તે પછી આને લગતા બીજા કેટલાય ઉલ્લેખો મળી આવ્યા છે. આથી ચિત્રકળા આદિ માટે ઉપયોગી રંગો બનાવવાની કુશળતા આપણે ત્યાં કેટલી અને કેવી હતી તેનો આપણને ખ્યાલ આવી શકે છે.

પ્રાચીન ચિત્રકળાના નિર્માણ સામે આજની કેટલીક વિધવિધ માન્યતા, કલ્પના અને તર્કો-આક્ષેપો હોવા છતાં આ ચિત્રોના નિર્માણમાં એક વિશિષ્ટ પરંપરા હતી, એમાં તો જરાય શંકાને સ્થાન નથી. એ નિર્માણ પાછળના કેટલાક ખ્યાલો વીસરાઈ જવાને લીધે એ ટીકાસ્પદ બને, એ કોઈ ખાસ વસ્તુ ન ગણાય. એટલે પ્રસ્તુત ચિત્રોનું નિરીક્ષણ કરનારે અમુક વિશિષ્ટ દૃષ્ટિએ તેનું અવલોકન કરવું જોઈએ. આ ચિત્રો આપણા પ્રાચીન રીતરિવાજો, સંસ્કૃતિ, વેષ-વિભૂષા આદિ અનેક બાબતો ઉપર વિશિષ્ટ પ્રકાશ પાડે છે, એ એક ખાસ ધ્યાનમાં રાખવા જેવી વસ્તુ છે. આટલું ટૂંકમાં જણાવ્યા પછી હવે પ્રતિમાં જે ક્રમે ચિત્રો અને તેનો પરિચય નોંધાયેલો છે તેનો ઉતારો આ નીચે આપવામાં આવે છે:

पत्र–पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
१–२	१.	श्रीसुपार्श्वजिनः
२–१	२.	श्रीसरस्वती देवी
२–२	३.	गुरुमूर्त्ति
२२–२	४.	प्रथम भव । मध्यमउवरिम ग्रिवेके भोग्य
२५–१	५.	भाद्रपद वहुलाष्टमी सुमिनानि पश्यति
२५–२	६.	गजादि चतुर्दश सुसिनानि १४
२७–१	७.	राजा श्रीसुपइट्ठ । राजाग्रे सुपिनानि कथयति राज्ञी ।
२८–१	८.	चारणमुनि सुप्नफलं विचारयति । राजा सुपइट्ठ सुणति ।

पत्र–पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
२९–१	९.	राजा श्रीदानं ददंति स्वप्नपाठकानाम्
३१–१	१०.	राज्ञी पुहमिदेवी प्रसूता ज्येष्ठ उज्ज्वला द्वादशी । सुपार्श्वजन्म
३८–१ डाबी बाजूए	११.	सुरगिरौ इंद्र स्नात्रं करोति
३८–१ जमणी बाजूए	१२.	सुरा स्नात्रवेलां नानाशब्देन वाद्यतं कुरुते
४२–२ डाबी बाजूए	१३.	राज्ञी वासभवण
४२–२ जमणी बाजूए	१४.	राजा श्रीसुपइट्ठ पुत्रदंसण करणार्थे आगत
४३–२ डाबी बाजूए	१५.	...
४३–२ जमणी बाजूए	१६.	...
५०–२	१७.	श्रीसुपार्श्व पाणिग्रहण भार्या सोमा सहित
५२–२	१८.	राजा श्रीसुपार्श्व सूर्यमंडलं असितं पश्यति प्रतिबुद्ध
६०–१	१९.	सहसांबवणे दीक्षां गृह्णयति जगन्नाथ ज्येष्ठ शुदि १३
६२–१	२०.	जगन्नाथु परमान्नं पारयति । महिंदु पारावयति । महिंदगृहे सुवर्ण रत्न वृष्ट । देव महोत्सव
६४–२ डाबी बाजूए	२१.	केवलज्ञानं उत्पन्नं सिरीस वृक्षतले फागु व ६
६४–२ जमणी बाजूए	२२.	समोसरणु
६८–१	२३.	समवसरण । अशोक चैत्यवृक्ष धनु क २४०० । सोमा नामा भार्या पुत्रसहिता वंदनायागता
६९–१	२४.	श्रीसुपार्श्वजिन समवसरण । विरुद्ध जीव देसणा श्रुण्वंति
७३–१	२५.	सोमा नाम पत्नीं दीक्षा दीयते । पउत्तिणीपदे स्थापिता । अनेक भव्यजना दीक्षां गृह्णन्ति देशनाप्रतिबुद्धा
७५–२	२६.	श्रीनंदवद्धणपुराधिपति राजा श्रीविजयवर्ध्धण प्रतिबुद्ध । दीक्षा गृहीता ।
७६–१	२७.	श्रीसुपार्श्व देशनां कुरुते । पादपद्मभ्रमर राजा दान विरति । सम्यक्त्वादि सातीचार द्वादशव्रतादि व्याख्यान
७६–२	२८.	कुमुदचंद उपाध्याय चम्पकमालां पठावयति
१३१–१	२९.	कालिकादेवी वीसभुजा । भीमकुमरमित्र । कापालिक रूप । भीमकुमरः शिलां क्षिपति । भीमकुमर रूपः । तत्र हस्त । खड्गं गृह्णाति । कृष्णभुजारूढो आकाशे व्रजति भीमः । महिषारूढा देवी रुंडमालहारा

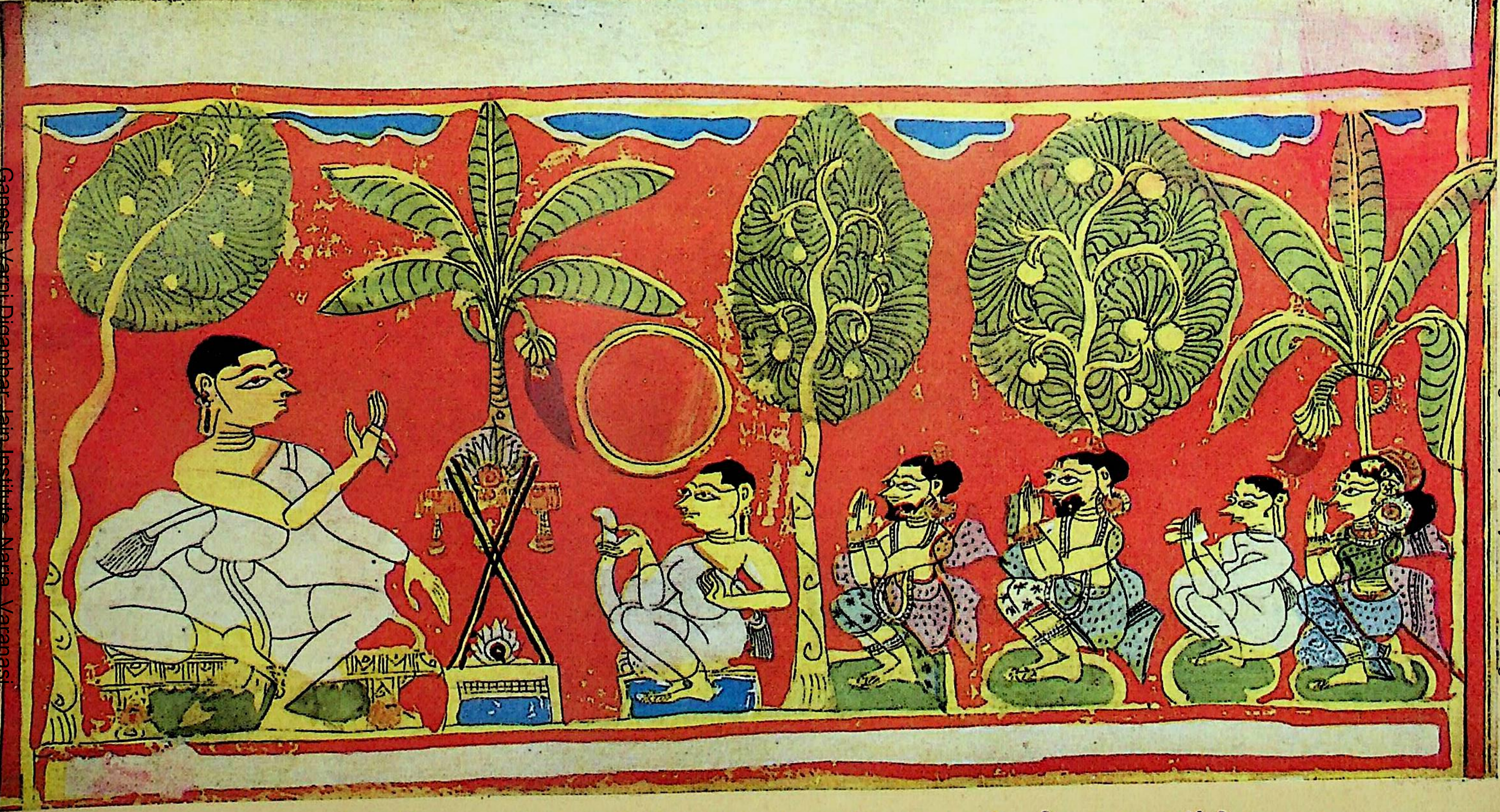

चित्र नं. ४. श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामिना प्रथम दिन्न गणधरनुं वनमां आगमन अने पर्षदा समक्ष धर्मोपदेश.

पत्र-पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
२६६-२	३०.	**उपर**—सहकारतले श्रुतज्ञानिनं मुनिं कीरी नमस्करोति **नीचे**—रिपुमर्दनराजाग्रे शुकः शुकी संवादं कुर्वंति
३३२-२	३१.	आखा पानामां चित्र छे. **डाबी बाजू**—राज्ञश्चरणे श्मशानभूमिकायां वेताला नमंति **जमणी बाजू**—वेताल धाविवि बंधरूपा
३३३-२	३२.	आखा पानामां चित्र छे. **डाबी बाजू**—राजा सभायामुपविष्टः । वेतालश्छत्रं धरति **जमणी बाजू**—वेताला नृत्यं कुर्वंति । एकः तुलाहस्तो नृत्यति वृद्धरूपः
३८६-१	३३.	आखा पानामां चित्र छे. **डाबी बाजू**—राजा सभायां उपविष्टः । विक्रमराजा **जमणी बाजू**—आकाशात् खेटक-खड्गधारी वेताल उत्तरितः । वेताल युद्धं करोति राजपुरुषैः सार्धम्
३८७-१	३४.	आखा पानामां चित्र छे. **डावी वाजू**—शंखकुमरः वेतालं प्रति धावितः। राजानं प्रति वदति पादौ लगित्वा **जमणी बाजू**—वेतालरूपं युध्यमानम्। अत्र वनमध्यें सूरयः संति केचित्। दृष्टाः कुमरेण। बाहुभ्यां मिलापकं कुर्वंति द्वौ पुरुषौ
४३९-१	३५.	वनमध्ये गणधरः समागतः। दिन्नगणधरः
४४०-२	३६.	आखा पानामां चित्र छे **डावी वाजू**—श्रीसुपार्श्वजिन शैलेशीध्यानमाश्रितः सम्मेतशिखरोपरि **वचमां**—देवा मृतकविमानमुत्पाटयंति। तीर्थंकरस्य उत्सव **जमणी बाजू**—श्रीसुपार्श्वजिनदेवस्य देवा अंगसंस्कारं कुर्वंति सम्मेतशैलोपरि
४४१-१	३७.	श्रीसुपार्श्वजिना मुक्तिं प्राप्ताः

આ ઉતારો सुपासनाहचरियंनी હસ્તલિખિત પ્રતિમાં ચિત્રોની બાજુમાં જે ચિત્ર-પરિચય આદિ લખેલ છે તેનો અક્ષરશઃ મૂળમાં છે તેવો આપવામાં આવ્યો છે. એ શુદ્ધ સંસ્કૃત ભાષામાં નથી પણ મિશ્રિત ભાષામાં છે. છતાં એ પરિચય સંસ્કૃતપ્રધાન ભાષામાં છે એ સ્પષ્ટ દેખાય છે. પ્રસ્તુત સ્મારક ગ્રંથમાં ઉપર નોંધેલાં ૩૭ ચિત્રોમાંથી પસંદ કરીને સુંદર ૭ ચિત્રો છાપવામાં આવ્યાં છે.

પ્રથમ ચિત્ર પ્રતિમાં ૧૩મું છે, જેમાં ભગવાન્ શ્રીસુપાર્શ્વનાથની માતા પોતાના પુત્રને લઈને પારણામાં બેઠાં છે અને પુત્રને રમાડી રહ્યાં છે.

બીજું ચિત્ર પ્રતિમાં ૧૭મું છે, જેમાં સુપાર્શ્વનાથ સોમા નામની રાજકુમારીને પરણી રહ્યા છે એ પ્રસંગનું દર્શન છે. એટલે એમાં ચોરીની અને હસ્તમેળાપનો પ્રસંગ દેખાડવામાં આવ્યો છે.

ત્રીજું ચિત્ર પ્રતિમાં ૧૯મું છે, જેમાં ભગવાનના દીક્ષાપ્રસંગનું દર્શન છે. એટલે ભગવાનને કેશલુંચન કરતા બતાવવામાં આવ્યા છે. આ ચિત્રમાં વૃક્ષોને અતિસુંદર રીતે ચીતરવામાં આવ્યાં છે, જેથી ચિત્ર આકર્ષક બને છે.

ચોથું ચિત્ર પ્રતિમાં ૩૫મું છે. એમાં શ્રીસુપાર્શ્વનાથસ્વામીના મુખ્ય પટ્ટગણધર, જેમનું નામ દિન્નગણધર છે, તે વનમાં પર્ષદા સામે ઉપદેશ કરી રહ્યા છે. આ ચિત્રમાં વૃક્ષોનું સુંદર આલેખન અને રસપૂર્વક ઉપદેશને ઝીલતી પર્ષદાનું વિનીત ભાવભર્યું ચિત્ર દોરવામાં આવ્યું છે.

પાંચમું ચિત્ર પ્રતિમાં ૩૬મું છે ને તે ભગવાનના નિર્વાણ-કલ્યાણકને લગતા ઉત્સવાદિના પ્રસંગને લગતું છે. આ ચિત્રને ચિત્રકારે ત્રણ વિભાગમાં આલેખ્યું છે. પ્રથમ વિભાગમાં ભગવાન સમ્મેતશિખરગિરિ ઉપર શૈલેશીધ્યાન—અંતિમ સમાધિ લે છે એ દેખાડેલ છે. વચલા ચિત્રમાં ભગવાનના દેહને શિબિકામાં પધરાવી દેવતાઓને નિર્વાણ–મહોત્સવ ઉજવતા બતાવ્યા છે અને છેલ્લા ચિત્રમાં ભગવાનના દેહનો અગ્નિસંસ્કાર દર્શાવ્યો છે. અગ્નિની જ્વાળાઓની વચમાં બળતા ભગવાનના દેહનું દર્શન આમાં સુંદર રીતે આલેખવામાં આવ્યું છે.

છઠ્ઠું ચિત્ર પ્રતિમાં ૩૭મું એટલે અંતિમ ચિત્ર છે. એમાં ભગવાન શ્રીસુપાર્શ્વનાથસ્વામીને સિદ્ધિપદમાં પ્રાપ્ત થયાનું આલેખન છે.

આમ આ ભાવને સૂચવતાં છ ચિત્રો આ સ્મારક ગ્રંથમાં આપવામાં આવ્યાં છે, જે પ્રાચીન ગ્રંથસ્થ ચિત્રકળાના અપૂર્વ નમૂનારૂપ છે અને સ્મારકગ્રંથની શોભાનું અજોડ પ્રતીક છે.

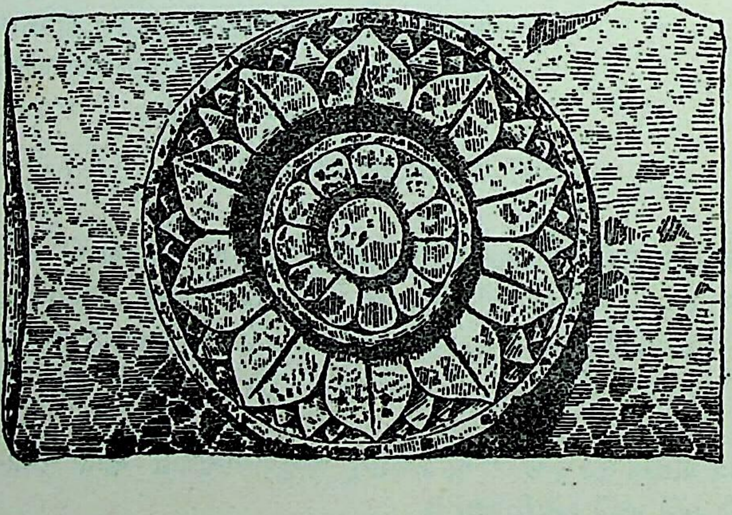

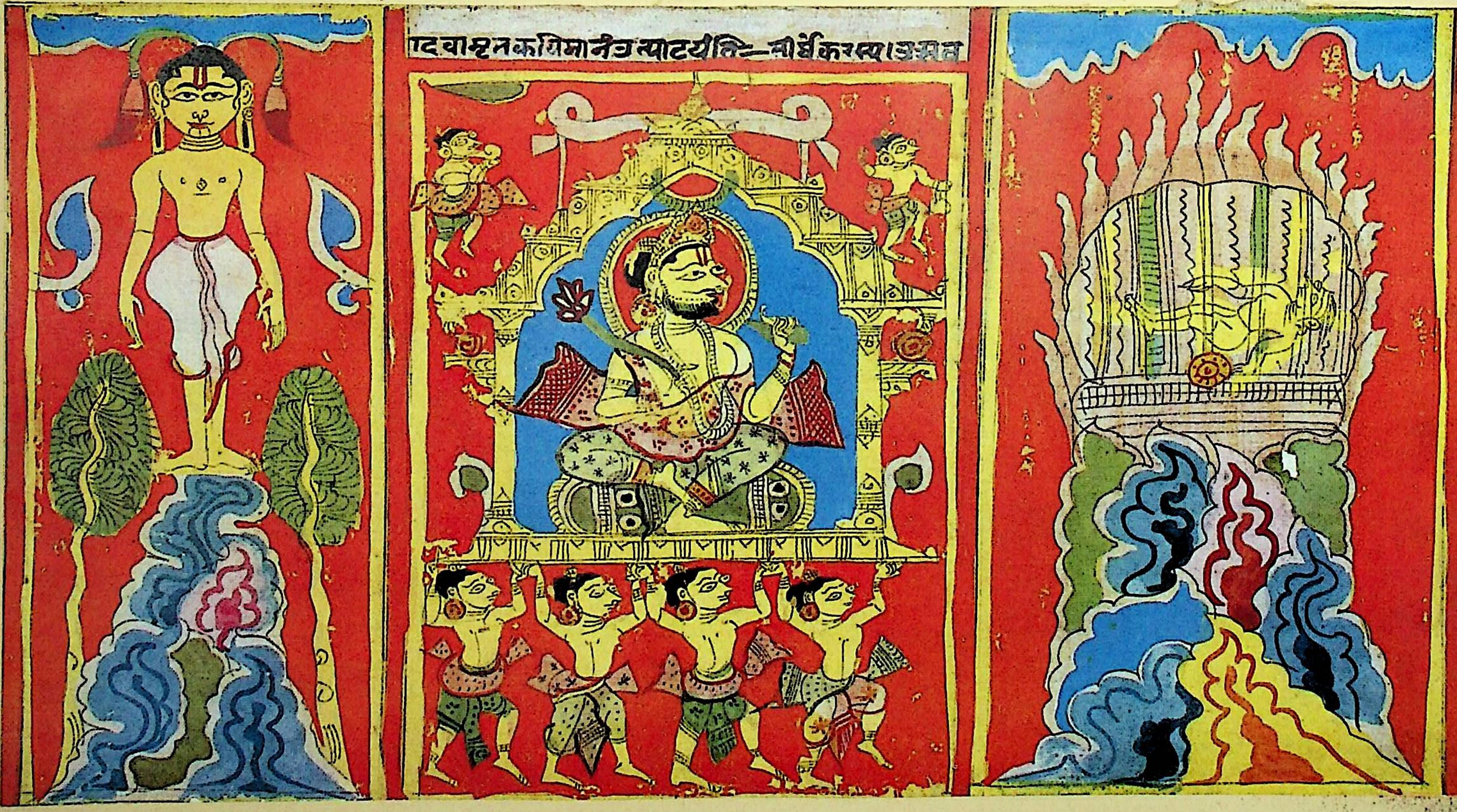

१ २ ३

चित्र ६. भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामीनुं निर्वाणकल्याणक

१ सातमा तीर्थंकर श्रीसुपार्श्वनाथ भगवाननुं समेतशिखर गिरि उपर कायोत्सर्ग मुद्रामां निर्वाण.
२ भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामिना देहने शिबिकामां पधरावी देवोए उजवेली निर्वाणयात्रा.
३ समेतशिखर गिरि उपर भगवानना देहनो अग्निसंस्कार.

શ્રીયશોવિજયોપાધ્યાય અને તેમણે લખેલી હાથપોથી

નયચક્ર

મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી

જૈન શ્રીસંઘ પાસે આજે જે જ્ઞાનસંગ્રહો અને તેમાં જે વિશાળ ગ્રંથરાશિ વિદ્યમાન છે તે આજે એના વિશિષ્ટ ગૌરવની વસ્તુ છે અને ભલભલાને પણ આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરે તેવા અને તેટલા વિશાળ છે. હજારોની સંખ્યામાં વિનાશના મુખમાં જવા છતાં ય આજે જૈન મુનિવરો અને જૈન ગૃહસ્થ શ્રીસંઘોની નિશ્રામાં જે ગ્રંથસંગ્રહો છે તેની ડરતાં ડરતાં પણ સંખ્યા કલ્પવામાં આવે તો તે પણ લગભગ પંદરથી વીસ લાખ જેટલી છે. આ બધા જ્ઞાનભંડારોમાં માત્ર જૈન ગ્રંથો જ છે તેમ નથી પણ તેમાં ભારતીય જૈન જૈનેતર વિધવિધ પ્રકારના સમગ્ર સાહિત્યનો સંગ્રહ છે. કોઈ એવી સાહિત્યની દિશા ભાગ્યે જ હશે જેને લગતા ગ્રંથો આ સંગ્રહોમાં ન હોય. આ ગ્રંથસંગ્રહોની મહત્તા જ એ છે કે તે માત્ર સાંપ્રદાયિક ગ્રંથોની સીમામાં જ વિરમી જતી નથી, પણ તેમાં વૈવિધ્યપૂર્ણ ભારતીય વિશાળ સાહિત્યરાશિ છે. જૈનેતર સંપ્રદાયના એવા સેંકડો ગ્રંથો આ સંગ્રહોમાંથી મળી આવ્યા છે જેની પ્રાપ્તિ તે તે સંપ્રદાયના સંગ્રહોમાંથી પણ નથી થઈ. હજુ તો બધા જૈન જ્ઞાનસંગ્રહોનું સંપૂર્ણપણે અવલોકન થયું જ નથી તે છતાં તેની વિવિધતા અને વિશાળતા વિદ્વજ્જગતને દંગ કરી દે તેવી પુરવાર થઈ છે, પરંતુ જ્યારે આ સમગ્ર જ્ઞાનભંડારોનું અવલોકન વ્યવસ્થિત રીતે કરવામાં આવશે ત્યારે તેમાંથી એવો સાહિત્યરાશિ પ્રાપ્ત થશે કે જગત મુગ્ધ બની જશે, એવી આ એક નક્કર વાત છે. જૈન મુનિવરો અને જૈન શ્રીસંઘોની આજે એ અનિવાર્ય ફરજ છે કે પોતપોતાના અધીનમાં રહેલા જ્ઞાનભંડારોનું સમગ્રભાવે સૂક્ષ્મ અવલોકન કરે. આટલું પ્રાસંગિક જણાવ્યા પછી આજે પ્રસ્તુત સ્મારકગ્રંથમાં नयचक्र ગ્રંથનાં આદિ-અંતનાં પાનાંઓનું જે પ્રતિબિંબચિત્ર આપવામાં આવ્યું છે તેનો પરિચય અહીં કરાવવામાં આવે છે.

नयचक्र ગ્રંથ જેને द्वादशारनयचक्रના નામથી પણ ઓળખવામાં આવે છે એ મૂળ ગ્રંથ આચાર્ય શ્રીમલ્લવાદિવિરચિત છે. જૈન દાર્શનિક આચાર્યો અને જૈન પ્રજા આ આચાર્યને "વાદી" તરીકે ઓળખે છે. આચાર્ય શ્રીહેમચંદ્રે સિદ્ધહેમ વ્યાકરણમાં उत्कृष्टेऽनूपेन સૂત્રમાં अनु मल्लवादिनं तार्किकाः, तस्मादन्ये हीनाः એમ મલ્લવાદી આચાર્ય માટે જણાવ્યું છે.

જૈન દાર્શનિક ક્ષેત્રમાં સન્મતિતર્ક અને નયચક્ર એ બે ગ્રંથનું સ્થાન ઘણું ગૌરવવંતું છે. આ બન્નેય ગ્રંથોનું સંશોધન અને સંપાદન એ પં૰ શ્રીસુખલાલજીના જીવનનું મુખ્ય ધ્યેય હતું, પરંતુ સન્મતિતર્ક ગ્રંથનું સંશોધન અને સંપાદન પં૰ શ્રીબેચરદાસ દોસીના સહકારથી કર્યા પછી નયચક્ર ગ્રંથના સંશોધન અને સંપાદનની વાત કેટલાક સંયોગોને લીધે ત્યાં જ વિરમી ગઈ. ત્યાર પછી એ ગ્રંથનું સંશોધન અને પ્રકાશન ગાયકવાડ ઓરિએન્ટલ સિરિઝ વતી પૂજ્યપાદ શ્રીઅમરવિજયજી મહારાજના વિદ્વાન્ શિષ્ય કવિશ્રી ચતુરવિજયજીએ હાથમાં લીધું. તેનો પ્રથમ ભાગ બહાર પડે તે પહેલાં આ આખા ગ્રંથનું સંશોધન અને સંપાદન સ્વકૃત અવચૂરિ સાથે પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીવિજયલબ્ધિસૂરિજીએ સ્વતંત્ર રીતે કરવા માંડ્યું. પરંતુ જ્યારથી નયચક્રગ્રંથનું સંશોધન અટક્યું હતું ત્યારથી એ ગ્રંથનું વિશિષ્ટ સંશોધન અને સંપાદન થાય એ વાત મારા હૃદયમાં વસી જ હતી, પ્રસંગે પ્રસંગે એ વિષે વિચાર પણ કરવામાં આવતો જ

હતો, પરંતુ જ્યાં સુધી એ ગ્રંથના વિશિષ્ટ સંશોધનને લગતો ભાર સમગ્રપણે ઝીલનાર વિદ્વાન્ કે વિદ્વાનો ન મળ્યા ત્યાંસુધી તે વિષે હું કશું કરી શક્યો નહિ. તેમ છતાં પં૦ શ્રીસુખલાલજીના કહેવાથી મને મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજી અને તેમની ચમત્કારિક સુયોગ્યતાનો પરિચય મળી ગયો હતો. એટલે તેમની હું શોધ કરતો જ હતો કે એ મહાનુભાવ કોણ છે અને કોના પરિવારના છે? ત્યાં જ અણધાર્યો મેઘ વરસી પડે તેની જેમ અચાનક મને ખુદ મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજીનો એક પત્ર આજે હું જે શહેરમાં અને જે સ્થાને રહું છું ત્યાં મળ્યો. મેં એ ઘરબેઠાં આવેલી જ્ઞાનગંગાને વધાવી લીધી અને નયચક્ર મહાશાસ્ત્રના સંશોધન અને સંપાદનનો ભાર તેમના ઉપર નાખ્યો અને તે સાથે તેને લગતી દરેક બાહ્ય સામગ્રી પૂરી પાડવાની જવાબદારી મારી અલ્પસ્વલ્પ શક્તિ અનુસાર મેં પણ સ્વીકારી.

ગાયકવાડ ઓરિએન્ટલ સિરિઝ અને પૂજ્યપાદ આચાર્ય મ૦ શ્રીવિજયલબ્ધિસૂરિજી મહારાજ તરફથી આ ગ્રંથનું કાર્ય ચાલુ હોવા છતાં આ ત્રીજી પ્રવૃત્તિ આદરવાના મૂળમાં ખાસ એ કારણ છે કે પ્રસ્તુત મહર્દ્ધિક ગ્રંથના સંશોધન અને સંપાદન અંગેની આજે જે એક વિશિષ્ટ પદ્ધતિ છે અને સંશોધન કરતાં જે સમતુલા જાળવાવી જોઈએ તેમ જ તે સાથે આજે ઉપલભ્યમાન વ્યાપક સામગ્રીનો જે રીતે ઉપયોગ થવો જોઈએ એ, એમાંથી એકપણ કરી શકે તેવી શક્યતા તેમાં ન હતી. એ જ કારણસર આજે મહાદ્રવ્યવ્યય અને મહાશ્રમસાધ્ય આ કાર્ય હાથ ધરવામાં આવ્યું છે. આ ગ્રંથના સંશોધન માટે કેટલી અને કેવી વિપુલ અને મહત્ત્વની અલભ્ય–દુર્લભ્ય સામગ્રીનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેની નોંધ લેવાનું આ સ્થાન નથી; એટલે એ વાતને અહીં જતી કરીને માત્ર એ બધી સામગ્રીના ઉપર કળશ ચડાવે તેવી જે અંતિમ સામગ્રી પ્રાપ્ત થઈ છે તેનો આ સ્થળે ઉલ્લેખ કરવામાં આવે છે.

પ્રસ્તુત નયચક્રગ્રંથ, કે જે ભાવનગરની શ્રી જૈન આત્માનંદ સભા તરફથી પ્રકાશિત થશે, તેના સંશોધન માટે અમે જે અનેક પ્રાચીન પ્રતિઓ એકત્ર કરી હતી તેમાં બનારસના ખરતરગચ્છીય મંડલાચાર્ય યતિવર શ્રીહીરાચંદ્રજી મહારાજના સંગ્રહની અને પૂજ્યપાદ આચાર્ય મહારાજ શ્રીરંગવિમળજી મહારાજના સંગ્રહની પ્રતિઓ પણ સામેલ છે. એ પ્રતિઓના અંતમાં જે પુષ્પિકા છે તે જોતાં ખાતરી થઈ હતી કે દ્વાદશારનયચક્ર ગ્રંથની એક પ્રતિ પૂજ્યપાદ ન્યાયવિશારદ ન્યાયાચાર્ય મહોપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ અને તેમના સહકારી મુનિવરોએ મળીને લખી હતી. આજે જાણવા-જોવામાં આવેલી નયચક્રગ્રંથની પ્રાચીન-અર્વાચીન હાથપોથીઓમાંથી માત્ર ભાવનગર શ્રીસંઘના જ્ઞાનભંડારની પ્રતિને બાદ કરતાં બાકીની બધી જ પ્રતિઓ એ, ઉપાધ્યાયજીએ લખેલી પ્રતિની જ નકલો છે. આ બધી નકલો લેખકોના દોષથી એટલી બધી ફૂટ અને વિકૃત થઈ ગઈ છે કે જેથી આ ગ્રંથના સંશોધનમ ઘણી જ અગવડો ઊભી થાય. આ સ્થિતિમાં પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધનમાં પ્રામાણિકતા વધે એ માટે ઉપાધ્યાયજી મહારાજે લખેલી મૂળ પ્રતિને શોધી કાઢવા માટે હું સદાય સચેત હતો. પણ તે પ્રતિ ક્યાંયથી હાથમાં ન જ આવી.

પરંતુ જૈન શ્રીસંઘ્રના કહો, પ્રસ્તુત ગ્રંથના રસિક વિદ્વાનોના કહો કે પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધન પાછળ રાતદિવસ અથાગ પરિશ્રમ સેવનાર મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજીના કહો, મહાભાગ્યોદયનું જાગી ઊઠવું કે—જેથી મારા પ્રત્યે પૂજ્યભાવભર્યા મિત્રભાવથી વર્તતા અને સદાય મારી સાથે રહેતા—પૂજ્યપાદશ્રી ૧૦૦૮ શ્રીશાંતમૂર્તિ શ્રીહંસવિજયજી મહારાજના પ્રશિષ્ય પન્યાસ મુનિવર શ્રીરમણીકવિજયજીએ આ વર્ષે દેવશાના પાડાના ઉપાશ્રયમાંના પન્યાસજી મહારાજ શ્રીમહેંદ્રવિમળજી મહારાજના જ્ઞાનભંડારને જોવાનો ઉપક્રમ તેમના શિષ્ય શ્રીહર્ષવિમળજીની ઉદારતાથી કર્યો. આ ઉપક્રમથી એ જ્ઞાનભંડારનું અવલોકન કરતાં પં૦ શ્રીરમણીકવિજયજીના હાથમાં શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના ત્રણ અલભ્ય ગ્રંથો તેમના

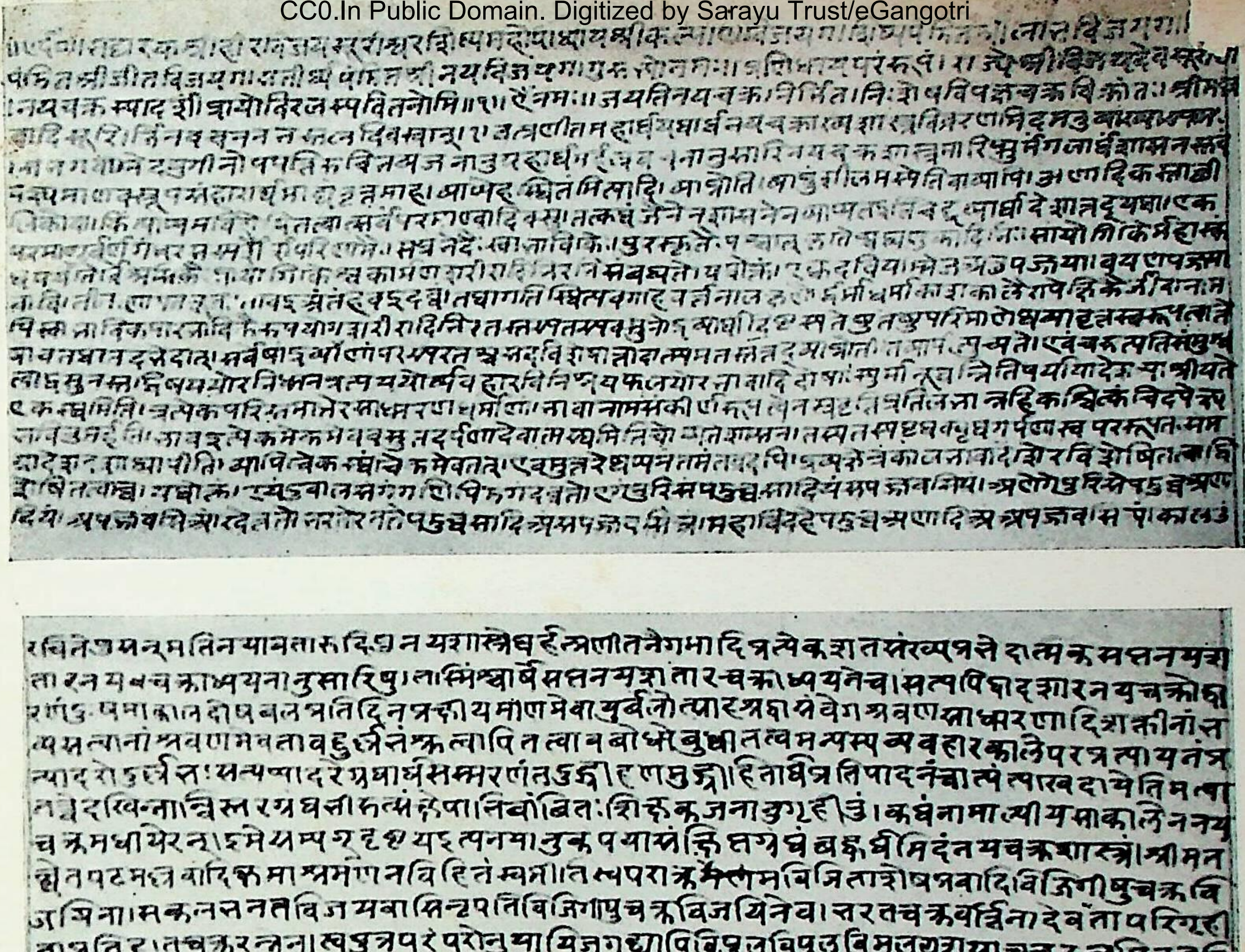

सिंहवादिगणि क्षमाश्रमण कृत नयचक्र टीका
उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षरमां

પોતાના જ હસ્તાક્ષરમાં પ્રાપ્ત થયા અને તે તેમણે મને આપ્યા. એમાં એક वादमाला નામનો ગ્રંથ (છપાયેલ वादमालाथी જુદો), બીજો वीतरागस्तोत्र अष्टमप्रकाशवृत्ति (स्याद्वादरहस्य?) અંતિમ શ્લોક વ્યાખ્યા અપૂર્ણ પર્યંત અને ત્રીજો મલ્લવાદી આચાર્યરચિત નયચક્ર ગ્રંથની પ્રતિ—એ રીતે ત્રણ અપૂર્વ ગ્રંથો મને આપ્યા. આ ત્રણેમાંથી नयचक्र ગ્રંથની પોથી જોતાં મને હર્ષરોમાંચ પ્રકટી ગયા અને અપૂર્વ સ્વર્ગીય આનંદનો પ્રત્યક્ષ અનુભવ થયો.

આ પ્રતિના અંતમાં ઉપાધ્યાયજી મહારાજે જે પુષ્પિકા આલેખી છે એ તો વર્ષો પહેલાં ભાવનગરથી પ્રસિદ્ધિ પામતા 'શ્રી આત્માનંદ પ્રકાશ'માં મુનિ શ્રીજંબૂવિજયજીએ પ્રસિદ્ધ કરી જ દીધી છે. તે છતાં પ્રસ્તુત સ્મારક ગ્રંથમાં ઉપાધ્યાયજી મહારાજની એ પોથીના પ્રતિબિમ્બને સાક્ષાત્ જોનારા રસિક ભક્ત વાચકોને અતૃપ્તિ ન રહે તે માટે એ આખી પુષ્પિકા અહીં આપવામાં આવે છે.

प्रतिष्ठितसिद्धविजयावहजगन्मूर्द्धस्थसिद्धवत् प्रतिष्ठितं यशस्करमिति ॥ छः ॥ इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्बं समाप्तम् ॥ छः ॥ ग्रंथाग्रं १८००० ॥

याद्दशं पुस्तके द्दष्टं ताद्दशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥ १ ॥

संवत् १७·१० वर्षे पोसवदि १३ दिने **श्रीपत्तन**नगरे ॥ पं० **श्रीयशविजयेन** पुस्तकं लिखितं । शुभं भवतु ॥

उदकानलचौरेभ्यो । मूषकेभ्यो विशेषतः ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ १ ॥
भग्नपृष्ठिकटिग्रीवा । द्दष्टिस्तत्र अधोमुखी ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ २ ॥

पूर्वं पं० **यशविजय**गणिना **श्रीपत्तने** वाचितं ॥ छ ॥

आदर्शोऽयं रचितो । राज्ये **श्रीविजयदेव**सूरीणां ।
संभूय यैरमीषा-। मभिधानानि प्रकटयामि ॥ १ ॥
विबुधाः **श्रीनयविजया** गुरवो **जयसोम**पंडिता गुणिनः ।
विबुधाश्च **लाभविजया** गणयोऽपि च **कीर्त्तिरत्नाख्याः** ॥ २ ॥
तत्त्वविजयमुनयोऽपि प्रयासमत्र स्म कुर्वते लिखने ।
सह **रविविजयै**र्विबुधैरलिखच्च **यशोविजय**विबुधः ॥ ३ ॥
ग्रंथप्रयासमेनं । द्दष्ट्वा तुष्यंति सज्जना बाढं ।
गुणमत्सरव्यवहिता । दुर्जनद्दक् वीक्षते नैनं ॥ ४ ॥
तेभ्यो नमस्तदीयान्स्तुवे गुणांस्तेषु मे द्दढा भक्तिः ।
अनवरतं चेष्टंते जिनवचनोद्भासनार्थं ये ॥ ५ ॥ श्रेयोस्तु ॥
सुमहानप्ययमुच्चैः । पक्षेणैकेन पूरितो ग्रंथः ।
कर्णामृतं पटुधियां जयति चरित्रं पवित्रमिदं ॥ ६ ॥ श्रीः ॥

આ પુષ્પિકામાં એમ જણાવવામાં આવ્યું છે કે—“પ્રસ્તુત હાથપોથી પાટણમાં વિ૦ સં૦ ૧૭૧૦માં લખી છે. એ લખવા પહેલાં ઉપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજે આ આખો ગ્રંથ પાટણમાં વાંચી લીધો હતો અને ત્યાર પછી શ્રીનયવિજયજી મહારાજ, શ્રીજયસોમ પંડિત, શ્રીલાભવિજયજી મહારાજ, શ્રીકીર્ત્તિરત્ન ગણી, શ્રીતત્ત્વવિજયજી, શ્રીરવિવિજય પંડિત અને ખુદ શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ, એમ સાત મુનિવરોએ મળીને ૧૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ આ મહાકાય શાસ્ત્રની માત્ર એક પખવાડીઆમાં—પંદર દિવસમાં જ પોથી લખી છે—નકલ કરી છે.”

આ ગ્રંથની નકલ કરવા માટે આટલી બધી ઉતાવળ કરવી પડી એ એક નવાઈ જેવી વાત છે. શું જેમની પાસે આ ગ્રંથની વિરલ પ્રતિ હશે તેમણે આવી ફરજ પાડી હશે કે શું?—એ એક કોયડો જ છે. અસ્તુ. આ ગ્રંથ કેટલા મહત્ત્વનો અને જૈન દાર્શનિક વાઙ્મયના અને જૈન શાસનના આધારસ્તંભરૂપ છે? એની પ્રતીતિ આપણને એટલાથી જ થાય છે કે શ્રીયશોવિજયજી જેવાએ આ ગ્રંથની નકલ કરવાનું કાર્ય હાથ ધર્યું.

પ્રસ્તુત પ્રતિને લખવામાં જે સાત મુનિવરોએ ભાગ લીધો છે તેમના અક્ષરો વ્યક્તિવાર પારખવાનું શક્ય નથી. આ લખાણમાંથી આપણે માત્ર શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ અને તેમના ગુરુવર શ્રીનયવિજયજીના હસ્તાક્ષરોને પારખી શકીએ તેમ છીએ. આ ગ્રંથમાં પત્ર ૧થી ૪૪, ૫૭થી ૭૬, ૨૫૧થી ૫૫ અને ૨૯૧થી ૨૯૪ એમ કુલ્લે ૭૩ પાનાં શ્રીયશોવિજયજીએ લખેલાં છે, જેના અક્ષરો ઝીણા હોઈ એકંદર ૪૫૦૦થી ૪૮૦૦ જેટલી શ્લોકસંખ્યા થાય છે. શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ પંદર દિવસમાં ચોક્કસાઈભર્યું આટલું બધું લખી કાઢે, એ એમની લેખનકળાવિષયક સિદ્ધહસ્તતાનો અપૂર્વ નમૂનો જ છે અને એ સૌ કોઈને આશ્ચર્યચકિત કરે તેવી હકીકત છે.

પ્રસ્તુત પ્રતિનાં કુલે ૩૦૯ પાનાં છે. તેમાં પંક્તિઓનાં લખાણનો કોઈ ખાસ મેળ નથી. સૌએ પોતાની હથોટી પ્રમાણે લીટીઓ લખી છે છતાં મોટે ભાગે ૧૭થી ઓછી નથી અને ૨૪થી વધારે નથી. પ્રતિની લંબાઈ–પહોળાઈ ૧૦×૪ાા ઇંચની છે. ૩૦૯મા પાનામાંની અંતિમ ૭ શ્લોક પ્રમાણ પુષ્પિકા શ્રીયશોવિજયજી મહારાજે લખેલી છે.

અંતમાં એક વાત જણાવીને આ વકતવ્ય પૂરું કરવામાં આવે છે. આજે આપણને નયચક્ર ગ્રંથની જે પ્રાચીન-અર્વાચીન પોથીઓ મળે છે અને શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના હાથની જે પોથી મળી આવી છે તે માત્ર નયચક્ર શાસ્ત્ર ઉપર આચાર્ય શ્રીસિંહવાદિ–ગણિ–ક્ષમાશ્રમણે રચેલી ટીકામાત્ર જ છે. આજે જૈન શ્રીસંઘના ભાગ્યસિતારાની નિસ્તેજતા છે કે આચાર્ય શ્રીમલ્લવાદિપ્રણીત એ મૂલ્યવાન્ નયચક્ર ગ્રંથની નકલ આજે ક્યાંય જોવામાં નથી આવતી. આ ગ્રંથની હાથપોથીને શોધી કાઢનાર ખરેખર જૈન જગતમાં જ નહિ પણ સમસ્ત વિદ્વજ્જગતમાં સુદ્ધાં દૈવી ભાગ્યથી ચમકતો ગણાશે, મનાશે અને પૂજાશે.

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

: श्रद्धांजलि अने जीवन :

हिन्दी विभाग

: संपादक :

प्रो. पृथ्वीराज जैन, एम. ए., शास्त्री

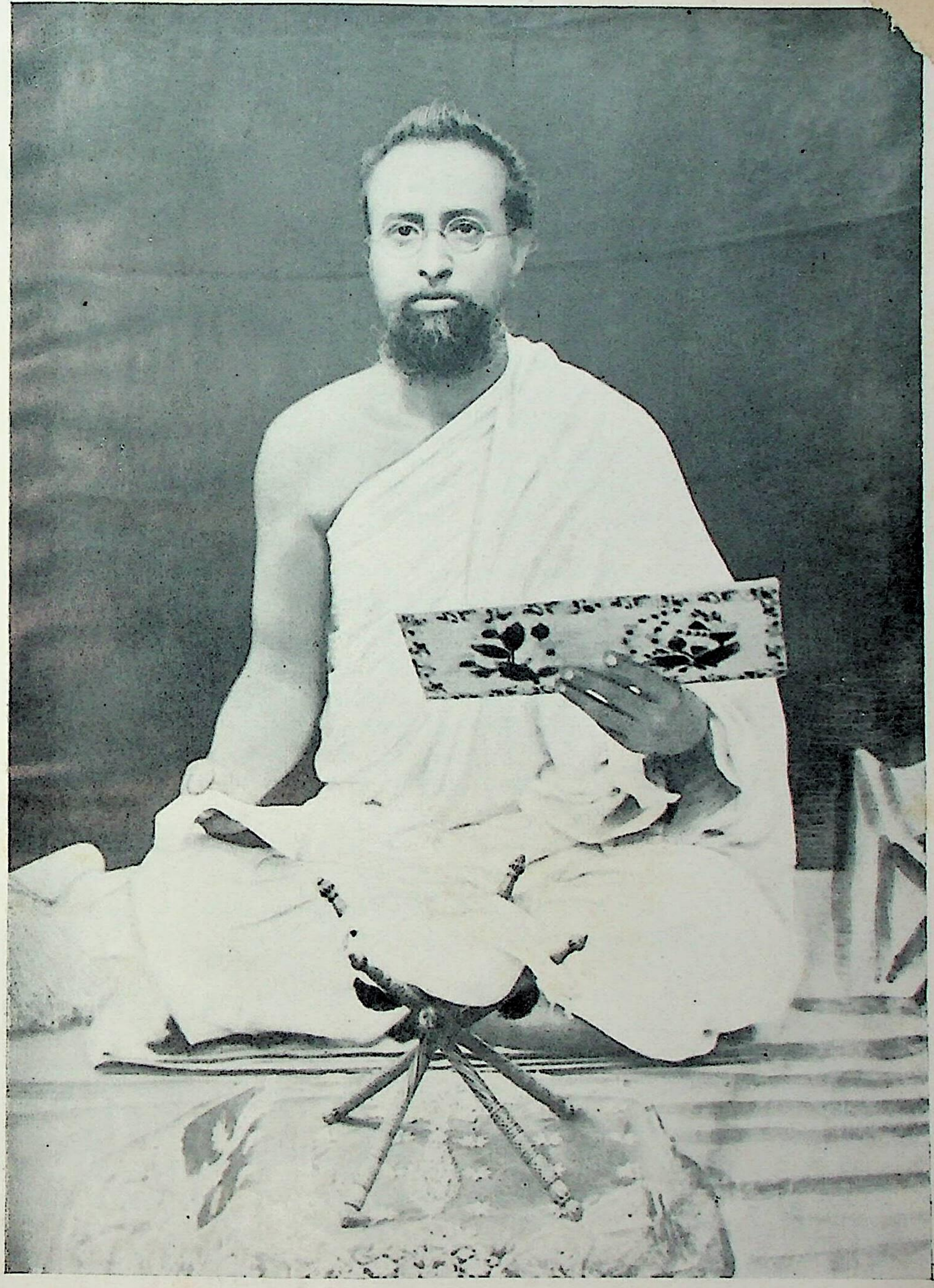

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि महाराज

ĀCĀRYA VIJAYAVALLABHASŪRI MAHARAJ

Birth V.S. 1927 Renunciation V.S. 1943 Death V.S. 2010

जागृति के देवदूत श्री वल्लभ

श्री रामकुमार जैन, बी. ए., बी. टी., न्यायतीर्थ, स्नातक

किस पल जग में तुम आये थे जीवन का ले सन्देश नया।
मृतकों को जीवन दे डाला, शास्त्रों का दे उपदेश नया॥
शुभ उदय बड़ोदा नगरी का, आनन्दगुरु-पद-रज लेकर।
वल्लभ संज्ञा सार्थक कर दी, भक्तों को भक्ति दान देकर॥
कुछ जादू था या टोना था या इन्द्रजाल का सपना था।
क्यों हमसे नाता तोड़ चले, जब हमको समझा अपना था॥

२

तुम फूल सदृश कोमल लेकिन काँटों में मुसकाना सीखा।
वैराग्य-सिन्धु का खारा जल, अमृत कर बरसाना सीखा॥
बीजापुर और बिनौली में, विघ्नों में हरषाना सीखा।
गुजरांवाला में बम्ब पड़ा, समता को अपनाना सीखा॥
कवि आए, संगीतज्ञ सजे, पर पूरा भेद नहीं पाया।
तुम माया रहित ब्रह्मचारी, पर भक्तों पर डाली माया॥

३

गुरुकुल, कॉलेज बना डाले, स्वर्गीय गुरु-प्रण पूर्ण किया।
संयमी, मदन को मद न रहा, शिव बन उसका मद चूर्ण किया॥
इतने प्रचंड!, कैसे कवि ने वचनों में सुधा भरी पाई।
है सत्य, कठिन भूधर से ही सुरसरी निकलती है आई॥
सकलंक सदैव मयंक रहा, तुम निष्कलंक निष्पंक रहे।
श्रीसंघभूप! हे सूरीवर! ध्रुवधीर रहे, निःशंक रहे॥

४

युगवीर आत्माराम गुरु, तुम युवक वीर पद के धारी।
पंजाबकेसरी, तपधारी, कलिकालकल्पतरु सुखकारी॥
बहुसंख्य विशेषण देकर भी, महिमा न पूर्ण हो पायेगी।
जनता सर्वस्व मान करके, मुनिपुंगव! तव गुण गायेगी॥
पंजाब सत्य ब्रजमण्डल है, तुम श्याम हमारे मनहारी।
तुम बिछुड़ गए पर मन से हैं सब भक्त तुम्हीं पर बलिहारी॥

५

तुम मेघ पुष्करावर्त बने, भू पर बरसे और चले गये।
पर एक **समुद्र**[1] दिया हमको जिसके हैं दृश्य अपार नये॥
उपकार आपका हे वल्लभ! क्या जगती कभी भुलायेगी?
जब याद आपकी आयेगी, वह हमको बहुत रुलायेगी॥
हे भक्तवृन्द! सब एक साथ मिल "श्री वल्लभ जय जयति" कहो।
हे जागृति के नवदेवदूत! तुम इतिहासों में अमर रहो॥

---

[1] वर्तमान आचार्य श्री श्री १००८ श्री विजयसमुद्रसूरि—**संपादक**

युगवीर आचार्य श्रीविजयवल्लभ : जीवनज्योति

प्रा० पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री

'आत्मानन्दप्रदं देवं महादेवं जगद्गुरुम्।
विश्ववन्द्यमहं वन्दे वल्लभं लोकवल्लभम्॥'

किसी भी व्यक्ति, संस्था अथवा भवन के केवल बाह्य शरीर, रूपरेखा या आकृति ही उसके परिचय के लिए पर्याप्त नहीं होते। इनका वास्तविक स्वरूप अन्तःस्थ प्राणों से ही ज्ञात हुआ करता है। जैन धर्म तथा संस्कृति के हृदय का ज्ञान भी हमें जैन समाज में प्रचलित रीतिरिवाज या क्रियाकाण्ड के बाह्य रूप से नहीं हो सकता। उसके सच्चे प्रतीक वे अटल और मौलिक सिद्धान्त हैं, अथवा चतुर्विधसंघसंगठन के वे सुदृढ़ नियम हैं जो इस के व्यावहारिक दृश्य रूप को विश्व के सन्मुख उपस्थित करने में वृक्ष की जड़ का कार्य करते हैं। इन में निःस्पृह, स्वार्थत्यागी, संयमी और सेवापरायण भिक्षु व भिक्षुणियों का संगठन एक विशेष महत्त्व रखता है। सन्त कबीर के अनुसार इस संसार में दो पदार्थ ही थर्मापोली के दुर्ग के समान अजेय अथवा दुर्जेय हैं–'इक कञ्चन अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय'। जैन तीर्थंकरों ने अनादिकाल से संघ के प्राणाधार श्रमणों के लिए यह व्यवस्था की थी कि वे संपत्ति और स्त्री के लेशमात्र प्रलोभन से भी ऊंचे उठ कर, इन से सर्वथा विरक्त हो कर आत्मकल्याण और परहितसाधन के श्रेष्ठ कार्य में रत हों। यही कारण है कि जैन धर्म व समाज का उज्ज्वल इतिहास इन त्यागी श्रमणों की अमर कृतियों अथवा इन के द्वारा उपदिष्ट लोकहित की प्रवृत्तियों का इतिहास है। इस अनुपम और उपयोगी संस्था को भिन्नभिन्न युगों में अनेक धुरन्धर आचार्यों ने अपनी सेवाओं से अलङ्कृत किया है। वर्तमान युग में भी एक ऐसे ही शासन-प्रभावक आचार्य हुए हैं जिन का गतवर्ष ८४ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हुआ। उन्होंने अपने गुरु, १९ वीं शताब्दी के भारतीय जागरण के एक अग्रदूत, स्वर्गीय जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरि (श्री आत्मारामजी) के जीवन ध्येयकी पूर्ति के लिए अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा दी और वे अंतिम श्वास तक, चैतन्य की स्थिति पर्यन्त समाजसेवा व जैन शासन की उन्नति की माला का ही जाप करते रहे।

समाज के कल्याण के पथिक को आंतरिक निर्भयता, निर्लेपता व विवेक की परम आवश्यकता होती है। इन के बिना वह लक्ष्यबिन्दु की ओर बढ़ ही नहीं सकता। इन गुणों के कारण ही वह जनगणमन की श्रद्धा का पात्र बनता है। हमें आचार्यप्रवर श्री विजयवल्लभ के पावन जीवन की झांकी में यह देखना है कि उन्हों ने अपने व्यक्तित्व को विश्वकल्याण के महान् उद्देश्य की पूर्ति में किस प्रकार लीन कर दिया।

श्री विजयवल्लभ का जन्म बड़ौदा में वि० सं० १९२७ की कार्तिक शुदि द्वितीया को, मानो उस दिन की चन्द्रकला के समान जनता के हृदय में उल्लास का संचार करते हुए और उत्तरोत्तर वृद्धि का आभास देते हुए, धर्मपरायण और व्यवहारशुद्धि के उपासक श्री दीपचन्द के घर धर्मकर्मानुरक्ता विश्वपूज्या माता इच्छाबाई की रत्नजननी कूख से हुआ था। शिशु अवस्था में बालक का नाम छगन रखा गया और उसे धार्मिक संस्कार व धार्मिक वातावरण पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त हुए। किंतु इस अनमोल संपत्ति के प्रदाता छगन के मातापिता उसे अधिक समय तक अपनी स्नेहस्निग्ध शीतलछाया का दान न दे सके। बाल्यावस्था में ही पहले छगन को पिता का वियोग सहन करना पड़ा। और दोचार वर्ष बाद ही माता के

प्यार से भी वंचित होना पड़ा। बालक छगन ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से जिनदेव का स्मरण करती हुई माता से प्रश्न किया कि वह उसे इस संसार सागर में किस के सहारे छोड़कर विदा हो रही है। माता के पास एक ही सहानुभूतिपूर्ण उत्तर था और वह था 'जिनदेव की शरण।' ये शब्द अपने गर्भ में बालक के भावी जीवन का बीज निहित किए हुए थे और भविष्य में वस्तुतः इस बालक ने इसी बीज को संवर्धित, पल्लवित, प्रफुल्लित और फलित करते हुए जिनदेव के शासन की सेवा में अपने प्राणों की आहुति दी।

बालक की आत्मा जिनदेव की सच्ची खोज के लिए लालायित हो उठी। १५ वर्ष की अवस्था में उसे एक महान् क्रांतिकारी जैन मुनि के व्याख्यानरूपी अमृत के पान का अवसर मिला, जिस का एक एक शब्द उसके हृदय में आसन जमा कर बैठ गया। जादू भरी वाणी ने छगन को ऐसे जकड़ा कि सारा हाल श्रोतागणों से खाली हो गया, परन्तु वह दीवार के सहारे मानो उसी का अंग बन कर बैठा रहा। गुरुवर श्री आत्मारामजी ने मन में विचार किया कि कोई दुःखी और साधनहीन नवयुवक किसी अभाव की पूर्ति की याचना करने बैठा है। परन्तु जब बालक ने गम्भीरता व दृढ़ता से उत्तर दिया कि उसे तो आत्मकल्याणरूपी धन की आवश्यकता है तो दूरदर्शी महात्मा तत्काल ही जान गए कि इस के अन्तःकरण में सच्चे वैराग्य की ज्योति प्रकाशमान है जिस की सुनहरी किरणें समाज, देश और विश्व का हित करने वाली हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि छगन के मन की संन्यास भावना महाकवि तुलसी के अनुसार 'नारी मुइ घर संपति नाशी, मूंड मुंडाय भए संन्यासी' के आधार पर न थी। उस की पृष्ठभूमि में अनेक पूर्वजन्मों की साधना व सञ्चित संस्कार लहरा रहे थे। उन्हें केवल अनुकूल निमित्त कारणों की आवश्यकता थी ताकि आत्मस्थित अंकुर प्रगट हो कर फलफूल सके। उस काल में गुरु आत्म से बढ़ कर पथप्रदर्शक निमित्त कारण कौन मिल सकता था?

फलतः कई बाधाओं को पार करते हुए और अपने पथ पर दृढ़ रहते हुए उस बालक छगन ने गुरु आत्म के वरद कर-कमलों से वि० सं० १९४४ में राधनपुर में श्रीहर्षविजय का शिष्य बन कर जिनदीक्षा अङ्गीकार की। साधु अवस्था में इन का नाम 'वल्लभविजय' रख गया और वस्तुतः वे स्वपर कल्याण द्वारा सच्ची विजय प्राप्त कर समस्त लोक के 'वल्लभ'-प्रिय-बन गए।

दीक्षा लेते ही उन्हों ने अपनी सारी शक्ति भगवान् महावीर के काल के साधुओं के समान श्रुताराधना में लगा दी। भगीरथ परिश्रम, नैष्ठिक विनय और तन्मयता से विविध शास्त्रों व साहित्य के अंगों का अध्ययन किया। वि० सं० १९५३ में आचार्य श्री आत्मारामजी का स्वर्गवास हुआ। उन्हों ने अंतिम समय में आपको जगा कर यह सन्देश दिया कि पंजाब में लगाए गए धर्म के पौधे की सार संभाल रखते हुए जगह जगह शिक्षा प्रचार के लिए सरस्वतीमन्दिरों की स्थापना करवाने में किसी प्रकार कोई कमी न रखना।

गुरु के इस आदेश को शिरोधार्य कर मुनि वल्लभ कार्यक्षेत्र में कूद पड़े। उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पादविहार करते हुए सत्य और अहिंसा की ज्योति का लोगों को दर्शन कराया, जैनधर्म व जैनसमाज पर होनेवाले आक्रमणों से संघ की रक्षा की, देश में शिक्षणसंस्थाओं का जाल बिछा दिया। उन का सन्मान दिनानुदिन बढ़ने लगा और वे शीघ्र ही अपनी योग्यता व सेवा-भावना से संघ के हृदयसम्राट् बन गए। संघ ने अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करने के लिए लाहौर में उन्हें वि० सं० १९८१ में 'आचार्य' की पदवी से विभूषित किया।

अपनी साधना को जारी रखते हुए और समाज के नेतृत्व के महान् उत्तरदायित्व को पूर्ण तत्परता से निभाते हुए आप लोककल्याण की प्रवृत्तियों में व्यस्त रहे। बाधाएँ और कठिनाइयां चीन की दीवार बन

कर इन्हें भयभीत करती थीं, परन्तु स्वर्गीय गुरुदेव की आशीर्वाद और उन के मिशन की पूर्ति की निष्ठा के सन्मुख ठहर न पाती थीं। वृद्धावस्था को भी पराजित कर आप अपने मार्ग पर दृढ़ रहे। वि० सं० २०११ में बम्बई में नवकार का जाप करते हुए आप ने इस भौतिक देह का त्याग कर अमरत्व की प्राप्ति की ओर भावी पीढ़ी के लिए अपनी अनथक सेवाओं का प्रतीक यशःकीर्ति का धवल शरीर छोड़ गए।

आप की श्मशान यात्रा का दृश्य बम्बई नगर के इतिहास में अपना अनुपम स्थान सुरक्षित रख गया है। सारी जनता ने उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, लाखों की संख्या में लोग जलूस में सम्मिलित हुए, धन की मानो वर्षा हुई, पुलिस के सिपाही गुलाल से रंजित हो गए, सभी दलों, संस्थाओं और नेताओं ने शोक सभा में भाग लेकर श्रद्धा के पुष्प अर्पित किए और सागर समान अपार जनसमूह आकाश में सूर्य के निकट सप्तवर्ण वर्तुल को देखकर विस्मय-मुग्ध हो गया। उन का समस्त जीवन अनवरत मानव सेवा का जीवन है, अतः उन के चरित्र की विशेषताओं और कार्यों का यहां सिंहावलोकन करना आवश्यक है।

चरित्र की विशेषताएँ

आचार्य श्री विजयवल्लभ में नम्रता, त्याग और अनासक्ति भाव की पराकाष्ठा थी। अपने नाम अथवा मान का मोह उनका स्पर्श भी न कर सका था। उन्होंने जितनी भी संस्थाएँ स्थापित कीं, अथवा ज्ञानभंडारों की स्थापना करवाई, उन सब में भगवान् अथवा गुरुदेव के नाम को ही अमर किया। उनकी नम्रता और स्वमान तथा प्रतिष्ठा की भावना के अभाव का इस से बढ़ कर प्रमाण क्या हो सकता है कि बड़ौदा व फालना में श्रीसंघ एक स्वर से उन्हें 'शासनसम्राट्' की पदवी देने के लिए उत्सुक है और वे महात्मा ८० वर्ष की आयु में इस पद के सर्वविध योग्य होते हुए भी संघ से विनम्र विनती करते हैं कि **"मुझे पद नहीं, काम दो।"**

ई० सन् १९४४ में आपका चतुर्मास बीकानेर में था। उन दिनों वहां भगवान् की रथयात्रा का मार्ग गच्छों के संकुचित क्षेत्रों में विभाजित था और कभी कभी हिन्दुओं के मन्दिर की आरती व मुसलमानों की मसजिद् के सामने बाजा बजाने की समस्या के समान कलहक्लेश का भी कारण बन सकता था। आपने इस 'गवाड़ बन्दी'[1] को बन्द करने का बीड़ा उठाया। आपके सामने एक प्रस्ताव यह रखा गया कि आपकी उपस्थिति में रथ यात्रा सभी गवाड़ों में घूम सकेगी, परन्तु हमेशा के लिए आग्रह मत कीजिए। आपने तत्काल उत्तर दिया, 'मेरी उपस्थिति में आप चाहे पुरानी परंपरा पर ही स्थिर रहें, परन्तु मेरे जाने के बाद हमेशा के लिए भगवान् की रथयात्रा का मार्ग निर्बाध स्वीकार कर लीजिए'। प्रतिष्ठा के मोह का ऐसा अभाव बहुत कम देखने में आता है। आपकी सच्ची शासनसेवा की भावना रंग लाई और 'गवाड़ बन्दी' हमेशा के लिए बन्द हो गई। आप की अन्तर्भावना सदैव यही रहती थी कि गुरु के नाम व स्मृति में अपना व्यक्तित्व समा जाए।

प्रज्ञाचक्षु, दिग्गज विद्वान् पं० सुखलालजी ने एक स्थान पर कहा है कि 'पंथ में यदि धर्म का जीवन हो तो हज़ार पंथ भी बुरे नहीं।" जो लोग गुरु वल्लभ को एक पंथ या गच्छविशेष का ही गुरु मानते हैं, वे इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि उनमें सांप्रदायिक संकुचित वृत्ति का अभाव था। वे अपनी मान्यताओं पर सम्यक् विश्वास रखते थे, उनका प्रचार भी करते थे, परन्तु उन में विद्वेष की भावना नहीं थी। जैन धर्म के स्याद्वाद व महात्मा गांधी के नवीन समन्वयवाद से वे प्रभावित थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक स्थानकवासी व अजैन छात्रों की भी सहायता की है, खिलाफ़त आन्दोलन व हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए भी उन्होंने आर्थिक सहायता दिलवाई थी। दिगम्बर जैन मन्दिरों में भी वे श्रद्धापूर्वक

---

[1] बीकानेर में मुहल्ल या स्ट्रीट को 'गवाड़' कहते हैं।

जाते थे और प्रश्न किए जाने पर कहते थे कि प्रतिमा तो तीर्थंकर की ही है। उनके श्रद्धालु भक्तों में इसी कारण सहस्रों अजैन भी हैं। अन्य संप्रदायों के साधु भी उनके प्रति विनयभक्ति रखते थे। यही कारण है कि आप के स्वर्गवास पर श्री गणपति शंकर देसाई ने कहा था, "मैं छाती ठोक कर कह सकता हूं कि वे केवल जैनों के आचार्य नहीं थे, परन्तु सब लोगों ने उन्हें जगत्गुरु के रूप में अपनाया था। उन के कार्यों ने जैनत्व को विकसित करते हुए मानवपद को भी दैदीप्यमान किया है।"

उनके चरित्र की एक महान् विशेषता यह थी कि वे जिन-शासन पर कोई संकट या आक्रमण सहन नहीं कर पाते थे और उसके निराकरण के लिए सर धड़ की बाज़ी लगाने से भी संकोच नहीं करते थे। गुजरांवाला में एक शास्त्रार्थ के लिए उन्होंने चालीस चालीस मील का प्रतिदिन विहार किया था और वह भी ज्येष्ठ आषाढ़ की कड़कती धूप में। देश के विभाजन के समय आपने पाकिस्तान से अकेले आने से इन्कार कर दिया था और कहा था कि जबतक श्रीसंघ का एक भी बचा यहां रह जाता है, मैं उसे निराधार छोड़ कर जाना अधर्म समझता हूं। जिन समाजोपकारी प्रवृत्तियों को आप समाज के लिए अमोघ बाण समझते थे, उन की सफलता के लिए अभिग्रह लेने से भी पीछे नहीं हटते थे। गुरुकुल की स्थापना और मध्यम वर्ग के उत्कर्ष के लिए पांच लाख के कोष के निमित्त आप के कठिन अभिग्रह सभी के स्मृतिपट पर अंकित हैं।

आप का व्याख्यान सुनने वाले या जिज्ञासा दृष्टि से आप से शंकाओं का समाधान करनेवाले यह भलीभांति जानते हैं कि आप की विद्वत्ता गम्भीर और अगाध थी। उनके उत्तरों में स्थिरप्रज्ञता, उदारता, निष्पक्षता और ज्ञान की गहनता की पूरी पूरी छाप हुआ करती थी। उत्तरों में एक विशेषता यह रहती थी कि वे प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा, योग्यता व परिस्थिति के अनुसार हुआ करते थे। एक बार मैंने अपने एक भाषण में कहा कि "मूर्त्तिपूजा आत्मकल्याण का एक साधन मात्र है।" इस पर कुछ रूढ़िचुस्त भक्तों ने मेरे सामने ही आचार्यश्री जी के पास मेरे 'मिथ्यात्व' की शिकायत की। आचार्यश्री जी ने बड़े प्रेम, युक्ति और प्रमाण से मेरी बात का समर्थन ऐसे ढंग से किया कि दोनों पक्ष अत्यन्त संतुष्ट हुए। गुजरांवाला में एक अजैन सुशिक्षित विद्वान् ने आप के दर्शनों व वार्तालाप से कृतार्थ हो मुझे बताया कि सुना था और पढ़ा था कि महात्माओं की शान्त अन्तरात्मा से शांति के परमाणु निकल कर सब को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव आज पहली बार इस महात्मा के दर्शनों के समय हुआ।

जैनों के सभी संप्रदायों को एक संगठन में लाने के लिए आप के हृदय में सच्ची तड़प थी। आप ने यह भी घोषणा की थी कि "यदि सभी संप्रदाय एक होते हों तो मैं अपना आचार्य पद छोड़ने के लिए भी प्रस्तुत हूं।" डाक्टर Felix Valyi ने Times of India (22-6-1955) में अपने एक लेख 'Jainism at the Cross Roads' में लिखा है :—"आधुनिक समय के सबसे महान् जैन गुरु स्वर्गीय श्री विजयवल्लभसूरि जिन का कुछ मास पूर्व बम्बई में स्वर्गवास हुआ, मेरी जानकारी में एक ही ऐसे जैन साधु थे जिन्हों ने सांप्रदायिकता का अंत करने का प्रयास किया। उन्होंने सभी जैनों से प्रेरणा की कि वे 'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' विशेषणों को छोड़ कर 'जैन' का सरल नाम ग्रहण करें ताकि गृहस्थों में नई जाग्रति का श्रीगणेश हो सके।"

आप के तप, त्याग, आदर्श चरित्र व धर्मोपदेश की प्रभावशाली शैली से देश के राजनैतिक नेता भी प्रभावित हुए थे। अम्बाले में आप का भाषण सुनकर स्वर्गीय पं० मोतीलाल नहरू ने हमेशा के लिए तम्बाकू का उपयोग छोड़ दिया था। महामना स्व० श्री मदनमोहन मालवीय ने भी आप के दर्शनों से अपने को कृतकृत्य माना था। बीसियों राजे महाराजे व नवाब आप के अनन्य भक्त थे।

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि कठोरव्रतधारी महान् तपस्वी जैन आचार्य श्री विजयवल्लभ में साधु होते हुए भी शिष्ट मधुर हास का अभाव न था। दर्शनार्थी उनके स्वभाव की इस मधुरता से मुग्ध हो जाया करते थे। एक बार आप गंगानगर (बीकानेर राज्य) में विराजमान थे और वहां के श्रीसंघ ने मुझे भाषण के लिए निमंत्रित किया था। जब मैं वहां पहुंचा तो उस समय आचार्यश्रीजी के पास कुछ प्रतिष्ठित सज्जन व विद्वान् पंडित बैठे थे। मैंने विनयपूर्वक वन्दना कर सुखसाता पूछा। भलीभांति जानते व पहिचानते हुए भी स्मितमुख से पूछा—'कौन?' मैंने मन में विस्मित होते हुए कहा—'विनीत पृथ्वीराज।' हंसते हुए कहने लगे, 'अरे, नाम तो पृथ्वी का राजा और मालिक एक झोंपड़ी के भी नहीं। ठीक है, सरस्वती पुत्रों से लक्ष्मी कुपित रहती है।' सभी उपस्थित जन खिलखिला कर हंस पड़े और गुरुदेव से ही मेरा शेष परिचय पूछा।

उन के नियम व व्रत वज्रवत् कठोर थे, परन्तु यह निश्चय है कि उनका हृदय फूल की पंखड़ी से भी अत्यन्त कोमल था। दुःखी, विपत्तिग्रस्त व साधनहीन मानव को देख कर उनका हृदय दयार्द्र हो रोने लगता था। ग़रीब छात्रों के लिए अश्रुपात करनेवाले मैंने अपने जीवन में दो विशेष महापुरुष देखे हैं:— पं० मदनमोहन मालवीय व गुरुदेव विजयवल्लभ। विद्या की साधना में किसी को भी कठिनाई में पड़ा देख उन के नेत्र अश्रुरूपी मोतियों को बिखेरने लगते थे और वे मोती उस व्यक्ति के लिए यथार्थ मोती बन जाते थे क्योंकि गुरुदेव की प्रेरणा से उदाराशय श्रावक उसकी द्रव्यसहायता करने का वचन देते थे। अकाल, बाढ़ आदि के समय में भी दुःखी मानवजाति की सहायता के लिए वे दर्द भरी अपील किया करते थे।

आचार्यश्री जी में स्वदेशप्रेम भी कूटकूट कर भरा था। असहयोग आन्दोलन के समय से ही आप ने शुद्ध खादी का उपयोग शुरु किया और सरकार की अहिंसक व मद्यनिषेध संबंधी प्रवृत्तियों में सहायता करते रहे।

वे समन्वय, सद्भावना और एकता के समर्थक रहे हैं। उन्होंने जगत् को माया बताकर उसका विरोध नहीं किया, प्रत्युत साधुता व संसार का सुमधुर समन्वय किया। वे एक विरक्त कर्मयोगी थे। जो लोग उनके चरित्र पर यह आपत्ति उठाते हैं कि उन्हों ने साधु होकर प्रवृत्तिमय धर्म को जागरित किया, वे भूल जाते हैं कि स्वार्थभावनारहित लोककल्याण की प्रवृत्तियों का समर्थन भगवान् ऋषभदेव के जीवन-चरित्र लेखक श्री जिनसेन व श्री हेमचन्द्र भी करते हैं। कर्तव्य की अपेक्षा से आवश्यक प्रवृत्तियों का उपदेश जैन धर्म के प्रतिकूल नहीं। पं. सुखलालजी ने ठीक ही लिखा है:—"कोई भी आवश्यक व विवेकयुक्त प्रवृत्ति सच्चे त्याग जैसी ही कीमती है।"

रचनात्मक कार्य

आचार्यश्री जी की जीवन घटनाओं और चरित्र की विशेषताओं से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि वे युवा होते हुए भी बुद्धि के परिपाक में वृद्धों के समान थे और वृद्ध होते हुए भी हृदय के अदम्य उत्साह और कार्यशक्ति से नवयुवकों को भी पराजित कर देते थे। वे केवल बाह्य और आभ्यंतर तप की आराधना करनेवाले तथा अपनी दैनिक प्रवृत्तियों को शुष्क क्रियाकांड या उपाश्रय की सीमा तक ही सीमित रखनेवाले नहीं थे, बल्कि समाज को वास्तविक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहते थे। उन्होंने उद्घोषणा की थी, "समाज का उत्थान मात्र बातों से नहीं होगा और न होगा उपाश्रय में बैठकर व्याख्यान देने से ही; जब तक रचनात्मक कार्य न होगा, समाज में जागृति भी नहीं हो सकती।" इसी उच्च ध्येय से वे दीक्षाकाल से लेकर देवलोकगमन तक अनासक्त भाव से शासन व संघ की सेवा करते रहे।

उनके रचनात्मक कार्यों में सबसे अधिक उपयोगी, लाभदायक, दूरदर्शितापूर्ण और समाज में नवीन जाग्रति व स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाला कार्य शिक्षा का प्रचार है। उनका यह दृढ़ विश्वास था और स्व० गुरुदेव श्री आत्माराम जी ने दस वर्ष के सहवास में उन्हें यह गुरुमंत्र दिया था कि आधुनिक काल में शिक्षा की उपेक्षा कर समाज की गति नहीं और समाज के उत्कर्ष के अभाव में धर्म का प्रवाह भी रुक जाता है। अतः उन्होंने भिन्नभिन्न प्रान्तों में शिक्षणसंस्थाओं की स्थापना करवा कर हमारी दान की दिशा को भी नया पथप्रदर्शन प्रदान किया। उनकी इस दूरदर्शिता का ही यह परिणाम है कि आज सैंकड़ों जैन नवयुवक उच्चशिक्षा प्राप्त कर चुके हैं और धर्म में भी रुचि रखते हैं। गुरुदेव के द्वारा स्थापित श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला, (इस समय अंबाला शहर), श्री आत्मानन्द जैन कालेज अंबाला शहर व मालेर कोटला, जैन कालेज फालना, जैन विद्यालय वरकाना व अनेक हाईस्कूल, गुरुकुल, विद्यालय, कन्याशालाएँ आदि जैन समाज के गौरव व जनसेवा के प्रतीक हैं।

बम्बई के एक विद्वान् ने अपने महानिबंध (Thesis) Social survey of Jain Community में आंकड़ों के आधार पर सिद्ध किया है कि जैन समाज में शिक्षितों की प्रतिशत पारसियों व यहूदियों को छोड़ कर सबसे अधिक है। मानना होगा कि इस का मुख्य श्रेय गुरुदेव की साधना को है।

गुरुदेव ने एक बार एक ज्ञान भंडार का उद्घाटन करते हुए ये उद्गार प्रगट किए थे "डब्बे में बंद ज्ञान द्रव्यश्रुत है, वह आत्मा में आए, तभी भावश्रुत बनता है। ज्ञानमंदिर की स्थापना से सन्तुष्ट न होवो, उसका प्रचार हो, वैसा उद्यम करो।" हमारे अनेक मुनिगण अन्य विषयों में निश्चय व व्यवहार का वर्णन करते हैं, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में इसे विस्मृत कर देते हैं। श्री विजयवल्लभ बम्बई में जैन विश्वविद्यालय का स्वप्न लेकर गए थे। दुर्भाग्यवश समयाभाव से वह अभी पूर्ण नहीं हुआ। फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में उन की सेवाएँ अनुपम रहेंगी। जैन साधुओं में इस विषय में इतनी तत्परता संभवतः और किसी ने नहीं दिखाई।

शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त आचार्य श्री जी ने नवीन मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार, साहित्यप्रकाशन आदि की ओर भी ध्यान दिया। अंतिम दिनों में वे देश विदेश में भिन्नभिन्न भाषाओं द्वारा धर्मप्रचार की योजना पर विचारविनिमय किया करते थे। दो वर्ष पूर्व लेखक से भी इस विषय में कुछ बातचीत हुई थी। उन की भावना इतनी सामयिक थी कि वे चाहते थे कि किसी प्रकार जैनसाधु भी विदेश में धर्म प्रचारार्थ जा सकें।

एक और विशेष बात की ओर भी गुरुदेव ने हमारा ध्यान दिलाया। वह था समय के चक्र से शोषित और पीड़ित मध्यमवर्ग का उत्कर्ष, असहाय विधवाओं की सहायता और बेकार भाइयों को रोज़गार देने के साधन। श्री आत्मारामजी के भी इस विषय में क्रांतिकारी विचार थे। वे कहा करते थे कि गरीब सहधर्मी भाइयों की सहायता न कर केवल लड्डू खाना खिलाना सहधर्मी वात्सल्य नहीं, गधेखुरकनी है। ये दोनों दिव्य आत्माएँ मानती थीं कि सातक्षेत्रों में श्रावक श्राविका ही मुख्य आधारभूत स्तम्भ हैं। ये शायद इस युग में पहले जैन साधु हैं जिन्हों ने जैनों को Freedom from Want—दरिद्रता से मुक्ति—दिलाने की धनवानों को प्रेरणा की हो। श्रावक श्राविका संघ की आवश्यकताओं की उपेक्षा मानो सभी क्षेत्रों की सार संभाल की उपेक्षा है। इसी लिए गुरुवल्लभ ने इस उद्देश्य के लिए विशेष निधि की अपील की और कान्फ्रेंस के द्वारा इस कार्य को गति प्रदान की।

श्री आत्माराम जी व श्री विजयवल्लभ जी की सेवाओंसे भारत ही क्या, विश्व उपकृत है। परन्तु पंजाब जैन श्रीसंघ तो हर दृष्टि से अपने अस्तित्व के लिए इन का ऋणी है। इन के रचनात्मक कार्यों का

यह विशेष केन्द्र रहा है और अन्य प्रान्तों ने इसे खड़ा करने में पूर्ण सहयोग दिया है। सच तो यह है कि 'आत्म' व 'वल्लभ' ही ऐसी दिव्य आत्माएँ हैं जिन्होंने पंजाब श्रीसंघ की पिछली तीन पीढ़ियों को बताया कि जैन धर्म का गौरवपूर्ण इतिहास कुछ आगमों तक ही सीमित नहीं है। भव्य मूर्त्तियां, ध्यानावस्थित प्रतिमाएँ, शिखरबद्ध मन्दिर, महान् परम पवित्र तीर्थ, भग्नावशेष, टीकाएँ, भाष्य, चूर्णि आदि भी इस के कीर्ति कलेवर का यशोगान करते हैं। पंजाब श्रीसंघ इनका विशेष उपकार मानता है। जब हम जैनधर्मरूपी महान् सागर के तट पर बिखरी हुई कोडियों को रत्न समझ रहे थे, इन्होंने उस क्षीरसागर का मन्थन कर हमें अमृत या नवनीत का दर्शन कराया। यह है उनके महान् कार्य का दिग्दर्शन किंवा महत्त्व।

उपसंहार

मैं समझता हूं कि यदि हमारी संस्कृति के अन्य प्रतीक व चिह्न अनुपलब्ध भी रहते, तो भी गुरु वल्लभ जैसे 'महासमण भिक्खु' उस महत्त्वपूर्ण व लोकोपकारी सर्वोदय सिद्धांत पर आश्रित संस्कृति का जीवित परिचय देने के लिए पर्याप्त थे। जिस व्यक्ति का अपना कोई स्वार्थ नहीं, चाह नहीं, परमार्थ ही महान् स्वार्थ है और जो साधुत्व के नियमों का पालन करता हुआ भी समाजकल्याणकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए जीवन भर कटिबद्ध रहा, उसके प्रति कौन सहृदय व्यक्ति नतमस्तक न होगा ? उन में ज्ञानी का मस्तिष्क था, कवि का हृदय था और निष्काम कर्मयोगी की क्रियाशक्ति थी। उन्होंने सभी कार्य नीति नहीं, धर्म व कर्त्तव्य समझ कर पूरी निष्ठा से किए। संस्कृत के एक कवि ने कहा है :...

'वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥'

जब ऐसे महात्मा विश्ववन्द्य हैं तो उनके उपकृत व्यक्ति या समाज उनका जितना सन्मान करें, थोड़ा है। वे उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकते और न ही उनके आकाशसमान अनन्त गुणों का सीमित शक्ति से वर्णन कर सकते हैं। यह प्रयास केवल उन के व्यक्तित्व की एक झांकी दिखाने के लिए 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' की भांति अत्यन्त लघु है। हमें उन का आदर्श जीवन प्रगतिपथ पर दृढ़प्रतिज्ञ हो अग्रसर करता रहे, इसी हेतु यह प्रयत्न किया गया है!

पंजाब केसरी का पंचामृत

श्री ऋषभदासजी जैन

किसी भी हरे भरे सुन्दर उद्यान या उपवन में हम प्रवेश करते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमारी दृष्टि उसमें रहे हुए अनेक प्रकार के फले फूले, शीतल, छायादार वृक्षों के पुञ्ज तथा रंग बिरंगी, पुष्पों से शोभायमान लताओं और मनोरञ्जक वल्लियों की तरफ जाती है; परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया जावे तो यही अनुभव होगा कि उस सारी सुन्दरता का आधार उस फलद्रूम भूमि के अन्तःस्थल में रहे हुए जल की पुष्कलता पर है। उसी तरह से दिव्य दृष्टि से देखा जावे तो यही अनुभव होता है कि हमारे लौकिक या लोकोत्तर जीवन की सकल सुखसमृद्धि एवं ऐश्वर्य का मूल केवल धर्म पर निर्भर है। इसी लिये शास्त्रकार महर्षियों का मन्तव्य है कि किसी भी जीव को धर्मप्राप्ति कराने जैसा संसार में कोई उपकार नहीं। कदाचित् चक्रवर्ती अपनी छः खण्ड की ऋद्धि सिद्धि दान में दे देवे, तो भी वह जीव को धर्माभिमुख करने वाले की तुलना नहीं कर सकता। वैसे तो मातापिता को अत्यंत उपकारी माना जाता है—परन्तु धर्मदाता के उपकार के सामने उनका उपकार भी समुद्र में बिन्दुमात्र है। क्योंकि मातापिता जीव के केवल जन्मदाता हैं, परन्तु जन्म प्राप्त होने से उसे जीवन के संग्राम में उतरना पड़ता है और उसे संग्राम में विजय प्राप्ति की विद्या का पुष्टावलम्बन न मिले तो जीवन की हार मानकर चिन्तामणि रत्न समान अमूल्य मानव जन्म निरर्थक गंवाना पड़ता है और तत्फलस्वरूप संसार के कारागृह में अनंत काल तक उसे भटकते हुए अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं।

जीवन में विजय प्राप्त करने की विद्या को ही धर्म कहते हैं जिसके द्वारा हम सकल दुःख से मुक्त हो सकते हैं। इसलिये आर्यावर्त जैसी आध्यात्मिक भूमि आज भी "सा विद्या या विमुक्तये" की ध्वनि से गूंज रही है। जैसे वृक्ष के जड़, तना और शाखा आदि प्रधान अङ्ग हैं वैसे ही धर्म के सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि अङ्ग हैं। जैसे जड़ बिना वृक्ष नहीं टिक सकता उसी तरह से सम्यग् दर्शन बिना धर्म नहीं टिक सकता। गुजराती में कहावत है कि "अेकडा विनाना मींडानी किंमत नथी" उसी तरह सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र का मूल्य नहीं। पूज्यवर उपाध्यायजी महाराज श्रीयशोविजयजी श्रीनवपदपूजा ढाल में फरमाते हैं—

जे विण नाण प्रमाण न होवे चरित्र तरू न विफलियो,
सुख निर्वाण न जे विण लहिये, समकितदर्शन बलियो।

शास्त्र में सम्यग्दर्शन को धर्मवृक्ष का मूल, मोक्ष नगर का द्वार, भवसमुद्र का पुल और सकल गुण का भाजन आदि उपमाएँ दी हैं। पूज्यवर उपाध्यायजी महाराज ने यहां तक लिखा है कि—

"समकित दायक गुरुतणो पच्चुवयार न थाय,
भव कोडा कोडे करी करता सर्व उपाय"

अर्थात् करोडों जन्म तक सर्व उपाय करने से भी समकित दाता के उपकार का बदला देना दुष्कर है। यह अमूल्य आप्तवचन बार बार मेरी स्मृति में आता रहता था। इसलिये जिस महाभाग्य ने लोक वल्लभ बनने में अपने पवित्र जीवन का सदुपयोग करके वल्लभ नाम सार्थक किया है, ऐसे स्वनामधन्य पूज्यवर आचार्य भगवान् की सेवा में कुछ कुछ समयांतर से उपस्थित होता रहता था, क्योंकि मुझे और मेरे

सारे कुटुम्बी जनों को धर्मानुरागी बनने का सौभाग्य प्राप्त होना उनश्री के उपदेशामृत का ही फल है। अर्थात् आज से ३५ वर्ष पूर्व मेरे पूज्य पितामह और चाचाजी आदि ने पूज्यवर आचार्य भगवंत के उपदेश से ही दो हजार यात्रियों को लेकर श्री केसरियाजी तीर्थ की संघयात्रा निकाली थी जिसमें स्वयं आचार्य भगवंत अपने शिष्य परिवार सहित दो महीने साथ में ही थे और उस यात्रा मार्ग में उनश्री के सत्संग का और अमृतवाणी सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था और जैन शासन की अपूर्व महिमा का बोध होने से तब ही से उनके दर्शनार्थ आता जाता रहता था।

गत वर्ष जब आप बंबई चातुर्मास के लिए विराजमान थे तब उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ चिन्ताजनक समाचार सुनने में आये। तब उनश्री की अन्तिम सेवा करने की तीव्रोत्कंठा जागी और where there is will there is way—जहां उत्कंठा होती है वहां मार्ग मिलता ही है—इस कहावत के अनुसार मैं बंबई पहुँचा। दस पंद्रह रोज ठहरने पर ज्ञात हुआ कि पूज्यवर के स्वास्थ्य में सुधारा होता जा रहा है और पंजाब से पधारे हुए प्रसिद्ध वैद्यराजजी भी पुरस्कारपूर्वक विदा किये गये हैं, इसलिये मैंने भी वापिस मद्रास लौटने का निश्चय किया। लेकिन विधि के कार्यक्रम में उनश्री की श्मशानयात्रा में सम्मिलित होने का विधान था, उस भावी को कौन मिटा सकता था। अर्थात् एक पीछे एक सामाजिक व धार्मिक कार्य सामने आते ही गये और पूज्यवर आचार्य भगवंत का मुझे ठहरने के लिये संकेत होता ही गया और मेरा निजी कार्यक्रम स्थगित होता गया और जाने जाने के विचार में ही और २५ रोज व्यतीत हो गए। अंतिम दिन उनकी निश्रा में ईश्वरनिवास में पौषध किया और प्रतिक्रमण करते हुए संसार-दावानल की स्तुति का आदेश पूज्यवर ने स्वयं श्रीमुख से मुझे दिया। अर्थात् श्रावक के तौर पर उनके साथ अंतिम प्रतिक्रमण करने का और उनकी निश्रा में पौषध करने का मुझे ही सौभाग्य प्राप्त हुआ।

उन दिनों में मेरा सोना बैठना प्रायः ईश्वरनिवास में ही होनेसे समय पाकर मैं पूज्यवर के साथ सामाजिक, दार्शनिक एवं धार्मिक विविध विषयों पर वार्तालाप करता रहता था और अनेक प्रश्नोत्तर भी चलते रहते थे। एक रोज मैंने पूछा कि पूर्वकाल में जैन लोगों के प्रति आम प्रजा में बड़ा प्रेम और आदर था। इतिहास उसका साक्षी है, परन्तु आज हमारी प्रतिष्ठा इतनी नीचे गिर गई है कि प्रजा हमें तिरस्कार की दृष्टि से देखती है और हमारे समाज में भी संकीर्णता, स्वार्थपरायणता और विवेकशून्यता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। इसलिये कौनसे ऐसे उपाय हैं जिससे अपनी सामाजिक उन्नति साध सकें और आम प्रजा के हृदय पर प्रभाव डाल सकें। पूज्यवर ने इसके समाधान में सुन्दर शैली से प्रतिपादन करते हुए ऐसे अमूल्य पांच विषय बताये जिन पर मनन करने से मुझे दृढ विश्वास हो गया कि वास्तव में ये हमारे उन्नति के उत्तमोत्तम उपाय हैं। वे पांच उपाय ये हैं—(१) सेवा, (२) स्वावलम्बन, (३) संगठन, (४) शिक्षा, (५) साहित्य.

मैं बंबई के अज़ाद मैदान की विराट शोकसभा में पूज्यवर के प्रति अपनी अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करके पुनः मद्रास लौटा तब दक्षिण प्रान्त में जैन संस्कृति का संरक्षण और पोषण करनेवाली प्रसिद्ध संस्था "जैन मिशन सोसायटी" के कार्यवाहकों ने तथा मद्रास के स्थानिक संघ ने पूज्यवर आचार्य भगवंत की अंतिम सेवा में रह कर लाया हुआ संदेश सुनाने के लिये कहा। तब एक विशाल सभा में मैंने उपर्युक्त पाँचों विषयों पर सुन्दर ढंग से विवेचन करके सुनाया। सबको समाजोन्नति के ये पांच उपाय इतने पसंद आये कि वे इन्हें "पंजाब केसरी का पंचामृत" नाम से सम्बोधित करने लगे। प्रवास में जहाँ जहाँ मेरा जाना हुआ वहाँ की जैन प्रजा ने भी यही पंचामृत पान करने की जिज्ञासा प्रकट की अर्थात् ये पांचों उपाय प्रजा को बहुत रुचिकर सिद्ध हुए हैं इसलिये इस समय इस स्मारक ग्रन्थ में उसी पंचामृत पर कुछ लिखने

की भावना हुई। वैसे तो मेरी इच्छा अंग्रेजी में The Glory and Antiquity of Jainism पर लेख लिखने की थी परन्तु हमारी संस्था के संचालक तथा नगर के मुख्य सज्जनों का आग्रह था कि गतकाल के ऐतिहासिक गौरव के गीत गाने की अपेक्षा आज हमारी उन्नति के साधक पंचामृत रूप पू० आचार्य भगवंत के अंतिम संदेश पर ही लिखना विशेष उपयोगी है। इसी लिये मैं सबकी प्रेरणा से उसी पर दो शब्द लिख रहा हूँ।

सेवा

सेवा ही मानव जीवन का सार है। आगम, उपनिषद्, पुराण, कुरान एवं बाईबल आदि जितने भी संसार में धर्मशास्त्र हैं सब ही सेवा धर्म का ही समर्थन करते हुए नजर आते हैं। "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" यह जैसी पूर्व की ध्वनि है वैसी ही उसकी प्रतिध्वनि पश्चिम में व्यापक है कि There is no greater religion than service अर्थात् 'सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।'

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय दुहन्ति गावः।
परोपकाराय वहन्ति नद्यः परोपकाराय सतां विभूतयः॥"

सूर्य, चंद्र, सितारे, जल, तेज, वायु एवं वनस्पति आदि सारे पदार्थ परोपकार अर्थात् सेवा के लिये प्रवृत्ति करते हुए नजर आ रहे हैं और आधुनिक विज्ञान भी इस बात की पुष्टि कर रहा है कि Every action has got reaction—प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य है—इसलिये यह निश्चय है कि दूसरों को सुख देकर ही हम सुख ले सकते हैं, दूसरे को दुःख देकर सुख की आशा रखना भयंकर भुजंग के मुख से अमृत की आशा रखने के समान है। उदाहरणार्थ अगर हम वृक्ष के मीठे फल खाने की आशा रखते हैं तो उससे पहिले हमें उसके मूल में अमृतजल का सिंचन करना ही पड़ेगा। अगर गौरस के सेवन से हम अपना स्वास्थ्य सुन्दर बनाना चाहते हैं तो गौपालन का सर्वोत्तम तरीका अपनाना ही पड़ेगा। अगर हम अपने पैरों को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिये परिश्रम उठाना ही पड़ेगा। कहावत है कि As you sow so you reap—जैसा बोवेंगे वैसा काटेंगे। हमारे पूज्य धर्माचार्यों ने इस विधि के ध्रुव सिद्धांत को यथार्थ रूप में ध्यान में रखकर जीवन में सेवा एवं परोपकार पर बहुत ही भार दिया है। योगशास्त्र में श्रावकों को लोकप्रिय होने के लिये श्री हेमचन्द्राचार्य ने आदेश दिया है। उसी तरह से श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में लोकवल्लभ बनने का उल्लेख किया है। लोकप्रिय एवं लोकवल्लभ बनने के लिए स्वार्थत्याग और सेवा उपासना को आदर देना ही पड़ेगा।

प्राचीन काल में जैन समाज की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी चढ़ी थी, इसका खास कारण सेवा और परोपकार था। सारी समाज को महाजन और श्रेष्ठ (शेठ) का पद प्राप्त था, इतना ही नहीं परन्तु यवनों के शासन में भी उनकी भाषा के मुताबिक सर्वोपरि पद "शाह" का खिताब जैन समाज को प्राप्त था। इसी जैन समाज के सुपुत्र जगडुशाह, भामाशाह, पेथड़शाह, समराशाह, खेमादराणी, वस्तुपाल, तेजपाल, विमलशाह आदि नररत्नों की अमर कहानियां आज भी भारत के इतिहास में गाई जा रही हैं। वह भी एक समय था कि नगर की शोभा जैन समाज पर निर्भर थी और प्रत्येक नगर में प्रायः नगरशेठ के आदर्श स्थान पर जैन ही अधिष्ठित होता था और सारी जैन समाज के लोग नगर के मुखिया निर्यामक एवं सूत्रधार समझे जाते थे। हमें चाहिए कि चाहे देश या विदेश में, प्रान्त या नगर में या ग्राम में जहाँ कहीं भी हम रहते हों, चाहे उद्योग, व्यवसाय या अमलदारी के लिये स्थायी या अस्थायी रूप से निवास करते हों, वहाँ की प्रजा के हित के लिये अपने तन मन और धन का विवेकपूर्वक भोग देना चाहिए और भ्रातृभाव और वात्सल्यभाव इतना बढ़ाना चाहिए कि हम प्रजा के प्राण बन जावें अर्थात् उनके सुखदुःख में सम्पूर्ण सहयोग और

सहानुभूति रखनी चाहिए ताकि हमारी तरफ प्रजा के हृदय में प्रेम बढ़ता जाये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से हम केवल अपने समाज की ही प्रतिष्ठा बढ़ा सकेंगे, यही बात नहीं, परन्तु जैन शासन की सच्ची मार्गप्रभावना भी कर सकेंगे। प्रजा में जैनधर्म के आदर्श सिद्धान्तों की तरफ स्वाभाविक आकर्षण पैदा होगा और उनका अनुसरण करने की उनकी वृत्ति बढ़ती जायगी। इस लिये सेवा ही समाजोन्नति का प्रथम उपाय है।

स्वावलम्बन

चाहे व्यक्ति हो, समाज हो, या देश हो, अपनी उन्नति की साधना में स्वावलम्बन नितान्त आवश्यक है। जब तक हम स्वाश्रयी न बनेंगे तब तक जीवन आकुल व्याकुल बना रहेगा और बिना निराकुलता के जीवन का विकास हो नहीं सकता। इसलिये जहाँ तक बने वहाँ तक आवश्यकताएँ कम करते जाना चाहिये और जितनी आवश्यकताएँ अनिवार्य हैं उनकी पूर्ति अपने आप करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज के लिये भी यही बात है कि अपनी उन्नति के लिये कार्यबल, बुद्धिबल, धनबल, विद्याबल या राजतंत्रबल आदि जितनी भी शक्तियों की जरूरत है, उनकी पूर्ति के लिये समाज में हरप्रकार के मनुष्यों को तैयार करना चाहिए। हमें हमारी देह, कुटुम्ब, धन, धर्मस्थान आदि के रक्षण के लिये दूसरों के भरोसे रहना अथवा अन्य की ग़रज़ करना या मुंह ताकना पड़े, इससे ज़्यादा क्या भूल हो सकती है। आज हमारे समाज को विकट परिस्थिति का कटु अनुभव करना पड़ता है, उसका कारण यही है कि हम स्वावलम्बी नहीं हैं। अर्थात् सिवाय व्यापार के और किसी क्षेत्र में हम लोग जैसी चाहिए वैसी प्रगति साधते नहीं, इस लिये इस स्वराज्य प्राप्ति के सुन्दर समय में भी हमारी आवाज कोई सुनता नहीं। उलटे हमारे सामाजिक व धार्मिक अधिकारों पर कई स्थानों में बलात्कार हो रहा है, परन्तु किसको कहें। हम यदि जीवन के उपयोगी सब ही क्षेत्रों में आगे बढ़े हुए होते तो अपनी अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति को सर्वत्र व्यापक बना सकते और शांति का संदेश सारे विश्व को सुना सकते। शास्त्र में 'श्रावकों को अदीन मन से रहना चाहिये' ऐसा लिखा हैं। इस अमूल्य सिद्धान्त को तब ही चरितार्थ कर सकते हैं जब कि हम अपने जीवन को स्वावलम्बी बनावें। इसलिये स्वावलम्बन को समाजोन्नति का अमूल्य उपाय मानना कोई अत्युक्ति नहीं है।

संगठन

बच्चा भी जानता है कि एक एक धागे को मिला कर जब रस्सा बनाया जाता है तब हाथी भी उसके बंधन के सामने अपने बल का उपयोग नहीं कर सकता। आज हमारे समाज में न धन की कमी है न उदारता की, परन्तु आपस में संगठन न होने से लाखों रुपये खर्च करते हुए भी हम अपने धर्म का प्रभाव फैला नहीं सकते। हमारी वर्तमान परिस्थिति पर एक सुन्दर दृष्टान्त याद आता है। कुछ जैन यात्री प्रवास में निकले हुए थे। रास्ते में सूर्यास्त के समय सब को चउविहार करना था और पानी के लिये कोई उपाय था नहीं। आखिर वे एक सूखी नदी पर पहुंचे। तब एक अनुभवी ने कहा कि सब एक छोटी कुंइयां खोदो तो अभी पानी निकल जायगा। परन्तु आपस में संगठन था नहीं, इसलिये सब के सब अलग कुंइयां खोदने बैठ गये। किसीने दो हाथ किसीने तीन और किसीने चार हाथ खोदा और पानी किसी से भी निकला नहीं और रात पड़ गई। सबको प्यासे ही रहना पड़ा अगर सबने मिलकर एक कुंइयां खोदी होती तो सबकी प्यास बुझती। ई० स० १८९३ के चिकागो (अमेरिका) की (Parliament of Religions) सर्वधर्मपरिषद् में जैन धर्म के प्रतिनिधि श्रीमान् वीरचन्द राघवजी गांधी गये थे। हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानंद गये थे। दोनों की प्रशंसा अमेरिका में खूब हुई और उनके व्याख्यानों का अपूर्व प्रभाव वहां की प्रजा पर पड़ा। परंतु हमारे समाज में संगठन न होने के

कारण सुचारु रूप से अपना कार्य आगे नहीं बढ़ा सके और स्वामी विवेकानंद ने जो रामकृष्ण मिशन (Ramkrishnaa Mission) स्थापित किया उसको आगे व्यवस्थित ढंग से चलाते गये। आज सारे संसार में उनका प्रचार जारी है और देश देश में उसकी शाखाएं चला रही हैं और विदेशी लोग भी संन्यासी बन कर उनके मिशन का काम आगे बढ़ा रहे हैं। हमारे पूर्वाचार्यों ने तो संसार को संगठित करने के लिये सुंदर से सुंदर स्याद्वाद न्याय का निर्माण किया जिसको विदेशी विद्वान् Unifying force संसार की संगठनशक्ति—कहते हैं। उसके अनुयायी आपस में संगठन नहीं साध सकते तो संसार को क्या संगठन का सबक सिखा सकेंगे और क्या जगत् के कदाग्रह और क्लेश का अन्त कर सकेंगे। यह तो ऐसी बात है कि जिस बीमारी का जो डाक्टर स्वयं शिकार बना है उसके शर्तिया इलाज का वह विज्ञापन कर रहा है। इसलिये हमें स्याद्वाद या नयवाद की विशालता और सुन्दरता समझ कर आपस में संगठन साधना चाहिये।

शिक्षा

जैसे यंत्रवाद के युग में चाहे प्रकाश करना है, चाहे पंखा चलाना है, चाहे टेलीफोन से बात करना है या किसी भी प्रकार मशीन को चलाना है तो बिजली का उपयोग करना आवश्यक समझा जाता है। वैसे ही चाहे सामाजिक, व्यावहारिक, अथवा धार्मिक प्रगति साधना है तो शिक्षा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। आज आधुनिक शिक्षा से लोग घबराते हैं और कहते हैं कि शिक्षा से संस्कृति का नाश होता है। परन्तु मैं तो उसको वैसी ही भ्रांति मानता हूं जैसे कि बिजली जला देती है इसलिये बिजली के उपयोग से दूर रहना चाहिये। इस तरह से यंत्रवादी घबराए होते तो सारे संसार में यंत्रवाद का साम्राज्य स्थापित नहीं कर पाते। जिस काल में जिस प्रकार की शिक्षा प्रचलित हो, उसको प्राप्त किए बिना हम अपना हित साध ही नहीं सकते। बौद्धों तथा वेदान्तियों ने अपना प्रचार संसार के कोने कोने में फैलाया, इसका कारण यही है कि उनके प्रचारक आधुनिक शिक्षा में आगे बढ़े हुए थे। आज काँग्रेस ने अंग्रेजी शासन का सामना करके स्वराज्य कैसे लिया? इसीलिए न कि हमारे नेता आजकी प्रचलित शिक्षा में निष्णात बने हुए थे। दर असल शिक्षा का बुरा असर जो हमें अपनी संस्कृति पर नज़र आता है, उसका कारण तो यह है कि हम अपनी संस्कृति-रक्षण के पाये पर शिक्षा के साधन खड़े नहीं करते हैं। आज हमारे कितने ही शिक्षालय खुले हुए नजर आते हैं परन्तु आदर्श शिक्षकालय दो चार भी देखने में नहीं आते। अगर हम शिक्षक ही संस्कृति के उपासक तैयार नहीं करते और संस्कृतिघातक शिक्षकों के द्वारा हम अपने बालकों को शिक्षा दिलाते हैं तब सुन्दर परिणाम कैसे आ सकता है? बनाना है गोली और मशीन है टीकडी की तब भला टीकडी (Tablet) की मशीन में गोली कैसे बनेगी। हमारी संस्कृति को लक्ष्य में रख कर शिक्षा के केन्द्र खोले नहीं जाते और न शिक्षक खास संस्कृति पोषक शिक्षा देनेवाले तैयार किये जाते हैं। शिक्षा को दोष देना और उससे दूर रहना समाज की उन्नति में बाधा पहुँचाना है, इसलिये शिक्षा से न घबराते हुए उसके लिये सुन्दर आयोजन करके, आदर्श शिक्षालय और शिक्षकालय स्थापित करके, आदर्श शिक्षकों को जीवनभरण पोषण की चिन्ता से मुक्त करके उनके द्वारा शिक्षा का प्रचार करना समाजोन्नति के लिये अत्यंत लाभकारी है।

साहित्य

जितना प्रचार हम प्रवचन, व्याख्यान या संभाषण से कर सकते हैं, उससे हजार गुणा ज्यादा काम साहित्य के द्वारा हो सकता है। जो लोग आज अपने धर्म या संस्कृति का प्रचार कर रहे हैं वे सब भिन्न भिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशन द्वारा ही कर रहे हैं और उसमें सफल होते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

श्रीकृष्ण, राम, बुद्ध और क्राईस्ट के जीवन चरित्र की पुस्तकें सैंकड़ों भाषाओं में संसार के कोने कोने में बांटी जा रही हैं और हम लोग तो ऐसे बेपरवाह हैं कि प्रतिवर्ष जब श्रीभगवान् महावीर स्वामी का जन्म महोत्सव मनाते हैं तब बड़े बड़े मन्त्री लोगों को, न्यायाधीशों को और राज्याधिकारियों को निमंत्रित करते हैं, परन्तु जब वे भगवान् के आदर्श जीवन और उनके अमूल्य सिद्धान्तों की रूपरेखा (Outlines) दर्शानेवाली कोई पुस्तक या निबन्ध अपने बोलने के लिये या पढ़ने के लिये मांगते हैं, तब एक संचालक दूसरे संचालक का मुंह ताकने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। मतलब यह है कि अंग्रेजी जैसी प्रचलित भाषा में एक सुन्दर और सारगर्भित पुस्तक बाहर के आये हुए विद्वान् लोगों को देने के लिये हमारे पास तैयार होवे ऐसा देखने में बहुत कम आया है। बड़े खेद की बात है कि हजारों रुपये ध्वजापताका, सभामण्डप बनाने में खर्च कर लेते हैं परन्तु इस तरफ क्यों ध्यान नहीं जाता? जब बौद्ध धर्म वालों ने Light of Asia—जंबूज्योति—नाम की पुस्तक एक महान् विद्वान् द्वारा तैयार करवाई, उन्हीं दिनों में हमने भी एक अत्युत्तम ढंग से महावीर का जीवनचरित्र प्रकाशन करने में कुछ रकम खर्च कर दी होती तो आज महावीर भगवंत के प्रति भी प्रजा में सर्वत्र पूज्यभाव बढ़ता और सभा में जैसे बुद्ध को बार बार विद्वान् लोग अपनी जिह्वा पर लाते हैं वैसे भगवान् महावीर का पवित्र नाम भी अपने मुंह पर लाते। हर एक कार्य समयोचित होने में ही शोभा है। खेती भी समयोचित नहीं हो, तो मेहनत व्यर्थ जाती है। जैन धर्म ने तो स्थान स्थान पर शास्त्र में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर जोर दिया है। शायद ही किसी दूसरे धर्म में इतना जोर द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर हो। परन्तु आज उस तरफ न तो हमारा लक्ष्य है और न उसका बहुमान है। इसलिये जैन साहित्य संसार का एक सर्वोत्तम साहित्य होते हुए भी जगत् में उसे चाहिए वैसा उचित स्थान प्राप्त नहीं। इसलिये अब शीघ्र ही संसार की प्रचलित भाषाओं में जैन धर्म के रहस्य को समझानेवाले छोटे छोटे निबन्ध, पुस्तिकाएँ अथवा पुस्तकों का प्रकाशन करना हमारी उन्नति का अपूर्व साधन है।

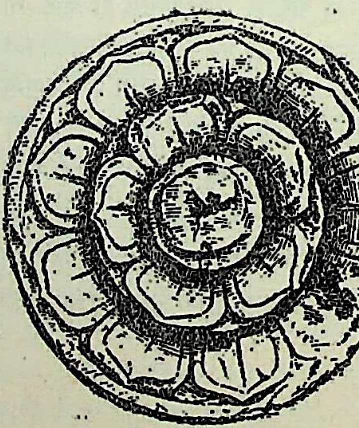

भारत की एक महान् विभूति

महता श्री शिखरचन्द्र कोचर, बी. ए., एल् एल्. बी., आर. जे. एस्.
साहित्य-शिरोमणि, साहित्याचार्य

प्रातःस्मरणीय जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज केवल जैन-समाज की ही नहीं, अपितु अखिल भारतवर्ष की एक महान् विभूति थे। संवत् १९४४ में केवल सत्रह वर्ष की अल्पायु में आपने समस्त सांसारिक सुख वैभव को तिलांजलि देकर स्वनाम-धन्य सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी (अपर नाम श्रीआत्मारामजी) महाराज से भागवती दीक्षा के कठोर व्रत अंगीकार किए। तत्पश्चात् अनवरत सड़सठ वर्ष के सुदीर्घ कालपर्यंत आपने तथा आपके आदेशानुसार आपके विशाल शिष्य-समुदाय ने लोक-हित के हेतु जो अनेकानेक सत्कार्य किए, यदि उनका वर्णन किया जाय तो एक सुविशाल ग्रन्थ का निर्माण करना पड़े। संक्षेप में आप अनेक राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं नाना-विध लोक-मंगलकारी संस्थाओं के प्राण, अनेक जिन-मंदिरों एवं मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापक, अगणित देवालयों एवं तीर्थों के जीर्णोद्धारक एवं व्यवस्थापक, अनेक मनीषियों, विद्वानों, लेखकों एवं कलाकारों के आश्रय-दाता, सहस्रों मनुष्यों को कुमार्ग से दूर हटा कर सन्मार्ग पर चलानेवाले, लाखों मनुष्यों को सद्धर्मामृत का पान करानेवाले, अत्यंत मधुरभाषी परंतु स्पष्टवक्ता, जैन एवं जैनेतर दर्शनों के मार्मिक विद्वान्, निष्पक्ष समालोचक, अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता, संस्कृत एवं प्राकृत तथा अन्यान्य प्राचीन भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित, जैन-शास्त्रों में पारंगत, सुललित छंद एवं कोमल कांतपदावलियुक्त श्रुति-मधुर तथा मनोहर काव्य-रचना करने में सिद्ध-हस्त, उत्तम संगीतज्ञ, अपनी पीयूषवर्षिणी वाणीद्वारा श्रोता-गण को मन्त्र-मुग्ध करने में निष्णात, अनेक अभिमानी वादी-गण का गर्व खर्व करने वाले विद्वान्, अनेक नेताओं, सम्मान्य पुरुषों तथा राजा-महाराजाओं द्वारा पूजित, जन-साधारण द्वारा पूर्णरूपेण समाहत, गम्भीर विचारक, प्रखर द्रष्टा, सौम्याकृति, नवनीतोपमकोमलहृदय होते हुए भी कर्त्तव्य-पालन में वज्र-सम कठोर, पर-दुःख-भंजन में लवलीन, अहर्निश परोपकार-परायण, अहिंसा एवं सत्य के अनन्य पुजारी, शांति के देवदूत, श्रेष्ठ समाज-सुधारक एवं लोक-सेवक, उग्र तपस्वी, महान् योगी, श्रेष्ठ आचार्य, अत्यंत तेजस्वी एवं प्रभावशाली, उच्च कोटि के शिक्षा-शास्त्री, परम देश-भक्त एवं राष्ट्र-कर्मी, अगणित जीवों के जीवन-दाता, घोर परिषहों एवं उपसर्गों में भी अविचलित धैर्य धारण करनेवाले, अत्यंत मेधावी एवं मनस्वी, पृथ्वी के समान सहन-शील एवं सागर के समान गंभीर, क्षमा-श्रमण, जिन-शासनोद्धारक, नाना-विद्या-निधान, सकल सद्गुण-समलंकृत महापुरुष थे।

आपने अपने जीवन-काल में जितना महान् कार्य किया, उतना अनेक संस्थाएं मिलकर भी कठिनता से कर पातीं। आपका जीवन अत्यंत आदर्श, सरल एवं नियमित था। आप अपने बहुमूल्य समय का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते थे और सदैव लोक-हित-साधन तथा आत्मोन्नति के कार्यों में व्यस्त रहते थे। आप धर्म, समाज एवं राष्ट्र के हितके लिए अपना जीवन बलिदान करने में भी किंचिन्मात्र संकोच नहीं करते थे। आपकी विचार-सरणि अत्यंत परिष्कृत एवं परिमार्जित तथा तात्त्विक दृष्टि अत्यंत प्रखर थी, जिससे आप कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान अत्यंत सरलतापूर्वक कर लेते थे। आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व, सुमधुर वक्तृत्व, सौजन्यतापूर्ण एवं सौहार्द-पूर्ण व्यवहार, निष्कलंक जीवन, अगाध पांडित्य एवं

सहानुभूति से ओत-प्रोत हृदय के कारण सर्व-साधारण के हृदयपटल पर आपकी अमिट छाप अंकित हो जाती थी। आपका कट्टर से कट्टर विरोधी भी आपके समक्ष आनेपर स्वयमेव नत-मस्तक हो जाता था और आपका परमभक्त बन जाता था। आपके संपर्क में जो भी व्यक्ति आता था, वह आपकी भव्याकृति का दर्शन करके तथा आपकी सुधावर्षिणी वाग्धारा का पान करके पूर्णतया तृप्त हो जाता था, और आपके सामीप्य से दूर जाने पर उसके मन में आपके दर्शन-लाभ एवं उपदेश-श्रवण की उत्कट अभिलाषा बारंबार उत्पन्न होती रहती थी।

आपका रहन-सहन और खान पान अत्यंत सीधा-सादा और जैन-मुनि के लिए आदर्श था। जैनाचार्यों में आपका स्थान निर्विवादरूप से अप्रतिम था। जैन समाज ही नहीं, अपितु समस्त जैनेतर समाज में भी आपकी प्रतिष्ठा अत्यधिक थी। आप जहाँ भी जाते, वहीं जनता का समुद्र उमड़ पड़ता था, और प्रत्येक जाति अथवा संप्रदाय के लोग आपके सदुपदेशों से लाभान्वित होते थे। इतने महान् प्रभावशाली युग-वीर आचार्य होते हुए भी आपको अभिमान छू तक नहीं गया था। आप अपने आपको एक साधारण जैन-मुनि अथवा जनता का सेवक ही समझते थे। आपकी सरल-हृदयता, विनय-शीलता, उदार-स्वभाव, शान्त वृत्ति एवं त्याग-भावना अत्यंत मर्म-स्पर्शी थीं। आपकी गुरु-भक्ति एवं निर्लोलुपता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि आपने अपने अनवरत परिश्रमद्वारा संस्थापित समस्त संस्थाओं का नाम-करण अपने पूज्य गुरुदेव के नाम पर अथवा अन्य नाम पर किया। बाह्याडंबर एवं यशःकांक्षा तथा पद-लिप्सा से आप कोसों दूर रहते थे। आप सरल जीवन एवं उच्च विचार (Plain living and high thinking) के मूर्तिमान उदाहरण थे।

समाज की जड़ों को खोखला बनाने वाले कलह, अविद्या, अन्ध–विश्वास, दुर्व्यसन, आलस्य, अप-व्यय, बेकारी आदि समस्त दुर्गुणों का उन्मूलन कर समाज को सुशिक्षित, सुसंगठित, सुसंस्कृत, सामयिक, जाग्रत एवं क्रियमाण बनाने में आपने जो योग-दान दिया, वह सर्व-विदित है। जैन-धर्म के समस्त मत-मतांतरों में सामंजस्य-साधन एवं एकता-स्थापन के लिए आपका परिश्रम बेजोड़ सिद्ध हुआ, जिसका अंकुर आज सर्वत्र दृष्टि-गोचर हो रहा है।

अपनी जर्जर, अस्थि-चर्मावशिष्ट देह-यष्टि को लिए हुए, अदम्य उत्साह के साथ घोरातिघोर कष्टों का निर्भीकता-पूर्वक सामना करते हुए आप गाँव गाँव और घर घर में सत्य, अहिंसा एवं विश्व-मैत्री का मन्त्रोच्चार करते हुए निरवलंब, नंगे पाँव, पैदल घूमते रहते थे। सर्दी, गर्म्मी, भूख, प्यास तथा अन्यान्य कष्टों अथवा असुविधाओं और विरोधियों तथा स्वार्थियों के कुचक्रों की ओर से सदैव उदासीन रह कर, राग और द्वेष से मुक्त आप अपने कर्त्तव्य-पथ पर निर्विकार-भाव से अग्रसर होते रहते थे, और अपने शिष्य-समुदाय को भी एतदर्थ प्रेरित करते थे। वृद्धावस्था तथा घोर-कष्ट-सहन के कारण आपका शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था, किन्तु आपके आत्मिक तेज की वृद्धि उत्तरोत्तर होती जाती थी। आपका जोश युवकों के जोश को भी मात करता था। मानापमान की ओर किंचिन्मात्र ध्यान न देकर, अपने सुख और दुःख से निरपेक्ष, अविचल मन एवं अनवरत परिश्रम द्वारा आपने लोक-हित के लिए जो सत्कार्य्य एवं भगीरथ प्रयत्न किए हैं, वे इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किए जाने योग्य हैं। पंजाब, राजस्थान एवं गुजरात के जैन-समाज की जो आपने महान् सेवा की है, वह तो कभी भुलाए नहीं भूली जा सकती। आपके स्थापित किए हुए अनेकानेक विद्यालय, गुरुकुल, कालेज तथा अन्यान्य संस्थाएं जैनसमाज व राष्ट्र को आपकी अनुपम देन हैं। जैन-समाज व भारत देश आपके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकेगा। आपने अनेक नव-युवकों को उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरणा की, और सहायता दी, प्राचीन जैन-ग्रंथ-भंडारों की

सुव्यवस्था एवं उत्तमोत्तम ग्रन्थ-प्रकाशन के लिए व्यवस्था की। लोक-हित के जिस कार्य में आपने हाथ डाला, उसे उत्तम रूप से पूर्ण किया, जिस संस्था पर आपकी कृपा-दृष्टि हुई, उस संस्था में नव-जीवन संचार कर दिया। आपके सदुपदेशों के कारण सहस्रों मनुष्यों में काया-पलट हो गया, और उन्होंने दुर्लभ नर-तन प्राप्त करने का वास्तविक लाभ उठाया।

यद्यपि आप एक संप्रदाय के आचार्य थे, परन्तु आपमें साम्प्रदायिक संकीर्णता का सर्वथा अभाव था। आप प्रत्येक धर्म एवं संप्रदाय के अनुयायी का यथोचित सत्कार करते थे और उसकी शंकाओं का समाधान अपनी विलक्षण तर्क शैली द्वारा किया करते थे। आपके उज्ज्वल चारित्र, उदार स्वभाव एवं अलौकिक प्रतिभा के कारण आपका समादर प्रत्येक क्षेत्र में होता था, और प्रत्येक संप्रदाय अथवा समुदाय के नेता आप से परामर्श करने एवं पथ-प्रदर्शन के लिए मिलते रहते थे। आपमें देश-भक्ति की भावना पूर्ण रूप से भरी हुई थी और आपका प्रत्येक कार्य्य देश-हित का विशाल दृष्टि-कोण लिए हुए होता था। आप सदैव शुद्ध खादी पहनते, और जनता को भी सदैव खादी पहनने का उपदेश करते थे। देश-हित के प्रत्येक कार्य में आप सदैव अग्रणी रहते थे, और आपके सदुपदेशों में देश-भक्ति की पावन धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती थी।

यद्यपि आपकी नश्वर देह आज हमारे बीच में नहीं है, और आपके निधन के कारण आज हम सब अपने आपको अनाथ-सा अनुभव कर रहे हैं, तथापि आपकी आदर्श जीवनी, आपके सदुपदेश, आपके दिव्य भक्तिपूर्ण काव्य और आपके अगणित कार्य-कलाप एक महान् प्रकाशस्तंभ के समान हमारे तमसावृत मानस-पटल के अज्ञानान्धकार को विदीर्ण कर सुमार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत हैं, और सदैव प्रस्तुत रहेंगे। आपकी पुनीत स्मृति में आपका भक्त-समुदाय पार्थिव स्मारक बनवा रहा है और भविष्य में भी बनवाएगा, तथापि आपके सर्वोत्तम स्मारक तो आपके निःस्वार्थ कार्यकलाप ही हैं। आपका वास्तविक स्मारक तो तब बनेगा जब हम आपके छोड़े हुए अपूर्ण कार्य की पूर्ति में कटिबद्ध होकर उसकी पूर्णाहुति में योग-दान देंगे। शासन देव से प्रार्थना है कि वे हमें इन महान् युग-वीर आचार्य के प्रदर्शित मार्ग पर अविचलित रूप से चलने की सुबुद्धि एवं शक्ति प्रदान करें, जिससे कि हम स्वतंत्र भारत के सुयोग्य नागरिक कहलाने की योग्यता प्राप्त कर, स्व-एवं पर-हित-साधन में समर्थ हो सकें।

चातुर्मास स्थलादि का विवरण

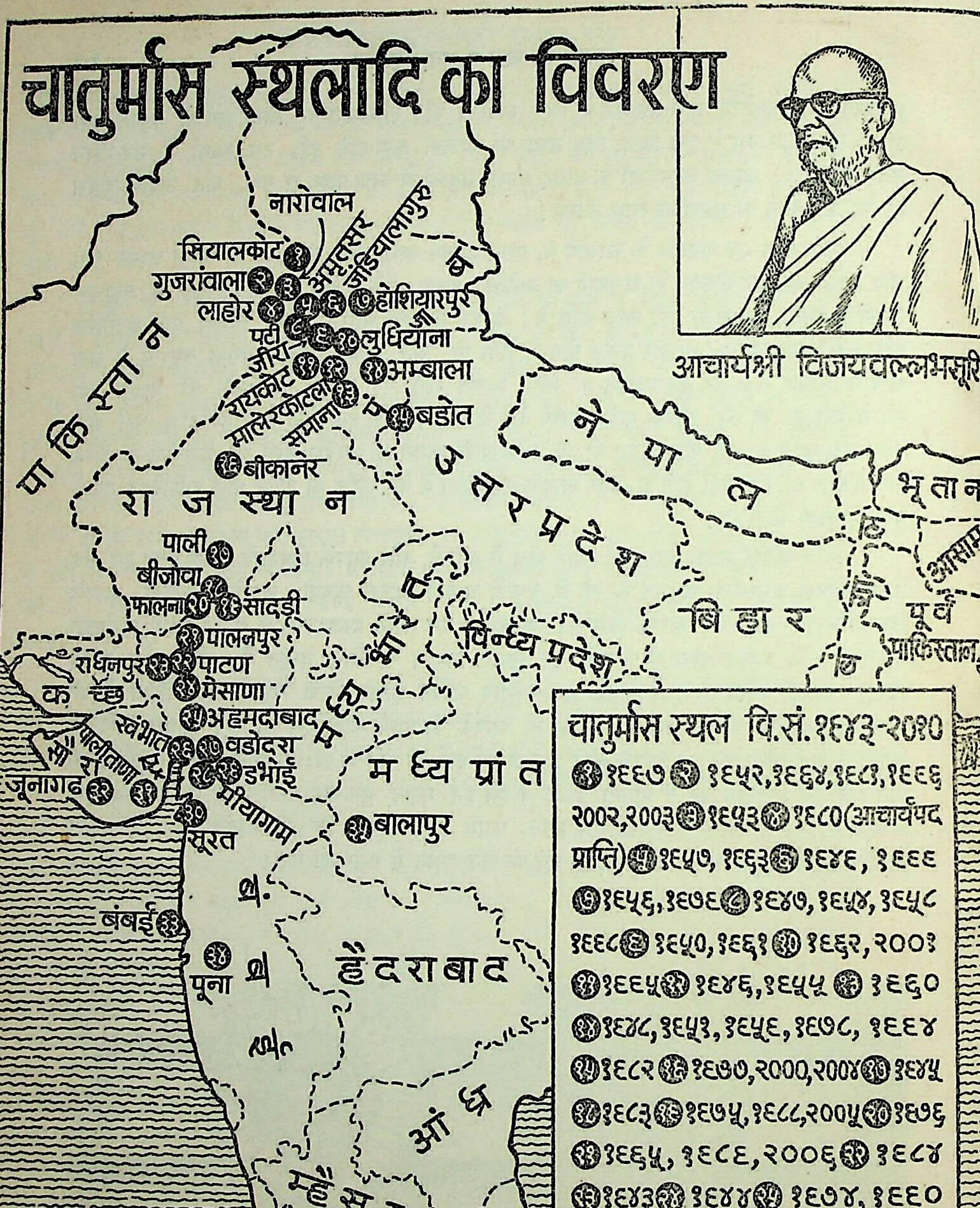
नारोवाल
सियालकोट
गुजरांवाला
अमृतसर
जंडियालागुरु
लाहोर
होशियारपुर
पट्टी
लुधियाना
जीरा
रायकोट
अम्बाला
मालेरकोटला
समाना
बडोत
बीकानेर
पाकिस्तान
राजस्थान
पाली
बीजोवा
फालना
सादड़ी
पालनपुर
राधनपुर
पाटण
मेसाणा
कच्छ
अहमदाबाद
खंभात
वडोदरा
पालीताणा
जूनागढ
डभोई
मीयागाम
सूरत
बालापुर
बंबई
पूना
मध्य भारत
विन्ध्य प्रदेश
उत्तर प्रदेश
मध्य प्रांत
हैदराबाद
आंध्र
म्हैसुर
मद्रास
नेपाल
भूतान
आसाम
बिहार
पूर्व पाकिस्तान

आचार्यश्री विजयवल्लभसूरि

चातुर्मास स्थल वि.सं. १९४३-२०१०

① १९९७ ② १९५२, १९६४, १९८१, १९९६, २००२, २००३ ③ १९५३ ④ १९८० (आचार्यपद प्राप्ति) ⑤ १९५७, १९६३ ⑥ १९४९, १९९९ ⑦ १९५६, १९७९ ⑧ १९४७, १९५४, १९५८, १९९८ ⑨ १९५०, १९६१ ⑩ १९६२, २००१ ⑪ १९९५ ⑫ १९४६, १९५५ ⑬ १९६० ⑭ १९४८, १९५१, १९५९, १९७८, १९९४ ⑮ १९८२ ⑯ १९७७, २०००, २००४ ⑰ १९४५ ⑱ १९८३ ⑲ १९७५, १९८८, २००५ ⑳ १९७६ ㉑ १९६५, १९८९, २००६ ㉒ १९८४ ㉓ १९४३ ㉔ १९४४ ㉕ १९७४, १९९० ㉖ १९९३ ㉗ १९६६ १९९२ ㉘ १९६७ ㉙ १९६८ ㉚ १९७१ ㉛ २००७ ㉜ १९७२ ㉝ १९६९, १९७०, १९७३, १९८५, १९९१, २००८, २००९, २०१० ㉞ १९८६ ㉟ १९८७

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : हिन्दी विभाग

: संपादक :

प्रो. पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री

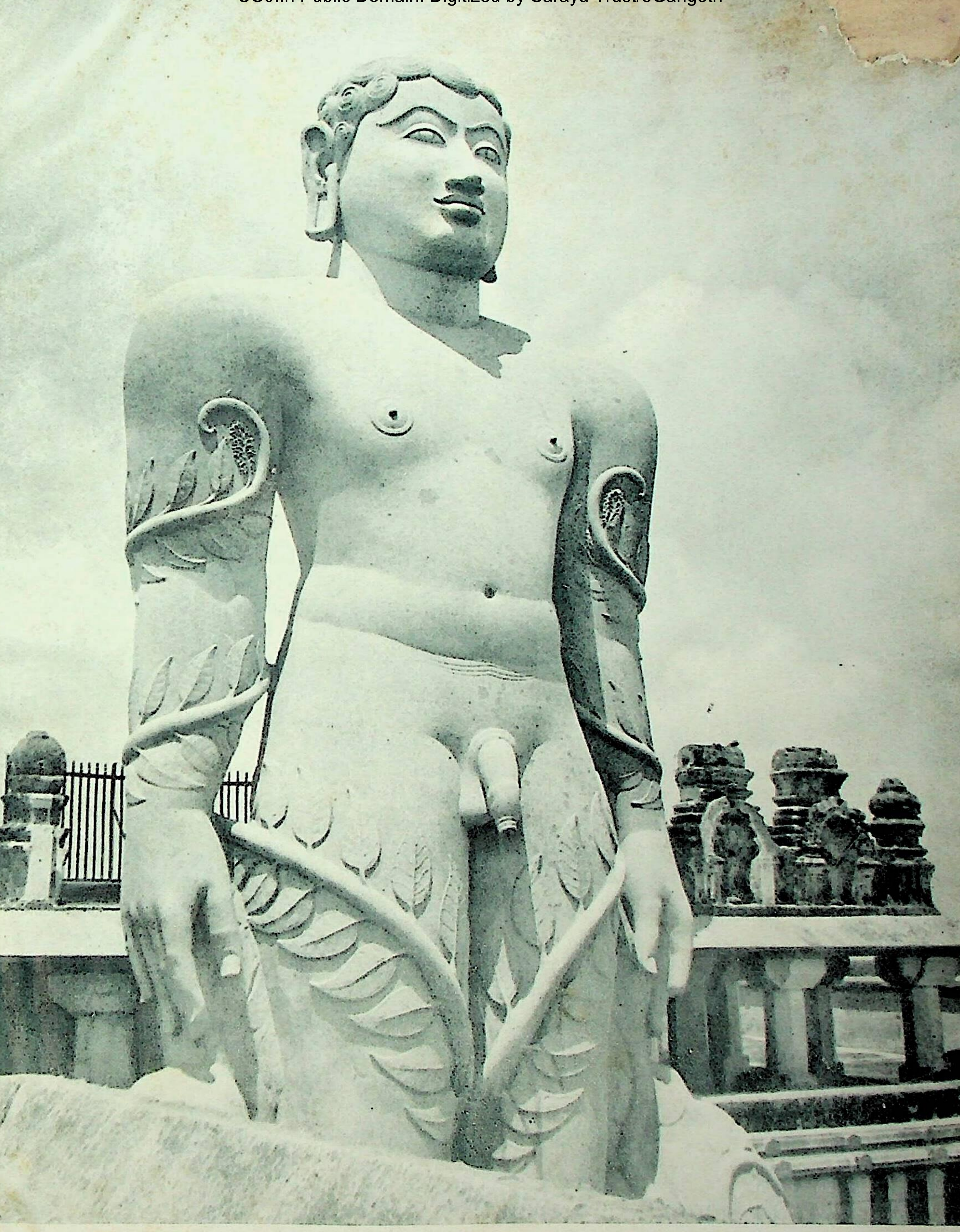

श्रमण-बेळगोळमां चन्द्रगिरि अने इन्द्रगिरिनी वच्चे, ई. स. ९८१-९८३ आसपास प्रतिष्ठित, गोम्मटेश्वर (बाहुबली)नी महाकाय प्रतिमा—एकज शिलामांथी घडेली छे. ऊँचाई आशरे ५६ फुट ६ इंच छे.

तसवीर : फेलीसीटा]

जैन पुराण-कथा का लाक्षणिक स्वरूप

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन

सबसे पहले पुराण-कथा के प्रकृत स्वरूप और उसके मनोवैज्ञानिक उद्गम पर प्रकाश डाल देना ज़रूरी है।

मनुष्य अपने वास्तविक रूप से तुष्ट नहीं। उसे अनादि काल से उच्चतर और सम्पूर्णतर जीवन की खोज रही है। इस खोज ने इन्द्रियगम्य वस्तु-जगत् की सीमा भी लांघी है, और मनुष्य ने लोकोत्तर और दिव्य के सपने भी देखे हैं। सपने ही नहीं देखे, अपने उन सपनों को अपने रक्तांशों में जीवित कर, अपने ही मांस में से उसने प्रकाश की उन मूर्तियों को जीवन्त भी किया है। जब-जब मनुष्य के स्वप्न के उस 'परम सुन्दर' ने रूप ग्रहण किया, वह अपने सर्वांगीण ऐश्वर्य की अनेक लीलाओं को मानवीय मन पर बहुत गहरा अंकित कर गया। उस परम पुरुष या परम नारी का जो स्थूल व्यक्तीकरण होता है, वह अपने आप में ही समाप्त नहीं है। उस लीला में एक अधिक गहरा और सूक्ष्म सत्य होता है, जो अरूप होता है। चर्मचक्षु की पकड़ में वह नहीं आता, पर बोध के द्वारा वह उस काल के मनुष्यों की अनुभूति में रम जाता है। यह अनुभूति मानवी रक्त में समाविष्ट होकर पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होती रहती है। विकास के नव-नवीन उन्मेषों और सपनों से मनुष्य उस अनुभूति को सघनतर और विपुलतर बनाता जाता है, नाना काव्यों और कला-कृतियों में उसे संजोता है और अन्ततः वही अनुभूति श्रेष्ठतर और उच्चतर मानवों के रूप में आविर्भूत होकर हमें आगामी देवत्व का आभास दे जाती है। हमारे वैज्ञानिक युग के 'सुपर मैन' की कल्पना के मूल में भी उत्तरोत्तर विकास की यही अजस्र चेतना काम कर रही है।

मनुष्य के भीतर अपार ऐश्वर्य की सम्भावनाएं दिन और रात हिलोरें ले रही हैं। उन्हें वह एक वास्तविक और सीमित घटना के वर्णन के रूप में नहीं आंक सकता, क्योंकि वह देश-काल की बाधा से मुक्त असीम भूमा का परिणमन है। इसीसे उस अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त होने के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। सर्वकाल और सर्वदेश में उसी एक प्राण-पुरुष की सत्ता व्याप्त है। इसीसे मनुष्य का मन सब जगह समान रूप से काम करता है और यही कारण है कि जहां भी और जब भी किसी लोकोत्तर, दिव्यसत्ता ने जन्म लिया है, तो उसने सर्वत्र मानवी मन पर अपनी असाधारणता की प्रायः एक-सी छाप डाली है। इस तरह मनुष्य के स्वप्न के विगत, आगत और अनागत आदर्श पुरुषों की कथाओं को एक लाक्षणिक रूप-सा मिल गया है।

कल्प-पुरुष के इसी लाक्षणिक रूप को भिन्न-भिन्न देश-काल के लोगों ने और उनके कवि-मनीषियों ने नाना रंगों के प्रकाश-सूत्रों में बांधा है। स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-नारी की इस कल्पना-ग्राह्य कथा को ही हम पुराण-कथा कह सकते हैं। निरे वास्तव के तथ्य से ऊपर उठ कर कथा जब भी भाव कल्पना के दिव्य लोक में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा बन गयी है। अपने मन की सारी उद्दीप्त आशा, कांक्षा और कामना से अभिषिक्त कर मनुष्य की अनेक पीढ़ियां उसी कल्प-पुरुष की कथा के नव-नवीन और महत्तर रूपों को दुहराती गयी हैं। मनुष्य की कथा जब भी प्रकट सामान्य के धरातल से उठकर सम्भाव्य

असामान्य के स्वप्न-जगत् में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा हो गयी है। इसीसे प्रायः ये कथाएं रूपक, प्रतीक और दृष्टान्त के रूप में ही पाई जाती हैं। वे मात्र वास्तविक घटना की कथा नहीं कहतीं, वे तो बिना कहे ही जीवन के कई निगूढ़ सत्यों पर अनेक रंगों का प्रकाश डाल देती हैं।

जैन पुराणों में भी इस कल्प-पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्श की कथा को ही लाक्षणिक रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के यहाँ इन परम पुरुषों को शलाका पुरुष कहा गया है। उनके स्वरूप, सामर्थ्य, लीला और चरम प्राप्ति की भिन्न-भिन्न कोटियों के अनुसार उनकी अलग-अलग लाक्षणिक मर्यादाएं कायम कर दी गयी हैं।

जैन कवि-मनीषियों ने अपने आदर्श की चूड़ा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर वह व्यक्तिमत्ता होती है, जिसमें सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ प्रकाशित होते हैं। दैहिक दृष्टि से वह असामान्य बल-वीर्य, शौर्य, विक्रम-प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माना जाता है। उसकी अंग-रचना का बड़ा ही विशद और सार्थक वर्णन शास्त्रों में मिलता है। आदि से अन्त तक बाल-रूप का सलौना और निर्दोष मार्दव उसके मुख पर और काया में विराजता रहता है। आयुष्य के प्रभाव से वह अविच्छिन्न रहता है, और स्वयं काल भी उसकी देह का घात नहीं कर सकता। इसीसे उसे चरम शरीरी कहा गया है। वह लोक का अपराजित आदित्य-पुरुष यानी पूषन् होता है, जिसमें सारे तत्त्वों का सारभूत तेज, रस और शक्ति समाई रहती है। किसी पूर्वजन्म में निखिल चराचर के कल्याण की कामना करने से वह तीर्थंकर प्रकृति बांधता है। इसीसे जब वह तीर्थंकर होकर पैदा होता है तो लोक में सर्वांगीण अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणिमात्र के प्राण एक अव्याहत सुख से व्याप्त हो जाते हैं। तत्कालीन धरती पर वही लोक और परलोक की सारी सिद्धियों का प्रकाशक, विधाता और नेता होता है।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बड़ी काव्यमय और रोचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेजस् उस रूपक में साकार हुआ है। वह मानवों और देवों की महत्त्वाकांक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह महीने पहले से पंच आश्चर्यों की वृष्टि होने लगती है। आस-पास के प्रदेशों में निरन्तर रत्न-वर्षा होती है, नन्दन के कल्प-वृक्षों से फूल बरसते हैं, गंधोदक की वृष्टि होती है, और आकाश में दुंदुभियों के घोष के साथ देव जय-जयकार करते हैं। पृथ्वी अपने भीतर के समूचे रस से संसार को नव-नवीन सर्जनों से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ में आते हैं, उस रात उनकी माता ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह आदि के सोलह[1] सपने देखती है, जो उस आगामी परम-पुरुष की अनेक विभूतियों के प्रतीक होते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, देवलोक और मर्त्यलोक में अनेक आश्चर्य घटित होते हैं। सभी स्वर्गों के इन्द्र अपनी देवसभाओं सहित अन्तरिक्ष को दिव्य संगीत से गुंजित करते हुए, लोक में प्रभु के जन्म का उत्सव मनाने आते हैं। बड़े समारोह से शिशु भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर उन्हें पांडुक शिला पर विराजमान किया जाता है, फिर देवांगनाओं द्वारा लाये हुए क्षीर-सागर के जल के एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया जाता है। कई दिनों तक इंद्राणियां और देवियां प्रभु की माता की सेवा में नियुक्त रहती हैं। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के प्रकरणों में उनके कुमार-काल और राज्यकाल की विशिष्ट कथाएं वर्णित होती हैं।

---

[1] १. कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार चौदह। —संपादक

दीर्घ समय तक विपुल सुख-भोग के साथ राज्य करते-करते किसी एक दिन अचानक सांसारिक क्षण-भंगुरता पर उसकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उसकी दृष्टि में विनाशी और हेय जान पड़ता है। देह, महल और संसार के बन्धन उसे असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वह चल पड़ने को उद्यत हो जाता हैं, तभी लोकान्तिक देव आकर उसकी इस मांगलिक चित्त-वेदना का अभिनन्दन कर, उसके वैराग्य का संकीर्तन करते हैं। जब वह नरसिंह महाभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत होता है, उस समय संसार की सारी विभूतियां हाहाकार कर उठती हैं कि हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हें त्याग कर चला जा रहा है, और उसे बांध कर पकड़ रखने की शक्ति उनमें नहीं है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा-कल्याणक करता है। वह मानव-पुत्र निर्वसन[1] दिगम्बर होकर प्रकृति की विजय-यात्रा पर निकल पड़ता है। महाविकट कान्तारों और पर्वत-प्रदेशों में वह दीर्घकाल तक मौन समाधि में लीन हो रहता है। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उसकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीनों काल और तीनों लोक के सारे परिणमन उसके चेतन में हाथ की रेखाओं से झलक उठते हैं। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक-पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राणों तक पहुंचाने के लिये लोक में लौट आता है। इन्द्र और देवगण उसके आसपास विशाल समवशरण की रचना करते हैं। तीर्थंकर की यह धर्मसभा देश-देशान्तरों में विहार करती है। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है, दिशाएं नव युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर जाती हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक में अनेक कल्याणकारी परिवर्तन होते हैं। प्रभु की अजस्र वाणी से प्राणिमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बहता रहता है। लोक में उस समय अपूर्व मंगल और आनन्द व्याप्त हो जाता है। जीवों के वैर-मात्सर्य, दुःख-विषाद मानो एकबारगी ही लुप्त हो जाते हैं। इस तरह अनेक वर्ष दूर-दूर देशों में विहार करके धर्म का चक्र-वर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण में प्रभु का परिनिर्वाण हो जाता है। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थंकर की जीवन-कथा।

लोक का दूसरा प्रतापी शलाका पुरुष होता है चक्रवर्ती। चक्रवर्ती के जन्म के साथ ही उसके महाप्रासाद में उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धियों और सिद्धियों के देनेवाले चौदह रत्न प्रकट होते हैं। इन्हीं रत्नों में से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतियां प्रकट होती हैं। वह पूर्व निदान से ही षट्खंड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खंडों में जहां पीड़क असुरों और शोषक राजाओं के अत्याचारों से लोक-जन पीड़ित होते हैं, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म-शासन स्थापित करने के लिये ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिये जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे-आगे चलता हुआ उसका पंथ-संधान करता हैं। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी स्थापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जब ससागरा पृथ्वी के छः खंडों को जीतकर चक्री अपनी विजय के शिखर पर गर्वोन्नत खड़ा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अंकित करने जाता है। पर वहां जाकर देखता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असंख्य चक्री अपनी विजय की हस्तलिपि आंक गये हैं और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह अकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देता है और

---

[1] श्वेताम्बरों के अनुसार वह देवदूष्य-वस्त्र ग्रहण करता है। —संपादक

यों अप्रमत्त भाव से वह धर्म-शासन का संचालन करता है। इस कथा में बड़े ही लाक्षणिक ढंग से भौतिक सत्ता के अंतिम बिन्दु को, परम कल्याण के छोर में ग्रथित कर दिया गया है। आदि तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत ऐसे ही चक्रवर्ती थे, जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इस तरह नारायण, प्रतिनारायण, बलिभद्र, कामदेव आदि परमता की कई कोटियां होती हैं और उनके जुदा-जुदा विवरण हैं।

जैन मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण नारायण थे। वे नियोग से ही तीन खंड पृथ्वी के अधीश्वर अर्धचक्री थे। पूर्णचक्री से ठीक आधे यानी सात रत्न अर्ध-चक्री के कोषागार में जन्म लेते हैं। नारायण प्रधानतया कर्म-पुरुष होता है। वह लोक में लौकिक शौर्य, प्रताप और ऐश्वर्य का अकेला प्रभु होता है। उसकी लीला में कौतुक, कौतुहल, शौर्य, सम्मोहन और प्रणय का प्राधान्य होता है। लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के व्यक्तित्व में इन वृत्तियोंका प्रकाश पूर्णतया सांगोपांग हुआ है। त्रिखंड विजय के उपरान्त उस कर्म-पुरुष के विभव-स्वप्न को मूर्त करने के लिये समुद्र में देवों ने द्वारिका रची थी।

कृष्ण के चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ को कैवल्य प्राप्त होने पर उन्होंने अपने समवशरण में यह भविष्यवाणी की थी कि यादव-पुत्र द्वैपायन के हाथों ही द्वारिका का दहन होगा और अपने ही भाई जरत्कुमार के हाथों कृष्ण की मृत्यु होगी। छप्पन करोड़ यादवों की भृकुटियां टेढ़ी हो गयी थीं उस समय। कुमार द्वैपायन उसी क्षण दीक्षा लेकर वहां से चल दिये और जरत्कुमार भी इस पातक से बचने के लिये दूर देशांतरों में चले गये। पर उस अकांड को टालने के सारे निमित्त व्यर्थ हुए और तीर्थंकर की वाणी सत्य हुई। यादवों के अपने ही क्रीडा-कौतुक ने उनका आत्मनाश किया। ऐसी थी उस लीला-योगी की लीला। द्वारिका-दहन और यदुकुल के नाश के बाद कृष्ण उत्तर मथुरा की ओर जाते हुए एक जंगल में सोये विश्राम ले रहे थे, भाई बलराम उनके लिये जल लेने गये थे। तभी जंगल में निर्वासन लेकर भटकता जरत्कुमार उधर आ निकला। हरि के पग-तल की मणिको हिंस्र पशु की आंख जान उसने तीर चलाया। वह नारायण के पग-तल की प्राण-मणि को बींध गया। त्रिखंड पृथ्वी का अविजित प्रभु अंतिम क्षण में भाई को क्षमा कर ज्ञानी बन गया और किसी आगामी भव के लिये तीर्थंकर प्रकृति बांध कर तत्काल देह-त्याग कर गया।

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामकुमार थे। कामकुमार जन्म से ही कामदेव का रूप लेकर अवतरित होता है और चरम शरीरी, अघात्य, तथा तद्भव मोक्षगामी होता है। वह स्वभाव से ही बहुत लीला-प्रिय, कौतुकी और साहसी होता है। वह रोमांटिक नायक की पूर्णतम कल्पना को हमारे समक्ष मूर्तिमान करता है। हनुमान भी कामकुमार ही थे। प्रद्युम्न को शिशु-वय में ही पूर्वभव के वैरी ने उसे एक प्रचण्ड शिला के नीचे दबा कर मार देना चाहा था, पर चरम शरीरी कामदेव अघात्य था। उसका घात न हो सका, प्रहार के तले भी वह क्रीड़ा ही करता रहा। शिशु हनुमान अपनी मां अंजना के हाथ से उछल कर विमान में से नीचे कन्दरा में जा गिरे थे। पर्वत की शिला टूक-टूक हो गयी पर हनुमान का बाल बांका न हो सका। बालक मुस्कराता हुआ खेलता पाया गया।

प्रद्युम्न ने अपने पूर्व नियोग के चौदह वर्ष-व्यापी स्वजन-विछोह में कई देश-देशान्तरों में भ्रमण कर अपनी शक्ति, प्रतिभा, शौर्य और सौन्दर्य से अनेक सिद्धियों और विद्याओं का लाभ किया था। अपनी युवा भौंहों के मोहक दर्प और अपने ललाट के मधुर तेज से उस आवारा और अनजान राजपुत्र ने

अनगिनती कुल-कन्याओं और लोक की श्रेष्ठ सुन्दरियों के हृदय जीते थे। यही हाल कृष्ण के पिता वसुदेव का भी था। उनके एक-एक नयन-विक्षेप पर सारे जनपद का रमणीत्व पागल और मूर्च्छित हो जाता था। ऐसी निराली थी इन हरि-वंशियों की वंशजात मोहिनी।

इन शलाका पुरुषों के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक वाणिज्य व्यवसाय और अन्ततः ब्रह्म-साधना की बड़ी ही सार्थक और लाक्षणिक कथाओं से जैन पुराण ओत-प्रोत हैं। वस्तु और घटना मात्र को देखनेवाली स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि को इन कथाओं में शायद ही कुछ मिल सके। इनके मर्म को समझने के लिये पंडित जवाहरलाल जैसा मानव इतिहास का पारगामी कवि द्रष्टा चाहिये। पंडित जी ने अपनी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में कहा है कि: 'पुराण, दंतकथा और कल्प-कथा को वास्तविक घटना के रूप में न देखकर यदि हम उन्हें गहरे सत्यों के वाहक रूपकों के रूप में देखें तो इनमें अनादिकालीन मानव सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य-कोष हमें प्राप्त हो सकेगा।"

जैन वाङ्मय में ऐसे रस, शक्ति, तप और प्रकाश के संश्लिष्ट रूपकों की अपार सम्पत्ति पड़ी है। जिज्ञासुओं और सर्जकों को आमंत्रण है कि वे उन चिंतामणियों की आभा से अपनी दृष्टि को पारस बनायें।

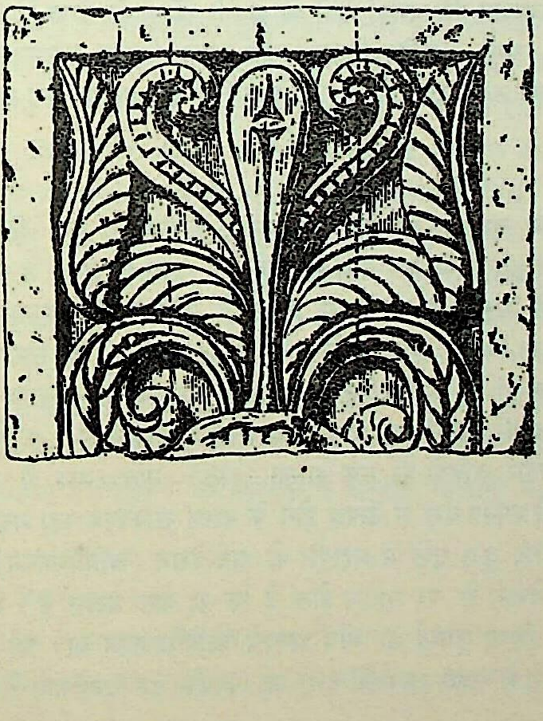

पालि-भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म

डा. गुलाबचन्द चौधरी, एम्. ए., पीएच्. डी.

भगवान् बुद्ध ने अपने सारे उपदेश जिस जनभाषा में दिये थे उसका नाम मागधी था। मागधी में बुद्धवचनों या उक्तियों को परियाय या पलियाय कहा गया है। कालान्तर में इसी परियाय-पलियाय से पालि शब्द निकला जिसका अर्थ भाषा के साथ लगाने पर होता है बुद्धवचनों की भाषा। बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये हैं पर बुद्धवचनों का प्रतिनिधित्व करनेवाली भाषा पालिभाषा ही है।

जिस तरह बुद्ध ने जनभाषा में उपदेश दिया था उसी तरह भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेश तत्कालीन जनभाषा अर्धमागधी में दिये थे। दोनों भाषाएं मगध में बोली जानेवाली मागधी के ही रूप हैं। दोनों सम्प्रदायों के नेताओं ने एक ही क्षेत्र में विहार कर अपने उपदेश दिये, इसलिए उन दोनों के आगम ग्रन्थों में भाषा, भाव, शैली एवं वर्णन आदि के साम्य को देखकर इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि दोनों महापुरुष—महावीर और बुद्ध—समकालीन थे। पालि ग्रन्थों के वर्णन से हमें यह भी मालूम होता है कि वे दोनों महात्मा कभी कभी एक ही नगर, एक ही गांव और एक ही मुहल्ले में विहार करते थे, पर इस बात का उल्लेख किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ में नहीं मिलता कि दोनों युगपुरुषों ने अपने मतभेदों पर आपस में वार्तालाप या बहस की हो। हां, इस बात की सूचना जरूर मिलती है कि इन दोनों के शिष्य तथा अनुयायिवर्ग प्रायः एक दूसरे के पास आतेजाते तथा शंकासमाधान व वादविवाद करते थे।

जो हो, पालि ग्रन्थों के पढ़ने से यह स्पष्टतः विदित होता है कि भगवान् बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने जैन सम्प्रदाय की अनेकों बातों को अपनी आँखों से देखा था। इन आँखों देखे वर्णनों से हमें जैनों के इतिहास, उनके दार्शनिक सिद्धान्त और आचारविषयक मान्यताओं का बहुत कुछ परिज्ञान होता है। इन पंक्तियों द्वारा उक्त बातों को दिखलाने का किञ्चित् प्रयत्न किया जायगा।

इतिहास

पालि ग्रन्थों में जैन सम्प्रदाय का नाम 'निगण्ठ', 'निग्गण्ठ' एवं 'निगन्ध' आता है, जिसे हम प्राकृत में नीयण्ठ तथा संस्कृत में निर्ग्रन्थ नाम से कहते हैं। उक्त सम्प्रदाय के प्रचारक महात्मा का नाम नातपुत्र व नाटपुत्त रूप से मिलता है जिसे हम प्राकृत में नातपुत्त या नायपुत्त तथा संस्कृत में ज्ञातृपुत्र नाम से कहते हैं। इस तरह निगण्ठ सम्प्रदाय के नातपुत्त को एक शब्द से निगण्ठनातपुत्त कहा गया है। निगण्ठ का अर्थ पालि ग्रन्थों में बन्धनरहित है, जिसका आशय है, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। पर नातपुत्त शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान उक्त ग्रन्थों से नहीं होता। हां, जैन ग्रन्थों की सहायता से हम यह जानते हैं कि महावीर क्षत्रियों की एक शाखा 'ज्ञातृ'=नात=नाय में उत्पन्न हुए थे और जिस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध को शाक्य वंश में उत्पन्न होने के कारण शाक्यपुत्र कहा गया है उसी तरह महावीर को नातपुत्त। सामञ्ञफल आदि कुछ सूत्रों में महावीर को अग्निवेशन (अग्निवैश्यायन) नाम से सम्बोधित किया गया है पर जैन ग्रन्थों के देखने से यह मालूम होता है कि यह बात गलत है। महावीर का गोत्र काश्यप था पर उनके एक प्रमुख शिष्य सुधर्मा का गोत्र अवश्य अग्निवैश्यायन था। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि पालि-ग्रन्थों के संकलनकाल में संकलनकर्ताओं द्वारा यह विपर्यास कर दिया गया है।

पालि सूत्रों में जैन धर्म के अनुयायियों का निगण्ठपुत्त, निगण्ठ तथा निगण्ठसावक शब्द से उल्लेख किया गया है। उस सम्प्रदाय के महिलावर्ग के लिए भी निगण्ठी[1] शब्द आया है।

कतिपय बौद्ध सूत्रों में बुद्धकालीन छह अन्य तैर्थिकों का परम्परागत ढंग से वर्णन मिलता है। उसमें नातपुत्त का नाम भी शामिल किया गया है। उन सब के नाम के साथ निम्नलिखित विशेषण लगाये जाते हैं: "संघी चेव गणी च, गणाचरियो, ञातो, यसस्वी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो[2]" अर्थात् संघस्वामी, गणाध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत लोगों से संमानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु, वयोवृद्ध। इनमें 'अद्धगतो' और वयो अनुपत्तो, इन दो विशेषणों से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अन्य तैर्थिकों के समान महावीर भी बुद्ध से आयु में बड़े थे और उस समय तक काफी वृद्ध थे। साथ ही उनका यह अनुमान है कि दीघनिकाय के संगीति पर्याय एवं पासादिक सुत्तों व मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त के कथनानुसार महावीर का निर्वाण भी बुद्ध से पहले हुआ था; पर इस संबंध में इतना ही कहना है कि जर्मन विद्वान् प्रो. याकोबी ने यह सिद्ध कर दिया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के पीछे हुआ है। उन के मतानुसार वज्जि-लिच्छिवियों का अजातशत्रु कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध के निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में हुआ था। यद्यपि वज्जि और लिच्छिवी गणों का वर्णन दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है पर तथोक्त युद्ध का वर्णन केवल जैनागमों में ही मिलता है, बौद्धागमों में नहीं[3]। इतना ही नहीं, इन दोनों महापुरुषों की आयु को देखने से यह मालूम होता है कि महावीर बुद्ध से आयु में छोटे थे। बुद्ध निर्वाण के समय ८० वर्ष के थे जबकि महावीर ७२ वर्ष के।

साथ ही एक और बात यह है कि महावीर द्वारा स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश प्रारम्भ करने के पहले ही बुद्ध ने अपना धर्ममार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था। जो हो, पर उक्त अनेक विशेषणों में अन्त के दो विशेषण--अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो--पालिसूत्रों में भी सन्देह की दृष्टि से देखे गये हैं और आश्चर्य है कि कुछ सूत्रों--महासकुलदायी (म. नि.) तथा सभियसुत्त (सुत्तनियात)--में ये दो विशेषण नहीं पाये जाते। निगण्ठ नातपुत्तके साथ अन्य विशेषणों का समर्थन जैन आगमों से भलीभांति होता है। उपालि सुत्त के निगण्ठ, निगण्ठी शब्द से मालूम होता है कि महावीर के संघ में स्त्रियों की भी प्रव्रज्या होती थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण को सूचित करने वाले कतिपय तथोक्त पालिसूत्रों में लिखा है कि "जिस समय निगण्ठ-नातपुत्त की मृत्यु पावा में हुई थी, उस समय निगण्ठों में फूट होने लगी थी, दो पक्ष हो गये थे...एक दूसरे को वचन रूपी बाणों से बेधने लगे, मानो निगण्ठों में वध (युद्ध) हो रहा था, निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अप्रतिष्ठित, आश्रयरहित धर्म में अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे[4]।" इस वर्णन से यह मालूम होता है कि महावीर की मृत्यु पावा में हुई थी तथा उनके बाद ही संघभेद होने लगा था। इस कथन में भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में होना तो जैनागमों से समर्थित है। यह पावा जैन-बौद्ध आगमों के अनुसार मल्लों की पावा थी जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले में अनुमानित है। पर संघभेद की बात उस प्रारम्भिक काल में जैन ग्रन्थों से समर्थित नहीं होती। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के दो

---

१. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त।

२. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

३. वीरसंवत् और जैन कालगणना, भारतीय विद्या, सिंघीस्मारक, पृष्ठ १७७।

४. दीघनिकाय, संगीतिपर्याय एवं पासादिक सुत्त; मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्त।

ढ़ाई सौ वर्ष बाद कुछ कारणों से संघभेद हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि महावीर के निर्वाण की घटना के समान ही यह घटना उक्त सूत्रों में या तो निराधार ढंग से जोड़ दी गई या पिटकों के संकलन काल में श्वेताम्बर-दिगम्बर संघभेद की घटना को पीछे से विपर्यास रूप में ला दिया गया। उक्त कथन में गृहस्थ शिष्यों का श्वेतवस्त्रधारी विशेषण सूचित करता है कि श्वेताम्बर साधुओं को भूल से गृहस्थ के रूप में समझ लिया गया है; पर इस उल्लेख से इतना तो मानना पड़ेगा कि पालि के ग्रन्थ जैनों के संघभेद से परिचित थे, चाहे वह पहले हुआ हो या पीछे।

पालि ग्रन्थों से यह भी सूचित होता है कि भगवान महावीर और उनके अनुयायियों के विहार क्षेत्र अंग, मगध, काशी, कोशल तथा वज्जि, लिच्छिवि एवं मल्लों के गणराज्य थे। राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावा और श्रावस्ती में जैन लोग प्रधान रूप से रहते थे तथा वैशाली के लिच्छिवि जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे।

मज्झिमनिकाय और अंगुत्तर निकाय के कतिपय सूत्रों में लिखा है कि "निगण्ठ लोग महावीर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपरिमित ज्ञान एवं दर्शन से युक्त, चलतेफिरते, खड़े रहते, सोते, जागते, अपरिशेष ज्ञानदर्शन से युक्त मानते थे[1]"। यह कथन जैनागमों से समर्थित है और जैन मान्यता इस के अनुरूप है। यहां अपरिशेष ज्ञानदर्शन जैनागमों के केवलज्ञान और केवलदर्शन को सूचित करता है। सर्वज्ञता के सम्बंध में भग० बुद्ध का यह मत था कि वे न तो स्वयं सर्वज्ञ होने का दावा करते थे और न दूसरों को ही वैसा मानते थे। सन्दकसुत्त[2] में उनके शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का इस प्रकार परिहास किया है : एक शास्त्रसर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञानदर्शन वाला होने का दावा करता है, तो भी वह सूने घर में जाता है, वहां भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, सर्वज्ञ होने पर भी स्त्री, पुरुषों के नाम गोत्र पूछता है, ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है, 'आप सर्वज्ञ होकर यह क्यों पूछते हैं' यह कहे जाने पर कहता है कि सूने घर में जाना विहित था इसलिए गये, भिक्षा मिलनी विहित न थी, इसलिए न मिली, कुक्कुर का काटना विहित था इसलिए उसने काटा आदि। यह आलोचना हमें सूचित करती है कि उस समय तथोक्त सर्वज्ञता की मान्यता के साथ साथ उसकी खरी आलोचना भी होने लगी थी।

दर्शन

भगवान् महावीर की दार्शनिकता की पृष्ठभूमि क्रियावाद (कर्मवाद) था। विनयपिटक के महावग्ग ग्रन्थ में सिंहसेनापति के प्रसंग में तथा अंगुत्तर निकाय[3] में निगण्ठमत को किरियावाद (क्रियावाद) नाम से कहा गया है। इस वाद का अर्थ है "सुख-दुखं सयं कतं[4]" अर्थात् सुखदुःख का कर्ता जीव स्वयं है। सूत्रकृताङ्ग में यही बात यों कही गई है "सयं कडंच दुक्खं नाण्णकडम्[5]" अर्थात् जीव स्वयं किये गये सुख-दुःख का कर्ता एवं भोक्ता है, इसके सुखदुःख का विधाता और कोई नहीं। क्रियावाद की इस निगण्ठ मान्यता को मज्झिम निकाय के देवदहसुत्त में अच्छी तरह रखा गया है : यह पुरुष पुद्गल जो कुछ भी सुखदुःख या अदुःख असुख अनुभव करता है वह सब पहले (पुरुष-पूर्व) किये गये कर्मों के कारण ही। इन पुराने कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से तथा नये कर्मों को न करने से, भविष्य में विपाक रहित

---

[1] चूल दुक्खन्धसुत्त, चूलसकुलदायिसुत्त; अंगुत्तरनिकाय III पृ. ७४, IV, पृ. ४२८।

[2] मज्झिमनिकाय, ७६।

[3] भाग ४, पृष्ठ १८०-१८१।

[4] अंगुत्तर निकाय, भाग ३, पृ. ४४०।

[5] १. १२. II।

अनाश्रव होता है। विपाक रहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय और दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं।"

यहां भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक शुद्धि के लिए तपस्या का प्रतिपादन किया। इस दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु कठोर तपश्चरण करते हैं। पर बुद्ध ने इस तपस्या की आलोचना करते हुए कहा है कि तुम्हारी साधना या तपोमार्ग व्यर्थ है, यदि तुम यह नहीं जानते कि हम कैसे थे कैसे हैं, कौन कौन से पाप किये हैं; कितने पाप नष्ट हो गये, कितने और नष्ट होने हैं; कब इनसे छुटकारा मिल जायगा[1] आदि। निर्ग्रन्थ तपस्या की ऐसी ही आलोचनाएं पाली ग्रन्थों में कई स्थानों में देखने में आती हैं। परन्तु इन आलोचनाओं में, मालूम होता है, बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या की अन्तरात्मा की आलोचना न कर केवल उसके उग्र बाह्य रूप की ही आलोचना की है। निर्ग्रन्थ परम्परा की मान्यता है कि कायक्लेश या तपस्या चित्त के मलों को हटाकर आध्यात्मिक शुद्धि के लिए है। यदि उससे यह काम नहीं होता तो वह व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध की आलोचना और जैन मान्यता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता।

भग० महावीर ने क्रियावाद की स्थापना में यह घोषित किया कि इस संसार में प्राणियों का जीवन अंशतः भाग्य (पूर्वजन्मकृत कर्मों) पर और कुछ मानवीय प्रयत्नों (इहजन्मकृत) पर निर्भर है। इस तरह निययानिययं (नियतानियतं) सिद्धान्त की स्थापना कर तत्कालीन अन्य क्रियावादियों से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया। उन्होंने बतलाया कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के अधीन हो हमने कैसे भवभ्रमण किया और कैसे अब कर रहे हैं। भग० बुद्ध भी क्रियावादी थे पर उनका सिद्धान्त था कि हम हेतु प्रभव हैं और हेतुओं (प्रतीत्य समुत्पाद) के कारण चक्कर काट रहे हैं।[2]

इन दोनों क्रियावादियों के मतभेद को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महावीर अन्तरंग और बहिरंग दोनों शक्तियों को मानकर चलते हैं, बुद्ध केवल अन्तरंग शक्ति अर्थात् मन (मनोपुब्बंगमा धम्मा) पर चलते हैं। एक ने बहिरंग काय-कर्म (दण्ड) वचन-कर्म (दण्ड) और अन्तरंग मनःकर्म (दण्ड) को बन्धन रूप से प्रतिपादित किया है तो दूसरे ने केवल अन्तरंग मन को ही अनर्थकर बतलाया है। मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त में यही चर्चा उठाई गई है कि निगण्ठ नातपुत्त काय, वचन और मन रूप से तीन दण्ड मानते हैं जब कि बुद्ध ने काय, वचन और मन को तीन कर्म माना है; पर इन दोनों के मतों की उक्तसूत्र में आलोचना करते हुए यह दिखलाया गया है कि महावीर कायदण्ड को महापापवाला मानते हैं जब कि बुद्ध मनःकर्म को। इस प्रसंग में दण्ड और कर्म का एक ही अर्थ समझना चाहिये, परन्तु महावीर के मत में कायदण्ड को ही सबकुछ बतलाकर उसे गलत ढंग से उपस्थित किया गया है। उपालिसूत्र में यदि हम बुद्ध और उपालि के बीच हुए सम्वाद को सूक्ष्मरीति से पढ़ें, तो महावीर की मान्यता का यथार्थ रूप समझ सकते हैं: "बुद्ध: 'चतुर्याम संवर से संवृत निगण्ठ आते जाते बहुत छोटे छोटे प्राणिसमुदाय को मारता है। हे गृहपति! निगण्ठनातपुत्त इनका क्या फल बतलाते हैं।" उपालि: "भन्ते, अनजान (असंचेतनिक) को निगण्ठनातपुत्त महादोष नहीं मानते, जानकर किये गये कर्म को ही पाप मानते हैं।," इस संवाद से यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि मनःपूर्वक (जानकर) किया गया कर्म ही पापकर है।

महावीर का यह सिद्धान्त कि मनःकर्म और कायकर्म दोनों समान रूप से पापजनक हैं, मज्झिमनिकाय के महासच्चकसुत्त से भलीभान्ति समर्थित होता है। उक्तसूत्र में निगण्ठपुत्त सच्चक आजीवक और बुद्ध के मत की आलोचना करते हुए कहता है कि आजीवक तो कायिक भावना में तत्पर हो विचरता है, चित्त

---

[1] मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्ध एवं देवदहसुत्त।

[2] महावग्ग, सारिपुत्त-मोग्गलान प्रव्रज्या।

की भावना में नहीं, आर बुद्ध चित्त की भावना में लगा रहता है, कायिक भावना में नहीं। उक्त आलोचना से महावीर के मत का निष्कर्ष निकालना कोई कठिन नहीं। महावीर के मत में 'कायन्वयं चित्तं होति, चित्तन्वयो कायो होति' अर्थात् काय और मन दोनों की भावना से मुक्ति मिल सकती है न कि केवल काय या केवल मन की भावना से। इसी तरह पाप भी दोनों के संयोग से होगा।

इससे अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मन और काय की द्वन्द्वात्मक क्रिया पर नियंत्रण करने के लिए महावीर ने तपस्या के आधार को कायमनोविज्ञानात्मक बनाया और मनोसंवर तथा कायक्लेश को अपने धर्म में महत्त्व दिया। उनका कहना था कि : पुरुष जिन सुखदुःखों का अनुभव करता है वह सब पूर्वजन्म में किये कर्म के कारण ही, उसे कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो और जो अब यहां वचन मन को संवृत कर कर्म करोगे तो भविष्य में पाप न होंगे। इस तरह पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने पर और नवीन कर्मों को न करने से भविष्य में आश्रव न होगा और आश्रव न होने से कर्मों का क्षय और कर्मों के क्षय होने से दुःखों का नाश तथा दुःखों के नाश से वेदना का नाश और वेदना के नाश से सब पाप जीर्ण हो जावेंगे[1]। उनका दूसरा कथन था कि : पूर्व जन्ममें किये गये पापकर्म यदि अविपक्वफलवाले होंगे तो उनके कारण दुःख वेदनीय आश्रव आते रहेंगे जिनका जन्मान्तर में फल मिलेगा[2]। उनका उपदेश था कि सुख से सुख नहीं पाया जा सकता, दुःख से ही सुख मिल सकता है। यदि सुख से सुख मिल सके तो राजा श्रेणिक भी उसे पा सकता है।[3]

पालि के सुत्तों से महावीर के क्रियावाद के अतिरिक्त उनके ज्ञानवाद का भी थोड़ा संकेत मिलता है। संयुत्तनिकाय के चित्तसंयुत्त में अपना अभिमत प्रकट करते हुए महावीर ने कहा है कि: "सद्धाय खो गहपति ञाणं एव पणीततरं" अर्थात् श्रद्धा से बढ़कर कहीं ज्ञान है। यह कथन जैन ग्रन्थों से मिलता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना गया है और उसे 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' के रूप में भी स्वीकृत किया है।

आचारमार्ग

पालि ग्रन्थों से हमें जैन श्रावकों एवं मुनियों के आचारविषयक नियमों की भी थोड़ी बहुत जानकारी होती है। इन वर्णनों से मालूम होता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नियमों का एक व्यवस्थित रूप था जिनका पालन उस समय एक विशिष्ट वर्ग के लोग करते थे। इतना ही नहीं, भग० बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पहले जिन साधना मार्गों और नियमों का पालन कर त्याग किया था, उनमें कुछ ऐसे थे जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में तब प्रचलित थे और आज भी पालन किये जाते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद को ही लें। इस सूत्र में अचेलक सम्प्रदाय के रूप में जैन मुनियों के कुछ आचारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में अचेलक (वस्त्ररहित) का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय ही लिया गया है पर जैनागमों को देखने से मालूम होता है कि अचेलक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में भी थे। स्वयं महावीर वस्त्ररहित (नग्न) थे। आजीवक भी नग्न रहते थे। प्रो. याकोबी ने पालि ग्रन्थों में वर्णित आजीवकों के आचारों से जैनाचारों की समानता तथा जैनागमों में वर्णित महावीर और आजीवक नेता मक्खली गोशाल का ६ वर्षों तक निरन्तर साहचर्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि आजीवक और निर्ग्रन्थ आपस में एक दूसरे से अवश्य प्रभावित हुए हैं। जैनों की मान्यता है कि भग० महावीर के पहले जैन परम्परा के प्रतिष्ठापक भग० पार्श्वनाथ हो गये हैं

---

[1] चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

[2] अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, १९५ सुत्त।

[3] चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

जिनके चलाये आचारविचार के नियम उस समय आजीवकों, निर्ग्रन्थों और बुद्ध के सामने थे। जो हो, पर महासीहनाद और महासच्चक सूत्रों में अचेलकों के नाम से जिन आचारों का वर्णन दिया गया है वे ही आचार आचारांग, दशवैकालिक आदि सूत्रों में निर्ग्रन्थों के आचार के रूप में वर्णित हैं। उन सूत्रों में उनका वर्णन संक्षेप में यों है: "अचेलक रहना, मुक्ताचार होना (स्नान, दातुन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना), हाथ चाटकर खाना, आइये भदन्त! खड़े रहिये भदन्त! ऐसा कोई कहे तो उसे सुना अनसुना कर देना, सामने लाकर दी हुई भिक्षा का, अपने उद्देश्य से बनाई हुई भिक्षा का और दिये गये निमन्त्रण का अस्वीकार; जिस बर्तन में रसोई पकी हो, उसमें सीधी दी गई भिक्षा का तथा खल आदि में से दी गई भिक्षा का अस्वीकार, भोजन करते हुए दो में से उठकर एक के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का, गर्भिणी स्त्री के द्वारा दी हुई भिक्षा का और पुरुषों के साथ एकान्त में स्थित स्त्री के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का अस्वीकार,......... कभी एक घर से एक कौर, कभी दो घर से दो कौर आदि भिक्षा लेना, तो कभी एक उपवास, कभी दो उपवास आदि करते हुए पन्द्रह उपवास करना, दाढ़ी-मूंछों का लुंचन करना, खड़े होकर और उकड़ु आसन पर बैठकर तप करना, स्नान का सर्वथा त्याग करके शरीर पर मल धारण करना, इतनी सावधानी से जाना-आना कि जल के या अन्य किसी सूक्ष्म जन्तु का घात न हो, कड़ी ठंड में खड़े रहना आदि आदि।"

तपस्या जैन साधु-जीवन का मुख्य अंग था। उसके कारण जैनमुनि दीघतपस्सी जैसा नाम भी पाते थे। वे लोग तपस्या का आचरण प्रायः खड़े होकर (उब्भट्ठको), आसन छोड़कर (आसन पटिक्खित्तो) करते थे। वह तपस्या बड़ी दुःखकर, तीव्र (तिप्पा) एवं कड़वी (कटुका) होती थी।[1]

चतुर्यामसंवर: दीघनिकाय के सामञ्ञफलसूत्र में निगण्ठनाथपुत्त को चतुर्यामसंवर से संवृत लिखा है। वहां चतुर्याम संवर का अर्थ दिया गया है—सब्ब प्रकार के पानी से संवृत (सब्बवारिवारितो) सभी पापों से निवृत (सब्बवारियुत्तो) सभी पापों की शुद्धि होने से संवृत (सब्बवारि धुतो) सभी पाप हानि से सुख अनुभव करने वाला—सब्बवारि फुट्ठो। पालि का यह चतुर्याम संवर हमें जैनागमों के चाउज्जाम (चतुर्याम) की याद दिलाता है जिसका अर्थ होता है चार व्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। इन चतुर्यामों को, जैनागमों के अनुसार, उपदेश देने वाले भग० पार्श्वनाथ थे जो कि भग० महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। महावीर ने इन चार यामों में एक और याम-ब्रह्मचर्यव्रत-मिलाकर पञ्चयाम अर्थात् पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। पर उक्त पालि सूत्र में चतुर्याम संवर का जो अर्थ दिया गया है वह एकदम भ्रान्त एवं अस्पष्ट है। निर्ग्रन्थ परम्परा के यथार्थ चतुर्याम संवर से भग० बुद्ध या उनकी समकालीन शिष्यमण्डली अच्छी तरह परिचित न रही हो सो बात नहीं। मज्झिम निकाय के चूलसकुलदायि एवं संयुत्तनिकाय के गामिणि संयुत्त के आठवें सूत्र से मालूम होता है कि प्राणातिपात (हिंसा), अदिन्नादान (चोरी), कामेसु मिच्छाचार (अब्रह्मचर्य), मुसावाद (असत्य) से विरक्त होनेका उपदेश भगवान् महावीर सदा देते थे। तथापि इन सूत्रों में उन बातों का चतुर्यामसंवर नाम से उल्लेख नहीं किया गया। बौद्धपरम्परा में निर्ग्रन्थपरम्परा के इन चतुर्याम या पञ्चयामों का एक रूपान्तर पञ्चशील एवं दशशील के रूप में प्रतिपादन किया गया है तथा वे उक्त नाम से ही वहां समझे गये हैं। महावीर और बुद्ध के समय के चतुर्याम संवर को बौद्धभिक्षु जानते अवश्य थे पर पीछे उसके अर्थसूचक तत्त्वों का अपने ग्रन्थों में नामान्तर देख जैन परम्परा के अर्थ को भूल गये। मालूम होता है कि पीछे जब पालिपिटकों का संकलन हुआ तो उस समय चतुर्याम संवर का अर्थ देने की आवश्यकता पड़ी और किसी बौद्ध भिक्षु ने अपनी कल्पना से उक्त अर्थ की योजना कर दी। जो हो, पर चतुर्याम का ठीक अर्थ वहां नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महावीर की अहिंसा की

---

[1] मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त

चरमसाधना को दृष्टि में रखकर ही चतुर्याम का पालिसूत्रों में उक्त अर्थ प्रतिपादित किया गया है। सब प्रकार के पानी के त्याग का सीधा अर्थ यह है कि जैन लोग ठंडे पानी में जीव मानते हैं और उसका प्राशुक बनाकर ही उपयोग करते हैं। जैन मुनि अप्राशुक ठंडापानी नहीं ले सकते। इस आचरण से पालि ग्रन्थ अच्छीतरह परिचित हैं। उपालिसुत्त में स्पष्ट लिखा है महावीर 'सीतोदकपटिक्खित्तो' (ठण्डेपानी का त्यागी) 'उण्होदक पटिसेवी' (उष्ण जल लेने वाले) थे।

जैन श्रावकों के कुछ व्रत

अंगुत्तर निकाय के तृतीय निदान के ७० वें सूत्र में निगण्ठोपसथ नाम से जो वर्णन दिया गया है उससे हमें जैन श्रावकों के दिग्व्रत और पौषध व्रतों का परिचय मिलता है। उक्त सूत्र में भग० बुद्ध ने विशाखा नाम की उपासिका के लिए गोपालक-उपोसथ और निगण्ठ उपोसथ का परिहास करते हुए, आर्य उपोसथ का उपदेश दिया है। निगण्ठ उपोसथ का वर्णन इस प्रकार है: हे विशाखे! श्रमणों की एक जाति है जिसे निगण्ठ कहते हैं। वे लोग अपने श्रावकों को बुलाकर कहते हैं कि "प्रत्येक दिशा में इतने योजन से आगे जो प्राणी हैं उनका दण्ड—हिंसक व्यापार—छोड़ो। देखो विशाखे! वे निर्ग्रन्थ श्रावक अमुक अमुक योजन के बाद न जाने का निश्चय करते हैं और उतने योजन के बाद प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं तथा साथ ही वे मर्यादित योजन के भीतर आने वाले प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं करते, इससे वे प्राणातिपात से नहीं बचते हैं।"

भग० बुद्ध के इन वचनों में जैन श्रावकों के १२ व्रतों में से प्रथम गुणव्रत–दिग्व्रत–को पहिचानना कठिन नहीं है। दिग्व्रत का अर्थ है पूर्व, उत्तर, दक्खिन, पच्छिम की दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में न जाना। इससे श्रावक अपने अल्प इच्छा नाम के गुण की वृद्धि करता है।

उसी प्रसंग में आगे कहा गया है: वे लोग उपोसथ के दिन (तदह उपोसथे) श्रावकों से इस तरह कहते हैं कि "हे भाइयो! तुम सब कपड़ों का त्याग कर ऐसा कहो कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है इत्यादि। पर यह कहने वाले यह निश्चय रूप से जानते हैं कि अमुक मेरे मातापिता हैं, अमुक मेरा पुत्र, स्त्री, स्वामी एवं दास है। पर ये इस तरह जानते हुए भी जब यह कहते हैं कि मैं किसी का नहीं हूं और मेरा कोई नहीं है, तो वे अवश्य झूठ बोलते हैं।"

इन शब्दों में जैन गृहस्थ के बारह व्रतों में से द्वितीय शिक्षाव्रत–पौषध–का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रंथों में यह पौषधव्रत उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार से कहा गया है। उत्तम पौषध वह है जिसमें जैन श्रावक सब प्रकार के आहार का त्याग कर मर्यादित समय के लिए वस्त्र, अलंकार, कुटुम्ब से सम्बन्ध आदि का त्याग कर देता है। मध्यम उपोसथ में यद्यपि विधि पूर्ववत् ही रहती है पर श्रावक उसदिन जलमात्र ग्रहण करता है। जघन्य पौषध में आहार भी ग्रहण करता है। इस जघन्य उपोसथ को हम उक्त प्रसंग में ही परिहास के ढंग से वर्णन किये गये गोपालक उपोसथ के रूप में पहचान सकते हैं: "हे विशाखे! जैसे सायंकाल ग्वाले गायों को चराकर उनके मालिकों को वापस सौंपते हैं तब कहते हैं कि आज अमुक जगह में गायें चरीं, अमुक जगह में पानी पिया और कल अमुक अमुक स्थान में चरेंगी और पानी पियेंगी...आदि। वैसे ही जो लोग उपोसथ लेकर खानपान की चर्चा करते हैं वे आज हमने अमुक खाया, अमुक पिया और अमुक खायेंगे, अमुक पान करेंगे, ऐसी चर्चा करने वालों का उपोसथ गोपालक उपोसथ है।"

इस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को जैन ग्रन्थों से तुलना कर तत्कालीन जैन धर्म का रूप अच्छी तरह जाना जा सकता है।

पिप्पल गच्छ गुर्वावलि

श्री भंवरलालजी नाहटा

मध्यकालीन जैन इतिहास के साधनों में पट्टावलियों–गुर्वावलियों आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के प्रचारक आचार्यों की परंपरा अनेक शाखाओं में विभक्त हो गई। फलतः जैन गच्छों की संख्या सौ से अधिक पाई जाती है। पिप्पलगच्छ उन्हीं में से एक है जिसके आचार्यों की नामावलि सम्बन्धी कई रचनाएँ गुरु स्तुति, गुरु विवाहलउ, गुरु नुं धूल, गुरु माल, आदि पाई जाती हैं। इस गच्छ की पट्टावलि विस्तार से प्राप्त नहीं हुई, अतः जैसा चाहिए इस गच्छ का इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता और न ही प्राप्त रचनाओं में आचार्यों का समय आदि ही दिया हुआ है। मैं ये रचनाएँ कुछ वर्ष पूर्व एक प्रति से नकल कर के लाया था। वे कई वर्षों के पश्चात् यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं।

प्राप्त प्रतिमा-लेखों से स्पष्ट है कि ये रचनाएँ पिप्पल गच्छ की त्रिभविया शाखा से सम्बन्धित हैं। इस गच्छ की तालध्वजी आदि अन्य शाखाएँ भी थीं, पर उनकी पट्टावलियाँ प्राप्त नहीं हैं। प्रतिमा-लेखों आदि से कुछ आचार्यों के नामों का ही पता चलता है। संस्कृत गुरु स्तुति से विदित होता है कि यह गच्छ चतुर्दशी को पाक्षिक पर्व मानता था।

बृहद्गच्छ (बड़ गच्छ) की पट्टावलि से स्पष्ट है कि पिप्पल गच्छ वास्तव में उसकी एक शाखा है। जिस प्रकार उद्योतनसूरि ने बड़वृक्ष के नीचे आठ आचार्यों को आचार्यपद दिया और उनकी संतति बड़-गच्छीय कहलाई, इसी प्रकार शांतिसूरि ने भी सिद्ध श्रावक कारित नेमिनाथ चैत्य में आठ शिष्यों को आचार्यपद दिया था। संभवतः पिप्पलक स्थान या पीपल वृक्ष के कारण इस गच्छ का नाम पिप्पलक या पीपलिया गच्छ पड़ा। खरतर गच्छ में भी इसी नाम की एक शाखा जिनवर्द्धनसूरि से चली। वह मालवे के किसी पीपलिया स्थान विशेष से सम्बन्धित प्रतीत होती है। पिप्पल गच्छ का उसी स्थान से सम्बन्ध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है।

इस गच्छ के प्रभावक आचार्य शांतिसूरि हुए। संस्कृत गुरु स्तुति के अनुसार चक्रेश्वरी देवी से आप पूजित थे और पृथ्वीचंद्र चरित आपने बनाया। जैसलमेर भंडार की सूची के अनुसार प्रस्तुत पृथ्वीचंद्र चरित की वीर सं. १६३१ वि. सं. ११६१ में मुनिचंद्र के लिये रचना हुई। ग्रंथ परिमाण ७५०० श्लोकों का है। प्राकृत भाषा में यह रचा गया और इसकी १६० पत्रों की ताड़पत्रीय प्रति सं. १२२५ में पाटण में लिखित जैसलमेर भंडार में प्राप्त है।

> "इगतीसाहिय सोलस सएहिं वासाण निव्वुए वीरे।
> कत्तिय चरम तिहीए कित्तियरिक्खे परिसमत्तं ॥
> जो **सव्वदेव** मुणिपुंगव दिक्खिएहिं साहित्ततक्क समएसु सुसिक्खिएहिं ॥
> संपाविओ वर पयं **सिरिचंदसूरि** पूज्जहिं पक्खमुवगम्म गुणेसु भूरि ॥
> संवेगं बुनिवा(या)णं एयं सिरि **संतिसूरिणा** तेण।
> वज्जरियं वरचरियं **मुणिचंद**विणेयं वयणाओ ॥"

उपर्युक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि शांतिसूरि को सर्वदेवसूरि ने दीक्षित किया था और उन्होंने साहित्य,

तर्क एवं दर्शनशास्त्र उन्हीं से सीखा था। आचार्यपद श्रीचंद्रसूरि से प्राप्त हुआ। जिस मुनिचंद्र शिष्य के वचन से इस चरित्र की रचना की गई वे शांतिसूरि द्वारा आचार्यपद पर स्थापित आठ आचार्यों से भिन्न थे। गुरु स्तुति में उन आठ आचार्यों के नाम ये हैं—१ महेन्द्रसूरि, २ विजयसिंहसूरि, ३ देवेन्द्रचंद्रसूरि, ४ पद्मदेवसूरि, ५ पूर्णचंद्रसूरि, ६ जयदेवसूरि, ७ हेमप्रभसूरि और ८ जिनेश्वरसूरि। शांतिसूरि के सम्बन्ध में १७ वीं शताब्दि के दो उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार आपने सात सौ श्रीमाली कुटुम्बों को श्रीमालनगर में प्रतिबोध दिया था।

> **पिप्पल**गच्छी गुरु बड़ा, श्री **शांति**सूरि सुजान।
> प्रतिबोधिया कुल सातसई, श्रीमालपुर अईठाण।
> (सं. १६७२ **थिरपुर** में राजसागररचित लवकुश रास)

पुण्यसागर रचित अंजना सुंदरी चौपाई में जोकि सं. १६८९ में रची गई, शांतिसूरि के सम्बन्ध में निम्नोक्त विवरण दिया है।

> **श्रीवड़** गच्छ गुरु गाइइ, **शांति**सूरि गणधार।
> चक्केसरी पद्मावती भगती करइ वार वार ॥
> भंगक छेवट्टण भाखीउ धूली कोट समेत।
> कुटुम्ब श्रीमाली सात सइ, उगारयो गुण हेत ॥
> भोज चुरासी राज मइ, जीत्या वाद विशाल।
> शासन जिन सोभाविउ वादी विरुद वेताल ॥
> तिण गच्छ **पीपल** थापीउ, आठ शाखा विस्तार।
> संवत रुद्र बावीसइ, समइ हुई सुख कार ॥
> ते गच्छ दीसई दीपतु, नयर **साचोर** मंझारि।
> वीर जिनेश्वरनुं तिहां, तीर्थ प्रगट उदार ॥

उपर्युक्त उद्धरण में वादी वेताल शांतिसूरि को पिप्पल गच्छ स्थापक शांतिसूरि से अभिन्न माना है जो विचारणीय है। वादी वेताल शांतिसूरि से **थारापद** गच्छ प्रसिद्ध हुआ। प्रभावकचरित्र के अनुसार सं. १०९६ में वादी वेताल शांतिसूरि का स्वर्गवास हो गया था और उनके गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था। एक ही नाम वाले समकालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भूल या भ्रांति होना सहज है। कुछ बातें एक दूसरे के लिये भ्रमवश लिख दी जाती हैं। श्री मोहनलाल देशाई ने भी अपने "जैन साहित्यनो इतिहास" पृष्ठ २०६ में महाराजा भोज द्वारा सन्मानित वादी वेताल शांतिसूरि को पिप्पलगच्छ का स्थापक व धर्मरत्न लघुवृत्ति का रचयिता माना है। दोनों आचार्यों के समय पर विचार करते हुए यह सही नहीं प्रतीत होता। पृथ्वीचंद्र चरित सं. ११६१ की रचना है। इधर वादी वेताल शांतिसूरि का स्वर्गवास सं. १०९६ में हो चुका था। अतः दोनों एक नहीं हो सकते। प्रभावक चरित्र पर्यालोचन में वादी वेताल शांतिसूरि रचित उत्तराध्ययन टीका और तिलक मंजरी टिप्पण का उल्लेख है, पर पाटण भंडार सूची के पृष्ठ ८७ के अनुसार तिलक मंजरी टिप्पण के रचयिता शांतिसूरि पूर्णतल गच्छ के थे। यथा—

> श्री शांतिसूरिरिह श्रीमति पूर्णतले (ल्ले) गच्छे वरो मतिमतां बहुशास्त्रवेत्ता
> तेनामयं विरचितं बहुधा विमृश्य संक्षेपतो वरमिदं बुध टिप्पिनं भोः।

प्रभावकचरित्र में शांतिसूरि के ३२ शिष्य बतलाये हैं और उन्होंने मुनिचंद्रसूरि को पाटण में प्रमाणशास्त्र का अभ्यास कराया था, यह लिखा है। उपर्युक्त पृथ्वीचंद्र चरित भी मुनिचंद्र के कथन से रचा गया था। यदि वादी वेताल शांतिसूरि का स्वर्गवास १०९६ में हो गया तो वादी देवसूरि के गुरु मुनिचन्द्र सूरि का उनसे पढ़ना विचारणीय हो जाता है। वादिदेवसूरि के प्रबन्ध के अनुसार उनका स्वर्गवास संवत् ११७८ में हुआ था।

वादी वेताल के गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था। तब पिप्पल गच्छ के स्थापक शांतिसूरि के शिष्य का नाम विजयसिंहसूरि था। इनकी श्राद्ध प्रतिक्रमण चूर्णी सं. ११८३ में रचित है। उसकी प्रशस्ति में सर्वदेवसूरि और श्री नेमचंद्रसूरि के शिष्य के रूप में शांतिसूरि का उल्लेख है। यथा—

श्री **सव्वएव** सिरी **नेमचन्द** नामधेया मुनीसरा गुणिणो
होत्था तत्थ पसत्था तेसिं सीसा महामइणो
जे पसमस निदंसणं मुदही दक्खिन्न वारि वारस्स
कव्व रयणाण रोहण, खाणी खमिणो अमियवाणी
सिरियं संति मुणिंदा तेसिं सीसेण मंद मइणोवि
आयरिय **विजयसिंहेण**, विरइया एस चुन्नीत्ति।

१. अंजनारास की प्रशस्ति के अनुसार पिप्पलगच्छ की स्थापना सं. ११२२ में हुई थी, यह समय विचारणीय है।

२. विजयसिंह सूरि—इनसे रचित श्राद्ध प्रतिक्रमणचूर्णी का उल्लेख ऊपर किया गया है। यह ४५९ श्लोक परिमाण की है। सं. ११८३ के चैत्र में इसकी रचना हुई। सं. १४६३ के लेख के अनुसार आपने सं० १२०८ में डीडला के मूलनायक की प्रतिष्ठा की थी।

३. देवभद्रसूरि, ४. धर्मघोषसूरि, ५. शीलभद्रसूरि, ६. पूर्णदेवसूरि—इनका विशेष वृत्तांत ज्ञात नहीं हैं।

७. विजयसेनसूरि—गुरु माला में इनको "पासदेव पट्ट उद्धरण" लिखा है।

८. धर्मदेवसूरि—इन्होंने गोहिलवाड़ के राजा सारंगदेव को देवी के प्रसाद से उसके तीन पूर्वजन्म बतलाए, इससे त्रिभविया नामक शाखा प्रसिद्ध हुई। थाराउद्र में घूघल को राना बनाया व तीन भव बतला के प्रतिबोधित किया। घूघल ने सरस्वती मंडप बनाया था।

९. धर्मचंद्रसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति पर संवत् १३७१ का लेख प्रकाशित है। इन्होंने मोख राजा को संघपति बनाया।

१०. धर्मरत्नसूरि—इनका विशेष वृत्तांत अज्ञात है।

११. धर्मतिलकसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं. १४३७ का मिलता है।

१२. धर्मसिंहसूरि—इनके उपदेश से गूंदिय नगर में जैन मंदिर बना।

१३. धर्मप्रभसूरि—ये थिरराज की पत्नी सिरिया देवी के पुत्र थे। पाल्ह और पेथ सौदागर ने इनकी आचार्यपद स्थापना का उत्सव किया। इन्होंने सं. १४४७ में चंद्रप्रभ मंदिर की प्रतिष्ठा की। गोहिलवाड़ के राजा सारंगदेव के राज्य व ठाकुर साधु के प्रति राज्य में चंद्रप्रभ मंदिर में मंत्री हेमा ने वीर प्रभु का जन्मोत्सव किया, इस उल्लेख वाली एक रचना प्राप्त हुई है। मंत्री हेमा द्वारा कल्पसूत्र बढ़वाने का भी

उल्लेख है। गूंदी नगर में हिंसा निवारण का प्रतिबोध देकर श्रावक बनाये। आपके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं. १४७६ तक के प्रकाशित हैं।

१४. धर्मशेखरसूरि—इनके द्वाराप्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख सं. १४८४–८९–९७–१५०३–५–९ के प्रकाशित हैं।

१५. धर्मसागरसूरि—आपके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख सं. १५१७–२३–३७ के प्रकाशित हैं। आपके शिष्य विमलप्रभसूरि के पट्टधर सौभाग्यसागरसूरि के शिष्य राजसागर रचित प्रसन्नचंद्र राज रास सं. १६४७ थिरपुर और लव-कुश रास सं. १६७२ जेठ सुदी तीज थिरपुर में रचित प्राप्त है।

१६. धर्मवल्लभसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं. १५५३ के प्रकाशित हैं।

गुर्वावलि में यहीं तक की आचार्यों की नामावलि मिलती है। अत्र अन्य साधनों के आधार से परवर्ती आचार्यं आदि का परिचय दिया जा रहा है।

१७. धर्मविमलसूरि—इनसे प्रतिष्ठित प्रतिमा का लेख सं. १५८७ का प्रकाशित है। संभव है यह धर्मवल्लभसूरि के पट्टधर हों।

१८. धर्महर्षसूरि—आपके प्रशिष्य से लिखित सं. १६७० की प्रति का पुष्पिकालेख जैन प्रशस्ति संग्रह में प्रकाशित है। इनके समकालीन पिप्पल गच्छ के अन्य आचार्य लक्ष्मीसागर का उल्लेख सं. १६३९ की प्रशस्ति में मिलता है। इन लक्ष्मीसागरसूरि के समय में ही पुण्यसागर ने नयप्रकाश रास सं. १६७७ एवं अंजना रास सं. १६८९ में रचीं।

पिप्पलगच्छ की इस त्रिभविया शाखा का प्रभाव साचोर और थिरपुर में अधिक रहा, ऐसा प्रतीत होता है। संभव है वहाँ के भंडारों में कुछ अधिक सामग्री—पट्टावलि व इस गच्छ के रचित ग्रंथ प्राप्त हों।

अत्र इस गच्छ की अन्य शाखाओं के कुछ आचार्यों के उल्लेख प्राप्त हुए हैं जिन्हें यहाँ दिया जा रहा है।

१. वीरदेवसूरि—इनका प्रशस्ति लेख सं. १४१४ का प्राप्त है। आपके शिष्य वीरप्रभसूरि के उल्लेख सं. १४५४-१४६१-१४६५ के ज्ञात हैं। इनके शिष्य "हीरानंदसूरि" अच्छे कवि थे। उनके रचित विद्याविलास पवाडो सं. १४८५, वस्तुपालतेजपालरास सं. १४९४, दशार्णभद्ररास, जम्बूविवाहलो, कलिकालरास सं. १४८९, स्थूलिभद्र बारहमास प्राप्त हैं। आबू के सं. १५०३ के लेख में वीरप्रभ के साथ हीरसूर का उल्लेख है। संभवतः वे हीरसूर आप ही हों।

२. गुणरत्नसूरि—इनके प्रतिमा लेख सं. १५०७-१३-१७ के प्राप्त हैं। इनके समय में आणंदमेरु ने कल्पसूत्र व कालिकाचार्य कथा की भास बनाई। प्रतिमा लेखों से आपकी शाखा का नाम 'तालध्वजि' व आपके पट्टधर गुणसागरसूरि [ले. सं. १५२४,२८,२९] होने का पता चलता है। गुणसागरसूरि के पट्टधर शांतिसूरि का सं. १५४६ का लेख प्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त और भी कई आचार्यों के नाम प्रतिमालेखों में मिलते हैं पर उनकी गुरुशिष्य परंपरा आदि का पता न मिलने के कारण यहां उनका उल्लेख नहीं किया गया। वास्तव में यह गच्छ १५ वीं १६ वीं शताब्दि में खूब प्रभावशाली रहा है। फलतः इन दो शताब्दियों के पचासों प्रतिमालेख प्रकाशित मिलते हैं। उनसे उन आचार्यों के समय का ही पता चलता है। विशेष विवरण तो पट्टावलियों के प्राप्त होने से ही मिल सकता है।

१७ वीं शताब्दि तक इस गच्छ के आचार्यों एवं विद्वानों के उल्लेख मिलते हैं। इसके पश्चात् इस गच्छ के आचार्य एवं यतिगण कब तक कौन कौन हुए, इसके जानने के लिये कोई भी साधन प्राप्त नहीं है।

इस गच्छ के विद्वानों के रचित ग्रंथ बहुत ही थोड़े हैं। जिन चार पांच ग्रंथकारों का पता चला, उनका निर्देश ऊपर किया ही जा चुका है। इतने दीर्घ काल में इतने आचार्य व मुनिगण हुए हैं। उनका साहित्य अवश्य ही कुछ विशेष रूप से मिलना चाहिए या संभव है वह इस गच्छ के उपासकों के ज्ञानभंडारों में पड़ा हो। तथा उन ग्रंथों की प्रतिलिपियों का प्रचार अधिक न हो पाया जिससे वे रचनाएँ अज्ञात ही रह गई।

पिप्पल गच्छ गुरुस्तुति

जज्ञे **वीर**जिना**सुधर्म्म**गणभृत् तस्माच्च **जम्बू**स्ततः।
संख्यातेषु गतेषु सूरिषु भुवि श्री**वज्र**शाखाभवत् ॥

तस्यां **चन्द्र**कुलं मुनीन्द्रविपुलं तस्मिन् **बृहद्गच्छता** ।
तत्राभूद्यशसः प्रसादितककुभ्श्री**सर्वदेव**प्रभुः ॥ १ ॥

श्री**नेमिचन्द्रा**भिधसूरिरस्मात् जज्ञे जगन्नेत्रचकोरचन्द्रः ।
चारित्रलक्ष्मीललितांगहार ग्रैष चापोरुशुभानुकारः ॥ २ ॥

वादीन्द्रः कविपुङ्गवैकतिलकः सत्कीर्तिली(ला)सरः ।
क्रोडक्रीडदशेषसज्जनमहो चारित्रचूड़ामणिः ॥ ३ ॥

नंद्यादुद्धतभाजनं स भगवान् श्री**शांति**सूरिप्रभुः ।
पृथ्वीचंद्रचरित्रसत्रमकरो यो विश्वदत्तोत्सवः ॥ ४ ॥

श्रीमन्**महेन्द्रो विजया**ख्य**सिंहो देवेन्द्रचंद्रः** शुचि**पद्मदेवः**।
श्री**पूर्णचन्द्रो जयदेव**सूरि **हेमप्रभो** नाम **जिनेश्वरस्य** ॥ ४ ॥

सिद्धश्रावककारिते निरुपमे श्री**नेमिचैत्ये** पुरा ।
पूज्यैरष्टगुणा निजपदे संस्थापयांचक्रिरे ॥
श्रीमत्**पिप्पलगच्छ**नायक तया विज्ञाय होराबलं ।
विख्याता भुवि **शांतिसूरि**गुरवः कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥ ५ ॥

चक्रेश्वरी यस्य पुपोष पूजां **सिद्धो** भवद् यस्य गिरा नमस्यः ।
श्री**वृक्ष**गच्छाम्बरसप्तसप्तिः श्री**शांतिसूरिः** सुगुरुर्बभूव ॥ ६ ॥

तदनु मदनुहंता शाशनो द्योतकारी, जयति **विजयसिंह**सूरि भूरिप्रतिष्ठः ।
सत्रलकलिविघातं संयमासिप्रहारैरकृतसुकृतपात्रं भव्य कोकैकभानु ॥ ७ ॥

तत्पट्टपंकेरुहराजहंसः श्री**देवभद्रो** गुणभृद्रराज ।
उवास यः सज्जनमानसेषु निर्दूषणखेलितशुद्धपक्षः ॥ ८ ॥

तदन्तरं निर्ज्जितमोहमल्लः श्री**धर्म्मघोषः** सुगुरुर्गरीयान् ।
संसारपूरेण तु नीयमानं ररक्ष यो धार्म्मिकलोकमेक ॥ ९ ॥

सच्चन्द्रसूर्याविव तस्य पट्टे बभूवतुर्द्धोर्जायतौ गणेशौ ।
श्री**शीलभद्रः** प्रथमः प्रवीणः सूरिस्ततः श्रीपर **पूर्ण्णदेवः** ॥ १० ॥

विजयसेनगुरुस्तदनंतरं विजयते वसुधातलमंडनः ।
निवड़कर्म्मरिपून् समसायकैरपजहार विकारविरागवान् ॥ ११ ॥

भवत्रयं यः कलयांचकार ज्ञानोदधिर्गौतमवद्गणज्ञः ।
नरेन्द्रसामन्तसहस्रवंद्यः **श्रीधर्म्मदेवो** जयताद्गणेशः ॥ १२ ॥

तत्र...मुख्यो वृतस्य पद्मः **चतुर्द्दशीपक्ष**विचारदक्षः ।
समग्रसिद्धांतविलासवेदी **श्रीधर्मचन्द्रो** जयताद्गगतां ॥ १३ ॥

तत्पट्टशैलेन्द्रमृगेन्द्रतुल्यः **श्रीधर्मरत्न**सुगुरुश्चकास्ति ।
महाव्रतैः पंचभिरेव योसौ पंचाननत्वं विभरांबभूव ॥ १४ ॥

स्तुतिं गुरूणां सुगुणैर्गरूणा दिनोदये यः पठति प्रमोदात् ।
तस्यानिशं भक्तितरंगभाजो लब्धिर्विशाला परिरम्भणी स्यात् ॥ १५ ॥

इति श्री गुरुस्तुति समाप्तः ॥

२

पीपल गच्छ गुरु विवाहलु

पास जिणिंदि पसाउ कीउ, धरिणिंद्रि जस आपिय ज्ञान । त्रिहुं भव सुद्धि इम जाणीए ।
पीपल गच्छि संतूठिय, सरसति सतगुर सकति वखाणीइ ए ॥ १ ॥
सारंग राय सुपरि कहीय, त्रिहुं भवंतर **धर्म्मदेवसूरि** ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
सोल कला **धर्म्मचंद्रसूरि,** संघपति कीधउ **मोख** नरिंद ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
आठ महासिध प्रगट हूय, तप तेज तरणि **धर्म्मरत्नसूरि** ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
धरमतिलकसूरि गुरुतिलको, तिहुयणि मोहिओ वाणि रसाल ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
अनागत बुद्धि **धर्म्म सिंघसूरि, गूदियनयरि** प्रसाद मंडाविय ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
थिरराज सिरियाएविसुत बांधव, सहि जयवंत रवितलि ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
पाल्ह पेथ सौदागरूए, ठविय पाटसिरि **धर्म्मप्रभसूरि** ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
सतितालइ श्रीसंघ सहितो, देव चंद्रप्रभ प्रतिकराविय ।...त्रिहुं भव सुद्धि०
भविक त्रिभविया गुरु नमउ, जिम मन वंछित पामउ नवनिहि ।...त्रिहुं भव सुद्धि०

॥ इति गुरु वीवाहलु समाप्त ॥

३

गुरुलु धूल

स्वामिणि सरसति वीनवूं तुझप्रति, देवीय दइ इति विपुलमति ।
भाव उपन्न चित्ति, सगुण गणधर भत्ति, भणिस भोलिम भवियण सुणउ ए ॥
सवि सुणउ भवियण भणिस भोलिम, भत्ति चित्ति निरंतरो ।
सिद्धंत सारविचार संसइ, सवे भंजइ मनिवरो ।
नव तत्त नव रस रंगि रसना, वयणिवाणी जस तणी
दिणिदिणिहि दहदिशि कित्ति अहनिशि, तूं पसाइं स्वामिणी ॥ स्वा० ॥ १ ॥

पीपलगच्छ गुर गरुअओ गणधर, श्रीय**धर्मदेव**सूरि हऊया प्रवर।
त्रिभवन सुद्धि जस गुरिजगि भाखीउ, दाखीउ प्रगट प्रमाण पहु॥
पहु प्रगट दाखिय भव्व भाखिय, राउ **सारंग** दे तणो।
अनेकि नेकि प्रमाण पयडी, भणूं केता गुण घणा।
श्रीधर्मचंद्रह चंदयम जगि, मोहतिमर विहंडणो।
तस पाटि **धम्मह**सूरि **रयण**ह, गच्छ **पींपल** मंडणो॥ पीपल० ॥ २ ॥

य(जि?)णवर प्रणीत पयासीय, धम्म **धर्मतिलक**सूरि सूरिवर।
तस तणइ अनक्रमि श्रीय **धर्मसंघ** सूरि तासपाटि श्री**धर्मप्रभ**सूरि।
तस पाटि **धर्मप्रभ**सूरि, गुर वर ठामि **गूंदी** सोहए।
अबध बध जन सयल, सावइ तींह प्रति पडिबोह ए।
गरूय गुर पन्नत तत्तह, झाय झाण निरंतरो।
कस्तूरि अगर कपूर चंदनि, धुव खेवइ यणवरो॥ यणवर० ॥ ३ ॥

जयवंतु यण शासणि सोहए, मोहए मणउ भवियण तणांए।
सकल कला संपन्न सुहजि सुन्दर, मंदिर महिमानिधान नर॥
नरनिपुण सुंदर महिम मंदिर, चतुर गुर दया पुरो।
विवेक विनय विचार वक्ता, न कोइ समवडि नरवरो॥
संगति सुखनधि शोक नासइ, घणउं बहु गुणवंतओ।
कंमित्त मत प्रति सूरि सद्गुर, तेजि तपि जयवंतउ॥ जयवंतु० ॥ ४ ॥

॥ इति गुर नु धुल समाप्त ॥ छः ॥

४

पीप्पल गच्छ गुर्वावलि–गुरहमाल

वीरजिणेसर पाय, समरीय सरसति सामिणीय।
वरणि, सुगुरुवर राय, **पीपल** गच्छ अलंकरण ॥ १ ॥

चंद्र गच्छि सुविसाल, **संतिसूरि** गुरु वरणीए।
निम्मल कीर्ति माल, जगि सचराचर लहलह ए ॥ २ ॥

बोलइं बाल गोपाल, **सांतिसूरि** जसु पयडु जगे।
जीतउ दूसम कालु, **विजयसिंह** सूरि तासु पटे ॥ ३ ॥

धर्मविजयु जणि कीधु, दूसम दल बलु निरजिणीउ।
विजयसिंह सूरि लीधु, सुजस सबहु जगि सासतउ ॥ ४ ॥

तासपटि देव **भद्र**, सूरि राउ प्रसंसीए
गरुउ गुणहसमुद्र, मानमहातमि आगलउ ॥ ५ ॥

धर्मघोष सूरि राउ, धरम माग प्रकास करो।
प्रह ऊठी गुरु पाय, पणमउ भविया एक मनि ॥ ६ ॥

अविचलु जिणवरु धम्मु, अविचलु संजम भरु लियउ।
धम्मघोष सूरि जम्मु, धनु धनु महि मंडलि भणउ ॥ ७ ॥

तसु पटि गरुअ प्रमाणु, **सीलभद्र** सूरिहि रयणु।
अकल अगंजिय माण, **पूर्णदेव**सूरि वरणीए ॥ ८ ॥

विजयसेन सूरि जाणि, **पासदेव** पट उद्धरण।
महिमा मान प्रमाणि, महिमंडलि महिमागलउ ॥ ९ ॥

धनु धनु **धर्मदेव** सूरि, **सारंग** रा प्रतिबोधिउ।
ऊगमतइ नितु सूरि, सुहगुरु नितु नितु पणमीए ॥ १० ॥

त्रिनि भव **सारंग** राय, देवाएसिहिं गुरि कहीय।
घूघल जग विक्खाय, पड़िबोही त्रिनि भव कहीया ॥ ११ ॥

घूघल राणि कीधु, **थाराउद्रे** वर नयरे।
उतिम जगि जस लीधु, **सरसति** मंडपु कारविउ ॥ १२ ॥

गोअम गुरु निसंकु, **धर्मदेव** सूरि अवतरिउ।
तसुपटि गयण मयंकु, **धर्मचंद्र** सूरि गुरु रयणु ॥ १३ ॥

मयण महा भड़ माण, लीलां दूसमि निरजिणीउ।
धरम रत्न सूरि जाणु, धम्म धुरंधर अवतरिउ ॥ १४ ॥

धर्म तिलक सूरि धीरु, **पींपल** गच्छह मंडणउ।
मोह मयण भड़ वीरु, जीतउ लीला बाहुबले ॥ १५ ॥

धरमसिंह सूरि सीहु, विसम महाभड़ वसि करण।
धरम काज धुरि लीह, लहइ वीरु कविता गुणिहिं॥ १६ ॥

तसुपटि महियलि भाणु, **धर्मप्रभसूरि** गुरु गरुओ गुणि।
आगम छंद प्रमाण जाण, राउ जयवंतु जगे ॥ १७ ॥

सुललित वाणि रसालु, **धर्मशेखर** सूरि गुरु पवरो।
नामिहिं ऋधि विसालु, जगि जयवंता जाणीइ ए ॥ १८ ॥

राय राणा दीइ मान, गरूया गुरु गुण गाईइ ए।
पार न लाभइ जान, **धर्मसागर** सूरि धर्म निधे ॥ १९ ॥

महिमावंत अपार, श्री **धर्मवल्लभ** सूरि जगि जाणीइ ए
ज्ञान तणउ भंडार, बालापणि पट ऊधरउ ए ॥ २० ॥

गुण गण रयण विशाल, गुरह माल भवियण सुणउ।
उम्मूली मोह जाल, भव समुद्द लीलां तरउ ॥ २१ ॥

वीर जन्मोत्सव में

जिणवर जन्मि करइ सोमाई, तह नइं राखइ देवि अंबाई।
पीपल गच्छ परधान् सुणीजइ, श्री धर्म्मप्रभ सूरि प्रणमीजइ ॥ ५ ॥

देसाहिव्व अति साहस धीरो, श्री सारंगदेव गुण गम्भीरो।
कल्पवंचावइ साहसधीरो, हेमु मंत्री अति सविच्चारो ॥ ६ ॥

५

वीरजन्माभिषेक

सौधर्म्मवासी वरदो विमानः द्वात्रिंशलक्षाधिपः समानाः।
सौधर्म्मनामा हरिराजगाम श्रीवीरजन्मोत्सवकर्तुकामः ॥ १ ॥

अपूर्वसम्मदः पूर्व दिक्पतिः पूर्वदिग्मुख।
स्नानसिंहासनं भेजे शक्रः क्रोड़ीकृतुप्रभुः ॥ २ ॥

अहो भविक लोको! धर्म्म प्रभावको द्वादशव्रतपालकु सावधानतया समाकर्ण्यंता 'अहो भविक लोक पुण्य प्रभावकु! सावधान थिका सांमळुः। हुं सौधर्म्मइ देवलोकि। सौधर्म्मवतंसि विमानि बत्रीस लाख विमान तणइ परिवारि अनेकि देव देवांगना तेहे परवर्यु हुंतु। ईणइ भरतखेत्रि मध्यम खंडि **गोहिलवाडि** देसि राजि श्री **सारंगदेव** तणइ राजि। **ठाकुर** साधु तणइ प्रतिराजि आठमा तीर्थंकर श्री **चन्द्रप्रभस्वामि** तणइ भुवनि। श्री **धर्म्मप्रभसूरि** तणइ कल्पि वाच्यमानि मंत्रीश्वर **हेमा** तणइ उपरोधि चरम तीर्थंकर श्री **महावीर** तणु जन्म जाणी महोच्छव करिवा आव्या छउं ॥ छ ॥

इशानवासी वर इन्द्रराजश्चतुर्भुज, शूलधृतौ करौ च।
वृषेण आद्यो वृषवाहनश्च देवैः कृतं पुष्पकमास्थितोहं ॥ १ ॥

इहांतरे घोषनिनादओधितो धृतो विमानैरिह चागतोहं।
संख्येय लख्यैः किल अष्टविंशतैः समागतो वीरमहोत्सवेन ॥ २ ॥

ईशानकल्पादुत्तीर्य तिर्यग् दक्षिणवर्त्मना।
एत्यं नंदीश्वरं दक्ष्यैशाना रतिकरे गिरौ ॥ ३ ॥

अहो श्रावकाः पुण्यप्रभावकाः सकलकल्याणकारकाः सावधानतया श्रूयतां। अहमीशानदेवलोक तउ अष्टाविंशति विमान लक्षैरिह वीरमहोत्सवेन गुंदिकायां समागतो वर्त्तामहे ॥ अहो श्रावकु पुण्यप्रभावकु सकल कल्याणकारक सावधान थिका सांभलु। हुं ईशान देवलोक तु अठावीस लाख विमान तणउ अधिपति स्वामी। शूलपाणी वृषभवाहन हुंतउ। महाघोषा घंटा तणइ निनादि करी। पुष्पकविमानरूढः ईशान कल्पतु दक्षिण दिशिई ऊतरी नंदीश्वर तणइ माग्रि आवी **गुहिलवाडि** देसि राज श्री **सारंगदेव** तणइ राजि ॥ १ ॥ छ ॥

सनत्कुमाराधिपतिः सुरेन्द्रः समागतो जन्ममहोत्सवाय।
महच्चभक्त्याभिरभार संयुतः सुरासुरैः कांचनचूलिकायां ॥ १ ॥

आगाद्द्वादशभिर्लक्षैः वृतो वैमानकैः सुरैः ।
सनत्कुमारः सुमानो विमानस्थः प्रभो पुरः ॥ २ ॥

अहो भविक लोको धर्म्मार्थसार्थको द्वादशव्रत पालकः सावधानतया श्रूयतां । अहो ! पुण्यप्रभावकु श्रावकु सावधान थिका सांभलउ । हुंबार लक्ष विमान तणउ अधिपति स्वामी अनेकि देव देवी तणे परिवारि परिवर्यउ हुंतउ ईणइं जंबूद्वीप दक्षिण भरतार्द्धि मधिमखंडि गोहिलवाड़ि देशि राज श्री सारंगदेव तण राजि ॥ १ ॥ छ ॥

माहेन्द्राधिपतिः सुरासुरव्रतो संसेव्यते स्वर्गम् ।
लक्षाष्टाधिप संश्रितो सुरवधू संवीज्यते...चारे ॥

इत्थं वीरमहोत्सवं च विधिना ज्ञात्वा हरि संस्मृन् ।
श्रीवत्सांकित नाम देवसदनं हेमं विमानं श्रितं ॥ १ ॥

माहेन्द्राष्ट विमाने लक्षैर्युक्तो महर्द्धिभिः ।
श्री वत्साख्य विमानेन प्रभो रम्यरण्यमागतम् ॥ २ ॥

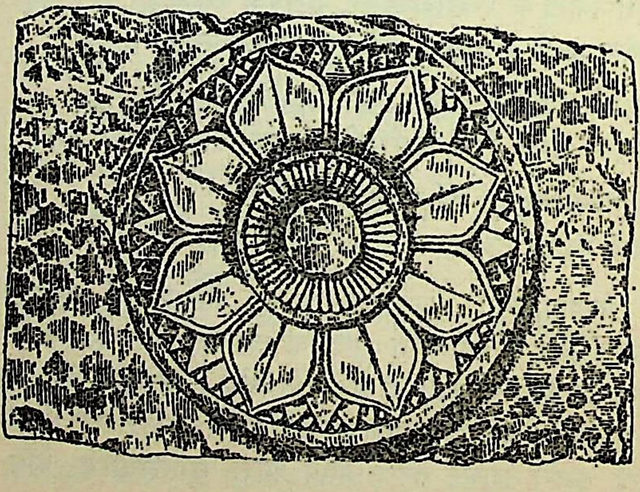

संस्कृति निर्माता युगादिदेव

श्री शांतिलाल खेमचंद शाह, बी. ए.

भारतीय संस्कृति में भगवान् ऋषभदेव का स्थान अनोखा है। जंगल में मंगल कर मानव को उन्होंने मानवता की सभ्यता प्रदान की। पशुसमाजवत् विषयसुख और पेट पालने में ही अपने को कृतार्थ मानने वाले मानव को आत्मा के अमर खजाने का पता उन्होंने बताया। संस्कृति की उन्होंने एक ऐसी मजबूत नींव डाली कि उस पर युगयुग तक सभ्यता का प्रासाद खड़ा हो सका। केवल तत्त्वज्ञान की ही सुधा उन्होंने नहीं बरसाई, प्रत्युत व्यवहार को भी उन्होंने प्रधानता दी। व्यवहार की संपूर्ण उपेक्षा कर कोरे निश्चय की बातें करनेवालों को यह भलीभांति समझना चाहिए कि निश्चय को संपूर्णतया समझनेवाले एक महान् मानव ने ही व्यवहार का निर्माण किया है।

सब धर्मों की जड़ तो एक ही है, हर पन्थ उसकी एक एक डाली है। यह जड़ है ऋषभदेव। दुनिया के सारे धर्म, कर्म, व्यवहार, ज्ञान, ध्यान, रीति, नीति के वे निर्माता हैं। उन्हें अपनाकर हम अलग अलग नाम देते हैं, किन्तु वस्तु तो वही है।

वैदिक लोग विष्णु के चौवीस अवतार मानते हैं। उनमें आठवाँ रूप ऋषभदेव का ही है। इस आठवें अवतार में उन्होंने परमहंस का मार्ग बताया। उनके पिता का नाम नाभि राजा और माता का नाम मरुदेवी लिखा है। भागवत के पंचम स्कंध में बड़े विस्तार के साथ ऋषभदेव का जीवन है। ऋषभदेव का उपदेश भी हमें तीर्थंकरों के उपदेश-सा मालूम होगा। रजोगुणी लोगों को मोक्षमार्ग बताने के लिये यह अवतार है। नगरपुराण के भवावतार नामक चौदहवें शतक में कहा है।

> कुलादिबीजं सर्वेषां, प्रथमो विमलवाहनः।
> चक्षुष्मान् च यशस्वी चाऽभिचंद्रोऽथ प्रसेनजित्।
> मरुदेवश्च, नाभिश्च, भरते कुलसत्तमाः।
> अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः॥

भागवतपुराण में सात कुलकरों के स्थानपर सात अवतार की कल्पना कर आठवें अवतार के रूप में ऋषभदेव को माना है।

जंगल में मंगल

जंगल में रहनेवाले, पेड़-पौधोंपर जीवन बसर करने वाले मानव को असि, मसि और कृषि का महत्त्व समझाकर सभ्यता के मार्गपर लानेवाले ऋषभदेव हैं। कृषिप्रधान भारतवर्ष के उद्धार का मार्ग उन्होंने उस काल में समझाया जब नैसर्गिक कामपूर्ति और उदरभरण के सिवाय आदमी कुछ सोच ही नहीं सकता था।

दिन ब दिन पेड़ घटने लगे। फलों पर निर्वाह होना मुश्किल मालूम होने लगा। जंगली पशुओं के कारण जीवन में संरक्षण न था। युगल पैदा होता था जिसमें बाल और बालिका होते थे। जवानी में वही पति-पत्नी बन संतान पैदा करते थे। वे ऋषभदेव थे कि जिन्होंने प्रथम लग्नविधि का निर्माण किया। लग्न

अर्थात् विषय वासना का नियमन ही नहीं किन्तु लग्न यानी दो जीवों की परस्पर कल्याण के निमित्त समर्पण की भावना। विवाह प्रथा का प्रारंभ तभी से हुआ।

खेती का महत्त्व बैल पर निर्भर है। ऋषभदेव ने यह बात स्पष्ट कर जनता को वृषभ का महत्त्व समझाया। बैलों को नष्ट होने से बचाया। इसीसे संभवतः लोगों ने उन्हें वृषभदेव–ऋषभदेव–के नाम से पहचाना।

जब लोगोंपर संकटों की परंपरा आने लगी, तब किंकर्तव्यमूढ बनी हुई जनता ने अपनी इच्छा से अपने लिये ऋषभदेव को **राजा** चुना। राजा बननेपर व्यक्ति संपूर्णतया प्रजा का सेवक बनता है, यह बात ऋषभदेव ने सिद्ध की। 'हा' कार 'मा' कार और 'धिक्' कार की नीति का अंकुश अब जनता पर न रहने के कारण राजदंड द्वारा उन्होंने लोगों के दुश्मनों का दमन किया। कुम्भकार, लुहार, चित्रकार, जुलाहा, और हजाम इन पाँच कारीगरों की सृष्टि की। पुरुषों की ७२ कलाएँ, स्त्रियों की ६४ कलाएँ और ब्राह्मी प्रमुख १८ लिपियाँ उन्होंने प्रचारित कीं।

इस प्रकार जब लोग सुख चैनसे जिंदगी बसर करने में समर्थ हुए, तब उन्होंने आत्मज्ञान की ओर जनता को खींचा। उनके पुत्रों में सबसे बड़ा भरत था और अन्य १०० पुत्र थे। ब्राह्मी और सुंदरी ये दो कन्याएँ थी। राजभार उनपर डालकर वे मुनि बने। मुनि बनने के लिये आसक्ति तोड़ना जरूरी है, इसलिये उन्होंने "वरसीदान" दिया। एक वर्ष तक याचकों को संतुष्ट करनेवाला महान् दान देने के पश्चात् वे मुनि बने। कितने ही राजा, सामंतादि उनके साथ मुनि बने। मुनि के महान् उग्र यम नियमों के पालन में उन्हें एक वर्ष तक शुद्ध आहार न मिल सका। अन्त में वैशाख शुदि ३ के दिन उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार ने हस्तिनापुर में उन्हें इक्षुरस देकर पारणा करवाया। पूर्णज्ञान का साक्षात्कार पाने पर समोवसरण में जब वे विराजमान हो उपदेश देते थे तब चारों ओर के लोगों को वे हमारी ओर मुख कर ही बोल रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता था। इससे ही चतुर्मुखी ब्रह्म के रूप में लोग उन्हें मानने लगे। अष्टापद पर्वत के ऊपर उनका निर्वाण हुआ। यह वही पहाड़ है जिसे लोग कैलास भी कहते हैं। उसके ऊपर निर्मित ऋषभदेव के स्मारक की रक्षा के लिये भरत चक्रवर्ति ने आठ सीढियाँ बनवाईं, इसलिये उसे अष्टापद कहते हैं।

आज के बहुत से देशों के नाम ऋषभ देव के पुत्रों के नाम पर से ही हैं।

ऋषभदेव आदिम तीर्थंकर थे, इसी लिये 'आदम' के नाम से आदि पुरुष को लोग पहचानते हैं।

सूर्यवंश की उत्पत्ति इन्हींसे है—

ऋषभदेव
|
भरत
|
सूर्ययशा

चंद्रवंश की उत्पत्ति भी इन्हींसे—

ऋषभदेव
|
बाहुबली
|
चंद्रयशा

तापसों की उत्पत्ति

जब ऋषभदेव को एक वर्ष तक शुद्ध आहार न मिला तब उनके साथ के दीक्षित सामंतादिकों ने कंद, फलादि पर निर्वाह करना शुरू किया, यहाँ से ही तापसों की परंपरा चली।

ब्राह्मणों की उत्पत्ति

भरत राजा ने चक्रवर्ति बनने के लिये भाइयों पर आक्रमण किया। भाई ऋषभदेव के पास गये। योगीश्वर के पास वे भी योगी बने। शरमिंदा बनकर भरत भाइयों से क्षमा मांगने और उनको अन्नपान देने गया। "साधु को अपने लिये बना हुआ अन्न और राजपिंड त्याज्य है" यह ऋषभदेवजी से सुनकर उसने सुश्रावकों को (शुद्ध-आचार-विचारवान् ज्ञानी लोगों को) जिमाना शुरू किया। वे हमेशा भरत को आशीर्वाद से सावधान करते "**जीतो** भवान्। वर्धते भयं। तस्मात् मा हन, मा हन।" 'मा हन' का उपदेश देनेवाले ये माहन या ब्राह्मण बने। उनके लिए इतर शब्द बुड्ढसावया भी अनुयोग द्वार में है।

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति

राजभोजनालय में भोजन करनेवालों की संख्या दिन ब दिन बढ़ने लगी, तब भरत राजा ने काकिणी रत्न से 'दर्शन-ज्ञान-चरित्र' ये रत्नत्रयी की निशानी के रूप में तीन रेखाएँ की। काकिणी रत्न के अभाव से सूर्ययशा ने सोने की, बाद में चंद्रयशा ने रूपे की जनेऊ कराई जो आज सूत्र की बनती है।

वेदों की उत्पत्ति

ज्ञानी माहणों ने ऋषभदेव की वाणी को गुँथकर चार वेदों की रचना की—१ संसार दर्शन, २ संस्थानपरामर्श, ३ तत्त्वावबोध, ४ विद्याप्रबोध। कालानुक्रम से ८ वें तीर्थंकर के बाद जीवहिंसा से युक्त नये वेदों की रचना की गई।

अग्निहोत्री और अग्निपूजा

"**अग्निमुखा वै देवाः**" यह श्रुति ऋषभदेव के निर्वाण के बाद प्रचलित हुई, कारण उनकी चिता को अग्नि लगाने का सम्मान अग्निकुमार देव को मिला। इस वक्त उस चिता में से अग्नि लेनेवाले ब्राह्मण अग्निहोत्री कहलाये। उस अग्नि को कायम रखकर उसे पूजने लगे। अग्निपूजा का यही रहस्य है।

सांख्यमत

ऋषभदेव
|
भरत
|
मरीचि त्रिदंडी (संन्यासी बना हुआ)

मरीचि के शिष्य—कपिलमुनि
कपिलमुनि के शिष्य—आसुरी
आसुरी के शिष्य—शंख (सांख्य मत के स्थापक)

अरबस्तान में मूर्तिपूजा

हजरत पैगंबर के जीवन में हम पढ़ते हैं कि काबा के मंदिर में ३६००० मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। संशोधक कहते हैं कि मूर्तिपूजा जैनियों से प्रचलित है। ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली तक्षशीला के राजा थे। ऋषभदेव ने उस तरफ विहार किया हुआ है। 'इस्लाम' शांति का पर्यायवाची है। ☪ चांदतारा का चिह्न सिद्धशिला के रूप में जैन हमेशा मानते हैं। मक्काशरीफ के किसी क्षेत्र में जीवहिंसा की मनाई है।

महादेव

महादेव की मान्यता के बारे में तथा स्वरूप या चरित्र के बारे में जो पुराणों में कथाएं हैं उनका समन्वय करना बड़ा कठिन है। नंदिकेश्वर की उत्पत्ति भी विस्मय पैदा करती है। क्या ऋषभदेव ही महादेव के रूप में तो नहीं माने जाते होंगे? वृषभ पर महादेवजी बैठते हैं इससे भी शायद यही अर्थ तो नहीं अभिप्रेत होगा? आचार्य मानतुंग ठीक ही कहते हैं—

"बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्।
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्॥
धाताऽसि धीरशिवमार्गविधेर्विधानात्।
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥"

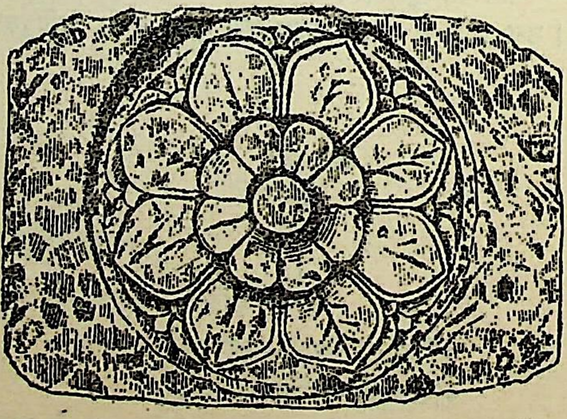

स्याद्वाद पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार

श्री मोहनलाल मेहता, एम. ए., शास्त्राचार्य

स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर बड़े बड़े दार्शनिक भी उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नहीं चूके। उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया या जानकर, यह कहना कठिन है। कैसे भी किया हो, किन्तु किया अवश्य। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज बताया[1]। शान्तरक्षित ने भी यही बात कही। स्याद्वाद जो कि सत् और असत्, एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है[2]। इसी प्रकार शंकराचार्य ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाया। एक ही श्वास उष्ण और शीत नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत् अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते[3]। इस प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं। अब तक जितने आरोप लगाये गए हैं अथवा लगाए जा सकते हैं, इस लेख में उन सब का एक एक करके निराकरण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

१. विधि और निषेध परस्पर विरोधी धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही वस्तु नील और अनील दोनों नहीं हो सकती क्योंकि नीलत्व और अनीलत्व विरोधी वर्ण हैं, उसी प्रकार विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। इसलिए यह कहना विरोधात्मक है कि एक ही वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है, सत् भी है और असत् भी है, वाच्य भी है और अवाच्य भी है। जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे हो सकती है और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे हो सकती है? जो एक है वह एक ही है, जो अनेक है वह अनेक ही है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी पारस्परिक विरोध सहन नहीं कर सकते। स्याद्वाद इस प्रकार के विरोधी धर्म का एकत्र समर्थन करता है, इसलिए वह सदोष है।

यह दोषारोपण मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ अनुभव के आधार पर इसी प्रकार का सिद्ध होता है। एक दृष्टि से वह नित्य प्रतीत होता है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से एक मालूम होता है और दूसरी दृष्टि से अनेक। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है, या जो एकता है वही अनेकता है। नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्परविरोधी हैं, यह सत्य है। किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु तो दोनों को ही आश्रय देती है। दोनों की सत्ता से ही वस्तु का स्वरूप पूर्ण होता है। एक के भी अभाव में पदार्थ अधूरा है। जब एक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मालूम होती है तो उसमें विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। विरोध वहां होता है जहां विरोध की प्रतीति हो। विरोध की प्रतीति के अभाव में भी विरोध की कल्पना करना सत्य को चुनौती देना है। जैन ही नहीं, बौद्ध भी चित्रज्ञान में विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान में विरोध नहीं होता तो एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्मों की सत्ता

---

[1] १. प्रमाणवार्तिक १, १८२-१८५.

[2] २. तत्त्वसंग्रह ३११–३२७.

[3] ३. शारीरकभाष्य २.२.३३.

मानने में क्या हानि है ? नैयायिक चित्रवर्ण की सत्ता मानते ही हैं। एक ही वस्त्र में संकोच और विकास हो सकता है, एक ही वस्त्र रक्त और अरक्त हो सकता है, एक ही वस्त्र पिहित और अपिहित हो सकता है। ऐसी दशा में एक ही पदार्थ में भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता और एकता और अनेकता की सत्ता क्यों विरोधी मानी जाती है, यह समझ में नहीं आता। इसलिए स्याद्वाद पर यह आरोप लगाना कि वह परस्पर विरोधी धर्मों को एकत्र आश्रय देता है, मिथ्या है। स्याद्वाद प्रतीति को यथार्थ मान कर ही आगे बढ़ता है। प्रतीति में जैसा प्रतिभास होता है और जिसका दूसरी प्रतीति से खण्डन भी नहीं होता, वही निर्णय यथार्थ है—अव्यभिचारी है—अविरोधी है।

२. यदि वस्तु भेद और अभेद उभयात्मक है तो भेद का आश्रय भिन्न होगा और अभेद का आश्रय उससे भिन्न। ऐसी दशा में वस्तु की एकरूपता समाप्त हो जाएगी, एक ही वस्तु द्विरूप हो जाएगी।

यह दोष भी निराधार है। भेद और अभेद का भिन्न भिन्न आश्रय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जो वस्तु भेदात्मक है वही वस्तु अभेदात्मक है। उसका जो परिवर्तन धर्म है, वह भेद की प्रतीति का कारण है। उसका जो ध्रौव्य धर्म है, वह अभेद की प्रतीति का कारण है। ये दोनों धर्म अखण्ड वस्तु के धर्म हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं कि वस्तु का एक अंश भेद या परिवर्तनधर्म वाला है और दूसरा अंश अभेद या ध्रौव्यधर्मयुक्त है। वस्तु के टुकड़े टुकड़े करके अनेक धर्मों की सत्ता स्वीकृत करना स्याद्वादी को इष्ट नहीं। जब हम वस्त्र को संकोच और विकासशील कहते हैं तब हमारा तात्पर्य एक ही वस्त्र से होता है। वही वस्त्र संकोचशाली होता है और वही विकासशाली। यह नहीं कि उसका एक हिस्सा संकोचधर्म वाला है और दूसरा हिस्सा विकासधर्म वाला है। वस्तु के दो अलग अलग विभाग करके भेद और अभेदरूप दो भिन्न भिन्न धर्मों के लिये दो भिन्न भिन्न आश्रयों की कल्पना करना स्याद्वाद की मर्यादा के बाहर है। वह तो एकरूप वस्तु को ही अनेकधर्मयुक्त मानता है।

३. वह धर्म जिसमें भेद की कल्पना की जाती है और वह धर्म जिसमें अभेद स्वीकृत किया जाता है—उन दोनों में क्या सम्बन्ध होगा ? दोनों परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न मानने पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमें रहता है उससे वह भिन्न है या अभिन्न ? इस प्रकार अनवस्था का सामना करना पड़ेगा। अभिन्न मानने पर भी यही दोष आता है। यह अभेद जिसमें रहेगा वह उससे भिन्न या है अभिन्न ? दोनों अवस्थाओं में पुनः सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा होता है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में अनवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती।

अनवस्था के नाम पर यह दोष भी स्याद्वाद के सिर पर नहीं मढ़ा जा सकता। जैन दर्शन यह नहीं मानता कि भेद अलग है और वह भेद जिसमें रहता है वह धर्म अलग है। इसी प्रकार जैन दर्शन यह भी नहीं मानता कि अभेद भिन्न है और अभेद जिसमें रहता है वह धर्म उससे भिन्न है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को ही भेद कहते हैं और उसके अपरिवर्तनशील स्वभाव का नाम ही अभेद है। भेद नामक कोई पदार्थ आकर उससे सम्बन्धित होता हो और उसके सम्बन्ध से वस्तु में भेद की उत्पत्ति होती हो, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार अभेद भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो किसी सम्बन्ध से वस्तु में रहता हो। वस्तु स्वयं ही भेदाभेदात्मक है। ऐसी दशा में इस प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सम्बन्ध का प्रश्न ही व्यर्थ है तब अनवस्था दोष की व्यर्थता स्वतःसिद्ध है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

४. जहां भेद है वहीं अभेद है और जहां अभेद है वहीं भेद है। भेद और अभेद

का भिन्न भिन्न आश्रय न होने से दोनों एकरूप हो जाएंगे। भेद और अभेद की एकरूपता का अर्थ होगा संकर दोष।

स्याद्वाद को संकर दोष का सामना तब करना पड़ता जब भेद अभेद हो जाता या अभेद भेद हो जाता। आश्रय एक होने का अर्थ यह नहीं होता कि आश्रित भी एक हो जाएं। एक ही आश्रय में अनेक आश्रित रह सकते हैं। एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है (बौद्ध), फिर भी सब वर्ण एक नहीं हो जाते। एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों रहते हैं (नैयायिक-वैशेषिक), फिर भी सामान्य और विशेष एक नहीं हो जाते। भेद और अभेद का आश्रय एक ही पदार्थ है किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं। यदि वे एक होते तो एक ही की प्रतीति होती, दोनों की नहीं। जब दोनों की भिन्न भिन्न रूप में प्रतीति होती है तब उन्हें एकरूप कैसे कहा जा सकता है?

५. जहां भेद है वहां अभेद भी है और जहां अभेद है वहां भेद भी है। दूसरे शब्दों में जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है वह भिन्न भी है। भेद और अभेद दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्याद्वाद को व्यतिकर दोष का सामना करना पड़ेगा।

जिस प्रकार संकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता उसी प्रकार व्यतिकर दोष भी स्याद्वाद का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दोनों धर्म स्वतन्त्ररूप से वस्तु में रहते हैं और उनकी प्रतीति उभयरूप से होती है। ऐसी दशा में व्यतिकर दोष की कोई सम्भावना नहीं रहती। जब भेद की प्रतीति स्वतन्त्र है और अभेद की स्वतन्त्र, तब भेद और अभेद के परिवर्तन की आवश्यकता ही क्या है? ऐसी स्थिति में व्यतिकर दोष का कोई अर्थ नहीं। भेद का भेद रूप से ग्रहण करना और अभेद का अभेद रूप से ग्रहण—यही स्याद्वाद का अर्थ है। वहां व्यतिकर जैसी कोई चीज ही नहीं है।

६. तत्त्व के भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नही हो सकेगा। जहां किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा वहां संशय उत्पन्न होगा और जहां संशय होगा वहां तत्त्व का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

यह दोष भी व्यर्थ है। भेदाभेदात्मक तत्त्व का भेदाभेदात्मक ज्ञान होना संशय नहीं है। संशय तो वहां होता है जहां यह निर्णय न हो कि तत्त्व भेदात्मक है या अभेदात्मक है या भेद और अभेद उभयात्मक है? जब यह निर्णय हो रहा है कि तत्त्व भेद और अभेद उभयात्मक है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा। जहां निश्चित धर्म का निर्णय है वहां संशय पैदा नहीं हो सकता। जहां संशय नहीं, वहां तत्त्वज्ञान होने में कोई बाधा ही नहीं। इसलिए संशयाश्रित जितने भी दोष हैं, स्याद्वाद के लिए सब निरर्थक हैं।

७. स्याद्वाद एकान्तवाद के बिना नहीं रह सकता। स्याद्वाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु या धर्म सापेक्ष है। सापेक्ष धर्मों के मूल में जबतक कोई ऐसा तत्त्व न हो जो सब धर्मों को एकसूत्र में बांध सके तब तक वे धर्म टिक ही नहीं सकते। उन को एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई न कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए जो स्वयं निरपेक्ष हो। ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता मानने पर स्याद्वाद का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, खण्डित हो जाता है।

स्याद्वाद जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सब

पदार्थों या धर्मों में एकता है, इसे स्याद्वाद मानता है। भिन्न भिन्न वस्तुओं में अभेद मानना भी स्याद्वाद को अभीष्ट है। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि अनेक धर्मों में ऐकता नहीं है। विभिन्न वस्तुओं को एक सूत्र में बांधने वाला अभेदात्मक तत्त्व अवश्य है, किन्तु ऐसे तत्त्व को मानने का यह अर्थ नहीं कि स्याद्वाद एकान्तवाद हो गया। स्याद्वाद एकान्तवाद तब होता जब वह भेद का खण्डन करता—अनेकता का तिरस्कार करता। अनेकता में एकता मानना स्याद्वाद को प्रिय है, किन्तु अनेकता का निषेध करके एकता को स्वीकृत करना उसकी मर्यादा के बाहर है। 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् सब एक है क्योंकि सब सत् है—इस सिद्धान्त को मानने के लिए स्याद्वाद तैयार है किन्तु अनेकता का निषेध करके नहीं, अपितु उसे स्वीकृत करके। एकान्तवाद अनेकता का निषेध करता है—अनेकता को अयथार्थ मानता है—भेद को मिथ्या कहता है जब कि अनेकान्तवाद एकता के साथ साथ अनेकता को भी यथार्थ मानता है। एकतामूलक यह तत्त्व एकान्तरूप से निरपेक्ष है, यह नहीं कहा जा सकता। एकता अनेकता के बिना नहीं रह सकती और अनेकता एकता के अभाव में नहीं रह सकती। एकता और अनेकता परस्पर इसी प्रकार मिली हुई हैं कि एक को दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में एकता को सर्वथा निरपेक्ष कहना युक्तियुक्त नहीं। एकता अनेकताश्रित है और अनेकता एकताश्रित है। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं। एकता के बिना अनेकता का काम नहीं चल सकता और अनेकता के बिना एकता कुछ नहीं कर सकती। तत्त्व एकता और अनेकता दोनों का मिलाजुला रूप है। उसे न तो एकान्तरूप से एक कह सकते हैं और न एकान्ततः अनेक। इसलिए स्याद्वाद को एकता के वास्तविक मानने पर भी एकान्तवाद या निरपेक्षवाद का भय नहीं।

८. यदि प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् यथार्थ है और कथञ्चित् अयथार्थ, तो स्याद्वाद स्वयं भी कथञ्चित् सत्य होगा और कथञ्चित् मिथ्या। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद से ही तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है?

स्याद्वाद तत्त्व का विश्लेषण करने की एक दृष्टि है। अनेकान्तात्मक तत्त्व को अनेकान्तात्मक दृष्टि से देखने का नाम ही स्याद्वाद है। जो वस्तु जिस रूप से यथार्थ है उसे उसी रूप में यथार्थ मानना और तदितर रूप में अयथार्थ मानना स्याद्वाद है। स्याद्वाद स्वयं भी यदि किसी रूप में अयथार्थ या मिथ्या है तो वैसा मानने में कोई हर्ज नहीं। यदि हम एकान्तवादी दृष्टिकोण लें और उससे स्याद्वाद की ओर देखें तो वह भी मिथ्या प्रतीत होगा। अनेकान्त दृष्टि से देखने पर स्याद्वाद सत्य प्रतीत होगा। दोनो दृष्टियों को सामने रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्याद्वाद कथञ्चित् मिथ्या है अर्थात् एकान्तदृष्टि की अपेक्षा से मिथ्या है और कथञ्चित् सत्य है अर्थात् अनेकान्तदृष्टि की अपेक्षा से सत्य है। जिसका जिस दृष्टि से जैसा प्रतिपादन हो सकता है उसका उस दृष्टि से वैसा प्रतिपादन करने के लिये स्याद्वाद तैयार है। इसमें उसका कुछ नहीं बिगड़ता। जब हम यह कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है तो हम यह भी कह सकते हैं कि स्याद्वाद स्वरूप से अर्थात् अनेकान्तरूप से सत् है—यथार्थ है और पररूप से अर्थात् एकान्तरूप से असत् है—अयथार्थ है। हमारा यह कथन भी स्याद्वाद ही है। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद को कथञ्चित् यथार्थ और कथञ्चित् अयथार्थ कहना भी स्याद्वाद ही है।

९. सप्तभङ्गी के अन्त के तीन भङ्ग व्यर्थ हैं क्योंकि वे केवल दो भङ्गों के योग से बनते हैं। इस प्रकार योग से ही संख्या बढ़ाना हो तो सात क्या अनन्त भङ्ग बन सकते हैं।

मूलतः एक धर्म को लेकर दो पक्ष बनते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक धर्म का या तो विधान होगा या प्रतिषेध। ये दोनों भङ्ग मुख्य हैं। बाकी के भङ्ग विवक्षाभेद से बनते हैं। तीसरा और चौथा दोनों भङ्ग भी स्वतंत्र नहीं हैं। विधि और निषेध की क्रम से विवक्षा होने पर तीसरा भङ्ग बनता है और युगपद् विवक्षा

होने पर चौथा भङ्ग बनता है। इसी प्रकार विधि की और युगपद् विधि और निषेध की विवक्षा होने पर पांचवां भङ्ग बनता है। आगे के भङ्गों का भी यही क्रम है। यह ठीक है कि जैन आचार्यों ने सात भङ्गों पर ही जोर दिया और सात भङ्ग ही क्यों होते हैं, कम या अधिक क्यों नहीं होते, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु भी दिए, किन्तु जैन दर्शन की मौलिक समस्या सात की नहीं, दो की है। बौद्ध दर्शन और वेदान्त में जिन चार कोटियों पर भार दिया जाता है वे भी सप्तभङ्गी की तरह ही हैं। उनमें भी मूलरूप में दो ही कोटियां हैं। तीसरी और चौथी कोटि में मौलिकता नहीं है। कोई यह कह सकता है कि दो भङ्गों को भी मुख्य क्यों माना जाय, एक ही भङ्ग मुख्य है। यह ठीक नहीं। वस्तु न तो सर्वथा सत् या विध्यात्मक हो सकती है और न सर्वथा असत् या निषेधात्मक। विधि और निषेध दोनों रूपों में वस्तु की पूर्णता रही हुई है। न तो विधि निषेध से बलवान् है और न निषेध विधि से शक्तिशाली है। दोनों समानरूप से वस्तु की यथार्थता के प्रति कारण हैं। वस्तु का पूर्णरूप देखने के लिए दोनों पक्षों की सत्ता मानना आवश्यक है। इसलिए पहले के दो भङ्ग मुख्य हैं। हां, यदि कोई ऐसा कथन हो जिसमें विधि और निषेध का समानरूप से प्रतिनिधित्व हो—दोनों में से किसी का भी निषेध न हो तो उसको मुख्य मानने में जैन दर्शन को कोई एतराज नहीं। वस्तु का विश्लेषण करने पर प्रथम दो भङ्ग अवश्य स्वीकृत करने पड़ते हैं।

१०. स्याद्वाद को मानने वाले केवलज्ञान की सत्ता में विश्वास नहीं रख सकते क्योंकि केवलज्ञान एकान्तरूप से पूर्ण होता है। उसकी उत्पत्ति के लिए बाद में किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

स्याद्वाद और केवलज्ञान में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। केवली वस्तु को जिस रूप से जानेगा, स्याद्वादी भी उसे उसी रूप से जानेगा। अन्तर यह है कि केवली जिस तत्त्व को साक्षात् जानेगा—प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्षरूप से जानेगा—श्रुतज्ञान के आधार से जानेगा। केवलज्ञान पूर्ण होता है इसका अर्थ यही है कि वह साक्षात् आत्मा से होता है और उस ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना नहीं है। पूर्णता का यह अर्थ नहीं कि वह एकान्तवादी हो गया। तत्त्व को तो वह सापेक्ष—अनेकान्तात्मक रूप में ही देखेगा। इतना ही नहीं, उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म रहते हैं। काल जैसे किसी भी पदार्थ में परिवर्तन करता है, वैसे ही केवलज्ञान में भी परिवर्तन करता है। जैन दर्शन केवलज्ञान को कूटस्थ नित्य नहीं मानता। किसी वस्तु की भूत, वर्तमान और अनागत—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जो अवस्था आज अनागत है वह कल वर्तमान होती है। जो आज वर्तमान है वह कल भूत में परिणत होती है। केवलज्ञान आज की तीन प्रकार की अवस्थाओं को आज की दृष्टि से जानता है। कल का जानना आज से भिन्न हो जाएगा क्यों कि आज जो वर्तमान है वह भूत होगा और आज जो अनागत है कल वह वर्तमान होगा। यह ठीक है कि केवली तीनों कालों को जानता है किन्तु जिस पर्याय को उसने कल भविष्यत् रूप से जाना था उसे आज वर्तमान रूप से जान सकता है। इस प्रकार काल-भेद से केवली के ज्ञान में भी भेद आता रहता है। वस्तु की अवस्था के परिवर्तन के साथ साथ ज्ञान की अवस्था भी बदलती रहती है। इसलिए केवलज्ञान भी कथञ्चित् अनित्य है और कथञ्चित् नित्य। स्याद्वाद और केवलज्ञान में विरोध की कोई सम्भावना नहीं।

भगवान् महावीर ने केवलज्ञान होने के पहले चित्रविचित्र पंख वाले एक बड़े पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखा। इस स्वप्न का विश्लेषण करने पर स्याद्वाद फलित हुआ। पुंस्कोकिल के चित्रविचित्र पंख अनेकान्तवाद के प्रतीक हैं। जिस प्रकार जैन दर्शन में वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की

गई उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में विभज्यवाद के नाम पर इसी प्रकार का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। किन्तु उचित मात्रा में पानी और हवा न मिलने के कारण वह मुरझा गया और अन्त में नष्ट हो गया। स्याद्वाद को समय समय पर उपयुक्त सामग्री मिलती रही जिस से वह आज दिन तक बराबर बढ़ता रहा। भेदाभेदवाद, सदसद्वाद, नित्यानित्यवाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, सदसत्कार्यवाद आदि जितने भी दार्शनिक वाद हैं, सब का आधार स्याद्वाद है। जैन दर्शन के आचार्यों ने इस सिद्धान्त की स्थापना का युक्तिसंगत प्रयत्न किया। आगमों में भी इसका काफी विकास दिखाई देता है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व है कि आज स्याद्वाद जैन दर्शन का पर्याय बन गया है। जैन दर्शन का अर्थ स्याद्वाद के रूप में लिया जाता है। जहां जैन दर्शन का नाम आता है, अन्य सिद्धान्त एक ओर रह जाते हैं और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद याद आजाता है। वास्तव में स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है। जैन आचार्यों के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार स्याद्वाद है।

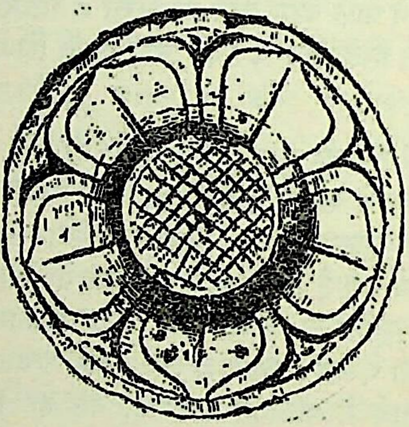

जैन साधना का इच्छायोग

कविरत्न श्रद्धेय श्री अमरचन्द्रजी महाराज

जैन धर्म की साधना इच्छा योग की साधना है—सहज योग की साधना है। जिस साधना में बलप्रयोग हो, वह साधना निर्जीव बन जाती है। साधना के महापथ पर अग्रसर होने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुरूप ही प्रगति कर सकता है। साधना की जाती है, लादी नहीं जा सकती।

संसार में जैन धर्म अहिंसा का, शान्ति का, प्रेम का और मैत्री का अमर सन्देश लेकर आया है। उस का विश्वास प्रेम में है, तलवार में नहीं। उसका धर्म आध्यात्मिकता में है, भौतिकता में नहीं। साधना का मौलिक आधार यहाँ भावना है, श्रद्धा है। आग्रह और बलात्कार को यहाँ प्रवेश नहीं है। जब साधक जाग उठे, तभी से उस का सवेरा समझा जाता है। सूर्यरश्मियों के संस्पर्श से कमल खिल उठते हैं। शिष्य के प्रसुप्त मानस को गुरु जाग्रत करता है, चलना उसका अपना काम है।

आगम वाङ्मय का गंभीरता से परिशीलन करनेवाले मनीषी इस तथ्य को भली भांति जानते हैं कि परम प्रभु महावीर प्रत्येक साधक को एक ही मूलमन्त्र देते हैं, कि 'जहा सुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह" देव वल्लभ मनुष्य! जिस में तुझे सुख हो, जिस में तुझे शान्ति हो, उसी साधना में तू रम जा। परन्तु एक शर्त जरूर है,—"जिस कल्याण-पथ पर चलने का तू निश्चय कर चुका है, उस पर चलने में विलम्ब मत कर, प्रमाद न कर।"

इस का तात्पर्य इतना ही है, कि जैन धर्म की साधना के मूल में किसी प्रकार का बलप्रयोग नहीं है, बलात्कार से यहाँ साधना नहीं कराई जाती है। साधक अपने आप में स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का आग्रह और दबाव नहीं है। भय और प्रलोभन को भी यहाँ अवकाश नहीं है। सहज भाव से जो हो सके, वही सच्ची साधना है। आत्म-कल्याण की भावना लेकर आनेवाले साधकों में वे भी थे जो अपने जीवन की सन्ध्या में लड़खड़ाते चल रहे थे वे भी थे, जो अपने जीवन के वसन्त में अठखेली कर चल रहे थे, और वे भी थे जो अपने गुलाबी जीवन में अभी प्रवेश ही कर पाए थे। किन्तु भगवान् ने सब को इच्छा-योग की ही देशना दी—"जहासुहं देवाणुप्पिया......।" जितना चल सकते हो चलो, बढ़ सकते हो, बढ़ो।

अतिमुक्तकुमार आया, तो कहा—आ तू भी चल। मेघकुमार आया, तो कहा—आ और चला चल। इन्द्रभूति आया और हरिकेशी आया—सब को बढ़े चलो की अमृतमयी प्रेरणा दी। चन्दन बाला आई तो उस का भी स्वागत। राह सब की एक है, परन्तु गति में सब के अन्तर है। कोई तीव्र गति से चला, कोई मन्द गति से। गति सब में हो। मन्दता और तीव्रता शक्ति पर आधारित है, यही इच्छायोग है, यही इच्छाधर्म है, यही सहजयोग की साधना है।

गाथापति आनन्द आया। कहा—भंते! श्रमण बन सकने की क्षमता मुझमें नहीं है। महाप्रभु ने अमृतमयी वाणी में कहा—"जहा सुहं......।" श्रमण न सही, श्रावक ही बनो। सम्राट् श्रेणिक आया। कहा—भंते! मैं श्रावक भी नहीं बन सकता। यहाँ पर भी वही इच्छायोग आया—"जहा सुहं......।" श्रावक नहीं बन सकते, तो सम्यग्दृष्टि ही बनो। जितनी शक्ति है, उतना ही चलो। महामेघ बरसता है और जितना पात्र होता है, वैसा और उतना ही जल प्राप्त हो जाता है।

जैन धर्म एक विशाल और विराट धर्म है। यह मनुष्य की आत्मा को साथ लेकर चलता है। यह किसी पर बलात्कार नहीं करता। साधना में मुख्य तत्त्व सहज भाव और अन्तःकरण की स्फूर्ति है। अपनी इच्छा से और स्वतः स्फूर्ति से जो धर्म किया जाता है, वस्तुतः वही सच्चा धर्म है, शेष धर्माभास मात्र होता है।

जैन धर्म में किसी भी साधक से यह नहीं पूछा जाता कि तू ने कितना किया है? वहाँ तो यही पूछा जाता है, कि तू ने कैसे किया है? सामायिक, पौषध या नवकारसी करते समय तू शुभ संकल्पों में, शुद्ध भावों के प्रवाह में बहता रहा है या नहीं? यदि तेरे अन्तर में शांति नहीं रही, तो वह क्रिया केवल क्लेश उत्पन्न करेगी—उससे धर्म नहीं होगा। क्योंकि "यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।"

जैन धर्म की साधना का दूसरा पहलू यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति का गोपन कभी न करे। जितनी शक्ति है, उस को छुपाने की चेष्टा मत करो। शक्ति का दुरुपयोग करना यदि पाप है, तो उसका उपयोग न करना भी पापों का पाप है—महापाप है। अपनी शक्ति के अनुरूप जप, तप और त्याग जितना कर सकते हो, अवश्य ही करो। एक आचार्य के शब्दों में हमें यह कहना ही होगा—

"जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं गणं॥"

"जिस सत्कर्म को तुम कर सकते हो, उसे अवश्य करो। जिस को करने की शक्ति न हो, उस पर श्रद्धा रखो, करने की भावना रखो। अपनी शक्ति के तोल के मोल को कभी न भूलो।"

आचारांग में साधकों को लक्ष्य कर के कहा गया है—"जाए सद्धाए निक्खंता तमेव अणुपालिया।" साधको! तुम साधना के जिस महामार्ग पर आ पहुँचे हो, अपनी इच्छा से,—उस का वफादारी के साथ पालन करो। श्रावक हो, तो श्रावक कर्म का और श्रमण हो, तो श्रमण धर्म का श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करो। साधना के पथ पर शून्य मन से कभी मत चलो। सदा मन को तेजस्वी रखो। स्फूर्ति और उत्साह रखो। कितना चले हो, इस की ओर ध्यान मत दो। देखना यह है कि कैसा चले हैं। चित्र-मुनि ने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को कहा था—"राजन्, तुम श्रमणत्व धारण नहीं कर सकते, कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम श्रावक भी नहीं बन सकते, न सही। परन्तु, इतना तो करो कि अनार्य कर्म मत करो। करना हो, तो आर्य कर्म ही करो।"

इस से बढ़कर इच्छायोग और क्या होगा? इस से अधिक सरल और सहज साधना और क्या होगी? जैन धर्म का यह इच्छा योग मानव समाज के कल्याण के लिए सदा द्वार खोले खड़ा है। इस में प्रवेश करने के लिए धन, वैभव और प्रभुत्व की आवश्यकता नहीं है। देश, जाति और कुल का बन्धन भी नहीं है। आवश्यकता है, केवल अपने सोए हुए मन को जगाने की, और अपनी शक्ति को तोल लेने की।

आज के अशान्त मानव को जब कभी शांति और सुख की जरूरत होगी, तो उसे इस सहज धर्म-इच्छायोग की साधना करनी ही होगी।

विश्वशान्ति का एक मात्र उपाय—

भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद

श्री नरेन्द्रकुमार भानावत, 'साहित्यरत्न'

मनुष्य की अन्तिम मंज़िल की अगर कोई कसौटी है तो वह है शांति, चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र में हम इसे मुक्ति कह कर पुकारें, चाहे दार्शनिक वेश में हम उसे वीतराग भावना कहें। इसी शांति की शोध में मनुष्य युग युग से जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहा है। लेकिन आज २० वीं शताब्दि में शांति का क्षेत्र व्यापक एवं जटिल हो गया है। आज व्यक्तिगत शांति के महत्त्व से भी अधिक महत्त्व समष्टिगत शांति (विश्वशांति) का है। इस सामूहिक शांति की प्राप्ति के लिए मानव ने अनेक साधन ढूंढ निकाले। विभिन्न वादों के विवादों का प्रतिवाद भी उसने किया। मार्क्सवाद की विचार-धारा में भी वह बहा। लेकिन अबतक उसे शांति नहीं मिल पाई है। इसका मूल कारण है आर्थिक वैषम्य। आज के विज्ञान से लदे भौतिकवादी युग में रोटी-रोजी-शिक्षा-दीक्षा के जितने भी साधन हैं उन पर मानवसमाज के इने गिने व्यक्तियों के उस वर्ग ने कब्जा कर लिया जो कि निर्दयी एवं स्वार्थी बनकर अपने धन के नशे में मदमाता है। दूसरी ओर अधिकांश ऐसे व्यक्तियों का वर्ग है जो गरीबी में पल रहा है। धन और श्रम के इस भयानक अन्तर और विरोध ने मानव के बीच में दीवाल खड़ी कर दी है। इसी विषमता का चित्रण प्रगतिशील कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की इन पंक्तियों में देखिये—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर—जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच जब व्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

एक ओर ऐसा वर्ग है जो पेट और पीठ एक किये दाने दाने के लिए तरसता है तो दूसरी ओर चांदी की चटनी से वेष्ठित ऐसे पकवान हैं जिन्हें खाकर लोग बीमार हो जाते हैं। एक ओर रहने के लिए—सर्दी, गर्मी, पावस से अपनी रक्षा करने के लिए, टूटा छप्पर तक नसीब नहीं तो दूसरी ओर वे बड़ी बड़ी अट्टालिकाएं हैं जिनमें भूत बोला करते हैं। इसी भेद-भाव को मिटाने के लिए नवीन नवीन विचारों को लेकर विचारकों ने नये नये वादों की सृष्टि की है। लेकिन जितने भी वाद वर्तमान में प्रचलित हैं सभी अधूरे हैं। किसी में रक्तपात है तो किसी में स्वार्थभाव। किसी में अव्यवहारिकता है तो किसी में कोरा खयालीपुलाव। लेकिन एक ऐसा साधन और हल (वाद) है जिस को आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व क्रांतदर्शी भगवान् महावीर ने मनोमन्थन कर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा प्रतिपादित किया था। वह है "सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जउं" सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। इस पावन एवं पुनीत भावना का जन्म और विकास अगर मानव-हृदय में हो सकता है तो वह भगवान् महावीर के अनोखे एवं व्यावहारिक अपरिग्रह वाद के सिद्धान्त के बल पर।

अपरिग्रह का वर्णन जगत् के सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है। लेकिन जैनधर्म में इसे

विशेष महत्त्व देकर इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने कहा है "मूर्च्छापरिग्रहः"—अर्थात्—परिग्रह का अर्थ मूर्च्छाभाव—सांसारिक भौतिक पदार्थों में ममत्व या निजत्व की भावना। किसी भी पदार्थ के प्रति ममत्व की भावना नहीं रखना, यह अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह करना जहाँ एक ओर समाज के प्रति अन्याय है, वहाँ दूसरी ओर अपनी आत्मा का पतन है। अर्थात् तेरे मेरे के भेदभाव को छोड़कर, संग्रह प्रवृत्ति को त्यागकर, अपरिग्रहवृत्ति का अवलम्बन लेकर आज विश्व में जो द्वन्द्व और तनाव है उसे शांतिमय तरीके से कम करने की प्रेरणा हमें अपरिग्रहवाद से लेनी है। जिनके पास पैसा नहीं है वे अगर यह समझते हों कि हम अपरिग्रही हैं तो वे भूल करते हैं। अपरिग्रही भावना का सम्बन्ध बाह्य धनदौलत से न होकर हृदय की भावना से है। अतः धनवानों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हम अपरिग्रही बन ही नहीं सकते। भगवान् महावीर की तो वाणी है कि अगर एक भिखारी के पास केवल तन ढकने को फटा-पुराना चिथड़ा है लेकिन अगर उस चिथड़े के प्रति भी उसका मूर्च्छाभाव है तो वह भिखारी उस पूंजीपति से ज्यादा परिग्रही है जिसके पास करोड़ों की दौलत है पर उसे वह अपनी नहीं समझता और जो मूर्च्छाभाव से मुक्त है। अपरिग्रही भावना के विकसित होने पर ही धनपति का क्रूर हृदय भी करुणा से पिघल जाता है। दान और दया की वाहिनी कल कल करती हुई बह उठती है, जिसके प्रेम और अभेदमूलक व्यवहार भरे नीर में अवगाहन कर लड़खड़ाती मानवता निर्मल एवं निडर हो शांति का सांस लेने लगती है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के बारह व्रत बतलाये हैं। उनपर अगर सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि उसके मूल में अधिकतम आर्थिक समता स्थापित करने की भावना निहित है, गृहस्थी को मर्यादित और नियमित बनाने की ध्येय है। मर्यादित जीवन में कभी अतिरेक और अतिक्रमण के अभाव में न खुद में अशांति होती है और न दूसरों को अशान्त करने की भावना प्रबल हो सकती है।

बारह व्रत

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत
(२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत।
(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत
(४) स्थूल अब्रह्मचर्य विरमण व्रत।
(५) स्थूल परिग्रह विरमण व्रत
(६) दिग्व्रत।
(७) देश व्रत
(८) अनर्थदण्ड विरमण व्रत।
(९) सामायिक व्रत
(१०) देशावशिक व्रत।
(११) पौषध व्रत
(१२) अतिथि संविभाग व्रत।

उपर्युक्त बारह व्रतों में प्रथम के पांच व्रतों में 'स्थूल' शब्द इसलिये रख गया है कि गृहस्थी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सर्वथा व सर्व प्रकारेण त्याग नहीं कर सकता। अतः उनका स्थूल दृष्टि से त्याग करने का विधान है। तात्त्विक दृष्टि से इनका महत्त्व मनुष्य को मर्यादित बनाने और उसे संग्रहशील न बनाने में है। प्रथम चार व्रतों में हमें जहां तक हो सके हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मचर्य का त्याग रखना चाहिए। अपरिग्रह व्रत इसलिए है कि मनुष्य आवश्यकता से अधिक संग्रह न करे। अधिक संग्रह की प्रवृत्ति ने ही आज मानव समुदाय को अशान्त बना रखा है। इसलिए भगवान् महावीर का कथन है कि प्रत्येक गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं को निर्धारित कर यह नियम करे कि मुझे इससे अधिक द्रव्य नहीं रखना। अगर अधिक द्रव्य बढ जाय तो उसे जनता जनार्दन की सेवा में लगा देना है। ऐसा करने से दूसरे गरीब लोग उसका उपयोग कर जीवन को गति दे पायेंगे। इससे लोभवृत्ति कम होगी। द्रव्यप्राप्ति की होड़हड़प वाली नीति में होने वाले पापकर्म रुकेंगे। इस व्रत में केवल द्रव्य की ही मर्यादा नहीं होती, चलअचल सभी प्रकार

की सम्पत्ति का आवश्यकतानुसार परिमाण करना पड़ता है। हमारे सामने आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों का आदर्श विद्यमान है जिन्होंने इन व्रतों को ग्रहण कर शांति की स्थापना की। इस परिग्रहपरिमाण की पुष्टि के लिए ही छटा, सातवां और आठवां व्रत हैं। अर्थात् गृहस्थ यह प्रतिज्ञा करे कि मुझे प्रत्येक दिशा में अमुक से अधिक सीमा में व्यापार के लिए नहीं जाना है। इससे विषम भोगों की, वैलासिक जीवन की, प्रतिस्पर्द्धा की लालसा न बढ़ेगी। प्रतिदिन मनुष्य के उपयोग में आनेवाली प्रत्येक वस्तु की भी गृहस्थ मर्यादा करे। ऐसे पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—

(१) भोग्य—जो वस्तु एक बार उपयोग में आने के बाद दूसरी बार न भोगी जाय—
जैसे—अन्न, जल, विलेपन आदि।

(२) उपभोग्य—जो वस्तु एक से अधिक बार उपयोग में आती हो—
जैसे—मकान, कपड़ा, गहना आदि।

इन सारी चीज़ों की प्रातः उठकर गृहस्थ मर्यादा करे कि अमुक वस्तु मुझे दिन में कितनी बार और कितने परिमाण में काम में लानी है।

अन्तिम चार व्रतों का विधान भी आध्यात्मिक बल उत्पन्न करने एवं अपरिग्रहवृत्ति बढ़ाने के निमित्त है। बहु आरंभी एवं परिग्रही नरक का भागीदार होता है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "बह्वारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" अतः हमें परिग्रह का त्याग कर अपरिग्रह की ओर झुकना चाहिये क्योंकि: "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" यह मनुष्य आयु प्रदान करता है।

आज दुनिया दो शक्तियों (Power-blocks) में बंटी हुई है।

(१) पूंजीवादी दल—जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा है।

(२) साम्यवादी दल—जिसका नेतृत्व रूस कर रहा है।

दोनों अपने अपने स्वार्थ के लिये लड़ रहे हैं और विश्व के तमाम राष्ट्रों को युद्धाग्नि में घसीटने का प्रयत्न कर रहे हैं। अगर एक सच्चे गृहस्थ की तरह ये राष्ट्र भी भगवान् महावीर के सिद्धान्तों—परिग्रह-परिमाणव्रत—को ग्रहण कर आवश्यकता से अधिक संग्रहीत वस्तु का दान उन राष्ट्रों को कर दें जिनको इनकी जरूरत हो तो मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि विश्व में शांति स्थापित हो जायगी। पिछले दो महायुद्ध हुए जिनका मूल कारण भी यही परिग्रहवृत्ति थी। महावीर का देश भारत आज नये स्वर में उसी-सिद्धान्त का प्रचार सर्वोदय, पंचशील, शांतिमय सहअस्तित्व (Peaceful co-existence) के रूप में कर रहा है। अगर प्रत्येक राष्ट्र छटे व्रत के अनुसार प्रत्येक दिशा में अपनी अपनी मर्यादानुसार भूमि का परिमाण करले तो यह युद्धलिप्सा मिट जाय, यह एटमबाजी समाप्त हो जाय, ये प्रलय के बादल प्रणय की बूँदों में बदल जायँ। गांधीजी के सुशिष्य विनोबाजी इसी भावना से प्रेरित होकर भूदान आन्दोलन कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, कूपदान, साधनदान और श्रमदान का सूत्र पाल कर अपरिग्रह की भावना का विकास कर रहे हैं और उन्हें काफी सफलता मिली है तथा मिलती जा रही है। प्रगतिशील कवि 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है—

"शांति नहीं तब तक जब तक,
सुख-भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो॥"

यह भावना उदित करने में न तो हिंसक मार्क्सवाद ही सहायक हो सकता है और न कोरा आदर्शवाद। अगर इस प्रकार का वातावरण कोई बना सकता है तो वह महावीर का अपरिग्रहवाद जिसका प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक रूप श्रमण-संघ के जीते जागते त्यागमूर्ति, वीतरागी तथा क्रियाशील सेवाभावी तपस्वियों में देखा जा सकता है। इस अस्तेय एवं अपरिग्रह के द्वारा जो शांति स्थापित होगी वह तलवार के बल पर स्थापित होने वाली न तो अकबर महान् की शांति होगी, न विश्वविजयी सिकन्दर जैसी—लेकिन वह शांति तो ऐसी शांति होगी जिसके लिए "दिनकर" लिखते हैं—

"ऐसी शांति राज्य करती है,
तन पर नहीं हृदय पर।
नर के ऊंचे विश्वासों पर,
श्रद्धा भक्ति प्रणय पर॥"

अंग्रेजी में एक लेखक ने लिखा है कि "The less I have the more I am" अर्थात् हमारे पास जितना कम परिग्रह होगा, उतने ही हम महान् होंगे। सचमुच धनदौलत के पाने से, दीनदुःखी को लूटने से कोई महान् नहीं बनता। महान् बनता है त्याग से, अपरिग्रह और अस्तेय से। अगर हम सोने को भी छिपा छिपा कर, ममत्व भाव रखकर, धरती में गाड़ रखेंगे तो वह मिट्टी बन जायगा। तालाब के पानी की तरह हम अगर धनतादौलत को इकट्ठी कर उसका यथोचित उपयोग न करेंगे तो वह सड़ जायगी। शेक्सपियर ने इसी बात को फूल के रूपक में कितना अच्छा कहा है।

"Sweetest things turn sourest by their deeds,
Lilies that faster smell far worse than weeds."

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम "Eat, drink and be merry" जैसे चार्वाक-सिद्धान्त को छोड़कर "Live and let live" को आचरण में लाकर अपरिग्रहवाद का सम्बल लेकर विश्वमार्ग के पथिक बनें, फिर सचमुच शांति हमारे पैर चूमेगी।

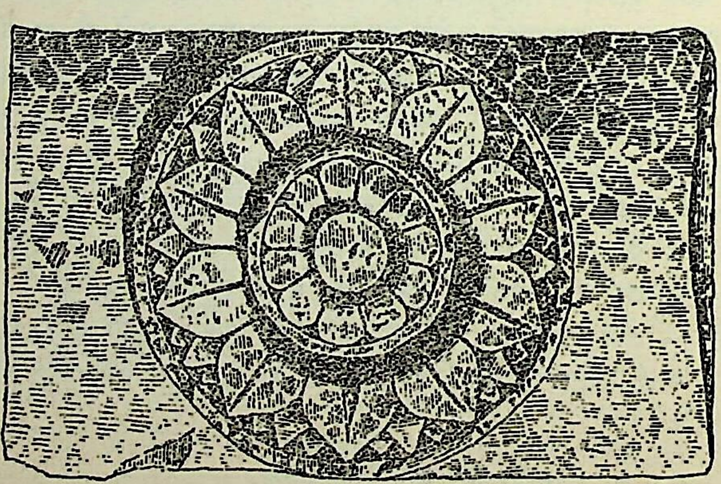

संजय का विक्षेपवाद और स्याद्वाद

पं. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा इतः पूर्व डॉ. हर्मन जैकोबी आदि ने स्याद्वाद या सप्तभंग की उत्पत्ति को संजयवेलट्ठिपुत्त के मत से बताने का प्रयत्न किया है। राहुलजी ने दर्शनदिग्दर्शन में लिखा है कि—'आधुनिक जैनदर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंगवाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इनकार करते हुए उस इनकार को चार प्रकार से कहा है—

१ 'है ?' नहीं कह सकता। २ 'नहीं है ?' नहीं कह सकता। ३ 'है भी और नहीं भी ?' नहीं कह सकता। ४ 'न है और न नहीं है ?' नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

१ 'है ?' हो सकता है (स्यादस्ति)। २ 'नहीं है ?' नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)। ३ 'है भी और नहीं भी ?' है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (—वक्तव्य) हैं ? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४ स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

६ 'स्यान्नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्यात् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्यादस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है। दोनों के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर स्यात्सदसत् भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।........इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (स्यात्) की स्थापना न करना जो कि संजय का वाद था, उसीको संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उस के चतुर्भङ्गी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।' दर्शनदिग्दर्शन पृ. ४९६

राहुलजी ने उक्त सन्दर्भ में सप्तभंगी और स्याद्वाद के रहस्य को न समझकर केवल शब्दसाम्य देख कर एक नये मत की सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोर से जज यह पूछे कि—'क्या तुमने यह कार्य किया है ?' चोर कहे कि 'इससे आपको क्या ?' या 'मैं जानता होऊँ तो कहूँ ?' फिर जज अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दे कि 'चोर ने यह कार्य किया है', तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जज का फैसला चोरके बयान से निकला है।

[1]संजयवेलट्ठिपुत्त के दर्शन का विवेचन स्वयं राहुलजी ने (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९१) इन शब्दों में किया है—'यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको

---

[1] इसके मत का विस्तृत वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञ फलसुत्त में है। यह विक्षेपवादी था। 'अमराविक्षेपवाद' रूप से भी इस का मत प्रसिद्ध था।

बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है; परलोक न है और न नहीं है।'

संजय के परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्ति के सम्बन्ध के ये विचार शत प्रतिशत अज्ञान या अनिश्चयवाद के हैं। वह स्पष्ट कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" वह संशयालु नहीं, घोर अनिश्चयवादी था। इसलिये उसका दर्शन राहुलजी के शब्दों में "मानव की सहजबुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओं की पुष्टि ही करना चाहता है।" वह आज्ञानिक था।

बुद्ध और संजय

म० बुद्ध ने '१ लोक नित्य है, २ अनित्य है, ३ नित्य-अनित्य है, ४ न नित्य न अनित्य है, ५ लोक अन्तवान् है, ६ नहीं है, ७ है नहीं है, ८ न है न नहीं है, ९ मरने के बाद तथागत होते हैं, १० नहीं होते, ११ होते हैं नहीं होते, १२ न होते हैं न नहीं होते, १३ जीव शरीर से भिन्न है, १४ जीव शरीर से भिन्न नहीं है।' (माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओं को अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२३) में इनकी संख्या दस है। इनमें आदि के दो प्रश्नों में तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया है। 'इनके अव्याकृत होने का कारण बुद्ध ने बताया है कि—इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिये उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाण के लिये आवश्यक है।' तात्पर्य यह कि बुद्ध की दृष्टि में इनका जानना मुमुक्षु के लिये आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दों में बुद्ध भी संजय की तरह इनके बारे में कुछ कहकर मानव की सहज बुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओं की सृष्टि ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता और अनिश्चय को साफ साफ शब्दों में कह देता है कि 'यदि मैं जानता होऊं तो बताऊं,' तब बुद्ध अपने न जानने का उल्लेख न करके उस रहस्य को शिष्यों के लिये अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। आजतक यह प्रश्न तार्किकों के सामने ज्यों का त्यों है कि 'बुद्ध की अव्याकृतता और संजय के अनिश्चयवाद में क्या अंतर है, खासकर चित्त की निर्णयभूमि में। सिवाय इसके कि संजय फक्कड़ की तरह पल्ला झाड़कर खरी खरी बात कह देता है और बुद्ध कुशल बड़े आदमियों की शालीनता का निर्वाह करते हैं।'

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समय के वातावरण में आत्मा, लोक, परलोक और मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में सत् असत् उभय और अनुभय या अवक्तव्य ये चार कोटियाँ गूँजती थीं। जिस प्रकार आज का राजनैतिक प्रश्न 'मजदूर और मालिक, शोष्य और शोषक के' द्वन्द्व की छाया में ही सामने आता है उसी प्रकार उस समय के आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थविषयक प्रश्न चतुष्कोटि में ही पूछे जाते थे। वेद और उपनिषद् में इस चतुष्कोटि के दर्शन बराबर होते हैं। 'यह विश्व सत् से हुआ या असत् से ? यह सत् है या असत् या उभय या अनिर्वचनीय' ये प्रश्न जब सहस्रों वर्ष से प्रचलित रहे हैं तब राहुलजी का स्याद्वाद के विषय में यह फतवा दे देना कि—'संजय के प्रश्नों के शब्दों से या उसकी चतुर्भङ्गी को तोड़ मरोड़ कर सप्तभंगी बनी'—कहाँ तक उचित है, इसका वे स्वयं विचार करें।

बुद्धके समकालीन जो अन्य पाँच तीर्थिक थे, उनमें निगंठ नाथपुत्त वर्धमान महावीर की सर्वज्ञ और सर्व दर्शी के रूप में प्रसिद्धी थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समय की चर्चा का विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक अवश्य थे और किसी भी प्रश्न को संजय की तरह अनिश्चय या विक्षेप कोटि में डालने वाले नहीं थे, और न शिष्यों की सहज जिज्ञासा को अनुपयोगिता के भयप्रद चक्कर में डुबा

देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि—संघ के पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर लेते तब तक उन में बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघ के भिक्षुओं के सामने अपनी बौद्धिक दीनता के कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचार पर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्यों को पर्देबन्द पद्मिनियों की तरह जगत् के स्वरूप विचार की बाह्य हवा से अपरिचित नहीं रखना चाहते थे। किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मनन शक्ति को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार की ओर लगावे। न उन्हें बुद्ध की तरह यह भय-व्याप्त था कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में 'हाँ' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियों की तरह लोग नित्यत्व की ओर झुक जायँगे और 'नहीं है' कहने से उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाक की तरह नास्तिकता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः इस प्रश्न को अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। महावीर चाहते थे कि मौजूदा तर्कों और संशयों का समाधान वस्तुस्थिति के आधार से होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूप का अनुभव कर बताया कि जगत् का प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है और प्रतिक्षण परिणामी है। हमारा ज्ञानलव (दृष्टि) उसे एक एक अंश से जानकर भी अपने में पूर्णता का मिथ्याभिमान कर बैठता है। अतः हमें सावधानी से वस्तु के विराट् अनेकान्तात्मक स्वरूप का विचार करना चाहिये। अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व का विचार करने पर न तो शाश्वतवाद का भय है और न उच्छेदवाद का। पर्याय की दृष्टि से आत्मा उच्छिन्न होकर भी अपनी अनाद्यनन्त धारा की दृष्टि से अविच्छिन्न है, शाश्वत है। इसी दृष्टि से हम लोक के शाश्वत अशाश्वत आदि प्रश्नों को भी देखें।

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है—द्रव्यों की संख्या की दृष्टि से। इसमें जितने सत् अनादि से हैं उनमें से एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये 'सत्' की वृद्धि ही हो सकती है, न एक सत् दूसरे में विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब इसके अंगभूत एक भी द्रव्य का लोप हो जाय या सब समाप्त हो जायँ। निर्वाण अवस्था में भी आत्मा की निरास्रव चित्सन्तति अपने शुद्ध रूप में बराबर चालू रहती है, दीपक की तरह बुझ नहीं जाती यानी समूल समाप्त नहीं हो जाती।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है द्रव्यों के प्रतिक्षणभावी परिणमनों की दृष्टि से। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने उत्पाद विनाश और ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव के कारण सदृश या विसदृश परिणमन करता रहता है। कोई भी पर्याय दो क्षण नहीं ठहरती। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी अनेक सदृश परिणमनों का अवलोकन मात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोगवियोगों की दृष्टि से विचार कीजिए तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है ? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करने पर लोक शाश्वत भी है (द्रव्य दृष्टि से) और अशाश्वत भी है (पर्याय दृष्टि से)। दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः प्रयुक्त करने पर और उन दोनों पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जगत् उभयरूप भी प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है ? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है ? हाँ, लोक का पूर्ण रूप वचनों के अगोचर है, अवक्तव्य है। कोई ऐसा शब्द नहीं जो एक साथ लोक के शाश्वत और अशाश्वत दोनों स्वरूपों को तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मों को युगपत् कह सके। अतः शब्द के असामर्थ्य के कारण जगत् का पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपण में आप देखेंगे कि वस्तु का पूर्णरूप वचनों के अगोचर है, अवक्तव्य है। चौथा उत्तर वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् न कह सकने की दृष्टि से है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता हैं द्रव्य दृष्टि से, और अशाश्वत कहा जाता है पर्याय दृष्टि से। इस तरह मूलतः चौथा, पहला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपता का प्रश्न तो प्रथम और द्वितीय का संयोगरूप है। अब आप विचारें कि जब संजय ने लोक के शाश्वत और अशाश्वत आदि के बारे में स्पष्ट कहा है कि 'यदि मैं जानता होऊं तो बताऊँ' और बुद्ध ने कह दिया कि 'इनके चक्कर में न पड़ो, इनका जानना उपयोगी नहीं है, ये अव्याकृत हैं' तब महावीर ने उन प्रश्नों का वस्तुस्थिति के अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्यों की जिज्ञासा का समाधान कर उनको बौद्धिक दीनता से त्राण दिया। इन प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१ क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्य दृष्टि से शाश्वत है। इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नहीं हो सकता, न किसी असत् से नये सत् का उत्पाद ही संभव है।
२ क्या लोक अशाश्वत है?	,,	,,	हां, लोक अपने प्रतिक्षणभावी परिणमनों की दृष्टि से अशाश्वत है। कोई भी पर्याय दो क्षण टहरने वाली नहीं है।
३ क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, लोक दोनों दृष्टियों से क्रमशः विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
४ क्या लोक दोनों रूप नहीं है, अनुभय है?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ	अव्याकृत	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोक के परिपूर्ण स्वरूप को एक साथ समग्रभाव से कह सके, अतः पूर्ण रूप से वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है।

---

१. बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों का पूरा समाधान तथा उनके आगमिक अवतरणों के लिये देखो जैनतर्कवार्तिक की प्रस्तावना पृ० १४–२४।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नों का समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर उनसे पिंड छुड़ा लेते हैं; महावीर उन्हीं का वास्तविक और युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इस पर भी राहुलजी यह कहने का साहस करते हैं कि 'संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर संजय के वाद को ही जैनियों ने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'भारत में रही परतंत्रता को परतंत्रता विधायक अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों ने उसे अपरतंत्रता (स्वतंत्रता) के रूप में अपना लिया; क्योंकि अपरतंत्रता में भी 'परतन्त्रता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही।' या 'हिंसा को ही बुद्ध और महावीर ने उसके अनुयायियों के लुप्त होने पर 'अहिंसा' के रूप से अपना लिया है; क्योंकि अहिंसा में भी 'हिंसा' ये दो अक्षर हैं ही।' जितना परतन्त्रता का अपरतन्त्रता से और हिंसा का अहिंसा से भेद है, उतना ही संजय के अनिश्चय या अज्ञानवाद से स्याद्वाद का अन्तर है। ये तो तीन और छह की तरह परस्पर विमुख हैं। स्याद्वाद संजय के अज्ञान और अनिश्चय का ही तो उच्छेद करता है, साथ ही साथ तत्त्व में जो विपर्यय और संशय हैं उनका भी समूल नाश कर देता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृ. ४८४ में) अनिश्चिततावादियों की सूची में संजय के साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं तथा (पृ० ४९१ में) संजय को अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्ति के शब्दों में 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कह सकते?

'स्यात् का' अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं।

'स्यात्' शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय, अनिश्चय और संभावना का भ्रम होता है। पर यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसंग की जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करना होती है वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग भाषा की विशिष्ट शैली का एक रूप रहा है। जैसा कि मज्झिमनिकाय के महाराहुलोवाद सुत्त के अवतरण[1] से विदित होता है। इसमें तेजोधातु के दोनों सुनिश्चित भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है न कि उन भेदों का अनिश्चय संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित अपेक्षा से दृढ़ तो करता ही है साथ ही साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में हैं, पर वे इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता हैं।

राहुलजी ने दर्शनदिग्दर्शन में सप्तभंगी के पाँचवें, छठे और सातवें भंग को जिस अशोभन तरीके से तोड़ा मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और साहस है। जब वे दर्शन को व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शन की समीक्षा उसके ठीक स्वरूप को समझकर ही करनी चाहिये।

वे अवक्तव्य नामक धर्म को, जो कि 'अस्ति' आदि के साथ स्वतन्त्र भाव से द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके उसका संजय के 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और संजय के घोर अनिश्चयवाद को ही अनेकान्तवाद कह डालते हैं! किमाश्चर्यमतः परम्!!

---

[1] "कतमा च राहुल आपो धातु? आपो धातु सिया अज्झतिका सिया बाहिरा॥" —मज्झिमनिकाय

श्री आत्मारामजी तथा ईसाई मिशनरी

प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री

पुर्तगाल निवासी साहसी नाविक वास्को-दे-गामा ने आशा-अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए भारत पहुंचने का नया समुद्री मार्ग खोज निकाला और उस का जहाज़ २२ मई १४६८ ई० को मालाबार तट पर कालीकट के पास आकर ठहरा। वहां के राजा ज़मोरिन ने उस का साथियों सहित स्वागत किया और उन्हें वहां रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार युरोपियन भारत में आने लगे। ये ईसाई धर्म के मानने वाले थे। धीरे धीरे दूसरी युरोपीय जातियां भी भारत में आईं और उन्हों ने अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की। परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हों ने अपनी राजनैतिक सत्ता भी स्थापित की और कई नगरों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों में धर्म की कट्टरता अधिक थी। वे प्रजा को ज़बर्दस्ती ईसाई बना लेना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यद्यपि युरोपीय लोगों का १५०० ई० के लगभग नए मार्ग से भारत में आगमन शुरु हो गया था और वे अपने धर्म प्रचार के काम को भी उत्साहपूर्वक करते थे, तथापि १८०० ई० तक भारत में इस धर्म का प्रचार अधिक न हो सका[१]। जनता इन पर विश्वास न रखती थी। यह नया धर्म यहां के आदर्शों के अनुकूल भी न था। अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनैतिक सत्ता १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और दूसरी जातियां इस क्षेत्र में हार गईं। प्रारम्भ में कम्पनी सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करने से संकोच करती थी। उसे अपने व्यापारिक हितों की चिन्ता अधिक थी। कम्पनी सरकार ने कुछ ऐसे नियम भी बनाए थे जिन के अनुसार कोई कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न ही बाहर से कोई धर्मप्रचार के लिए आ सकता था।

अंग्रेजों की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में सम्राट् जहांगीर की इज़ाज़त से १६१३ ई० में खुली। धीरे धीरे उन्हों ने मुग़ल सम्राटों को प्रसन्न कर व्यापार के लिए कई सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। किन्तु शुरु में अंग्रेज व्यापारियों का सदाचार और व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ था। धोखा और बेईमानी इन की व्यापारिक नीति के मुख्य सिद्धान्त थे। उन के व्यवहार को देख कर भारतवासी ईसाई धर्म को भी बुरा समझने लगे। एक लेखक ने लिखा है, "भारतवासी ईसाई धर्म को बहुत गिरी हुई चीज़ ख्याल करते थे। सूरत में लोगों के मुंह से इस प्रकार के वाक्य प्रायः सुनने में आते थे कि 'ईसाई धर्म शैतान का धर्म है, ईसाई बहुत शराब पीते हैं, ईसाई बहुत बदमाशी करते हैं, और बहुत मारपीट करते हैं, दूसरों को बहुत गालियां देते हैं।' टेरी साहिब ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारतवासी स्वयं बड़े सच्चे और ईमानदार थे और अपने तमाम वादों को पूरा करने में पक्के थे। किन्तु यदि कोई भारतीय व्यापारी अपने माल की कुछ कीमत बताता था और उस कीमत से बहुत कम ले लेने के लिये उस से कहा जाता था तो वह प्रायः उत्तर देता था—'क्या तुम मुझे ईसाई समझते हो, जो मैं तुम्हें धोखा देता फिरूंगा[२] ?"

---

[१] इतिहास में तो इस बात के भी प्रमाण विद्यमान हैं कि ईसाई प्रचारक ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में ही दक्षिण भारत में आए थे।

[२] पं. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १८-१६.

संभव है इस प्रकार के अपयश और अपमान से भयभीत हो कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने धर्म के विषय में मौन रहने की नीति हितकर समझी हो। किन्तु १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इस नीति में परिवर्तन हो गया।

मार्क्विस वेल्सली भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त होने के बाद १७९८ ई० में कलकत्ते पहुंचा। वह महान् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के स्वर्ण स्वप्न ले कर भारत में आया था। वह इंग्लैंड में ही इस विषय पर मनन व अध्ययन करता रहा था तथा प्रधान मन्त्री पिट से इस सम्बन्ध में कई दिन तक विचारविनिमय भी होता रहा था। शुद्ध राजनैतिक उद्देश्य के अतिरिक्त उस की यह भी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत में ज़ोरों से ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया जाए। "उस ने आते ही ईसाई धर्म के अनुसार अंग्रेज़ी इलाके के अन्दर रविवार की छुट्टी का मनाया जाना जारी किया। उस दिन समाचार पत्रों का छपना भी कानूनन् बन्द कर दिया गया। कलकत्ते के फोर्ट विलियम में उस ने एक कालेज की स्थापना की। इस कालेज का एक उद्देश्य विदेशी सरकार के लिए सरकारी नौकर तय्यार करना था। वेल्सली के जीवनचरित्र का रचयिता आर. आर. पीयर्स साफ़ लिखता है कि यह कालेज भारतवासियों में ईसाई धर्म को फैलाने का भी मुख्य साधन था। इस के द्वारा भारत की सात भिन्न भिन्न भाषाओं में इंजील का अनुवाद करा कर उस का भारतवासियों में प्रचार कराया गया।...उस की इस ईसाई धर्मनिष्ठा के लिए अंग्रेज़ इतिहास लेखक प्रायः उस की प्रशंसा करते हैं[1]।"

इस प्रकार अब ईस्ट इंडिया कम्पनी साम्राज्य विस्तार के साथ साथ ईसाई धर्म का प्रचार भी उत्साहपूर्वक करने लगी। १८१३ ई० के चार्टर में यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी भारत में धर्म और सदाचार की शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझती है तथा इस लोककल्याण के कार्य के लिए लोग कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों में जा सकेंगे। ईसाई धर्म की अनेक पुस्तकों का विविध भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया गया। भिन्न भिन्न विषयों पर ईसाई मिशनरी सोसाइटियों ने पाठ्यपुस्तकें भी तय्यार करवाईं। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए पानी की तरह रुपया बहाया जाने लगा। जगह जगह प्रारंभिक पाठशालाएं, अनाथालय, औषधालय आदि खोले गए और भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों से पूरा पूरा लाभ उठाया गया। धार्मिक पुस्तकें मुफ्त बांटी गईं। भारत के धर्मों पर अनेक आक्षेप कर उन्हें हेय बताया गया। फलस्वरूप बहुत से भारतीय ईसाई बन गए। १८५७ ई० में भारत में जो प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्रता युद्ध प्रारंभ हुआ, उस का एक मुख्य कारण भारतवासियों को ईसाई बनाने की आकांक्षा और भारतीय सैनिकों में ईसाई मत का प्रचार था। इस अशान्ति से पहले कई अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ समझते थे कि भारतीयों के ईसाई हो जाने में ही अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थिरता का आधार है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मिस्टर मैङ्गल्स ने विप्लव से कुछ समय पहले १८५७ ई० में ही पार्लिमैंट में कहा था, "परमात्मा ने भारत का विशाल साम्राज्य इङ्गलिस्तान को इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे। हम में से हरेक को पूरी शक्ति इस काम में लगा देनी चाहिये ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य में देश भर के अन्दर कहीं पर भी किसी कारण ज़रा भी ढील न होने पाये[2]।"

प्रायः उसी समय एक अन्य अंग्रेज़ विद्वान् कैनेडी ने लिखा था, "हम पर कुछ भी आपत्तियां क्यों

---

[1] पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ ४३५.

[2] पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेज़ी राज—पृष्ठ १३७०.

न आएं, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य कायम है, तब तक हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश में ईसाई मत को फैलाना है। जब तक रासकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दु व इस्लाम धर्मों की निन्दा न करने लगे तब हमें पूरी सत्ता, अधिकार व शक्ति से लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये '।"

सन् १८०६ ई० में वेलोर में सैनिकों का जो विद्रोह हुआ था, उस का कारण भी मद्रास के तत्कालीन गवर्नर विलियम बेंटिङ्क का सेना में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न था। उस ने दूब्रॉए नामक एक फ्रांसीसी पादरी को आठ हज़ार रुपए नकद दे कर भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर एक पुस्तक लिखवाई जिस में अनेक झूठी बातों का संग्रह था। सरकारी खर्च पर इंगलैंड में इस पुस्तक का खूब प्रचार कराया गया। जब वह पादरी फ्रांस वापिस गया, तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे एक विशेष आजीवन पैंशन दी।[२] ईसाई प्रचारकों को सब सुविधाएं दी जाती थीं। सरकारी छापखाने उन का काम मुफ्त कर देते थे। सैनिकों को यह आज्ञा दी गई कि वे वरदी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाएं, दाढ़िया मुंडवा दें और सब एक तरह की कटी हुई मूंछें रखें। बेंटिङ्क १८३२ ई० में गवर्नर जनरल बना। उस समय यह कानून बना कि जो भारतवासी ईसाई हो जाएंगे, उन का पैतृक संपत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहेगा। लार्ड कैनिंग ने लाखों रुपए ईसाई मत प्रचारकों में बांटे थे। सरकारी खज़ाने से बिशपों को बड़े बड़े वेतन मिलते और उच्च अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों पर ईसाई होने के लिए अनुचित दबाव डालते। पंजाब पर अधिकार हो जाने के बाद यह कोशिश की गई कि पंजाब में शिक्षा का सारा काम ईसाई पादरियों को सौंप दिया जाए। सेना में ईसाई धर्मप्रचार विशेष उत्साह से किया जाता था। धर्म परिवर्तन करने वाले सैनिकों को तत्काल उच्च पद दे दिया जाता था।

१८५७ ई० के अशांत वातावरण के बाद अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञ इस बात का विशेष अनुभव करने लगे कि भारतवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता के रहेसहे भाव भी समाप्त कर दिए जाएँ ताकि अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव सुदृढ़ रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो उपाय सोचे गए—भारत में ईसाई मत का प्रचार और अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वचन दिया था कि अंग्रेज़ी सरकार धर्म के विषय में पक्षपात या हस्तक्षेप न करेगी, तथापि एक वर्ष के बाद ही इंगलैंड के प्रधानमन्त्री ने पादरियों के एक शिष्टमंडल से कहा, "समस्त भारत में पूरब से पच्छिम तक और उत्तर से दक्खिन तक ईसाई मत के फैलाने में जहां तक हो सके मदद देना न केवल हमारा कर्त्तव्य है, बल्कि इसी में हमारा लाभ है[३]।"

ईसाई पादरी भारत के भोलेभाले अनपढ़ लोगों में किस चालाकी से अपने धर्म का प्रचार किया करते थे, इसका कुछ वर्णन स्वामी विवेकानन्द जी ने सर्वधर्म परिषद् चिकागो के अपने भाषण में किया था। उन्हों ने कहा, "मैं जब बालक था, तब मुझे याद है कि भारतवर्ष में एक ईसाई किसी भीड़ में अपने धर्म का उपदेश कर रहा था। दूसरी मीठी बातों के साथ उस ने अपने श्रोताओं से पूछा, 'यदि मैं तुम्हारे देवता की मूर्ति को लाठी मारूं तो वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है।' इस पर एक श्रोता ने उलट कर उस से प्रश्न किया, 'यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दूं, तो वह मेरा क्या कर सकता है?' ईसाई

---

१. पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेजी राज :—पृष्ठ १३७१.

२. Encyclopaedia Britannica vol. viii, page 624, 11th edition.

३. पं० सुंदरलालजी : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १६६०.

उपदेशक ने उत्तर दिया, 'जब तुम मरोगे, तब तुम्हें दंड मिलेगा।' तब उस आदमी ने प्रत्युत्तर दिया, 'ऐसे ही जब तुम मरोगे तब तुम्हें भी मेरे देवता दंड देंगे'[१]।

उपर्युक्त वर्णन उस पृष्ठ भूमि का है जिसे सन्मुख रखते हुए हमारे १६ वीं शताब्दी के सुधारकों को कार्य करना था। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे नररत्न प्राप्त हुए जिन्हों ने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर हमारी राष्ट्रीय भावना को पुष्ट किया। श्री आत्माराम जी ईसाई मिशनरियों की युक्तियों, प्रचार के ढंगों और उनके उद्देश्यों से सुपरिचित थे। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि "कितने ही ईसाई जन प्रमाण और युक्ति के ज्ञान के अभाव में और अपने पंथ के चलाने वाले ईसा मसीह के अनुराग से अपने ही स्वीकृत धर्म को सत्य मानते हैं और कितने ही आर्यावर्त के रहने वालों को जिन की बुद्धि सत्य धर्म में पूरी निपुण नहीं है, अपने मत का उपदेश करते हैं।[२]" श्री आत्माराम जी ने उन कारणों का विश्लेषण किया था जिन के आधार पर भारतीय युवक धड़ाधड़ ईसाई बन रहे थे। उन्हों ने लिखा है, "निर्धन धन के लोभ से, कंवारे व रंडे विवाह के लोभ से, कुछ खानपान संबंधी स्वतन्त्रता के लोभ से, कुछ हिन्दुओं के देवों व उन की मूर्तियों की अटपटी रीति भांति देखने से ईसाई होते जाते हैं।"[३] एक और स्थान पर वे इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "युरोपियन लोकों ने हिन्दुस्थान में ईसाई मत का उपदेश करना शुरु किया हैं। उपदेश से, धन से, स्त्री देने से, लोगों को अपने मत में बेपटिज़्म देके मिलाते है।"[४].

भारतीय युवकों को ईसाई होने से बचाने के लिए हमारे तत्कालीन सुधारकों ने बड़े साहस व कौशल से काम किया। श्री आत्माराम जी भी स्वयं इस कार्यक्षेत्र में काम करते रहे। गुजराती भाषा में एक पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिस के द्वारा जैन धर्म के विषय में भ्रांतियां फैलाई गई थीं। आप ने उस के उत्तर में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी जिस का नाम था 'ईसाई मत समीक्षा'। आप ने ब्रह्मसमाज और आर्य समाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य को भी स्वीकार किया है। आप ने लिखा है, "ईसा के मत में बहुत अंग्रेज़ी फारसी के पढने वाले लोक हैं। वे कदाग्रह से लोकों से मत की बाबत झगड़ते फिरते हैं। परन्तु ब्रह्मसमाजियों ने और दयानन्द जी ने कितनेक हिन्दुओं को ईसाई होने से रोका है[५]।"

श्री आत्माराम जी अंग्रेज़ी पढ़ेलिखे युवकों से प्रायः कहा करते थे, "होश में आओ। तुम कौन हो और किधर जा रहे हो? तुम्हारे पूर्वजों का चरित्र तुम्हारे लिए प्रकाशमान दीपक के समान है। उन के महान् कार्यों को पढ़ो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्व ने पश्चिम को अपने प्रकाश से किस प्रकार लाभ पहुंचाया है। तुम्हें पूर्व की ओर देखना चाहिए जहां से सूर्य देवता अपना प्रकाश डालता है, न कि पश्चिम की और जिधर वह अस्त होता है। ईसाई मिशनरियों की चिकनीचुपड़ी बातों में मत आओ। वे तुम्हारे धर्म को अपमानित कर रहे हैं और तुम्हारी सभ्यता का परिहास कर रहे हैं। उन के मिथ्या प्रचार से बचने के लिए धर्म उपदेश सुनो और अपनी धार्मिक पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ो।[६]"

---

१. The World's Parliament of Religions, vol. ii, p. 975.

२. ईसाई मत समीक्षा—पृ. २.

३. ईसाई मत समीक्षा—पृ. २-३.

४. अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ. २६७.

५. अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ. २६८.

६. ला० बाबूराम : आत्मचरित्र (उर्दू) पृ. ११२.

अहमदाबाद के एक सेठ दलपत भाई की एक धनिक वैष्णव से मित्रता थी। उस का बड़ा लड़का ग्रेजुएट था और पश्चिमीय सभ्यता के कुसंस्कारों से प्रभावित हो कर पादरियों की चाल में आ गया था। कुसंगति ने उस में शराब व मांस की बुरी आदत भी डाल दी थी। उसे आचार से पतित देख कर माता-पिता बहुत व्यथित हुए। उन्हों ने सेठ दलपत भाई को अपनी व्यथा सुनाई। सेठजी ने श्री आत्माराम जी के विषय में उन्हें बताया और कहा कि किसी प्रकार लड़के को इन के पास ले जाओ। वे अपने पुत्र को आप के पास ले आए। कुछ मिनटों के उपदेश ने ही ऐसा चमत्कारी प्रभाव डाला कि वह लड़का कुसंगति से हमेशा के लिए बच गया।[1]

वि. सं. १९४२ के सूरत के चतुर्मास के बाद अहमदाबाद से सेठ दलपतभाई का श्री आत्मारामजी के नाम एक पत्र आया था। उस पत्र में सेठ जी ने लिखा था कि कुछ कुलीन और अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवक पादरियों के बहकाने से ईसाई होने वाले हैं। आप शीघ्र अहमदाबाद पधारने की कृपा करें। पत्र मिलते ही आप बड़ौदा से विहार कर अहमदाबाद पहुंचे और ईसाई मिशनरियों की चालों पर एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। आप ने उस व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि ईसाई मत में जितनी खूबियां हैं, वे सब जैन धर्म से ली गई हैं। आप ने बाइबल के कई उद्धरण जनता के सामने रखे जिन का सब पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप ने उन्हें बताया कि पादरी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण भारतीय धार्मिक साहित्य को समझने में असमर्थ हैं और कपोलकल्पना कर हंसी उड़ाते हैं। बाइबल में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो संभव नहीं। जो लोग शीशे के मकानों में रहते है, उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फैंकने चाहिएँ। समझदार लोगों को ईसाई बनने से पहले अपने साहित्य और इतिहास की उन के साहित्य व इतिहास से तुलना अवश्य करनी चाहिए, तब उन्हें सचाई का ज्ञान होगा। आप के सत् परामर्श का बहुत प्रभाव पड़ा और कई नवयुवक ईसाई होने से बच गए।

इस प्रकार श्री आत्माराम जी ने इस बात का अनथक परिश्रम किया कि भारतीय युवक विवेक खोकर ईसाई मिशनरियों के झूठे जाल में न फंसें। यदि उन्हें अध्ययन द्वारा ईसाई धर्म अच्छा प्रतीत होता है तो उन का कर्त्तव्य है कि वे पहले अपने धर्मशास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लें ताकि ठीक ठीक तुलना हो सके और वे सचाई के ज्ञान से अनभिज्ञ न रहें। श्री आत्माराम जी ने तत्कालीन अन्य सुधारकों के समान भारतीय धर्म, दर्शन तथा इतिहास पर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का डट कर सामना किया और सच्ची भारतीय सभ्यता व संस्कृति का चित्र विश्व के सामने रखा।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ईसाई मिशनरियों ने समाजसेवा के बहाने भारतीय लोगों को ईसाई बनाने का काम फिर भी जारी रखा। महात्मा गांधी भी इन के कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हों ने एक बार लिखा था—"विदेशी मिशनरियों के विषय में मेरे विचार किसी से छिपे नहीं हैं। मैंने कई बार मिशनरियों के सामने अपने विचार प्रगट किए हैं। यदि विदेशी मिशनरी शिक्षा और चिकित्सासंबन्धी सहायता जैसे मानवीय सहानुभूति के कामों तक अपनी प्रवृत्तियों को सीमित करने के स्थान पर उन्हें दूसरों का धर्म छुड़ाने के लिए काम में लाएंगे तो मैं दृढ़तापूर्वक उन्हें कहूंगा कि वे चले जाएँ। हरेक जाति अपने धर्म को दूसरे धर्म के समान अच्छा समझती है। भारत की जनता के धर्म निश्चयपूर्वक उन के लिये पर्याप्त हैं। भारत को एक धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्म की श्रेष्ठता की आवश्यकता नहीं।"[2] इसी लेख में उन्हों ने आगे जा कर लिखा था, "धर्म एक व्यक्तिगत विषय

---

[1] आत्मचरित्र (उर्दू) पृ. ११३.

[2] Young India, April 23, 1921

है। उस का संबन्ध हृदय से है। क्योंकि एक डाक्टर ने जो अपने आप को ईसाई कहता है, मेरे किसी रोग की चिकित्सा कर दी तो उस का अर्थ यह क्यों हो कि डाक्टर मुझे अपने प्रभाव के अधीन देख कर मुझ से धर्म परिवर्तन की आशा रखे? क्या रोगी का स्वस्थ हो जाना और उस के परिणाम से सन्तुष्ट होना ही काफ़ी नहीं? फिर यदि मैं ईसाइयों के किसी स्कूल में पढ़ता हूं तो मुझपर ईसाइयत की शिक्षा क्यों ठोसी जाए? मैं धर्म परिवर्तन के विरुद्ध नहीं। किन्तु उस के वर्तमान ढंग के विरुद्ध हूं। आजतक धर्मपरिवर्तन एक धन्धा बना रहा है। मुझे याद है कि मैंने एक मिशनरी की रिपोर्ट पढ़ी थी। उस में उस ने बताया था कि एक व्यक्ति का धर्म बदलने पर कितने रुपए का खर्च होता है। यह रिपोर्ट पेश करने के बाद उस ने 'भावी फसल' के लिए बजट पेश किया था।"

खेद की बात तो यह है कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी इस संबन्ध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। २२ और २३ एप्रिल १९५३ ई० को केन्द्रीय लोक सभा में जो बहस हुई और भारत के गृहमन्त्री ने जो विज्ञप्ति दी, उस से यह सुस्पष्ट है कि ईसाई मिशनरी अब भी पुरानी चालों से काम ले कर लोगों को बहका रहे हैं। इस बहस से कुछ दिन पहले हमारे प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने आसाम की आदिम जातियों के प्रदेश में भ्रमण किया था। उन्हें पता चला कि विदेशी ईसाई मिशनरी समाज सेवा की आड़ ले कर सरकार के विरुद्ध विषैला राजनैतिक प्रचार कर रहे हैं। उन्हों ने इसकी निन्दा की। उस के बाद तत्कालीन गृहमंत्री डॉक्टर कैलाशनाथ कटजू ने कठोर शब्दों में उन्हीं प्रवृत्तियों का वर्णन किया। यही दशा उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बिहार के कुछ प्रदेशों में है। विदेशी ईसाई मिशनरी उन स्थानों में स्कूल और औषधालय खोलने का नाम ले कर जाते हैं। लेकिन इस परदे के पीछे वे दूसरे धर्मों पर कीचड़ उछालते हैं। और वहां के निवासियों का धर्म परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टि से नयी दलबन्दी का प्रयत्न भी करते रहते हैं। केन्द्रीय सरकार का ध्यान इस ओर गया है और आशा है कि राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा श्री आत्मारामजी द्वारा प्रारंभ किए गए कार्य का शीघ्र ही मधुर परिणाम होगा तथा समाज सेवा के कामों को अपने धर्मप्रचार की सीढ़ी न बनाया जाएगा।

(लेखक के श्री आत्मारामजी के एक खोजपूर्ण अप्रकाशित जीवनचरित्र से)

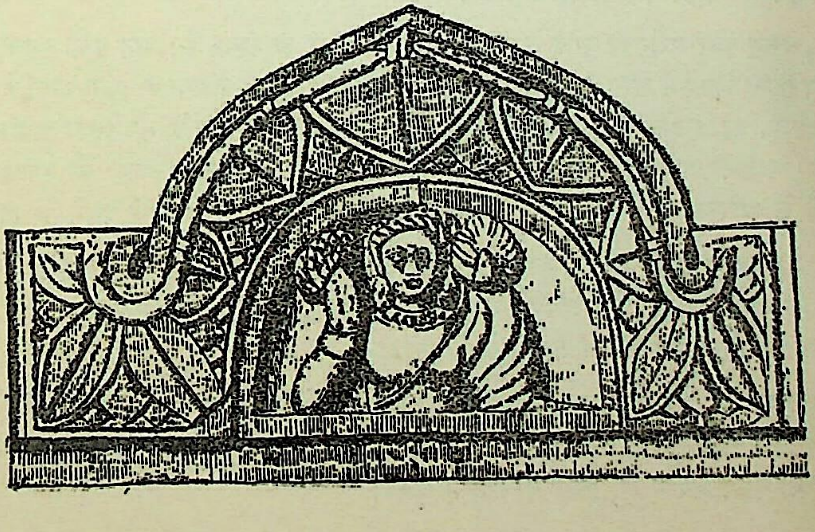

जैन दृष्टि से साधना मार्ग

श्री ऋषभदासजी

आत्मा पर आवरण के कारण शरीर के प्रति आसक्ति आ जाती है और मनुष्य शारीरिक सुखों के लिए प्रयत्न करने लगता है, शारीरिक सुखों के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता है। वह भूल जाता है कि सभी जीव समान हैं और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं है। आत्मा में अनंत सुख भरे हुए हैं, यह वह आवरणों के कारण भूल जाता है। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना साधना का उद्देश्य है।

सबकी भलाई—श्रेय ही सुख का कारण है। दूसरे को दुःख देकर श्रेय नहीं होता। इससे दुःख ही मिलता है। पर जब आत्मा के आवरण दूर हो जाते हैं तब आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनती है, आत्मचेतना प्रकट होनेपर शारीरिक सुखदुःख का असर नहीं होता।

कर्मों के मुख्य आवरण हट जाने पर भी शरीर को शेष आयु भोगनी पड़ती है। जबतक शरीर रहता है, नाम से पुकारा जाता है और वेदना भी होती है। लेकिन इन आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का आवरण हट जाने से उनका असर नहीं होता। इसी कारण से फिर से बंध नहीं हो सकता। मानव जीवन का ध्येय है सबके प्रति समभाव रखकर सबके श्रेय का प्रयत्न करना, केवल अपना ही नहीं, सबका उदय करने में लग जाना। यह पूर्ण विकास है और इससे एक व्यक्ति सिद्ध हो जाता है। वह व्यक्ति से समष्टि में लीन हो जाता है। वह जो कर्म करता है उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। वह सदा सचेत रहता है इसलिए बंध का कारण नहीं बनता। उसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का पूरा विकास हो जाता है।

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों का ज्ञानियों ने इस प्रकार वर्णन किया है : ज्ञान और दर्शन को ढकने वाले, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मों के आवरण से आत्मस्वरूप को भूलकर मनुष्य अज्ञानी बनता है। सत्य की पहिचान नहीं कर सकता। वह यह भी नहीं जानता कि उसे अपने श्रेय के लिए क्या करना चाहिए, और जान भी लेता है तो वह वैसा आचरण नहीं कर पाता। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना और नये कर्म आने न देना यह साधना है।

मन, वचन और शरीर को बुराई से रोकना साधक के लिए आवश्यक है। मन कभी खाली नहीं रहता, वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है। साधक दूसरे के अनिष्ट के चिंतन का त्याग करता है। जो उसका अहित करता है, वह उसकी भी भलाई ही चाहता है। वह जानता है कि कोई भी उसका अहित अज्ञानवश ही करता है। अज्ञानी पर तो दया ही करना चाहिए। वह तो अपना अहित करनेवाले को उपकारी मानता है क्योंकि कर्मों के आवरण या बंध के कटने में उसे मदद मिली है। यह समत्व दृष्टि आने पर ही होता है।

यदि मन स्वार्थ या अन्य किसी कारण से दूसरे का अहित सोचता है तो वह उसके निरोध का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि बुराई प्रथम मन पर हावी होती है, फिर उससे वैसे बुरे काम होते हैं। इसलिए सावधान होकर मन को बुरे विषयों से मोड़ता है।

विचारों की तरह वह वाणी का भी संयम रखता है। दूसरे का अकल्याण या अश्रेय हो, ऐसी भाषा वह नहीं बोलता। उसकी भाषा सत्य, परिमित, हितकर व मीठी होती है। उसका प्रयत्न रहता है कि उसके बोलने से किसी का अश्रेय न हो, किसी का मन न दुःखे।

विचार और वाणी की तरह शरीर से भी कोई ऐसी बात नहीं होने देता कि जिससे किसी का अकल्याण या अहित हो। उसकी प्रत्येक क्रिया अत्यंत सावधानीपूर्वक होती है। उसके द्वारा जो भी काम होते हैं उनसे दूसरों का अनिष्ट तो होता ही नहीं, भलाई ही सधती है।

इस तरह वह अपने आपको सत्प्रवृत्ति में लगाता है, पर उसकी किसी भी शुभ क्रिया में आसक्ति नहीं होती। सहज शुभ प्रवृत्ति रहती है। इन शुभ प्रवृत्तियों को जैन धर्म में 'दश धर्म' कहा जाता है।

क्षमादि दश धर्म

जिनके साथ अच्छे संबंध हों, उनके साथ अच्छा वर्ताव करने में खास अड़चन नहीं आती। पर जब कोई कष्ट दे, अपमान करे, या क्रोध के कारण उपस्थित करे तब भी अपनी वृत्तियों को उत्तेजित न होने दे और आत्मभाव रखे, यह क्षमा है। कोई चाहे जितने चिढाने के कारण पैदा करे तो भी अपने को उत्तेजित न होने दे, यह उत्तम क्षमा है। अपने पर हमने कितना काबू पाया है, इसकी कसौटी क्षमा ही है।

क्षमा धर्म के पालन में अहंकार बाधक बनता है। संसार के झगड़ों में अधिकांश अहंकार के कारण पैदा होते हैं। अपनी बात के लिए हजारों नहीं पर लाखों के प्राण गए और बड़े बड़े युद्ध हुए। इसलिए साधक बाहरी और भीतरी अहंकार को त्याग कर नम्रता धारण करे, मृदुता का व्यवहार करे। मनुष्य अहंकार करे भी तो किस बात का? देह संसार की शक्ति के सामने अत्यंत तुच्छ है। शक्ति, बुद्धि, विद्या, धन सभी इतने अल्प और क्षणिक हैं कि कोई भी विवेकी पुरुष उनका अहंकार कर नहीं सकता। यही कारण है कि सच्चे ज्ञानी सदा नम्र होते हैं।

किंतु सरलता के अभाव में नम्रता दंभ भी बन सकती है। इसलिए मन, वचन और काया के सभी व्यवहारों में एकता लाने के लिए आर्जव या सरलता आवश्यक है। जैसे विचार हों वैसे कहे और करे, यही साधना में उपयोगी है।

कोई अपने को चाहे जितनी सत्प्रवृत्ति में लगावे पर जबतक सत्प्रवृत्ति में भी आसक्ति रहेगी तबतक साधक विकास नहीं कर सकता। सत्प्रवृत्तियां भी अनासक्ति के अभाव में बोझरूप या बंधन का कारण बन जाती हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है अच्छे काम करो और उन्हें भूल जाओ। साधक अनासक्त, फलाशा-रहित और निर्लेप वृत्तिवाला बने, इसेही शौच कहा गया है।

साधना में तबतक प्रगति नहीं हो सकती जबतक साधना का हेतु स्पष्ट नहीं। साधना के पीछे दृष्टि तो सत्य की खोज है। सत्य बोलने से भी वह अधिक व्यापक है। सत्य में सच बोलना तो विदित है ही पर बोलने में भी वह सत्य, हितकर और इष्ट हो। जब कभी एक का सत्य दूसरे से भिन्न प्रतीत होता हो तो सोचना चाहिए कि यह भेद क्यों है। दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करना चाहिए। समग्र दृष्टिकोण से यदि विचार न किया जाय तो हमारे समझे हुए सत्य के अपूर्ण रहने की संभावना रहती है, इसलिए सत्य का खोजी प्रयत्नशील और उदार होगा। उसमें धीरज होगी। वह शीघ्रता में न तो निर्णय करेगा और न अपना निर्णय दूसरे पर लादने का प्रयत्न ही करेगा। सत्य दूसरों की आजादी में दखल नहीं देता। भिन्न भिन्न विचारधाराओं के बावजूद भी दूसरों के प्रति आत्मीयता और प्रेमभाव रह सकता है। साधक अपने विचारों के प्रति दृढता रखकर भी दूसरों के प्रति उदारता रख सकता है।

पर इस तरह के सत्य का पालन बिना संयम के असंभव है। इसीलिए साधक के लिए संयम आवश्यक माना गया है। अपने किसी भी प्रकार के आचरण से दूसरों को कष्ट न पहुंचे। इंद्रियों और मन के अधीन-

बन शारीरिक सुखों के पीछे लगने से आत्मविकास असंभव है। इसीलिए साधक के जीवन में संयम आवश्यक है।

संयम का पालन करनेवाले के जीवन में त्याग का बहुत महत्त्व है। जो अपने जीवन को विकसित करना चाहे उसके लिए संकल्प–व्रत–नियम का महत्त्व है। बुरी बातों का त्याग और अच्छी बातों का संकल्प या दृढ निश्चय बहुत मददगार होता है।

परंतु त्याग बिना संतोष के संभव नहीं। इसलिए अकिंचन वृत्ति को अपनाना आवश्यक है। वह परिग्रह की मर्यादा के बिना आ नहीं सकती। सभी संत कहते हैं कि लोभ सभी गुणों का नाश करनेवाला होता है। विकास अकिंचन वृत्ति के बिना हो नहीं सकता।

परिग्रह मर्यादा या अकिंचन वृत्ति आत्मचर्या में लीन बने बिना संभव नहीं। आत्मा में मगन होने पर आनंद पाने की कला हासिल हो सकती है। तभी बाह्य परिग्रह का त्याग संभव है। क्योंकि बिना आनंद के या सुख के कोई रह नहीं सकता। प्रश्न है यह सुख भौतिक–बाह्य–वस्तुओं से प्राप्त करे या आत्मा से। अनुभवियों का कहना है कि भौतिक सुखों से आत्मिक सुख श्रेष्ठतर और अधिक टिकनेवाले होता है, इसलिए उसे प्राप्त करने का प्रयत्न हो। आत्मरमण ही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

जैन साधना में तप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर को कस कर अपने अधीन बनाना और चित्त को निर्मल बनाना तप का उद्देश्य है। तप का अर्थ शरीरकष्ट नहीं। वही तप साधना में सहायक होता है जिससे शरीर और मन की प्रसन्नता बढ़े। तप के दो भेद हैं: बाह्य और अभ्यंतर। अनशन, ऊनोदरता, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश बाह्य में तथा प्रायश्चित्त, विनय, सेवा परिचर्या, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान अभ्यंतर तप में हैं।

जब साधक अप्रमत्त बनकर निर्मल चित्त बनाकर साधना करता है तो वह अपने साध्य तक पहुंचता है। साधक यथाशक्ति प्रयत्न करे यही जैन दर्शन की अपेक्षा है।

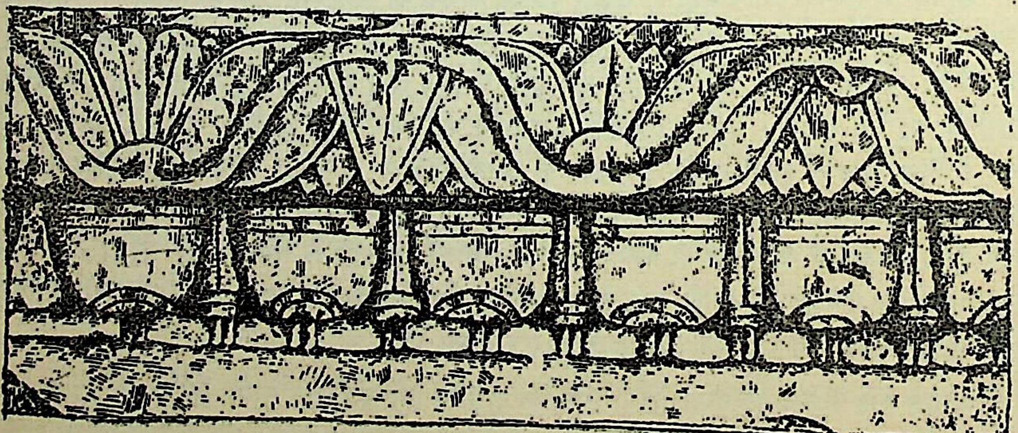

धर्मोत्तर टिप्पण के कर्ता मल्लवादी

श्री० दलसुखभाई मालवणिया

न्यायबिन्दु आचार्य धर्मकीर्ति की कृति है। उसकी टीका आचार्य धर्मोत्तर ने लिखी है। अत एव उस टीका का नाम भी धर्मोत्तर हो गया है। इस धर्मोत्तर अर्थात् न्यायबिन्दु टीका के अनेक टिप्पण हैं। उनमें एक आचार्य मल्लवादी की कृति है, यह बात पाटन और जैसलमेर के भण्डारों की सूची को देखने से स्पष्ट होती है। प्रोफेसर चिरबासुकी को न्यायबिन्दु टीका के टिप्पण की एक अधूरी प्रति मिली। उसके आधार पर उन्हों ने 'न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी' के नाम से एक पुस्तक रशिया की प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थमाला में प्रकाशित की और वह आचार्य मल्लवादी कृत है ऐसा भी उन्हों ने उक्त ग्रन्थ में लिखा। किन्तु बाद में उनको मालूम हुआ कि यह कृति मल्लवादी की नहीं है। अत एव उन्होंने अपने भ्रम का निराकरण अपने 'बुद्धिस्ट लोजिक' नामक ग्रन्थ में कर दिया। आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से मल्लवादीकृत टिप्पण की प्रतिलिपि मेरे पास आ गई है और उसे उक्त मुद्रित टिप्पण के साथ मिलान करने पर यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि वे दोनों भिन्न हैं।

प्रश्न यह है कि मल्लवादी आचार्य कब हुए और कहाँ हुए? जैन परंपरा में एक मल्लवादी नयचक्र के कर्ता रूप से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं मल्लवादी को डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इस टिप्पण का कर्ता माना है। किन्तु नयचक्र के कर्ता मल्लवादी का परंपरामान्य समय वीर संवत् ८८४ है। उस का मेल धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के समय से न होने के कारण डा० विद्याभूषण ने उक्त संवत् को वीरसंवत् न मानकर उसके शक या विक्रम संवत् होने की संभावना की है। तदनुसार मल्लवादी का समय ई० ८२७ या ई० ७६२ माना है।[1]

वस्तुतः देखा जाय तो आचार्य मल्लवादी जिन्हों ने नयचक्र लिखा है, इस टिप्पण के कर्ता हैं ही नहीं। डा० विद्याभूषण ने नयचक्र ग्रन्थ देखा नहीं था। अन्यथा वे किसी दूसरे ही मल्लवादी की कल्पना करते। नयचक्र के कर्ता मल्लवादी का समय नहीं बदलते। नयचक्र में प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का तो उल्लेख है, किन्तु उनके बाद के धर्मकीर्ति आदि किसी दार्शनिक का नाम तो क्या, उनके मत का भी निर्देश नहीं है। वैदिक दार्शनिक कुमारिल का मत भी उसमें निर्दिष्ट नहीं है। भर्तृहरि का उल्लेख है किन्तु ये भर्तृहरि इत्सिंगनिर्दिष्ट भर्तृहरि नहीं, अपि तु दूसरे ही हैं जिनका समय कुमारिल (ई० ५५० आसपास) से भी पहले है[2]। अत एव नयचक्र के कर्ता मल्लवादी से भिन्न ही मल्लवादी न्यायबिन्दु टीका के टिप्पणकार हैं।

डा० अल्टेकर ने एपिग्राफिका इण्डिका में[3] गुजरात के राष्ट्रकूट राजा कर्क सुवर्ण का एक ताम्रपत्र संपादित किया है। उनका अनुमान है कि इस ताम्रपत्र में निर्दिष्ट मल्लवादी न्यायबिन्दुटीका के टिप्पणकार हैं। ताम्रपत्र शक संवत् ७४३ में लिखा गया है और उसमें मूलसंघ सेन आम्नाय में होनेवाले अपराजितसूरि का उल्लेख है। अपराजितसूरि की गुरुपरंपरा उस ताम्रपत्र में दी हुई है। अपराजित के गुरु सुमति थे और सुमति के गुरु मल्लवादी थे। अपराजित यदि शक संवत् ७४३ अर्थात् ई. ८२१ में विद्यमान थे तो उनके

---

[1] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ. १९५.

[2] श्लोकवार्तिक तात्पर्य टीका की प्रस्तावना, पृ. १७.

[3] वॉल्यूम २१, पृ. १३३.

दादागुरु मल्लवादी के समय के साथ धर्मोत्तर[1] के समय (ई. ७००) का कोई विरोध नहीं हो सकता। अतएव नयचक्रकार मल्लवादी के समय को बदलने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसी दूसरे मल्लवादी ने यह टिप्पण बनाया हो, यह संभव है।

किन्तु तत्त्वसंग्रह में सुमति नामक एक दिगम्बर आचार्य के मत का खण्डन किया गया है[2]। यदि वे ही सुमति प्रस्तुत मल्लवादी के शिष्य हैं तो तत्त्वसंग्रह के समय के साथ संगति करना आवश्यक है। तत्त्वसंग्रह के रचयिता शान्तरक्षित का समय ई० ७०५–७६२ के बीच डॉ० भट्टाचार्य ने स्थिर किया है। उक्त ताम्रपट्ट में सुमति शिष्य अपराजित की विद्यमानता ८२१ ई० में सिद्ध होती है। डॉ० भट्टाचार्य ने सुमति का समय ई० ७२० के आसपास होने का अनुमान किया है।[3] किन्तु ऐसा मानने पर गुरु और शिष्य के बीच १०० वर्ष का अन्तर हो जाता है। अतएव सुमति का समय ई० ७२० के आसपास माना जाय तो पूर्वोक्त असंगति होती नहीं। शान्तरक्षित ने तिब्बत जाने के पूर्व तत्त्वसंग्रह की रचना की है। अतएव वह ई० ७४६ के पहले रचा गया होगा। क्यों कि शान्तरक्षित ने तिब्बत जा कर ई. ७४६ में नये विहार की स्थापना की है ऐसा उल्लेख मिलता है। अतएव हम मान सकते हैं कि तत्त्वसंग्रह ई० ७४५ के आसपास रचा गया होगा। सुमति को भी यदि शान्तरक्षित का समवयस्क मान लें तो उनकी भी उत्तरावधि ७६२ ई० तक जा सकती है। ऐसी स्थिति में उनके शिष्य अपराजित की सत्ता ई० ८२१ में असंभव नहीं रहती। इन सब परिस्थिति का विचार करके सुमति के गुरु मल्लवादी की सत्ता ई० ७००–७५० के बीच मानी जा सकता है।

न्यायबिन्दु के मल्लवादीकृत टिप्पण में धर्मोत्तर के पूर्ववर्ती टीकाकारों के मतों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु धर्मोत्तर के बाद के उसके अनुटीकाकारों के मतों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे कई अनुटीकाकारों के मतों का उल्लेख अन्य टिप्पणों में है जब कि मल्लवादी के टिप्पण में नहीं है। यह भी इस बात को सिद्ध करता है कि धर्मोत्तर और मल्लवादी के बीच समय का अधिक अन्तर नहीं है। अत एव मल्लवादी का समय ई० ७००–७५० की बीच माना जा सकता है। इसमें धर्मोत्तर और शान्तरक्षित दोनों के समय के साथ संगति है।

---

१. धर्मोत्तर के समय के विषय में देखो मेरी धर्मोत्तर प्रदीप की प्रस्तावना, पृ. ५३.

२. तत्त्वसंग्रह टीका पृ. ३७६, ३८२, ३८३, ४८६, ४६६.

३. तत्त्वसंग्रह, प्रस्तावना, पृ. ६२.

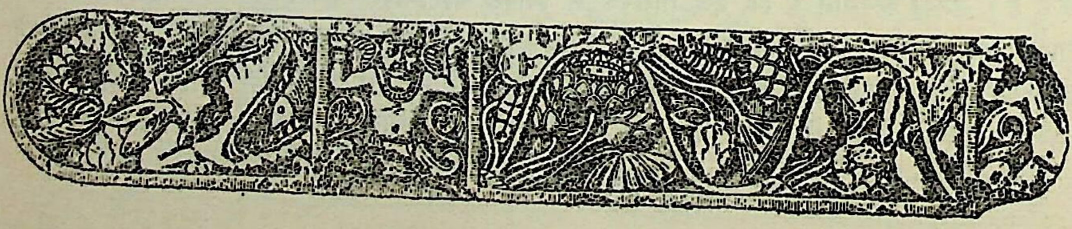

प्राचीन भारत में देश की अेकता

डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल, एम. ए., पीएच्. डी., डी॰ लिट्

भौगोलिक एकता राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है और राष्ट्रीय एकता उसका आवश्यक फल है। पुराणों के भुवन कोश नामक अध्यायों में सप्तद्वीपी भूगोल का वर्णन मिलता है। मेरु को केन्द्र में मानकर उसके उत्तर में उत्तर कुरु, पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में भारतवर्ष और पश्चिम में केतुमाल इन चार वर्षों की कल्पना की गई है। इन चारों का सम्मिलित नाम जम्बूद्वीप था। अर्वाचीन भूगोल के अनुसार मेरु पामीर के ऊंचे पठार की संज्ञा है जो पृथ्वी रूपी कमल के केन्द्र में कर्णिका के समान स्थित है।[1] उत्तर कुरु साइबेरिया और भद्राश्व चीन है। केतुमाल पामीर के पश्चिम में फैला हुआ वह प्रदेश है जिसमें चक्षु-वक्षु या वर्तमान औक्सस नदी बहती है। मेरु के दक्षिण की ओर स्थित हिमालय और दक्षिणी समुद्र के बीच का भूप्रदेश पुराणों के अनुसार एक भौगोलिक इकाई मानी जाती थी। उसी की संज्ञा भारतवर्ष थी। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, भुवनकोश के लेखक भारतवर्ष की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओं के विषय में निश्चित और स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उत्तर में जहां तक गंगा के उत्तरी स्रोत या शाखा नदियां हैं और दक्षिण में समुद्र तट पर जहां कन्याकुमारी है वहां तक भारत की सीमाएं है। इसके पूर्व की सीमा पर किरात जाति के लोग बसे थे जिन्हें आजकल की भाषा में मौन-ख्मेर कहा जाता है। भारत के पश्चिम में यवन अर्थात् यूनानी बसे हुए थे[2]।

यवनों से यहां तात्पर्य बाल्हीक (आधुनिक बल्ख, प्राचीन बैक्ट्रिया) के यूनानी राजाओं से है जिन्होंने तीसरी शती ई. पू. के मध्य भाग में मौर्य साम्राज्य के निर्बल होनेपर यवन राज्य की वही नींव डाली थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के भौगोलिक विस्तार की यह कल्पना शुंग काल से पूर्व ही स्थिर हो चुकी थी। पाली साहित्य के दीघनिकाय ग्रंथ में भारत की भौगोलिक और राजनैतिक एकता का बहुत ही सुन्दर उल्लेख मिलता है—

"तो कौन है जो उत्तर में आयताकार और दक्षिण में शकटमुख के समान संकीर्ण इस महापृथ्वी को सात बराबर भागों में बांट सकता है? महागोविन्द को छोड़ कर भला और दूसरा कौन ऐसा करने में समर्थ है? कलिंग में दन्तपुर, अश्मक में पोतन, अवन्ति में माहिष्मती, सौवीर में रोरुक, विदेह में मिथिला, अंग में चम्पा, और काशी में वाराणसी इन्हें महागोविन्द ने बसाया[3]।"

---

[1] १. जम्बूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्य संस्थितः। तस्यापि मेरुमैत्रेयमध्ये कनकपर्वतः।
भूपद्मास्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकारसंस्थितः॥ विष्णुपुराण २/२।६,१०।

[2] २. आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगाप्रभावाच्च वै। पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः॥ वायु ४५।८१–८२। "आयतस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः।" भारतवर्ष की यह भौगोलिक परिभाषा थी।

[3] ३. को नु खो भो पहोति इमं महापठविं उत्तरेन आयतं दक्खिणेन सकटमुखं सप्तधासमं सुविभत्तं विभजितुं ति।
तत्र सुदं मज्झे रेणुस्य रञ्ञो जनपदो होति। दन्तपुरं कलिंगानां अस्सकानं च पोतनं।
माहिस्सती अवन्तीनं सोवीरानं च रोरुकं। मिथिला च विदेहानं चम्पा अंगेसु मापिता।
बाराणसी च कासीनं एते गोविन्दमापिता ति॥ (दीघनिकाय, महागोविन्दसुत्त)

इस उल्लेख में ये बातें महत्त्वपूर्ण हैं। यहां समस्त भारतवर्ष के लिये महापृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतवर्ष की राजनैतिक परिभाषा में किसी राजा के अपने जनपद के राज्य विस्तार को पृथ्वी कहते थे जिस कारण राजा पार्थिव कहलाता था। एक-एक जनपद का स्वामी राजा वहां का पार्थिव होता था। किन्तु एक जनपद की सीमा से आगे बढ़ कर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के लिये महा-पृथिवी शब्द का प्रयोग होने लगा था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में महापृथिवी के लिये ही सर्वभूमि संज्ञा का प्रयोग हुआ है। सर्वभूमि के राजा को सार्वभौम कहते थे।[1] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (२०।१।१) के अनुसार सार्वभौम राजा को ही अश्वमेध करने का अधिकार था। जो सार्वभौम होता था वही चक्रवर्ती कहलाता था। महाभारत के अनुसार दौःषन्ति भरत अश्वमेधों के करने से सार्वभौम चक्रवर्ती हुआ।

दीघनिकाय में दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख महापृथिवी या भारतवर्ष की भौतिक आकृति के सम्बन्ध में है। अब तक इसके तीन प्रकार मिले है, कूर्म संस्थान, कार्मुक संस्थान और शकटमुख संस्थान। वराह मिहिर ने बृहत्संहिता में भारतवर्ष के संस्थान (अं० कनफ्युगरेशन) को कूर्म की आकृति वाला कहा है। उस कूर्म संस्थान के नौ भेद किए हैं, अर्थात् १. मध्य भाग २. पूर्व दिशा में फैला हुआ मुख ३. दक्षिण-पूर्व दिशा में दाहिना पैर ४. दाहिनी कुक्षि ५. दक्षिण-पश्चिम का पिछला पैर ६. पुच्छ या पुट्ठों का भाग ७. उत्तर-पश्चिम का उपरला पैर ८. बाईं ओर की उपरली कुक्षि और ९. पूर्व-उत्तर दिशा का अगला पैर। इस कूर्म-संस्थान के प्रत्येक भाग में जो जनपद या देश हैं उनके नाम भी अलग अलग गिनाए गए हैं।

भारतवर्ष के संस्थान की दूसरी कल्पना पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में मिलती है। जहां इस भूमि को कार्मुक या धनुषाकृति कहा गया है। दक्षिण का घूमा हुआ भाग जो समुद्र के भीतर घुसा हुआ है धनुष का मुड़ा हुआ डंडा है। उत्तर का हिमालय उस डंडे के ऊपर खिंची हुई डोरी है, जिसकी तान से डंडे का पृष्ठ भाग मानों झुक गया है।

कूर्म संस्थान और धनुषाकृति संस्थान, इन दोनों कल्पनाओं से भी अधिक प्रत्यक्ष दीर्घनिकाय का उल्लेख है जिसमें भारत के उत्तरी मैदान और पर्वतों के मिले हुए भाग को आयताकार कहा गया है। इसके अग्रभाग में छकड़े के लम्बे और संकीर्ण मुख की भांति दक्षिण भारत का भूभाग निकला हुआ है। देश के लिये शकटमुखी संस्थान की यह कल्पना इतनी प्रत्यक्ष और सचित्र है जैसे किसी अर्वाचीन मानचित्र में भारतवर्ष की आकृति को देखकर कोई उसका वर्णन कर रहा हो।

भारत-भूमि की इस प्रत्यक्षसिद्ध भौगोलिक एकता को आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो समर्थन प्राप्त हुआ और उसकी जैसी पूर्ति हुई उसका वर्णन अतीव रोचक विषय है। राजनैतिक क्षेत्र में भी इस मौलिक एकता ने आदर्श के रूप में सदा लोगों को प्रेरित और आन्दोलित किया। यह एक तथ्य है कि हमारी यह भूमि प्राकृतिक सीमाओं के विभाग से अनेक जनपदों में विभक्त थी। इस प्रकार के लगभग दो सौ जनपदों की सूची पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में प्राप्त होती है। जनपदों का यह बंटवारा जनता की स्वाभाविक स्थानीय आकांक्षाओं की पूर्ति करता था। वह जनता के लिये स्थानीय एकता का सुदृढ़ बन्धन था। राज्यों के ऐतिहासिक विघटन के समय भी जनपदीय जीवन की इकाई ठोस चट्टान की भांति स्थिर रहती थी। जनपदों के रूप में भारतीय जीवन की माला हिमाद्रि से कुमारी तक गूंथी गई थी। जनपदों को हम इस माला के स्थायी मनके कह सकते हैं। प्रत्येक जनपद की पृथिवी स्थानीय जीवन

---

[1] सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ। ५।१।४१; तस्येश्वरः ५।१।४२; सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः।

के आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषा और विद्या संबन्धी पहलुओं से हरी-भरी बनी रहती थी। जिस प्रकार यूनान देश में वहां की संस्कृति की धात्रियां "सिटी-स्टेट्स" या पौर-राज्य थे ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष के जनपद भी सांस्कृतिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप में स्थानीय विश्वजनता की माताएं थी।

किन्तु जनपदों की इस विविध शृंखला को एकत्र मिलाकर किसी महान् राजनैतिक संगठन का आदर्श भी वैदिक काल से मिलने लगता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक राजा की ऐन्द्र महाभिषेक (राज्यासन पर आसीन होने के अभिषेक) के समय पढ़ी जाने वाली प्रतिज्ञा को हम नहीं भुला सकते। इसमें कहा है:—

"जो ब्राह्मण पुरोहित यह इच्छा करे कि अभिषिक्त होने वाला क्षत्रिय सब विजयों को जीते, सब लोकों को प्राप्त करे, सब राजाओं में श्रेष्ठता प्राप्त करे, एवं साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, इन विभिन्न प्रकारों से अभिषिक्त होकर परम स्थिति प्राप्त करे, चारों दिशाओं के अन्त तक पहुंच कर आयुपर्यन्त सार्वभौम बने, और समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एकराट् बने, उस क्षत्रिय को इस ऐन्द्र महाभिषेक की शपथ दिलाकर राज्य में उसका अभिषेक करना चाहिए।"[1] इस प्रतिज्ञा में हम उन अनेक शब्दों की गूंज सुनते हैं जिनसे भारत का राजनैतिक इतिहास आन्दोलित हुआ है। भारतीय इतिहास में जितने राजाओं का अभिषेक वैदिक पद्धति से हुआ सबके लिये इसी प्रतिज्ञा का उच्चारण हुआ होगा। देश की भौगोलिक ऐकता को इसमें स्पष्ट राजनैतिक एकता के साथ मिलाया गया है। समन्तपर्यायी सार्वभौम और समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एकराट् ये दोनों आदर्श देशव्यापी राजनैतिक चेतना के सूचक हैं। इसी से प्रेरित होकर शकुन्तला ने कहा था:—

'हे दुष्यंत' मेरा यह पुत्र शैलराज हिमवन्त का शिरोभूषण धारण करने वाली इस चतुरंत पृथिवी का पालने करने वाला बनेगा।' हम पहले कह चुके हैं कि भरत का अजित चक्र लोक में गूंजता हुआ सब राजाओं को अपने वश में लाकर समस्त पृथ्वी पर फैल गया। इसके कारण भरत सार्वभौम चक्रवर्ती कहलाए।[2] भरत से आरम्भ होकर यह परम्परा और ये आदर्श और भी कितने ही राजाओं में अवतीर्ण हुए।

ऊपर लिखी हुई कई राज्यप्रणालियों में परस्पर भेद थे। "सार्वभौम" शब्द सर्वभूमि या महापृथिवी के राज्य की ओर संकेत करता है। सार्वभौम राजा को चक्रवर्ती भी कहा जाता था। जिसके रथचक्र के लिये अपने जनपद से बाहर कोई रुकावट न हो उसे चक्रवर्ती कहा गया जान पड़ता है। पीछे उस बढ़े हुए राजनैतिक सीमाविस्तार या भूभाग के लिये चक्र शब्द का प्रयोग होने लगा। सार्वभौम पद्धति में यह आवश्यक था कि राजा दूसरे राजाओं के साथ युद्ध करके या तो उन्हें अपना वशवर्ती बना ले और या बलपूर्वक उनका राज्य अपने राज्य में मिला ले। यही भरत ने किया था, और कालान्तर में समुद्रगुप्त ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया। आरम्भिक अवस्था में प्रायः प्रत्येक देश में भूमि अनेक जनपदीय राजाओं में बंटी हुई होती है, उनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतंत्र सत्ता रहती थी। उनके बीच में कोई एक शक्तिशाली राजा उठ खड़ा होता, और भरत के समान ही सबके ऊपर अपना चक्र स्थापित करके उस राजनैतिक

---

[1] स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आ अन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिंचेत। (ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१५)

[2] तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः, भास्वरं दिव्य मजितं लोकसन्नादनं महत्। स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनं, स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् (आदि० ६९।४५-४७)।

एकता का प्रादुर्भाव करता, जिसे सर्वभौम या चक्रवर्ती राज्य कहते हैं। महाभारत से ज्ञात होता है कि आधिपत्य या आधिराज्य शासन प्रणाली वह थी जिसमें अन्य राजाओं से कर ग्रहण करके उन्हें अपने केन्द्र में पूर्ववत् सुरक्षित रहने दिया जाता था। पाण्डु ने कुरु जनपद की राज्यशक्ति का विस्तार करते हुए मगध, विदेह, काशी, सुह्म, पुण्ड्र आदि जनपदों को अपना करद बना लिया था (आदि० १०५।१२–२१) और स्वयं अधिराज्य का भोक्ता कहलाया।

इन दोनों से अधिक कठोर साम्राज्य का आदर्श था जिसे हम जरासन्ध के जीवन में चरितार्थ देखते हैं। सम्राट् अपने जनपद की सीमा का विस्तार करता हुआ और किसी भी राज्य को सुरक्षित न रहने देता था। सभापर्व में सम्राट् को सबके हड़पने वाला कहा गया है (सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक्, १४।२)। साम्राज्य का आधार बल था (सभा. १४।१३, बलादेव साम्राज्यं कुरुते)।

साम्राज्य से विपरीत पारमेष्ठ्य प्रणाली थी जो गणराज्यों में देखी जाती थी। यह शासन कुलों के आधार पर बनता था। उसमें प्रत्येक घर का ज्येष्ठ व्यक्ति "राजा" कहलाता था (गृहे गृहे हि राजानः, सभा. १४।२) जैसे शाक्यों में और लिच्छवियों में प्रत्येक क्षत्रिय राजा कहलाता था। वे सब मिलकर अपने आपस में किसी एक को श्रेष्ठ मान लेते थे। वही उस समय उस राज्य का अधिपति होता था।[1] जिस प्रकार साम्राज्यशासन का आधार बल था उसी प्रकार पारमेष्ठ्य या गणशासन का आधार शम अर्थात् शान्ति की नीति थी।[2] इस देश में किसी समय कुलों पर आश्रित इस शासनप्रणाली का बहुत प्रचार था और जनता इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। कुलशासनप्रणाली में दूसरे कुल या व्यक्ति के अनुभाव या व्यक्ति गरिमा का सम्मान किया जाता था एवम् जनपद के भीतर दूर दूर तक जनता का श्रेय या कल्याण दिखाई पड़ता था (सभा. १४।३।४)। साम्राज्य में यह श्रेय अधिकतर राजपरिवार या राजधानी के लोगों तक ही सीमित कर रह जाता था।

भारतीय इतिहास का रंगमंच इन विभिन्न राज्यप्रणालियों की लीलाभूमि रही है। देश की एकता का भाव न केवल धर्म से अग्रसर हुआ बल्कि राजाओं की राजनीति के द्वारा भी समय समय पर उसकी स्थापना होती रही। जिस प्रकार यूनान में स्पार्टा और एथेन्स अन्य पौर राज्यों के ऊपर प्रबल हो गए थे वैसे ही अपने देश में बहुत कशमकश के बाद मगध का साम्राज्य ऊपर तैर आया। बृहद्रथवंशी जरासंध से जो प्रवृत्ति शुरू हुई वही शिशुनाग और नन्दवंशी राजाओं के समय में आगे बढ़ी। पहले तो इस प्रकार के विस्तार के विरुद्ध जनता में प्रतिक्रिया भी थी किन्तु पीछे लोग इसके प्रति अभ्यस्त और सहिष्णु बन गए। शिशुनागवंशी अजातशत्रु ने लिच्छवि गण की परवाह न करके उन पर भी हमला कर दिया। ऐसे ही नन्दवंश के नन्दिवर्धन और महापद्म नन्द ने अनेक जनपदीय इकाइयों का अन्त करके मगध साम्राज्य की प्रबल सत्ता स्थापित की।

इस प्रवृत्ति का सबसे विकसित रूप चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में दृष्टिगोचर हुआ। ऐतिहासिक काल में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के राज्य में हम कई प्राचीन आदर्शों को चरितार्थ हुआ देखते हैं। उसका राज्य अफ़गानिस्तान से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था! जिसे सर्वभूमि या सर्वपृथिवी कहा जाता था।

---

[1] एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विनः। कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दनः। (सभा. १४।६)

[2] शममेव परं मन्ये न तु मोक्षाद् भवेच्छमः (सभा. १४।५)।

गणों की जनता कुछ इस प्रकार सोचती थी—राजनीति में शम का अवलम्बन ही सच्चा शम है। मोक्ष-साधन से जो शम मिलता है वह कोई शम नहीं।

उसके अन्तर्गत सच्चे अर्थों में सारे देश की गिनती होने लगी। समन्तपर्यायी या चतुरंत इन प्राचीन शब्दों का जो अर्थ था उसे भी हम मौर्य साम्राज्य के चार खूंट विस्तार में पूर्ण हुआ पाते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पृथिवी के एकराट् की जो कल्पना मिलती है वह भी मौर्यशासन की सच्चाई बन गई। देश के सौभाग्य से किसी गाढ़े समय में मौर्य साम्राज्य का उदय हुआ। उसकी स्थापना से देश यूनानियों के उस धक्के से बच गया जिसने वाहीक के संघों या पंजाब और उत्तर पश्चिम के गण राज्यों को झकझोर डाला था।

मौर्य साम्राज्य का मधुर फल दो रूपों में प्रकट हुआ। एक तो इस से समस्त देश में समान संस्थाओं की स्थापना हो गई। शासन के कर्मचारी, विभाग, आय के साधन, कर-व्यवस्था, यातायात के मार्ग, दण्ड और व्यवहार (दीवानी और फौजदारी) की न्यायव्यवस्था, नाप-तौल और मुद्राएं, इन सब बातों में देश ने एकसूत्रता का अनुभव किया। इससे जनता में जीवन को एकरूपता प्रदान करने वाले बन्धन दृढ़ हुए। विष्णुगुप्त का अर्थशास्त्र साम्राज्य के मंथन से उद्भूत उस एकरूपता का परिचायक महान् ग्रंथ है। उदाहरण के लिये, मौर्य साम्राज्य में जो सिक्के चालू थे उनके बहुत से निधान (जखीरे) तक्षशिला से लेकर राजस्थान, मगध, कलिंग, मध्य भारत, महाराष्ट्र, आन्ध्र, हैदराबाद, मैसूर आदि प्रदेशों में पाए गए हैं। चांदी की इन आहत मुद्राओं की तौल सब जगह ३२ रत्ती थी। उन पर बने हुए रूप या चिन्ह भी सब जगह एक से पाये गए हैं। ज्ञात होता है शासन की किसी केन्द्रीय टकसाल में वे ढाले गए थे। अशोक के शिलास्तम्भ भी इसी प्रकार पाटलिपुत्र की केन्द्रीय कर्मशाला में तैयार होकर दूरस्थ स्थानों को भेजे गये थे।

मौर्य साम्राज्य का दूसरा सुफल यह हुआ कि उससे देश में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारतवर्ष की जनता अपने चारों ओर के देशों से सच्चे अर्थ में परिचित हुई। भारतवर्ष से जाने वाले लम्बे राजमार्ग और अधिक लम्बे होकर दूसरी राजधानियों से जुड़ गए जिनके द्वारा यहां का व्यापारिक यातायात विदेशों के साथ बढ़ा। उन्हीं मार्गों से विदेशी दूतमंडल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर मुड़े और भारतवर्ष से अनेक धर्म-प्रचारक विदेशों में गए। सम्राट् अशोक भारतीय प्रणाली के सबसे अधिक सुन्दर और मधुर फल कहे जा सकते हैं। देहरादून के समीप यमुना के किनारे कालसी के शिलालेख में इन पांच विदेशी राजाओं के नाम गिनाए गए हैं। १. सीरिया और पश्चिमी एशिया के राजा अंतियोक (२६१–४६ ई. पू.) २. मिस्र के तुलमय या टालेमी (२८५–२४७ ई. पू.), ३. मेसीडोनिया के अंतिकिन (२७६–२३६ ई. पू.), ४. साइरीनी (उत्तरी अफ्रीका) के मग (३००–२५० ई. पू.) और ५. कोरिन्थ के अलिकसुंदर या अलेक्जेंडर (२५२–२४४ ई. पू.)। यह तेहरवां शिलालेख लगभग २५२–२५० ई. पू. में उत्कीर्ण कराया गया जब कि ये सब राजा एक साथ जीवित रहे होंगे। अशोक के भेजे हुए दूतमंडल इनके दरबारों में शांति और मानवता का मैत्री-संदेश लेकर गए थे। उस समय के सभ्य संसार को अपने साथ लेकर आगे बढ़ने का सत्संकल्प अशोक के मन में आया था बौद्ध आख्यानों में जो अशोकावदान के नाम से प्रसिद्ध है। और भी उल्लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अशोक के प्रयत्नों से भारत का सम्बन्ध तिब्बत, बर्मा, सिंहल, स्याम, कम्बोज आदि देशों से जुड़ गया और भारत से धर्म और संस्कृति की धाराओं का यशःप्रवाह इन पड़ोसी देशों में भी फैल गया।

इस प्रकार पहली बार वह कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप में उभर कर सामने आ गई जिसने जम्बू द्वीप के देशों की सुनहली माला में भारत को मध्यमणि बना दिया। इसका वह ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ रूप आने वाली शताब्दियों में और भी निखरता गया। सचमुच भारत की पृथिवी अठारह द्वीपों की अष्टमंगलक

माला पहनने वाली बन गई।[1] गुप्तों के स्वर्णयुग में भारत का वह दिव्य भास्वर तेज मध्य एशिया से हिन्देशिया तक (जो उस समय भारतीय भूगोल में द्वीपान्तर के नाम से प्रसिद्ध थी[2]) और चीन से ईरान तक सर्वत्र छा गया था। सत्यमेव उस स्वर्णयुग में इस देश की वह सबसे महती धर्म विजय थी। बाहर इस सिद्धि के प्राप्त कराने में देश के भीतर का गुप्तों का एकतंत्र शासन और सुसमृद्ध राज्य भी कुछ कम उत्तरदायी न रहा होगा। कालिदास ने एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम् के आदर्श में (रघु. २।४७) अपने युग में भावों को ही व्यक्त किया है। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रभुत्व अपने देश के भीतर ही सीमित था किन्तु सांस्कृतिक आदर्श भारत के विश्वराज्य को चरितार्थ करता था। उस महाकवि ने अपने युग की इस सच्चाई की ओर अन्य प्रकार से भी संकेत किया है। पुराणों ने जहां एक ओर हिमालय को भारत के धनुषाकृति संस्थान की तनी हुई प्रत्यंचा कहा है वहां कालिदास ने उसे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में व्याप्त पृथिवी का मानदण्ड कहा है।[3] यदि हिमालयरूपी मानदण्ड के दोनों सिरों पर उत्तर-दक्षिण की ओर रेखाओं का विस्तार किया जाय तो उनसे जो भूखंड परिच्छिन्न होगा उसे ही गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति का या उस युग के शब्दों में धर्मराज्य का भू-विस्तार समझना चाहिए। गुप्तकाल में हिमवान् सचमुच भारत की पूर्व-पश्चिम चौड़ाई का माप-दण्ड था। पूर्व में किरात देश और पश्चिम में अफगानिस्तान में हिमालय के भाग हिन्दूकुश बाल्हीक तक हिमवन्त का विस्तार था। उतना ही उस समय भारतवर्ष था। किन्तु स्थूल भौगोलिक विस्तार पर आग्रह इस देश की पद्धति नहीं रही। यहां तो यशविस्तार या संस्कृति-विस्तार जो पर्यायवाची हैं, महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। उसका संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा कि वह यश पर्वतों को लांघकर और समुद्रों को पार करके उनके उस पार पहुंच गया, पाताल और स्वर्ग में भी वह भर गया, देश और काल में उस यश के विस्तार की कोई सीमा न रही।[4] आज मध्य एशिया और हिन्दएशिया के पुरातत्त्व गत अवशेष कालिदास के कथन की प्रत्यक्ष व्याख्या करते हैं।

इस सांस्कृतिक विस्तार की सच्ची प्रतीति उस युग की जनता के मन में थी। इसका सबसे पक्का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उस युग में भारतवर्ष का भौगोलिक अर्थ ही बदल गया। भारत के अन्दर बृहत्तर भारत का भी परिगणन होने लगा। गुप्तयुग के पुराण लेखकों ने भारत की निजी भूमि के लिये कुमारी द्वीप नाम प्रचलित किया और उसके साथ पूर्वी द्वीपसमूह या द्वीपांतरों को मिलाकर बृहत्तर भारत के अर्थ में "भारत" इस शब्द का प्रयोग शुरू किया। अपने युग के इस आदर्श का बौद्ध साहित्य में भी उल्लेख हुआ है। ललितविस्तर में एक कल्पना है कि कोई दिव्य चक्र-रत्न धर्म विजय करते हुए चारों दिशाओं में घूमता है। 'इस प्रकार वह मूर्धाभिषिक्त धर्मात्मा राजा पूर्व दिशा को जीतता है। पूर्व दिशा को जीत कर पूर्व समुद्र में प्रविष्ट होकर उसे भी पार कर जाता है। इसी प्रकार वह

---

[1] अपि च तवाष्टादशद्वीपाष्टमंगलकमालिनी मेदिनी अस्त्येव विक्रमस्य विषयः, हर्षचरित में बाण की कल्पना, उच्छ्वास ६, पृ. १९५।

[2] प्राचीन जावा की भाषा में इसे भूम्यन्तर और नुसान्तर कहा गया है। जावा की भाषा में नुसा = द्वीप।

[3] अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ (कुमारसम्भव १।१)

[4] आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥ (रघुवंश ६।७७)
बाण ने भी कालिदास के स्वर में स्वर मिलाते हुए दिलीप के विषय में लिखा—
भूलतादिष्टाष्टादश द्वीपे दिलीपे (हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ. १७९)।

दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा और उत्तर दिशा को भी जीतकर उन उन समुद्रों का अवगाहन करता है।[५]'

वस्तुतः इस युग के साहित्य में भारत के भीतरी और बाहरी भूप्रदेश की भौगोलिक एकता और पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध बार बार उभर आते हैं। इन्दुमती के स्वयंवर में देश के सब राजाओं को एकत्र कर कवि ने मातृभूमि का एक समुदित चित्र उपस्थित किया है। पुष्पपुर के मगधेश्वर, अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर) के राजा, महाकाल और शिप्रा के स्वामी अवन्तिनाथ, माहिष्मती के अनूपराज, मथुरा, वृन्दावन और गोवर्धन के शूरसेनाधिपति, महेन्द्र पर्वत और महोदधि के स्वामी कलिंगनाथ, उरगपुर और मलयस्थली के पांड्यराज, एवं उत्तर कोसल के अधीश्वर, इन सब को इन्दुमती के स्वयंवर में एकत्र लाकर कवि मगधेश्वर के लिए कहता है : कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् (रघुवंश ६।२२); और सहस्रों राजा भी चाहे हों, यह भूमि मगध के सम्राटों से ही राजन्वती कहलाती है। देश की राज्यशक्तियों में उस समय मगध का जो सर्वोपरि स्थान था उसका यथार्थ उल्लेख कवि के शब्दों में है। विदर्भ जनपद की राजकुमारी के स्वयंवर का क्षितिज उत्तरकोसल से दक्षिण के पांड्य देश तक विस्तृत था। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवहार और राजनैतिक सम्बन्धों की दृष्टि से अपनी आंतरिक सीमाओं के भीतर भारत की भूमि दृढ़ इकाई बन चुकी थी।

दूसरी ओर जब हम विदेशों के साथ भारत के सम्बन्धित हो जाने की बात सोचते हैं तो भारतीय साहित्य में उसकी भी साक्षी उपलब्ध होती है। इसका अच्छा उदाहरण दिग्वर्णन के रूप में पाया जाता है। गुप्तकाल में जब ईरान से जावा तक भारत का यातायात फैल गया था उस समय के सांयात्रिक नाविकों अथवा स्थलमार्ग से यात्रा करने वाले सिद्धयात्रिक सार्थवाहों के उपयोग के लिये ये दिग्वर्णन संकलित किए गए होंगे। इनमें चारों दिशाओं में भारत के भीतर और बाहर के प्रसिद्ध स्थानों और देशों का एक ढर्रा सा पाया जाता है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इस प्रदक्षिणाक्रम से ये दिग्वर्णन मिलते हैं। इस दिग्वर्णन के कई रूप साहित्य में पाए गए हैं। एक रूप बुधस्वामिन् के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह नामक ग्रंथ में है। रामायण के किष्किंधा कांड में सुग्रीव द्वारा चारों दिशाओं में सीता की खोज के लिये बन्दरों के भेजे जाने के प्रसंग में भी दिग्वर्णन आया है। वहां पूर्व दिशा का वर्णन करते हुए जावा के सप्तराज्यों का उल्लेख है। ये राज्य तीसरी-चौथी शती से पहले जावा में न थे। महाभारत के वनपर्व में गालव-चरित के अन्तर्गत गरुड़ ने गालव से दिग्वर्णन किया है। उसमें पश्चिम दिशा में हरिमेधस् देव का उल्लेख है जिसकी ध्वजवती नामक कन्या पर सूर्य मोहित हो गए थे। तब वह सूर्य के आदेश से आकाश में ही स्थित हुई। ये हरिमेधस् देव ईरान की पहलवी भाषा में हरमुज कहलाते थे। सभापर्व के दिग्विजय पर्व के अन्तर्गत भी एक दिग्वर्णन है जिसमें भारतवर्ष की भौगोलिक इकाई को बढ़ाकर विदेशों के साथ मिलाया गया है। वहां उत्तर दिशा की ओर दिग्विजय करते हुए अर्जुन की यात्रा पामीर (कम्बोज) और मध्य एशिया के उस पार के प्रदेश (उत्तरकुरु) तक जा पहुंचती है जहां ऋषिक नाम से विख्यात यू-चि

---

[५] एवं खलु राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तो पूर्वां दिशं विजयति। पूर्वा दिशः विजिताः पूर्वं समुद्रमवगाह्य पूर्वं समुद्रमवतरित दक्षिणो दिशं पश्चिमामुत्तरो दिशं च विजित्य उत्तरं समुद्रमवगाहते (ललितविस्तर पृ. १५)

इसी भावना का समर्थन बाण की इस कल्पना से होता है—हर्ष का कड़कता हुआ दाक्षिण भुजदंड प्रार्थना कर रहा था कि मुझे अठ्ठारह द्वीपों की विजय करने के अधिकार पर नियुक्त कीजिए। (नियुज्य तत्कालस्मरणा स्फुरणेन कथितात्मानमिव चाष्टादशद्वीपजेतव्याधिकारे दक्षिणं भुजस्तम्भ, हर्षचरित, उच्छ्वास ७, पृ. २०३)। बाण ने इस युग में जनता के विदेशों में यातायात को देखते हुअे "सर्वद्वीपान्तरसंचारी पादलेप" इस साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख किया है अर्थात् पैरों में कुछ ऐसा लेप लगाया जिससे सब द्वीपान्तरों में घूम आने की सामर्थ्य प्राप्त हो, हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ. १९४)। वहीं समुद्रयात्रा से लक्ष्मी संप्राप्ति (अब्भ्रमणेन श्रीसमाकर्षणं, पृ० १८९) का भी उल्लेख है।

जाति का मूल आवास स्थान था। यहीं गोबी और मंगोलिया के बीच में कहीं चन्द्रद्वीप था जहां से निकास होने के कारण भारत के कनिष्क आदि शक-तुषार राजा चन्द्रवंशी कहलाते थे। इस प्रकार भारत की स्थिति उस पट-मंडप के समान थी जिसके दीप्तिपट चारों दिशाओं में प्रकाश और वायु का आवाहन करने के लिये उन्मुक्त हो गए थे। भारत के जल और स्थल मार्गों पर इस समय अभूतपूर्व चहलपहल दिखाई देती थी। एक ओर राजदरबारों में विदेशी दूतमंडलों के आने-जाने का तांता लगा रहता था[1], तो दूसरी ओर भारतीय समुद्र तट के पोतपत्तन नानादेशीय व्यापारियों से भरे रहते थे। जब इन दूत-मंडलों का आदान-प्रदान हो रहा था, उस समय अंतर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की ख्याति किसी जनपद के रूप में न थी, बल्कि उसे एक महान् देश की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। भारतीय दूत, भारतीय विद्वान्, इन सब पर भारत के एक खंड की सीमित छाप न थी। वे अपने साथ समग्र देश की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा लेकर विदेशों में पहुंचते थे। जनता के मनोराज्य में देश की सत्ता, एक ओर अविकल थी। तभी देश के प्रत्येक भाग से झुंड के झुंड ब्राह्मण दूसरे भागों में जाकर बस जाते थे और राजाओं द्वारा उनके लिये भूमि और जीविका का प्रबन्ध किया जाता था। समतट के ब्राह्मण राजकुल में जन्मे हुए शीलभद्र विद्वान् नालन्दा विश्वविद्यालय में आकर वहां के आचार्य हो गए। कश्मीर के विद्वान् बिल्हण (११ वीं शती) कल्याणी के चालुक्य वंशी सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७) के राजकवि के रूप में विद्यापति पदवी से सुशोभित हुए। बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित काव्य में करहाट की राजकुमारी चन्द्रलेखा के स्वयम्बर में देश का जो चित्र खींचा है वह कालिदास के इन्दुमती स्वयम्बर का ही परिवर्तित रूप है। वहां मंडप में अयोध्या, चेदि, कान्यकुब्ज, चर्मण्वती, तटदेश, कालंजरगिरि, गोपाचल, मालव, गुर्जर पाण्ड्य, चोल देशों के राजा उपस्थित हुए थे। वह स्वयम्बर एक देश की समान रीति-नीति की ओर संकेत करता है।

मध्यकाल की राजनीति जिस प्रकार देश की एकता व्यक्त करती है वह विक्रमादित्य चालुक्य, राजचोल, राजेन्द्रचोल, सिद्धराज, भोज, कर्ण, गांगेयदेव, गोविन्दचन्द्र, विग्रहपाल आदि पचासों सम्राटों की दिग्विजयपद्धति, राज्यप्रणाली, गुणग्राहकता, धार्मिक जीवन, पारिवारिक जीवन, आदि सदृशी विशेषताओं से प्रकट होता है। सर्वत्र एक समान आदर्श और एक सी जीवनविधि पाई जाती है, जैसे देश-व्यापी किसी

---

[1] १. चीन की अनुश्रुतियों के अनुसार चीन-सम्राट् हो-ती के समय (८९–१०५ ई०) में भारतीय राजदूत चीन गये। मिलिन्द पन्ह के अनुसार, चीनी सम्राट हिवंती के दरवार में महाक्षत्र रुद्रदामा के दूत सिन्धु प्रान्त से उपहार लेकर गए थे। लगभग १९० ई० में अलेक्जैंड्रिया के शासक द्वारा भेजा हुआ पैंटेनस नामक राजदूत भारत आया। लगभग ३३६ ई० में सम्राट कौंस्टैंटाइन के यहां भारतीय प्रणिधिवर्ग पहुंचा। ५१८ ई० में उत्तरी वाईवंश की चीनसम्राज्ञी द्वारा भेजा हुआ सुङ्गयुन् नामक दूत पश्चिमी भारत आया। ५३० ई० में भारतीय राजदूत उपहार लेकर कुस्तुंतुनियां के सम्राट जुस्टोनियन के दरवार में पहुंचे। ५४१ ई० में भारतीय राजदूत चीनी सम्राट् ताइत्सुङ्ग के दरवार में गए। ६०७ ई० में सिंहल के हिन्दू शासक के दरवार में चीनी सम्राट् का भेजा हुआ दूत मंडल आया। चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय के दरवार में ईरानी सम्राट् खुसरूपरवेज (५९५-६२५) का भेजा हुआ प्रणिधिवर्ग आया। ६४१ में हर्ष का ब्राह्मण राजदूत चीन गया और ६४५ ई० में चीन सम्राट् का प्रणिधिवर्ग सम्राट हर्ष के दरवार में आया। वाण ने तो हर्षचरित में स्पष्ट लिखा है कि सव देशों से आये हुए दूत मंडल हर्ष के दरवार में ठहरे हुए थे (सर्वदेशान्तरागतैश्च दूतमंडलैरुपास्यमानम्, हर्ष० उच्छ्वास २, पृ० ६०)। यह सिलसिला इसी प्रकार आगे भी जारी रहा। सुमात्रा और यवद्वीप के शासक शैलेन्द्र वंशी राजा वालपुत्रदेव ने मुंगेर के राजा देवपालदेव के पास दूत भेजकर नालंदा विश्वविद्यालय में चातुर्दिश भिक्षुसंघ के लिये पांच गांव दान में देने का ताम्रपट प्राप्त किया जो नालन्दा महाविहार की खुदाई में प्राप्त हुआ है।

विराट् परिषद् ने राजा और प्रजा के चरितों को एकता के सांचे में ढाल दिया हो। उन चरितों के बाह्यरूप और मन की प्रेरणाएं सर्वत्र समान हैं।

शासनप्रणाली की जिस एकरूपता की ओर देश बढ़ रहा था उसका एक अच्छा उदाहरण समस्त देश में भूमि का बन्दोबस्त और कर-निश्चिति के रूप में मिलता है। इसे "ग्रामसंख्या" कहा जाता था। इसका अर्थ अंग्रेजी के हिसाब से लैंड सर्वे किया जा सकता है। शुक्रनीति से यह सूचित होता है कि इस प्रकार की एक ग्रामसंख्या गुप्तकाल के लगभग की गई थी, जिसमें प्रत्येक ग्राम, मण्डल, प्रदेश आदि द्वारा देय भूमिकर चांदी के कार्षापण सिक्कों में निश्चित कर दिया गया था। ये संख्याएं नामों के साथ शिलालेखों में जुड़ी हुई मिलती हैं, जैसे ऐहोली के लेख में महाराष्ट्र के तीन भागों की ग्रामसंख्या अर्थात् भूमि का लगान ९९ सहस्र कहा गया है। मध्यकाल अर्थात् दशमी शती के लगभग फिर इस प्रकार कर बन्दोबस्त किया गया जिसका उल्लेख "अपराजित पृच्छा" नामक ग्रन्थ में आया है। वहां स्पष्ट कहा है कि ग्रामसंख्या, देश-प्रमाण और राजाओं का मान तीनों का आधार "रूप" था (ग्रामाणां च तथा संख्या देशानां च प्रमाणतः। राज्ञां च युक्तिमानं च अलंकारैस्तद्रूपतः, अपराजित पृच्छा ३८।३)। यहां रूप शब्द का अर्थ रुपया अर्थात् आजकल की परिभाषा में जमाबन्दी है। राजाओं का युक्तिमान अर्थात् छुटाई-बड़ाई के आधार पर दरबार आदि में उनका सम्मान इसी बात पर आश्रित था कि उनके राज्य की आय क्या थी। सामन्त, माण्डलिक, महामाण्डलिक, नृप, महाराज, आदि पद आय के हिसाब से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते थे। इसी हिसाब से सामन्त, माण्डलिक या राजा लोग मुकुट आदि आभूषण भी भिन्न भिन्न प्रकार के पहिनते थे जिससे प्रतिहारी भी स्वागत सत्कार के समय उन्हें पहिचान लेते थे। इसका उल्लेख "मानसार" नामक ग्रन्थ में आया है (अध्याय ४९)। अपराजित पृच्छा में देश के मुख्य मुख्य भागों की ग्रामसंख्या या जमाबन्दी दी हुई है; जैसे कान्यकुब्ज ३६ लाख, गौड़ १८ लाख, कामरूप ९ लाख, मण्डलेश्वर १८ लाख, कार्तिकपुर ९ लाख, चोल देश ७२ लाख, दह्ल राज्य ७॥ लाख, उज्जयिनी १८ लाख ९२ हजार, शाकम्भर १ लाख २५ हजार, लाट, गुर्जर, कच्छ, सौराष्ट्र संमिलित २ लाख, मरुकोटि और मरुमण्डल (मेवाड़, मारवाड़) ३॥ लाख, सिन्धुसागर ३॥ लाख, खुरसाण या खुराषाण ४० लाख, त्रिगर्त २ लाख, अहिराज्य १२ लाख, गुणाद्वीप ६॥ लाख, जलन्धर ३॥ लाख, कश्मीर-मण्डल ६६१८०। इस प्रकार इन २१ राज्यों की आय की ग्राम-संख्या या भूमि कर ६६९३३१८० होता है। स्कन्दपुराण के माहेश्वर-खण्ड के अन्तर्गत कुमारिका खण्ड के अध्याय ३९ में कुमारी द्वीप अर्थात् भारत देश की ग्रामसंख्या का योग ९६ करोड़ कहा गया है, किन्तु प्रत्येक के लिये जो ग्रामसंख्याएं वहां दी हैं, उनका योग २८,८०,८९,००० होता है। कुमारिका खण्ड में तो पत्तन अर्थात् समुद्रपत्तन, जलपत्तन, या पोतपत्तनों में चुंगी से होनेवाली आय भी ७२ लाख कही गई है (३९।१६३)। अवश्य ही ये संख्याएं तभी सम्भव हैं जब समस्त देश में राजनैतिक और आर्थिक एकसूत्रता जीवन की वास्तविक सचाई बन चुकी है। मध्यकालीन हिन्दू राज्यों की इन संख्याओं की परम्परा में ही "आईन-अकबरी" की वह संख्या है, जिसमें इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहोर, मुलतान, मालवा साम्राज्य के इन बारह सूबों की कुल आय ३६२९७५५२४६ दाम अर्थात् ९,०७,४३,८८१ रुपये कही गई है। पीछे से बिरार, खानदेश और अहमदनगर इन तीन सूबों के और आ जाने से राज्य की आय में वृद्धि हुई होगी। ये आंकड़े ऊपर लिखे हुए इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि देश के भिन्न भिन्न राज्यों में बंटे होने पर भी

---

१. भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि-संबंध, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक उत्तरार्ध, संवत् २००१, पृ. २७०-२७४।

सामूहिक चेतना विद्यमान थी, जिसके अनुसार खुरासान, बलख और पामीर प्रदेश से लेकर लंका तक के भूभाग को एक ही देश अर्थात् कुमारी द्वीप के अन्तर्गत माना जाता था। कुमारिका खण्ड की सूची में चार खूंटों के बताने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण नाम दिए हैं, जैसे नेपाल, गाजनक (गाजना या गाजनी-) कम्बोज, बाल्हीक (बल्ख बुखारा), कश्मीर, ब्राह्मणवाहक-बहमनवा या ब्राह्मणाबाद या सिन्ध (राज, शेखर का ब्राह्मणवह), सिन्धु, अति सिन्धु (अर्थात्-सिन्धु के इस पार उस पार के देश) कच्छ, सौराष्ट्र, कोंकण, कर्नाट, लंका, सिंहलद्वीप, पाण्ड्य, पांसुदेश (उडीसा का पांसु राष्ट्र), कामरूप, गौड़, बरेन्दुक (बारेन्द्री, पूर्वबंगाल), किरात विजय, (आसाम-तिब्वत की सीमा का प्रदेश), अश्वमुख देश (किन्नरों का देश रामपुर बुशहर)—इस प्रकार भारत देश की परिक्रमा इन नामों में आ जाती है।

इस देश का इतिहास गंगा की प्रवाह हिमालय के ऊंचे शिखरों से उतर कर गंगासागर तक प्रवाहित होता रहा है। कहां एक ओर वैदिक काल और कहां दूसरे छोर पर मध्यकालीन जीवन और संस्कृति? किन्तु यह निश्चय है कि भारतीय संस्कृति अनन्त भेदों के बीच में भी मौलिक एकता और समानता की स्वीकृति और आग्रह के उस व्रत से कभी विचलित नहीं हुई जिसे उसके मनीषी विप्रों ने ऋग्वेद में ही उसके लिये स्थिर कर दिया था—

समान मंत्र, समान समिति,
समान मन–समान सबका चित्त।
सबके लिये समान मंत्र अभिमंत्रित।
सबकी समान हवि से,
यह अग्नि होत्र प्रवृत्त॥
समान सबकी प्रेरणा, समान सबके हृदय,
समान सबके मानस, अतः साथ सबकी स्थिति॥ १॥

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ. १०।१२।३–४)

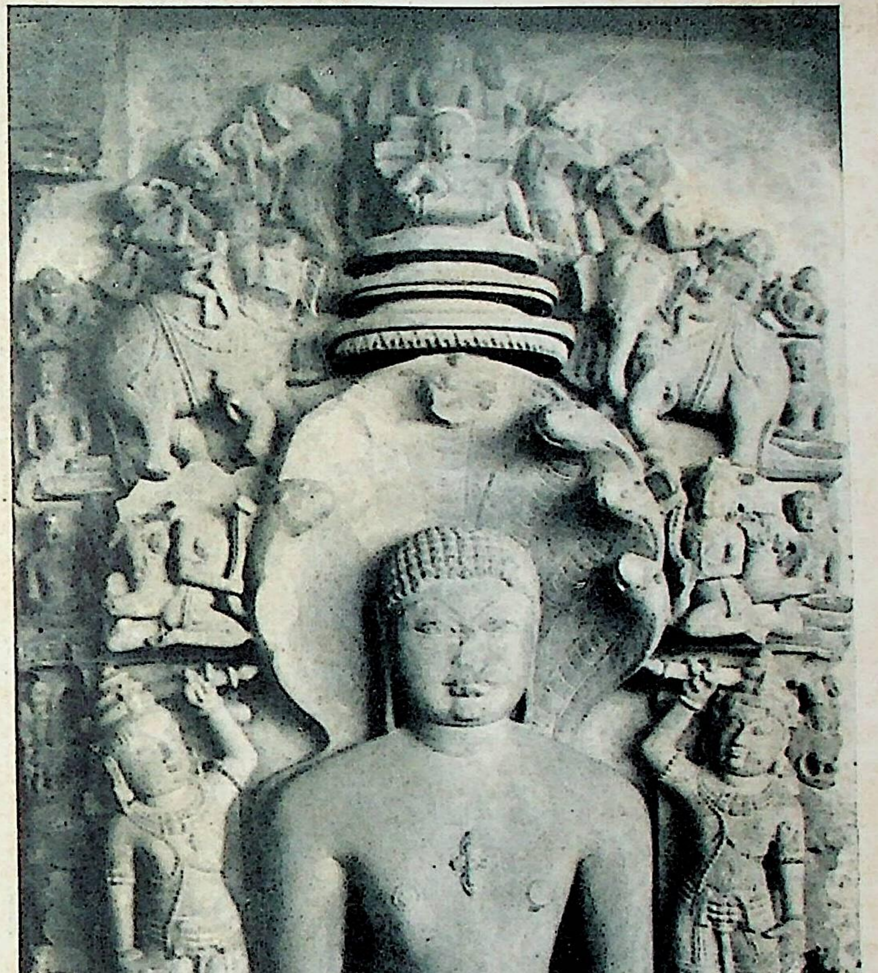

पार्श्वनाथ भगवान, उदयगिरि गूफा, भीलसा
Image of Pārśvanātha, Udayagiri cave, Bhīlsa

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

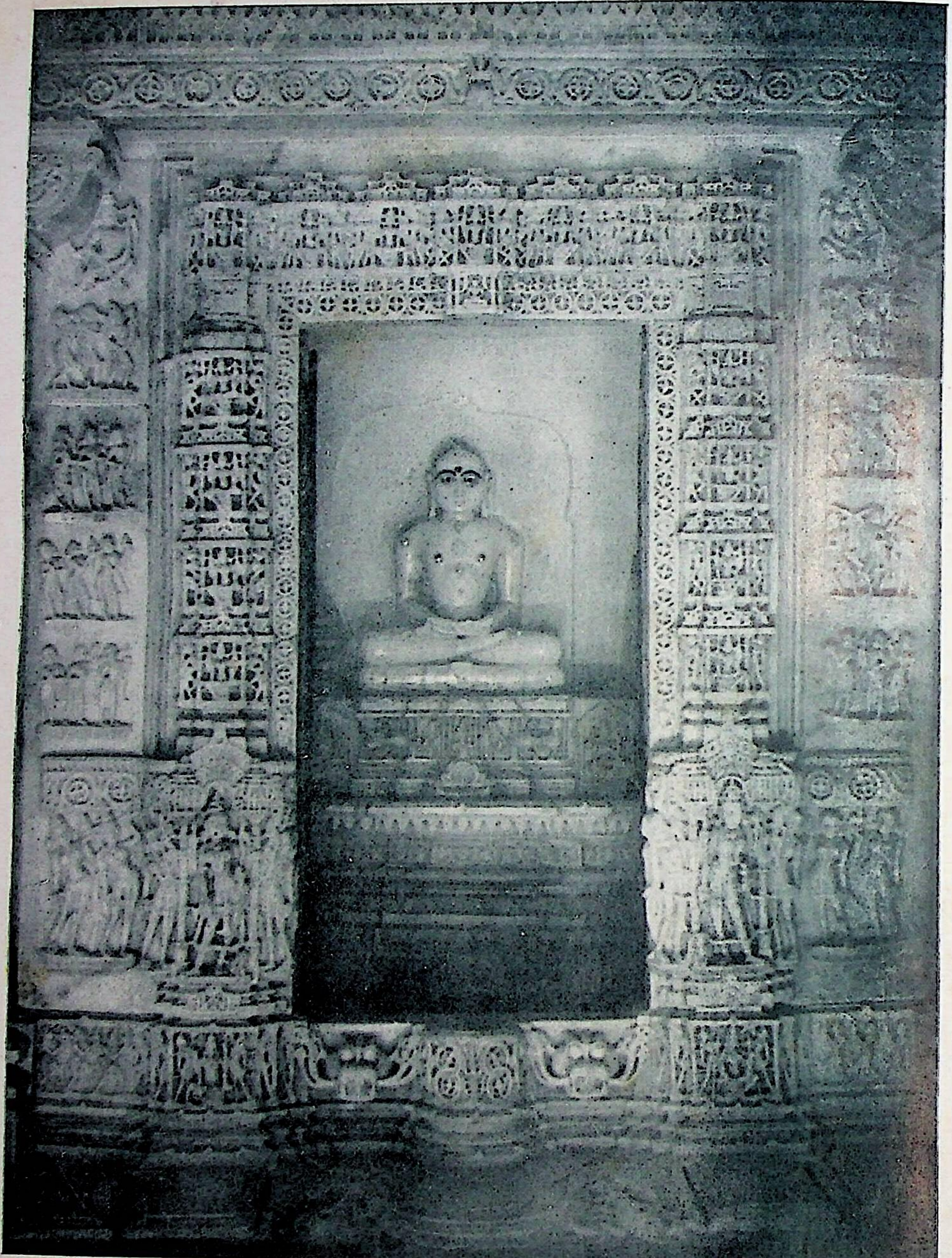

गर्भद्वार, विमल-वसही, आबु, बारमी सदी

Ornamental entrance of cell, Vimal-Vasahī, (Ābu), 12th Century

तसवीर : श्री० जगन महेता]

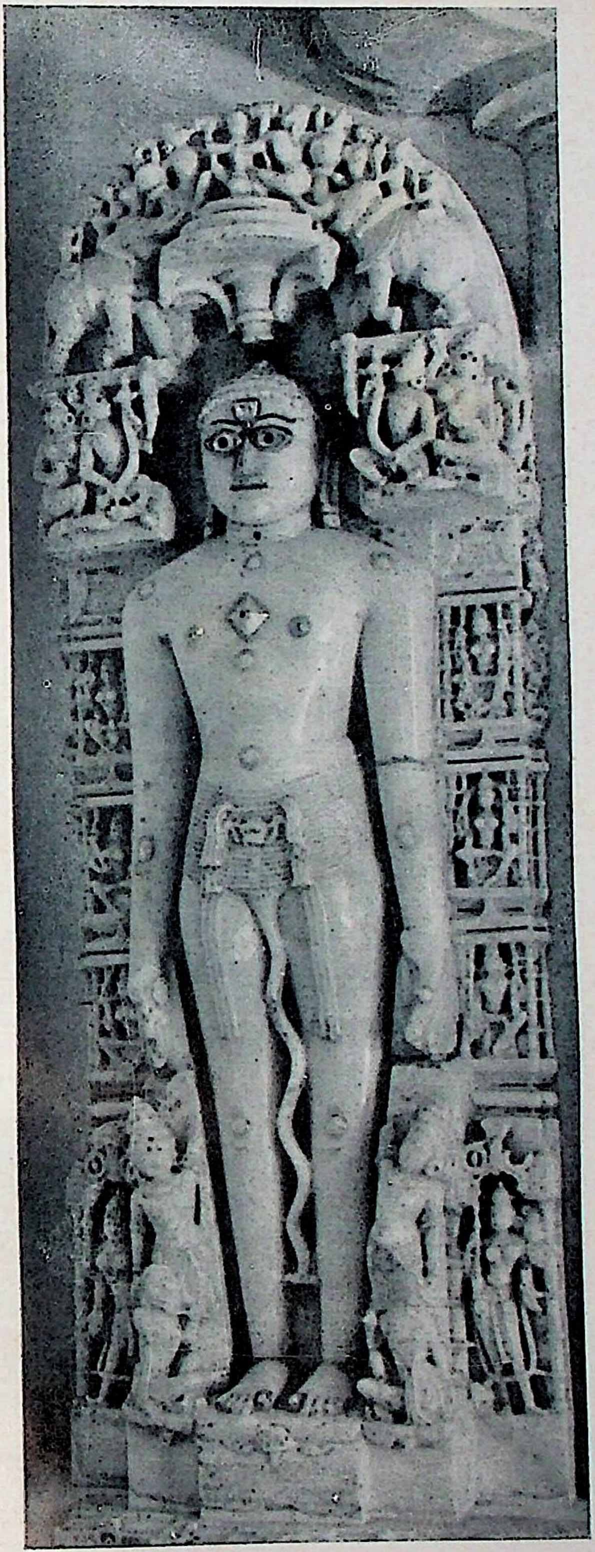

कुंभारियाजीना पार्श्वनाथ भगवानना देरासरमां अजितनाथ भगवान कायोत्सर्ग मुद्रामां
नीचे सं. ११७६नी सालेनो लेख छे.

Image of Ajitnātha in Kāyotsarga Mudrā in Pārśvanātha temple, Kumbhāriā,
N. Guj., bearing inscription of V.S. 1176

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

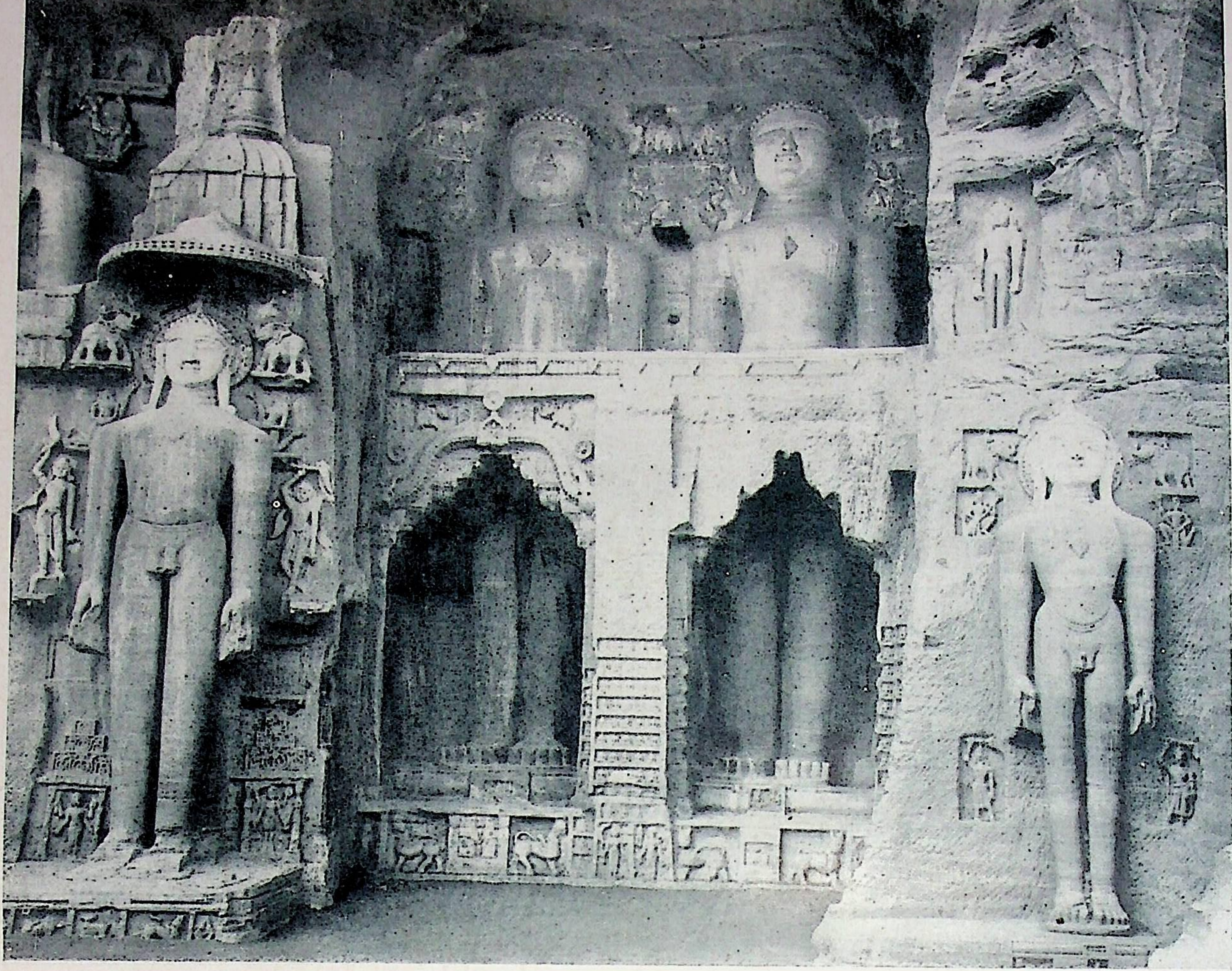

भव्य जैन शिल्पमूर्तिओ, ग्वालियर
Colossus Jaina sculptures on the rock of Gwālior Fort

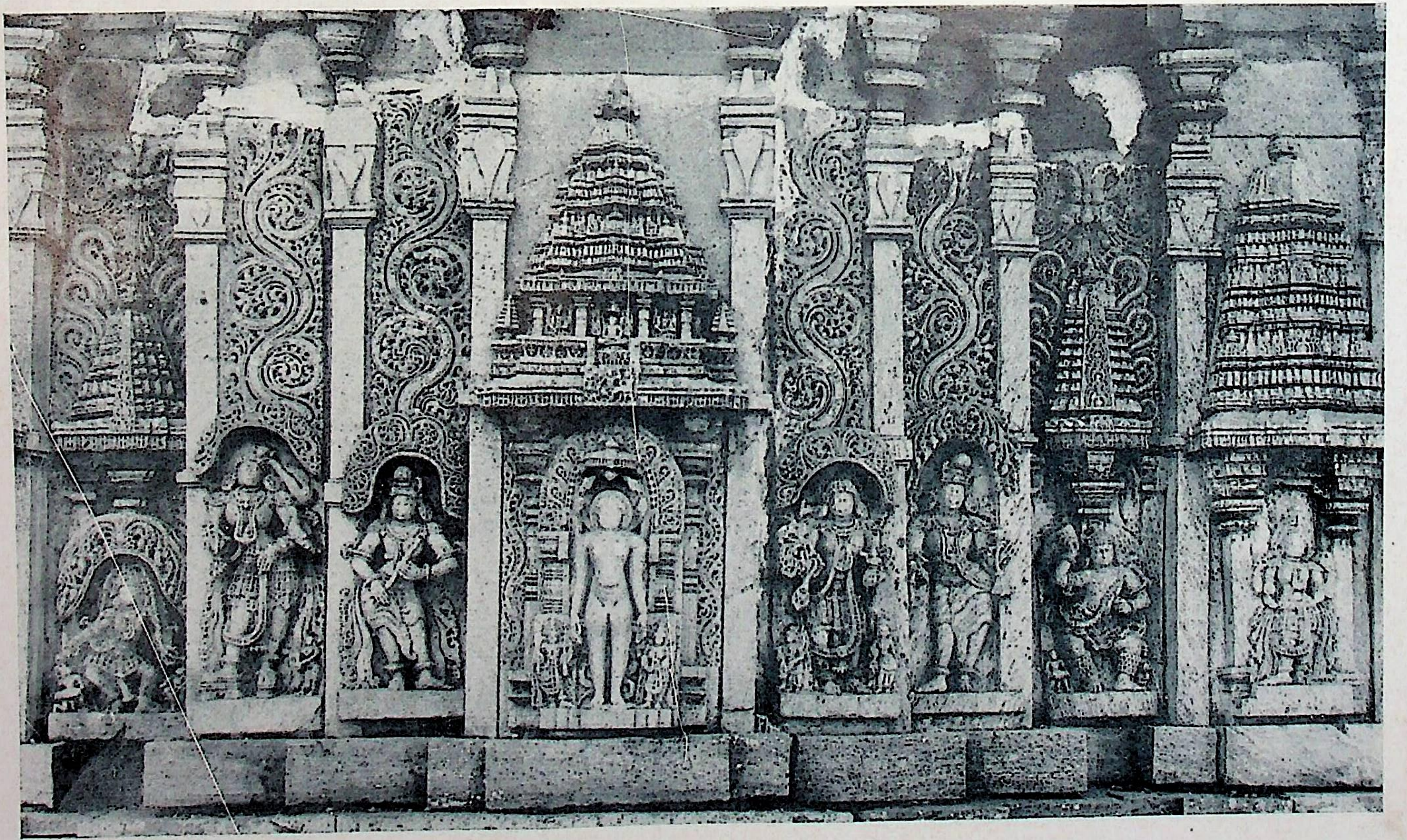

शान्तिनाथ बस्तीनी दिवालपर आवेली शिल्पसमृद्धि, जिनानाथपुर

Sculptures on the north wall of Śāntinātha Basti, Jinānāthpur

कॉपीराइट : आर्किओलॉजिकल डिपार्टमेंट ऑफ् इंडिया]

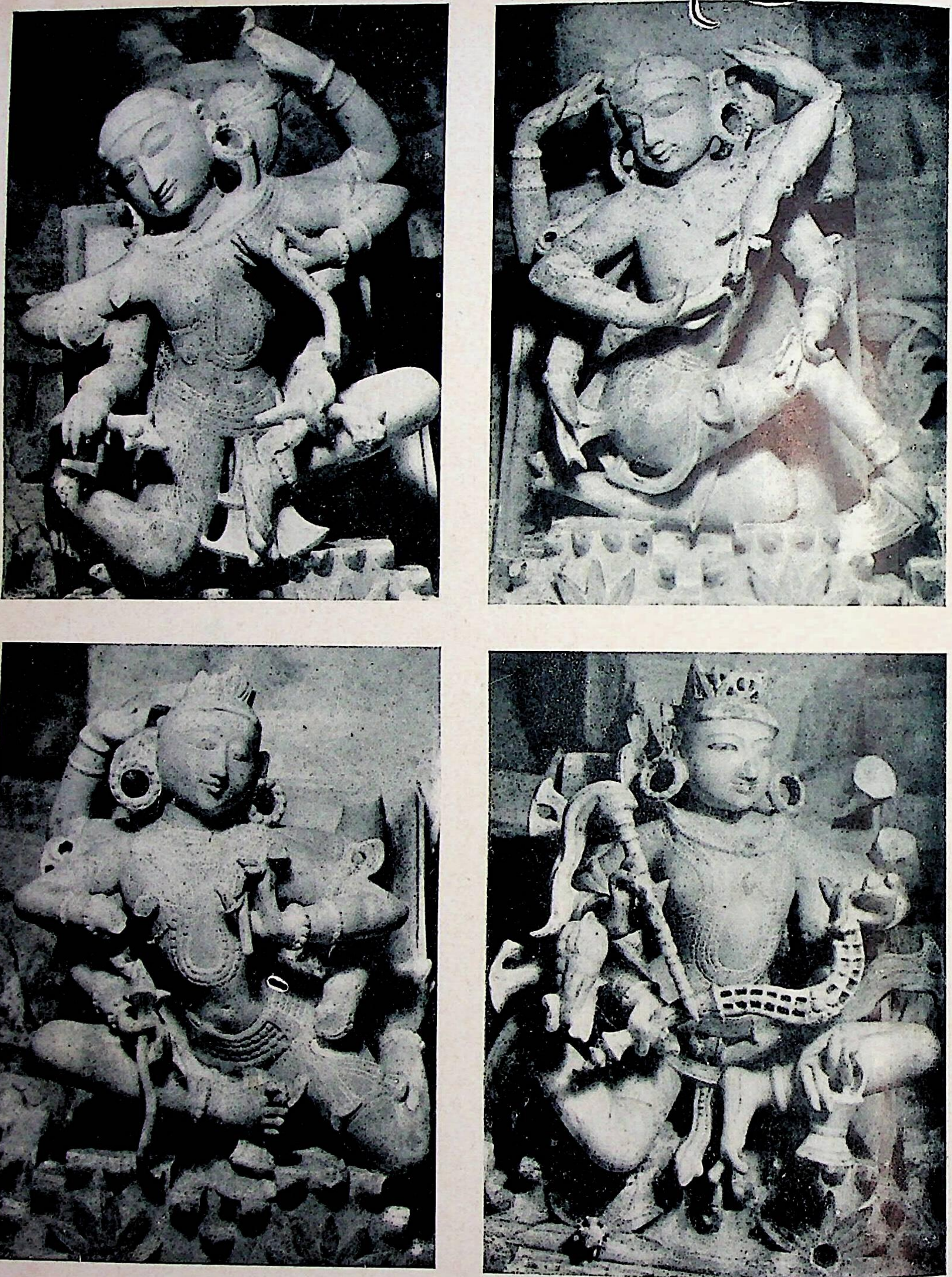

लूणवसही–आबु : स्तंभो परना गणधरो : तेरमी सदी
Pillar bracket dwarfs, Lūṇa-Vasahī, Ābu, c. 13th Century

तसवीर : श्री० जगन मेहता]

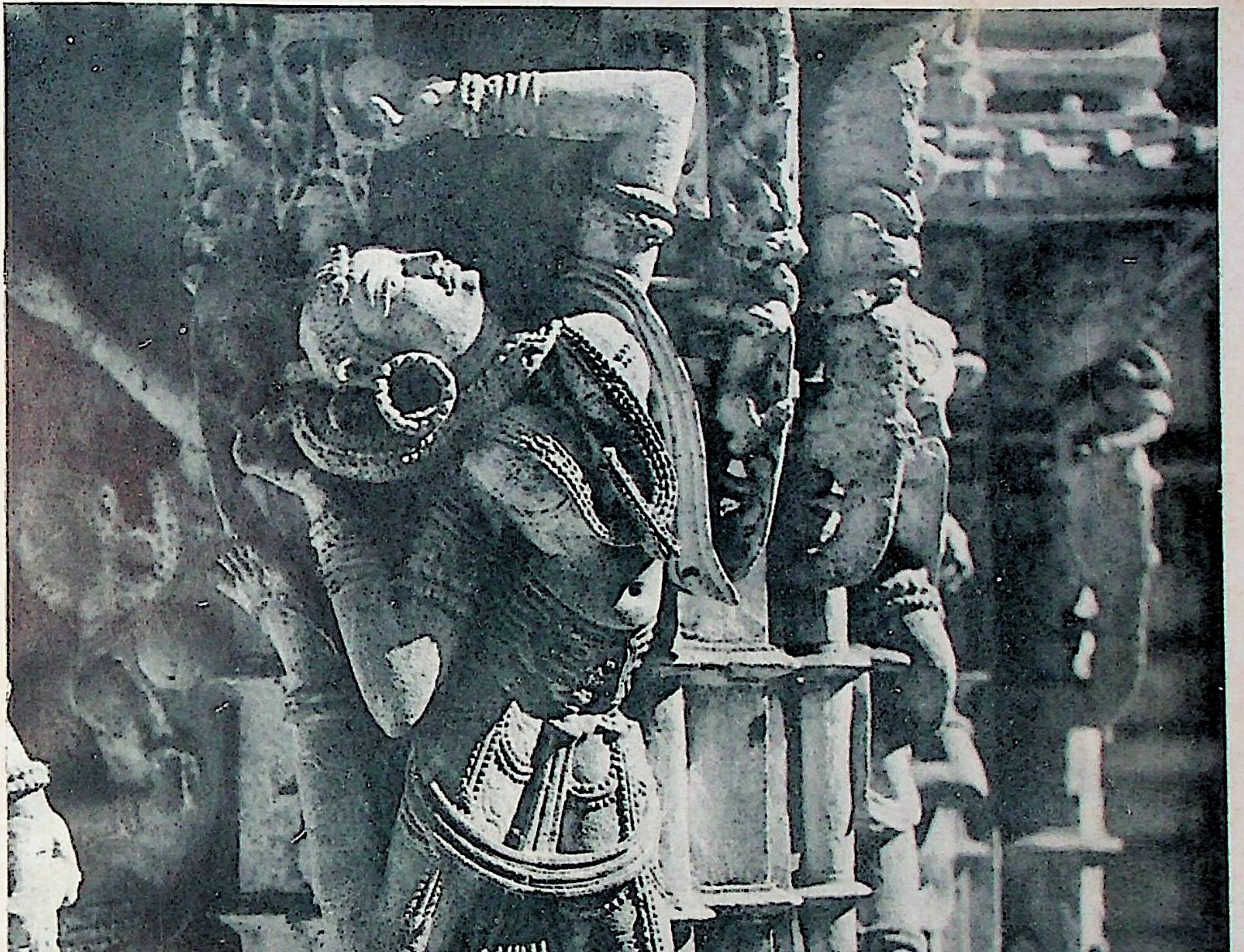

शेठ हठीसिंगे बन्धावेल जिनप्रासादनी दीवालपरनी कलामय शिल्पमूर्ति, अमदावाद, (१९मी सदी)
Reliefs on the walls of Hathising temple, Ahmedabad, 19th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

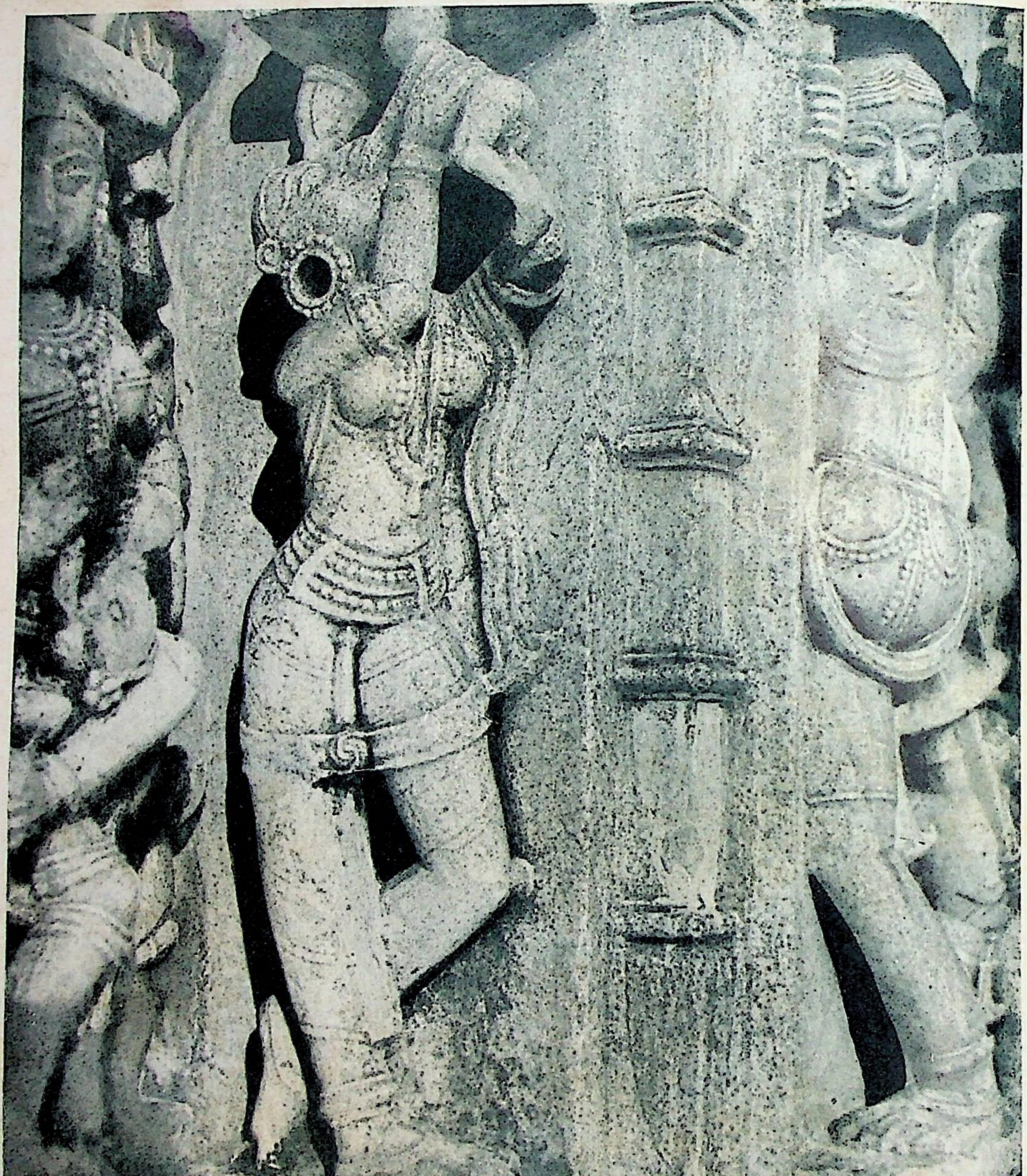

राणकपुरना चतुर्मुख जिनप्रासादनी दीवालोपरनी शिल्पसमृद्धि, १५मी सदी
Female figures on the walls of the temple at Rāṇakpur, 15th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

भट्टारक कनककुशल और कुअरकुशल

श्री अगरचंदजी नाहटा

जैन मुनियों ने साहित्य एवं समाज की नानाविध सेवाएँ की हैं। उनका जीवन बहुत ही संयमित होता है, अतः उनकी आवश्यकताएँ थोडे समय के प्रयत्न से ही पूरी हो जाने से अन्य सारा समय वे आत्म-साधना, साहित्य-सृजन और पर कल्याण में ही लगा देते हैं। उनका जीवन आदर्श रूप होता ही है और उनके साहित्य में भी लोक कल्याणकारी भावना का दर्शन होता है। अधिकांश मुनि वाणी द्वारा तो धर्मप्रचार करते ही हैं पर साथ ही साहित्य-सृजन द्वारा भावी पीढियों के लिये भी जो महान् देन छोड जाते हैं उसके लिये जितनी कृतज्ञता स्वीकार की जाय, थोडी है।

जनभाषा में धर्मप्रचार व साहित्य—सृजन जैन मुनियों का उल्लेखनीय कार्य रहा है। भारत की प्रत्येक प्रधान प्रान्तीय भाषाओं में रचा हुआ जैन साहित्य इसका उज्ज्वल उदाहरण है। श्वेताम्बर जैन मुनियों का विहार राजस्थान एवं गुजरात में अधिक रहा अतः राजस्थानी एवं गुजराती को तो उनकी बडी देन है ही, पर हिन्दी भाषा के प्रभाव एवं प्रचार ने भी उनको आकर्षित किया। फलतः १७ वीं शताब्दी से उनके रचित हिन्दी भाषा के छोटे बडे ग्रंथ अच्छे परिमाण में प्राप्त होते हैं। ये हिन्दी रचनाएँ विविध विषयों की होने से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका संक्षिप्त परिचय मेरे "हिन्दी जैन साहित्य" लेख में दिया गया है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में कच्छ जैसे अहिन्दी भाषी प्रदेश में व्रज भाषा के प्रचार एवं साहित्य-सृजन में दो जैन मुनियों का जो उल्लेखनीय हाथ रहा है, उसका परिचय अभी तक हिन्दी एवं जैन जगत को प्रायः नहीं है। इसलिये प्रस्तुत लेख में भट्टारक कनककुशल और उनके शिष्य कुंअरकुशल की उस विशिष्ट हिन्दी साहित्य सेवा का परिचय करवाया जा रहा है।

कनककुशल नामक एक और तपागच्छीय विद्वान् प्रस्तुत लेख में परिचय दिये जाने वाले कनककुशल से १२५ या १५० वर्ष पूर्व हो चुके हैं। उनसे तो जैन संसार परिचित है। वे विजयसेनसूरि के शिष्य थे। उनकी रचित "ज्ञानपंचमी कथा" बहुत प्रसिद्ध है जो संवत् १६५५ में मेडता में रची गई। उनकी अन्य रचनाएँ "जिनस्तुति" (संवत् १६४१), "कल्याणमंदिर" टीका, विशाल लोचन स्तोत्र वृत्ति (संवत् १६५३ सादडी), साधारण जिनस्तव अवचूरी, रत्नाकर पंचविंशतिका टीका, सुरप्रिय कथा (संवत् १६५६), रौहिणेय कथा (संवत् १६५७) में रचित प्राप्त हैं। पर जिन कनककुशल का परिचय आगे दिया जायगा। उनकी जानकारी प्रायः जैन समाज को नहीं है। क्यों कि जैन धर्म सम्बन्धी उनका ग्रंथ नहीं मिलता। उनके गुरु का नाम प्रतापकुशल था। संवत् १७९४ के आसपास से इनके हिन्दी ग्रंथ मिलते हैं। आपके शिष्य कुँअरकुशल ने "लखपतमंजरी" में कविवंश वर्णन में अपनी गुरु परंपरा का परिचय अठ्ठाइस पद्यों में दिया है। मूल पद्य लेख के अन्त में दिये जायेंगे। यहाँ उनका सार ही दिया जाता है।

कविवंश वर्णन का सार

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर प्रभु के पचपनवें पट्ट पर श्रीहेमविमलसूरि[1] हुए। ये गुरु बड़े

---

[1] इनका जन्म सं. १४३२ दीक्षा १५३८ आचार्यपद १५४८ स्वर्ग सं. १५८३ है।

उपकारी और अबू सैद सुल्तान को प्रतिबोध देनेवाले थे। इनके पट्ट पर कुशलमाणिक्य, फिर सहजकुशल[२] हुए जिनके वचन से बाबर बादशाह ने जजिया-कर छोडा था। इनके पट्ट पर क्रमशः लक्ष्मीकुशल, देवकुशल, धीरकुशल हुए। इनके पट्ट पर शील सत्य धारक और तपस्वी गुणकुशल हुए। फिर प्रतापकुशलजी बडे प्रतापी हुए, जिनका शाही दरबार में सम्मान था। ये चमत्कारी व वचनसिद्धिधारी थे। एक बार औरंगजेब को कोई सिद्धि की बात बतलाई जिससे उसने पालकी और फौज को भेज कर फरमान सहित बुलाया और मिल कर बड़ा खुश हुआ। ये हिन्दी और फारसी भाषा भी पढ़े थे। इन्होंने बादशाह के प्रश्नों के उत्तर समीचीन दिये तथा मन की बातें इष्ट के बल से बतलाईं। बादशाह ने दस पांच गाँव दिये पर इन निर्लोभी गुरु के अस्वीकार करने पर पालकी देकर उन्हें विदा किया। इनके पट्ट पर कविराज "कनककुशल" हुए, जिन्हें महा बलवान् महाराज अजमाल व अजमेर का सूबेदार और अन्य राजा लोग मानते थे। नबाब "खानजहाँ" बहादुर तथा जूनागढ के सूबेदार बाबीवंशी शेरखान ने भी इनका बड़ा सम्मान किया। एकबार सारे यति एक ओर तथा ये एक ओर हो गये तो भी तपों के ६५ वें पाट पर इनके मनोनीत पट्टधर स्थापित किये गये। इन्हें राउल देसल के पुत्र कच्छपति लखा कुमार ने गाँव देकर अपना गुरु माना। इनका बहुत से विद्वान शिष्यों का परिवार था जिसमें "कुंअरेस" कवि को नृपति लखपति बहुत मानते थे। कच्छ नरेश के आग्रह से कवि कुंअरेस ने यह "लखपत मंजरी" ग्रंथ बनाया।[३]

जैसा कि उपर्युक्त सार से स्पष्ट है कि कनककुशल और कुँअरकुशल दोनों गुरु–शिष्य कच्छ के रावल लखपत से बहुत सम्मानित थे। कनककुशल को लखपत ने एक गांव देकर अपना गुरु माना था। इस प्रसंग का वर्णन एक फुटकर पद्य में भी पाया जाता है। वह इस प्रकार है:

महाराउ **देसल** वसंद पाटेत सहसकर, उभय पछ आचार शुद्धसंग्राम सूरवर
कलप वृछ कलि मांझि प्रगट जादौं पछिम पति, महिपति छत्रिय मुगट छत्रपति तनवह गुन गति।
लखपति जु राउ लाखनि बकस, कियो **कनक** को श्रम सफल,
सासन गजेन्द्र दीनो सुपिर, पद भट्टारक जुत प्रबल ॥ १ ॥

---

[२] सिद्धान्त हुंडी के रचयिता

[३] उपर्युक्त विवरण के अनुसार कनककुशलजी का प्रभाव पहले अजमेर जूनागढ़ आदि के शासकों पर था। कच्छभुज पीछे पधारे अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे भुज कब आये? क्योंकि यहाँ आने बाद तो राज्यसन्मान प्राप्त होने से अधिकतर यहीं रहने लगे ऐसा प्रतीत होता है। विचार करने पर यह समय सं. १७८० से ९० के बीच का ज्ञात होता है। लखपत का राज्यकाल १७९८ से १८१७ का है। कच्छ के इतिहासानुसार स्वर्गवास के समय उनकी आयु ४४ वर्ष की थी, अत: लखपत का जन्म सं. १७७३ होना चाहिये। हमीर कवि रचित यदुवंश वंशावलि सं. १७८० ही है। उसमें कुमार लखपत का उल्लेख है। राउल लखपत कुमार अवस्था में भी बड़े कला व विद्याप्रेमी थे। उनके रचित १ शिवव्याह एवं लखपत श्रृंगार ये दो ग्रन्थ हैं। कच्छकलाधर में आप के रामसिंह मालम द्वारा उद्योग धन्धों व कला की हुई उन्नति का उल्लेख है। मीना व काच आदि के हुन्नर के लिये कच्छ देश सर्वत्र विख्यात है लिखा गया है। लखपत एवं कनककुशलजी के सम्बन्ध में कच्छकलाधर के पृ. ४३४ में लिखा है कि "महाराओ श्री लखपते कलानी माफक विद्याने पण खूब आश्रय आपेल छे। तेमणें पोते भट्टारकजी कनककुशलजी पासेथी व्रजभाषाना ग्रन्थोंनो सारो अभ्यास कर्यो हतो अने तेमनी ज देखरेख नीचे तेमणे जे व्रजभाषा शीखवानी हिन्दभरमां अजोड़ एने एक उत्तम प्रकारनी संस्थानी स्थापना करी छे। आ शाळा आज पण कच्छभुजमां हस्ति धरावे छे अने दूर दूरथी चारण बाळको पिंगल आदि शास्त्रोनो अभ्यास करवा अहीं आवे छे तेमने खोराकीपोसाकी सहित व्रजभाषानुं शिक्षण आपवामां आवे छे। महाराओ श्री लखपत विद्वान होतां छतां अत्यन्त विलासी हता।"

देसल राउ को नंद **लखपति** जीवौ शतानंद के जु सौलौं
राज करौ महिमंडल इकु छत्र शशि रवि सागर तौंलौं
शासन दीनो अभंग सुमेरु सो तोहि वखान करे कवि कौलौ
साचो **भट्टारक** कीनो **कनक** कनक के पाट परंपर जौंलौ।

अर्थात्—राउल लखपति ने कनक कुशल को गाँव का पट्टा और हाथी दिया और साथ ही भट्टारक पद भी। ग्रामका शासन कनककुशल के शिष्यपरंपरा तक का था।

कच्छ के इतिहास में लिखा है कि कनककुशलजी से लखपत ने व्रज भाषा के ग्रन्थों का अभ्यास किया था और उन्हीं के तत्त्वावधान में छन्द एवं काव्यादि के शिक्षण के लिये एक विद्यालय स्थापित किया था। उस विद्यालय में किसी भी देश का विद्यार्थी व्रज भाषा के ग्रन्थों का अभ्यास करने आता तो उसे दरबार की ओर से पेटिया (भोजन सामग्री) देने की व्यवस्था की गई थी। इसलिये भाट चारणों के लड़के दूर दूर से यहाँ अध्ययन के लिये आते थे[1]। आत्माराम केशवजी द्विवेदी के कच्छ देश के इतिहास के अनुसार यह विद्यालय संवत् १६३२ तक कनककुशल की परंपरा के भट्टारक जीवनकुशलजी की अध्यक्षता में चल रहा था। यद्यपि अब भी एक ऐसा ही विद्यालय चारणों की देखरेख में चल रहा है पर वह वही है या उससे भिन्न, निश्चित ज्ञात नहीं है। करीब डेढ सौ वर्षों तक व्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य के परिचायक ग्रन्थ मिश्रबंधु विनोद के पृ. ६६७ में कनककुशल और कुँअरकुशल को भाई एवं जोधपुर निवासी बतलाते हुए इनके 'लखपत जस सिंधु' ग्रंथ का उल्लेख किया है। पर वास्तव में वे गुरु-शिष्य थे व जोधपुर निवासी नहीं थे। हमारे अन्वेषण में उन दोनों के और भी अनेक ग्रंथों का पता चला है जिनका परिचय आगे कराया जायगा। कुछ फुटकर पद्यों में कनककुशल का यशवर्णन पाया जाता है जिनमें से कुछ यह हैं:

पंडित प्रवीन परमारथ के बात पाऊं, गुरुता गंभीर गुरु ज्ञान हुँ के ज्ञाता हैं
पांचु व्रत पालै राग द्वेष दोऊं दूर टालैं, आवै नर पास वाकुं ज्ञान दान दाता हैं
पंच सुमति तीन गुपति के संगी साधु, पीहर छः काय के सुहाय जीव त्राता हैं
सुगुरु **प्रताप के** प्रताप पद भट्टारक, **कनककुशलसूरि** विश्व में विख्याता है।

भट्टारक के भाव तें, ग्रंथ बडे की बूझि।
गीत कवित्त अरु दोहरा, सबै परत मन सूझि।
आनन सोहत बानि सदा, पुनि बुद्धि घनि तिहुँ लोकनि जानि
पिंगल भाषा पुरातनि संस्कृत तो रसना पे इती ठहरानि।
साहिब श्री **कनकेश भट्टारक**, तो वपु गजे सदा रजधानी
जौं लौं है सूरज चंद्र रु अंबर, तौं लौं है तेरे सहाय भवानी।

राज्याश्रय के कारण कनककुशल की शिष्यपरंपरा ने हिन्दी साहित्य के सृजन और शिक्षण में विशेष सफलता प्राप्त की। कच्छप्रदेशवर्त्ती मानकुआ गांव ही संभवतः इनकी जागीरी में था इसलिये वहां इनकी शिष्य सन्तति द्वारा लिखित अनेक प्रतियाँ देखने को मिली हैं। इस विद्वद् परंपरा का वहाँ अच्छा ज्ञान भंडार

---

[1] कच्छ कलाधर, भाग २, पृ. ४३४

था जिसकी प्रतियाँ गत २।३ वर्ष में ही बिक कर कुछ तो मुनि जिनविजयजी से खरीदी जाकर राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर के संग्रह में चली गई। अवशेष मुनिवर्य पुण्यविजयजी के द्वारा खरीदी जाकर पाटन के हेमचंद्र-सूरि ज्ञान मंदिर में संग्रहीत हो चुका हैं। राजस्थान पुरातत्व मंदिर से, ढाई वर्ष पूर्व आबू समिति के प्रसंग से यहाँ जाने पर मैं कुछ प्रतियाँ लाया था और उन में से तीन का परिचय "जीवन साहित्य" के मार्च, जून १९५३ में प्रकाशित किया गया था ! तदनन्तर अहमदाबाद के इतिहास सम्मेलन की प्रदर्शिनी में पुण्यविजय जी द्वारा संग्रहीत प्रतियें देखने को मिलीं। उन्हें मंगवा कर विवरण ले लिया गया। यहाँ इन दोनों स्थानों से प्राप्त कनककुशल, कुँअरकुशल और लक्ष्मीकुशल की हिन्दी रचनाओं का क्रमशः परिचय दिया जा रहा है।

भट्टारक कुंवरकुशल के हिन्दी ग्रन्थ

१. **लखपतमंजरी नाममाला :** इसकी पद्य संख्या २०२ है। प्रारम्भ में भुजनगर और महारावल लखपत के वंश का वर्णन १०२ पद्यों तक में दिया गया है। फिर नाममाला प्रारम्भ होती है जो २०० पद्यों तक चलती है। अंतिम दो पद्य प्रशस्ति के रूप में हैं। इसकी दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें पाटणवाली पहली प्रति में पद्य-संख्या २०५ है, पत्र-संख्या १४। इसकी प्रशस्ति इस प्रकार हैं: "इति श्रीमन् महाराउ श्री देशलजी सुत महाराज कुमार श्री सात श्री लखपति मंजरी नाममाला सम्पूर्ण ।। सकल पंडित कोटि-कोटीर पंडितेन्द्र श्री १०८ श्री प्रतापकुशल-ग. शिशुना **कनककुशलेन रचिता।** संवति १७९४ बरसे आसाढ सुदी ३ सोमे।" इससे रचनाकाल १७९४ सिद्ध होता है। दूसरी प्रति जयपुरवाली संवत १८३३ की लिखित है। उसमें पद्य २०२ हैं।

रावल लखपति के नाम से रचे जाने के कारण इसका नाम 'लखपत-मञ्जरी' रक्खा गया। आदि-अन्त इस प्रकार है:

विबुध वृन्द वंदित चरण, निरुपम रूपनिधान।
अतुल तेज आनन्दमय, वंदहु हरि भगवान।। १ ।।

अन्त : लखपति जस सुमनस ललित, इकत्ररनी अभिराम।
सुकवि **कनक** कीन्ही सरस, नाम-दाम गुण धाम ।। १ ।।
सुनत जासु है सरस फल, कल्मस रहै न कोय।
मन जपि **लखपतिमंजरी,** हरि दरसन ज्यों होय ।। २ ।।

२. **सुन्दर श्रृंगार की रसदीपिका भाषा टीका :** शाहजहाँ के सम्मानित महाकविराज सुन्दर के रचित सुन्दर श्रृंगार की यह भाषाटीका लखपति के नाम से ही रची गई। इसका परिमाण २८७५ श्लोकों का है जिनमें मूल पद्य तो ३६५ ही हैं। इसकी दो प्रतियां पाटन से प्राप्त हुई हैं जिनमें एक के अन्तमें "इतिश्री सुन्दर श्रृंगारिणी टीका भट्टारक श्रीकनककुशलसूरिकृत संपूर्णः" लिखा है इससे टीकाकार कनककुशल सिद्ध होते हैं, अन्यथा प्रशस्ति में तो कुंवर लखपति द्वारा रचे जाने का उल्लेख है। यथा अथ टीकाकृत दोहा—

यह सुंदर सिंगार की, रसदीपिका सुरंग।
रची देशपति राउ सुत, लखपति लहि रसअंग ।। १ ।।

टीका : यह सुन्दर कविकृत सुन्दर सिंगारकी टीका रसदीपिका नांउं।
सुरंग भले रंग की रचि कहा बनाई महाराउ।

देशपति कहा कछ देशपति श्री देशल जू सुत कुंवार **लखपति** ने
लहि रस अंग पाइके रसमय कही रसिक अंग १।

इति श्री सुन्दर सिणगार नी टीका भट्टारक श्री कनककुशल सूरि कृत सम्पूर्ण ॥

यह टीका श्री लखपत के कुमारावस्था में ही रची गई। अतः संवत १७६८ से पहले की है। भट्टारक कनककुशल के ये दो ग्रन्थ ही मिले हैं पर अभी और खोज की जानी आवश्यक है। सम्भव है कुछ और रचनायें भी मिल जायें।

भट्टारक कनककुशल के हिन्दी ग्रन्थ

कुंवरकुशल कनककुशलजी के प्रधान शिष्य थे। वैसे उनके कल्याणकुशल आदि अन्य शिष्य भी थे। पर उनकी कोई रचना नहीं मिलती। महाराव लखपत और उनके पुत्र गौड़ दोनों से कुंवरकुशल सम्मानित थे। इन दोनों राजाओं के लिए इन्होंने ग्रन्थ-रचना की। जिनका समय संवत १७६४ से १८२१ तक का हैं। कुंवरकुशलजी की लिखी हुई कई प्रतियाँ पाटन से प्राप्त हुई थीं। जिनमें पिंगलशास्त्र (संवत १७६१), पिंगलहमीर (सं. १७६५), लखपतिपिंगल (सं. १८०७), गोहड़पिंगल (सं. १८२१) की लिखित हैं। ये कोश, छन्द, अलंकार आदि के अच्छे विद्वान थे। इन तीनों विषयो के आप के पाँच हिन्दी ग्रन्थ मिले हैं। जिनका परिचय इस प्रकार है।

१. **लखपति मंजरी नाममाला :** इसकी एक ही प्रति बारह पत्रों की जयपुर से प्राप्त हुई। जिसमें १४६ पद्य हैं। प्राप्त अंश में १२१ पद्यों तक लखपत के वंश का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और पिछले २८ पद्यों में कवि-वंश वर्णन है। मूल नाममाला का प्रारम्भ इसके बाद ही होना चाहिए जो प्राप्त प्रति में लिखा नहीं मिलता। संवत १७६४ के आसाढ सुदी २ को इनके गुरु ने इसी नाम का ग्रन्थ बनाया और उसके कुछ महीने पश्चात ही संवत १७६४ के माघ बदी ११ को इस नामवाले दूसरे ग्रन्थ की रचना उनके शिष्य ने की। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसकी पूरी प्रति प्राप्त होने पर ग्रन्थ कितना बड़ा है, पता चल सकेगा।

महारावल लखपति के कथनानुसार ही इस नाममाला की रचना हुई है। आदि अन्त के कुछ पद्य इस प्रकार है :

आदि : सुखकर वरदायक सरस, नायक नित नवरंग।
लायक गुनगन सौं ललित, जय शिव गिरिजा संग ॥ १ ॥

अन्त : करि **लखपति** तासौं कृपा, कह्यौ सरस यह काम।
मंजुल **लखपति मंजरी,** करहु नाम की दाम ॥ ४८ ॥

तव सविता को ध्यान धरि, उदित कर्यो आरंभ।
बाल बुद्धि की वृद्धि कौं यह उपकार अदंभ ॥ ४६ ॥

२. **पारसात नाममाला :** यह फारसी भाषा के पारसात नाममाला का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद है। पद्य संख्या ३५३ है। इससे कुंवरकुशल के फारसी भाषा के ज्ञान का पता चलता है। इसकी भी एक ही प्रति जयपुर-संग्रह से प्राप्त हुई है जो सं. १८२७ की लिखित है।

किय लखपति कुंअरेस कौं, हित करि हुकम हुजूर।
पारसात है पारसी, प्रगटहु भाषा पूर ॥ ६ ॥

बंछित वरदाता विमल, सूरज होहु सहाय।
पारसात है पारसी, व्रज भाषा जु बनाय ॥ १० ॥

सूरज सशि सायर सुधिर धुव्र जोलौं निरधार ।
तो लौं श्री **लखपत्ति** कौं, पारसात सौं प्यार ॥ ५३ ॥

इति श्री पारसात नाममाला भट्टारक श्री भट्टारक **कुंवरकुशलसूरिकृत संपूर्णः**

मूल पारसी ग्रन्थ का एक पद्य का अनुवाद यहाँ दिया जाता है :

खुदा के नाम, दावर खालक है खुदा-रब्बं कीजु रसूल ।
अलखें जोति भखें कहै, मर्घन जगत को मूल ॥ १ ॥

३. लखपति पिंगल : यह छंद ग्रन्थ लखपति के नाम से रचा गया है । इस की संवत १८०७ के पौष बदी ८ भोम वार को स्वयं कुंवरकुशल के लिखित ७१ पत्रों के प्रति पाटन भण्डार से प्राप्त हुई है। आदि अन्त इस प्रकार है :

आदि : साचै सूरयदेव की, करहु सेव **कुंवरेस**
कविताई है कामकी, अधिक बुद्धि उपदेस ॥ १ ॥

अन्त : गोरीपति गुन गुरु, कछ देस सुखकर
सूर चंद जो लौं थिर, लख**धीर** देत बर ॥ ६० ॥

गुरु जब किरपा की गुरव, सुरज भये सहाय
तब लखपति पिंगल अचल, भयो सफल मन भाय ॥ ६१ ॥

४. गौड़पिंगल : लखपति के पुत्र रावल गौड़ के लिए छंदशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया गया है। संवत १८२१ अक्षय तृतीया में इसकी रचना हुई । और उसी समय की वैसाख शुक्ल १३ ग्रन्थकार की स्वयं लिखी कृति पाटन भण्डार से प्राप्त हुई । लखपति पिंगल से यह ग्रंथ बड़ा है । इसमें ३ उल्लास हैं । आदि अंत इस प्रकार है :

आदि : सुखकर सूरज हो सदा, देव सकल के देव ।
कुंवरकुशल यातैं करै, सुभ निति तुमपय सेव ॥ १ ॥

अन्त : अट्ठारह सत ऊपरै, इकइस संवति आहि ।
कुंवरकुशल सूरज कृपा, सुभ जस कियो सराहि ॥ ६४४ ॥

सुदि वैसाखी तीज सुभ, मंगल मंगलवार ।
कछपति जस पिंगल कुंवर, सुखकर किय संसार ॥ ६४५ ॥

५. लखपति जस सिन्धु : यह अलंकार शास्त्र तेरह तरंगों में रचा गया है। महाराजा लखपति के आदेश से इसकी रचना हुई। आदि–अन्त इस प्रकार है :

आदि : सकल देव सिर सेहरा, परम करत परकास।
सिविता कविता दे सफल, इच्छित पूरै आस ॥ १ ॥

अन्त : कवि प्रथम जे जे कहे, अलंकार उपजाय।
कुंवरकुशल ते ते लहे, उदाहरण सुखदाय ॥ ८२ ॥

इति श्रीमन्त महाराज लद्मपति आदेशात सकल भट्टारक पुरन्दर म. श्री कनककुशलसूरि शि. कुंवरकुशल विरचिते, लद्मपति जससिन्धु शब्दालंकारार्थालंकार त्रयोदश तरंग। चुरु के यतिजी के संग्रह में इसकी प्रति देखी थी।

६. लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय : संवत १८१७ में महाराव लखपति जेठ सुदी ५ को कालधर्म प्राप्त हुए। जिसका वर्णन कवि ने ६० पद्यों में किया है। इस की एक ही प्रति जयपुर संग्रह से प्राप्त हुई है। आदि अंत इस प्रकार हैं :

आदि : दौलति कविता देत है, दिन प्रतिदिन कर देव
कविजन याते करत हैं, सुकर-सफल सुभचेव ॥ १ ॥

अन्त : यह समयो लखधीर को, कौ सुनै पढ़ै सुज्ञान
सकल मनोरथ सिद्धि हैं, परमसुधारस पान ॥ ६० ॥

प्रति में लेखक ने इसे "महाराज लखपतिजीना मरसिया" की संज्ञा दी है। जो उचित ही है।

७. महाराउ लखपति दुवावैत : इसकी प्रति ओलिये के रूप की हालही में मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई है। यह वर्णनात्मक खड़ी बोली हिंदी गद्य काव्य है। लगभग ५०० श्लोक परिमित यह रचना 'दुवावैत' संज्ञक रचनाओं में सबसे बड़ी और विशिष्ट है। वर्णन की निराली छटा पठते ही बनती है। आदि-अंत इस प्रकार है :

आदि : अहो आवो वे यार, बैठो दरबार।
ये चंदनी राति, कहो मजलसि की बाति।
कहो कौन कौन मुलक कौन राजा कौन देखे,
कौन कौन पातस्था देखे।

अन्त : जिनिकी नीकी करनी, काहू तैं न जाय बरनी।
अतुल तेज उछहतै च्यारों जुग अमर,
यह सदा सफल असी देत कवि **कुंअर** ॥

इतिश्री महाराउ लखपति दुवावैल संपूर्ण ॥

८. मातानो छन्द : यह तीस पद्यों का है। कच्छ के राजाओं की कुलदेवी आसापुरा की इसमें स्तुति की गयी है। इसकी दूसरी संज्ञा "ईश्वरी छंद" भी है। इसकी भाषा डिंगल है। आदि–अन्त इस प्रकार है :

आदि : वड़ी जोति ब्रह्माण्ड अम्बा विख्याता। तुमै आसपूरा सदा कच्छ त्राता ॥
रंग्या रंग लाली किया पाय राता। भजो श्रीभवानी सदा सुक्ख दाता ॥ १ ॥

अन्त : करी भटारक बीनती, धरो अम्बिका कान।
कुंअर कुशल कवि नै सदा, द्यो सुख-संपति दान ॥ ३० ॥

२६ वें पद्य में भुजपति गौहड़राव और उनके पुत्र कुंवर रायधन का उल्लेख है। अतः यह रचना परवर्ती ही है। खोज करने पर कुंवरकुशल के अन्य ग्रन्थ भी मिलने सम्भव हैं।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण इन्होंने अपनी रचना के प्रारम्भ में कहीं भी जैन तीर्थंकर आदि की स्तुति नहीं कर सूर्य, देवी और शिवशक्ति जो राजा के मान्य थे, उन्हींकी मंगलाचरण में स्तुति की है।

इन दोनों गुरु-शिष्यों का भट्टारक पद एवं सूरि-विशेषण भी विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करत है। जैन परम्परा के अनुसार ये दोनों पद विशिष्ट गच्छ नायक आचार्य के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। पर भट्टारक पद तो यहाँ राउ लखपति के प्रदत्त है। सूरि पद उसीसे संबंधित होने से प्रयुक्त कर लिया प्रतीत होता है। जैनपरम्परा के अनुसार उनका पद पन्यास ही था।

इन भट्टारक द्वय की परम्परा का प्रभाव व राज्यसंबंध पीछे भी रहा है। यद्यपि पीछे कौन कौन ग्रन्थकार हुए, ज्ञात नहीं हैं। उल्लेखनीय रचनाओं में लक्ष्मीकुशल रचित पृथ्वीराज विवाह ही है, जो संवत् १८५१ एवं ५२ पद्यों में रचा गया है। इस की २ प्रतियां जयपुर से प्राप्त हुई थीं। आदि अन्त इस प्रकार हैं:

आदि : संवत् अठारसें एकावन वैशाख मास वदि दसम दिन्न।
हिय हरष व्यापि थाप्यो जु ब्याह अवनी कछ लोक तिहु उछाह ॥ १ ॥

अन्त : भोजन कीन्हे बहु भांति भांति पावत जुत्र राति बैठ पांति।
परस परी करी पहरावनीय भई बात सबै मन भावनीय ॥ ५० ॥

इति श्री महाराउ कुमार श्री **प्रथीसिंह विवाहोत्सव : पँ. लिखमीकुशल कृत संपूर्णः** ॥

ये पृथ्वीराज महाराउ लखपत के पुत्र गौड़ के पुत्र थे। इन के बड़े भाई रायधनजी गद्दी पर बैठे।

कनककुशल की परंपरा में और भी कोई ग्रन्थकार हुए हों तो उनकी कोई बडी रचना मुझे प्राप्त न हो सकी। जयपुर संग्रह से प्राप्त एक गुटके में, जो उसी परम्परा के ज्ञानकुशल शिष्य कीर्तिकुशल का लिखा हुआ है, उसमें कुछ फुटकर रचनाएं अवश्य मिली हैं। जिनमें 'भाईजीनो जस' नामक रचना उपरोक्त पृथ्वीराज की प्रशंसा में लक्ष्मीकुशल के रचित फुटकर पद्यों के रूप में हैं। इसी प्रकार गंगकुशल रचित सात श्लोकों का एक स्तोत्र और अन्य कई कवियों की लघु कृतियाँ हैं। उनमें कुछ पद्यों के रचयिता का नाम नहीं ह। और कुछ नामवाले कवियों का इस परम्परा से क्या सम्बन्ध रहा है, पता नहीं चल सका, इसलिए यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। यह गुटका सं. १८८८ में ज्ञानकुशल के शिष्य कीर्तिकुशल ने मानकुंआ में मुनि गुलालकुशल और रंगकुशल के लिए लिखा। इसके बाद की परम्परा के नाम ज्ञात न हो सके।

इस परम्परा के यतिजी के ज्ञानभण्डार की समस्त प्रतियाँ के अवलोकन करने पर संभव है और भी विशेष एवं नवीन जानकारी प्राप्त हो। अन्य विद्वानों से अनुरोध है, कि वे अपनी विशेष जानकारी प्रकाश में लाएं।

लखपतमञ्जरी का कविवंश वर्णन

राजेसुर पहिलैं **रिषभ**, साधि जोग शुभ ध्यानु।
ज्योतिरूप भये ज्योतिमिति, विमलज्ञान भगवानु ॥ २२ ॥

सकलराजमण्डल सिरै, सेवत जिन्हें सुचीशु।
तीर्थंकर तैसे भये, बहुरि और बाईसु ॥ २३ ॥

महावीर राजनिमुकुट अतुलबली अरिहंत।
वैसे ही चौवीस ए, भये आपु भगवंत ॥ २४ ॥

सेवत जाहि मुनीश सुर प्रभुता कौ नाहिं पारु।
जय जय श्री जिनराज जय, साशन को सिंगारु ॥ २५ ॥

तिनि तें पंचपन में तखत, सिरीपूजि सिरताजु।
हेमविमल सूरीश्वर, जागे धरम जिहाजु ॥ २६ ॥

पर उपकारी परमगुरु वेतमाह शुभ वेस।
अबू सैद सुलतान उनि प्रतिबोधित उपदेस ॥ २७ ॥

भये **कुशल माणिक्यभुव** पंडित तिनिके पाट।
तैसे ही तिनिके तखत, **सहज कुशल** शुभवाट ॥ २८ ॥

जाकौ महिमा जगतमें को करि सकै सराहि!
तज्यो जेजिया ता बचन, साहिब बब्बर साहि ॥ २९ ॥

लाइक पुनि लछमीकुशल पदधर तिनिके पाट।
देवकुशल तिनिके तखत, साधुनि कौ सम्राट ॥ ३० ॥

तिनिके पट्टांबर नरनि, धीर कुशल भये धीरु।
कियो दूर कलिकलुषतम, बडे तपोबल वीरु ॥ ३१ ॥

गाजे तिनिके **गुण कुशल** अचल पट्टधर इन्द्र।
शील सत्य तप जप सहित चतुर चातुरी चन्द्र ॥ ३२ ॥

वखत बली तिनिके तखत, भये **प्रतापगुण** भानु।
श्री **प्रताप कुशल** सुगुरु, साहि निलय सनमानु ॥ ३३ ॥

जाकै संपति जनम तैं सदा साथ कै साथ।
बचनसिद्धि परसिद्धि सौं भई सिद्धि सब हाथ ॥ ३४ ॥

अेक समै **औरंग** सों, काहू करी पुकार।
कही बात कछु सिद्धि की, सुनी साहि सिरदार ॥ ३५ ॥

पासि बुलाए पालखी, फौज भेज फुरमान।
जबै जुरी चारों निजरि तबै भयो गलतान ॥ ३६ ॥

पढ़े हिन्दवी पारसी, गुरुजु अकलि गुराब।
पूछें दिल्लीपति प्रसन जिनके दये जुबाब ॥ ३७ ॥

और इष्ट बलिकर कही कितीक मन की बातु।
प्रेम निजरि आलिमपना बसु को किय वरसातु ॥ ३८ ॥

दये गाम दशपंच पै लिये न लालच धारि।
दे पालख अमोल दुति, विदा किये तिहि वारि ॥ ३९ ॥

प्रनवें तिनिके पाट अब जस रस किति जिहाजु ।
भरे भारती भारती **कनककुशल** कविराजु ॥ ४० ॥

मानै जिन्है महाबली, महाराज अजमाल ।
अरु सूबे अजमेरु के मानै कै महिपाल ॥ ४१ ॥

जानै खान जिहाँ जिन्हे, ब्हादर बड़े नुबाब ।
सैदनि को मामू सुधर, गुण सौरभ गुलाब ॥ ४२ ॥

जूनागढ़ सूबै जबर, बाबी वंश नुबाब ।
सरेखान जिन सुगुरु कौ अधिक बढ़ायो आब ॥ ४३ ॥

अरे जती इक और सब, एकु और कौं आपु ।
पाट तपां पंच सद्धिओं, थप्यो तउ निजु थापु ॥ ४४ ॥

तदनु राउल **देसल** तनुज, कच्छपति **लखाकुमार** ।
गुरु कहि राखै गाम दे, परम मान करि प्यार ॥ ४५ ॥

कच्छ इंद आजै रहैं और उ सुधी अनेकु ।
अखिल शास्त्रवेत्ता अधिकु, एकु एकु तें एकु ॥ ४६ ॥

पूज्य महापुन्यासके, पुष्टि जदपि परिवार ।
तदपि समों कुंअरेस को, आनत मन इतबार ॥ ४७ ॥

करि **लखपति** तासौं कृपा, कह्यौ सरस यह काम ।
मंजुल **लखपति मंजरी,** करहु **नाम की दाम** ॥ ४८ ॥

तब सविता को ध्यान धरि, उदित कर्यों आरंभ ।
बाल बुद्धि की वृद्धि को, यह उपकार अदंभ ॥ ४९ ॥

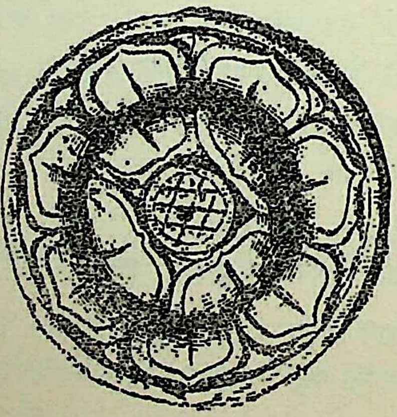

जिनप्रतिमा और जैनाचार्य

पं० श्रीहंसराजजी शास्त्री

“परस्पराधीतविलोमपाठा सा भारती सा कमलालया च।
निसर्गदुर्बोधपदार्थविज्ञा, स्वां स्वां विभूतिं तनुतां मयीष्टाम्॥”

जैन परम्परा में चैत्य शब्द के शिष्टसम्मत प्राचीन मौलिक अर्थ में प्रतिबिम्बित होनेवाली जिन प्रतिमा को जैनागमों में कहां और किस प्रकार से विधेयता प्राप्त है यह एक अलग विषय है। इस विषय के विचार को किसी और समय के लिये सुरक्षित रखते हुए, इस वक्त तो हम यह देखने का यत्न करेंगे कि जैनपरम्परा के विशिष्ट श्रुतसम्पन्न युगप्रधान आचार्यों का इस विषय में क्या मत है।

इस सम्बध में जहां तक हमारा पर्यालोचन है, हमें तो इनके रचे हुए ग्रन्थों में जिन प्रतिमा का समर्थन अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह बात उनके रचे हुए ग्रन्थों के कतिपय निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है—

प्रशमरति[1] प्रकरण—वाचक उमास्वातिने प्रशमरति के २२ वें अधिकरण में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रस्ताव में लिखा है—

---

१. (क) यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति की अन्य प्रौढरचनाओं में से एक है और इसके उमास्वातिरचित होने में निम्नलिखित प्रमाण हैं--

“पसमरइपमुहपयरण पंचसया सक्कया जेहिं।
पुव्वगय वायगाणं, तेसिमुमासाइनामाणं” [गणवर सा. श. गा. ५—श्रीजिनदत्तसू.]

अर्थात् प्रशमरति प्रमुख पांच सौ ग्रन्थों की रचना करने वाले वाचक उमास्वातिको--

(ख) प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे।

अर्थात् जिसने इस वैराग्य पद्धति (प्रशमरति) का निर्माण किया है ऐसे प्रशांत और यथार्थवादी वाचकमुख्य (उमास्वाती) को मैं नमस्कार करता हूं।

(ग) तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्रीसिद्धसेन प्रशमरति को भाष्यकार की ही कृति सूचित करते हैं। यथा—“यतः प्रशमरतौ (का. २०८) अनेनैवोक्तं परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजन्ति यः।” वाचकमुख्येन त्वेतदेव बलसंज्ञयाप्रशमरतौ (का. ८) उपात्तम् [५।६ तथा ६।६ की भाष्यवृत्तिः] ××× प्रशमरति की १२० वीं कारिका—“आचार्य आह” कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता श्री जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो कि उन्होंने अपनी नन्दीसूत्र की चूर्णि में बतलाया है। इस पर से ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इस से और ऊपर बतलाये गये कारणों से यह कृति, वाचक की ही हो तो इस में कोई इनकार नहीं” [पं. श्रीसुखलालजीशास्त्री-तत्त्वार्थपरिचय ५०१७ का नोट].

(घ) श्री हरिभद्रसूरि ने भी प्रशमरति को वाचक उमास्वाति की रचना माना है तथा—“यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे” ऐसा कहकर श्रीहरिभद्रसूरि, भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वी और दोसौं ग्यारहवीं कारिका उद्धृत करते हैं [तत्त्वार्थपरिचय ८०३१ का नोट]

चैत्यायतनप्रस्थापनानिं कृत्वा च भक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः[२] ॥ ३०५॥

अर्थात्-सम्यग् दृष्टिगृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक चैत्य-जिन-प्रतिमा को आयतन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करके उनका गन्धपुष्पधूपदीप आदि सामग्री के द्वारा पूजन करे।

प्रशमरति की इस कारिका में वाचक उमास्वाति ने चैत्य शब्द, प्रतिमा के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और "आयतन" का मन्दिर अर्थ तो स्फुट ही है। तात्पर्य कि इस स्थान में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का जिन बिम्ब-जिनप्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं हो सकता। इस कथन से हमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि वाचक उमास्वाति जैसे पूर्ववित् भी चैत्य का मूर्ति ही अर्थ करते और समझते हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थभाष्य की आरम्भिक सम्बन्धकारिकाओं में उल्लेख की गई निम्नलिखित आठवीं कारिका भी द्रष्टव्य है। आचार्य कहते हैं—

"अभ्यर्चनादर्हतो मनःप्रसादस्तथा समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयस-मतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥"

अर्थात्—अर्हन्तों–तीर्थंकरों के पूजन से रागद्वेषादि दुर्भाव दूर होकर चित्त–प्रसन्न होता है–निर्मल बनता है। और मन के प्रसन्न निर्विकार होने से समाधि ध्यान में एकाग्रता प्राप्त होती है। एवं समाधि की प्राप्ति से कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षपद की उपलब्धि होती है। अतः तीर्थंकरों का पूजन करना सर्वथा न्यायोचित है।

इस उल्लेख में वाचक उमास्वाति ने द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की पूजा का निर्देश किया है जिसमें आरम्भ प्रसक्त गृहस्थों के लिये द्रव्य पूजा और आरम्भ के त्यागी मुनियों के लिये भाव पूजा है। इसीको द्रव्यस्तव और भावस्तव के नाम से अन्यत्र उल्लेख किया है।[३]

पउमचरियं—श्रीविमलसूरिविरचित पउमचरिय (पद्मचरित्र)—जो कि विक्रम की प्रथम[४] शताब्दी में रचा गया माना जाता है–में लिखा है कि—

इस के अलावा प्रशमरति पर श्रीहरिभद्रसूरि ने स्वयं व्याख्या लिखी है। यथा—श्रीहरिभद्राचार्यरचितं प्रशमरतिविवरणं किंचित् परिभाव्य वृद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन" [प्रशमरति की प्रस्तावना जैन० प्र० स० भावनगर] इत्यादि प्रमाणों से प्रशमरतिप्रकरण वाचक उमास्वाति की ही कृति निश्चित होता है। उनका [वाचक उमास्वाति का] समय यद्यपि अभी तक अनिश्चित ही है तो भी वे विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी से अर्वाचीन तो नहीं हैं।

[२] चैत्यं चितयः प्रतिमा इत्येकार्थाः, तेषामायतनमाश्रयः चैत्यायतनानि। प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि, महत्याविभूत्या वादित्रनृत्यतालानुचरस्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापनं प्रतिष्ठेति, तानि कृत्वा शक्तितः प्रयत्नवान् यथा प्रवचनोद्भावनं भवति तथा कृत्वेति। पूजा सपर्या, गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धि, माल्यं पुष्पं, अधिवासः पटवस्त्रादि, धूपः सुरभिद्रव्यसंयोगजः, प्रदीपः प्रदीपदानं, आदि ग्रहणादुपलेपन-संमार्जन–खंडस्फुटित-संस्करण-चित्रकर्माणि चेति। [कारिका पृ. ८३]

[३] इसके लिये देखो आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य तथा पूज्य हरिभद्रसूरिजी का निम्न उल्लेख—
दव्वत्थय भावत्थयरूवं एयमिय होत्ति दट्ठव्वं ।
अण्णोण्णसमनुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु ॥ पंचा. ६। २७ ॥

[४] पंचेव सय वाससया, दुसमाए वीसवरसंसजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुपागये तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ पृ० ३६५ ॥
अर्थात जब वीर निर्वाण को ५३० वर्ष हो चुके थे (वि. सं. ६० में) तब इस चरित्र की रचना की गई।

"वंदणविहाणपूयणकमेण काऊण सिद्धपडिमाणं ।
अह ते कुमारसीहा चेइयभवणा पइसरंति" ॥ [१७० पृ. २४]

अर्थात्—वे राजकुमार सिद्धप्रतिमाओं का यथाक्रम विधिपूर्वक वंदन पूजन करके चैत्यभवन से बाहर आते हैं।

इस उल्लेख से प्रतिमा पूजन को जो समर्थन प्राप्त होता है वह किसी अन्य स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता।

वृहत्कल्प[1] भाष्य—वृहत्कल्प भाष्य की निम्न लिखित गाथा में अदृष्टपूर्व युगप्रधान आचार्यों तथा विशुद्ध संयमी श्रुत सम्पन्न साधुओं एवं पुराणे और नये चैत्यों–प्रतिमाओं को वन्दनार्थ जाने का उल्लेख है—

"अपुव्वविवित्तबहुस्सुआ य परियारवं च आयरिया।
परिवार वज्जसाहू. चेइय पुव्वा अभिनवा वा। (२७५३ पृ. ७७६)

यहां पर उल्लेख किये गये पुरातन और नवीन चैत्यों का अर्थ पुराणी और नई जिन प्रतिमायें ही संभव हो सकता है। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है—

"चैत्यानि पूर्वाणि वा चिरंतनानि जीवंत[2]स्वामिप्रतिमादीनि अभिनवानि तत्कालकृतानि-एतानि ममादृष्टपूर्वाणि इति बुध्या तेषां वन्दनाय गच्छति" अर्थात् यहां पुरातन से जीवंत स्वामी की प्रतिमा आदि को समजना और अभिनव से उस समयकी प्रतिष्ठित प्रतिमायें जाननी।

---

[1] वृहत्कल्पभाष्य के रचयिता युगप्रधान आचार्य संघदास गणि क्षमाश्रमण हैं। इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्व है और ये जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से कुछ प्राचीन हैं। पंचकल्पभाष्य और वसुदेव हिण्डी ये दोनों इन्ही की कृतियां हैं। [जैन सा. का इतिहास. ६.१४१]

[2] जीवंत स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा का प्राचीन जैनग्रन्थों में अनेक जगह उल्लेख पाया जाता है, उनके देखने से वह अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है। निशीथचूर्णि कल्पचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि,–आचार्य महागिरि तथा आचार्य सुहस्ति श्री जीवंत स्वामी की प्रतिमा के वादनार्थ विदिशा और उज्जयनी में गये ।

यथा—

(क) अण्णया आयरिया विति दिसे जिय पडिमं वंदियागता (निशी. चू. पृ. १६१)

(ख) दोविजणा वितिदिसंगया, तत्थ जियपाडिमं वंदित्ता अज्ज महागिरी एकच्छं गया गयग्ग पद वंदया × × × सुहत्थी वि उज्जेणि जियपड़िमं वंदियागया (आ. चूर्णि)

(ग) "इत्तों अज्जसुहत्थी उज्जेणि जियसामिं वंदओ आगओ" (कल्पचूर्णि) आर्यमहागिरी और आर्य सुहस्ति ये दोनों आर्य स्थूलभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य हैं। इनकी दीक्षा वीर निर्वाण १६१ और २२१ में तथा युग प्र. २१५ और २४५ में हुआ [वीरानि. सम्वत् और जैनकालमणना पृ. ६४] इससे साबित होता है कि विक्रमपूर्व तीसरी शताब्दीसे भी वहुत पहले जीवंत स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा जैन परम्परा में विशेष प्रख्यात थी। अतएव दूर दूर से भाविक गृहस्थ तथा संभावित मुनिवर्ग उसके दर्शनार्थ आते थे। इसका सबूत वसुदेव हिण्डी के निम्न लिखित कथांश से भी मिलता है—

"तेण सत्थेण समं वहुसिस्सिणीपरिवारा जिणवयणसारदिट्ठपरमत्था सुव्वया नाम गणिणी जीवंत-सामिवंदिया वच्चइ०" [पृ. ६१]

अर्थात् संघ के साथ अनेक शिष्याओं से परिवृत्त जिन प्रवचन के परमार्थ को जानने वाली सुव्रता नाम की गणिनी-प्रवर्तिनी जीवन्त स्वामी को वन्दना करने के लिये उज्जयिनी को जा रही थी।

जीतकल्प भाष्य—जीतकल्प और उसके सोपश भाष्य में भी साधु को दूर अथवा नज़दीक में रहे हुए चैत्य को वन्दना करने के लिये जाने का उल्लेख है—

(क) "चेइयवंदणहेउं गच्छे आसण्णदूरं वा (गाथा ७७४ पृ. ६६)
"चेइयवंदणनिमित्तं आसन्नं दूरं वा गच्छेज्जा" (चूर्णि पृ. ७)

(ख) विशेषावश्यकभाष्य के मूर्तिवाद समर्थक प्रकरण में से भी यहां एक गाथा का उल्लेख किया जाता है—

"कज्जा[1] जिणाण पूया परिणामविसुद्धहेउओ निच्चं।
दाणाइउ व्व मग्गप्पभावणाओ य कहणं वा ॥ ३२४७॥

इसका भावार्थ यह है कि गृहस्थ को प्रतिदिन जिनपूजा करनी चाहिये। क्यों कि यह दानादि की तरह परिणाम विशुद्धि का हेतु है। विशेषावश्यक भाष्य का यह समग्र स्थल देखने और मनन करने योग्य है।

(ग) आवश्यक भाष्य में द्रव्यस्तव और भावस्तव की व्याख्या इस प्रकार की है—
"दव्वत्थओ पुप्फाई, संतगुणकित्तणा भावे" (१९१)

अर्थात् पुष्पादि के द्वारा जिनप्रतिमा का अर्चन करना द्रव्यस्तव है[2] और भक्तिभाव से उनका गुणोत्कीर्तन-गुणगान करना भावस्तव कहलाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में महाराज उदायी के द्वारा उसकी राजधानी पाटलीपुत्र के मध्य में एक भव्य जिन मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है। यथा—

(क) नगरनाभीए उदा[3]इणा जिणघरं कारितं (पृ. १७८)

(ख) "णयरनाभिए य उदायिणा चेइयहरं काराविंयं—नगरनाभौ च उदायिना—चैत्यगृहं कारितं" [आ. वृ. पृ. ६८९]

आवश्यकचूर्णि और आवश्यक वृत्ति के उपर्युक्त उल्लेखों का समर्थन श्री जिनप्रभसूरि ने अपने

(इ) जीतकल्प और उसके भाष्य के निर्माता श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, और विशेषावश्यक भाष्य भी इन्ही की ही रचना है। जैन परम्परा में इन के व्यक्तित्व को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि इनके वचनो को उत्तरवर्ति आचार्यों ने आगमों की समान कक्षा में स्थान दिया है। जैन पट्टावलि के अनुसार इनका समय वीर निर्वाण से ११९५ (वि. सं. ४५५) आंका जाता है।

[1] छाया—कार्या जिनादिपूजा, परिणामविशुद्धिहेतुतो नित्यम्।
दानादय इव मार्गप्रभावनातश्च कथनमिव॥

[2] द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनम् (हरिभद्रसूरि आ. वृ. ४९२)

[3] उदायी अजातशत्रु कोणिक का उत्तराधिकारि था। उसका जन्म विक्रम पूर्व ४७८ में हुआ वीर निर्वाण के समय उसकी आयु ८ वर्ष की थी। विक्रमपूर्व ४३८ तथा वीर निर्वाण ३२ में राज्याभिषेक और वि. पूर्व ४१० तथा वीर निर्वाण ५० में स्वर्गवास हुआ।

जैनपरम्परा के प्राचीन इतिहास से जाना जाता है कि जैन राजाओं का यह नियम था कि जहां कहीं पर वे नवीन नगर या कोट आदि का निर्माण करते वहां साथ ही जिनमन्दिर की स्थापना भी कराते। इसके लिये कांगड़ा, जैसलमेर और जालोर (मारवाड़) आदि के प्राचीन दुर्गवर्ती जिन मन्दिर आज भी उदाहरण रूप में मौजूद हैं।

विविध तीर्थकल्प में "तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाकारि" (अर्थात् राजा उदायी ने पाटलीपुत्र नगर के मध्य में श्री नेमिनाथ का चैत्य बनाया) इन शब्दों में किया है (पाटलीपुत्र कल्प पृ. ६८)

श्रीहरिभद्रसूरि—

जैनपरम्परा में श्री हरिभद्रसूरि का स्थान बहुत ऊंचा है, उन्होंने जैन परम्परा के धार्मिक साहित्य में जिस अलौकिक दिव्य जीवन का संचार किया है वह एक मात्र उन्ही को आभारी है। इनके ग्रन्थों में जों मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र कदाचित् ही दिखाई पड़ती है। उनके व्यक्तित्व में रही हुई अलौकिक ज्ञानविभूति से प्रभावित हुए तदुत्तरवर्ति आचार्यों[1] ने-श्री सिद्धर्षि, श्रीजिनेश्वरसूरि, श्रीवादिदेवसूरि, श्रीलक्ष्मणगणि आचार्य, श्री मलयगिरि, श्री प्रद्युम्नसूरि उपाध्याय, श्री यशोविजयजी आदि विशिष्ट विद्वानों ने इनके विषय में श्रद्धापूरित हृदय से जो भक्तिभाव प्रकट किया है, उसको देखते हुए तो उनके वचनों पर हमारा विश्वास और भो सुदृढ हो जाता है। अस्तु अत्र हम पूज्य हरिभद्रसूरि के प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का अतिसंक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं।

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सद्ग्रन्थों में द्रव्यस्वव और भावस्तव अर्थात् द्रव्य और भावरूप से प्रतिमा पूजन को पुष्कल स्थान दिया है वे स्तवविधि—पूजाविधि को आगमशुद्ध[2] और विहितानुष्ठान[3] मानते हैं यह स्तव-पूजा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यस्तव और भावस्तव। इसीका दूसरा नाम द्रव्यपूजा और भावपूजा है। इनमें द्रव्य पूजा का अधिकारी गृहस्थ है और भाव पूजा का अधिकार साधु को है। परन्तु सूत्रोक्त विधि[4] के अनुसार अनुष्ठान किया गया यह द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होता है। अतः

---

[1] विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये॥ [उपमितिभवप्रपंच पृ. १६]

येषां गिरं समुपर्जीव्य सुसिद्धविद्या-
मस्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः।
ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः
श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः सुखाय (शास्त्रवार्तासमु. टीका)
अन्य आचार्यों के उल्लेख विस्तारभय से नहीं दिये गये।

[2] "थयविहिमागमसुद्धं" (पंचाशक ६।१)
स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकाराः स्तवविधिस्तम्। आगमः स्तवपरिज्ञानार्थं आप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुक्तानुवादेन निर्दोषः आगमशुद्धस्तम् (अभयदेवसूरि)
अर्थात् पूजाविधि यह आप्तवचन के अनुसार होने से निर्दोष है।

[3] तत्तो पडिदिणपूयाविहाणओ तह तहेव कायव्वं।
विहिताणुट्ठाणं खलु भवविरहफलं जहा होति॥ (पंचा. ८।५०)
(ततः प्रतिदिनं पूजाविधानतः तथा तथा इह कर्तव्यम्।
विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति॥)
विहितानुष्ठानं–पूजावन्दनयात्रास्नानादि। (अभयदेवसूरि)

[4] सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेन।
तम्हा जिणाण पूया कायव्वा अप्पमत्तेण॥ (पंचा. ४।४६)
व्या. सूत्रभणितेन–आगमोक्तेन विधिना–विधानेन पूजा कर्तव्या केनेत्याह–गृहिणा-गृहस्थेन साधोरनधिकार-

गृहस्थ के प्रतिदिन के धार्मिक कर्तव्यों में आचार्य हरिभद्र ने इसे द्रव्यस्तव को मुख्य स्थान दिया है और मुमुक्षु गृहस्थ के लिये आगमोक्त बिधि के अनुसार अप्रमत्त भाव से इसके अनुष्ठान का आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त द्रव्यस्तव और भावस्तव—द्रव्यपूजा और भावपूजा ये दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित हैं—परस्पर अनुस्यूत[1] हैं और साधु तथा गृहस्थ दोनों के लिये अनुष्ठेय हैं। जैसे द्रव्यपूजा के अनन्तर स्तुतिवन्दनरूप भावपूजा गृहस्थ करता है उसी प्रकार भावस्तव के अधिकारी साधु को भी अनुमोदना रूप में द्रव्स्तव के अनुष्ठान का अधिकार है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आचरित द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा की अनुमोदना साधु के लिये इष्ट अथ च विहित[2] है। इस कथन से पूजाविधि को श्रीहरिभद्रसूरि के वचनों में जो शास्त्रीय महत्त्व प्राप्त होता है उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

साधु के लिये अनमोदन रूप से द्रव्यस्तव का विधान करते हुए श्रीहरिभद्रसूरि ने उसका शास्त्रीय समर्थन इस प्रकार किया है—

> [3]तंतम्मि वंदणाए पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो।
> जतिणो वि हु णिद्दिट्ठो, ते पुणदव्वत्थयसरूवे॥

आचार्य कहते हैं कि चैत्यवन्दन नाम के शास्त्र में अर्थात् आवश्यक सूत्रगत [4] "सव्वलोए अरिहंत-चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूयण-वत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए" इत्यादि पाठ से अर्हच्चैत्यों के पूजन और सत्कार के निमित्त-तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा और सत्कृति के लिये यति को

त्वात्। किं विधेनेत्याह निर्वाणं निर्वृत्तिमिच्छता, निर्वाणव्यतिरिक्तस्य फलस्योपायान्तरेणापि सुलभत्वात्। तस्माद्धेतोः जिनानामर्हतां पूजा–अर्चनं कर्तव्या–विधेया अप्रमत्तेन–अप्रमादवता प्रमादपरिहारेणेति यावत्।

(अभयदेवसूरि)

भावार्थ—निर्वाण की इच्छा रखनवाले गृहस्थ को प्रमाद का परित्याग करके सूत्रोक्त विधि के अनुसार जिनेन्द्रदेवों का पूजन अर्चन करना चाहिये।

यहां पर सूत्रोक्तविधि से, सम्भवतः राजप्रश्नीय सूत्रोक्त पूजाविधि ही अभिप्रेत होनी चाहिये, कारण कि वहीं पर ही विशेष रूप से पूजा विधि का प्रकार वर्णित हुआ है।

[1] दव्वत्थयभावत्थयरूवं एयमिय होति दट्ठव्वं।
अण्णोण्णसमणुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु॥ (पंचा. ६।२७)

[2] "जइणो वि हु दव्वत्थयभेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति।
एवं च एत्थ णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए" (पंचा. ६।२८)
(छा. यतेरपि खलु द्रव्यस्तवभेदः अनुमोदनेन अस्ति इति।
एतच्च अत्र ज्ञेयं अनया शुद्धं तंत्रयुक्त्या।)

अर्थात्—भावस्तव में आरूढ होनेवाले साधु को भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का अधिकार शास्त्रसम्मत है—(यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एव, द्रव्यस्तवभेदो–द्रव्यस्तवविशेषः, अनुमोदनेन-जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति–विद्यते×××तंत्रयुक्त्या-शास्त्रगर्भोपपत्त्या"

(श्री अभयदेवसूरि)

[3] तंत्रे वन्दनायां पूजनसत्कारहेतुरुत्सर्गः।
यतेरपि खलु निर्दिष्टः तौ पुनः द्रव्यस्तवस्वरूपौ ॥ ६।२६ ॥

[4] सर्वलोके अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं सत्कारप्रत्ययं संमानप्रत्ययम्॥

भी–भावस्तवारूढ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्रीतीर्थंकरादि ने किया है। पूजनसत्कार ये दोनों द्रव्यस्तव–द्रव्यपूजा रूप ही हैं।

श्रीहरिभद्रसूरि आगमविरुद्ध या आगमबाह्य किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते। जो आचार शास्त्र विधिनिष्पन्न नहीं, वह अगर तीर्थोद्देशक भी हो तो भी आचार्य को वह मान्य नहीं। आप लिखते हैं—

> [१] "समितिपवित्तीसव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव"
> तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा" (पंचा. ८।१३)

भावार्थ—अपनी बुद्धिकल्पित, शास्त्राज्ञा से बाहर की जो भी प्रवृत्ति है वह सब भवफला–अर्थात् संसार की जन्ममरणपरम्परा को बढ़ानेवाली है, इस प्रकार की आज्ञाबाह्यप्रवृत्ति अगर तीर्थंकरभक्तिमूलक भी हो तो भी वह स्वीकार करने योग्य नहीं, और वस्तुतः उसमें तीर्थंकर भक्तिका उद्देश होता ही नहीं। इस उल्लेख से आचार्य हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। वे आगमविरुद्ध किसी भी प्रवृत्ति के समर्थक नहीं हैं। इस पर से उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले पूजा-विधायक उल्लेखों का आगममूलक होना भी अनायास ही प्रमाणित हो जाता है। वाचक श्रीउमास्वाति से लेकर श्रीहरिभद्रसूरि तक के आचार्यों ने जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका हमने अति संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है। श्रीहरिभद्रसूरि ने तो इस विषय में बहुत कुछ लिखा है, जो कि विस्तार भय से यहां पर उल्लेख नहीं किया गया। जैन परम्परा के इन संभावित आचार्यों ने जिन प्रतिमा को जितना आदरणीय स्थान दिया है उसपर दृष्टिपात करते हुए जिनाप्रतिमा की शास्त्रीयता और पूज्यता में सन्देह को कोई अवकाश नहीं रहता॥

अगर वैसे विचार किया जावे तो भगवान महावीर से लेकर विक्रम की सोलवीं शताब्दी से पूर्व तक जैन परम्परा में जितने भी विशिष्ट और साधारण आचार्य हुए हैं उनमे से किसीने भी जिनप्रतिमा के विरुद्ध कुछ लिखा हो ऐसा हमारे देखने में नहीं आया और विपरीत इसके परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने इसको कहां तक उपादेय बतलाया है यह ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट ही है।

---

१ स्वमतिप्रवृत्तिः सर्वा आज्ञाबाह्येति भवफला चैव।
तीर्थंकरोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा॥

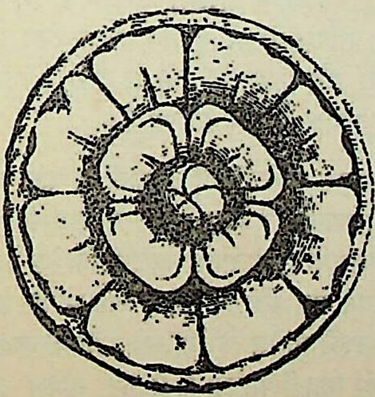

तिरुवल्लुवर तथा उनका अमर ग्रंथ तिरुक्कुरल

पं. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायशास्त्री

वर्तमान काल में जिस प्रांत को हम तमिलनाडु के नाम से पुकारते हैं उसमें मुख्यतः कावेरी नदी के आसपास का प्रदेश सम्मिलित है। उसके एक ओर आन्ध्र, एक ओर कर्नाटक और उससे सटा हुआ मलाबार या केरल प्रांत है। इस प्रदेश की मूल संस्कृति द्रविड़ है। इसकी पुरातनता के संबंध में अनुमान लगाना कठिन है। यह आर्य लोगों के हिंदुस्तान में आने के बहुत पहले से प्रचलित थी।

द्रविड़ संस्कृति की तरह इस प्रदेश की मुख्य भाषा तमिल भी संस्कृत की तरह बहुत पुरानी है। सन् ईस्वी से बहुत पहले तमिल भाषा में अनेक ग्रंथों की रचना हो चुकी थी। फिर भी दण्डकारण्य के उस पार की मराठी, गुजराती, बंगाली और हिंदी आदि भाषाओं की तरह तमिल भाषा का संस्कृत के साथ कोई संबंध नहीं है। भारतवर्ष में संस्कृत से सर्वथा अलिप्त रहकर अपना स्वतंत्र रूप से विकास करनेवाली यदि कोई भाषा है तो वह है तमिल। तमिल के अतिरिक्त तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं में संस्कृत के ५० प्रतिशत शब्द हैं, परंतु तमिल भाषा में यह खिचड़ी नहीं होने पाई। आन्ध्र लोग अपने देश को आन्ध्र देश या आन्ध्र सीमा कहते हैं। 'सीमा,' 'देश' आदि शब्द संस्कृत के हैं, परंतु तमिलनाडु में प्रयुक्त 'नाडु' शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त है, जो कि आर्येतर भाषा का सूचक है। तमिल में संस्कृत के शब्द बहुत कम हैं। उसमें विविध अर्थों को प्रकट करनेवाले अपने स्वतंत्र शब्द हैं। दुष्ट राजा और अच्छा राजा आदि के लिए कोडुंगोल मन्नन अलग शेंगोल मन्नन जैसे अलग स्वतंत्र शब्द-कोश और स्वतंत्र वाक्य-विन्यास है। उसकी रचना तथा साज-सज्जा स्वावलंबन के आधार पर स्थित है जो संस्कृत जितनी ही पुरानी है।

प्राचीन तमिल वाङ्मय तीन भागों में विभाजित है। संगीत, नाट्य और साहित्य। साहित्य की तरह संगीत और नाट्यकला पर भी इस प्रांत में अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। चिदंबरम् के नटराज के भव्य मंदिरवाले प्रांत में ऐसे ग्रंथों की रचना होना सहज था। नृत्यकला भी अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। दूसरे प्रांतों में अप्राप्य यहाँ हजार हजार तारोंवाले तंतुवाद्य थे और उनसे सुमधुर संगीत की तरंगें तरंगित होती रहती थीं। इन तीन प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त साहित्य में एक अन्य प्रकार का विभाग होता था—प्रेम वाङ्मय और प्रेमविहीन वाङ्मय। साहित्य के इन तीनों विभागों के उनके अनुकूल भिन्न भिन्न व्याकरण भी होते थे। तमिल का यह पुरातन वाङ्मय टीका या भाष्य के बिना समझ में नहीं आता। जिस प्रकार प्राचीन संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों पर टीका, भाष्य, चूर्णि, विवरण, टिप्पणी और समालोचना आदि हैं उसी प्रकार तामिल के ग्रंथों पर भी हैं।

प्राचीन तमिल वाङ्मय को समृद्ध करने में जैन आचार्यों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने सन् ईस्वी से पहले ही यहाँ की भूमि के साथ आत्मसात् होकर तमिल साहित्य की भी श्रीवृद्धि करना प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने श्रमण संस्कृति के प्रचार के साथ तमिल साहित्य को श्रेष्ठ महाकाव्य, कोश और व्याकरण आदि ग्रंथ दिये। ईस्वी सन् के पहले प्रथम संघ काल में तमिल साहित्य की जो रचना हुई वह काल कवलित हो गई उसके बाद जो साहित्य बचा है उसमें तमिल के श्रेष्ठ कवि, वैयाकरणकार तथा कोश-निर्माता जैन आचार्य ही हैं। जैन आचार्यों द्वारा ईसी की सातवीं-आठवीं शती तक तमिल साहित्य की बहुत सेवा की गई। उसके बाद तमिलनाडु में निरंतर अविरत युद्ध चलता रहा। उस युद्ध की ज्वाला में तमिल साहित्य का

बहुत कुछ भाग नष्ट हो गया। जैन साहित्य की ही इससे सर्वाधिक हानि हुई। उसके बाद बौद्ध साहित्य का नंबर आता है।

तमिल साहित्य के संगम काल का कुरल नामक एक उत्कृष्ट काव्य है जो दक्षिण भारत में तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है। उसके रचयिता तिरुवल्लुवर नामक एक संत थे। पहले प्रत्येक धर्मवाले इसे अपना धर्मग्रन्थ सिद्ध करने में गौरव मानते थे। परंतु अब अनेक साहित्यिक प्रमाण इस बात के मिले हैं कि इस ग्रंथ के रचयिता जैन-संत ही हैं। नीलकेशी की टीका में इसे स्पष्ट रूप से जैन शास्त्र कहा गया है। **शिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै** इन दो ग्रंथों में भी जो दूसरी शती में लिखे गये थे, इसका जैन ग्रंथ रूप से उल्लेख है; बल्कि इन तीनों ग्रंथों के रचयिताओं ने अपनी प्रमाण पुष्टि के लिए कुरल के यत्र तत्र साठ से अधिक पद्य उद्धृत किये हैं। शिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै में कुरल की ५५ कविताएँ उद्धृत की गयी हैं। जीवक चिंतामणि में भी कुरल का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कई जैन आचार्यों ने इस पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं।

कुरल नामक इस अलौकिक ग्रंथ का रचयिता तिरुवल्लुवर मद्रास के समीप मैलापूर का निवासी था। वहाँ पहले भगवान नेमिनाथ का एक बहुत बड़ा मंदिर था। उसे गिराकर बहुत-सी शताब्दियों पहले कपालेश्वर का मंदिर बना दिया गया है। तिरुवल्लुवर का बाल्य-काल कैसे बीता इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर उसने शादी अवश्य की थी। उसकी स्त्री साध्वी तथा पतिपरायणा थी। इसलिए उसका वैवाहिक जीवन अत्यंत सुखमय था। पति का शब्द उसके लिए ईश्वर की आज्ञा के समान था। एक बार जब किसी साधु ने तिरुवल्लुवर के इस सुखी गृहस्थ जीवन के बारे में सुना तब वह उसके पास आकर पूछने लगा-'यदि आप गृहस्थाश्रम को अच्छा कह दें तो मैं वैवाहिक बंधन में बंधने के लिए तैयार हूँ।' भला तिरुवल्लुवर इसका हाँ या ना में कैसे उत्तर देता? वह तो उसे अपने जीवन की अनुभूतियाँ ही बता सकता था। इसलिए उसने उस साधु को अपने जीवन के अनुभव बताने के लिए कुछ दिनों तक अपने यहाँ रोक लिया। वह वैरागी भी वहाँ रह गया। एक दिन तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी को मुट्ठीभर नाखून और लोहे के टुकड़ों का भात पकाने के लिए कहा। उनकी पत्नी वासुकी ने किसी प्रकार की शंका-कुशंका के बिना उन चीजों को चूल्हे पर चढ़ा दिया और उसने उन्हें पकाने का प्रयास किया। किसी अन्य दिन वह साधु और तिरुवल्लुवर साथ-साथ खाने बैठे थे। वासुकी पास ही कुएँ से पानी खींच रही थी। परसा हुआ भात ठंडा था, फिर भी 'अरी ओ! देखो तो, भात कितना गर्म है। छूते ही मेरा हाथ जल गया।' इस प्रकार तिरुवल्लुवर चिल्लाया। बेचारी साध्वी पत्नी तिरुवल्लुवर की इस चिल्लाहट को सुन आधे में लटकती हुई गागर वैसी ही छोड़ दौड़ती हुई आकर थाली पर पंखा झलने लगी। एक दिन मध्याह्नकाल में तिरुवल्लुवर अपने करघे पर कपड़ा बुन रहा था। एकाएक उसने अपनी पत्नी से कहा—'देखो तो बहुत अंधेरा हो गया है, अभी जल्दी दीया जलाकर ला, मुझे इन धागों को जोड़ना है।' कोई दूसरी होती तो भर दुपहरी में पति की इस आज्ञा को सुन उसकी बुद्धि के संबंध में कुछ विचार करती। संभवतः उसे पागल मान बैठती। परंतु वासुकी के मन में इस प्रकार की धुंधली कल्पना तक नहीं आई। वह जल्दी ही दीपक जलाकर लाई। इन सब बातों को देख साधु समझ गया कि जब तक पति-पत्नी में पूर्ण एकता रहती है, लेश-मात्र भी संदेह नहीं रहता तभी तक विवाहित जीवन सुख का सागर है। इन सब घटनाओं को देख वह साधु बोला—"मैं आपके सुखी विवाहित जीवन का मर्म समझ गया हूँ।' इतना कह वह वहाँ से चला गया।

परंतु गार्हस्थ्य-जीवन के इस सुख का अनुभव वह अपने जीवन के अंतिम काल तक नहीं कर सका। बीच ही में उसकी पत्नी का देहांत हो गया। उसकी मृत्यु से उसे अत्यंत दुःख हुआ। वह अपनी पत्नी के

संबंध में कहता है : 'ओ स्नेहमयी, तुम मेरे लिए सुस्वादु भोजन बनाती थी। मेरी आज्ञा का तुमने सद पालन किया। तुम मेरे पाँवों को रोज दबाती और मेरे सोने के बाद सोती थी, मेरे उठने के बाद उठती थी। तुम्हारे पास कपट नहीं था। तुम्हारा स्वभाव सुंदर और सरल था। परंतु आज तुम मुझे छोड़कर जा रही हो। अब क्या कभी मेरी इन आँखों को आराम से नींद आयेगी?' पत्नी के देहांत के बाद तिरुवल्लुवर ने वैराग्य धारणकर दीक्षा ले ली और अंत समय तक संसार को उपदेश देते हुए स्वर्गवासी हुए।

कुरल की रचना कर तिरुवल्लुवर ने संसार को अपनी ओर से एक अमूल्य भेंट दी। इसका अनुवाद संसार की प्रायः सब भाषाओं में हो चुका है। इस बात का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि जैन संत की इस रचना को तमिलभाषाभाषी तमिल वेद कहते हैं। कुरल के कुल तीन भाग हैं। पहले में धर्म, दूसरे में अर्थ और तीसरे में काम। इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों में से प्रथम तीन का ही इस ग्रंथ में काव्यपूर्ण वर्णन किया गया है।

कुरल के इन तीन भागों में कुल १३३ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में १० पद्य हैं। कुल १३३० पद्य हैं। प्रत्येक कविता में दो चरण हैं। ये छोटे छोटे पद्य गंभीर तथा विशाल अर्थों से परिपूर्ण हैं। इस काव्य में एक प्रकार की असीमता, उदारता और सहृदयता है। अंतिम के प्रेम-संबंधी प्रकरणों में अश्लीलता का नामोनिशान नहीं। संसार के श्रेष्ठ ग्रंथों में अश्लीलता की छाया से रहित शुद्ध प्रेम-तत्त्व का वर्णन करनेवाला केवल अकेला यही ग्रंथ है।

इस ग्रंथ में प्रथम भाग को आरंभ करने के पूर्व मंगलाचरण के रूप में चार परिच्छेदों में ईश्वर की स्तुति की गयी है। स्तुति करते समय ग्रंथकार ने जैन परंपरा में अनेकांत दृष्टि का अवलंबन लेकर सब धर्मों का समन्वय करनेवाले सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्रसूरि, हेमचंद्राचार्य और आनंदघन की परिपाटी अपनाई है। उसे पढ़ने पर वह कुछ स्थलों पर परमात्मा को लागू होता है और कुछ स्थलों पर ऋषभदेव, सिद्ध, बुद्ध, महावीर आदि तीर्थंकर और विश्व के अन्य पथ-प्रदर्शकों को लागू होता है। इसलिए बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि सब तिरुवल्लुवर को अपने अपने संप्रदाय का मानते हैं। ईसाई लोग भी कहते हैं कि कुरल पर बाईबल के विचारों की छाया है। लेकिन मंगलाचरण को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि तिरुवल्लुवर जैन ही थे। उदाहरण के लिए मैं यहाँ मंगलाचरण के प्रथम अध्याय को अविकल उद्धृत करता हूँ।

अकर मुदल एषुत्तेल्लाम् आदि
भगवन् मुदट्रे उलकु

अकार सभी अक्षरों का मूल है। इसी तरह जगत का मूल वही आदि भगवान् है।

कट्रदनालाय पयनॅन्क़ोळ वालखिन्
नट्राळ् तॉळा अर ऍनिन् ॥

शास्त्रज्ञ अथवा बहुश्रुत होने से क्या (फल) हुआ, (अगर) चिन्मय या केवलज्ञानसंपन्न (भगवान) की पद-वंदना न की।

मलर्मिश एहिनान् माणडि शेन्दार्
निलमिशै नीडुवाळ् वार् ॥

जो भक्तों के हृदयकमल में निवास करनेवाले के महनीय चरणों के पूजक हैं। वे परमधाम में अमर रहेंगे।

वेण्डुदल् वेण्डामै इलान् अडि शेर्न्दार्क्कु
याण्डुम् इडुम्बै इल ॥

रागद्वेषरहित (ईश्वर) के चरणों में शरण पानेवाले भक्तों को त्रिदोष (मानसिक, वाचिक और कायिक) नहीं लगते।

इरुळ् शेरिरुविनैयुम् शेरा इरैवन्
प्रॉरुळ् शेर् पुकळ् पुरिन्दार् माट्टु ॥

शुभ फल और अशुभ फल दोनों मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधकार के मूल हैं। जो सर्वरक्षक के सत्य प्रकाश या सत्यकीर्ति के अभिलाषी हैं उनके पास दोनों कर्मफल नहीं फटकते।

पॉऱि वायिळ् ऐन्दवित्तान् पॉय् तीरॉळुक्क
नॅरि निऱार् नीडु वाऴ्वार् ॥

पंचेन्द्रियनिग्रही तथा असत्यरहित के नियमों पर चलनेवाले अमर बनते हैं।

तनक्कुवमै इल्लादान् ताळ् शेर्न्दारक्कल्लाल
मनक्कवल्लै माट्रलरिदु ॥

निरुपम (ईश्वर) के चरण सेवकों को छोड़ इतर जनों द्वारा मानसिक चिंता दूर होना कठिन है।

अऱवाऴि अन्दणन् ताळ् शेरन्दार्कल्लाल्
पिऱवाऴि नीन्दलरिदु ॥

धर्मसमुद्र अथवा धर्मस्वरूप और दयानिधि के चरणसेवकों को छोड़ अन्य लोग इतर (अर्थकामरूपी) समुद्रों को तैरकर पार न पहुँच सकते हैं।

कोळिल् पोरिंयिर् गुणमिलवे एण् गुणत्तान्
ताळै वणङ्गात्तलै ॥

जिस तरह गुणरहित इन्द्रिय निष्फल है, उसी तरह अष्टगुणवाले (अनंतज्ञान अनंतदर्शन आदि अष्टगुणयुक्त सिद्ध भगवान) की वंदना न करनेवाला सिर भी निष्फल है।

पिऱ्विप् पेरुङ्गडल् नोन्दुवर् नीन्दार्
इरैवनडि शेरादार् ॥

सर्वरक्षक (ईश्वर) के चरणसेवी यह भवमहासागर तिर जाते हैं; दुसरे नहीं।

पाठक देखेंगे कि ऊपर के मंगलाचरण में आदि भगवान्, केवलज्ञानसंपन्न, मिथ्यात्व, पंचेन्द्रियनिग्रही, रागद्वेषरहित और अष्टगुणयुक्त आदि शब्द जैन परंपरा से ही संबंध रखते हैं। निर्ग्रन्थ संप्रदाय में ऋषभदेव आदिदेव या आदि भगवान् के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रायः सब जैनाचार्यों ने ऋषभदेव की आदि भगवान के रूप से ही स्तुति की है। ज्ञानावरणीय कर्म के विलय होने पर जो संपूर्ण ज्ञान होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं ईश्वर के लिए इस शब्द का प्रयोग केवल जैन परंपरा में ही है। कर्म के कारणों में मिथ्यात्व का सबसे प्रमुख स्थान है। मिथ्यात्व का नाश होने पर ही प्राणी गुणविकास द्वारा गुणस्थान के सोपानों पर आरोहण करता है। मुमुक्षु के लिए जैनपरंपरा में पंचेन्द्रियों पर दमन करने के लिए जगह-जगह भारपूर्वक कहा गया है। इसी प्रकार ईश्वर के लिए जैन परंपरा में वीतराग या रागद्वेषरहित इन दोनों विशेषणों का प्रयोग होता

है। सिद्धों के आठ गुण प्रसिद्ध हैं। जैन परंपरा में आठ कर्म माने गये हैं। चार घाती और चार अघाती। उनमें चार घाती कर्म ही विशेष हैं। उनके विलय से अष्ट गुणों की प्राप्ति होती है। वे हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय। इनमें केवल ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवल दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन, पंचविध अंतराय के क्षय से दान, लाभ भोग, उपभोग, वीर्य आदि पाँच लब्धियाँ और मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व तथा चारित्र का आविर्भाव होता है। प्रति दिन पंच नमस्कार के समय सिद्धों की स्तुति करते हुए इन आठ गुणों का उच्चारण किया जाता है—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, निराबाध, अटल, अवगाहन, अमूर्त और अगुरुलघु। कुछ लोग आठ गुणों का अर्थ योगियों की अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ करते हैं। पर अणिमा आदि गुण नहीं, वे योग से प्राप्त सिद्धियाँ हैं। योगभ्रष्ट होने पर ये सिद्धियाँ लुप्त हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को भी विनश्वर मानना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर के आठ गुण जैनपरंपरा में सिद्धों के बताये हुए आठ गुणों से अतिरिक्त नहीं हो सकते। तिरुवल्लुवर के बाद प्रायः सब जैन संतों ने इसी प्रकार की व्यापक भावना अपनाकर स्तुति की है।

जैन परंपरा में चार आश्रमों में से जिस प्रकार सिर्फ सागार और अनगार धर्म की ही चर्चा है, उसी प्रकार तिरुवल्लुवर ने धर्म प्रकरण में गृहस्थ धर्म और यति धर्म का ही वर्णन किया है। धर्म शीर्षक प्रथम खंड में सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ जीवनात्मक उत्तम पत्नी, उत्तम पिता, उत्तम प्रतिवासी तथा उत्तम मनुष्य बनने के लिए जितने गुण आवश्यक हैं उनकी शिक्षा १६ अध्यायों में दी गयी है और अंत के २४ वें परिच्छेद में बताया गया है कि यश की आकांक्षा से मनुष्य कैसे अच्छे काम में प्रवृत्त हो सकते हैं। सागार धर्म के बाद अनगार धर्म अर्थात् तपस्वियों के गुणों का विवेचन १३ अध्यायों में किया गया है। इस खंड के अंतिम अड़तीसवें परिच्छेद में भाग्य का विवेचन है।

'कुरल' के पहले अंश धर्म की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य जीवन के संबंध में आशापूर्ण भाव व्यक्त किया गया है। मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता बतलाते हुए कवि ने लिखा है—'मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर है सुसम्मानित पवित्र गृह और उसके महत्त्व की पराकाष्ठा है गुणशाली संतति।' कवि का वात्सल्य भाव कैसा मधुर है! वह कहता है—'मनुष्य की सच्ची संपत्ति उसकी संतान है। पिता का पुत्र के प्रति सच्चा कर्तव्य यही है कि वह उसे विद्वानों की परिषद् में सर्व प्रथम सम्मान के योग्य बनावे। पुत्र की रहन-सहन कैसी होनी चाहिए इसके लिए सब उसके पिता से प्रश्न करें कि किस पुण्य से आपको ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ है। बालकों के स्पर्श से परमानंद के सुख की प्राप्ति होती है और उनकी बोली से कानों की तृप्ति। जिसने बालक की तुतलाती बोली नहीं सुनी, क्या वह कह सकता है कि बांसुरी मधुर तथा सितार सुरीली है।' इसके आगे वह लिखता है—'सर्व भूतों के प्रति दया और अतिथि-सत्कार ये दोनों मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं और मधुर संभाषण है उसका आभूषण। कृतज्ञता, न्याय-निष्ठता, आत्म-संयम, क्षमा, दान तथा परोपकार उसके अमूल्य गुण हैं। किंतु परदाररति, ईर्ष्या, लोभ, वृथा भाषण, अनिष्ट चिंता इत्यादि उसके अति भयानक दूषण हैं।'

प्राणी मात्र जिसे मृत्यु कहते हैं वह तो केवल जीव के शरीर का विनाश है। शरीर के नाश से जीवात्मा का अवसान नहीं होता। वार्तमानिक जीवन के बाद उसका भविष्यत् जीवन भी अनुस्यूत रहता है।

अपनी संतति को योग्य बनाने तक गृहस्थ अपने साधु आचरण के फलस्वरूप गुणस्थान के अनेक सोपान अतिक्रमण कर डालता है। कुछ ऊँचे स्थान पर पहुँचने के कारण वह अब अपने सामने साधु जीवन के उच्चतर क्षेत्र को फैला हुआ देखता है और उस क्षेत्र के उपयुक्त बनने के लिए वह स्वयं अपने

आप पर कठोर नियंत्रण रखता है। उसके लिए वह अब सर्व प्राणियों के प्रति दया, निरामिष भोजन, आत्म-निग्रह, ध्यान तथा योग का अभ्यास और इस प्रणाली द्वारा आध्यात्मिक बल तथा दृष्टि शक्ति प्राप्त कर दंभ, असत्य, क्रोध, हिंसा, परपीड़न इत्यादि से पराङ्मुख होकर अपने मन को विशुद्ध बनाता है। इस प्रकार के नियंत्रण से मिथ्यात्व के अनेक स्तर अपने आप नष्ट हो जाते हैं और साधु की अन्तर्ज्योति विकसित हो जाती है। वह अपने अंतर में अनुभव करता है कि यह परिदृश्यमान जगत स्वप्नवत् है—आज है, कल अन्तर्हित हो जायगा। इस कारण से सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी जो आसक्ति होती है वह दूर हो जाती है और उसके मनश्चक्षु के सामने सत्य की यथार्थ मूर्ति प्रकाशित होती है। किंतु फिर भी सूक्ष्म वासना (लोभ) उसका पिंड नहीं छोड़ती। वह नाना रंगों में, नाना आकृतियों में प्राणियों को धोखा देती रहती है। बड़े बड़े धार्मिक भी उसके पंजे से छुटकार नहीं पाते। और जब तक उसका संपूर्ण विलय नहीं होता तब तक आत्मा पूर्ण आनंद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। इसी लिए इस अंक का उपसंहार करते कवि ने लिखा है—'वासना कभी तृप्त नहीं होती, किंतु यदि कोई व्यक्ति वासना का त्याग करने के लिए समर्थ हो जाय तो वह तत्काल ही संपूर्णता प्राप्त कर लेता है।'

इस प्रकरण के अंत में कवि ने कर्म का जो वर्णन किया है वह जैन परंपरा का खास विचार है—प्राणी में कर्म के कारण कुछ संचित या अव्यक्त शक्तियाँ रहती हैं, जो उपयुक्त उत्तेजन प्राप्त कर व्यक्त हो जाती हैं। ये संचित प्रवृत्तियाँ जीव को भले-बुरे काम करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। जन्म-जन्मान्तरों में जितने भले-बुरे काम किये, भली-बुरी चिंताओं को मन में स्थान दिया, और इस जन्म में वह जितने कामों तथा जितनी चिंताओं से युक्त होता है, उनकी एक समष्टि बनकर कुछ अव्यक्त रूप में रहती है, और कुछ व्यक्त रूप में परिणत होती हुई उदीयमान होती रहती है। इस जीवन के अंत में जितना कर्मफल अव्यक्त रहता है, उसी को वह भविष्यत् जीवन में अपने साथ ले जाता है, और यही उसके उस जीवन का प्रारब्ध या प्राक्तन कर्मफल अथवा भाग्य कहलाता है। इस परिच्छेद का सार यही है कि कर्म ही प्रधान है और कर्म के हाथ से बचना असंभव है। सताईसवें अध्याय में कर्म का विलय करने के लिए तप के प्रभाव का वर्णन किया गया है। कृच्छ्रसाधन अर्थात् बाह्य और आन्तरिक तप से कर्म-बंधन शिथिल हो जाते हैं और मनुष्य अपने आपको मुक्त कर सकता है। अंत के तिरसठवें परिच्छेद में कहा गया है कि मनुष्य दृढ़ संकल्प के द्वारा मंद भाग्य पर विजय प्राप्त कर सकता है।

प्रथम अध्याय के बाद द्वितीय अध्याय में दूसरे पुरुषार्थ अर्थ का वर्णन है। इस खंड में राजा और उसकी योग्यता, मंत्री की नियुक्ति, सेना, जासूस, मित्र की पहचान, मित्र का महत्त्व, अत्याचार का परिणाम, शत्रु से सावधान इन परिच्छेदों के बाद कृषि, भिखारी, दान, यश आदि विषयों का वर्णन छोटे छोटे प्रकरणों में किया गया है। प्रजा का रंजन करनेवाला, चतुर और दयावान् राजा, उद्यमी और खेती में प्रवीण लोग, धीरज, वीरता, साहस आदि गुण इन सब का वर्णन इस खंड में है।

कुरल के तृतीय काम खंड में किसी विशिष्ट प्रणयी युगल की प्रेम-गाथा है। इसमें नायक-नायिका के प्रथम साक्षात्कार से लेकर अंतिम मिलन तक का वर्णन बड़े निपुण ढंग से किया गया है। इस खंड का प्रारंभ बड़े विचित्र ढंग से किया गया है। पहले एक रम्य उद्यान में नायक के सामने नायिका पड़ जाती है। दोनों की चार आँखें होते ही परस्पर एक दूसरे के प्रति प्रेम का संचार होता है। युवती का लावण्य, युगल विशाल नेत्र, आँखों की चितवन, उन्नत उरुस्थल, युवक को पागल बना देते हैं। इसके बाद एक दो बार युवती उस युवक के सामने और आई, पर प्रत्येक बार उसने अपने भावों को छिपाकर उसके प्रति अपनी अरुचि बताई, इस पर नायक कहता है—'वह मुझे जानने नहीं देती कि उसने मुझे देखा है किंतु जब अपांग दृष्टि से

देखकर न देखने का बहाना करती है तब मुझे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि वस्तुतः उसके हृदय में मुझे देखकर आनंद लहरे मारता है। वह ऊपर ऊपर से विरक्ति का प्रदर्शन करती है, किंतु हृदय में गहन प्रेम का पोषण करती है। ' बाद में अपने प्रेमी के अनुनयपूर्ण मुँह को देखकर वह भी द्रवीभूत हो उठती है और अंत में वह अपनी आँखों द्वारा विवाह की सम्मति भी दे देती है। फिर उन दोनों का गोपनीय विवाह हो जाता है।

गोपनीय विवाह हो जाने पर भी यह घटना दोनों के माता-पिता से गुप्त राखी गयी। दोनों किसी ऐसे प्रसंग की प्रतीक्षा में रहे जिससे कि बिना किसी कठिनाई के दोनों के माता-पिता परस्पर मिलने की अनुमती दे दें, परंतु बहुत समय तक वह शुभ प्रसंग नहीं आया। अंत में यह प्रेमी उस समय तमिल देश में प्रचलित एक बर्बर उपाय की शरण लेता है। वह डंठल सहित कुछ ताल के पत्ते काटकर एक गट्ठर बनाता और उस पर घोड़े पर सवार होने की तरह बैठता है। उसी अवस्था में उसके कुछ मित्र प्रेम-संगीत गाते हुए उसे गाँव के भीतर ढोकर ले जाते हैं। एक ओर बेचारा युवक नुकीले ताड़पत्रों पर छटपटाता रहता है, दूसरी ओर गाँव के अनेक बालक और युवक उस प्रेमी युवक को चारों ओर से घेरकर अनेक प्रकार के वाक्बाणों से उसके हृदय को छिदते रहते हैं। बीच बीच में उसकी प्रणयिनी का भी नाम लिया जाता है। अंत में अपकीर्ति के डर से प्रेमिका के माता-पिता उस प्रेमी के साथ अपनी लड़की का विवाह कर देते हैं।

कुछ समय तक नवीन दंपति को परस्पर के मधुमय साहचर्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त होता है। थोड़े ही समय तक वे आनंदोपभोग करते हैं कि इतने ही में निरानंद की काली घटा उनके प्रेम के नभोमंडल को घेर लेती है। राजा की ओर से युवक के पास शीघ्र ही युद्ध में सम्मिलित होने के लिए बुलाहट आती है। इस अरुचिकर घटना से थोड़ी देर के लिए दोनों विचलित हो उठते हैं। युद्ध में जाने की आज्ञा मांगने पर युवती कहती है—मुझे छोड़ कर जाने पर मेरी मृत्यु निश्चित है, यदि अलग होने की बात के अतिरिक्त कुछ कहना हो तो कहो। इसके सिवाय यदि जल्दी लौटने की बात कहना चाहते हो तो वह भी उसे ही कहो जो तब तक जीवित रहने की आशा रखती हो।' युवती द्वारा इतना अनुनय-विनय किया जाने पर भी युवक विदाई की प्रार्थना करके चल देता है। इसके बाद तरुणी की दारुण विरह-यातना का वर्णन ग्यारह परिच्छेदों में किया गया है। वियोगावस्था में वह अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट करती है—'मैं आज तक जीती हूँ, केवल उनके प्रत्यागमन की आशा से। शीघ्र उनके आने की चिंता से मेरा हृदय अधीर हो उठता है। मैं अहर्निश यही कामना करती हूँ उनकी रूप-सुधा-पान कर मेरे उपोषित नेत्र तृप्त हो जायँ। मेरे शीर्ण बाहु की विवर्णता दूर हो जाय। अग्नि में घृत के समान जिसका चित्त प्रेम के उत्ताप से पिघल गया है, क्या वह प्रियतम के साथ विवाद कर सकती है?'

उधर युद्ध-स्थल में नायक भी घर लौटने के लिए छटपटाता है। वह तत्काल उड़कर घर पहुँचना चाहता है। अपने वियोग में पत्नी की दशा की कल्पना कर वह कातर और भयभीत हो उठता है। वह मन ही मन कहता है—'मेरे पहुँचने के पहले ही यदि उसका कुसुम पल्लव हृदय टूट गया तो घर पहुँचने से क्या लाभ!'

युद्ध से लौटकर जब उसका हृदय-देवता घर पहुँचता है, तब प्रेमिका दौड़कर उसके सामने नहीं आती। वह मान करके बैठ जाती है। पाँच परिच्छेदों में कवि ने पाठकों को मान के लीला-माधुर्य का आस्वादन कराया है। इन परिच्छेदों को पढ़ने पर एक एकांकी को पढ़ने का आनंद प्राप्त होता है। रसपरिपाक के लिए एक तृतीय व्यक्ति की सृष्टि की गयी है—वह है नायिका की सखी। जिसे संबोधन कर नायक तथा नायिका अपने अपने मनोभाव व्यक्त करते हैं और सखी आवश्यकतानुसार बीच बीच में कुछ कह कर दोनों में सुलह कराती है।

इस खंड में एक पतिपरायणा साध्वी रमणी के शुद्ध आचरण तथा पवित्र हृदयोद्गारों का सजीव चित्र है। इसमें कहीं पर असंयम, प्रगल्भता, उच्छृंखलता तथा अपवित्रता की गंध तक नहीं। यह प्रकरण पिछले साहित्यिक ग्रंथों में वर्णित अवैध परकीया प्रेम से कोसों दूर है। दोनों प्रेमी-युगल का वर्णन होने पर भी इसमें अश्लीलता की छाया तक नहीं दिखायी देती। प्रायः देखा जाता है कि अनेक बार उपदेश व्यर्थ होते हैं। उपदेशों की इन व्यर्थता को देख कवि ने दो प्रेमी युगल के वर्णन द्वारा शुद्ध प्रेम-राज्य का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित किया है और प्रेम-विधि के यथोचित निर्वाह के लिए एक पथ-प्रदर्शक आदर्श युवक युवतियों के सामने रखा है।

पहले धर्म-खंड में सब जीवों के प्रति प्रेम करना, जीवदया, अहिंसा, मांसभक्षणत्याग आदि विषयों का सुंदर वर्णन है। प्रेम का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—'प्रेम का द्वार बंद करनेवाली रुकावट कहाँ है ? एक दूसरे पर प्रेम करनेवालों की आँखों में छलकनेवाले आँसू उनके हृदय में लहरानेवाले प्रेम सागर के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। प्रेम की मधुरता चखने के लिए ही यह जीव अपने आपको बार-बार इस हाड़-मांस के पिंजड़े में बंद कर लेता है।' दूसरों के हृदय को पीड़ा न पहुँचाने का उपदेश करता हुआ कवि कहता है—'तुम्हारे एक शब्द से यदि किसी दूसरे व्यक्ति को दुख पहुँचा तो तुम्हारी अच्छाई जलकर खाक हो जायगी। अग्नि से जला हुआ जख्म भर जाता है, परंतु जिह्वा से जली हुई जगह कभी ठीक नहीं होती। जब दो मीठे बोल बोलकर आसानी से काम होने की संभावना होती है तब फिर मनुष्य क्यों कठोर वाणी का उपयोग करता है ?' मित्रता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—'जिस प्रकार कमर से बंधा हुआ वस्त्र हवा से उड़ने लगते ही हमारा हाथ उसे संभालने के लिए तुरंत आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मित्र की लज्जा छिपाने के लिए सच्चा मित्र उस पर पर्दा डालता है।' दुश्मन को केवल ऊपरी व्यवहार से नहीं पहचाना जा सकता, यह बताते हुए कवि कहता है—'तीर सीधा दीखता है परंतु हत्या करता है। वीणा टेढ़ी रहती है परंतु मधुर संगीत सुनाती है।' इसी प्रकार एक यह उद्धरण पढ़िये—'फूलों की ताजगी से मालूम होता है कि उन्हें कितना पानी दिया गया होगा। उसी भाँति मनुष्य के वैभव से अंदाज लगाया जा सकता है कि उसने कितना परिश्रम किया होगा।'

इस प्रकार तिरुवल्लुवर उदार विचार, परिस्थित्यनुकूल दृष्टांत और रसपूर्ण वर्णन करने में प्रसिद्ध है। तिरुवल्लुवर के डेढ़ सौ वर्ष बाद एक जैन कवि ने कुरल के संबंध में लिखा है 'कुरल ग्रंथ के दोहों की सीमा में असीम अर्थ भरा हुआ है। मानों राई को खोदकर उसमें सप्त सिंधु की विशालता को आबद्ध किया गया है।' तमिल साहित्य की महान् संत कवयित्री अव्वयार उसके बारे में कहती है—'जिस प्रकार घास के पत्ते पर रहनेवाले ओसकण में गगन को छूनेवाले ताड़वृक्ष का प्रतिबिंब होता है, उसी भाँति कुरल के इन छोटे पद्यों में महान् अर्थ भरा हुआ है।' ऐसे थोड़े से उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। जिस आँख में मधुरता नहीं, वह गड़ढा है। बड़े आदमियों की लक्ष्मी गाँव के बीच चौराहे पर फलों से झुके हुए वृक्ष की तरह होती है। केवल हंसी का नाम मित्रता नहीं, हृदय को हँसानेवाली सच्ची प्रीति ही मित्रता है। जो दुख से दुःखी नहीं होता वह दुःख को दुःखी करता है। जो किसान बार-बार अपने खेतों पर नहीं जाता उसके खेत अकेली जीवन बितानेवाली पत्नी की तरह उससे नाराज हो जाते हैं। सिर्फ किसान ही अपने परिश्रम की रोटी खाता है। बाकी सारी दुनिया दूसरों के उपकारों से दबी है। दानों से परिपूर्ण भुट्टों की छाया में आराम करनेवाले हरे-भरे खेत जिस राज्य में हैं उसके आगे दूसरे राज्य के सिर झुक जायँगे। मेरा पेट खाली है यह शब्द सुनकर धरती माता हँसती है।

कुरल के धर्म, अर्थ और काम खंडों का ऊपर जो दिग्दर्शन किया गया है वह उसकी केवल एक

झांकी है। एक छोटे से लेख में इस ग्रंथ रत्न का संपूर्ण विवरण देना शक्य नहीं। इस ग्रंथरत्न में मयलापुर के एक प्रतिभासंपन्न अस्पृश्य जुलाहे ने मनुष्य के नैतिक, पारिवारिक या नागरिक जीवन का जो वर्णन किया वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। ग्रंथ में प्रत्येक देश के मानव-मन की उर्मियों का स्पंदन है। संक्षेप में सादी रहन-सहन और उच्च विचारशक्ति इस ग्रंथ का ध्येय है। इस काव्य के छोटे छोटे पद्य तमिल प्रांत के छोटे-बड़े हर एक की जबान पर चढ़े हुए हैं। एक ओर इस ग्रंथ में श्रमण या संत संस्कृति के संतों के उपदेशों की भाँति जीवनोपयोगी उपदेश है, दूसरी ओर वह भीष्म, चाणक्य और वात्स्यायन इत्यादि नीति विशारदों के साथ एक आसन पर बैठने योग्य है, तीसरी ओर अश्वघोष, कालिदास और सिद्धसेन दिवाकर जैसे वागीश्वरों की योग्यता का भावपूर्ण कल्पना सामर्थ्य इस काव्य में है। इस ग्रंथ को पढ़कर मन में यह भावना दृढ़ीभूत हो जाती है कि साधुता, पौरुष, संयम, कष्टपूर्ण जीवन और आत्म-गौरव से बढ़ कर इस दुनिया में और कोई गुण नहीं, इनके विकास के लिए दुष्टता तथा पाप का परित्याग करना चाहिए। अब तो तिरुवल्लुवर का यह ग्रंथ केवल तमिलनाडु का ही नहीं, बल्कि सारे विश्व का है। कुरल की रचना कर तिरुवल्लुवर ने विश्व साहित्य को एक अमूल्य संपत्ति दी है।

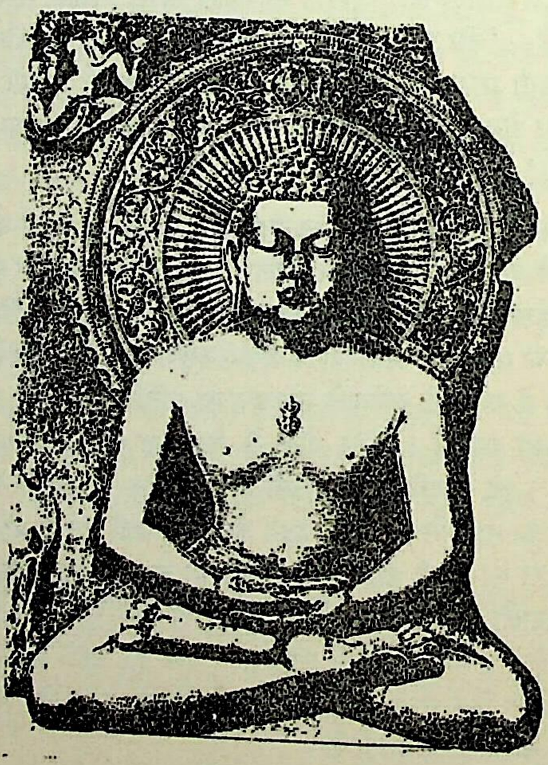

सुवर्णभूमि में कालकाचार्य

डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.

श्री. सङ्घदास गणि क्षमाश्रमणकृत **बृहत्कल्पभाष्य**[1] (विभाग १, पृ. ७३–७४) में निम्नलिखित गाथा है :

> सागरियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खंतलक्खेण।
> कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ २३६ ॥

इस गाथा की टीका में श्रीमलयगिरि (वि० सं० १२०० आसपास) ने कालकाचार्य के सुवर्णभूमि में जाने की हकीकत विस्तार से बतलाई है जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

उज्जयिनी नगरी में सूत्रार्थ के ज्ञाता आर्य कालक नाम के आचार्य बड़े परिवार के साथ विचरते थे। इन्हीं आर्य कालक का प्रशिष्य, सूत्रार्थ को जाननेवाला सागर (संज्ञक) श्रमण सुवर्णभूमि में विहार कर रहा था। आर्य कालक ने सोचा, मेरे ये शिष्य जब **अनुयोग** को सुनते नहीं तब मैं कैसे इनके बीच में स्थिर रह सकूँ? इससे तो यह अच्छा होगा कि मैं वहाँ जाऊँ जहाँ अनुयोग का प्रचार कर सकूँ, और मेरे ये शिष्य भी पिछे से लज्जित हो कर सोच समझ पाएँगे। ऐसा खयाल कर के उन्होंने शय्यातर को कहा : मैं किसी तरह (अज्ञात रह कर) अन्यत्र जाऊँ। जब मेरे शिष्य लोग मेरे गमन को सुनेंगे तब तुम से पृच्छा करेंगे। मगर, तुम इनको कहना नहीं और जब ज्यादा तंग करें तब तिरस्कारपूर्वक बताना कि (तुम लोगों से निर्वेद पा कर) सुवर्णभूमि में सागर (श्रमण) की ओर गये हैं। ऐसा शय्यातर को समझाकर रात्रि को जब सब सोये हुए थे तब वे (विहार कर के) सुवर्णभूमि को गये। वहाँ जा कर उन्होंने स्वयं 'खंत' मतलब कि वृद्ध (साधु) हैं ऐसा बोल कर सागर के गच्छ में प्रवेश पाया। तब यह वृद्ध (अति वृद्ध—मतलब कि अब जीर्ण और असमर्थ-नाकामीयाब होते जाते) हैं ऐसे खयाल से सागर आचार्य ने उनका अभ्युत्थान आदि से सन्मान नहीं किया। फिर अत्थ-पौरुषी (व्याख्यान) के समय पर (व्याख्यान के बाद) सागर ने उनसे कहा : हे वृद्ध! आपको यह (प्रवचन) पसंद आया? आचार्य (कालक) बोले : हाँ! सागर बोला : तब अवश्य व्याख्यान को सुनते रहो। ऐसा कह कर गर्वपूर्वक सागर सुनाते रहे।

अब दूसरे शिष्यलोग (उज्जैन में) प्रभात होने पर आचार्य को न देखकर सम्भ्रान्त हो कर सर्वत्र ढूँढते हुए शय्यातर को पूछने लगे मगर उसने कुछ बताया नहीं और बोला : जब आप लोगों को स्वयं आचार्य कहते नहीं तब मेरे को कैसे कहते? फिर जब शिष्यगण आतुर हो कर बहुत आग्रह करने लगा तब शय्यातर तिरस्कारपूर्वक बोला : आप लोगों से निर्वेद पा कर सुवर्णभूमि में सागर श्रमण के पास चले गये हैं।

फिर वे सब सुवर्णभूमि में जाने के लिए निकल पड़े। रास्ते में लोग पूछते कि यह कौनसे आचार्य विहार कर रहे हैं? तब वे बताते थे : आर्य कालक। अब इधर सुवर्णभूमि में लोगों ने बतलाया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहु परिवार सहित यहाँ आने के खयाल से रास्ते में हैं। इस बात को सुनकर सागर ने अपने शिष्यों को कहा : मेरे आर्य आ रहे हैं। मैं इनसे पदार्थों के विषय में पृच्छा करूँगा।

थोड़े ही समय के बाद वे शिष्य आ गये। वे पूछने लगे : क्या यहाँ पर आचार्य पधारे हैं? उत्तर

---

[1] मुनि श्रीपुण्यविजयजी-संपादित, "निर्युक्ति–लघुभाष्य–वृत्त्युपेतं–बृहत्कल्पसूत्रम्" विभाग १ से ६, प्रकाशक, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर.

मिला : नहीं मगर दूसरे वृद्ध आये हैं। पृच्छा हुई : कैसे हैं ? (फिर वृद्ध को देख कर) यही आचार्य हैं ऐसा कह कर उनको वन्दन किया। तब सागर बड़े लज्जित हुए और सोचने लगे कि मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमणजी (आर्य कालक) से मेरी वन्दना भी करवाई। इस लिए "आपका मैंने अनादर किया" ऐसा कह कर अपराह्णवेला के समय "मिथ्या दुष्कृतं मे" ऐसे निवेदनपूर्वक क्षमायाचना की। फिर वह आचार्य को पूछने लगा : हे क्षमाश्रमण ! मैं कैसा व्याख्यान करता हूँ ? आचार्य बोले : सुन्दर, किन्तु गर्व मत करो। फिर उन्होंने धूलि-पुञ्ज का दृष्टान्त दिया। हाथ में धूलि लेकर एक स्थान पर रख कर फिर उठा कर दूसरे स्थान पर रख दिया, फिर उठा कर तीसरे स्थान पर। और फिर बोले कि जिस तरह यह धूलिपुञ्ज एक स्थान से दूसरे स्थान रक्खा जाता हुआ कुछ पदार्थों (अंश) को छोड़ता जाता है, इसी तरह तीर्थङ्करों से गणधरों और गणधरों से हमारे आचार्य तक, आचार्य-उपाध्यायों की परम्परा में आये हुए श्रुत में से कौन जान सकता है कि कितने अंश बीच में गलित हो गये ? इस लिए तुम (सर्वज्ञता का—श्रुत के पूर्ण विज्ञाता होने का) गर्व मत करो। फिर जिनसे सागर ने "मिथ्या दुष्कृत" पाया है और जिन्होंने सागर से विनय अभिवादन इत्यादि पाया है ऐसे आर्य कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को **अनुयोग-ज्ञान** दिया।

मलयगिरिजी का दिया हुआ यह वृत्तान्त निराधार नहीं है। पहले तो उनके सामने परम्परा है; और दूसरा यह सारा वृत्तान्त मलयगिरिजी ने प्राचीन बृहत्कल्प-चूर्णि से प्रायः शब्दशः उद्धृत किया है। सूत्र के बाद निर्युक्ति, तदनन्तर भाष्य और तदनन्तर चूर्णि की रचना हुई। फिर एक और महत्त्वपूर्ण आधार उत्तराध्ययन-निर्युक्ति का भी है जिस में सुवर्णभूमि में सागर के पास कालकचार्य के जाने का उल्लेख है—"**उज्जेणि कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए**" (**उत्तराध्ययन-निर्युक्ति**, गाथा १२०). उत्तराध्ययन-चूर्णि में यही वृत्तान्त मिलता है।[2] खुद बृहत्कल्प-भाष्य में कालक-सागर और कालक-गर्दभिल्ल का निर्देश तो है किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में निर्युक्ति और भाष्य गाथाओं के मिल जाने से इस बात का निश्चय नहीं किया जाता कि उपर्युक्त गाथा निर्युक्ति-गाथा है या भाष्य-गाथा। अगर निर्युक्ति-गाथा है तब तो यह वृत्तान्त कुछ ज्यादा प्राचीन है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की साक्षी भी यही सूचन करती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। पहिले तो भारत की सीमा से बाहिर, अन्य देशों में जैन धर्म के प्रचार का प्राचीन विश्वसनीय यह पहला निर्देश है। बृहत्कल्प-भाष्य ईसा की ६ वीं सदी से अर्वाचीन नहीं है यह सर्वमान्य है। और दूसरा यह कि अगर यह वृत्तान्त उन्ही आर्य कालक का है जिनका गर्दभिल्लों और कालक वाली कथा से सम्बन्ध है तब सुवर्णभूमि में जैन धर्म के प्रचार की तवारिख हमें मिलती है। कालक और गर्दभिल्लों की कथा कम से कम चूर्णि-ग्रन्थों से प्राचीन तो है ही, क्यों कि दशाचूर्णि और निशीथ-चूर्णि में ऐसे निर्देश हमें मिलते हैं।[3] और इसी बृहत्कल्पभाष्य में भी निम्नलिखित गाथा है जिसका हमें खयाल करना चाहिये—

---

[2] **उत्तराध्ययन–चूर्णि** (रतलाम से प्रकाशित), पृ० ८३–८४.

[3] **कालकाचार्य कथा** (प्रकाशक, श्री. साराभाई नवाब, अहमदाबाद) पृ० १–२ में **निशीथचूर्णि**, दशम उद्देश से उद्धृत प्रसंग.

दशाचूर्णि, **व्यवहार-चूर्णि** और **बृहत्कल्पचूर्णि** में से कालक-विषयक अवतरणों के लिए देखो, **वही**, पृ. ४-५.

वही, पृ० ३६–३८ में भद्रेश्वरकृत **कहावली** में से कालक-विषयक उल्लेखों के अवतरण है। कहावली वि० सं० ८०१–८५० की रचना है। इस विषय में देखो, श्री उमाकान्त शाह का लेख, **जैन सत्य-प्रकाश**, (अहमदाबाद) वर्ष १७, अंक ४, जान्युआरी १९५२, पृ० ८६ से आगे.

विज्मा ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।
उप्पादेउं सासति, अतिपंतं कालकज्जो वा ॥ ५५६३ ॥

—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ५, पृ. १४८०

उपर्युक्त भाष्य-गाथा कालकाचार्य ने विद्या-ज्ञान से गर्दभिल्ल का नाश करवाया इस बात की सूचक है और टीका से यह स्पष्ट होता है। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा ई० स० ५०० से ई० स० ६०० के बीच में रची हुई मालूम होती है।[४] और जैन परम्परा के अनुसार कालक और गर्दभ का प्रसंग ई० पू० स० ७४–६० आसपास हुआ माना जाता है।

अब देखना यह है कि सागरश्रमण के दादागुरु आर्य कालक और गर्दभिल्ल-विनाशक आर्य कालक एक हैं या भिन्न। बृहत्कल्पभाष्यकार इन दोनों वृत्तान्तों की सूचक गाथाओं में दो अलग अलग कालक होने का कोई निर्देश नहीं देते। अगर दोनों वृत्तान्त भिन्न भिन्न कालकपरक होते तो ऐसे समर्थ प्राचीन ग्रन्थकार जुरूर इस बात को बतलाते। टीकाकार या चूर्णिकार भी ऐसा कुछ बतलाते नहीं। और न ऐसा निशीथचूर्णिकार या किसी अन्य चूर्णिकार या भाष्यकार बतलाते हैं। क्यों कि इनको तो सन्देह उत्पन्न ही न हुआ कि सागर के दादागुरु कालक गर्दभविनाशक आर्य कालक से भिन्न हैं जैसा कि हमारे समकालीन पण्डितों का अनुमान है।

बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में मिलती कालक के सुवर्णभूमि-गमन वाली कथा में कालक के 'अनुयोग' को उज्जैनवाले शिष्य सुनते नहीं थे ऐसा कथन है। आखिर में सुवर्णभूमि में भी कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग का कथन किया ऐसा भी इस वृत्तान्त में बताया गया है।[५] यहां कालक के रचे हुए अनुयोग-ग्रन्थों का निर्देश है। 'अनुयोग' शब्द से सिर्फ 'व्याख्यान' या 'उपदेश' अर्थ लेना ठीक नहीं। व्याख्यान करना या उपदेश देना तो हरेक गुरु का कर्तव्य है और वह वे करते हैं और शिष्य उन व्याख्यानों को सुनते भी हैं। यहाँ क्यों कि कालक की नई ग्रन्थरचना थी इसी लिए पुराने खयालवाले शिष्यों में कुछ अश्रद्धा थी। चूर्णिकार और टीकाकार ने ठीक समझ कर अनुयोग शब्द का प्रयोग किया है।

हम आगे देखेंगे कि कालक ने लोकानुयोग और गण्डिकानुयोग की रचना की थी ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का कथन है। इसी पञ्चकल्पभाष्य का स्पष्ट कथन है कि अनुयोगकार कालक ने आजीविकों से निमित्तज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह सुवर्णभूमि जाने वाले कालक पञ्चकल्पनिर्दिष्ट अनुयोगकार कालक ही हैं और वे निमित्तज्ञानी भी थे। गर्दभ-विनाशक कालक भी निमित्तज्ञानी थे ऐसा निशीथचूर्णिगत वृत्तान्त से स्पष्टतया फलित होता है।[६] इस तरह निमित्तज्ञानी अनुयोगकार आर्य कालक और निमित्तज्ञानी गर्दभ-विनाशक आर्य कालक भिन्न नहीं किन्तु एकही व्यक्ति होना चाहिये क्यों कि दोनों वृत्तान्तों के नायक आर्य कालक नामक व्यक्ति हैं और निमित्तज्ञानी हैं। पहले हम कह चूके हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने दो

---

[४] विशेष चर्चा के लिए देखो मुनिश्री पुण्यविजयजी लिखित प्रस्तावना, बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ६, पृ० २०–२३.

[५] देखो—"ताहे अज्जकालया चिंतेंति—एए मम सीसा अणुओगं न सुणंति × × × × ×।" और, "ताहे मिच्छा दुक्कडं करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीसपससिाण अणुयोगं कहेउं।"—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग १, पृ० ७३–७४.

[६] देखो, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश में कालक-वृत्तान्त—"तत्थ एगो साहि त्ति राया भण्णत्ति। तं समल्लीणो णिमित्तादिएहिं आउट्टेति"।—नवाब प्रकाशित, कालिकाचार्य कथा, संदर्भ १, पृ० १.

अलग अलग आर्य कालक होने का कोई ईशारा भी नहीं दिया। यही कालक जो शक-कुल पारसकुल तक गये वही कालक सुवर्णभूमि तक भी जा सकते हैं। कालकाचार्य का यह विशिष्ट व्यक्तित्व था।

हम आगे देखेंगे कि इस कालक का समय ई० स० पूर्व की पहली या दूसरी शताब्दी था। उस समय में भारत के सुवर्णभूमि और दक्षिण-चीन इत्यादि देशों से सम्बन्ध के थोडे उल्लेख मिलते हैं मगर कालक के सुवर्णभूमिगमन वाले वृत्तान्त की महत्ता आज तक विद्वानों के सामने नहीं पेश हुई।

ग्रीक लेखक टॉलेमी और पेरिप्लस ऑफ ध इरिथ्रीअन सी के उल्लेख से, जैन ग्रन्थ वसुदेव-हिण्डि में चारुदत्त के सुवर्णभूमिगमन के उल्लेख से, और महानिद्देस इत्यादि के उल्लेख से यह बात निश्चित हो चूकी है कि ईसा की पहिली दूसरी शताब्दियों में भारत का पूर्व के प्रदेशों (जैसे कि दक्षिण-चीन, सियाम, हिन्दी-चीन, बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि प्रदेशों) से घनिष्ठ व्यापारी सम्बन्ध था। चारुदत्त की कथा का मूल है गुणाढ्य की अप्राप्य बृहत्कथा जिसका समय यही माना जाता है। बहुत सम्भवित है कि इससे पहिले—अर्थात् ई० स० पूर्व की पहिली दूसरी शताब्दी में—भी भारत का सुवर्णभूमि से सम्बन्ध शुरू हो चूका था। बॅक्ट्रिया में ई० स० पूर्व १२६ आसपास पहुँचे हुवे चीनी राजदूत चांग कीयेन (Chang Kien) की गवाही मिली है कि दक्षिण-पश्चिम चीन की बनी हुई बांस और रुई की चीजें हिन्दी सार्थवाहों ने सारे उत्तरी भारत और अफघानिस्तान के रास्ते से ले जा कर बॅक्ट्रिया में वेची थी।[७] कालकाचार्य और सागरश्रमण के सुवर्णभूमि-गमन का वृत्तान्त हमारे राष्ट्रीय इतिहास में और जैनधर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निर्देश है।

सुमात्रा के नज़दीक में वंका नामक खाड़ी है। डॉ० मोतीचन्द्रजी ने बताया है कि महानिद्देस में उल्लिखित वंकम् या बंकम् यही वंका खाड़ी का प्रदेश है।[८] हमें एक अतीव सूचक निर्देश मिलता है जिसका महत्त्व बृहत्कल्पभाष्य के उपर्युक्त उल्लेख के सहारे से बढ़ जाता है। सब को मालूम है कि आर्य कालक निमित्तज्ञ और मन्त्रविद्या के ज्ञाता थे। आजीविकों से इन्हों ने निमित्तशास्त्र-ज्योतिष का ज्ञान पाया था ऐसे पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के उल्लेख हम आगे देखेंगे। खास तौर पर दीक्षा-प्रव्रज्या देने के मुहूर्त विषय में इन्होंने आजीविकों से शिक्षा पाई थी। अब हम देखते हैं कि वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पलभट्ट (ई० स० ६ वीं शताब्दी) ने एक जगह टीका में वङ्कालकाचार्य के प्रव्रज्या-विषयक प्राकृतभाषा के विधान का सहारा दिया है और मूल गाथायें भी अपनी टीका में अवतारित की है।[९] वह विधान निम्नलिखित शब्दों में है :

"एते वङ्कालकमताद् व्याख्याताः। तथा च वङ्कालकाचार्यः—

तावसिओ दिणणाहे चन्दे कावालिओ तहा भणिओ।
रत्तवडो भुमिसुवे सोमसुवे एअदंडीआ ॥
देवगुरुसुक्ककोणे कमेण जइ-चरअ-खमणाई।

अस्यार्थः तावसिओ तापसिकः दिणणाहे दिननाथे सूर्ये चन्दे चन्द्रे कावालिओ कापालिकः तहा भणिओ तथा भणितः। रत्तवडो रक्तपटः। भुमिसुवे भूमिसुते सोमसुवे सोमसुते बुधे एअदंडीआ एकदण्डी।...कमेण

---

७. डॉ. पी० सी० वागची, **इन्डिया अॅन्ड चाइना** (द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९५०), पृ० ४–६, १६–१७, १९–२७.

८. **कल्पना**, फरवरी, १९५२, पृ० ११८.

९. महामहोपाध्याय पां० वा० काणे, **वराहमिहिर एन्ड उत्पल**, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटि, १९४८–४९, पृ० २७ से आगे।

क्रमेण जई यतिः चरअ चरकः खवणाई क्षपणकः। अत्र वृद्धश्रावकग्रहणं माहेश्वराश्रितानां प्रव्रज्यानामुपलक्षणार्थं। आजीविकग्रहणं च नारायणाश्रितानाम्। तथा च वङ्कालके संहितान्तरे पठ्यते—

जलण-हर-सुगअ केसव सूई ब्रह्मरण णग्ग मग्गेसु।
दिक्खाणं णाअव्वा सूराइग्गहा कमेण णाहगआ ॥

जलण ज्वलनः साग्निक इत्यर्थः। हर ईश्वरभक्तः भट्टारकः सुगअ सुगत बौद्ध इत्यर्थः। केसव केसवभक्त भागवत इत्यर्थः। सूई श्रुतिमार्गगतः मीमांसकः। ब्रह्मरण ब्रह्मभक्तः वानप्रस्थः। णग्ग नग्न-क्षपणकः।XXXX[10]

वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक, १५.१ में प्रव्रज्या के विषय में जो विधान दिया है वह उत्पल भट्ट के कथन के अनुसार वङ्कालक के मतानुसार वराहमिहिर ने दिया है। उसी बात के स्पष्टीकरण में उत्पलभट्ट वङ्कालक की प्राकृत गाथायें उद्धृत करते हैं। यहाँ वंकालकाचार्य (वङ्कालकाचार्य) ऐसा पाठ होने से इस प्राकृतविधान (गाथायें) के कर्ता के जैन आर्य कालक होने के बारे में विद्वानों में संदेह रहा है। महामहोपाध्याय श्री पां० वा० काणे ने यह अनुमान किया है कि वंकालकाचार्य का कालकाचार्य होना सम्भवित है।[11] हम देखते हैं कि कालकाचार्य और इनके प्रशिष्य सुवर्णभूमि गये थे। सुवर्णभूमि से यहाँ वस्तुतः किस पूर्वी प्रदेश का उल्लेख है यह तो पूरा निश्चित नहीं है किन्तु, विद्वानों का ख़याल है कि दक्षिण बर्मा से लेकर मलाया और सुमात्रा के अन्त तक का प्रदेश सुवर्णभूमि बोला जाता था (देखो, डॉ० मोतीचन्द्र कृत, सार्थवाह, नकशा) जिसमें "वंकम्" या वंका की खाड़ी भी आ जाती है। पॉलेमबँग के इस्टुअरी के सामने वंका द्वीप है। वंका का जलडमरुमध्य मलाया और जावा के बीच का साधारणपथ है। डॉ० मोतीचन्द्रजी लिखते हैं : बंका की राँगे की खदानें मशहूर थीं। संस्कृत में वँग के माने राँगा होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्‌गमस्थान पर से पड़ा हो।[12]

उत्पल-टीका की हस्तप्रतों का पाठ—'वङ्कालकाचार्य' और 'वङ्कालक-संहिता' उन आचार्य का सूचक हो सकता है जो सुवर्णभूमि में गये थे और जिनके प्रशिष्य सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में (इस में "वङ्का" आ जाता है) रहते थे। सम्भव है येही आचार्य कालक के अलावा "वङ्कालक" या "वङ्का-कालक" नाम से भी पिछाने जाते हों। यह भी हो सकता है कि शुद्ध पाठ कालकाचार्य और कालक-संहिता हो किन्तु कालक के वङ्का-गमन की स्मृति में पाठ में अशुद्धि हो गई हो। उत्पलभट्ट का कहना है कि वराहमिहिर ने प्रव्रज्या के विषय में (बृहज्जातक, १५. १) वङ्कालकाचार्य (कालकाचार्य) के मत का अनुसरण किया है। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि गवाही देते हैं कि कालकाचार्य ने उसी प्रव्रज्या के विषय का आजीवकों से सविशेष अध्ययन किया था। अतः उत्पल-टीका के वङ्कालकाचार्य कालकाचार्य हैं ऐसा मानना समुचित है।

ईसा की सातवीं शताब्दि आसपास रची हुई **पञ्चकल्प-चूर्णि** में लिखा है—[13]

लोगाणुओगे, अज्जकालगा सज्झंतवासिणा भणिया एत्तियं। सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ

---

[10] बृहज्जातक (वेङ्कटेश प्रेस, बम्बई, सं. १९८०) उत्पलकृत टीका सह, पृ० १५६

[11] देखो, महा. पां० वा० काणे, **वराहमिहिर** एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध आर० ए० एस० १९४८-४९ पृ० २७ से आगे.

[12] डॉ० मोतीचन्द्र, **सार्थवाह**, पृ० १३०–१३१, १३४.

[13] श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिर, बडौदा, प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी शास्त्रसङ्ग्रह, हस्तलिखित प्रति नं० १२८४, पत्र २९ से उद्धृत.

पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निव्वेएणं आजीवगपासे निमित्तं पढियं। पच्छा पइट्ठाणे ठिओ। सायवाहणेण रन्ना तिन्नि पुच्छाओ मामगा सयसहस्सेण—एगा पसुलिंडिया को वलेइ। बिइया समुद्दे केत्तियं उदयं। प्रत्ययात्फलं पुच्छइ—महुरा किच्चिरेणं पडइ न वा। पढमाए कडगं लक्खमुल्लं। बिइ[य-तइ]याए कुंडलाइं। आयरिएण भणियं—"अलाहि मम एएण।" किं पुण निमित्तस्स उवयारो एस। आजीवगा उवट्ठिया—अम्ह एस गुरुदक्खिणाए। पच्छा तेण सुत्ते णट्ठे गंडियाणुयोगा कया। पाडलिपुत्ते संघमज्झे भणई—मए किंचि कयं तं निसामेह। तत्थ पयट्ठियं। संगहणीओ वि ण कप्पट्ठियाणं अप्पधाणाणं उवग्गहकराणि भवंति। पढमाणुयोगमाई वि तेण कया।

उपर्युक्त चूर्णि का सारांश यह है कि, अपने मेधावी शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर न रहने से, उनके सहाध्यायी ने जब आर्य कालक को यह मार्मिक बचन सुनाया कि आपने ऐसा मुहूर्त निकालना नहीं सीखा जिसमें प्रव्राजित शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर रहे तब कालकाचार्य आजीविकों के पास गये और उनसे निमित्त-शास्त्र पढ़ा। पिछे प्रतिष्ठानपुर गये जहाँ सातवाहन राजा ने उनको तीन प्रश्न पूछे और हरेक प्रश्न का ठीक उत्तर होने पर एक एक लक्ष (सुवर्णमूल्य) देने को कहा। पहले प्रश्न का उत्तर मिलने से लक्षमूल्य अपना कटक दिया। दूसरे और तिसरे प्रश्न के उत्तर मिलने पर अपना एक एक कुंडल दिया। सातवाहन को पहले दो प्रश्न के उत्तर मिलने से जो प्रतीति हुई इससे उसने तीसरा प्रश्न यह किया कि मथुरा कब (कितने समय के बाद) पड़ेगी और पड़ेगी या नहीं ? यह तीसरे प्रश्नवाली हकीकत सविशेष महत्त्व की है जिसके बारे में आगे विचार होगा।

कटक और कुंडल को देख कर कालकाचार्य ने कहा कि उनको इन चीजों की जरूरत नहीं (उनको तो अग्राह्य थीं)। इतने में (कालकाचार्य को निमित्तज्ञान देनेवाले) आजीविक आ पहुँचे और अलङ्कारों को देखकर बोले—(हमें गुरुदक्षिणा अभी तक मिली नहीं) यही हमारी गुरुदक्षिणा (होगी)। पिछे कालकाचार्य ने गण्डिकानुयोग की रचना की और पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष निवेदन किया : मैंने कुछ रचनायें की हैं, आप इनको सुनिये। सुनकर सङ्घने इस रचना को मान्य किया। कालकाचार्य ने अल्पधारणाशक्तिवाले बालकों (बालकतुल्यों) के लिए संग्रहणीयाँ (सङ्ग्रहणी-गाथायें) बनाई वे उपकारक हुईं! उन्होंने प्रथमानुयोग भी बनाया।

पञ्चकल्पचूर्णि का कालकपरक वृत्तान्त कुछ विस्तारपूर्वक पञ्चकल्पभाष्य में पाया जाता है। वस्तुतः सङ्घदास गणिकृत पञ्चकल्पभाष्य पञ्चकल्पचूर्णि से प्राचीन है और ई० स० की ६ वीं सदी में बना हुआ है। पञ्चकल्पभाष्य की प्रस्तुत गाथायें निम्नलिखित हैं—

मेहावीसीसम्मी, ओहातिए कालगज्ज थेराणं।
सज्झंतिएण अह सो, खिंसंतेणं इमं भणिओ॥
अतिबहुतं तेऽधीतं, ण य णातो तारिसो मुहुत्तो उ।
जत्थ थिरो होइ सेहो, निक्खंतो अहो! हु बोद्धव्वं॥
तो एव स ओमत्थं, भणिओ अह गंतु सो पतिट्ठाणं।
आजीविसगासम्मी, सिक्खति ताहे निमित्तं तु॥
अह तम्मि अहीयम्मी, वडहेट्ठ निविट्ठकऽन्नयकयातिं।
सालाहणो णरिंदो, पुच्छतिमा तिण्णि पुच्छाओ॥
पसुलिंडि पढमयाए, बितिय समुद्दे व केत्तियं उदयं।
ततियाए पुच्छाए, महुरा य पडेज्ज व ण व त्ति॥

पढमाए व से कडगं, देइ महं सयसहस्समुल्लं तु।
बितियाए कुंडलं तू, ततियाए वि कुंडलं बितियं॥
आजीविता उवट्ठित, गुरुदक्खिणं तु एय अम्हं ति।
तेहिं तयं तु गहितं, इयरोचितकालकज्जं तु॥
णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी, अत्थम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ।
लोगणुजोगं च तहा, पढमणुजोगं च दोऽवेए।
बहुहा णिमित्त तहियं, पढमणुओगे य होंति चरियाइं।
जिण-चक्कि-दसाराणं, पुव्वभवाइं णिबद्धाइं॥
ते काऊणं तो सो, पाडलिपुत्ते उवट्ठितो संघं।
वेइ कतं मे किंची, अणुग्गहट्ठाए तं सुणह॥
तो संघेण णिसंतं, सोऊण य से पडिच्छितं तं तु।
तो तं पतिट्ठितं तू, णगरम्मी कुसुमणामम्मि॥
एमादीणं करणं, गहणा णिज्जूहणा पकप्पो उ।
संगहणीण य करणं, अप्पाहाराण उ पकप्पो॥[१४]

पहले पञ्चकल्पचूर्णि का बताया हुआ वृत्तान्त यहाँ पर है, और यह भाष्यगत वृत्तान्त ही चूर्णि का मूल है। भाष्यगाथा में स्पष्टीकरण है कि निमित्त सिखने के लिए कालकाचार्य प्रतिष्ठान-नगर को गये और वहाँ उन्होंने आजीविकों से निमित्त पढ़ा। पढ़ने के बाद किसी समय वे वट-वृक्ष के नीचे स्थित थे जहाँ 'सालाहण-नरिन्द' जा पहुँचा और कालक से तीन प्रश्न पूछे। प्रश्न और गुरुदक्षिणा वाली बात दोनों ग्रन्थों में समान है किन्तु भाष्य में आगे की बातें कुछ विस्तार से हैं। भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रसङ्ग के बाद कालकाचार्य अपने उचितकार्य में—धर्मकार्य में धर्माचरण में—लगे। सूत्र नष्ट होने से और अर्थ अनष्ट होने से (मतलब कि सूत्र दुर्लभ हो गये थे किन्तु प्रतिपाद्य विषय का अर्थज्ञान शेष था।) इन्होंने लोकानुयोग और प्रथमानुयोग इन दोनों शास्त्रों की रचना की। लोकानुयोग में निमित्तज्ञान था, और प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, दशार इत्यादि के चरित्र थे। इस रचना के बाद वे पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी ग्रन्थरचना सुनने की विज्ञप्ति की। ग्रन्थों को सुनकर इनको सङ्घ ने प्रमाणित किये—मान्य रक्खे। वे शास्त्रग्रन्थ माने गये। इन सब का करना, निर्यूहन करना इत्यादि को जैन परिभाषा में 'प्रकल्प' कहते हैं। और सङ्ग्रहणी इत्यादि की रचना भी प्रकल्प बोली जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्य कालक निमित्तशास्त्र के बड़े पण्डित थे और प्रव्रज्या के विषय में (निमित्तशास्त्र का) इन्होंने आजीविकों से सविशेष अध्ययन किया था। वे बड़े ग्रन्थकर्ता थे जिन्होंने प्रथमानुयोग, लोकानुयोग इत्यादि की रचना की। इस लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र आता है। अतः क्यों कि प्रव्रज्या के विषय में ही वराहमिहिर वङ्कालक के मत का अनुसरण करते हैं और उसी विषय की उनकी रची हुई गाथायें उत्पलभट्ट ने उद्धृत की हैं। हमें विश्वास होता है कि 'वङ्कालक' से आर्य कालक ही उद्दिष्ट हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि उत्पलभट्ट ने अवतारित की हुई गाथायें उसी प्राकृत में हैं जिसमें जैनशास्त्र रचे गये हैं।

इस चर्चा से यह फलित होता है कि आर्य कालक, अनुयोग-कार कालक, निमित्तवेत्ता कालक

---

[१४] पञ्चकल्पभाष्य, मुनिश्री हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह (श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमन्दिर, बड़ोदा), हस्तलिखित प्रति नं० १६७३, पत्र ५०.

ऐतिहासिक व्यक्ति थे, उनकी रचनायें वराहमिहिर ने देखी थीं और ई० स० की ६ वीं शताब्दी में उत्पलभट्ट के सामने भी कालक की रचनायें या इनका अंश मौजूद था।

यह कालक वराहमिहिर के वृद्धसमकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। अनुयोग के चार विभाग करने वाले आर्यरक्षित[१५] से आर्य कालक पूर्ववर्ती होने चाहिये। आर्य रक्षित का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में माना जाता है। अतः कालकाचार्य वराहमिहिर के पूर्ववर्ती हैं। वराहमिहिर का समय शक संवत् ४२७ या ई० स० ५०५ आसपास माना गया है।[१६] इस समय के आसपास कालक शकों को भारत में लाये ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि ईसा की पहली सदी में भारत में शक जुरूर बसे हुए थे और जगह जगह पर उनका शासन भी था। अतः आर्य कालक वराहमिहिर के पूर्ववर्ती ही थे। हम देख चूके हैं कि अनुयोगकार निमित्तज्ञ कालक और गर्दभिल्ल-विनाशक निमित्तज्ञ कालक एक ही हैं और वही सुवर्णभूमि में गये थे।

डॉ० आर० सी० मजुमदार लिखते हैं : "An Annamite text gives some particulars of an Indian named Khauda-la. He was born in a Brāhmaṇa family of Western India and was well-versed in magical art. He went to Tonkin by sea, probably about the same time as Jīvaka..........*He lived in caves or under trees, and was also known as Ca-la-cha-la (Kālāchārya—black preceptor ?)*"[17]

इसका मतलब यह है कि अनाम-चम्पा के किसी ग्रन्थ में लिखा है कि पश्चिमी भारत की ब्राह्मणजाति का कोई **खऊद-ल** नामक व्यक्ति वहाँ गया था और वहाँसे दरियाई रास्ते टोन्किन (दक्षिण चीन) गया था। यह व्यक्ति जादू—गुह्यविद्या-मन्त्रविद्या में निपुण था। पेड़ों कि छाँय में या तो गुफाओं में वह पुरुष निवास करता था और उसको **कालाचार्य** कहते थे।

डॉ० मजुमदार का कहना है कि यह कालाचार्य शायद उसी समय में अनाम और टोन्किन गये जिस समय बौद्ध साधु जीवक गया था। जीवक या मारजीवक ई० स० २९० आसपास टोन्किन में था।[१८] इसी अनाम की परम्परा के विषय में डॉ० पी० सी० बागची से विशेष पृच्छा करने से इन्होंने मुझे लिखा है—

"Khaudala is not mentioned in any of the authentic Chinese sources which speak of the other three Buddhist monks Mārajīvaka, Sangha-Varman and Kalyāṇaruci who were in Tonkin during the 3rd century A.D. But he is referred to for the first time (loc. cit. P. 217) in an Annamese book—*Cho Chau Phap Van Phat Bah hanh ngi lue* of the 14th century. The text says "Towards the end of the reign of Ling Han (168-188 A.D.) Jīvaka was travelling. Khau-da-la (Kiu-to-lo = Kṣudra) arrived about

---

[१५] देविंद वंदिएहिं, महाणुभावेहिं रक्खिअ अज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो, अणुओगो ता कहो चउहा ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ७७४

[१६] वराहमिहिर का समय शक सं० ३२७ या ई० स० ४०५ आसपास है ऐसा एक मत के लिए देखो, **इन्डिअन कल्चर**, वॉल्युम ६, पृ० १६१–२०४.

[१७] **एज ऑफ इम्पीरिअल युनिटि**, पृ० ६५०. इटालिक्स मेरे हैं.

[१८] **वही**, पृ० ६५०. और देखिये, *Le Bouddhisme en Annam*, Bulletin d'ecole Francaise d'Extreme-Orient, Vol. XXXII.

the same time from Western India. He had another name Ca-la-cha-lo (Kia-lo-cho-lo = Kālācārya)."

डॉ. बागची आगे अपने पत्र में लिखते हैं कि 'क्यों कि मारजीवक चीनी आधार से ई० स० २९० और ई० स० ३०६ के बीच में वहाँ दौरा लगाता था इस लिए अनाम के इस ग्रन्थ में पायी जाती हकीकत ठीक नहीं लगती।'[१९] यह ठीक है कि जीवक का समय ई० स० २९० से ३०६ मानना चाहिये न कि ई० स० १६८–१८८ जो अनाम के ग्रन्थ का कहना है। किन्तु ई० स० १४ वीं शताब्दी में बने हुए इस ग्रन्थ के कर्ता को पूरी हकीकत वास्तविक रूप में मिलनी मुश्किल है। फिर भी जिस तरह जीवक के अनाम और टोन्किन में जाने की बात विश्वसनीय है इसी तरह कालाचार्य के अनाम जाने की हकीकत सम्भवित हो सकती है।

क्या यह अनाम की परम्परा में इन्हीं कालकाचार्य की स्मृति तो नहीं जो विद्या-मन्त्र-निमित्त के ज्ञाता थे, जो सुवर्णभूमि में विचरे थे, जिनका गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहना मानना युक्तिसङ्गत है और जो पश्चिमी भारत के रहनेवाले थे ? वे जन्म से ब्राह्मण हो सकते हैं, कई सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे। जैन साधु गुफाओं में भी रहते थे। और पेड़ों के नीचे रहने वाली हकीकत कालकाचार्य के बारे में सच्ची है। उपर्युक्त पञ्चकल्पभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि सातवाहन नरेन्द्र कालकाचार्य को मिले तब आर्य कालक वटवृक्ष के नीचे निविष्ट थे। **कालकाचार्य पेड़ो के नीचे रहते थे।** अनाम के ग्रन्थ का यह कहना कि कालाचार्य गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहते थे वह इस वस्तु का द्योतक है कि वे पुरुष गृहस्थी नहीं किन्तु साधु-जीवन गुजारने वाले थे। और जब हमें प्राचीन जैनग्रन्थों (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य इत्यादि) की साक्षी मिलती है कि कालकाचार्य सुवर्णभूमि में गये थे तब अनाम-परम्परा के कालाचार्य वाली हकीकत में इसी कालकाचार्य के सुवर्णभूमि-गमन की स्मृति मानना उचित होगा।

कालाचार्य या कालकाचार्य के सुवर्णभूमिगमन का कारण भी दिया गया है। कालक की ग्रन्थरचनायें जिनको पाटलिपुत्र के सङ्घ ने भी प्रमाणित की थीं उन्हें खुद उनके शिष्य भी (उज्जैन में) नहीं सुनते थे। आर्य कालक इसी से निर्विण्ण हो कर देशान्तर गये। सुवर्णभूमि में जहाँ उनके मेधावी श्रुतज्ञानी प्रशिष्य सागरश्रमण थे वहाँ जाना आर्य कालक ने उचित माना।

अनाम की परम्परा का जो निर्देश है कि कालाचार्य पश्चिमी भारत के ब्राह्मण थे उसको भी सोचना चाहिए। कालक-कथानकों से यह तो स्पष्ट है कि इनका ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरूच (भरुकच्छ) और प्रतिष्ठानपुर से रहा। अतः आर्य कालक पश्चिमी भारत के हो सकते हैं, और पूर्व में अनाम परम्परा उनको पश्चिमी भारत के मान ले यह स्वाभाविक है। कालाचार्य-कालकाचार्य के जन्म से ब्राह्मण होने के विषय में हम देख चूके हैं कि यह बात असम्भव नहीं, कई प्रभाविक जैन आचार्य पहले श्रोत्रिय ब्राह्मण पण्डित थे। और आर्य कालक के विषय में एक कथानक भी है जिससे वह ब्राह्मणजातीय थे ऐसा मान सकते हैं। आवश्यक-चूर्णि और कहावली (ई० स० १२०० के पहिले रचा हुआ, शायद ई० स० ९ वीं शताब्दि में रचित) में एक कथानक है जिस में बताया गया है कि कालक तुरुमिणी नगरी में भद्रा नामक ब्राह्मणी के सहोदर थे। भद्रा के पुत्र दत्त ने उस नगरी के राजा को पदभ्रष्ट करके राज्य ले लिया और उसने बहुत यज्ञ किये। इस दत्त के सामने कालकाचार्य ने यज्ञों कि निन्दा की और यज्ञ का बूरा फल कहा। इस से दत्त ने आचार्य को कैद किया। आचार्य के भविष्यकथन के अनुसार राजा दत्त बूरे हाल मरा।[१९अ] यज्ञफल और दत्त के भविष्य-

---

[१९] डा. बागचीजी द्वारा दी गई प्रस्तुत सूचना के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

[१९अ] देखो, कालकाचार्य-कथा (श्री. नवाब प्रकाशित) पृ० ४० आवश्यक-चूर्णि, भाग १, पृ. ४९५–४९६ में भद्रा को "धिग्जातिणी" कही है। भद्रा ब्राह्मणधर्मी होने से इसके लिए जैन लेखक ने

कथन के वर्णन से स्पष्ट होता है कि यह कालक निमित्त के, ज्योतिष के, जानने वाले थे। इस तरह दत्त के मातुल आर्य कालक और अनाम-परम्परा के कालाचार्य ब्राह्मण होने की संगति मिलती है। दोनों वृत्तान्तों में कालक को निमित्त-मन्त्र–विद्या–ज्ञान होने का भी साम्य है।

गर्दभिल्लोच्छेदक कालक का भागिनेय बलमित्र राजा था। यहाँ कहावली,[२०] आवश्यक चूर्णि[२१] इत्यादि के उपर्युक्त कथानक में कालकाचार्य का भागिनेय दत्त भी राजा होता है। यह भी विचारणीय है।

बलमित्र का धर्म कौनसा था? और बलमित्र-भानुमित्र क्या सचमुच कालक के भागिनेय थे? निशीथचूर्णि कहती है कि कितनेक आचार्यों के कथनानुसार वे (बलमित्र-भानुमित्र) कालकाचार्य के भागिनेय थे। मगर निशीथचूर्णिकार भगवज्जिनदास महत्तर को (ई० स० ६७६ आसपास) यह पक्का मालूम नहीं था इसी लिए इन्होंने निश्चितरूप से नहीं बताया।[२२] कालकाचार्य और जिनदास के सत्तासमय के बीच में ठीक ठीक अन्तर होगा जिससे जिनदास को इस विषय में अविच्छिन्न विश्वसनीय परम्परा मिल न सकी। आगे जिनदास कहते हैं कि बलमित्र के भागिनेय बलभानु ने जैनी दीक्षा ली जिससे बलमित्र का पुरोहित और दूसरे नाराज हुए। पुरोहित ब्राह्मणधर्मी होने से बलमित्र-भानुमित्र भी ब्राह्मणधर्मी होंगे। अगर कालकाचार्य के इन दोनों भागिनेय जैनधर्मी होते तो कालकाचार्य के लिये उज्जैन से बाहिर चले जाने की परिस्थिति खड़ी न होती जैसा कि आवश्यक-चूर्णि अन्तर्गत (तिथि बदलनेवाली) कथानक में वर्णित है। भागिनेय होने पर भी अगर बलमित्र-भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी हों तब वे सब बातें होनी असम्भव नहीं। अगर कालक खुद जन्म से ब्राह्मणजातीय हों तब तो उनके भागिनेय बलमित्र-भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी होने का सुसंगत ही होता है। ब्राह्मणधर्मी होने पर भी क्योंकि बलमित्र-भानुमित्र कालक के भागिनेय थे, इन दोनों ने गर्दभोच्छेदन में कालक को सहायता दी। दत्त और बलमित्र दोनों अलग अलग कथानकों में कालक के भागिनेय कहे गये हैं। वे दोनों एक थे या भिन्न भिन्न व्यक्ति? कथानकों के ढंग से तो उनके अलग अलग व्यक्ति होने का अनुमान होता है।

तुरुमिणी (या तुरुविणी) नगरी कहाँ थी? वह शायद हाल में मध्यभारत में तुमैन (Tumain नाम से पिछानी जाती नगरी होगी।[२३] कालकाचार्य का ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरुकच्छ और प्रतिष्ठानपुर से रहा इस से तुरुमिणी का मध्य या पश्चिम भारत में होना सम्भवित है किन्तु वह कहाँ थी यह निश्चितरूप से कहना शक्य नहीं।

श्री नवाब प्रकाशित कालकाचार्य कथा में दिये हुए मध्यकालीन (संवत् ११०० के पिछे रचे गये)

ऐसा शब्दप्रयोग आचार्य हरिभद्र और शीलाङ्क के टीकाग्रन्थों में ब्राह्मणों को 'धिग्जातीय' ही कहा गया है अत एव नवाब प्रकाशित अन्य कथाओं में पिछे के (मध्यकालीन) लेखकों ने कालकाचार्य की भगिनी (दत्त की माँ) को ब्राह्मण जातीय बताई है वह ठीक ही है।

२०. नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा**, पृ० ४०

२१. **वही**, पृ० ४०

२२. 'केयि आयरिया भणंति, जहा–बलमित्त–भाणुमित्ता कालगायरियाणं भागिणेज्जा भवंति। मातुलो त्ति काउं महंतं आदरं करेंति अब्भुठ्ठाणादियं।'—निशीथचूर्णि, उद्देश १०, **कालकाचार्यकथा** (नवाब प्रकाशिक), पृं० २. देवचन्द्रसूरिविरचित कालककथा (सं० ११४६) में बलमित्र-भानुमित्र को कालक के भागिनेय कहे हैं, देखो, **कालकाचार्यकथा**, (नवाब), पृ० १४. **वही**, पृ० ३७ में **कहावली**-अन्तर्गत कथानक में भी यही कहा गया है।

२३. मूल ग्वालिअर रियासत का यह तुमैन एक प्राचीन स्थल है जहाँ से उत्तरगुप्तकालीन शिल्प इत्यादि मिले हैं।

कथानकों से प्रतीत होता है कि इन लेखकों को सुवर्णभूमि का ठीक पता नहीं रहा होगा। इसी लिए प्रभावकचरित्र के कर्ता (समय वि० सं० १३३४=ई० स० १२७७) सागर को उज्जैनी में बसे कहते हैं। और दूसरे लेखक सुवर्णभूमि के बजाय स्वर्णपुर कहते हैं। कई लेखक प्रदेश का नाम छोड़ देते हैं या दूर-देश या देशान्तर ऐसा अस्पष्ट उल्लेख करते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि इन पिछले लेखकों के समय में कई परम्परायें विच्छिन्न थीं। और कई बातें उनकी समझ में आ न सकीं। ऐसे संयोग में हमारे लिए यही उचित है कि हम भाष्यकार, चूर्णिकार, कहावलीकार और मलयगिरि के कथनों में ज्यादा विश्वास रक्खें और हो सके वहाँ तक इन्हीं साक्षियों से कालकविषयक खड़ी होती समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करें। हम देख चूके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे न कि काल्पनिक। निमित्तज्ञानी, अनुयोगकार आर्य कालक सुवर्णभूमि में गये थे ऐसा निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार का कहना है जिसमें सन्देह रखने का कोई कारण नहीं।

लेकिन सुवर्णभूमि किस प्रदेश को कहते थे ? सुवर्णभूमि का निर्देश हमें महानिद्देस जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। डॉ० मोतीचन्द्र लिखते हैं—"महानिद्देस के सुवर्णकूट और सुवर्णभूमि को एक साथ लेना चाहिये। सुवर्णभूमि, बंगाल की खाड़ी के पूरब के सब प्रदेशों के लिए एक साधारण नाम था; पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है। अर्थशास्त्र (२।२।२८) के अनुसार सुवर्णकुड्या से तैलपर्णिक नाम का सफेद या लालचन्दन आता था। यहाँ का अगर पीले और लाल रंगों के बीच का होता था। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था। सुवर्णकुड्या से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे। सुवर्णकुड्या की पहचान चीनी किन्लिन् से की जाती है जो फूनान के पश्चिम में था।[२४]"

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप ये दोनों नाम सागरपार के पूर्वी प्रदेशों के लिए प्राचीन समय से भारतवासियों को सुपरिचित थे। जातककथायें, गुणाढ्य की (अभी अनुपलब्ध) बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तर, कथाकोश और विशेषतः बौद्ध और दूसरे साहित्य के कथानकों में इनके नाम हमेशा मिलते रहते हैं। एक जातककथा के अनुसार महाजनक नामक राजकुमार धनप्राप्ति के उद्देश से सोदागरों के साथ सुवर्णभूमि को जानेवाले जहाज में गया था। दूसरी एक जातककथा भरुकच्छ से सुवर्णभूमि की जहाजी मुसाफिरी का निर्देश करती है। सुप्पारक–जातक में ऐसी ही यात्रा विस्तार से दी गई है।[२५]

गुणाढ्य की बृहत्कथा तो अप्राप्य है किन्तु उससे बने हुए बुधस्वामि-लिखित बृहत्कथाश्लोकसङ्ग्रह में सानुदास की सुवर्णभूमि की यात्रा बताई गई है। कथासरित्सागर में सुवर्णद्वीप की यात्राओं के कई निर्देश हैं। कथाकोश में नागदत्त को सुवर्णद्वीप के राजा सुन्द ने बचाया ऐसी कथा है।[२६]

बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तरों में सबसे प्राचीन है सङ्घदास वाचक कृत वसुदेवहिण्डि (रचनाकाल–ई० स० ३०० से ई० स० ५०० के बीच)। सार्थ के साथ उत्कल से ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक्) की ओर जाते हुए चारुदत्त को रास्ते में लूटेरों की भेंट होती है, लेकिन वह बच जाता है। सार्थ से उसे अलग होना पड़ता है और वह अकेला प्रियंगुपट्टण पहुँचता है जहाँ पहचानवाले व्यापारी की सहाय से वह नया माल ले कर तरी रास्ते व्यापार के लिए जाता है। चारुदत्त अपना वृत्तान्त देता है—"पिछे...मैंने जहाज को सज्ज किया, उस में माल भरा, खलासियों के साथ नौकर भी लिये...राज्यशासन का पट्टक (पासपोर्ट)

---

२४. डा० मोतीचन्द्र, **सार्थवाह**, पृ० १३४.

२५. **जातक**, भाग ६ (इंग्लिश में), पृ० २२; **वही**, भाग ३, पृ० १२४; भाग ४, पृ० ८६; और **जातकमाला**, नं० १४.

२६. **कथासरित्सागर** (बम्बई-प्रकाशन), तरङ्ग ५४, श्लो० ८६ से आगे, ९५ आगे; तरङ्ग, ५७, ७२ से आगे; पृ० २७६, २९७; तरङ्ग, ८६, ३३, ६२; तरङ्ग, १२३. ११०. **कथाकोश** (Tawney's Ed.) पृ० २८-२९.

भी लिया और चीनस्थान की ओर जहाज को चलाया...जलमार्ग होने से (चारों ओर) सारा जगत् जलमय सा प्रतीत होता था। फिर हमलोग **चीनस्थान** पहुँचे। वहाँ व्यापार कर के मैं **सुवर्णद्वीप** गया। पूर्व और दक्षिण दिशा के पत्तनों के प्रवास के बाद कमलपुर (ख्मेर), यवद्वीप (जवद्वीप—जावा) और सिंहल (सिलोन—लंका) में और पश्चिम में बर्बर (झांझीबार?) और यवन (अलेकझांड्रिआ)[२७] में व्यापार कर, मैंने आठ कोटि धन पैदा किया......जहाज में मैं सौराष्ट्र के किनारे जा रहा था तब किनारा मेरी दृष्टिमर्यादा में था उसी समय झंझावात हुआ और वह जहाज नष्ट हुआ। कुछ समय के बाद एक काष्ठफलक मेरे हाथ आ गया और (समुद्र के) तरंगों की परम्परा से फेंकाता हुआ मैं उस अवलम्बन से जी बचाकर सात रात्रियों के बाद आखिर **उम्बरावती–वेला** (वेला = खाड़ी) के किनारे पर डाला गया। इस तरह मैं समुद्र से बाहर आया।"[२८]

यह ब्यान महत्त्व का है। प्रियंगुपट्टण बंगाल की एक प्राचीन बन्दरगाह थी। वहाँ से चारुदत्त चीन और हिन्द-एशिया की सफर करता है। चीन से सुवर्णद्वीप जाता है और पूर्व और दक्षिण के बन्दरगाहों, व्यापारकेन्द्रों में सोदा कर ख्मेर, वहाँ से यवद्वीप और फिर वहाँ से सिंहल को जाता है। इस तरह चीन और ख्मेर के बीच में सुवर्णद्वीप होना सम्भवित है।

वसुदेवहिण्डि की रचना बृहत्कल्पभाष्य से प्राचीन है।[२९] वसुदेवहिण्डि अन्तर्गत चारुदत्त के बयान से प्रतीत होता है कि जैन ग्रन्थकार इन पूर्वीय देशों से सुपरिचित थे। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा में "सुवण्ण" शब्द-प्रयोग से ग्रन्थकार की अपनी सूत्रात्मक शैली का काम चल जाता है क्योंकि लिखने और पढ़नेवाले इसके मतलब से (सुवण्ण शब्द से सूचित सुवर्णभूमि अर्थ से) सुपरिचित थे। और उत्तराध्ययननिर्युक्ति तो स्पष्ट रूप से सुवर्णभूमि का निर्देश करती है।

सुवर्णभूमि के अगरु के बारे में कौटिल्य के निर्देश (अर्थशास्त्र, २, ११) का उल्लेख पहिले किया गया है। मिलिन्दपण्ह भी, समुद्रपार तक्कोल, चीन, सुवर्णभूमि के बन्दरगाहें, जहाँ जहाज इकठे होते हैं, का उल्लेख करता है।[३०]

निद्देस में सुवर्णभूमि और दूसरे देशों की जहाजी मुसाफरी का निर्देश है। महाकर्म-विभङ्ग में देशान्तर-विपाक के उदाहरण में महाकोसली और ताम्रलिपि से सुवर्णभूमि की ओर जहाजी रास्ते से जानेवाले व्यापारियों को होती हुई आपत्तियों की बातें हैं। सिलोनी महावंश में थेर उत्तर और थेर सोण के सुवर्णभूमि में धर्मप्रचार का निर्देश है।[३१]

---

[२७] यवन असल में आयोनिआ के लिए प्रयुक्त था। जिस समय वसुदेवहिण्डि और गुणाढ्य की बृहत्कथा रची गई उस समय यवन से अलेक्झाण्ड्रिया उद्दिष्ट होगा।

[२८] **वसुदेवहिण्डि**, भाग १, पृ० १३२–१४६.

[२९] आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी की प्रस्तावना, **बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग ६.

[३०] **मिलिन्दपण्ह** (भाषान्तर), सेक्रेड बुक्स ऑफ ध इस्ट सिरीझ, वॉल्युम ३६, पृ. २६९—
—"As a ship-owner, who has become wealthy by constantly levying freight in some sea-port town, will be able to traverse the high-seas and go to..... Takkola or Cīna....or Suvarṇabhumi or any other place where ships may congregate........"

देखो, डा० सिल्वाँ लेवि, E'tudes Asiatiques, वॉ० २, पृ० १–५५, ४३१.

[३१] **महाकर्म–विभङ्ग**, डा० सिल्वाँ लेवि प्रकाशित, पृ० ५० से आगे देखो, **महावंश**, गाइगर प्रकाशित, पृ० ८६ **सुवर्णद्वीप** (डा० रमेशचन्द्र मजुमदार कृत) विभाग १, पृ० ९–४०.

ग्रीक-लाटिन ग्रन्थकार भी सुवर्णभूमि, सुवर्णद्वीप का उल्लेख करते हैं। क्रिसी (Chryse जिसका अर्थ सुवर्ण होता है) द्वीप का, पोम्पोनिअस मेल (ई० स० ४१–५४) अपने De Chorographia में उल्लेख करता है। प्लिनी, टॅालेमी वगैरह ग्रन्थकारों के बयानों में, और पेरिप्लस में भी, इसका उल्लेख है। टॅालेमी सिर्फ क्रिसी-द्वीप के बजाय Chryse Chora (सुवर्णभूमि) और Chryse Chersonesus (सुवर्ण-द्वीपकल्प) का निर्देश करता है।

अरबी ग्रन्थकारों के पिछले बयानों को यहाँ विस्तारभय से छोड़ देंगे। किन्तु इन सब साक्षियों की विस्तृत समीक्षा के बाद डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने जो लिखा है वही देख लें। आप लिखते हैं—

"The Periplus makes it certain that the territories beyond the Ganges were called Chryse. It does not give us any means to define the boundaries more precisely, beyond drawing our attention to the facts that the region consisted both of a part of mainland as well as an island, to the east of the Ganges, and that it was the last part of the inhabited world. To the north of this region it places "This" or China. In other words, Chryse, according to this authority, has the same connotation as the Trans-Gangetic India of Ptolemy, and would include Burma, Indo-China and Malaya Archipelago, or rather such portions of this vast region as were then known to the Indians. Ptolemy's Chryse Chersonesus undoubtedly indicates Malaya Peninsula, and its Chryse Chora must be a region to the north of it. Now we have definite evidence that a portion of Burma was known in later ages as Suvarṇabhūmi. According to Kalyāṇi Inscriptions (Suvarnabhūmi-raṭṭa-saṁkhāta Rāmaññadesa), Rāmaññadesa was called Suvarṇabhūmi which would then comprise the maritime region between Cape Negrais and the mouth of the Salvin............There can also be hardly any doubt, in view of the statement of Arab and Chinese writers, and the inscription found in Sumātrā itself, that the island was also known as Suvarṇabhūmi and Suvarṇadvīpa........There are thus definite evidences that Burma, Malaya Peninsula and Sumātrā had a common designation of Suvarṇabhūmi, and the name Suvarṇadvīpa was certainly applied to Sumātrā and other islands of the Malaya Archipelago."[32]

इस तरह डा० मजुमदार के अन्वेषण से बर्मा, मलय द्वीपकल्प, सुमात्रा और मलय द्वीपसमूह से अभी पिछाने जाते प्रदेशों के लिए सुवर्णभूमि शब्द प्रचलित था, और विशेष सुमात्रा और मलयसामुद्रधूनि (Malaya Archipelago) का द्वीपसमूह सुवर्णद्वीप कहा जाता था।

बृहत्कल्पसूत्र की भाष्य-गाथा में, और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में "सुवण्ण" शब्द है जिससे सुवर्ण-भूमि या सुवर्णद्वीप दोनों अर्थ घटमान होते हैं। किन्तु चूर्णिकार और टीकाकार (मलयगिरि) जैसे बहुश्रुत विद्वानों ने अपने को प्राप्त आधारग्रन्थ और प्राचीन-परम्परागत ज्ञान के अनुसरण में सुवर्णभूमि अर्थ दिया है। इस लिए कालकाचार्य दक्षिण-बर्मा, उसके पूर्व के और दक्षिण के प्रदेशों में विचरे थे ऐसा अर्थ घटाना ठीक होगा। वहाँ से आगे वे कहाँ तक गये, और "अज्ज कालग" ने शेष जीवन में क्या क्या किया,[33]

---

[32] डा० रमेशचन्द्र मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० ४८.

[33] आर्य कालक के शेष जीवन के बारे में अगर भाष्यकार और चूर्णिकार को कुछ और भी पता होगा

कहाँ कहाँ विहार किया इत्यादि बातें हमारे सामने उपस्थित न होने से यह ख़याल करना कि अनाम (चम्पा) में कालाचार्य (कालकाचार्य) के जाने की परम्परा निराधार है या वह कालक-पर की नहीं हो सकती यह शंका निरर्थक होगी। और जैसा आगे बताया है, आज्ज कालक के ब्राह्मणकुल में जन्म होने की जैन परम्परा, कालक को निमित्त और मन्त्रज्ञान होने की परम्परा, वटवृक्ष के नीचे रहने की पंचकल्पभाष्य की ग्वाही इत्यादि से कालक के अनाम जाने के अनुमान को पुष्टि मिलती है। उत्पलभट्ट की टीका की हस्तप्रतों में वङ्कालक से यदि वङ्का से कालक के सम्बन्ध का निर्देश हो तब तो इसको और भी पुष्टि मिलती है।

कालक के व्यक्तित्व को ठीक समझा जाय तब प्रतीत होगा कि उनके लिए यह सब करना शक्य था। वहाँ से वे टोन्किन (दक्षिण चीन) गये यह अनाम (चम्पा) की उस परम्परा का कहना है। जो कालक सिन्धु के उस पार शकस्थान-शककूल-पारसकूल को गये सो कालक पूर्व में बंगालसे बर्मा होकर इन सब प्रदेशों में भी गये यह समझने में कोई असङ्गतिदोष नहीं रहता।

मगध से आगे जैनधर्म के क्रमशः विस्तार के इतिहास को बिना देखे यह वस्तुस्थिति सम्भवित न लगेगी। महावीर गये थे राढ़ा में—पश्चिमी बंगाल में। वह प्रदेश अनार्यों से, असंस्कृत जनों से भरा पड़ा था। महावीर को वहाँ काफी उपसर्ग सहन करने पड़े। वे राढ़ा या लाढ़-वासी लोग, जिनको हम primitive peoples कहते हैं, वैसे थे। पूर्वीय प्रदेशों में बर्मा, आसाम, सयाम, हिन्दी-चीन, मलाया इत्यादि देशों में नाग इत्यादि जाति की प्रागैतिहासिक असंस्कृत प्रजाओं में भारतीय संस्कृति ने जा कर अपने संस्कार फैलाये। यह तो चम्पा, कम्बोज़ (कम्बोड़िया) इत्यादि के इतिहास से सुप्रतीत है। प्राचीन काल में दक्षिण में जैसे अगस्त्य वगैरह ने यह कार्य किया, पूर्वीय प्रदेशों की ओर महावीर की नज़र दौड़ी। सम्भव है कि वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक (शायद बर्मी सरहद तक) गये। राढ़ा और उसके प्रदेशों में महावीर-विहार का विस्तृत बयान ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

महावीर के अनुगामी स्थविरों ने यह कार्य चालू रक्खा। तब ही तो हम स्थविरावली में ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुण्ड्रवर्द्धन की शाखाओं के निर्देश पाते हैं। छेदसूत्रकार स्थविर आर्य भद्रबाहु (महावीर निर्वाण वर्ष १७०) नेपाल को गये थे यह भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। पञ्चकल्पभाष्य में गाथा है—"वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं सयलसुयनाणिं"—इत्यादि। यहाँ "पाईणं" का 'प्राचीन-गोत्रीय' ऐसा अर्थ पिछले ग्रन्थकारों ने बतलाया है और "प्राचीनो जनपदः" ऐसा कहते हैं[३४]। पाहरपुर (बंगाल) से उत्खनन में गुप्तकालीन ताम्रपत्र-दानपत्र मिला है जिस में पञ्चस्तूपान्वय (सम्भवतः मथुरा का) के जैनाचार्यों के वहाँ तक के विहार की साक्षी मिलती है।[३५]

कम से कम गुप्तराजाओं के शासनकाल तक पूर्वीय भारत में जैन धर्म का प्रचार चालू रहा। फिर दूसरे दूसरे किन्ही राजकीय प्रवाहों के प्रभाव से जैन सङ्घ का जमाव पश्चिम और दक्षिण भारत की ओर बढ़ता गया। पूर्व-भारत में वर्तमान सराक (श्रावक) जाति के लोग प्राचीन श्रावक (जैन) थे ऐसा कहा जाता है।

किन्तु अपने विवरणात्मक ग्रन्थ में उन बातों का प्रसंग उपस्थित न होने से (अनौचित्य समझ कर) वे कुछ आगे न लिख सके। दत्त वाली घटना के अन्त में कहावली-कार सिर्फ इतना ही लिखते हैं: "कालयसूरि वि विहिणा कालं काऊण गओ देवलोगं।" शायद कालक का शेष जीवन इन पूर्वीय प्रदेशों में गुजरा। इस विषय में निश्चयात्मक कुछ कहना शक्य नहीं।

[३४] इस विषय में देखिये, **बुलेटिन ऑफ ध प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझिअम**, वॉ० १ नं० १, पृ० ३०-४०.

[३५] **एपिग्राफिका इन्डिका**, वॉ० २०, पृ० ५९ से आगे; **हिस्टरी ऑफ बेन्गाल**, वॉ० १, पृ० ४१०.

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर-स्वामी के पश्चात् करीब पाँचसौ वर्ष में दूसरे सम्प्रदायों के साथ जैनों ने भी पूर्व में और उत्तरपूर्व में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के प्रयत्न किये होंगे, और बंगाल में ई० स० की पाँचवीं शताब्दी तक जैनों के वह प्रयत्न चालू थे। अतः इससे भी पूर्व में बर्मा, अनाम इत्यादि में तथा सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में ऐसा प्रयत्न होने का अगर प्राचीन जैन ग्रन्थों का प्रमाण मिले तब वह असङ्गत और अशक्य नहीं लग सकता। कम से कम बर्मा, आसाम और नैपाल में जैनाचार्यों के जाने का अनुमान तो हरेक को ग्राह्य होगा। दक्षिण बर्मा से पैदल रास्ते से जैनाचार्य, आगे भी, सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में, जा सकते थे और गये होंगे।

आर्य कालक के समय के बारे में आगे विचार होगा। उनका समय, जैसा कि आगे देखेंगे, ई० स० पूर्व १९२ से १५१ या ई० स० पूर्व १३२ से ९१ की आसपास का है: उस समय में भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में जाते थे यह हम देख चूके हैं। डॉ० मजुमदार लिखते हैं—

> "The view that the beginnings of Indian Colonisation in South-East Asia should be placed not later than the first century A. D. is also supported by the fact that trade relations between India and China, by way of sea, may be traced back to the second century B.C.[36] As the Chineses vessels did not proceed beyond Northern Annam till after the first century A.D., it may be presumed that the Indian vessels plied at least as far as Annam even in the second century B.C. As the vessels in those days kept close to the coast, we may conclude that even in the second century B.C. Indian mariners and merchants must have been quite familiar with those regions in Indo-China, and Malaya Archipelago, where we find Indian colonies at a later date."[36A]

मगर जैनाचार्यों की जहाजी सफर का, समुद्रयान का, अनुमान करना मुश्किल है। किन्तु वे खुश्की रास्ते से जा सकते थे। इस में भी बड़ी बड़ी नदियाँ तो आती ही हैं। बड़ी बड़ी नदियों के पार करने में जैन श्रमण नाव में बैठ सकते हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ४ सूत्र ३२ से आगे, और इन सूत्रों की भाष्यगाथाओं (गाथा ५६२०) में मिलती है। गङ्गा या शोण (और सिन्धु, नर्मदा) जैसी भारतीय बड़ी नदियाँ पार करनेवाले जैनाचार्यों ने ब्रह्मपुत्रा, ईरावदी जैसी नदियाँ भी नाँव में पार की होगी। इस में कोई प्रतिबंध नहीं है। किनारा सामने नजर में आ सके ऐसे जलमार्ग में नाव का उपयोग हो सकता है। बड़ी बड़ी ऐसी नदियों के रास्ते में भी ऐसी कई जगह (या पहाड़ी दून प्रदेश) होती हैं जहाँ जल खूब गहरा होता है लेकिन सामनेवाला किनारा नजरों से दूर नहीं होता। और इन्हीं नदियो में ऐसे भी जलमार्ग होते हैं जहाँ पाँव ऊपर ऊठा कर चल कर भी उनको पार कर सकते हैं जैसी कि बृहत्कल्पसूत्रकार "एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा" इत्यादि शब्दों में अनुज्ञा देते हैं। इस तरह अगर खुश्की रास्ते से, बीच में आनेवाली नदियाँ को नाव में बैठकर या चलकर पार करके, दक्षिण बर्मा, चम्पा, मलाया इत्यादि प्रदेशों में जाना शक्य होता था तब अज्ज कालग, सागर श्रमण और दूसरे जैन श्रमणों का सुवर्णभूमि-गमन धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध नहीं था।

---

३६. **तोउंग पओ** (T'oung Pao), १३ (१९१२), पृ० ४५७–९१; इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्लि, १४, पृ० ३८०.

३६ अ. डा० आर० सी० मजुमदार, **ऐन्शिअन्ट इन्डिया कॉलनायझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिया** (१९५५), पृ० १३.

बृहत्कल्पसूत्र के कर्ता है प्राचीन गोत्रीय या प्राचीन जनपद के स्थविर आर्य भद्रबाहु। अपने बनाये हुए इस छेदसूत्र के चतुर्थ उद्देश में साधुओं के जलयान की चर्चा करते हुए आप लिखतें हैं—"नो कप्पइ निग्गंथाए वा निग्गंथीए वा इमाओ पंचमहण्णवाओ महानदीओ उद्दिठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासा दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा—गंगा, जउणा, सरउ, कोसिया मही।" इस सूत्र के ऊपर निर्युक्ति भी देखनी चाहिये—

पंचण्हं गहणेणं सेसा वि उ सूइया महासलिला।
तत्थ पुरा विहरिंसु य, ण य तातो कयाइ सुक्खंति ॥ ५६२० ॥[३७]

फिर आगे इसी विषय की विस्तृत चर्चा आती है। नावसन्तरण के भिन्न भिन्न दोष दिखलाते हुए बृहत्कल्पसूत्र के (निर्युक्तिकार या) भाष्यकार कहतें हैं—

वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्य कासि उवसग्गं।
मिच्छद्दिट्ठि परद्धो, कंबल-संबलेहिं तारिओ भगवं ॥ ५६२८ ॥[३८]

भगवान् महावीर भी नाव में चढ़े थे इस की प्रतीति आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ४६६–७१[३९] से भी होती है।

उपर्युक्त भाष्यगाथाओं में प्रत्यनीकादि दोषों की चर्चा और इनसे बचने के लिए जहाँ तक हो सके, स्थल-रास्ता (खुश्की-रास्ता) ग्रहण करने के उपदेश के साथ ही नाव से या चलते ही नदी पार करने की चर्चा है। जहाँ जल की गहराई बिलकुल कम हो और जानू से भी नीचे जल हो, मतलब कि जहाँ पाँव को जल से ऊपर ऊठा कर फिर आगे रख कर नदी में चल सकें वहाँ कीचड़ से बच सकते हैं और गिरने की या जीवहिंसा की सम्भावना अतीव कम हो जाती है। किन्तु इस सारी चर्चा में नावारोहण—नाव से नदी पार करने का—सम्पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं रक्खा गया।

कालकाचार्य और सागर-श्रमण समुद्रमार्ग से—जहाजी रास्ते से—नहीं किन्तु खुश्की रास्ते से गये होंगे ऐसा हमारा खयाल है। और बृहत्कल्पभाष्य की चूर्णि और टीका के वृत्तान्तों का ध्वनि यही है। रास्ते में कालक के शिष्यों को लोग़ पूछते हैं, "ये कौन से आचार्य जा रहे हैं?" इसका मतलब यही है कि वे खुश्की रास्ते से गये। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में खुश्की रास्ता ज्यादा इस्तेमाल होता था। जहाजी व्यापार क्रमशः बढ़ा होगा। खुश्की रास्ते थे जो चीन (दक्षिण चीन) तक ले जाते थे। खुश्की रास्ते के विषय में डा० मजुमदार लिखते हैं—

"From early times there was a regular trade-route by land between Eastern India and China through Upper Burma and Yunnan. We know from Chinese Chronicles that in the second century B.C. merchants with their ware travelled from China across the whole of North India and Afghanistan to Bactria. Through this route came early Chinese priests for whom, according to I-tsing, an Indian king built a temple in the third or fourth century A.D. From different points along this route one could pass to Lower Burma and other parts of Indo China, and a Chinese writer

---

३७. बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ४, सू० ३२, विभाग ५, पृ० १४८७, गाथा ५६२०.

३८. वही, पृ० १४८६, गाथा, ५६२८.

३९. आवश्यक-सूत्र, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १९०–१.

Kia Tan, refers to a land route between Annam and India (Journal Asiatique, II-XIII, 1919, p. 461).[40]

श्रावकों के लिए तो सागर-गमन और नावारोहण निषिद्ध मालूम नहीं होता है।[41] वसुदेवहिण्डि-अन्तर्गत चारुदत्त-कथानक का भी यही ध्वनि है, व्यापार के लिए जैन श्रावक द्वीपान्तरों में जहाजों से जाते थे। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में भी रत्नद्वीप पहुँचे हुए वणिकों का प्रसंग है। अगर किसी प्रदेश में जैन गृहस्थों की वसति न हो तो वहाँ जैन साधु साध्वियों का विहार अतीव कठिन होता है क्यों कि आहार के बारे में नियमों का पालन करना मुश्किल हो जाता है। सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में थे ऐसे निर्देश का मतलब यह भी है कि वहाँ जैन गृहस्थ (साहसिक सोदागर) ठीक ठीक संख्या में मौजूद थे। इस तरह इस समय में (ई० स० पूर्व १५१–६०) भारतीय व्यापारियों का सुवर्णभूमि में जाना शुरू हो चूका था। व्यापार के लिए हरेक सम्प्रदाय के वणिक् जाते थे—जैन, बौद्ध या हिन्दू कोई भी हो। जैनाचार्य के वहाँ सपरिवार विहार के इस विश्वसनीय बयान का निष्कर्ष यह है कि ईसा के पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दियों में भारतीय सोदागर और भारतीय संस्कृति के सुवर्णभूमिगमन का हमें एक और प्रमाण मिलता है।

धर्म के प्रचार के लिए सिद्धि—विद्यासिद्धि या मन्त्रसिद्धि—इत्यादि के प्रयोग करने का जैनाचार्यों के लिए निषिद्ध नहीं था। ऐसी प्रभावना के कई दृष्टान्त मिलते हैं और ऐसे आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। आर्य वज्र, आर्य खपुट, आर्य पादलिप्त जैसे प्राचीन आचार्यों के ऐसे कार्य सङ्घ को मान्य रहे थे। साध्वी को बचाने के लिए आर्य कालक ने जो किया वह भी धर्मविरुद्ध नहीं गिना गया। शककूल में और भारत में भी कालकाचार्य ने अपने विद्या, मंत्र और निमित्त-ज्ञान का परिचय दिया। ऐसे बड़े बड़े आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। ऐसे बहुश्रुत आचार्यों के आचरण में[42] शङ्का की बात तो दूर रही, वे आगे दूसरे आचार्यों और मुनिओं के मार्गदर्शक भी गिने जाते हैं। आर्य वज्र, आर्य पादलिप्त, आर्य कालक आदि स्थविर प्रभावक आचार्य माने गये और **प्रभावक-चरित्र** में इनके चरित्र भी दिये गये। प्रभावशाली, बहुश्रुत, वृद्ध जैन आचार्य धर्माचरणविषयक मामले में प्रमाणभूत गिने जाते हैं और जहाँ शास्त्रों का पूरा खुलासा अनुपलब्ध हो या शास्त्रवचन समझ में न आवे वहाँ ऐसे पट्टधरों, युगप्रधानों, स्थविरों के मार्गदर्शन और कार्य प्रमाणभूत होते हैं।

श्रुतधर अनुयोगकार स्थविर आर्य कालक साध्वी को बचाने के लिए पारसकूल-शककूल गये और वहाँ से शकों को ले आये और गर्दभ का उच्छेद करवाया। आज तक आर्य कालक का यह कथानक जैन समाज में (विशेषतः श्वेताम्बर जैन सङ्घ में) अतीव प्रचलित है। कालक-कथा की कई सचित्र प्राचीन हस्तप्रतें मिलती हैं। सचित्र प्रतियों में कल्पसूत्र के साथ कालककथा की प्रतियाँ मिलती रहती हैं, यह पर्यूषणापर्वतिथि के साथ कालक का सम्बन्ध होने के कारण होगा। किन्तु शकों को लाने वाले कालक को इतना सन्मान मिलता है यही सूचक है।

---

[40] डॉ० आर० सी० मजुमदार, **एन्शिअन्ट इन्डिअन कॉलनाइझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिआ** (बडोदा १९५५), पृ० ४.

[41] श्री वीरचन्द गांधी जब अमरिका सर्वधर्मपरिषद में जा कर आये तब जैन सङ्घ ने उनको प्रायश्चित्त करने का कहा। उस समय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विजयानन्दसूरिजी (श्री आत्मारामजी महाराज) ने यही अभिप्राय दिया कि उनका समुद्रपार जाना निषिद्ध नहीं था। श्री आत्मारामजी महाराज का यह पत्र गुजराती साप्ताहिक 'जैन' (भावनगर) के ता० २८–११–१९५३ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

[42] जैसे कि आर्य वज्र चैत्यपूजा के लिए पुष्प ले आये थे।

आर्य कालक के जीवनकाल में उनके शकों को लाने के कार्य के विरुद्ध (और दूसरे कार्यों के विरुद्ध) कुछ आन्दोलन हुआ होगा। मन्त्र-विद्या और निमित्त के प्रयोग आम तौर पर जैन साधुओं के लिए उचित नहीं माने गये हैं। विद्यापिण्ड को तो निषिद्ध ही माना गया है। और फिर परदेश से शकों को इस देश में लाने का कार्य बहुत से लोगों को (जैनधर्मावलम्बी को भी) पसन्द न भी हो।

गर्दभराजोच्छेदक कालकाचार्य के जीवन में साहस (adventure) का—पराक्रम का—तत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। वे कोई असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने जब देखा कि सूत्र नष्ट होते जा रहे हैं तब उन्होंने अनुयोग-ग्रन्थों की रचना की। बृहत्कल्पचूर्णि और टीका के अनुसार उनके अनुयोग को उनका शिष्यसमुदाय सुनता नहीं था। क्यों? अनुयोग के यहाँ दो अर्थ हैं—उपदेश-प्रवचन और आर्य कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थ जिनका व्याख्यान आप करते होंगे। हम सुनते हैं कि आर्य कालक के शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर नहीं रहते थे। क्यों? क्या इन सब निर्देशों से यही सूचित नहीं होता कि कालक के क्रान्तिकारी असाधारण खयाल और कार्य, पुराने रास्ते को छोड़ कर नये रास्ते पर चलने के साहस इत्यादि से सङ्कुचित मनोवृत्ति वाले और प्रगतिविरोधी तत्त्व नाराज़ थे? हरेक मज़हब की तवारिख में हम देखते हैं कि बड़े बड़े महात्माओं को ऐसे विरोध अपने जीवन में सहन करने पड़े यद्यपि आगे चलकर वे युगप्रधान माने गये। क्राइस्ट, महात्मा गांधी, तुकाराम, मीरां, कबीर आदि अनेक दृष्टान्त हमारे सामने मौजूद हैं। कालकाचार्य को भी ऐसी विपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा।

जैन तवारिख में भी हम देखते हैं कि आर्य सुहस्ति के आचरण से आर्य महागिरि नाराज हुए थे। आर्य वज्र जब पूजा के लिए पुष्प ले आये तब उनका यह कार्य आम तौर से साधुओं के लिए उचित न था। उनका भी विरोध हुआ होगा। शकों को लानेवाले, आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले, निमित्तकथन और विद्याप्रयोग करनेवाले, पर्यूषणापर्व की पञ्चमी तिथि को बदल कर चतुर्थी को यह पर्व मनानेवाले, नये अनुयोग-ग्रन्थ रचनेवाले आर्य कालक के सामने ज़रूर विरोधी तत्त्व खड़े हुए होंगे।[४३] मगर आर्य कालक डरनेवाले थे ही नहीं। उनकी प्रकृति कोई असाधारण किसम की थी। जब उन्होंने देखा कि अपने ही शिष्य अपना ही अनुयोग सुनते नहीं थे तब उनको निर्वेद अवश्य हुआ मगर वे बैठे रहनेवाले या दबनेवाले नहीं थे। उन्होंने नये कार्यप्रदेश की ओर दृष्टि डाली। वे सुवर्णभूमि जा पहुँचे जहाँ भारतीय व्यापारी गये हुए थे ही, जहाँ उनका प्रशिष्य भी भेजा हुआ था ही और जहाँ भारत के अन्य धर्मावलम्बी सोदागर और साधु भी पहुँच चूके होंगे।

शङ्का यह उपस्थित होगी कि अगर कालक के सुवर्णभूमिगमनवाली परम्परा सच्ची है तो फिर हमें सुवर्णभूमि में क्यों जैनधर्म के अवशेष मिलते नहीं? लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि भविष्य में मिलना असम्भव है। हम यह तो जानते ही हैं कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर भारतीय संस्कृति के अवशेष इन प्रदेशों में मिले हैं और भारतीय संस्कृति का ठीक ठीक प्रचार इस समय में इन प्रदेशों में हो चूका था। इस समय में वहाँ जानेवाले व्यापारियों में जैन भी अवश्य होंगे यह तो सर्व-

---

[४३] हमारे खयाल से कालक के शकों को लानेवाली घटना से ही ज्यादा विरोध हुआ होगा, परदेशी शासन को पसन्द करे ऐसी प्रजा गिरी हुई न थी। और न कोई भी प्रजा परदेशी-शासकों को लानेवाले को सन्मान देती है। साध्वी को बचाने के लिये जो करना पड़ा वह प्रभावना का कार्य था पर इस कार्य में राजकीय स्वार्थ न था इस लिए विरोध सार्वत्रिक न होगा। विरोध होने पर भी श्रुतधर स्थविर आर्य कालक को समझनेवाले, उनका सन्मान करनेवाले भी होंगे ही। कालक देशद्रोही नहीं गिने जा सकते।

सम्मत होगा। सातवीं सदी में हरिभद्रसूरि ने अपनी समराइच्चकहा में भी व्यापारियों के परदेशगमन के दिये हुए बयान भी यह सूचित करते हैं कि जैन सोदागर भी जाते थे। और इनके भी कोई अवशेष, जैन-प्रतिमा इत्यादि मिलना असम्भव नहीं। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि आर्यकालक और सागरश्रमण जैसे साहसिक स्थविरों की परम्परा भी न रही जो सुवर्णभूमि को जायँ। और जब मगध और बंगाल में जैन सङ्घ को आपत्तियाँ आईं तब जैनसाधु ज्यादा करके मध्य, पश्चिम और दक्षिण भारत को अपने केन्द्र बनाते रहे। सुवर्णभूमि का खुश्की रास्ता था पर मगध और बंगाल की प्रतिकूल परिस्थिति के कारण बर्मा जानेवाले जैन साधुओं की परम्परा टूट गई।

२

कालकाचार्य का समय

अब हमें यह सोचना चाहिये कि कालकाचार्य कब सुवर्णभूमि में गये। कालकाचार्य के बारे में विद्वानों ने खूब चर्चा की है। जैन सम्प्रदाय में अनेक कालकाचार्य-कथानक मिलते हैं। डा० डब्ल्यु० नॉर्मन ब्राउन ने अपने "स्टोरि ऑफ कालक" नामक ग्रन्थ में ऐसे कई कथानकों, और कहावलीअन्तर्गत कालक-कथानक और चूर्णिग्रन्थों में से भी कितनेक उल्लेख उद्धृत किये हैं। डा० ब्राउन ने इस विषय में पूर्वमें हुई चर्चा की सूची भी दी है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने प्रभावक-चरित्र के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना में कालकाचार्य के विषय में चर्चा की है। और फिर द्विवेदीअभिनन्दन ग्रन्थ में कितने कालकाचार्य हुए और कब इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी ने विस्तार से लिखा है। श्री साराभाई नवाब प्रकाशित कालकाचार्यकथा में इन सब कथानकों-चूर्णियों के (पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि को छोड़ कर) पाठ दिये हैं किन्तु चूर्णियों के कुछ संदर्भ संक्षिप्त हैं। खास कर के यवराज, गर्दभ और अडोलिया वाला, जिसका कालक से ज्यादा सम्बन्ध न मान कर संक्षेप किया है। इस प्रकाशन को सम्पादित करने वाले पं० अम्बालाल शाहने मुनिश्री कल्याणविजय जी के प्रतिपादनों का सारांश दिया है। आशा है कि इन प्रकाशनों को सामने रख कर विद्वद्गण आगे की चर्चा को पढेंगे।

कालकाचार्य के विषय में उपलब्ध सब निर्देशों (संदर्भों) को दो विभाग में बाँटना आवश्यक होगा। एक तो है निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और कहावली का विभाग जो दूसरे विभाग से प्राचीन है और प्राचीनतर परम्पराओं का बना हुआ है। इसको ज्यादा विश्वसनीय मानना चाहिये। दूसरा है नबाब के प्रकाशन में दिया हुआ कालकाचार्य कथा प्राकृत विभाग, जिसमें नं. ३ वाले कहावली से लिये हुए संदर्भ को पहले विभाग में शामिल करना होगा और इस से अतिरिक्त सब कथानकों को दूसरे विभाग में।

कहावली को दूसरे विभाग से प्राचीन गिननी चाहिये। भाषा की दृष्टि से वह चूर्णियों से ज्यादा मिलती है। और इसमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बारे में ग्रन्थकार ने "संपयं देवलोयं गओ" ऐसा निर्देश किया है। अतः कहावलीकार और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बीच में पाँच शताब्दि का अन्तर मान लेना उचित नहीं।[४४]

पहले विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली हैं कल्पसूत्र-स्थविरावली, और नन्दीसूत्र की पट्टावली। दूसरी पट्टावलियों से ये दोनों ज्यादा प्राचीन हैं। दुःषमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र और हेमचन्द्राचार्य की स्थविरावली

---

[४४] विशेष चर्चा के लिए देखिये, **जैन सत्यप्रकाश** (अहमदाबाद), वर्ष १७ अंक ४ (जान्युआरी, १९५२), पृ० ८९-९१।

भी इस विभाग से ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि इत्यादि दूसरे विभाग में हैं क्यों कि उन ग्रन्थकारों के लिए परम्परा ज्यादा विच्छिन्न रूप में थीं।

हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्राचीन आचार्यों के साथ उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का अधिक व्यवधान होता जाता है त्यों त्यों प्राचीन परम्परा की बातों का अधिक लोप होता जाता है। और पट्टावली जितनी अर्वाचीन उतनी ही अधिक अविश्वसनीय होती है। रत्नसञ्चयप्रकरण (विक्रम की १५-१६ शताब्दी) में चार कालकाचार्यों का समय निर्दिष्ट है। जब उनसे प्राचीन ग्रन्थकार तीन कालकाचार्यों का समय देते हैं। मेरुतुंग के सामने भी विच्छिन्न परम्परा थी और बहुत विरोधाभासवाली बातें भी इनकी लिखी हुई विचारश्रेणि में देखने मिलती है। मुनि कल्याणविजयजी ने अपने "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना" के पृ. ५५-५७, पादनोंध ४७ में यह स्पष्ट रूप से बताया है।

ऐसी परिस्थिति में हमें प्रथम विभाग के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के आधार से ही छानबिन करके अनुमान करना ठीक होगा।

आर्य कालक के जीवन की घटनायें मुख्यतः सात हैं। दूसरे दूसरे संदर्भों में और कथानकों में ये सात घटनायें मिलती हैं, जैसा कि मुनि कल्याणविजय ने भी बताया है। वे घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु-विषयक भविष्य-कथन (निमित्त कथन)।

(२) इन्द्र के सामने निगोद-व्याख्यान शक्र-संस्तुत निगोद-व्याख्याता आर्य कालक।

(३) आजीविकों से निमित्त पटन और तदनन्तर सातवाहन राजा के तीन प्रश्नों का निमित्त-ज्ञान से उत्तर देना।

(४) अनुयोगग्रन्थ-निर्माण।

(५) गर्दभ-राजा का उच्छेदन।

(६) प्रतिष्ठानपुर जा कर वहाँ सातवाहन की विज्ञप्ति से पर्यूषणा पर्वतिथि जो पञ्चमी थी उसके बजाय चतुर्थी करना।

(७) अविनीतशिष्य-परिहार और सुवर्णभूमि-गमन।

(१) तुरुविणी (या तुरुमिणी) नगरी के राजा जितशत्रु को प्रपञ्च से हठाकर कालक के भागिनेय दत्त ने राज्य लिया और बहुत यज्ञ किये। गर्व से दत्त ने कालकाचार्य को इन यज्ञों का फल पूछा। जब कालक ने कहा कि सात दिन में दत्त बूरी तरह मरेगा तब कालकाचार्य को कैद किया गया मगर ठीक वैसे ही बूरे हाल दत्त मारा गया जैसा कि कालक का कथन था। सत्य-कथन, सम्यक्-कथन के दृष्टान्त में यह कथा दी गई है।

(२) इस घटना में चमत्कार का तत्त्व ज्यादा होने से इसका ऐतिहासिक अंश पकड़ना मुश्किल है। कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ने पूर्वविदेहक्षेत्र में विहरमान तीर्थङ्कर सीमन्धरस्वामी से निगोद-जीवों के विषय में सूक्ष्म निरूपण सुना। फिर इन्द्र ने पूछा तब उत्तर मिला कि उस समय भारत में ऐसा सूक्ष्म निरूपण करनेवाले सिर्फ कालकाचार्य थे। कुतूहल से इन्द्र ब्राह्मण के रूप में आर्य कालक के पास गया और पृच्छा करके निगोद-व्याख्यान इनसे सुना। बाद में इन्द्र ने अपना शेष आयुष्य कितना रहा है ऐसी जब पृच्छा की तब आचार्य ने अपने ज्ञान से देखा कि दो सागरोपम आयुष्य अभी उस ब्राह्मण के लिए शेष था जो इन्द्र का ही हो सकता है। अतः आचार्य ने कहा—"आप तो इन्द्र हैं।" प्रसन्न हो कर इन्द्र चला गया। कथा के चमत्कारिक तत्त्व को छोड़ दें तो इस में से दो बातें फलित होती हैं वह याद रखना चाहिये—एक है कालकाचार्य का निगोद-जीवों के बारे में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और दूसरा है उनका ज्योतिषज्ञान-निमित्तज्ञान।

(३ और ४) प्रसङ्गों का वृत्तान्त हम पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि के आधार से देख चूके हैं। इन दोनों घटनाओं में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का स्पष्ट निर्देश है और इनके अनुयोग-निर्माण का उल्लेख भी है। इनके लोकानुयोग में भी निमित्तशास्त्र था।

घटना (२) में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का महत्त्व सूचित है ही। अतः (३) और (४) घटनाओं को भी (२) के साथ ही जोड़ना होगा। यज्ञफलकथनवाली घटना (१) में भी निमित्तज्ञान का महत्त्व बताया गया है। अतः घटना (१) से (४) एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये।

निगोदव्याख्याता आर्य कालक के विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं:—"इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अन्त में युगप्रधानपद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहें, जैसा कि स्थविरावली की गाथा में कहा है।[४६] परन्तु विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है जो इनका वी॰नि॰ ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठकों के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥

मालूम होता है कि इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।" आगे मुनिजी लिखते हैं—"रत्नसञ्चय में ४ संगृहीत गाथाएं हैं, जिन में वीर निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ९९३ में कालकाचार्यनामक आचार्यों के होने का निर्देश है। इन में पहले और दूसरे समय में होनेवाले कालकाचार्य क्रमशः निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य हैं।[४७] इसमें तो कोई सन्देह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य के अस्तित्व के बारे में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य को शक्र-संस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं **क्योंकि शक्रसंस्तुत और निगोद-व्याख्याता एक ही थे जो पन्नवणाकर्ता और श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और उनका समय वीरात् ३३५ से ३७६ तक निश्चित है।** इससे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य के विषय में सम्पूर्ण सन्देह है।"[४८]

मुनिजी उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा (नं. १२०) को उद्धृत करते हैं—

"उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवन्नभूमीए।
इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च॥"
उत्तराध्ययन-सूत्र, विभाग १, (दे. ला. पु॰ नं. ३३, बम्बई १९१६), पृ॰ १२५–१२७.

इस निर्युक्ति-गाथा से स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के मत से सुवर्णभूमि जानेवाले, सागर के दादागुरु आर्यकालक और निगोद-व्याख्याता शक्र-संस्तुत आर्यकालक एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु मुनिजी को यह मंजूर नहीं है, वे इस निर्युक्तिगाथा पर लिखते हैं—"इस गाथा में सागर के

---

[४५] मुनि कल्याणविजय, "**वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना** (जालोर, वि॰ सं॰ १९८१), पृ॰ ६४, पादनोंध ४६.

[४६] गाथा के लिए देखो, **वही,** पृ॰ ६१. यहाँ आर्यसुहस्ति के बाद **गुणसुंदर** वर्ष ४४ और उनके बाद निगोदव्याख्याता **कालकाचार्य** वर्ष ४१; उनके बाद **खंदिल** (संडिल या सांडिल्य) ३८ वर्ष तक युगप्रधान रहे ऐसा कहा गया है। संडिल के बाद रेवतीमित्र युगप्रधान रहे।

[४७] रत्नसचयप्रकरण की गाथायें आगे दी गई हैं।

[४८] **वीर निर्वाणसंवत् और जैन कालगणना** पृ॰ ६४–६५।

दादागुरु कालकाचार्य के साथ इन्द्र का प्रश्न आदि होना लिखा है, गर्द्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्यूषणाकारक और अविनीत-शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य थे, जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावली की गाथा में प्रथम कालकाचार्य को निगोदव्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।" ४९

वास्तव में मुनिजी के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति के इस विधान को छोड़कर अन्य कल्पना करने का उचित नहीं है क्यों कि निर्युक्ति का प्रमाण मेरुतुङ्ग की और दूसरी मध्यकाली पट्टावलियों से प्राचीन और ज्यादा विश्वसनीय है। फिर भी यहाँ एक बात को देखना जुरूरी होगा कि **मुनिजी के खयाल से भी गर्द्दभिल्लोच्छेदक, अविनीतशिष्य-परिहारक (सुवर्णभूमि को जानेवाले) और चतुर्थी पर्यूषणा-कारक कालकाचार्य एक ही व्यक्ति थे।**

(५) अब नं ५ आदि घटनायें देखें। शककुलों को भारत में ला कर गर्दभराजा का उच्छेद करने की कथा इतिहासविदों को सुप्रतीत है। वहाँ भी निमित्त और विद्याज्ञान का उपयोग होता है। हम देख चूके हैं कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में इस घटना का और नं. ७ की घटना का उल्लेख है मगर दोनों में से एक भी ग्रन्थकार इन दोनों घटनावाले कालक के भिन्न भिन्न होने का कोई सूचन नहीं देते। और जब उत्तराध्ययन-निर्युक्ति नं. ७ और नं. २ वाले कालकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानती है तब नं. ५, नं. ७ और नं. २ वाले कालक एक ही हैं।

(६) नं. ६ वाली घटना में कहा गया है कि बलमित्र–भानुमित्र नामक अपने भागिनेय राजाओं से नाराज हो कर आर्य कालक प्रतिष्ठानपुर जाने को निकले। बलमित्र के पुरोहित ने जैन मुनियों को अकल्प्य आहार दिलवाना शुरू किया जिससे साधुओं को भूखे रहना पड़ा। अतः कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर जाने के लिए विहार किया। वहाँ के राजा सालाहण (सातवाहन—जो जैन धर्म की ओर, विशेषतः आर्यकालक की ओर, अभिरुचि रखता होगा) को आचार्य ने कहा कि भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को पर्यूषणा पर्व करो। राजा ने कहा कि उस नगर में वह तिथि आम प्रजा में इन्द्र महोत्सव का पर्व मनाई जाती है इस लिए आचार्य की आज्ञानुसार पर्यूषणापर्व उस दिन मनाना मुश्किल होगा। राजा ने दूसरे दिन पर्व मनाने की अनुज्ञा माँगी। आर्य कालक ने कहा कि तिथि का अतिक्रम नहीं हो सकता अतः पूर्व दिन को—चतुर्थी को—पर्यूषणा पर्व मनाओ और उस दिन विधिपूर्वक श्रमणों को आहार भी दो। इस तरह प्रसङ्गवश कालकाचार्य ने चतुर्थी मनाई। और उस दिन से वह तिथि श्रमणपूजा–पर्व रूप से महाराष्ट्र में प्रचलित हुई।

जैसे पहले कहा गया है, सिर्फ प्रभावक आचार्य ही ऐसे निर्णय दे सकते हैं, जो युगप्रधान आचार्य हों, बड़े श्रुतधर हों। और यहाँ भी तिथिनिर्णय का प्रसङ्ग होने से यह ज्योतिषशास्त्र—मुहूर्त्त और निमित्त—को जाननेवाले आर्यकालक के जीवन की घटना ही हो सकती है। फिर यह सुप्रतीत है कि नं. ५ की गर्दभराजोच्छेद-वाली घटना में बलमित्र–भानुमित्र का निर्देश होने से नं. ५ और नं. ६ के आर्य कालक एक ही व्यक्ति हैं और इस तरह जैसे कि हम पीछे देख चूके हैं नं. ५, नं. ६, नं. ७ और नं. २ वाली घटनाओं के कालक, एक ही हैं। नं. ३ और ४ वाली घटनाओं के आर्य कालक अनुयोगकार हैं उनका और सुवर्ण भूमि जानेवाले (नं. ७) कालक का एक होना तो पहिले ही देख चूके हैं। नं. १ वाली घटना विस्तार से आगे देखेंगे। अनुयोगकार कालक निमित्तज्ञानी हैं और नं. १ में यज्ञफल बतलाने वाले कालक भी समर्थ निमित्तज्ञानी हैं। अतः वास्तव में घटना नं. १ से ७ के नायक एक ही आर्य कालक होंगे। यही युक्ति-सङ्गत लगता है।

---

४९. वही, पृ० ६४–६५ पादनोंध।

इसी ढंग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से वे दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति से वास्तव में एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या की उपस्थिति बाद के ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं में होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना में यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के संदर्भों (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाते ही नहीं। उन सब संदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा में, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंनें विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१. **दशाचूर्णि**—इसमें घटना नं. ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२. **बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना नं० ७ और घटना नं० ५—गर्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराजा, गर्दभ-युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त में कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट में दिया है, गर्दभिल्लों के विषय में आगे के संशोधन में पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३. **पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना नं० ३—निमित्तपठन, और घटना नं० ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण.

४. **उत्तराध्यन निर्युक्ति और चूर्णि**—घटना नं० ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन; और घटना नं० २—निगोद व्याख्यान.

५. **निशीथचूर्णि**—घटना नं० ५—गर्दभिल्लोच्छेद और घटना नं० ६—चतुर्थीकरण.

६. **व्यवहार-चूर्णि**—आर्य कालक उज्जैन में शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अतः वह घटना नं० ५ से सम्बन्ध रखती है।

७. **आवश्यकचूर्णि**—घटना नं० १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन.

---

५०. देखिये, मुनि कल्याणविजय, **आर्य कालक**, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९०) पृ० ११५.

८. **कहावली**—घटना नं० ५—गर्दभोच्छेद; घटना नं० ६—चतुर्थीकरण; घटना नं० ७—अविनीत शिष्यपरिहार, सुवर्णभूमिगमन; घटना नं० १—कालक और दत्तराजा.

अब जब पञ्चकल्पभाष्य के अनुसार नं० ३ और ४ वाले कालक एक हैं, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार नं० ७ और नं० २ वाले एक हैं, और जब नं० ७ वाली घटना का नं० ३ और नं० ४ के अनुयोग-ग्रन्थों से सम्बन्ध है तब नं० ३, ४, ७, और २—ये सब घटनाएँ एककालकपरक होती हैं। निशीथचूर्णि अनुसार नं० ५ और नं० ६ वाले आर्य कालक एक हैं। और बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार नं० ५ और नं० ७ वाले एक हैं, अतः नं० ५, ६ और नं० ७ वाले कालक तो एक हैं ही। उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के मत से नं० ७ और नं० २ वाले एक हैं। अतः नं० ५, ६, ७, २ वाले एक ही कालक हैं। फिर नं० ३ और ४ वाले नं० ७ वाले कालक हैं वह तो स्पष्ट है।[५१] मुनिश्री कल्याणविजयजी को यह मंजूर है। और कहावली के अनुसार, नं० ५, नं० ६, नं० ७ और नं० १ वाले कालक एक हैं। अतः इस विभाग के ग्रन्थों के समीक्षण से इन ग्रन्थकारों के खयाल में घटना नं० १ से घटना नं० ७ वाली सब घटना वाले कालकाचार्य एक ही होंगे।

वह कालक कब हुए? मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से दो कालकाचार्य हुए—पहले निर्वाण संवत् ३०० से ३७६ तक में, इन का जन्म नि० सं० २८० में, दीक्षा नि० सं० ३०० में, युगप्रधानपद नि० सं० ३३५ में और स्वर्गवास नि० सं० ३७६ में। उनके जीवन की दो घटनाएँ: घटना नं० १—यज्ञफलकथन, और घटना नं० २—निगोदव्याख्यान।[५२]

मुनिजी के मत से, दूसरे कालक के जीवन में घटना ३ से ७ हुई। और वे घटनायें इस क्रमसे हुई:—घटना ३ (निमित्त-पठन), वीर निर्वाण संवत् ४५३ से पहले; घटना ४ (अनुयोग-निर्माण), नि० सं० ४५३ से पहले; घटना ५ (गर्दभिल्लोच्छेद), नि० सं० ४५३ में; घटना ६ (चतुर्थी पर्यूषणा), नि० सं० ४५१ से ४६५ के बीच में; घटना १ (अविनीत-शिष्य-परिहार), नि० सं० ४५१ के बाद और ४६५ के पहले[५३]।

आप लिखते हैं—"जहाँ तक हम जान सके हैं, उपर्युक्त सात घटनाओं के साथ दो ही व्यक्तियों का सम्बन्ध है—प्रज्ञापनाकर्ता श्यामार्य और सरस्वती-भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा सम्बन्धक घटना, जो कालक-कथाओं में चौथी घटना कही गई है, हमारी समझ में आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परन्तु इस विषय में निश्चित मत देना दुस्साहस होगा क्यों कि 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' में एक गाथा हमें उपलब्ध होती है, जिसका आशय यह है—"उज्जयिनी में कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि में सागर श्रमण। (कालक सुवर्णभूमि गये, और इन्द्र ने आ कर) शेष आयुष्य के विषय में पूछा। (तब कालक ने कहा) आप इन्द्र हैं। ××× इस वर्णन से यह तो मानना पड़ेगा कि कालक के पास इन्द्रागमन-विषयक बात

---

[५१] अविनीतशिष्य-परिहार (और सुवर्णभूमिगमन) वाली घटना और निमित्त पठन और अनुयोग-निर्माणवाली घटना को छानवीन कर के मुनिश्री लिखते हैं—"इन दोनों घटनाओं का आन्तरिक रहस्य एक ही है और वह यह कि कालक के शिष्य उनके काबू में न थे।" इस खयाल को ले कर मुनिजी ने भी बताया है कि ये घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं।—द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११५.

[५२] वही, पृ० ११६–११७.

[५३] वही, पृ० ११६–११७.

भी प्राचीन है।[५४] उपर्युक्त घटना से यह भी जाना जाता है कि सागर के दादा-गुरु दूसरे आर्य कालक के साथ इस घटना का सम्बन्ध है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि युगप्रधान-स्थविरावली में "श्यामार्य" नामक प्रथम कालक को निगोद व्याख्याता कहा है। ऐसी दशा में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि निगोदव्याख्याता कालकाचार्य पहिले थे या दूसरे।"[५५]

मुनिजी के उक्त विधान में वास्तव में आखरी वाक्य की जुरूरत ही नहीं, क्यों कि निगोद-व्याख्यान का सम्बन्ध श्यामार्य से हो सकता है अथवा आर्य रक्षित से। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस घटना में इन्द्र अपना शेष आयुष्य पूछता है जो वास्तव में ज्योतिष और निमित्तशास्त्र का विषय है। सुवर्णभूमि जानेवाले और अनुयोग निर्माता आर्य कालक एक ही थे और वे निमित्तज्ञानी थे यह तो हम देख चुके हैं और **घटना २ से घटना ७ वाले कालक एक ही हैं वह तो मुनिजी को भी मंजूर है। अब अगर हम सिद्ध कर सकें कि अनुयोग निर्माता आर्य कालक वह श्यामार्य ही हो सकते हैं तब घटना २ से घटना ७ वाले कालक को भी श्यामार्य मानना पड़ेगा।** और उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-गाथा-(जो प्राचीन होने से ज्यादा विश्वसनीय होनी चाहिये) भी सच्ची सिद्ध होगी।

हम कह चुके हैं कि आर्य रक्षित ने अनुयोग-पृथक्त्व किया और अनुयोग के चार भाग किये। आर्य रक्षित का समय है आर्य वज्र के बाद का, मतलब कि नि० सं० ५८४ से ५९७ आसपास,[५६] ई० स० ५७ से ७० आसपास। आर्य कालक ने लोकानुयोग, गण्डिकानुयोग, प्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य में कहा गया है। इस के बाद ही अनुयोग पृथक्त्व हो सकता है। कालक के अनुयोग के आर्य रक्षित के अनुयोग पृथक्त्व से पूर्ववर्ती होने का एक और प्रमाण भी मिलता है। इस विषय में मुनि श्री कल्याणविजयजी ने लिखा है कि—"**नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग का उल्लेख मिलता है। वहाँ प्रथमानुयोग के साथ लगा हुआ 'मूल' शब्द नन्दी के रचनाकाल में दो प्रथमानुयोगों के अस्तित्व की गूढ़ सूचना देता है।** यद्यपि टीकाकार इस 'मूल' शब्द का प्रयोग तीर्थङ्करों के अर्थ में बताते हैं, तथापि वस्तुस्थिति कुछ और ही मालूम होती है।[५७] आवश्यक-निर्युक्ति आदि जैन सिद्धान्त-ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट लिखी मिलती है कि आर्य रक्षित सूरिजी ने अनुयोग को चार विभागों में बाँट दिया था[५८]

---

[५४] वास्तव में इस घटना का आर्य रक्षित से सम्बन्ध तब जोड़ा गया जब कालक के अनुयोग का स्थान आर्य रक्षित के अनुयोग-पृथक्त्व ने लिया। अतः उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-गाथा में शङ्का रखने की आवश्यकता नहीं।

[५५] **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११४।

[५६] देखिये, **पट्टावली समुच्चय**, सिरि दुसमाकाल-समणसंघ-थयं, पृ० ११-१८.

[५७] नन्दीसूत्र का यह उल्लेख ऐसा है:—

से किं तं अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते।
तं जहा—मूलपढमाणुओगे, गंडियाणुओगे य॥

से किं तं मूलपढमाणुओगे? मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवगमणाइं आउं चवणाइं जम्मणाणि अभिसेआ रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ......एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ, से त्तं मूलपढमाणुओगे, से किं तं गंडिआणुओगे? २ कुलगरगंडिआओ तित्थयरगंडिआओ चक्कवट्टिगंडिआओ दसारगंडिआओ बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ गणधरगंडिआओ भद्दबाहुगंडिआओ तवोकम्मगंडिआओ...से तं गंडिआणुओगे, से तं अणुओगे।

—**नन्दीसूत्र** (आगमोदय-समिति, सूरत) सू, ५६, पृ. २३७-२३८ और पृ० २४१ पर की टीका.

[५८] यह गाथा ऐसी है—देविंदवंदिएहि महाणुभागेहि रक्खिअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा॥
—आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० २९९, निर्युक्ति गाथा, ११४.

जिस के एक विभाग का नाम 'धर्मकथानुयोग' था। इस धर्मकथानुयोग में उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि सूत्रों को रक्खा था [५९]। परन्तु नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग का जो वर्णन दिया है वह इस आर्यरक्षितवाले धर्मकथानुयोग के साथ मेल नहीं खाता [६०]।" ये नाम कालक के अनुयोगों के हैं, आर्यरक्षित के चार अनुयोग भिन्न भिन्न नामों से पिछाने गये हैं।

हम देखते हैं कि नन्दीसूत्रकार के कथनानुसार मूलप्रथमानुयोग में तीर्थङ्कर, गणधर, पूर्वधर, आदि के अनशन आदि विषयों का वर्णन है। आर्य कालक के 'प्रथमानुयोग' में भी हम देख चुके हैं कि तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के पूर्वभवों और चरित्रों का वर्णन था, जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य का कहना है। अतः वास्तव में नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग के निर्देश में सूत्रकार आर्य कालक के अनुयोग-ग्रन्थों का ही उल्लेख कर रहे थे और इसी लिए इन्होंने मूल-प्रथमानुयोग ऐसा शब्दप्रयोग किया।

क्यों कि ये मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोगकार आर्य कालक आर्य रक्षित से पूर्ववर्ती ही हो सकते हैं अतः वे (मुनिश्री कल्याणविजयजी के) प्रथम कालक—आर्य श्याम ही हो सकते हैं। जब अनुयोग निर्माता (घटना ४) आर्य कालक वह श्यामार्य ही हैं तब पूर्वोक्त प्रकार से घटना ३ से घटना ७ वाले आर्य कालक भी वही श्यामार्य ही हैं।

इस सब चर्चा से फलित होता है कि आर्यकालक काल्पनिक नहीं किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन्हों ने मूलप्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया और जिनका नन्दीसूत्रकार भी प्रमाण देते हैं। इनके लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र था ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का प्रमाण है। उसी निमित्तशास्त्र के एक विषय–प्रव्रज्या–के बारे में कालक के मत का अनुसरण वराहमिहिर ने किया और उसी विषय की गाथायें भी हमें उत्पलभट्ट की टीका में प्राप्त होती हैं। इन सब साक्षियों के सामने आर्य कालक के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के बारे में अब कोई भी शंका नहीं रहती। और अनुयोगकार कालक वह आर्यरक्षित के पूर्ववर्ती श्यामार्य (प्रथम कालक) ही हैं। अतः घटना ३ से ७ वाले कालक भी श्यामार्य हैं न कि मुनिजी के द्वितीय कालक।

प्राचीन और अर्वाचीन पण्डितों–ग्रन्थकारों के मत से श्यामार्य प्रथम कालकाचार्य माने जाते हैं। आर्य श्याम और आर्य कालक ये दोनों नाम पर्यायरूप से एक ही व्यक्ति के लिए उपयोग में लिये गये हैं। इसी तरह सागर का पर्याय होता है समुद्र। किसी भी पट्टावली में हमें आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर नहीं मिलते किन्तु आर्य श्याम के प्रशिष्य आर्य समुद्र अवश्य मिलते हैं। और यह उल्लेख भी नन्दीसूत्र की स्थविरावली में है जो प्राचीन भी है और विश्वसनीय भी। नन्दीसूत्र पट्टावली का उल्लेख देखना चाहिये—

हारियगुत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वन्दे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्ज जीयधरं ॥ २६ ॥

---

[५९] देखो—कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥
—आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० ३०६, मूलभाष्यगाथा, १२४.

आर्यरक्षितकृत चार अनुयोगों के नाम हैं—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, कालानुयोग और द्रव्यानुयोग।

[६०] **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० १०६–१०७। मुनिजी लिखते हैं—"यद्यपि आवश्यकमूलभाष्य में 'चरणकरणानुयोग' पहिला कहा गया है और 'धर्मकथानुयोग' दूसरा, तथापि इस कथानुयोग को प्रथमानुयोग कहने से यह ज्ञात होता है कि पहले के चार अनुयोगों में 'धर्मकथानुयोग' का नंबर पहिला होगा।
—**वही**, पृ० १०६, पादनोंध ३

तिसमुद्दखायकित्तिं दीवसमुद्देसु गहियपेयालं ।
वन्दे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥ १७ ॥[६१]

उपर्युक्त गाथाओं में श्यामार्य के बाद संडिल्ल (शाण्डिल्य) और उनके बाद आर्य समुद्र को पाते हैं। आर्य श्याम को प्रथम कालक माननेवाले (अर्थात् "श्याम" और "कालक" को एक ही व्यक्ति के नाम के पर्याय गिननेवाले) में मुनिश्री कल्याणविजयजी, डॉ० डब्ल्यू० नॉर्मन ब्राउन आदि सब आधुनिक पण्डित सम्मत हैं। जैन परम्परा में भी यही देखने मिलता है।[६२] स्थविरावलियों, पट्टावलियों के अनुसार प्रथम कालक ऊर्फ आर्य श्याम गुणसुन्दर के अनुवर्ती स्थविर और पट्टधर हैं।[६३] मेरुतुङ्ग की **विचार-श्रेणि** में भी--

अज्जमहागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला।
गुणसुंदर चउआला, एवं तिसया पणतीसा॥
तत्तो इगचालीसं, **निगोय-वक्खाय कालगायरिओ**।
अट्ठत्तीसं **खंदिल** (संडिल), एवं चउसय चउद्दसय॥
रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमंगु अ वीस एवं तु।
चउसय सत्तरि, चउसय तिपन्ने कालगो जाओ॥
चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।[६४]

जैनसाहित्य-संशोधक, खण्ड २, अङ्क ३-४, परिशिष्ट

रत्नसञ्चय-प्रकरण (अनुमान से विक्रम १६ वीं शताब्दि), जिसमें चार कालकाचार्यों का उल्लेख है, उसमें भी प्रथम कालक श्यामार्य ही माने गये हैं-

---

[६१] नन्दीसूत्र (आगमोदयसमिति, सूरत, ई० स० १९१७), पृ० ४९. **पट्टावली समुच्चय**, भाग १, (सम्पादक, मु० दर्शनविजय, वीरमगाम, ई० स० १९३३), पृ० १३.

डॉ० पीटरसन, **ए थर्ड रीपोर्ट ऑफ ऑपरेशन्स इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन ध बॉम्बे सर्कल**, (बम्बई, ई० स० १८८१) में पृ० ३०३ पर, विनयचन्द्र (वि० सं० १३२५) रचित कल्पाध्ययनदुर्गपद-निरुक्त के अवतरण में किसी स्थविरावली की गाथायें हैं, जहाँ—

सूरिबलिस्सह साई सामज्जो संडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू नंदिल्लो नागहत्थी य ॥ २ ॥

ऐसा पाया जाता है। यही गाथा मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि-अन्तर्गत स्थविराली में भी है।

[६२] देखो, ब्राउन, **ध स्टोरि ऑफ कालक**, पृ० ५-६ और पादनोंध।

[६३] **वही**, पृ० ५. श्री धर्मसागरगणि-कृत तपागच्छ-पट्टावली में भी—"अत्र श्रीआर्यसुहस्तिश्रीवज्रस्वामिनोरन्तराले १ गुणसुन्दरसूरिः, २ श्रीकालिकाचार्यः, ३ श्रीस्कन्दिलाचार्यः, ४ श्रीरेवतीमित्रसूरिः, ५ श्रीधर्मसूरिः" ऐसा बताया गया है—**पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६।

[६४] डा० भाउ दाजी ने **जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटि**, वॉ० ९ पृ० १४७-१५७ में मेरुतुङ्ग की स्थविरावली का विवरण किया है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अपने **वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैनकालगणना**, पृ० ६१ पर स्थविरावली या युगपधानपट्टावली की गाथायें दी हैं, वे वही हैं जो मेरुतुङ्ग ने दी हैं।

श्यामार्य हुए आर्य महागिरि की परम्परा में जो वाचकवंश रूप से पिछाना गया है, मेरुतुङ्ग ने आर्य महागिरि की शाखा के स्थविरों की अलग गाथायें भी दी हैं:--"सूरि बलिस्सह साई **सामज्जो संडिलो** य जीयधरो। **अज्जसमुद्दो** मंगु नंदिल्लो नागहत्थी य।" इत्यादि, देखो, **जैनसाहित्य-संशोधक**, २, ३-४, परिशिष्ट, पृ० ५।

सिरिवीराओ गएसु पणतीससहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥ ५५ ॥
चउसय तिपन्न (४५३) वरिसे कालगगुरुणा सरस्सइ गहिआ।
चउसयसत्तरि वरिसे वीराओ विक्कमो जाओ ॥ ५६ ॥
पंचेव वरिससए, सिद्धसेणो दिवायरो जाओ।
सत्तसयवीस (७२०) अहिए कालिगगुरू सक्कसंथुणिओ ॥ ५७ ॥
नवसयतेणउएहिं (९९३), समइक्कंतेहि वद्धमाणाओ।
पज्जोसवणचउत्थी, कालिकसूरीहिंतो ठविआ ॥ ५८ ॥[६५]

कालकाचार्य-कथानकों में कालक के गुरु का नाम गुणाकर, या गुणसुन्दर, या गुणन्धर मिलता है। देवचन्द्रसूरि आदि रचित सर्व कालककथानकों के नायक वही आर्य कालक थे जिनके गुरु गुणाकर, गुणसुन्दर आदि नामों से उद्दिष्ट थे। और जब आर्य श्याम को प्रथम कालक मानने में कोई विरोध नहीं है और जब इन्ही कालक के गुरु या पुरोगामी पट्टधर स्थविर आर्य गुणसुन्दर थे, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक-कथानकों में उद्दिष्ट (सर्व घटनाओं के नायक) आर्य कालक श्यामार्य ही हैं। किसी कथाकार ने ऐसा नहीं बतलाया कि भिन्न भिन्न घटनाओं के नायक भिन्न भिन्न कालक थे। सर्व कथानकों में प्रथम कालक के जन्म, दीक्षा गुरु आदि के निर्देश के बाद घटनाओं के वर्णन क्रमशः दिये गये हैं। अतः यह निश्चित है कि कथानकों में वर्णित घटनाओं के नायक यह कालक हैं जो स्थविर आर्य गुणसुन्दर के अनुगामी थे और जिनको स्थविर आर्य श्याम नाम से थेरावलियों में वन्दना की गई है। सर्व थेरावलियों में श्यामार्य का क्रम या समय एक ही है। एक नाम के एक से ज्यादा आचार्य होना सम्भवित है और ऐसे कई दृष्टान्त जैन धर्म के इतिहास में मौजूद हैं। कालक नाम के भी दूसरे आचार्य हुए होंगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि कथानकों के नायक प्रथम कालक ही थे। इन प्रथम कालक=आर्य श्याम का समय रत्नसञ्चय प्रकरण की उपर्युक्त गाथा के अनुसार वीरात् ३३५ वर्ष है। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है—

सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण॥

यह गाथा भी श्यामार्य को कालक मानती है मगर उनका समय वीरात् ३२० बताती है। मुनिश्री कल्याणविजय लिखते हैं—"मालूम होता है, इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय का निरूपण करने का होगा।"[६६] यह मेरुतुङ्ग शायद अञ्चलगच्छ के हैं और प्रबन्धचिन्तामणि के कर्ता मेरुतुङ्ग से भिन्न

---

[६५] **वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन-काल-गणना**, पृ० ६५, पादनोंध ४६. यह स्पष्ट है कि रत्नसञ्चय-प्रकरण की चार कालकविषयक मान्यता गलत है। चतुर्थी तिथि को पर्यूषणापर्व मनाने की हकीकत वीरात् ९९३ वर्ष में हुए कालक के साथ नहीं जोड़ी जा सकती, क्यों कि पर्यूषणापर्वतिथि चतुर्थी को मनानेवाले कालक सातवाहन राजा के समय में हुए थे।

चार कालक की कल्पना का निरसन मुनिश्री कल्याणविजयजी ने **आर्य-कालक** नामक लेख में किया है, देखो **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ९४–११७।

[६६] **वीर-निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना**, पृ० ६४, पादनोंध ४६। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि, तदन्तर्गत स्थविरावली इत्यादि के बारे में **जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटी**, भाग ९ (१८६७-७०) में डॉ० भाउ दाजी का विवेचन भी देखिये।

होंगे ऐसा खयाल पण्डित लालचन्द्र गान्धी का है। इन मेरुतुङ्ग का समय विक्रम संवत् १४०३ से १४७१ के बीच में है।[६७] इन्हीं के आधार से आर्य श्याम का समय निर्णीत करना ठीक न होगा। किन्तु सब जैनाचार्य प्रथम कालक या श्यामार्य का समय यही बतलाते हैं। दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसङ्घस्तोत्र और उसकी अवचूरि के अनुसार प्रथम कालक का यही समय है।[६८] नन्दीसूत्रान्तर्गत स्थविरावली के अनुसार श्यामार्य और स्थविर आर्य सुहस्ति के बीच में बलिस्सह और स्वाति हुए। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि अन्तर्गत स्थविरावली-गाथानुसार सुहस्ति के बाद गुणसुंदर ४४ वर्ष तक और आर्यकालक ४१ वर्ष तक पट्टधर रहे। (प्रथम) कालक या श्यामार्य के समय के विषय में तो प्राचीन अर्वाचीन सभी पण्डितों का ख़याल एक-सा है—इनका युगप्रधानपद वीर-निर्वाण संवत् ३३५ में और स्वर्गवास वी० नि० सं० ३७६ में।

अब जैन परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण का समय है विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व, अतः ई० स० पूर्व ५२७ होगा। इस हिसाब से श्यामार्य का युगप्रधानत्व होगा ई० स० पूर्व १९२ से १५१ तक। डा० याकोबी के मतानुसार अगर वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ४६७ में हुआ, तो श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक।

उपर्युक्त दोनों समय में से कौनसा ग्राह्य है यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि वीर निर्वाण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु दोनों में से कोई भी समय ग्राह्य हो, पर उससे आर्य कालक का सुवर्णभूमि जाना असम्भव नहीं है। हम देख चुके हैं कि ई० स० पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दि में भारत सुवर्णभूमि से सुपरिचित था।

हमने यह भी जान लिया है कि घटना १ से ७ एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये। तब गर्दभ राजा के उच्छेदक आर्य कालक का समय भी ई० स० पूर्व १९२ से १५१ तक या ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक हो जाता है। शङ्का होगी कि यह कैसे हो सकता है? जब कि गर्दभ-राजा के उच्छेदक कालक के कथानक का सम्बन्ध है विक्रम के साथ और उस विक्रम और शकों के पुनर्राज्यस्थापन (शक संवत्) के बीच में १३५ वर्ष का अन्तर जैन परम्परा को भी मंजूर है।

किन्तु यहाँ देखने का यह है कि कालक-कथानक का सम्बन्ध है शकों के प्रथम आगमन और राज्य-स्थापन के साथ न कि ई० स० ७८ में जिन्होंने शक संवत् चलाया उन शकों के साथ। मुनि कल्याण—विजयजी ने जैन परम्पराओं को लेकर कालक, गर्दभ, विक्रम आदि के समय निर्णय का जो प्रयत्न किया है वह देखना चाहिये। उन्होंने अपना "वीर निर्वाणसम्वत् और जैन कालगणना" नामक ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा में कहा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग के राज्य के ३५ वें वर्ष के लगभग (जो शायद था उसके राज्य का आखरी वर्ष) "लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्लवंशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया।" इसके बाद कालक के पारसकूल जा कर शकों को भारत में लानेवाली निशीथचूर्णि और कहावली में पाई जाती हकीकत दे कर मुनिजी बतलाते हैं कि लाट देश के

---

[६७] पीटरसन, रिपोर्ट, वॉल्युम ४, पृ० xcviii। अगर प्रबन्धचिन्तामणिकार और विचारश्रेणिकार एक हों तब इनका समय वि० सं० १३६६ है।

[६८] **पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६-१७. विशेष चर्चा के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक**, पृ० ५-६, और पादनोंध, २३-३३; और **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ९४-११६।

राजा बलमित्र-भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गये (प्रस्तुत विषय में कहावली का उल्लेख—"ताहे जे गद्दहिल्लेणवमाणिया लाडरायाणो अण्णे य ते मिलिउं सव्वेहिं पि रोहिया उज्जेणि।"—मुनिजी के अनुमान का आधार है)। वास्तव में कहावली में लाट के राजाओं के नाम नहीं हैं। फिर भी मुनिजी का अनुमान ठीक हो सकता है। कालक सूरि की सूचनानुसार गर्द्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठाया गया जिस के यहाँ कालक ठहरे थे। मुनिजी लिखते हैं—"उक्त घटना बलमित्र के राज्यकाल के ४८ वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३ वाँ वर्ष था। ४ वर्ष तक शकों का अधिकार[६९] रहने के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया; भरोज में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिल कर ६० वर्ष तक बलमित्र-भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।...बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के तख्त पर नभःसेन बैठा। नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हल्ला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की याद में मालव प्रजा ने 'मालव-संवत्' नामक एक संवत्सर भी लाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[७०]

---

६९. **वीर निर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना,** पृ० ५४–५५। मुनिश्री पादनोंध में लिखते हैं—मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में 'सगस्स चउ' अर्थात् 'उज्जयिनी में शक का ४ वर्ष तक राज्य रहा' इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी शकों के हाथ में चार वर्ष तक ही रही थी। कालकाचार्य-कथा की—

"बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
नियभाणिज्जत्ति तया, तत्थ गओ कालगायरिओ ॥"

इस गाथा में और निशीथचूर्णि के—"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। तत्थ वासावासं ठितो। तत्थ णगरीए बलमित्तो राया, तस्स कनिट्ठो माया भाणुमित्तो जुवराया ××××"—इस उल्लेख में बलमित्र को उज्जयिनी का राजा लिखा है। इस से यह निश्चित होता है कि......उज्जयिनी को सर करने के बाद उन्होंने (आर्य कालक ने) वहाँ के तख्त पर शक मंडलिक को बिठाया था पर बाद में उसकी शक्ति कम हो गई थी, शक मंडलिक और उस जाति के अन्य अधिकारी पुरुषों ने अवंति के तख्तनशीन शक राजा का पक्ष छोड दिया था।" इसी के समर्थन में मुनिजी व्यवहारचूर्णि का अवतरण देते हैं:—

"यदा कालएण सगा आणीता सो सगराया उज्जेणीए रायहाणीए तस्संगाणिज्जगा 'अह्मं जातीए सरितो'त्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवंति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं ते णाउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता, ते अण्णं रायं ओलग्गणट्ठाए उवगता।" इस से मुनिजी का अनुमान है कि यह शकराजा कुछ समय के बाद हटा दिया गया होगा।

७०. **वीर निर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना,** पृ० ५५–५६। मुनिजी इसी निबन्ध में पृ० ५८ पादनोंध ४२ में लिखते हैं:— विचारश्रेणि आदि में जो संशोधित गाथाएँ हैं उनमें इसका (नभःसेन का) नाम 'नहवाहन' लिखा है जो गलत है। तित्थोगाली में बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राजा नभःसेन लिखा है। 'नहवाहन' जिसके नामान्तर 'नरवाहन' और 'दधिवाहन' भी मिलते हैं, भरोच का राजा था। सिक्कों पर इस का नाम 'नहपान' भी मिलता है। प्रतिष्ठान के सातवाहन ने इस के ऊपर अनेक बार चढ़ाइयाँ की थीं।"

विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथायें निम्नोल्लिखित हैं—

जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थङ्करो महावीरो।
तं रयणिमवंतीई अहिसित्तो पालगो राया ॥

बलमित्र-भानुमित्र कहीं भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजे कहे गए हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी के मत से उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हरा कर वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस विषय में जो हकीकत कथानक आदि से उपलब्ध है वह हमें देखनी चाहिये—निशीथचूर्णि में गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना वर्णित है मगर बाद की राज्यव्यवस्था का उल्लेख नहीं है। चतुर्थीकरणवाली घटना भी इसी चूर्णि में है, वहाँ लिखा है—"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। ...तत्थ य नगरीए बलमित्तो राया।"[७१] दशाचूर्णि में भी चतुर्थीकरण वाली घटना में "उज्जेणीए नगरीए बलमेत्त-भाणुमेत्ता रायाणो" ऐसा कहा है।[७२] कहावली में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद की व्यवस्था का निर्देश नहीं है। किन्तु चतुर्थीकरणवाले कथानक में कहावलीकार लिखते हैं—"साहिप्पमुहराणएहिं चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया।"[७३] इस तरह बलमित्र के उज्जयिनी के राजा होने के बारे में प्राचीन साक्षी अवश्य है किन्तु कई कथानकों में चतुर्थीकरणवाली घटना के वर्णन में बलमित्र को "भरुअच्छ" (भरोंच) में राज्य करता बतलाया है।[७४] कालक-परक सभी कथानकों में

सट्ठी पालगरन्नो पणवन्नसयं तु होइ नन्दाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिय पूसमित्तस्स॥
बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वासे सगस्स चऊ॥
(जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २ अङ्क ४ परिशिष्ट पृ० २)

वास्तव में यहाँ आखरी गाथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि बलमित्र भानुमित्र के ६० वर्ष, नहवाहन (या नभःसेन) के ४० वर्ष, बाद में गर्दभिल्ल के १३ वर्ष, और शक के राज्य के ४ वर्ष कहे हैं गये हैं और यह निर्विवाद है कि गर्दभिल्लोच्छेदक चतुर्थीकारक आर्य कालक बलमित्र के समकालीन थे।

[७१] नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० २, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश.

[७२] नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, संदर्भ ६, पृ० ५.

[७३] वही, प्राकृतकथाविभाग, कथा नं० ३, पृ० ३७.

[७४] वही, पृ० १४, देवचन्द्रसूरिविरचितकथा (रचना संवत् ११४६=ई० स० १०८९) में; वही, पृ० ३१, मलधारी श्री हेमचन्द्रविराचित कथा (रचना वि० सं० १२ शताब्दि) में; वही, पृ० ४५, अज्ञातसूरिविराचित कथा में, वही, पृ० ७०, अज्ञातसूरिविराचित अन्य कथा में; वही, पृ० ८७ श्री भावदेवसूरिराचित कथा (रचना संवत् १३१२=ई० स० १२५५) में,—इत्यादि कथानकों में बलमित्र को भरुकच्छ का राजा बतलाया है।

किन्तु, जयानन्दसूरि-विराचित प्राकृत कथा (रचना अनुमान से वि० सं० १४१० आसपास) में बलमित्र-भानुमित्र को अवन्ति के राजा और युवराज बताये हैं। इसी कथानक में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद शक को राजा बनाया इतना ही उल्लेख है। नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० १०७.

वही, पृ० ५५, श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० १३००-१३५७ आसपास) लिखते हैं कि जिस शक राजा के पास आर्य कालक रहे थे उसको कालकाचार्य ने अवन्ति का राजा बनाया और दूसरे शक उस राजा के सेवक बने। किन्तु धर्मघोषसूरि लिखते हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार ये सब सेवक कालक के भागिनेय के सेवक बने—

जप्पासे सूरिठिओ सऽवंतिपहु आसि सेवगा सेसा।
अन्ने भणंति गुरुणो भाणिज्जा सेविया तेहिं॥ ४३ ॥
जं भणिओ निवपुरओ, स गओ ते हिं सह सूरिणो अ सगो।
सगकूल आगयत्ति य, सगुत्ति तो आसि तव्वंसो ॥ ४४ ॥

गर्द्दभिल्ल के, बलमित्र के, या शकों के राज्य के वर्ष आदि नहीं दिये गये। किन्तु गर्द्दभिल्लोच्छेद के बाद अवन्ति में कौन राजा हुआ इस विषय में क़रीब सब कथानकों और प्राचीन संदर्भों का निर्देश यही है कि गर्द्दभिल्ल के बाद शक राजा हुआ। उसके बाद बलमित्र अवन्ति का राजा हुआ? और ऐसा हुआ तो कब हुआ? इन सब बातों का निश्चय करना मुश्किल है क्यों कि चतुर्थीकरणवाली घटना गर्द्दभिल्लोच्छेद के पूर्व या पश्चात् हुई उसका पक्का पता नहीं लगता। अगर बाद में हुई—जैसा कि ज्यादह सम्भव है—तब भी बलमित्र अवन्ति–उज्जयिनी में राजा था या भरुकच्छ में? इस विषय में मतभेद रहेगा। मान लें कि उस समय बलमित्र उज्जयिनी में था तब भी उसके बाद कौन राजा हुआ? कथानकों के अस्पष्ट उल्लेखों का सारांश तो यह है कि उस शकराजा से जो वंश चला वह शककुल–शकवंश नाम से प्रसिद्ध हुआ और कालान्तर में उस वंश का उन्मूलन विक्रम ने किया। उसके (विक्रम के) वंश के बाद फिर शक राजा हुआ जिसका शकसंवत् (ई० स० ७८ से) चला। इस संवत् और विक्रम संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर है। कोई संदर्भ या कथा यह नहीं कहती कि बलमित्र यही विक्रमादित्य है। बलमित्र को विक्रमादित्य गिनने से गर्द्दभिल्लोच्छेदक कालक का समय जो वास्तव में वीरात् ३३५–३७६ आसपास है उसको हटाकर वीरात् ४५३ मानना पड़ता है और वीरात् ४५३ और ४७० के बीच बलमित्र, नभःसेन, और शकराजा के राज्यवर्ष घटाने पड़ते हैं।[७५]

यहाँ अब हम पहले तो तित्थोग्गाली पइन्नय के उल्लेख को देखें—

"जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥ ६२० ॥

फिर आगे चतुर्थीकरणवाली घटना में लिखा है—

बलमित्त-भाणुमित्ता, आसी अवंतीइ राय-जुवराया।
विंति परे भरुअच्छे, कालयसूरी वि तत्थ गओ ॥ ४७ ॥

—वही पृ० ५५

[७५] देवचन्द्रसूरि-रचित कथानक (रचना सं० ११४६ = १०८९ ई० स०) में कहा गया है—

" सगकूलाओ जेणं समागया तेण ते सगा जाया।
एवं सगराईणं, एसो वंसो समुप्पण्णो ॥ ६२ ॥
कालंतरेण केणइ, उप्पाडेत्ता सगाण तं वंसं।
जाओ मालवराया, णामेणं विक्कमाइच्चो ॥ ६४ ॥
पयराविओ धराए रिणपरिहीणं जणं विहेऊण।
गुरुरत्थवियरणाओ णियओ संवच्छरो जेण ॥ ६७ ॥
तस्स वि वंसं उप्पाडिऊण जाओ पुणो वि सगराया।
उज्जेणिपुरवरीए, पयपंकय पणयसामंतो ॥ ६८ ॥
पणतीसे वाससए, विक्कमसंवच्छराओ वोलीणे।
परिवत्तिऊण ठविओ, जेणं संवच्छरो णियगो ॥ ७० ॥

— नवाव प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० १३.

इसी मतलब का विधान मलधारि श्री हेमचन्द्रसूरि (वि० सं० १२ शताब्दि) विरचित कथानक में है, दखो नवाब, वही, पृ० ३०। वही, पृ० ८१ पर भावदेवसूरि (वि० सं० १३१२ = १२५५ ई० स०) भी इसी मतलब का विधान करते हैं। वही, पृ० ९३ पर श्री धर्मप्रभसूरि (वि. सं. १३९८) भी ऐसा उल्लेख करते हैं।

पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्स) ॥ ६२१ ॥

बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठी चत्ताय होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥ ६२२॥

पंच य मासा पंच य वासा, छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया॥ ६२३ ॥[७६]

इस तरह शक संवत् जो ई० स० ७८ से शुरू होता है उसको चलाने वाले शकराजा के पूर्व १०० वर्ष गर्द्दभिल्लों के, ४० वर्ष नभःसेन के और ६० वर्ष बलमित्र के बताये गये हैं।

दिगम्बर तिलोयपण्णत्ति में भी ऐसी कालगणना मिलती है किन्तु कुछ फ़र्क के साथ—

जक्काले वीरजिणो निःसेससंपयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणाम अवंतिसुदो॥ १५०५॥

पालकरज्जं सट्ठिं इगिसयपणवण्णा, विजयवंसभवा।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तम्मि॥ १५०६॥

वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ १५०७॥

भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं वंति वादाला। [७७]

जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण [७८] में यही गणना मिलती है जिसके अनुसार पालक के ६० वर्ष, विजयवंश या नंदवंश के १५५ वर्ष, मरुदय या मौर्यों के ४० वर्ष, पुष्यमित्र के ३०, वसुमित्र–अग्निमित्र के ६०, गंधर्व या रासभों के १०० और नरवाहन के ४० वर्ष दिए गये हैं। उसके बाद भत्थट्टाण(भृत्यान्ध्र) राजा हुए जिनका काल २४२ वर्ष का होता है।

दिगम्बर परम्परा को यहाँ स्पर्श किया है इससे प्रतीत होगा कि उनकी कालगणना में भी कुछ गड़बड़ है। क्यों कि मौर्यों के ४० वर्ष लिखे गये हैं वह ठीक नहीं। श्री काशीप्रसाद जयस्वालजी ने श्वेताम्बर काल-गणनाओं की समीक्षा करते हुए बतलाया कि मौर्यों के कमी किये गये वर्ष रासभों (गर्द्दभिल्लों)

---

[७६] **वीरनिर्वाणसम्वत् और जैनकालगणना** के. पृ० ३०–३१ पर मुनिश्री कल्याणविजयजी ने ये गाथायें उद्धृत की हैं। तित्थोगाली की उपलब्ध प्रतियाँ अशुद्ध हैं।

वही, पृ० ३१ पादनोंध में मुनिश्री ने दुःषमगंडिका और युगप्रधान–गंडिका का सार दिया है। दूसरी गणनाओं से उसकी सङ्गति करना मुश्किल है। किसी भी तरह शकसंवत् को वीरात् ६०५ तक ला ही जाता मगर बीच के राजाओं की कालगणना में गड़बड़ी हो जाती है। इस विषय में बहुत से विद्वानों ने चर्चा की है। यहाँ हम इन सबका सार भी लें तो वक्तव्य का विस्तार खूब बढ़ जाएगा। और यह सब चर्चा विद्वानों को सुपरिचित है ही।

[७७] **तिलोयपण्णत्ति, भाग,** पृ० ३४२, **कसायपाहुड,** भाग १, प्रस्तावना, पृ० ५०-५५ में उद्धृत की गई है किन्तु परस्पर विरोधात्मक कालगणनाओं का अभी तक संतोषजनक समाधान नही हुआ है।

[७८] डा० जयसवाल, **जर्नल ऑफ ध बिहार-ओरिस्सा रिसर्च सोसायटी,** वॉल्युम १६, पृ० २३४–२३५. **वही,** कल्पना मुनिश्री कल्याणविजयजी भी करते हैं।

में बढ़ाये गये हैं।[७९] इस कालगणना के विषय में आज तक की सब चर्चाओं में से अभी कोई गणना निर्णयात्मक फलित नहीं हुई।[७९] सम्भव है कि शकों का भारत में प्रथम आगमन और उज्जैन में राज्य करना, तदनन्तर पराजय के बाद ई० स० ७८ में फिर राज्य करना ये दोनों अलग अलग हकीकत पश्चाद्भूत ग्रन्थकार ठीक जान या समझ न सके। खुद तिलोयपण्णत्ति महावीर निर्वाण और शक सम्वत् के बीच के अन्तर की दो परम्परा देती है, एक के अनुसार निर्वाण के बाद ४६१ वर्ष होने पर शक राजा उत्पन्न हुआ (तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४, गाथा १४९६, पृ० ३४०), दूसरी के अनुसार निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास के बाद शक नृप उत्पन्न हुआ (वही, गाथा १४९९, पृ० ३४१)। कैसे भी हो मगर इतना तो फलित होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के बलमित्र-भानुमित्र दिगम्बर सम्प्रदाय में वसुमित्र-अग्निमित्र नाम से पिछाने जाने लगे। वे शुंगों के मध्य और पश्चिमी भारत में राज्यपाल (Governors) होंगे। वे पुष्यमित्र शुंगराजा के कुल के हो सकते हैं। विदिशा में पुष्यमित्र का युवराज अग्निमित्र राज्यपाल था वह महाकवि कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र के पाठकों को सुविदित है। पाञ्चाल में से मित्र नामान्त (अन्य) राजाओं के सिक्के मिले हैं। इस तरह बलमित्र-भानुमित्र के उज्जयिनी या लाट के शासन की बात सम्भवित प्रतीत होती है।

पुष्यमित्र के समय में पतञ्जलि का महाभाष्य हुआ माना गया है। महाभाष्य के सूत्र ३।२।११ में कात्यायन के वार्तिक 'परोक्षे च लोकविज्ञाने प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' पर दो अति प्रसिद्ध उदाहरण दिए गये हैं—"अरुणद् यवनः साकेतम्" और "अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्"। विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है कि यहाँ यूनानी राजा मीनान्डर के भारतीय अभियान का उल्लेख है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं:—"मीनान्डर ने शाकल (स्यालकोट) को अपने अधिकार में करके एक अभियान सिन्ध राजपूताना की ओर माध्यमिका (चितौड़ के समीप "नगरी") को लक्ष्य करके किया था। उसका दूसरा सैनिक अभियान पूर्व की ओर था। उस में मथुरा-साकेत (अयोध्या) को अपने अधिकार में करके वह पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) तक बढ़ गया था। गार्गी संहिता के युग-पुराण नामक अध्याय में इस पूर्वी अभियान का स्पष्ट विवरणात्मक उल्लेख है। इसका एक नया प्रमाण जैनेन्द्र-व्याकरण सूत्र २।२।९२ पर की अभयनन्दी की महावृत्ति में किसी प्रकार सुरक्षित बच गया है:—परोक्षे लोकविज्ञाने प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शन-विषयत्वे लङ् वक्तव्यः। **अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। अरुणद्यवनः साकेतम्।** × × × 'महेन्द्र' हमारी दृष्टि में अपपाठ है। शुद्ध पाठ "मेनन्द्र" होना चाहिए। अवश्य यही मूल पाठ रहा होगा, जिसका अर्थ न जानकर बाद के लेखकों ने 'महेन्द्र' कर दिया। वस्तुतः मीनान्डर का लोक में प्रसिद्ध नाम 'मेनन्द्र' था उनके अनेक सिक्के मिले हैं जिनमें एक ओर यवनानी लिपि में उनका नाम है और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में 'मेनन्द्र' नाम लिखा रहता है।"[८०]

---

[७९] मत्स्य, ब्रह्माण्ड और वायुपुराण में कुल ७ गर्दभिल्ल राजा लिखे हैं। और ब्रह्माण्डपुराण में गर्दभिल्लों का राजत्वकाल सिर्फ ७२ वर्ष का है। तित्थोगाली पइन्नय में गर्दभिल्ल-वंश्य राजाओं की सङ्ख्या तो नहीं पर उनका राजत्वकाल १०० वर्ष प्रमाण लिखा है। जिस गर्दभराजा को कालकसूरि ने शकों की सहाय से हठाया वह क्या इस वंश का था? वह क्या गर्दभिल्ल राजाओं में आखरी राजा था? ये सब विचारयोग्य बातें हैं। श्री शान्तिलाल शाह ने "धी ट्रॅडिशंनल क्रॉनोलॉजि ऑफ ध जैनझ" में लिखा है कि जिस गर्दभराजा का कालक ने उच्छेदन किया वह मथुरा के एक लेख में Khardaa नामसे उद्दिष्ट राजा है और गर्दभिल्ल अलग वंश के, पल्हव पार्थिअन थे। यह सब अभी निश्चितरूप से माना नहीं जाता। किन्तु उस गर्दभ राजा का ग्रीक होना ज्यादा सम्भवित है।

[८०] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, "**मिलिन्द के पूर्व-भारत में अभियान का नया उल्लेख,**" **राजस्थान भारती**, भाग ३, अङ्क ३--४ (जुलाइ, १९५३), पृ० ७१-७२.

इस तरह यह स्पष्ट है कि ग्रीकों ने मध्य भारत में अधिकार जमाया था। बलमित्र-भानुमित्र का समकालीन ग्रीक राजकर्ता ही हो सकता है। बृहत्कल्पचूर्णि में उल्लेख है कि उज्जयिनी नगरी में अनिल-सुत जव (यव? यवन?) नामक राजा था। उसका पुत्र गर्दभ नाम का युवराज था। वह अपनी ही "अडोलिया" नामक भगिनी के रूप से मोहित हो कर उससे जातीय सुख भोगता रहा। राजा इससे निर्वेद पा कर प्रव्राजित हो गया। इस उल्लेख में "अणिलसुतो नाम यवनो राजा" ऐसे पाठ की कल्पना श्री शान्तिलाल शाह के उपरोक्त ग्रन्थ में दी गई है। 'अडोलिया' कोई परदेशी नाम है। हो सकता है इसी कामान्ध गर्दभ ने साध्वी सरस्वती का अपहरण किया। वे ग्रीक राजकर्ता हो सकते हैं, किन्तु उनके मूल नाम का पता अभी तक निश्चित रूप से नहीं मिला। कहावली में इस गर्दभ राजा का नाम "दप्पण" —दर्पण—लिखा है।

मथुरा को मीनान्डर ने घेर लिया था। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के पहले दिये हुए उल्लेख में हम देख चुके हैं कि सातवाहन नरेश आर्य कालक को पूछता है—"मथुरा पड़ेगी या नहीं? और पड़ेगी तो कब?" इसका मतलब यह है कि मथुरा पर किसी का घेरा था और उसके परिणाम में सातवाहन राजा को रस हो यह योग्य ही है। यह भी हो सकता है कि खुद सातवाहन नरेश के सैन्य ने घेरा डाला था या वह डालना चाहता था क्यों कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा के दण्डनायक ने उत्तरमथुरा और दक्षिणमथुरा जीत लिया ऐसा उल्लेख है (बृहत्कल्पसूत्र विभाग ६, गाथा ६२४४ से ६२४६, और पृ० १६४७–४६)। उज्जैन में से ग्रीक (या कोई परदेशी) राजा जिसको "गर्दभ" कहा गया है उसको हटा गया, पीछे मथुरा से ग्रीक अमल को हटाने के लिए सातवाहन राजा ने प्रयत्न किया? या क्या यहाँ सातवाहन के प्रश्न में खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख में उद्दिष्ट मथुरा की ओर के अभियान का निर्देश है? [८१]

हम देख चुके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनका सम्बन्ध शकों के प्रथम आगमन से है। वह किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। बृहत्कल्पचूर्णि के उल्लेख से गर्दभ खुद यवन होने का सम्भव है। यद्यपि यह 'जव' शब्द यवन–यव–जव ऐसा रूपान्तरित है या 'मव' का 'जव' हुआ है इत्यादि बातें अनिश्चित हैं; तथापि 'अडोलिया' यह किसी ग्रीक नाम का रूपान्तर होने की शंका रहती है। क्या गर्दभ-राज (या गर्दभिल्लों) से भारत में ग्रीक राजकर्ता उद्दिष्ट हैं?

हमारे खयाल से यह ज्यादा सम्भवित है। गर्दभ और गर्दभिल्ल अवश्य परदेशी राजकर्ता होंगे। इनको हटाना भारतीयों के लिए मुश्किल मालूम पड़ा होगा। यवनों–ग्रीकों–के क्रूर स्वभाव का निर्देश हमें गार्गी संहिता के युगपुराण में भी मिलता है। इनको हटाने के लिए आर्य कालक शकों को लाये। अगर भारतीय राजकर्ता को हटाने के लिए परदेशी शक लाए गये होते तो आर्य कालक देशद्रोही गिने जाते।

---

[८१] देखो, डा० बी० एम० बारुआ, **हाथीगुम्फा इन्स्क्रिप्शन ऑफ खारवेल**, इन्डिअन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, वॉ० १४, पृ० ४७७, लेख की पंक्ति ६. खारवेल किसी सातकर्णि (सातवाहन-वंश के) राजा का समकालीन था यह इसी लेख से मालूम होता है। खारवेल का समय ई० स० पूर्व दूसरी या पहली शताब्दि है। इस विषय में डा० बारुआ ने अगले सर्व विद्वानों के मत की चर्चा अपने लेख और पुस्तक में की है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने **पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ एनूशिअन्ट इन्डिआ** (इ० स० १९५३ का संस्करण) में डा० बारुआ के मत की चर्चा की है। और देखो, **ध डेट ऑफ खारवेल**, जर्नल ऑफ ध एशिआटिक सोसाइटी (कलकत्ता), लेटर्स, वॉ० १९ (ई. स. १९५३), नं० १, पृ० २५–३२.

कालक जैसे समर्थ पंडित और प्राभाविक आचार्य ऐसा कर नहीं सकते। उनको प्रतीति हुई होगी की ग्रीक राजकर्ताओं के सामने तत्कालीन भारतीय राजाओं से कुछ बनना मुश्किल था।

प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी नहीं बताया गया कि शकों को हरानेवाला विक्रमादित्य खुद गर्दभ-राजा का पुत्र था। यह मान्यता कुछ पीछे से बनी होगी। जब काल-गणना में गड़बड़ प्रतीत होती है उस समय के विधानों में यह मान्यता देखने में आती है। कालकाचार्यकथानकों में भी प्राचीन कथानकों में यह नहीं है। पीछे पादनोंध ७२ में हमने बतलाई हुई साक्षियों में कहीं भी विक्रम को गर्दभ का पुत्र नहीं कहा है। इस तरह गर्दभिल्लोच्छेद और विक्रम के बीच कम अन्तर ही होना या मानना आवश्यक नहीं। वास्तव में डा० जयस्वालजी की भी ऐसी ही राय थी। उन्हों ने गर्दभिल्लोच्छेद् वाली घटना का निर्देश करके लिखा है—

> “This event is placed before the Vikrama era but no time is specified as to how long after the occupation of Ujjain and Mālvā the first Śaka dynasty came to an end. The Kathānaka expressly keeps it unspecified, as it says “*Kālāntareṇa Keṇai* (ZDMG., 1880, p. 267; Konow, CII. II. p. xxvii).”[८२]

जयस्वालजी इस गर्दभिल्लोच्छेद् की घटना को ई० स० पूर्व १००-१०१ में रखते हैं।[८३]

राजाओं की कालगणना में जैन ग्रन्थों में भी कुछ गड़बड़ और अस्पष्ट बातें हैं। मुनिश्री कल्याणविजयजी (जिनके मत से, गर्दभिल्लोच्छेदक आर्य कालक वह दूसरे आर्य कालक थे और उनका समय वीरात् ४५३ था) इस घटना के बारे में लिखते हैं—“घटनाओं के कालक्रम में हमने गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना निर्वाण संवत् ४५३ में बताई है; पर इसमें यह शंका हो सकती है कि इस घटना के समय यदि बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान थे—जैसा कि ‘कहावली’ आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है—तो इस घटना का उक्त समय निर्दोष कैसे हो सकता है? क्यों कि मेरुतुङ्गसूरि की ‘विचार-श्रेणि’ आदि प्रचलित जैन-गणना के अनुसार बलमित्र-भानुमित्र का सत्ता-काल वीर-निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक आता है। ऐसी दशा में यह कहना चाहिए कि गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना का उक्त समय (४५३) ठीक नहीं है, और यदि ठीक है तो यह कहना होगा कि बलमित्र-भानुमित्र का उक्त समय गलत है। और यदि उपर्युक्त दोनों समय ठीक माने जायँ तो अन्त में यह मानना ही पड़ेगा की गर्दभिल्लवाली घटना के समय बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान न थे।”

मुनिजी आगे लिखते हैं—“गर्दभिल्लवाली घटना का समय गलत मान लेने के लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। बलमित्रभानुमित्र आर्य कालक के भानजे थे, यह बात सुप्रसिद्ध है; अत एव कालक के समय में इनका अस्तित्व मानना भी अनिवार्य है। रही बलमित्र-भानुमित्र के समय की बात, सो इसके सम्बन्ध में हमारा मत है कि उनका समय ३५४ से ४१३ तक नहीं, किन्तु ४१४ से ४७३ तक था। मौर्य-काल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण १६० के स्थान में केवल १०८ वर्ष ही प्रचलित गणनाओं में लिये गए हैं। अत एव एकदम ५२ वर्ष कम हो जाने के कारण बलमित्र आदि का समय असङ्गत-सा हो गया है। हमने मौर्य राज्य' के १६० वर्ष मान कर इस पद्धति में जो संशोधन[८४] किया है, उसके अनुसार कालकाचार्य और बलमित्र

---

[८२] डा० जयस्वाल, **प्रॉब्लेम्स ऑफ शक-सातवाहन हिस्टरी,** जर्नल ऑफ बिहार अॅन्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी, वॉ० १६ (ई० स० १९३०), पृ० २३४.

[८३] वही, पृ० २३४ से आगे.

[८४] इसके लिए देखो, मुनिश्री कल्याणविजयजी कृत **वीरनिर्वाण-सम्वत् और जैन-कालगणना.**

के समय में कुछ विरोध नहीं रह जाता।"[८५] मुनिश्री की यह समीक्षा तो शङ्का को बढ़ाती है कि गर्दभिल्लोच्छेद की घटना वीरात् ४५३ में मानना शुरू हुआ तब से कालगणना में गड़बड़ हो गई। डा० ब्राउन दूसरे कालक के बारे में लिखते हैं—

> "Most versions make him the disciple of Guṇākara (= the sthavira Guṇasundara), but this must be an error; for on chronalogical grounds it must have been Kālaka I who was Guṇākara's disciple."[८६]

इससे तो यह मानना ज्यादा उचित है कि कथानकों से प्रथम कालक ही उद्दिष्ट हैं। डा. ब्राउन आगे लिखते हैं—

> "The Kalpadruma and Samayasundara add an alternative tradition stating that Kālaka II was the maternal uncle of the kings Balamitra and Bhānumitra of Jain tradition, thus agreeing with a few versions of the Kālakāryakathā, although most of them identify the Kālaka who was the uncle of those kings with the Kālaka who changed the date of the Paryūṣaṇā....The year of Kālaka II is by all authorities said to be 453 of the Vīra era, in which year it is specifically stated in a stanza appended to three Mss. of Dharmaprabha's version that he took Sarasvatī. Possibly the statement is slightly inaccurate and the date refers to his accession to the position of *sūri*, just as in other stanzas appended to Mss. of the same version the year 335, which is the date of accession to the position of *sūri*, is mentioned as that of Kālaka I. Dharmasāgaragaṇin assigns the deeds of Kālaka II to Kālaka I."[८७]

पहले ही हम कह चुके हैं कि कथानकों में कालक का वर्ष नहीं बतलाया गया, किसी भाष्य या चूर्णि में भी नहीं। बलमित्र-भानुमित्र और पर्यूषणातिथि के बारे में भी पहले समीक्षा की गई है। धर्मप्रभ की रचना सं० १३६८ में हुई, मूल रचना में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक वीरात् ४५३ में हुए ऐसा नहीं है। मूल में तो— ".अह ते सग त्ति खाया, तव्वंसं छंदिऊण पुण काले। जाओ विक्कमराओ, पुहवी जेणूरणी विहिया ॥ ३१ ॥"—इतना ही होने से विक्रम और कालक के बीच का समयान्तर अस्पष्ट है। डा० ब्राउन की तृतीय कालक की कल्पना ठीक नहीं है, मुनिश्री कल्याणविजयजी ने तृतीय कालक के विषय में ठीक ही समीक्षा की है। विस्तारभय से हम उस चर्चा को छोड़ देते हैं।

अब कथानकों को छोड़ कर पट्टावली आदि को देखें तो कल्पसूत्र स्थविरावली में दो कालक का कोई उल्लेख नहीं; और न इसमें किसी स्थविर के वर्ष आदि बताये गये। नन्दी-स्थविरावली जिसके प्राचीन होने में शङ्का नहीं है उसमें गर्दभिल्लोच्छेदक अन्य कालक का कोई उल्लेख नहीं है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसङ्घ स्तोत्र में 'गुणसुंदर, सामज्ज, खंदिलायरिय' का उल्लेख है किन्तु गाथा १३ में आर्य वज्रसेन,

---

[८५] मुनिश्री कल्याणविजय, "आर्य-कालक," **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,** पृ० ११७. मुनिश्री के इस कथनानुसार, नि० सं० ४५३ में गर्दभिल्ल को हटा कर, (ई० स० पू० ७४ में) शकराजा उज्जयिनी की गादी पर बैठा। और चार वर्ष के बाद नि० सं० ४५७ में (ई० स० पू० ७० में) बलमित्र ने उसको हटा कर उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमाया। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य का अन्त नि० सं० ४६५ (ई० स० पू० ६२) में हुआ।—**वही,** पृ० ११७ पादनोंध, १.

[८६] **ध स्टोरी ऑफ कालक,** पृ० ६.

[८७] ब्राउन, **वही,** पृ० ६, पृ० ७–१२.

नागहस्ति, रेवतिमित्र, सिंह और नागार्जुन के बाद भूतिदिन्न और उनके बाद जिस 'कालक' का उल्लेख है वह कालक गर्दभिल्लोच्छेदक हो नहीं सकते क्यों कि द्वितीयोदयुगप्रधान-यन्त्र (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ० २३–२४) देखने से मालूम होगा कि इस कालक का समय (आर्य वज्र के शिष्य) वज्रसेन से ३६३ वर्ष के बाद होता है जो ईसा की तृतीय शताब्दि के बाद होगा। धर्मसागरगणि की तपागच्छ-पट्टावली (पट्टावली-समुचय, भाग १, पृ० ४१–७७) में श्यामार्य वीरात् ३७६ में स्वर्गवासी हुए और उनके शिष्य जितमर्यादाकृत् सांडिल्य थे ऐसा लिखा है। आगे इन्द्रदिन्नसूरि के बाद, वीरात् ४५३ वर्ष में गर्दभिल्लोच्छेदक कालकसूरि का उल्लेख है। इस पट्टावली का रचनाकाल वि० स० १६४६ है। किन्तु यह तो बहुत पीछे की पट्टावली है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसङ्घस्तोत्र तो विक्रम की तेरहवीं शताब्दि का है। उस स्तोत्र की अवचूरि का समय निश्चित नहीं है। इस अवचूरि में निम्नलिखित विधान है—

×××× मोरिअरज्जं १०८ तत्र-महागिरि ३० सुहस्ति ४६ गुणसुन्दर ३२, ऊनवर्षाणि १२॥ ×××× एवं (वीरनिर्वाणात् वर्षाणि ३२३॥

राजा पुष्यमित्र ३० बलमित्र-भानुमित्र ६० (तत्र)—गुणसुन्दरस्येव शेष वर्षाणि १२ कालिके ४ (४१) खंदिल ३८॥ एवं वर्षाणि ४१३॥

राजा नरवाहन ४० गर्दभिल्ल १३ शाक ४ (तत्र)—रेवतिमित्र ३६ आर्यमङ्गुधर्माचार्य २०॥ एवं वर्षाणि ४७०॥

अत्रान्तरे-बहुल सिरिव्वय स्वामि (स्वाति) हारित श्यामाऽऽर्य शाण्डिल्य आर्य आर्यसमुद्रादयो भविष्यन्ति।

तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ होही।
छत्तीसगुणोवेओ, गुणसयकलिओ पहाजुत्तो॥ १॥

वीरनिर्वाणात् ४५३ भरुअच्छे खपुटाचार्याः वृद्धवादी पंचकल्पविच्छेदो जीतकल्पोद्धारः......॥

धर्माचार्यस्येव शेषवर्षाणि २४ भद्रगुप्त ३९ श्रीगुप्त १५ वज्रस्वामी ३६। एवं सर्वाङ्क ५८४॥ गर्दभिल्लनिवसुत विक्रमादित्य ६० धर्मादित्य ४० भाइल्ल ११॥ एवं ५८१॥ (पट्टावली-समुच्चय, १, पृ० १७).

इस अवचूरि अन्तर्गत गाथा में यह स्पष्ट नहीं है कि वीरात् ४५३ में (गर्दभिल्लोच्छेदक) द्वितीय कालक हुए। किन्तु विचारश्रेणि की गणनासे मिलती इस (अवचूरि की) नृपकालगणना से गर्दभिल्ल का समय वीरात् ४५३ होता है। मगर नृपकालगणना शङ्का से पर नहीं है, विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र कहने के लिए कोई कालककथानक का या चूर्णि या भाष्य का प्रमाण उपलब्ध नहीं। और ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेद करने वाले कालक के समय में बलमित्र-भानुमित्र हो नहीं सकते। फिर बलमित्र-भानुमित्र के बाद गर्दभिल्ल के १३ वर्ष गिनना और गर्दभिल्लों के १०० या १५२ वर्ष का मेल प्राप्त करने के लिए विक्रमादित्य, धर्मादित्य, भाइल्ल और नाइल्ल को गर्दभिल्लवंश के मानना ये सब बातें अभी शङ्कायुक्त ही हैं। खुद मेरुतुङ्ग को भी दो बलमित्र-भानुमित्र होने का विचित्र अनुमान खींचना पड़ा।[८८] आर्य खपुट का कार्यप्रदेश भरोच था, काल्काचार्य का भी भृगुकच्छ से सम्बन्ध है। मगर दोनों समकालीन थे (वीरात् ४५३) ऐसा जैन-

---

[८८] मेरुतुङ्ग लिखते हैं—"बलमित्रभानुभित्रौ राजानौ ६० वर्षाणि राज्यमकार्ष्टाम्। यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकर्तृकालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्यां बलमित्रभानुमित्रौ तावन्यावेव।" इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी के विवेचन के लिए देखो, **वीरनिर्वाण संवत्०**, पृ० ५६–५७ और पादनोंध, जिसमें तित्थोगाली पइन्नय के नाम से कैसी गाथायें पीछे के ग्रन्थों में घुस गई हैं इसका मुनिजी ने अच्छा विवेचन किया है।

ग्रन्थकारों का (मध्यकालीन पट्टावलियों के अलावा) कहीं भी उल्लेख नहीं। मौर्यों के १०८ वर्ष की हकीकत भी मान्य नहीं हो सकती। डा० जयस्वालजी के कथनानुसार अगर मौर्यों के शेष वर्ष रासभों में बढ़ा कर किसी तरह वीरात् ४७० में विक्रम का हिसाब जोड़ा गया तब यह स्पष्ट है कि इन पट्टावलियों की नृप-कालगणना शङ्कारहित नहीं है, इनमें और भी गलती हो सकती है। इस गड़बड़ का कारण यह है कि प्रथम शकराज्य के बाद कितने वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य हुआ यह स्पष्ट मालूम न होने से विक्रम और कालक को नज़दीक लाने की प्रवृत्ति हुई। एक से ज्यादा कालक नामक आचार्य हुए होंगे किन्तु घटनाओं के नायक तो प्रथम कालक ही हैं जो कि अन्य तर्कों से पहले ही हमने देख लिया है।

मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से बलमित्र ही विक्रमादित्य है। और उनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक द्वितीय कालक वीरात् ४५३ में हुए। मगर बलमित्र यदि विक्रमादित्य है तब वह गर्दभिल्ल का पुत्र नहीं हो सकता। और मेरुतुङ्ग या उपरोक्त अवचूरि के बयान तब व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

वीरात् ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक होने के सब आधार मध्यकालीन उन्ही परम्पराओं के हैं जिनमें कालगणना की ऐसी गड़बड़ी है। कालककथानक तो गर्दभिल्लोच्छेदक कालक के गुरु गुणसुन्दर या गुणाकर को ही बताते हैं। वह कालक श्यामार्य ही हैं जिन्होंने प्रज्ञापनासूत्र बनाया। उपलब्ध प्रज्ञापना अगर मूल प्रज्ञापना नहीं हो, तो भी उस में मूल का संस्करण और मूल के कई अंश ज़रूर होंगे। यही प्रज्ञापना सूत्र उसके लेखक का देशदेशान्तर के लोगों का ज्ञान, भिन्न भिन्न लिपियों का ज्ञान आदि साक्षी देता है जो गर्दभिल्लोच्छेदक और सुवर्णभूमि में जानेवाले कालक में हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के विषय ही उनके कर्ता निगोद-व्याख्याता होने का सूचन करते हैं।

विचारश्रेणि में स्थविरों के पट्टप्रतिष्ठाकाल बतानेवाली गाथायें दी हैं। वही मुनिश्री कल्याणविजयजी से उद्दिष्ट "स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली" है जिसकी हस्तप्रत मुनिश्री ने देखी है। वह हस्तप्रत या वह रचना विचारश्रेणि से कितनी प्राचीन है यह किसी को मालूम नहीं। विचारश्रेणि-अन्तर्गत गाथायें भी मेरुतुङ्ग से कितनी प्राचीन हैं यह कहना मुश्किल है। इस स्थविरावली की गाथाओं (पहले हम दे चूके हैं) में "रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमङ्गु अ वीस एवं तु। **चउसय सत्तरि, चउसयतिपन्ने कालगो जाओ॥** चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।" इत्यादि में पट्टधरों की वीरात् ४७० तक की परम्परा बताने के बाद ४५३ में कालक हुए ऐसा विधान है। पर इससे तो यह सूचित होता है कि ये द्वितीय कालक युगप्रधान नहीं हैं और न उनके आगे युगप्रधानपट्टधर (या गुरु) ग्रन्थकर्ता को मालूम हैं। इन गाथाओं में अगर कालक भी युगप्रधानपट्टधर हैं तब एक साथ ऐसे दो आचार्य युगप्रधानपट्टधर हो जाते हैं जैसा कि इस स्थविरावली का ध्वनि नहीं है। अतः यह सम्भवित है कि "चउसय तिपन्ने कालगो जाओ" यह बात प्राचीन युगप्रधानपट्टावलिओं में पीछे से बढ़ाई गई है। प्रथम शकराज्य के बारे में वास्तविक वर्षगणना बाद के लेखकों को दुर्लभ होने से और किसी तरह विक्रम के समय के नज़दीक ही कालक को और प्रथम शकराज्य को लाने के खयाल से यह वीरात् ४५३ में कालक के होने की कल्पना घुस गई होगी। उपलब्ध सब पट्टावलियों में प्राचीन हैं कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ, मगर इनमें वीरात् ४५३ में रख सकें ऐसा कोई कालक का उल्लेख नहीं है। पट्टावली-समुच्चय, भाग १ में दी हुई सब अन्य पट्टावलियाँ विक्रम की तेरहवीं सदी या उसके बाद की हैं। डा० क्लाट की पट्टावलियाँ भी वि० सं० की १६ वीं शताब्दि के बाद की हैं।[८९]

---

[८९] देखो, क्लाट महाशय का लेख, इन्डिअन एन्टिक्वेरि, वॉ० ११, पृ० २४५ से आगे. डा० याकोबी, डा० लॉयमान आदि के पट्टावली-विषयक लेखों की सूचि के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक**, पृ० ५ पादनोंध २३.

कालक विषय के पहले विभाग के (चूर्णिभाष्य आदि के) सर्व सन्दर्भों से हम सिद्ध कर चुके हैं कि सभी घटनायें एक-कालक-परक हैं और वह हैं आर्य श्याम। उनके बाद आर्य शाण्डिल्य और शाण्डिल्य के बाद हुए आर्य समुद्र। सभी थेरावलियों और पट्टावलियों में इन्ही आर्य समुद्र के अलावा किसी आचार्य के लिए "तिसमुद्दखायकित्तिं दीवसमुद्देसु गहिय पेयालं" जैसे शब्दप्रयोग नहीं हुए। अतः यही आर्य समुद्र सुवर्णभूमि जाने वाले सागर श्रमण हैं। और सुवर्णभूमि जानेवाले और गर्दभराजोच्छेदक आर्य कालक एक हैं यह तो मुनिश्री कल्याणविजयजी को स्वीकृत है। अतः वह कालक श्यामार्य ही हैं।

प्राचीन जैन परम्परानुसार वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ में माना जाय, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १९२ से १५१; और डा० याकोबी आदि पण्डितों के मतानुसार निर्वाण ई० स० पू० ४६७ में मानें, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक। इसी समय में भारत में शकों का प्रथम आगमन हुआ। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए लेखों और मथुरा के अन्य कतिपय लेखों के अध्ययन से यह तो सर्व पण्डितों को स्वीकार्य है कि दो तरह के शक सम्वत् चले थे: एक Old Śaka era = प्राचीन (मूल) शक सं० और दूसरा चालू (ई० स० ७८ में शुरू हुआ वह) शक सम्वत्। प्राचीन शक सम्वत् के प्रथम वर्ष के बारे में भिन्न भिन्न मत हैं। इन सब की समीक्षा डा० लोहुइझेन-द-ल्यु ने अपने ग्रन्थ 'ध सिथिअन पिरिअड़' में की है। डा० लोहुइझेन-द-ल्यु के मत से प्रथम शक सं० ई० स० पू० १२९ में शुरू हुआ, प्रो० रॅप्सन के खयाल से ई० स० पू० १५० में, प्रो० टार्न के मत से ई० स० पू० १५५ में, डा० जयस्वाल के मत से ई० स० पू० १२० में। इस तरह भिन्न भिन्न मत हैं किन्तु डा० लोहुइझेन-द-ल्यु और जयस्वाल के मत वास्तविक हकीकत से ज्यादा नज़दीक हैं। इन सब मतों की चर्चा श्री० एम० एन० सहा ने जर्नल ऑफ ध एशिआटिक सोसाइटि (बेन्गाल), लेटर्स, वॉ. १९, (ई०स० १९५३), अङ्क १, पृ० १–२४ में की है और वहाँ बताया है कि प्रथम शक सम्वत् ई० स० पू० १२३ में हुआ होगा। यह समय शकों और यू-ची की बक्त्रिया में पार्थिअनों पर के विजय का है। इसके बाद थोड़े ही समय में मिथ्रदात दूसरा (Mithradates II) नामक पार्थिअन राजा ने शकों को फिर भगाये।[९०] यही समय है जब शक भारत की ओर आये।

इससे हमारे खयाल में श्यामार्य का समय ई० स० पूर्व १३२ से ई० स० पूर्व ९१ तक मानना ज्यादा उचित है। ई० स० पूर्व ५८ में विक्रम संवत् (मालव सं०) चला उस समय कालकाचार्य जीवित थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः कालक के समय का ई० स० पू० ९१ के बाद ही होना आवश्यक नहीं।

कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, उनका समय ऊपर के दो समय में से एक है, इसी समय गर्दभ का उच्छेद हुआ, इसी समय में कालक सुवर्णभूमि में गये। अन्य कालकाचार्य हुए होंगे[९१] किन्तु वे सब कथानकों की घटनाओं के नायक नहीं हैं इतना निश्चित है। अब भारतीय इतिहास के पण्डितों से प्रार्थना है कि गर्दभ, गर्द्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि के कूट प्रश्नों के निराकरण ढूँढने के पुनः प्रयत्न करें।

---

[९०] देखो, डा० लोहुइझेन-द-ल्यु, डा० एम० एन० सहा आदि के लेख, ग्रंथ और, डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय कृत, **ध शकझ इन इन्डिआ** (विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९५५), पृ० ६. प्रो० राप्सन लिखते हैं—
It was in his reign that the struggle between the kings of Parthia and their Scythian subjects in Eastern Iran was brought to a close and the suzerainty of Parthia over ruling powers of Seisthan and Kandahar confirmed (Cambridge Hist. of India, Vol. I. p. 567).

[९१] देखो, **वीर निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना** पृ० १२५ से पृ० १२८ पर पादनोंध में दी हुई देवर्द्धि गणिक्षमाश्रमण की गुर्वावली, और वालभी युगप्रधान पट्टावली। वालभी पट्टावली के नं० २७ वाले कालकाचार्य के अन्तिम वर्ष निर्वाण सम्वत् ९९३ में वलभी में पुस्तकोद्धार हुआ।

परिशिष्ट १

दत्तराजा और आर्यकालक

दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण करनेवाली घटना (घटना नं. १) का उल्लेख आवश्यकचूर्णि के अतिरिक्त 'आवश्यक निर्युक्ति' में दो स्थानों में है।[९२] मुनिश्री कल्याणविजयजी के खयाल के अनुसार इस घटना का सम्बन्ध सम्भवतः प्रथम कालकाचार्य से है।[९३] 'आवश्यक-निर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) में उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टान्तों में तीसरा दृष्टान्त आर्यकालक का है जिन का वर्णन आव० चूर्णि में इस प्रकार मिलता है। "तुरुविणी नगरी में 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा का एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ी और मदिरा-प्रसङ्गी था। वह राजसेवा करते करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अन्त में उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यों को फोड़कर उसने राजा को कैद किया और स्वयं राजा बन बैठा। उसने बहुत से यज्ञ किये। एक बार वह अपने 'मामा' कालक के पास जाकर बोला कि मैं धर्म सुनना चाहता हूँ; कहिए यज्ञों का फल क्या है? कालक ने उसको धर्म का स्वरूप, अधर्म का फल और अशुभ कर्मों के उदय को समझाया और पूछने पर कहा कि यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने इस का प्रमाण पूछा तो कालक ने बताया कि "आज से सातवें दिन तू कुंभी में पकता हुआ कुत्तों से नोचा जायगा।" दत्त ने कालक को कैद किया मगर ठीक वैसा ही हुआ जैसा भविष्य कथन आर्य कालक ने किया था।

ग्रन्थकार लिखते हैं—"इस प्रकार सत्य बचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।" इस कथानक का संक्षिप्त सार 'आवश्यक निर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा में भी सूचित किया है—

> दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफलं कालगो तुरुमिणीए।
> समयाए आहिएणं संमं वुइयं भयं तेणं ॥ ८७१ ॥

मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं कि "जब तक चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवीं घटना का सम्बन्ध पहले कालक से मान लेना कुछ भी अनुचित नहीं है।"

परिशिष्ट २

घटना नं. ५—गर्दभ-राजा का उच्छेद

गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना[९४] के साथ दो स्थलों का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। निशीथचूर्णि में पारसकूल का उल्लेख है। वहाँ से साहिराजा और उनके साथ दूसरे ९५ साहियों को लेकर आर्य कालक "हिन्दुक-देश" को आते हैं। इस प्रकार ये ९५ या ९६ साहि (शक-कुलों) समुद्रमार्ग से सौराष्ट्र में आये।

---

[९२] द्वि० अभि० ग्रं० पृ० ९७.

[९३] वही पृ० ११४–१५.

[९४] निशीथचूर्णिगत इस घटना के बयान के लिये देखो, **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ९८–९९.

इन स्थलों के बारे में कथाओं में कुछ गड़बड़ हुई है जिसकी मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अच्छी तरह छानबिन की है। आप लिखते हैं—

"प्राकृत कालक कथा में 'पारसकूल' की जगह 'शककूल' नाम मिलता है। प्रभावकचरित्रान्तर्गत कालक-प्रबन्ध में इस स्थान का नाम 'शाखिदेश' लिखा है। कल्पसूत्रमूल के साथ छपी हुई संस्कृत 'कालक-कथा' में इस स्थान को 'सिंधु नदी का पश्चिम पार्श्वकूल' लिखा है। फिर 'हिमवन्तथेरावली' में इस स्थल का नाम सिंधु देश कहा है। इन भिन्न-भिन्न नामों में हमारी संमति में 'पारसकूल' नाम ही सही है, जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि' में है।[९५] ××× पारस-कूल का अर्थ फारस का किनारा होगा। ×× क्यों कि वहाँ के निवासी लोग शकजाति के हैं, अतः उस प्रदेश का 'शककूल' नाम भी संगत है। ××××× कालक कथाओं में सिंधु नदी पार होकर सौराष्ट्र में कालकाचार्य के आने का उल्लेख है, पर यह भ्रान्तिशून्य नहीं है; क्योंकि सिंधु नदी पार करके पंजाब अथवा सिंध में जा सकते हैं, सौराष्ट्र में नहीं। परंतु यह बात तो सभी लेखक एक-स्वर से स्वीकार करते हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र में ही उतरे थे। यदि वे साहियों के साथ सिंधु नदी पार कर हिन्दुस्थान में आये होते, तो सौराष्ट्र में किसी प्रकार न उतर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिंधु-नदी नहीं, बल्कि सिंधु-समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र में उतरे थे। 'निशीथचूर्णि' में तो सौराष्ट्र में ही उतरने का उल्लेख है, वहाँ सिंधु नदी का नामोल्लेख नहीं है। संभव है, सिंधु के साथ नदी शब्द पीछे से जुड़ा गया है।"[९६]

मुनिजी की यह समीक्षा महत्त्व की है। इससे कालक का समुद्रयान-ज़हाज़यान सिद्ध होता है। अगर यह बात सही है तब तो कालक के सुवर्णभूमिगमन (हिंदी-चीन आदि देशों में गमन) के वृत्तान्त में पुराने खयाल के जैन श्रावकवर्ग और साधुगण को भी शङ्का न होनी चाहिये। कालकाचार्य सुवर्णभूमि में खुश्की रास्ते से ही गये होंगे। किसी को शङ्का हो सकती है कि वे दुर्गम खुश्की रास्ते से नहीं जा सकते और ज़हाज़ी रास्ते से साधु जाते नहीं, किन्तु कालकाचार्य के विषय में यह शङ्का भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि आर्य कालक शकों के साथ ज़हाज़ी रास्ते से आये होंगे ऐसा मुनिजी का मत है। वह मत ठीक लगता है। फिर अनाम के ग्रन्थ में जो लिखा है कि कालाचार्य अनाम से ज़हाज़-यान से टोन्किन (दक्षिण चीन) में गये थे यह विधान भी अशक्य नहीं लगेगा।

परिशिष्ट ३

रत्नसञ्चय प्रकरण की गाथाओं पर मुनिश्री कल्याणविजयजी

मुनिश्री कल्याणविजयजी इन गाथाओं के बारे में लिखते हैं—"जहाँ तक हमने देखा है श्यामार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ताकाल सर्वत्र निर्वाण सं. २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गवास ऐसा लिखा है। इनका सम्पूर्ण आयुष्य ९६ वर्ष का था। ये 'प्रज्ञापनाकार' और 'निगोदव्याख्याता' नामों से भी प्रसिद्ध थे। इन सब बातों का विचार करने के बाद यह कहना लेश भी अनुचित न होगा कि उक्त 'प्रकरण' की गाथा में जो प्रथम कालकाचार्य का निरूपण किया गया है, वास्तव में वही सत्य है।"

---

[९५] उन के ख्याल से पारसकुल नहीं किन्तु पारसकूल शब्द होना चाहिये, देखो वही, पृ० ११०, पादनोंध, १, २, ३.

[९६] वही, पृ. ११०.

Ganesh Varni Digambar Jajn Institute, Naria, Varanasi

दूसरे कालक का समय—गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य का समय—निर्वाण सं० ४५३ है, और इन दूसरे कालक की हस्ति को मुनिश्री ठीक मानते हैं। आगे आप लिखते हैं—"तीसरे कालकाचार्य के सम्बन्ध में हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण सं० ७२० में कालकाचार्य के अस्तित्व-साधक इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा में इन कालकाचार्य को 'शक्रसंस्तुत' कहै हैं, जो सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद–व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

"चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्यूषणा-कर्ता लिखते हैं, जो ठीक नहीं। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान पट्टावली' के लेखानुसार इस समय में भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण सं० ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे, पर इनसे चतुर्थी पर्यूषणा होने का उल्लेख सर्वथा असङ्गत है।" [९७]

इस चतुर्थ कालक के विषय में मुनिजी आगे लिखते हैं—"वर्धमान से ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरिद्वारा पर्यूषणा चतुर्थी की स्थापना हुई ऐसी एक प्राकरणिक गाथा है जो तित्थोगाली पइन्नय से ली गई है ऐसा संदेहविषौषधि ग्रन्थ के कर्ता का उल्लेख है। मगर वह ठीक नहीं; और उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपनी कल्पकिरणावली में भी बताया है कि यद्यपि यह गाथा धर्मघोषसूरिरचित कालसत्तति में देखने में आती है तथापि तीर्थोद्गार प्रकीर्णक में यह गाथा देखने में नहीं आती[९८]." आगे मुनिश्री ने बताया है कि बारहवीं सदी में चतुर्थी की फिर पञ्चमी करने की प्रथा हुई तब चतुर्थी पर्यूषणा को अर्वाचीन ठहराने के खयाल से किसीने यह गाथा रची।[९९]

इन सब बातों से यह स्पष्ट होना चाहिये कि एक से ज्यादा कालक की परम्परायें शङ्कारहित हैं ही नहीं। एक नाम के अनेक आचार्य हुए इससे, और ज्यों ज्यों घटनाओं की हकीकत प्रथम कालक के साथ जोड़ने में शङ्का हुई त्यों त्यों या ज्यों ज्यों विक्रम और शक और तत्कालीन नृपविषयक ऐतिहासिक हकीकत विस्मृत होने लगी और परम्परायें विच्छिन्न होती गईं, त्यों त्यों ये मध्यकालीन ग्रन्थकार व्यामोह में पड़ते गये और घटनाओं को भिन्न भिन्न कालक के साथ जोड़ते गये। तिथि के निर्णय में या श्रुत का पुनःसंग्रह करने में जिन्हों ने बार बार कुछ हिस्सा लिया उनको कालकाचार्य का बिरुद मिला हो ऐसा भी हो सकता है। ये बातें विशेष अनुसन्धान के योग्य हैं।

मुनिजी ने एक और गाथा की समीक्षा है जिसका भी उल्लेख करना चाहिये। आप लिखते हैं—

"उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त कालकाचार्य विषयक एक और गाथा मेरुतुङ्ग की 'विचार-श्रेणि' के परिशिष्ट में लिखी मिलती है, जिसमें निर्वाण सम्वत् ३२० में कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा[१००] का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेन्द्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होंने इन्द्र को प्रतिबोध दिया।" इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है पर ऐसा करने की

---

[९७] मुनिश्री कल्याणविजय, **आर्य कालक**, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६–९७.

[९८] **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११८–११९.

[९९] **वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना**, पृ० ५६–५८ की पादनोंध.

[१००] गाथा इस तरह है —
सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अइयाओ।

कोई आवश्यकता नहीं है। शक्रप्रतिबोध के निर्देश से ही यह स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त वे ही हैं जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों में किया गया है।"[१०१] जब इन्द्रप्रतिबोधक निगोद-व्याख्याता प्रथम कालक ही हैं तब उत्तराध्ययन-निर्युक्तिगाथा के आधार से सुवर्णभूमि को गये होंगे यह भी मानना चाहिये।

परिशिष्ट ४

निमित्तशास्त्रज्ञ आर्य कालक

निशीथ चूर्णि, उद्देश १, पृ० ७० में निम्नलिखित उल्लेख है—"इदाणिं विज्जत्ति अस्य व्याख्या विज्जट्ठा उभयं सेवेत्ति। उभयं णाम पासत्थ गिहत्था ते विज्जमंतजोगादिणिमित्तं सेवेत्यर्थः।" इस तरह विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये ऐसी प्राचीन शास्त्रकार की अनुज्ञा का उपयोग कालकाचार्य के जीवन में देखने में आता है। निमित्त ज्ञान इन्होंने आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया। इस घटना का स्फोट करनेवाला पञ्चकल्पचूर्णिगत उल्लेख हम पहले दे चुके हैं। कालकाचार्य ने जो ग्रन्थ बनाये उनका उल्लेख पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि में इसी घटना के साथ ही मिलता है और हम इस को देख चुके हैं।

मुनिश्री कल्याणविजयजी इस विषय में कुछ और साक्षी भी देते हैं। आप लिखते हैं—"पाटन के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार में, ताड़पत्र पर लिखे हुए एक प्रकरण (लगभग चौदहवीं सदी में लिखे हुए इस प्रकरण का नाम मालूम नहीं हुआ) में, हमने एक प्राकृत गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है—कालकसूरि ने प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव, आदि के चरित्र और उनके पूर्वभवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्तशास्त्र की रचना की। ××× भोजसागरगणि नामक जैन विद्वान् ने संस्कृतभाषा में रमल-विद्या-विषयक एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्हों ने लिखा है कि पहले-पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन-देश से यहाँ लाई गई थी। किन्तु रमल-विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों; पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष-विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि-पथिक समझते थे।"[१०२]

मुनिजी लिखते हैं—"आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रांतिकारी पुरुष भी थे। विद्वत्ता के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उस से कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है। ×× आर्य कालक का प्रत्येक जीवन-प्रसङ्ग साधुस्थिति के सामान्य जीवन-लक्षण से कुछ आगे बढ़ा हुआ है।"[१०३]

कालक के जीवन की घटनाओं में जो दो तत्त्व सर्वसाधारण हैं, वे सब घटनाओं में हैं—एक इनका निमित्तज्ञान और दूसरा उनका क्रान्तिकारी, साहसिक नीडर जीवन।

---

[१०१] द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६-९७.

[१०२] द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १०५.

[१०३] वही, पृ० १०५.

परिशिष्ट ५.

उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के संदर्भ

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवएणभूमीए।
इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च॥ १२०॥

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, २ अध्ययन

'उज्जेणी कालखमणा' गाथा (११६-१२७) उज्जेणीए अज्जकालगा आयरिया बहुस्सुया, तेसिं सीसो न कोइ नाम इच्छइ पढिउं, तस्स सीसस्स सीसो बहुस्सुओ सागरखमणो नाम सुवन्नभूमीए गच्छेण विहरइ, पच्छा आयरिया पलायितुं तत्थ गता सुवएणभूमीं, सो य सागरखमणो अणुयोगं कहयति पण्णापरिसहं न सहति, भणंति-खंता! गतं एयं तुब्भ सुयक्खंधं जावोकधिज्जतु, तेण भण्णति—गतंति, तो सुण, सो सुणावेउं पयत्तो, ते य सिज्जायरणिब्बंधे कहिते तस्सिसा सुवन्नभूमिं जतो वलिता, लोगो पुच्छति तं वृंदं गच्छंतं—को एस आयरिओ गच्छति? तेण भण्णति—कालगायरिया, तं जणपरंपरेण फुसंतं कोड्डुं सागरखमणस्स संपत्तं, जहा—कालगायरिया आगच्छंति, सागरखमणो भणति—खंत! सच्चं मम पितामहो आगच्छति? तेण भण्णति—मयावि सुतं, आगया साधुणो, सो अब्भुट्ठितो, सो तेहिं साधूहिं भएणति—खमासमणा केई इहागता? पच्छा सो संकितो भणति—खंतो एक्को परं आगतो, ण तु जाणामि खमासमणा, पच्छा सो खामेति, भणति—मिच्छामि दुक्कडं जंएत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति—खमासमणा! केरिसं अहं वक्खाणेमि? खमासमणेण भण्णति—लट्ठं, किंतु मा गव्वं करेहि को जाणति कस्स को आगमोत्ति, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिलपिंडएण य आहरणं करेंति, ण तहा कायत्वं जहा सागरखमणेण कतं, ताण अज्जकालगाण समीवं सक्को आगंतु निगोयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाणं तथैव जाव सादिव्वकरणं च।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, (ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम, ई० स० १६३३), पृ० ८३-८४

और देखिये, श्रीशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १२७-१२८।

परिशिष्ट ६

व्यवहारभाष्य और चूर्णि के संदर्भ

भाष्यगाथा—

पुरिसज्जाया चउरो वि भासियव्वा उ आणुपुव्वीए।
अत्थकरे माणकरे उभयकरे नोभयकरे य॥ ३॥
पढमतइया एत्थं तु सफला निप्फला दुवे इयरे।
दिट्ठंतो सगतेणा सेवता अन्नेरायाणं॥ ४॥
उज्जेणी सगरायं नीयागव्वा न सुट्ठु सेवेंति।
वित्तियदाणं चोज्जं निवेसया अएणनिवे सेवा॥ ५॥
धावयपुरतो तह मग्गतो या सेवइ य आसणं नीयं।
भूमियंपि य निसीयइ इंगियकारी उ पढमो उ॥ ६॥
चिक्खेल अन्नया पुरतो उगतो से एगो नवरि सव्वतो।
तुट्ठेण तहा रन्ना विती उ सुपुक्खला दिन्ना॥ ७॥

त्रितिओ न करे अट्ठं माणं च करेइ जाइकुलमाणी।
न निवसति भूमीए य न धावति तस्स पुरतो उ ॥ ८ ॥
सेवति ट्ठितो वि दिण्णेवि आसणे पेसितो कुणइ अट्ठं।
बिइओ भयकरो तइउ जुज्झइ य रणे सभामट्ठो ॥ ९ ॥
उभय निसेहो चऊत्थे वेइय चउत्थेहिं तत्थ न उ लद्धा।
विती इयरेहिं लद्धा दिट्ठं तस्सुवणतो उ ॥ १० ॥

—सभाष्य व्यवहारसूत्र, ४ प्रकृत, गाथा ३-१०, पृ० ९४-९५.

यहाँ भाष्यगाथा ५–७ की मलयगिरिकृत टीका देखिये—

"यदा कालिकाचार्येण शका आनीतास्तदा उज्जयिन्यां नगर्यां शको राजा जातः। तस्य निजकात्मीया एकेऽस्माकं जात्या सदृश इति गर्वात्तं न सुष्ठु सेवन्ते। ततो राजा तेषां वृत्तिं नादात्। अवृत्तिकाश्च ते चौर्यं कर्तुं प्रवृत्ताः। ततो राज्ञा बहुभिर्जनैर्विज्ञप्तेन निर्विषयाः कृताः ततस्तैर्देशान्तरं गत्वा अन्यस्य नृपस्य सेवा कर्तुमारब्धा। तत्रैकः पुरुषो राज्ञो गच्छत आगच्छतश्च पुरतो धावति तथा मार्गतश्च कदाचिद् धावति राज्ञश्च ऊर्ध्वस्थितस्योपविष्टस्य वा पुरतः स्थितः सेवते यद्यपि चोपविष्टः सन् (तं) राजानमनुजानाति तथापि स नीचमासनमाश्रयते। कदाचिच्च राज्ञः पुरतो भूमावपि निषीदति राज्ञश्चेङ्गितं ज्ञात्वाऽनाज्ञप्तोपि विवक्षितप्रयोजनकारी अन्यदा च राजा पानीयस्य कर्दमस्य मध्येन धावितः शेषश्च भूयान्लोको निःकर्दमप्रदेशेन गन्तुं प्रवृत्तः स पुनः शकपुरुषोऽश्वस्याग्रतः पानीयेन कर्दमेन च सेव्यमान एकः स तस्य पुरतो धावति ततस्तस्य राज्ञा तुष्टेन सुपुष्कला अतिप्रभूता वृत्तिर्दत्ता।" (व्यवहारभाष्य, उ० १०, पृ० ९४–९५).

इन गाथाओं के विषय में चूर्णि भी देखनी चाहिये।—

"उज्जेणी गांहाओ। यदा अज्जकालएण सका आणीता सो सगराया उज्जेणीए रायहाणीए तस्स संगणिज्जगा अह्मं जातीए सरिसोत्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवन्ति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता। ते अण्णं रायं ओलग्गएण ट्ठाए उवगता। तत्थेगो पुरिसो रण्णो अतिंतणतस्स पुरओ धावति। अणया पाणिएयं चिक्खल्लं च मज्झेण पधावितो। अण्णो बहुजणो सुक्केण गतो। सो सगपुरुसो आसस्स अज्जणितो पाणिएण चिक्खलेण य आसुट्ठुएण सिव्वंतोवि पुरओ धावति। राया तुट्ठो......।" (व्यवहारचूर्णि, हस्तलिखित प्रति, नं० १५८४, मुनिराज श्रीहंसविजय शास्त्रसंग्रह, बडोदा, पत्र २२१ अ).

परिशिष्ट ७

अनिलसुत यव-राजा, गर्दभ और अडोलिया

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं।
किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया ॥ ११५४ ॥

सौम्य! मैवमसद्ग्राहं गृहाण, गृहाण सूक्ष्म-व्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुःकल्पं श्रुतम्। किं वा त्वया न श्रुतपूर्वोऽनिलनरेन्द्रसुतो यवो राजा? ॥ ११५४ ॥

कः पुनर्यवः? इत्याह—

जव राय दीहपट्ठो, सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स।
धूता अडोलिया गद्दभेण छूढा य अगडम्मि ॥ ११५५ ॥

पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणं चेडा।
जवपत्थणं खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवो नाम राजा। तस्य दीर्घपृष्ठः सचिवः। गर्दभश्च पुत्रः। दुहिता अडोलिका। सा च गर्दभेण तीव्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता ॥ ११५५ ॥

तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनम्। पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम्। अन्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया क्रीडनं खरस्य च यवप्रार्थनम्। ततश्चोपाश्रयः परुषः—कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः ॥ ११५६ ॥

भावार्थः पुनरयम्—[१०४]

उज्जेणी नगरी। तत्थ अनिलसुओ जवो नाम राया। तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया। तस्स धूया गद्दभस्स जुवरन्नो भइणी अडोलिया णाम, सा य अतीवरूववती। तस्स य जुवरन्नो दीहपट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भगिणिं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ। निव्वंधे सिट्ठं। अमच्चेण भन्नति—सागारियं भविस्सति तो एसा भूमिघरे छुब्भति, तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए, लोगो जाणिस्सति 'सा कहिं पि विनट्ठा'। 'एवं होउत्ति कयं'। अन्नया सो राया तं कज्जं नाउं निव्वेदेण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो। सो य जवो नेच्छति पढिउं, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामंते जवखेत्तं, तस्स समीवे वीसमति। तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति—

आधावसी पधावसी ममं वा वि निरिक्खसी।
लक्खिओ ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा! ॥ ११५७ ॥[१०५]

अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्यनन्तरं व्याख्यास्यते, एवमुत्तरावपि श्लोकौ।

तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमंति अडोलियाए, उंदोइयाए त्ति भणियं होइ। सा य तेसिं रमंताणं अडोलिया नट्ठा बिले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ इओ य मग्गंति तं अडोलियं, न पासंति। पच्छा एगेण चेडरूवेण तं बिलं पासित्ता णायं—जा एत्थ न दीसति सा नूणं एयम्मि विलम्मि पडिया। ताहे तेणं भन्नति—

इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसति।
अहमेयं वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया॥ ११५८ ॥

सो वि णेणं सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सओ गहिओ। सो य दीहपट्ठो अमच्चो तेणं जवसाहुणा रायत्ते विराहिओ। ताहे अमच्चो चिंतेति—'कहं एयस्स वेरं निज्जाएमि?' त्ति काउं गद्दभरायं भणति—एस परीसहपराजिओ आगओ रज्जं पेल्लेउकामो, जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि। तेण य अमच्चेण पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए नूमियाणि पत्तियावणनिमित्तं। रन्ना दिट्ठाणि। पत्तिज्जिओ। तीए अ कुंभकारसालाए उंदुरो ढुक्किउं ढुक्किउं

---

[१०४] यहाँ से आगे टीकान्तर्गत प्राकृत-कथानक बृहत्कल्पचूर्णि के पाठ से उद्धृत है, कुछ गौण फ़र्क है। इस लिए यहाँ चूर्णि का पाठ अवतरित नहीं किया है।

[१०५] जासि एसि पुणो चेव, पासेसू टिरिटिल्लसि।
लक्खितो ते मया भावो जवं पत्थेसि गद्दभा ॥
इति रूपा गाथा बृहत्कल्पचूर्णौ।

ओसरति भएणं। ताहे तेणं कुम्भकारेणं भन्नति—

सुकुमालग! भद्दलया! रत्तिं हिंडणसीलया!।
भयं ते नत्थि मंमूला, दीहपट्ठाओ ते भयं॥ ११५६॥

सो वि णेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया तं पियरं मारेउकामो रहं मग्गइ। 'पगासे उड्डाहो होहि' त्ति काउं अमच्चेण समं रत्तिं फरुससालं अल्लीणो अच्छति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—

"आधावसी पधावसी"………॥ (गा० ११५७)[१०६]

रन्ना नायं—वेतिया मो, धुवं अतिसेसी एस साधू। तओ वितिओ पढिओ—"इओ गता इओ गता…………॥" (गा० ११५८)

तं पि णेणं परिगयं, जहा—नातयं (v. l. नायं) एतेण। तओ ततिओ पढिओ—"सुकुमालग! भद्दलया…………॥" (गा० ११५६)

ताहे जाणति—एस अमच्चो ममं चेव मारेउकामो, कओ ममं राता (राया) होऊं संते भोए परिच्चइत्ता पुणो ते चेव पत्थेति ?, एस अमच्चो मं मारेउकामो एवं जत्तं करेइ। ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तं साहुस्स उवगंतुं सव्वं कहेइ खामेइ य॥

अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः—आ-ईषद् आभिमुख्येन वा धावसि आधावसि, प्रकर्षेण पृष्ठतो वा धावसि प्रधावसि, मामपि च निरीक्षसे, लक्षितस्ते मया 'भावः' अभिप्रायो यथा 'यवं' यवधान्यं चरितुं प्रार्थयसि भो गर्द्दभ। द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते। प्रार्थयसीति प्रथमश्लोकः॥ ११५७॥

इतो गता इतो गता, मृग्यमाणा न दृश्यते, अहमेतद् विजानामि 'अगडे' भूमिगृहे गर्त्तायां वा स्थिता 'अडोलिका' उन्दोयिका नृपतिदुहिता वा। द्वितीयश्लोकः॥ ११५४॥

मूषकस्य राज्ञश्च शरीरसौकुमार्यभावात् सुकुमारक! इत्यामन्त्रणम्, 'भद्दलग' त्ति भद्राकृते! रात्रौ हिण्डनशील! मूषकस्य दिवा मानुषावशोकनचकिततया राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्, भयं 'ते' तव नास्ति 'मन्मूलात्' मन्निमित्तात् किन्तु 'दीर्घपृष्ठात्' एकत्र सर्पात् अन्यत्र तु अमात्यात् 'ते' तव भयमिति तृतीयश्लोकः॥ ११५६॥

—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग, २, प्रथम उद्देश, सूत्र १, भाष्यगाथा ११५७–६१, पृ० ३५६–३६१.

उपर्युक्त अवतरण की ओर विशेष ध्यान देना जरूरी है। सारी कथा ऐतिहासिक न हो किन्तु गर्दभ लगता है जिसका कालककथा से सम्बन्ध है। यहाँ भी उसका कामी स्वभाव प्रकटित है। अडोलिया नाम परदेशी (शायद किसी ग्रीक–यावनी) नाम का रूपान्तर लगता है। डा. शान्तिलाल शाह ने अपने ग्रन्थ में अनुमान किया है कि अनिलसुत वह Antialkidas है और गर्दभ वह Khardaa[१०७] है, यह हमें ठीक नहीं लगता, क्योंकि Antialkidas का अनिलसुत होना अशक्य है। और अनिल का सुत ऐसा अर्थ लें तब भी वह Antialkidas नहीं हो सकता और Khardaa (मथुरा के सिंह-ध्वज के लेख में उद्दिष्ट) इस Antialkidas का लड़का नहीं हो सकता। श्री० शान्तिलाल शाह का यह अनुमान कि "अणिलसुतो जवो णाम राया" कि जगह "अणिलसुतो णाम यवनो राया" होना चाहिये उससे भी पूरा संतोष नहीं होता क्योंकि उसका लड़का Khardaa नहीं है।

फिर भी गर्दभ कौन ? इस विषय के संशोधन में सम्भव है यह अवतरण मदतरूप हो भी जाय! कालक के जीवन की घटनाओं के विषय में चूर्णियों के, कथानकों के अन्य अवतरण हम यहाँ नहीं देते क्योंकि वे सभी नवाब और डा० ब्राउन ने सङ्ग्रहीत किये हुए हैं।

---

[१०६] गाथायें ११५७, ११५८, ११५६ उपर दी गई हैं इस लिए हमने यहाँ पूरी अवतारित नहीं की हैं।

[१०७] शान्तिलाल शाह, ध ट्रॅडिशनल क्रॉनोलॉजि ऑफ ध जैनम्ज़ पृ० ६१,६८. मथुरा के सिंह-ध्वज में Khardaa के उल्लेख के लिए देखो एपिग्राफिआ इन्डिका वॉ० ६, पृ० १४०, १४७.

उपसंहार

इस लेख का उद्देश्य है जैन साक्षियों की छानबीन करना। इस समीक्षा से हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। एक तो उन्होंने अनुयोगादि ग्रन्थों का निर्माण किया और दूसरा इन्हीं ग्रन्थों में से प्रव्रज्याविषयक कालकरचित गाथायें मिली हैं। निगोद-व्याख्यानकार, सुवर्णभूमि को जाने वाले, आर्य समुद्र के दादागुरु और अनुयोगनिर्माता, आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले और जिन्होंने सातवाहन राजा को मथुरा का भविष्य कहा था वह कालक आर्य श्याम ही हैं। इतना तो निश्चित ही है।

धर्मघोषसूरि ने श्रीऋषिमण्डलस्तव में प्रज्ञापनाकार श्यामार्य को प्रथमानुयोग और लोकानुयोग के कर्ता कालकसूरि कहा है। कालक के बाद उन्होंने आर्य समुद्र की स्तुति की है—

निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवारो सो जयउ सामज्जो ॥ १८० ॥

पढमणुओगे कासी जिणचक्किदसारपुव्वभवे।
कालगसूरी बहुअं लोगणुओगे निमित्तं च ॥ १८१ ॥

अज्जसमुद्दगणहरे दुब्बलिए धिप्पए पिहू सव्वं।
सुत्तत्थचरमपोरिसिसमुट्ठिए तिण्णि किइकम्मा ॥ १८२ ॥

—जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग १, पृ० ३२६–३०.

देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मघोषसूरि का लेखनसमय है। वि० सं० १३२०–१३५७ आसपास। अतः ई० स० की तेहरवीं शताब्दि में, सङ्घभाष्य आदि के कर्ता, श्रीधर्मघोषसूरि जैसे आचार्य भी श्यामार्य को ही अनुयोगकार कालकाचार्य मानते थे।

गर्दभराजोच्छेदक कालक भी वे ही आर्य श्याम हैं ऐसा हमारा मत है। किन्तु अभी भी अगर किसी को शङ्का रही हो, तो इनको यही देखना चाहिये कि बलमित्र-भानुमित्र और आर्य कालक का समकालीनत्व तो निश्चित ही है। पुराने ग्रन्थों का प्रमाण है। फिर पट्टावलियों की पट्टधर कालगणना या स्थविरकालगणना या नृपकालगणना जिनमें कहीं कहीं गड़बड़ है उनको छोड़ कर स्वतंत्र प्राचीन ग्रन्थ-साक्षियों से हमने बताया है कि गर्दभोच्छेदक कालक और दूसरी घटनाओं के नायक आर्य कालक एक ही हैं और वे गुणसुन्दर के शिष्य आर्यश्याम ही होने चाहिये। इनका समय ई० स० पूर्व पहली या दूसरी शताब्दि है।

जिनको दूसरे कालक (वीरात् ४५३) मंजूर है इन के हिसाब से भी कालक के सुवर्णभूमिगमन का समय ई० स० पूर्व पहली शताब्दि तो है ही।

कालक किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। वह राजा कौन था? क्यों कि कालक एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं इस लिए अब सातवाहन वंश के इतिहास के बारे में विद्वानों को फिर सोचविचार करना चाहिये। पञ्चकल्पभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य जैसे ग्रन्थों के कर्ता सङ्घदासगणि क्षमाश्रमण ने या दूसरे भाष्यकार चूर्णिकार ने जो ऐतिहासिक बातें लिखी हैं वे बिलकुल कपोलकल्पित नहीं किन्तु ज्यादातर

ऐतिहासिक तत्त्ववाली प्रतीत होती जा रही हैं। कुणाल, सम्प्रति और अशोकविषयक कथा जो बृहत्कल्पभाष्य में है उसकी ऐतिहासिकता की प्रतीति डा० मोतीचन्द्रजी ने इन्डिअन हिस्टॉरिकल कॉंग्रेस, १७ वाँ सम्मिलन, १९५४, अहमदाबाद में अपने विभागीय-प्रमुख व्याख्यान में करवाई है। भाष्यों में मुरुण्ड राजाओं के उल्लेख भी आखिर सत्य मालूम हुए थे। सम्प्रति ने जैन साधुओं के विहार के लिए, आन्ध्र और दक्षिण में सुविधायें कीं यह भी सत्यघटना है। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में (द्रविड-प्रदेश)में सम्प्रति ने मौर्यसाम्राज्य को बढ़ाया या बलवत्तर किया है। बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यक चूर्णि के नहपान और सातवाहन के बीच के संघर्ष की और सातवाहन राजा की जीत की बात भी सत्य मालूम पड़ी है, क्यों कि गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान के सिक्कों पर फिर अपनी महोर लगाई है। हमारे ख़याल में नहपान को जीतनेवाला सातवाहन कालक के समकालीन सातवाहन नरेश के बाद का राजा है।

बलमित्र-भानुमित्र और कालक का समकालीन सातवाहन ई० स० पूर्व की प्रथम शताब्दि के पूर्वार्द्ध या ई० स० पूर्व की द्वितीय शताब्दि के उत्तरार्द्ध में हुआ था। वह सातवाहन कौन था? ये बातें अब फिर विचारणीय हैं क्यों कि कालक सचमुच हुआ था।

जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और इतिहास के अध्ययन में अति महत्त्व का है इस बात की ओर योग्य ध्यान नहीं गया है। इस आगम साहित्य में कई बातें ऐसी हैं जिनका महत्त्व प्राचीन बौद्ध साहित्य से या ब्राह्मण साहित्य से कम नहीं। इन तीनों साहित्य का अध्ययन एक दूसरे का पूरक है। जिस को हम पुरातत्त्व में Northern Black Polished Ware (N.B.P.) कहते हैं या अशोक के जमाने का जो High Polish देखने में आता है, उसका एक मात्र वर्णन संदर्भ हमें जैन औपपातिक सूत्र में पृथिवीशिलापट के वर्णक में मिलता हैं।[१०८]

इससे हमें चाहिये कि जैन आगम साहित्य, विशेष करके भाष्यों और चूर्णियों की ओर ज्यादा ध्यान दें। इसकी अच्छी समीक्षा भारतीय संस्कृति के इतिहास में हमें सहाय्यक होगी। भाषाशास्त्रियों के लिए भी भाष्यों और विशेषतः चूर्णियों में विपुल सामग्री पड़ी है।

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप में भारतीय-संस्कृति के प्रचार में पश्चिम और मध्य भारत का भी हिस्सा है जिसकी ओर भी ध्यान देना जुरूरी है। सूर्पारक से सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों की कथा जातकों में मिलती है। कालक के कार्यप्रदेश भी पश्चिम, दक्षिण और माध्यभारत थे और वे सुवर्णभूमि में गये। गुजरात के व्यापारी जावा को जाते थे, गुप्तोत्तर काल में भी। गुजराती में इस मतलब की एक कहावत है कि जो जावा को जाता है वह बहुधा वापस नहीं आता है और यदि कोई लोट आया, तो इतना धन लाता है जो पीढ़ियों तक अखूट रहे। प्राचीन जावा के रामायण 'काकविन'[१०९] का वस्तु पश्चिम भारत में रचित भट्टिकाव्य से विशेषतः लिया गया है यह बात भी सूचक है।[११०]

---

[१०८] देखो, उमाकान्त शाह, **स्टडीझ़ इन जैन आर्ट** (बनारस, १९५५), पृ० ६१-६९-८३.

[१०९] इसके विशेष विवरण के लिये देखिये, डॉ० सो० हूइकासकृत **द ओल्ड-जावानीझ़ रामायण काकविन, ग्रेवनहेग (नैदलैंन्डझ़)**, १९५५.

[११०] इस लेख की हिन्दी भाषाशुद्धि और प्रुफ देखने के लिये श्री जयन्तभाई ठाकर और पं० दलसुखभाई मालवणियाजी का ऋणी हूँ।

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

: श्रद्धांजलि अने जीवन :

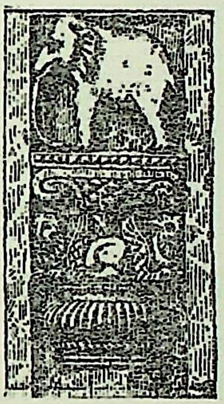

अंग्रेजी विभाग

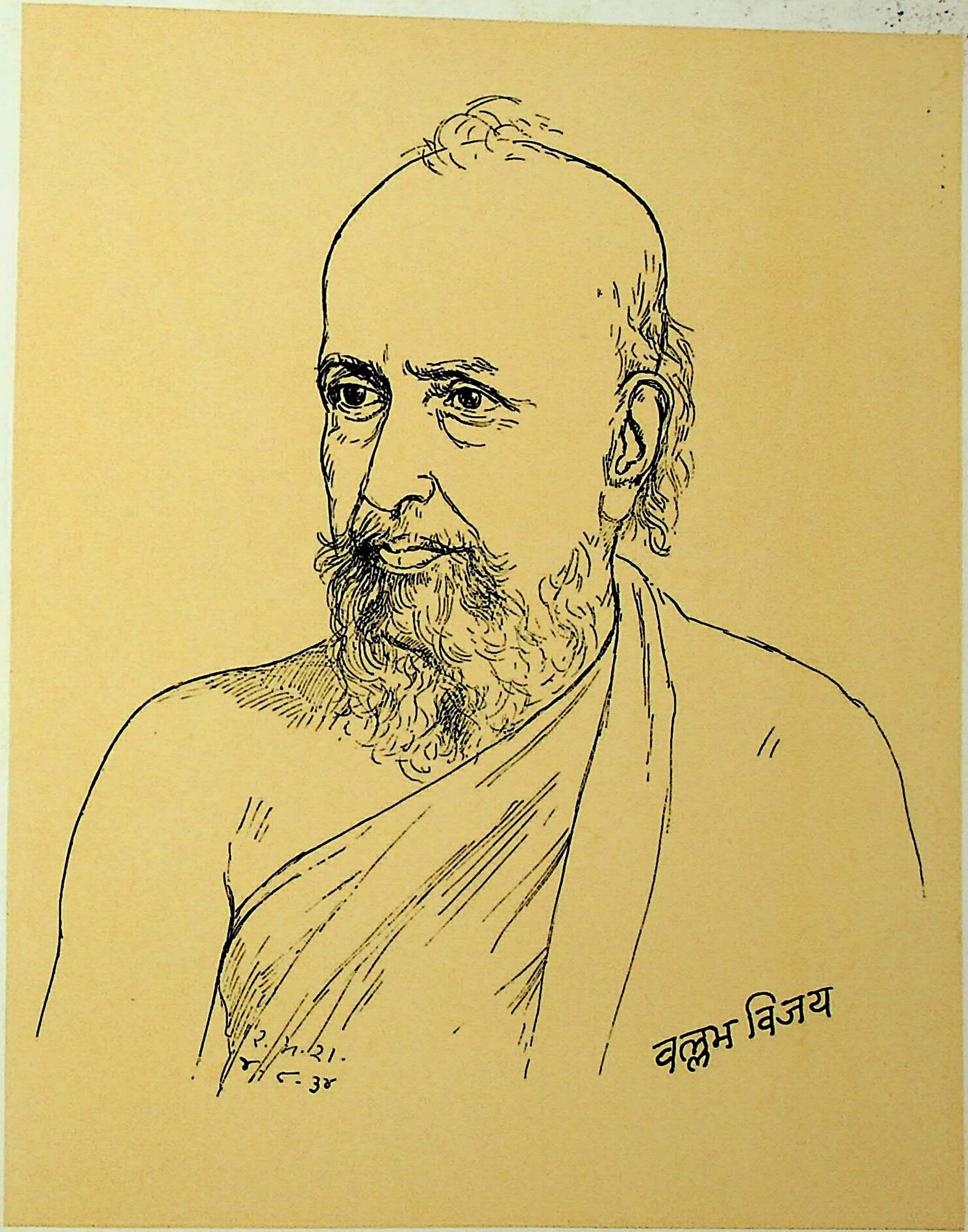

ĀCĀRYA VIJAYAVALLABHASŪRI

स्केच : श्री रविशंकर रावळ]

THE GREAT ĀCĀRYA

Shri CHIMANLAL J. SHAH, M.A.

Among the great Jaina Ācāryas of the last fifty years, the late Vijayavallabhasūri enjoys a very prominent and popular place. He was a favourite with both the old and new generations of the Jaina laity.

The key to his popularity lay in his earnest desire to see that the laity was helped spiritually and otherwise. He led the austere life of a Jaina *sādhu* carrying out all the injunctions prescribed by the scriptures. Thus the orthodox mind saw nothing in him that would discredit him but at the same time, he talked and preached about anything and everything that would go under the name of welfare activities for the betterment of the Jaina *Saṁgha*. For more than half a century, he carried on a crusade in his inimitable way for the educational and social uplift of his followers. If he had been an educationist himself or in the alternative if he had had a band of experts by his side, one does not know what wonders he would have worked. In reality, the net result of all his educational and social activities was limited. All the same, the new generation of unorthodox outlook was always happy with him and appreciated all his laudable efforts.

This flair for activities outside the ritualistic life of a Jaina *sādhu* he inherited from his great *Guru Ātmārāmjī*. Both seemed to believe that it was no use merely preaching religion to a *Saṁgha* that was socially and psycologically not prepared to receive it. In economic parlance, it meant first bread and butter, the wherewithal to get the same, and then religion. An understanding and a happy mind can alone absorb and live upto the great tenets of the Jaina philosophy and to create that was the life work of the great Ācārya.

This great divine joined the order at the early age of sixteen and became the disciple of the illustrious Vijayānandasūri, popularly known as Ātmārāmjī. For a period, as long as sixty-eight years, since he donned the yellow garb, Vijayavallabhasūri ceaselessly and enthusiastically carried on his efforts for the welfare and uplift of his followers and of all those who came in contact with him. This by itself is a record, a record to be proud of and happy about. The fruit of his tireless efforts is still to be seen.

It is now for the great *Saṁgha,* the *Saṁgha* of all the followers of the illustrious and the meritorious Jinas, to wake up, to probe carefully into its failures and limitations and march forward with the great immortal message of *Ahiṁsā,* which is the only hope for this war-torn and conflict-ridden mad world of ours.

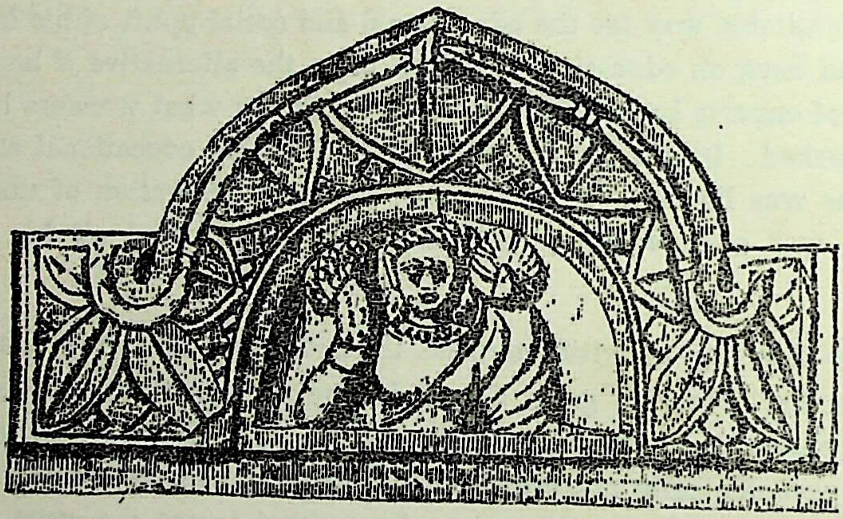

A DEDICATED SOUL

SHRI K. D. KORA

The wise dictum that 'The greatest saint is not the man who does extraordinary things, but does ordinary things extraordinarily' has been realized in the life of Ācārya Vijayavallabhasūri, whose sixty-eight years' service to the cause of education and Jainism has but few parallels in our history.

'Uplift through education' was the central message of the life of this illustrious saint, whose searching intelligence and ardent nature urged him to find out the panacea for the younger generation to keep off from the stifling atmosphere which would overpower them any day. Gifted with a prophetic vision, he foresaw the shape of things to come at a time when education was regarded as a taboo and foreign travel led to excommunication. These views were labelled ideological by some and retrograde flounderings by others, when he propounded the gospel of education. This concept was not the rebellion of a solitary soul but the outcome of a social conflict and a future vision of the society. This was a drop in the sea of mankind but the people felt in it the roar of the sea and its heave and swell were realized many years later, as we do visualize now very clearly.

Ācārya Vijayavallabhasūri, who hailed from Baroda, became the disciple of Śrīmad Vijayānandasūri, popularly known as Ātmārāmjī, seventy years ago, and since then Ācāryaśrī led the disciplined life of a Jaina *sādhu,* with an outlook which was in tune with the spirit and demand of our age.

ĀTMĀRĀMJĪ—THE GURU

Ātmārāmjī was an ardent student of Jainism in all its myriad manifestations and implications. The education and training which he imparted to the young Vijayavallabhavijayajī stood the latter in good stead, when he was called upon to interpret and explain the tenets of Jainism. So great was the popularity of Ātmārāmjī that he was invited to the World Faiths Conference in the United States to represent Jainism. He deputised Shri Virchand Gandhi, the famous scholar of Jainism, who persuasively propounded the ethical code of Jainism, which is based on non-violence, truthfulness, non-possession and penance, ideas very much similar to the Gandhian concept of a happy society. The success of Shri Virchand Gandhi was mainly due to the briefing he had from Ātmārāmjī and Vallabhavijayajī.

TO THE SHELTER OF GOD

An unusual incident occurred in the early life of Ācārya Vijayavallabhasūri. Seeing his mother on death-bed, he asked her anxiously: "To whose shelter are you leaving me?" "I leave you to the shelter of the Lord" was his mother's apt reply. "His shelter is the best shelter; the rest is all illusion," she added. These words, touchingly told, sowed the seeds of religious faith that was to blossom forth in later years. At the age of sixteen, he renounced worldly life at Radhanpur in V.S. 1943. This dedicated soul started his austere life with the seriousness which foreshadowed a great religious life. He strove to realise the ideal of his Guru, which expressed itself for the betterment of the society and removal of illiteracy. He started launching new educational institutions and the help of many social reformers readily overflowed.

ORTHODOXY DISTURBED

Ācāryaśrī widely travelled the country; and this urged him to concentrate his work on the projects which helped the masses to live a healthier and better life by the removal of social and religious evils and spread of the spirit of religious toleration. But how could a Jaina *sādhu*, devoted to study and spread of religion, undertake social projects—was the parrot-like echo from the dovecotes of the orthodoxy. It became his unfortunate lot to be the most misunderstood individual inspite of his loftier ideals. This trend of thought attracted the attention of the people of all faiths in the country. Undaunted and unperturbed, he strove to build up more institutions, societies and educational organizations which helped to alleviate the burden of the masses and uplift the society in all respects.

His religious discourses carried always a message of enlightening the public with the gospel of swadeshi, non-violence, and education. His popularity in the Punjab grew proverbial, which earned for him the title of 'Punjab Kesari'. Time's winged chariot moved on for nearly a score of years during which period he moved in many towns and cities. Intuition resulted in craving for *darshan* of Ādiśvara at Śatruñjaya and moving scenes greeted his departure from the Punjab, where it is said that his gesture or voice would touch even the birds and animals. He left some of his disciples to pacify the agonised feelings of the people, which comprised persons of different faiths. An untoward incident occurred, which hastened his return, before the scheduled date. Time factor and distance he had to cross placed him in a difficult predicament. However, a determined will, love for his Guru and faith in his followers helped him to cover a difficult terrain of 450 miles in fifteen days under the scorching heat. To move barefooted and bareheaded was an impossibility; however, a Jaina *sādhu* is not free to act and behave as he pleases. He has to abide by rigid rules. He reached in time inspite of all privations.

ŚRĪ MAHĀVĪRA VIDYĀLAYA

But he started back again on the tour of Gujarāt and Saurāṣṭra. After travelling extensively in Gujarāt, he reached Bombay at the pressing invitation of the Jaina *Saṁgha* in 1914 A.D. During his stay, he delivered religious discourses in different parts of the City and then prepared himself to leave for the Punjab, where his followers consisted of all sections of the society. His popularity knew no barriers of caste and creed. But the followers insisted that he should stay further in Bombay. He requested the Jaina *Saṁgha* to justify his further stay. Several constructive suggestions were put forward but he was full with the ideas of his *Guru,* who always thought of the uplift of people through education.

Ācāryaśrī laid a great stress on the desirability of founding a central educational institution in Bombay to meet the growing needs of a community, which, though foremost in trade and industry, was backward in educational and professional fields. The idea was welcomed by the rich and the educated section of the Jainas. They offered their full cooperation; and the untiring efforts of an enthusiastic band of workers resulted in giving a definite shape to the thoughtful idea of Ācāryaśrī.

Thus Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya took shape in Bombay in 1915 A.D. Hundreds of students have enlivened their lives by yeomen services rendered to this institution. Many students of this Institution have rendered invaluable service in different spheres of activities for more than forty years. Education in all spheres is the goal of this institution. Not only has it fulfilled the desires and hopes of Ācāryaśrī by serving the students in Bombay, but the Vidyālaya has opened its branches in Ahmedabad, Poona and Baroda also. If Ācāryaśrī had done nothing in the field of education except the foundation of Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya, his name would have been a historic milestone for posterity as an outstanding pioneer of education amongst the Jainas. This institution, started in a very humble and noble way, has now attracted the appreciative attention of the people of other faiths also. This move, mooted more than forty years before, was a forerunner to starting of many social, cultural, religious and educational institutions in Gujarāt, Rājasthān, the Punjāb and many other states of undivided India. This was due to the great efforts of Ācāryaśrī. This serves as a valuable landmark in the cultural history of India.

Inspite of his multifarious activities, literature did not escape his attention. His poems inspired by original ideas are rich in meaning and deep with thought. He was well-versed in astrology and mathematics. Rich repositories of old manuscripts, rare coins and other antiquities providing links with the ancient history, always absorbed his mind. He believed that many problems, confronting loose links of Indian History and Culture, would remain unsolved in the absence of a systematic research of Jaina Literature. This erudite savant was anxious to start a research institute to bring to light the valuable storehouses of knowledge, now literally trapped in the ancient repositories, and to marshall the existing data in the framework of modern research. Such efforts, he stated, would result in fertilizing the barren field of Jaina research and bring to the forefront the message propounded by Lord Mahāvīra.

A SILENT PATRIOT

He was a patriot without ostensible fanfare. He wore khaddar and was an ardent advocate of propagation of Hindi as national language. *Swadeshism* found an echo in his speeches. His illuminating address at a vast cosmopolitan gathering held some months before his death during the prohibition week in Bombay, provided a pointer to his growing popularity amongst all sections of the people. Lucidity and effective presentation of the ideal of prohibition prompted many persons not only to give up wine but forgo all intoxicants.

His speeches were always a rip-roaring success, whether the occasion was an open air meeting or cloistered halls for religious discourses. He was ready-witted and always open to answer all questions. Persons of all faiths used to call on him, hear his talks and invite him to address meetings. He solved the difficulties and problems confronting individuals and institutions. He was fearless and outspoken in his views. Behind this disciplined outlook, he was tender and soft to the distressed and unhappy. It did not matter to which strata of society his callers belonged. Direct contact helped him to know the pulse of the society. During his stay in Gujarāt, he took active part in the Conference of Jaina *Sādhus* at Ahmedabad and gave an exemplary lead to establish unity and purity amongst the priestly class. He disliked theories, doctrines, dogmas and principles based on wrong notions and aptitudes. His views were revolutionary to a great extent. This created misunderstandings, which were based on narrow outlook. He never liked to slacken the rules and regulations, governing the austere life of a person, who has renounced this worldly life. He was against all unnecessary expenses either in religious or marriage ceremonies. He was against some of the deeprooted evils, which corroded the sinews of society. He had an abhorrence for the custom of marriage dowry.

THE SCHEME FOR THE MIDDLE CLASS

His last visit to Bombay proved memorable. During his journey on foot through villages, towns and cities of the Punjāb, Madhya Bhārat, Gujarāt and Saurāṣṭra, he was deeply moved by the hard-stricken lot of the middle and the lower strata of the society. He was preoccupied during the last months of his life in finding a solution of this unhappy state of affairs. The problem of plenty and poverty was uppermost in his mind. He urged generous minded persons to contribute large sums for the welfare and betterment of the aggrieved people. Response was not encouraging; but he was not disheartened. A target for collecting a token fund was fixed; and he decided to forgo milk, if the target was not reached within some days. This decision gingered up all activities. Men, women and children of all ranks and ages moved ceaselessly to collect funds. Ācārya Vijayavallabhasūri helped the campaign by delivering speeches in different wards of the city. Sincere and unified efforts created a magic influence of unloosening the purse strings and the target amount was collected ahead of the scheduled hour! This has been a unique incident from which the posterity and pessimistic workers will derive a great lesson of zeal and will. It provided a pointer to the immense potentialities of this great stage.

UNITY OF ALL FAITHS

During the unsettled period in the undivided Punjāb, officers and their families of all faiths held him in high respect. Wives of many military officers attended his lecture meetings and approached him for their doubts and problems. His approach to all problems was based on eclectic, comprehensive and universal outlook which was a key to his popularity amongst people of all sects and faiths.

In later stage of his life, he took keen interest in fostering unity amongst all sects of Jainas. He stood for removal of man-made divisions and sub-divisions. To succeed in his erstwhile mission, he had started spade work years before. All his discourses touched one focal point—unity amongst all sects of society. He believed in religious toleration. He translated abstract concept of humanism, freedom of life and religion into rational and practical service of social progress.

'DO NOT BE INDOLENT, O GAUTAMA'

In Ācārya's life, one found a puissant flow of spiritual practicability. Decisiveness, resultant of natural power and vision, was a motivating force of his outlook on life and society. He accepted Jainism as a rule of inner existence and inspiration for humanitarian activities. 'Do not be indolent, O Gautama, even for a moment'—this death-less message of Lord Mahāvīra found a touching echo in the daily life of Ācārya Vijayavallabhasūri. He served humanity and religion in its struggle for lasting peace, friendship and unity not only amongst the people of his own faith but also amongst the general mass of humanity. He loved and died for the welfare of mankind. He worked ceaselessly for a better-ordered society, more just and freer mass of humanity. His death on the night of 22nd September, 1954 at the age of eighty-four cast a serious gloom in the vast ocean of mankind. Nature also felt the void which was illustrative in the blue firmament, when the mortal remains of this devoted soul started on the last lap of his journey. The lustrous human body of this great pioneer of educational and social reformation is no more; but the ennobling ideals he left behind will remain so long as humanity lives. He left a message and a mission. His divine soul serves as a beacon light to achieve success.

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : अंग्रेजी विभाग

: संपादक मंडळ :

डॉ. मोतीचंद्र, एम्. ए., पीएच्. डी. (लंडन)
डॉ. जगदीशचंद्र जैन, एम्. ए., पीएच्. डी.
श्री. सी. जे. शाह, एम्. ए.

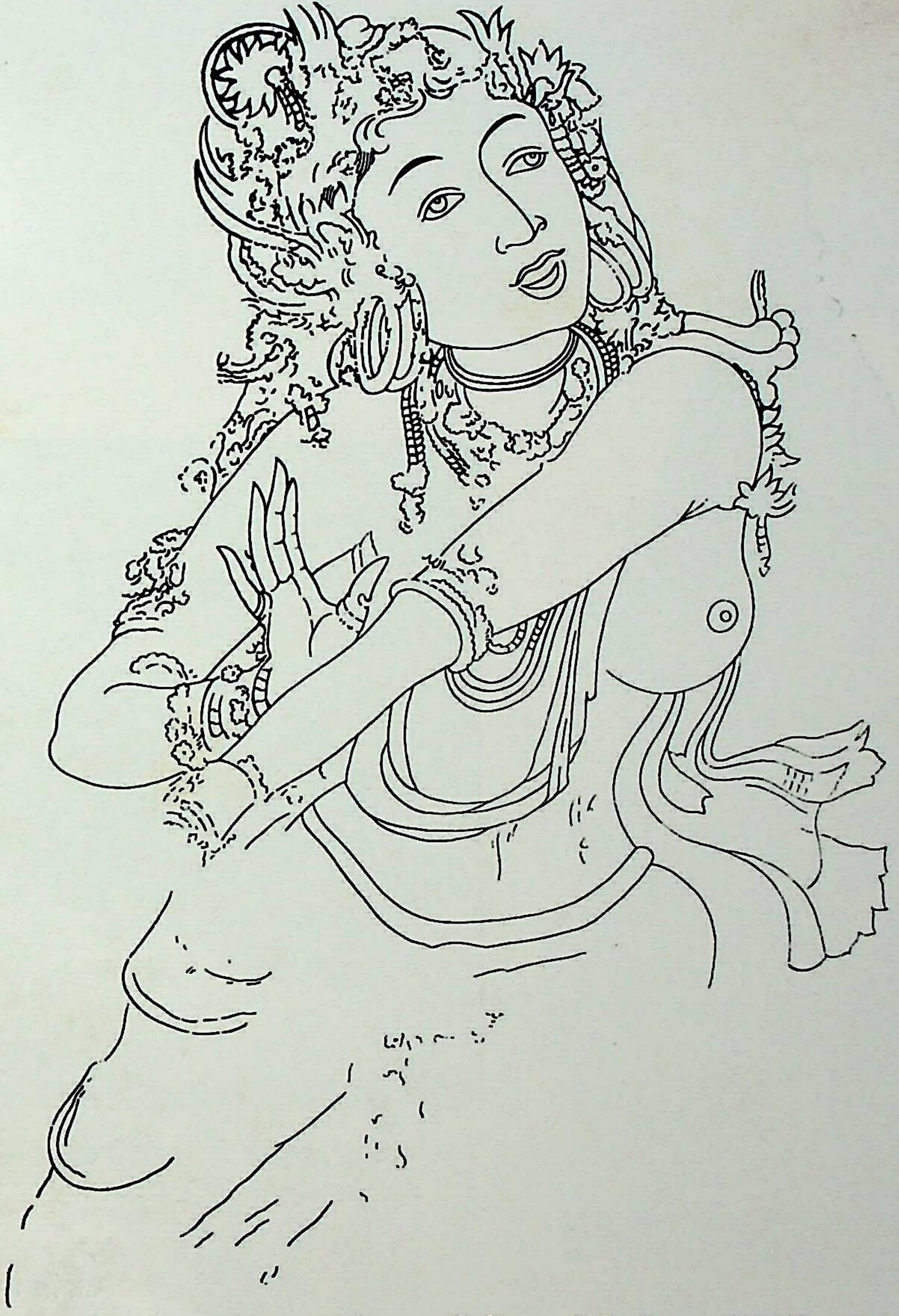

नर्तिका : सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनुं विश्वविख्यात रंगीन चित्र :
जैनाश्रित काळानो एक नमूनो

Painted figure of a dancing girl on pillar of Sittannavasal Temple, (Pudukota)
c. 7th Century

कॉपीराइट : आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ]

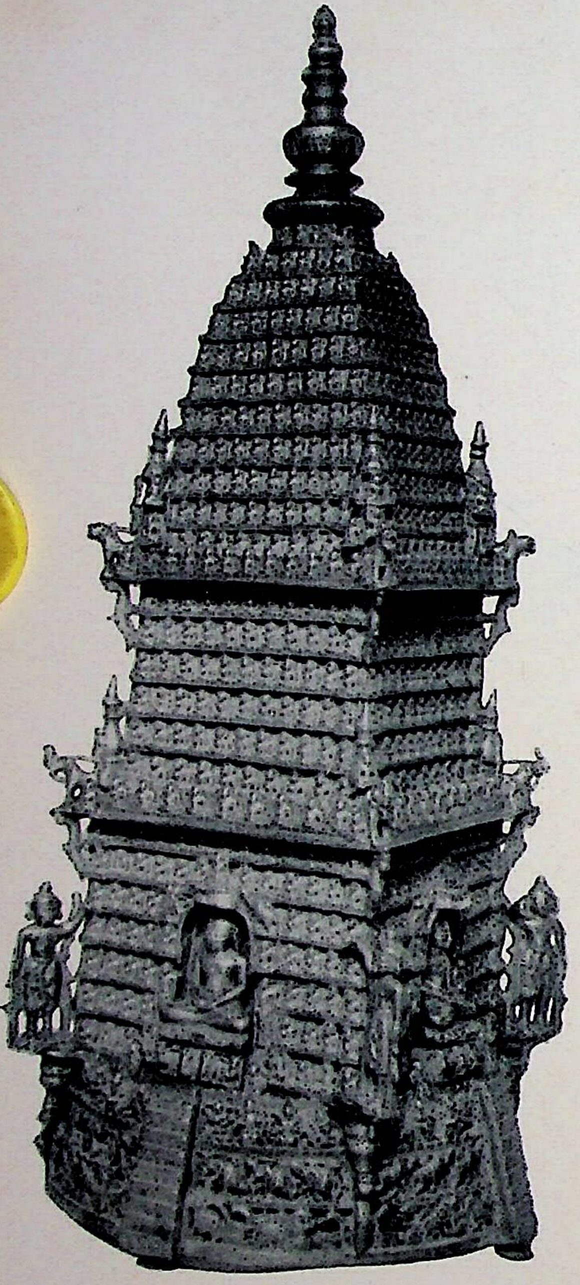

सहस्त्रकूटनुं धातुनुं शिल्प पाटण
१८मी सदीना आसपास
Bronze sculpture of Sahastrakūta. Pātan
N. Gujarat, c. 18th Century

सवीर : डॉ० उमाकान्त प्रे० शाह]

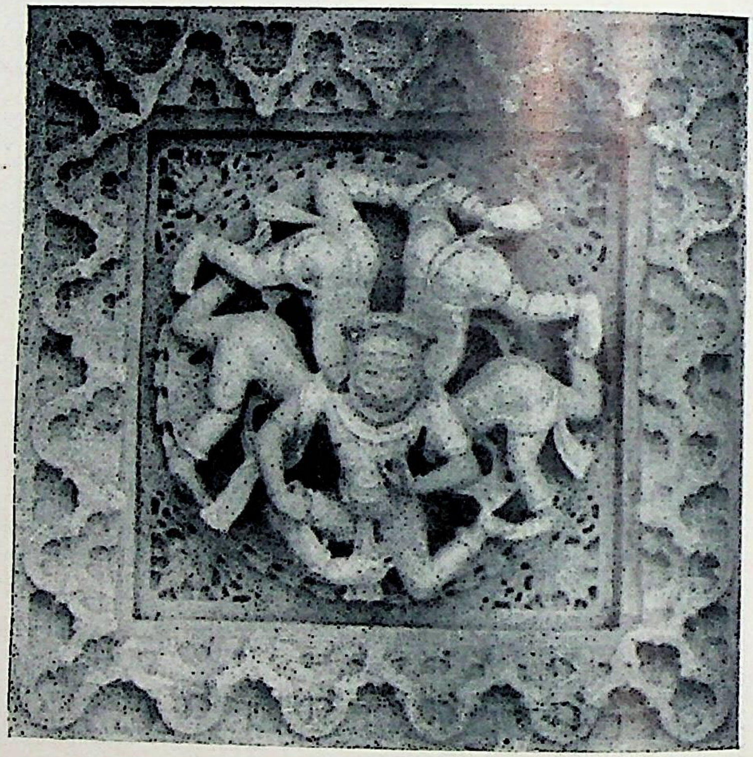

राणकपुर, चतुर्मुख जिनप्रासादनी छतनुं संयोजना चित्र
A composite male figure in ceiling, Rāṇakpur

तसवीर : श्री० जगन महेता]

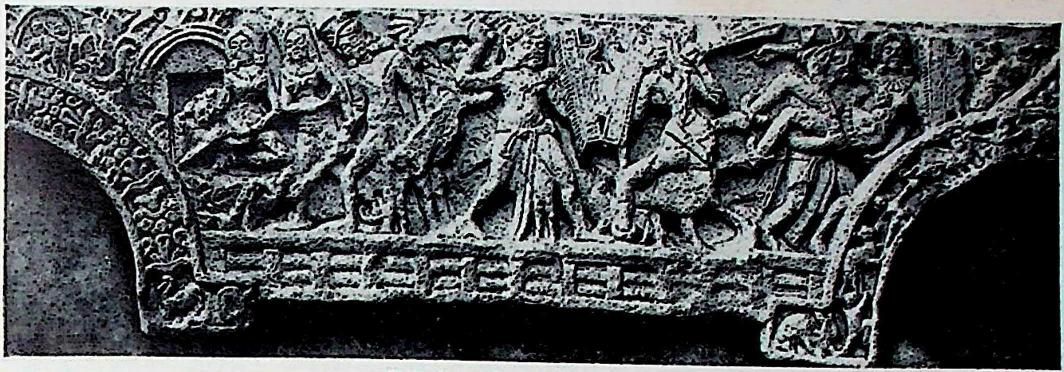

उदयगिरिनी रानीगुंफानी केवाळनो नमूनो
Portion of a frieze in the upper verandah, Rānigumphā, Udayagīri

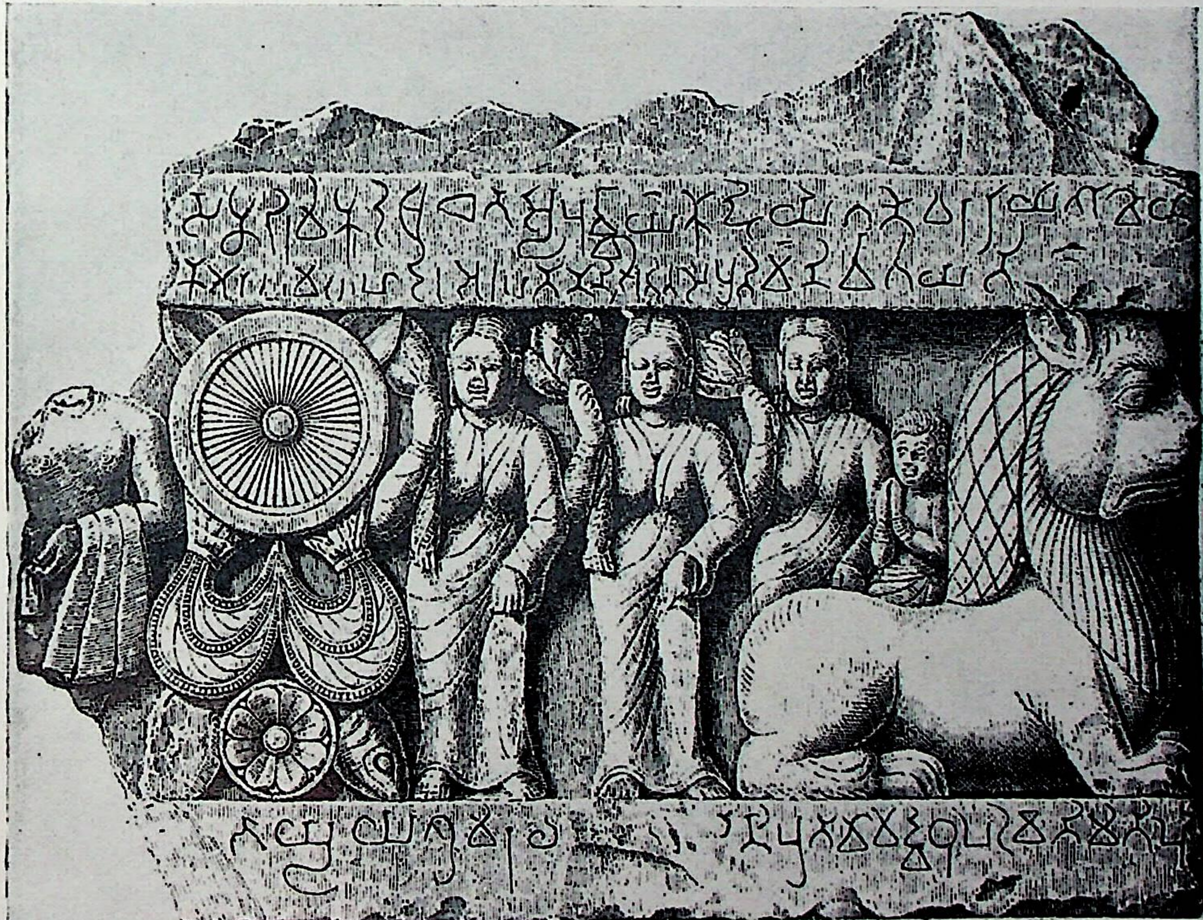

कंकालीटीलाना वोद्धस्तूपना कलाविधाननी नमूना
Pedestal of an image of Munisuvrata installed in the Vodva-Stūpa, Kaṅkālītilā

कॉपीराइट : आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया]

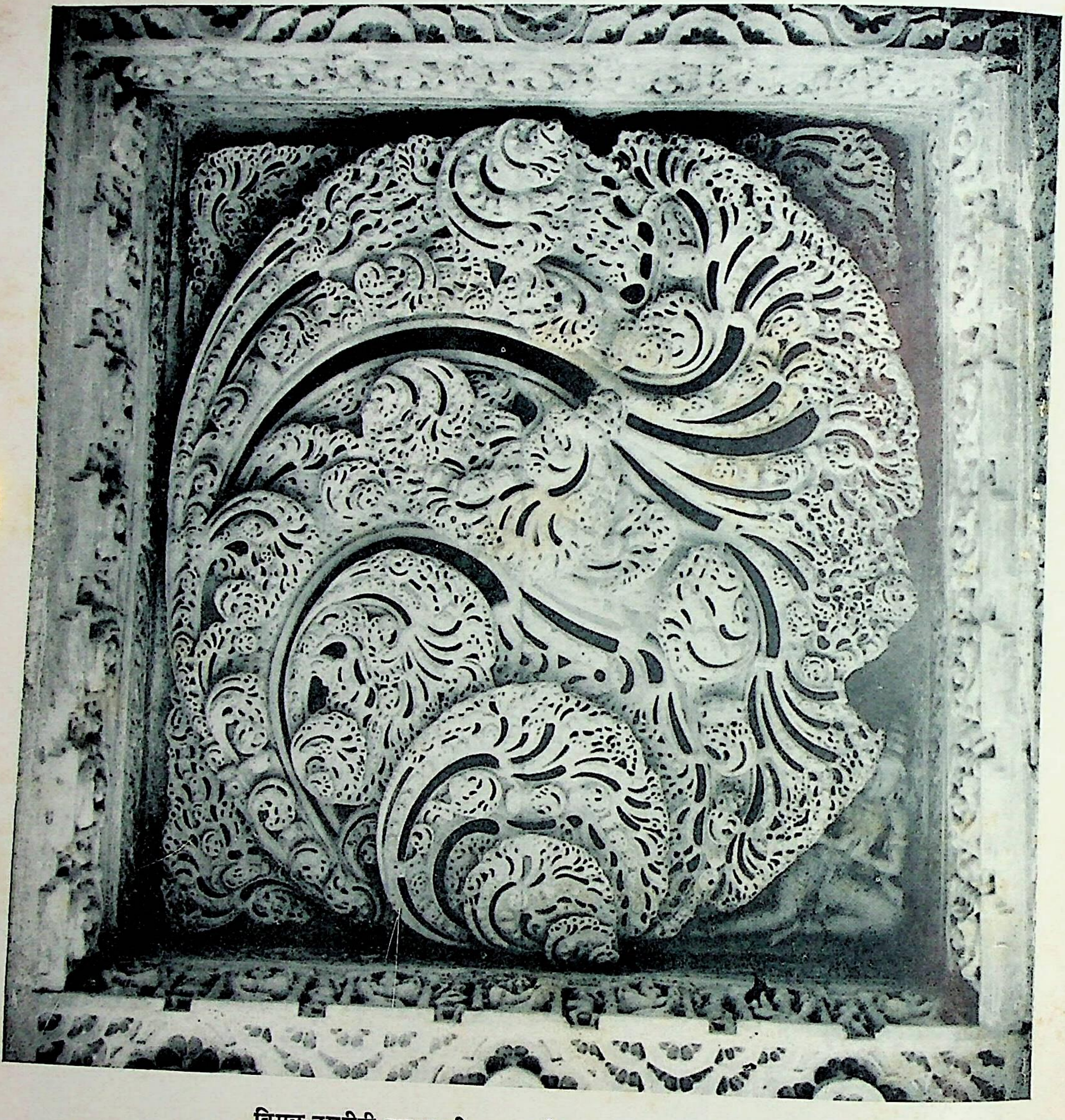

विमल-वसहीनी एक छतनी अनन्य कोतरणी, आबु-बारमी सदी
Ornamental arabesque, ceiling of Vimala-Vasahī (Ābu) 12th Century

तसवीर : श्री० जगन महेता]

STRUCTURAL EVOLUTION AND THE DOCTRINE OF KARMA

DR. HARI SATYA BHATTACHARYA, M.A., B.L., Ph.D.

In the philosophical systems of India, the development of the organic frame has been held not to be the work of Matter exclusively. Body has been generally described as the Bhogāyatana i.e. a frame in which certain pre-determined affective experiences (pleasurable or painful) are to be felt and its development has been held to be in strict accordance with those feelings which, though they are yet to be, are nevertheless pre-active. It is said that the Senses of cognition and of action owe their peculiarity in each organism to Adṛṣṭa, a super-physical prenatal force with its two modes or forms viz., Dharma and Adharma, i.e. beneficial or harmful. The philosophers of the Sāṅkhya School refuse, of course, to look upon the Adṛṣṭa as a force inherent in the soul; but this does not mean that according to them Adṛṣṭa as the evolutionary factor, is to be identified with gross Matter or any thing grossly material. In 20, Pradhāna-Kāryādhyāya of the Sāṅkhya Sūtras, Kapila definitely rejects the view that the Sense-organs and the Organs of Activity are Bhautika i.e. as consisting in gross Matter. He characterises them as Ahaṁkārika. Ahaṁkāra, according to the Sāṅkhya philosophers, is no doubt an evolute from Prakṛti or Matter. But it is always to be remembered that Ahaṁkāra which consists in egoistic apprehensions and is practically Life in one of its essential aspects, does not arise from Prakṛti in its purity i.e. from Matter as an absolute equilibrium of three material tendencies. Ahaṁkāra, according to the Sāṅkhya philosophers is a supra-physical principle of Individuation, arising from Mahat which is Matter, thoroughly in-formed by spiritual effulgence and transformed beyond recognition. Real organs of sense and of activity, according to the Sāṅkhya School are not made up of gross Matter but are super-sensuous centres evolved by Ahaṁkāra, the vital principle of Individuation, as modified in each case by the super-physical Adṛṣṭa, with its pre-natal tendencies of Dharma and Adharma. What we ordinarily call the Sense-organs e.g., the ears, the tongue etc. are brought about by those super-sensuous sense forces in and from gross organic matter.

Whatever little taint of materialism may be suspected to attach to the Adṛṣṭa of the Sāṅkhya philosophy as the efficient cause of the structural evolution, the Adṛṣṭa as conceived in the Nyāya system, is absolutely free from it. For, although in direct opposition to the Sāṅkhya doctrine, the Nyāya thinkers hold that the Sense-organs are Bhautika i.e. evolved from Matter, they admit a distinctly super-physical principle as the 'efficient' cause of the organic evolution. A foetus is, no doubt, developed from the seminal fluid of the parents; but the seminal fluid does not in all cases develop the foetus. From this, the Nyāya thinker argues that in order that the foetus may grow out of the seminal matter, the hypothesis of Adṛṣṭa is necessary. This Adṛṣṭa is a super-physical principle, working from two directions, upon the germinal substance. On the one hand, Adṛṣṭa is inherent in the parents,—a force which works upon the germinal matter of the parents towards the production of an offspring; on the other, there is the Adṛṣṭa of the future offspring, a pre-natal force, operating upon the parental germinal fluid, for its embodied emergence. According to the Nyāya philosophers, no foetus can grow out of the germinal substance, without the operation of this bilateral Adṛṣṭa and they contend further that each congenital peculiarity in an individual foetus is to be accounted for by the supposition of a corresponding peculiarity in the pre-natal Adṛṣṭa.

As regards the nature of Adṛṣṭa, the Nyāya thinkers have left us in no doubt. The Sāṅkhya philosophers held, as we have seen, that Adṛṣṭa was a force, inherent in Ahaṁkāra, a materio-vital principle, tinged with a form of reflected Consciousness. The Nyāya way of thinking avoids this somewhat ambiguous position and points out in clear terms that Adṛṣṭa is inherent in the Ātmā or the conscious principle, which persists through its varied embodiments. To this Ātmā, the Nyāya thinkers attribute, as we know, conscious 'desire', 'aversion', 'effort', 'feelings of pleasure and pain' and 'cognition', so that Adṛṣṭa attaching to Ātmā and at the back of the organic evolution, implies that all congenital developments of and peculiarities in the embryo, are due to a pre-natal subconscious force, working upon the parental germinal matter, in accordance with its pre-determined inclinations and tendencies.

The Nyāya view of the Adṛṣṭa is opposed to the doctrine that Adṛṣṭa is inherent in the Manas—a view, which is attributed to the thinkers of the Sāṅkhya school. We may also recall in this connection that we have called the principle that transcends the purely material basis, the principle of 'Life-cum-Consciousness'. For reasons which need not be discussed here, Manas, as conceived by the Naiyāyikas, may be taken as an independent real principle, identifiable with Life, as distinguishable and detached from the conscious principle. So that when the Nyāya thinkers contend that Adṛṣṭa does not inhere in the Manas but in the Ātmā, their position is that the embryonic growth and development are not even determined by a purely vital force but always by a sub-conscious principle with its own aims, efforts and inclinations, pre-fixed,—the principle which modifies not only the germinal mass but the principle of life, operating upon it.

Vātsyāyana's criticism of the doctrine, "that Adṛṣṭa is an attribute of the material atoms and that it accounts for their peculiar (atomic) activity, on account of which these atoms combine and constitute the (embryonic) body" is in the opinion of Vācaspati Miśra and others directed against the Jaina theory. According to the Jainas, it is the influx of the Karma of the class of Nāma into the Soul that determines the nature, the structure and the development of the Body. We are told that it is the Gati, a sub-class of the Nāma-Karma, which determines whether a being would be a man or a lower animal. The Jāti similarly accounts for an animal's having one, two, three, four or five senses. The Śarīra and the Aṅgopāṅga determine the nature of the Body and its limbs and sub-limbs. Their actual locations and dimensions are settled by the Nirmāṇa-Karma, while the Bandhana and the Saṁghāta Karmas determine the combination and the interfusion of the various molecules in the formation of the Body and its various parts. The figure of the Body is said to be accounted for by the Saṁsthāna-Karma while its osseous structure is the work of the Saṁhanana. It is said that the powers of the touch, of the taste, of the smell, as well as the complexion of the Bodies are also determined by the various modes of the Nāma-Karma. Karma determines similarly the powers of motion and of respiration in a Body. Whether the Body is to be mobile or immobile, whether it is to be the abode of one soul or of a number of souls, whether it will be attractive or otherwise, whether the voice would be pleasing or harsh etc., etc., are all said to be determined by the Kārmic force. It is said that the death of a Body without being fully developed, is due to the operation of what is called the Aparyāpti-Karma. It is the Paryāpti-Karma which accounts for the various manners of organic development. Thus the requisite bodily molecules are collected, owing to the Āhāra-paryāpti; the Śarīra-paryāpti develops the Body as a whole while the development of the Senses is due to the Indriya-paryāpti. The

Prāṇāpāna-paryāpti develops the organs of respiration; the vocal organs are accounted for by the Bhāṣā-paryāpti; the organs of the mind are developed by the operation of the Manaḥ-paryāpti. The Sthira-Karma makes steady the functions of blood-circulation etc. while the Asthira makes it unsteady. According to the Jainas, all physiological phenomena connected with the evolution of the body are thus determined by what they call the Nāma-Karma. The Nāma-Karmas are primarily divided into 42 kinds, which with their sub-classes are 93 in number. The Karma which is thus at the root of organic evolution is held by the Jainas to be Paudgalika or material in nature,—so that there are apparent grounds for holding that according to the Jainas, it is Matter and the Material forces that bring about the Body and its parts with all their peculiarities. In fact, the Jainas use the expression Adṛṣṭa in the sense of the determining cause of animal origination and call it Paudgalika in opposition to the Nyāya view of it as a power, pertaining to the Soul.

With all this, however, one may justly doubt if the above charge of Vācaspati and others against the Jaina theory of organic evolution is well founded. The Jainas, of course, emphatically deny that they leave the course of structural evolution to the operation of Matter alone. The embodiment of the Soul in a Body, according to them, is due to what they call Yoga which is a sort of peculiar vibration, as it were, set up in the Soul, in connection with the corresponding vibrations in the Body, the Mind and the Organ of Speech. It is further said that in order that the said embodiment may be possible, it is not only necessary that the requisite organic matter should be near at hand to the psychical principle but that the latter should also be rid of the Vīryāntarāya-Karmas i.e. forces which obstruct its power of shrouding itself in a proper Body and similar powers regarding its limbs and sub-limbs. The Yoga which causes Āsrava i.e. actual influx of proper organic matter into the Soul and the consequent Bandha (literally, the bondage of the Soul in the material Body, but physiologically—the actual formation and development of the Body) thus requires the suitableness in the formative Matter and a responsive activity in the psychical principle to take it in. The Āsrava, however, is the way which introduces the organic matter,—just as a channel, as the Jainas describe it, lets in the outside water; and the Yoga is the internal activity modifying the state of the Soul in correspondence with the character of the in-coming organic matter. But in order that the organic matter may be thoroughly assimilated to the Soul, the Soul must be supposed to have a basic tendency, an inclination or aptitude in itself for the said assimilation. This fundamental proneness in the soul for assimilating or absorbing the organic matter peculiar in each case, is called Kaṣāya or passion, by the Jainas. Referring to this basic and ultimate causality of the Kaṣāya in the matter of structural evolution, Akalaṅka lucidly says :—

> "Just as a wet cloth catches in itself the dust brought towards it by winds from all sides, so does the soul, wet with Kaṣāya absorb in all its parts the Karma (Organic matter), introduced by the Yoga. Or, just as a red-hot iron-ball when thrown into (a pot full of) water, fully absorbs in itself the water (of the pot) so does the soul, filled with Kaṣāya, completely take in the Karma brought by the Yoga."

It may thus appear that the Jaina philosophers also believe in an immaterial factor, required for the structural evolution in an animal, over and above the organic matter.

The dualistic systems of India thus maintain that the congenital differences in structure and other matters in animals, are due to the differences in the pre-natal super-organic forces that work upon the organic matter and shape it into the usual forms. Even the monistic Vedānta admits the causality of these pre-natal forces. Inspite of its acosmistic position, the Vedānta concedes that for all practical purposes, the World must be accepted as real. From the practical standpoint, the animals are to be supposed to have their origination and God, to be their creator. The question, therefore, arises : How are the differences in animals to be accounted for ? Is God to be supposed to have meted out differential treatment to the different animals, owing to an unkind spirit of absolute indifference in him ? The theistic Nyāya was confronted with the same criticism and the Vedāntist reply to it, absolving God from the charge of unkindness in meting out unequal treatments to creatures is as that given by the Nyāya.

> "Inequality in creatures" says Śaṅkara, "is due to the fact that God, in creating, is not free but is dependent on other factors. If you ask as to what other factors the creator had to rely on, we would say, he was dependent on the Dharma and the Adharma (the super-organic pre-natal forces, determining the forms and characters of

> different animals from before their birth).....God is only the common moving cause....The differences in the animals are caused by the differences in the Karmas inhering in these animals.........."

The same efficiency of the Dharma and the Adharma as ante-natal causes, determining the peculiar characters of the animals, is acknowledged by the Buddhists,—at the obvious sacrifice of their fundamental doctrine of the absolute momentariness of all phenomena. The origin of an animal is not attributed to organic matter alone by the Buddhists. According to them, as Vācaspati points out,—

> "Bhava means the Dharma and the Adharma and is so called because to it the Bhava or origination is due. The origination of Skandha i.e. the animal Body is caused by that (i.e. the Bhava consisting in the Dharma and the Adharma)"

The Bhava as the transcendental force, working upon the organic matter for the origination of the animal Body is peculiar in each case and is otherwise called the Vāsanā.

THE FIGURES OF THE TWO LOWER RELIEFS ON THE PĀRŚVANATHA TEMPLE AT KHAJURĀHO

DR. KLAUS BRUHN, PH.D.

Bibl.: B. L. Dhama and S. C. Chandra, Khajurāho (Published by the Manager of Publications, Delhi 1953), p. 36.

Introduction and Plans p. 7. Description and Interpretation of the Figures p. 11. Statistics p. 25. Notes p. 26. Conclusion p. 31.

INTRODUCTION

The present article is a specialized study of the iconography of one of the Jaina temples at Khajurāho, but an attempt has been made in the last paragraphs to utilize the results for some general conclusions concerning iconography as subject and as method.

A general description of the Jaina temples, especially of the Pārśvanātha temple, is given in Dhama/Chandra's monograph:

(p. 28) "The Jaina temples are situated to the south-east of the village [Khajurāho]. They are, on the whole, architecturally similar to the Brāhmaṇical examples except that the balconied openings of the transcepts, such pronounced features of the other group, are absent here. In the Pārśvanātha temple, however, to admit light into the *maṇḍapa* and the *pradakṣiṇa-patha,* small perforated windows have been introduced on all the sides."

(p. 31) "The Pārśvanātha temple is the largest and finest of the Jaina temples now surviving at Khajurāho. It is 68 ft. 2 in. long and 34 ft. 11 in. broad and faces east. The addition of a little shrine to the back of the sanctum is a distinguishing feature. The portico preceding this shrine is no longer extant. Internally, the temple consists of three chambers, the *mahāmaṇḍapa, antarāla* and *garbhagṛha.* These chambers are surrounded by a common ambulatory passage."

To my knowledge only a small plan of the temple has been published so far (by Cunningham in the 10th Vol. of the Reports of the Archaeological Survey of India, Plate VIII). Our plans on p. 10 are only meant as guide to the sculptures.

Of the three reliefs only the two lower ones are of interest for the student of iconography, the figures of the third one being of quite a different character. In rare cases the figures of the second relief reflect conceptions of the third relief just as the third relief contains some figures similar to those on the two lower panels. The sculptures of the superstructure could not be studied because they were inaccessible. —The maximum height of the lower figures (1st relief) is about 35 in., the maximum height of the upper ones (2nd relief) about 25 in. The figures on the walls of the back-shrine (sections VI and VIII in plan 3) are slightly smaller in the lower row and considerably smaller (height about 15 in.) in the upper row.—All figures in the two lower panels are standing. Whereas the women engaged in particular actions (removing of a thorn etc.) are seen in different attitudes, all the other figures show a more or less pronounced *tribhanga*. The subsidiary *yakṣiṇīs* on slab III 4^u and XI 18^u are seated in *lalitāsana*. The dwarf IV 10^u stands with crooked legs, and the three musicians VIII 3^u sit. The tīrthaṁkaras are either standing or sitting.—All the sculptures of the temple are in a very good state of preservation.

In the big plan (1) with distorted proportions the different figures are marked by T(īrthaṁkara), D(ikpāla), M(ale), F(emale), V(yāla). W denotes a window; and special niches are indicated by a frame. Over the figures in the recesses there appears a (—), whereas a (+) is put over the figures on the projections. Since combinations (MF, FM, MMM, MFM, FMF) are very common, we have separated by an oblique (M/F) figures which are grouped together in the same recess or on the same projection, but are not connected with each other.—The Roman number always refers to the section (see plan 3), the Arabic number to the place within the section, the letters *u* and *l* to the upper and lower reliefs. The reading of the figures goes from right to left (even if different sculptures are arranged on one and the same panel), but from left to right in the case of combined figures as couples etc. The reading of the attributes goes from left to right and from top to bottom.

The sculptures on the outer walls of the *garbhagṛha* are marked in the same way as those on the walls of the *maṇḍapa* and *pradakṣiṇapatha*, but for reasons of the context the eight single male figures have been specified as S (Śiva, see plan 2 for *garbhagṛha*).

In the 'Description and Interpretation' given below the sculptures are defined by a name, a Roman number, a question mark, or '0' (zero). In the last case the figure has no 'iconographical value' and, accordingly, no individuality (see below). Figures provided with a question mark may have individuality, but no identification was possible. The Roman numbers refer to certain types of sculptures (type with Śiva-iconography, type characterized by lotus and citron, and so on). As some of the types are of a very doubtful character and as the assignment to a type is often questionable, we might have marked many figures with a '?' or '0' as well as with a number. On the other hand in many cases 'I' and 'II' means almost the same as 'Śiva' and 'Viṣṇu', and only because of the gradual transition to less and less distinct Śivas and Viṣṇus which makes a decision often difficult the names are always avoided. Some figures, however, are explained by a name, not because of especially correct iconography but because transitional figures are not represented so that it was not necessary to introduce a special 'type'.

In the 'Statistics' the members of the types are listed. In the case of types I and II those figures are mentioned first which bear the greatest resemblance with these gods, and the figures with few 'iconograms' peculiar to them are enumerated later. By 'iconogram' (in opposition to a mere attribute) I mean any feature (*mudrā, āsana,* attribute etc.) which identifies a being either as an individual strictly speaking (e.g. Ṛṣabha generally to be recognized by the hair-locks) or as a member of an individual group (e.g. tīrthaṁkaras largely to be recognized by their nudity). As some iconograms found with the sculptures of our temple (lotus, '*padmasarpa*', snake, citron) have spread from certain figures to others they cannot, in any context, be taken as significant. They appear along with statues to whom they originally do not belong (Śiva and Viṣṇu with citron) or are found isolated (couple with '*padmasarpa*' as sole attribute), and they lose, accordingly, their significance even in the proper context (lotus along with *cakra* gives no sufficient evidence that the figure is actually meant to be Viṣṇu). Especially figures with such iconograms are defined by '?', '0' or are enumerated at the end of the lists for type I and II.

For terms not explained here refer to Notes.

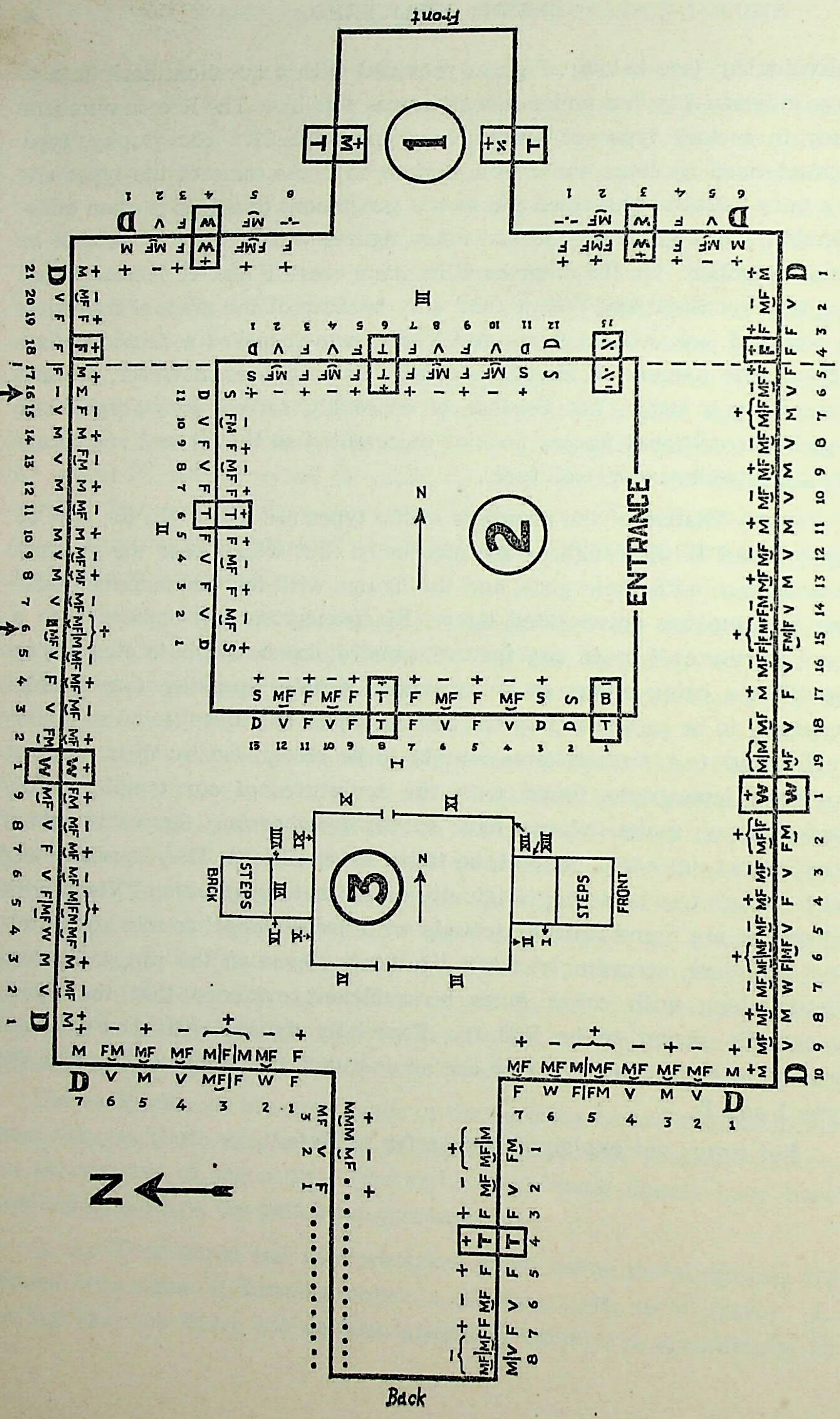
Front
1
2
3
N
ENTRANCE
STEPS
BACK
STEPS
FRONT
D
N
Back

PLANS 1-3

DESCRIPTION AND INTERPRETATION OF THE FIGURES

A THE FIGURES ON THE OUTER WALLS OF THE MAṆḌAPA

I ./.
T (—.—) standing

II 1 F = ?
āmraphala (?) /kaṭi or paṭa
no sculpture

II 2 FMF = 0
beard (M) /head (M) //neck (1stF) /r.l.arm (1stF) //n.r./l.u. arm (M)
MF M = V F = 0
dhanuṣkarṣaṇa/dhanus/ /ālingana (kaṇṭha) /pustaka
padma/ālingana

II 3 window
window

II 4 F = 0
bījapūra/paṭa
F = ?
./. / padmasarpa or padma rolled up

II 5 MF = 0
kaṭi/āliṅgana//āliṅgana (kaṇṭha) /padmasarpa
V

II 6 M = III (padmapāṇi)
padmasarpa/padmasarpa
bījapūra/kaṭi
M = dikpāla (E) Indra (elephant)
gadā (perhaps mutilated ankuśa) /sarpa (3)
padmapāṇi (form b) /vajra

III 1 M = I (apasmārapuruṣa, padmapāṇi)
triśūla/padmasarpa
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
M = dikpāla (SE) Agni (meṣa, knotted beard)
gadā (śakti ? sruk ?) /pustaka (?)
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging)

III 2 MF M = II F = 0
śankha/cakra/ (ring) //āliṅgana (kaṇṭha) /darpaṇa
gadā/āliṅgana
V

III 3 F = 0
bījapūra/paṭa
F = 0
pointing downwards with stretched/pustaka
forefinger and middle finger (as teaching)

III 4 *s. p.* 24

III 5 F = 0 ?
padma (full-blown, stalk) or cakra (stick)/paṭa
F = 0 (n.f.)
removing a thorn from her foot

III 6 MF = 0
= II 5^u, but darpaṇa instead of padmasarpa
V

III $7a^u$ F = 0
paṭa/padmasarpa

III $7b^u$ M = II
padma (half-opened, stylized)
resting on gadā

III 7^l M = ? (vāhana)
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)

III 8 MF M = IV F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk)/n.r.//āl. (kaṇṭha)/padmas.
bījapūra/āliṅgana
V

III 9 MF M = I F = 0
padma (half-opened, stalk)/sarpa (1)//āl. (kaṇṭha)/darpaṇa (?)
kaṭi/āliṅgana
M = I (Nandi)
triśūla/sarpa (3)
padma (bud)/kaṭi

III 10 MF = 0
= II 5^u, but paṭa (hand lifted up) instead of padmasarpa
V

III 11 M = III
padmasarpa/padmasarpa
kaṭi/padma (half-opened)
M = I
padma (bud)/sarpa (1)
downwards/padma (half-opened, stylized)

III 12 MF = 0
= II 5^u, but darpaṇa instead of padmasarpa
V

III 13 MF = 0
= II 5^{u}
M = I
padmasarpa/sarpa (1)
padma (half-opened, stylized) /kamaṇḍalu

III 14 FM F = 0 M = ?
bijapūra/n. r. // ? /padmasarpa
ālingana/kaṭi
V

III $15a^{u}$ FMF = 0
kaṭi/ālingana//āl. (kaṇṭha) /āl. (kaṇṭha) //āl. (kaṇṭha) /pustaka

III $15b^{u}$ F = 0
paṭa/hand bent downwards, animal (probably bird) on wrist

III $15a^{l}$ F = 0
paṭa/kaṭi

III $15b^{l}$ FM F = 0 M = Balarāma (7 snake-hoods)
padmasarpa/ālingana (kaṇṭha) //kamaṇḍalu (resting) /hala
ālingana/kaṭi

III 16 MF = 0
varada (towards the F) /ālingana (kaṇṭha) //āl. (kaṇṭha) /paṭa
V

III 17 M = III
= III 11^{u}
F = 0
painting the eye/darpaṇa

III 18 MF = 0
varada (towards the female) /ālingana//āl. (kaṇṭha) /?
V

III $19a^{u}$ M = VI
bundle of lotus-stalks (with buds) /padmasarpa
kaṭi/padma (half-opened, stylized)

III $19b^{u}$ M = IV
padma (half-opened, stalk) /padmasarpa
bījapūra/kaṭi

III 19^{l} MF M = II F = 0 (photo)
śankha/cakra //ālingana (kaṇṭha) /darpaṇa
padma (half-opened) /ālingana

IV 1 window
window

IV $2a^u$ F = 0
bent downwards/padmasarpa

IV $2b^u$ MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1) //āl. (k.) /padma (full-blown, stalk)
kaṭi/ālingana

IV 2^l FM F = 0 M = Kubera (?) (photo)
padmasarpa/ālingana (kaṇṭha) //nakula/padmasarpa
ālingana/resting on gadā
creeper between F and M (padmapāṇi)

IV 3 MF = 0
= II 5^u
V

IV 4 MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1) // ālingana (kaṇṭha) /bījapūra
kaṭi/ālingana
F = Ambikā
lumbi/śiśu

IV 5 MF = 0
left hand (F) /l. shoulder (F) //r. shoulder (M) /r. hand (M)
V

IV $6a^u$ MF M = IV F = 0
padmasarpa/padma (half-opened) //r.shoulder (M) /padmasarpa
bījapūra/ālingana

IV $6b^u$ MF M = V F = 0
dhanuṣkarṣaṇa/ālingana//r.shoulder (M) /padmasarpa

IV $6a^l$ MF M = II F = 0
cakra/śankha //ālingana (kaṇṭha) /padmasarpa
resting on gadā/ālingana

IV $6b^l$ F = 0 (n.f.)
touching the ear with her right hand

IV 7 MF M = I F = 0
sarpa (1) /śakti//ālingana (kaṇṭha) /padma (full-blown, stalk)
padma (bud) /n.r.
window

IV 8 MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1) //r.shoulder (M) /bījapūra
abhaya/ālingana

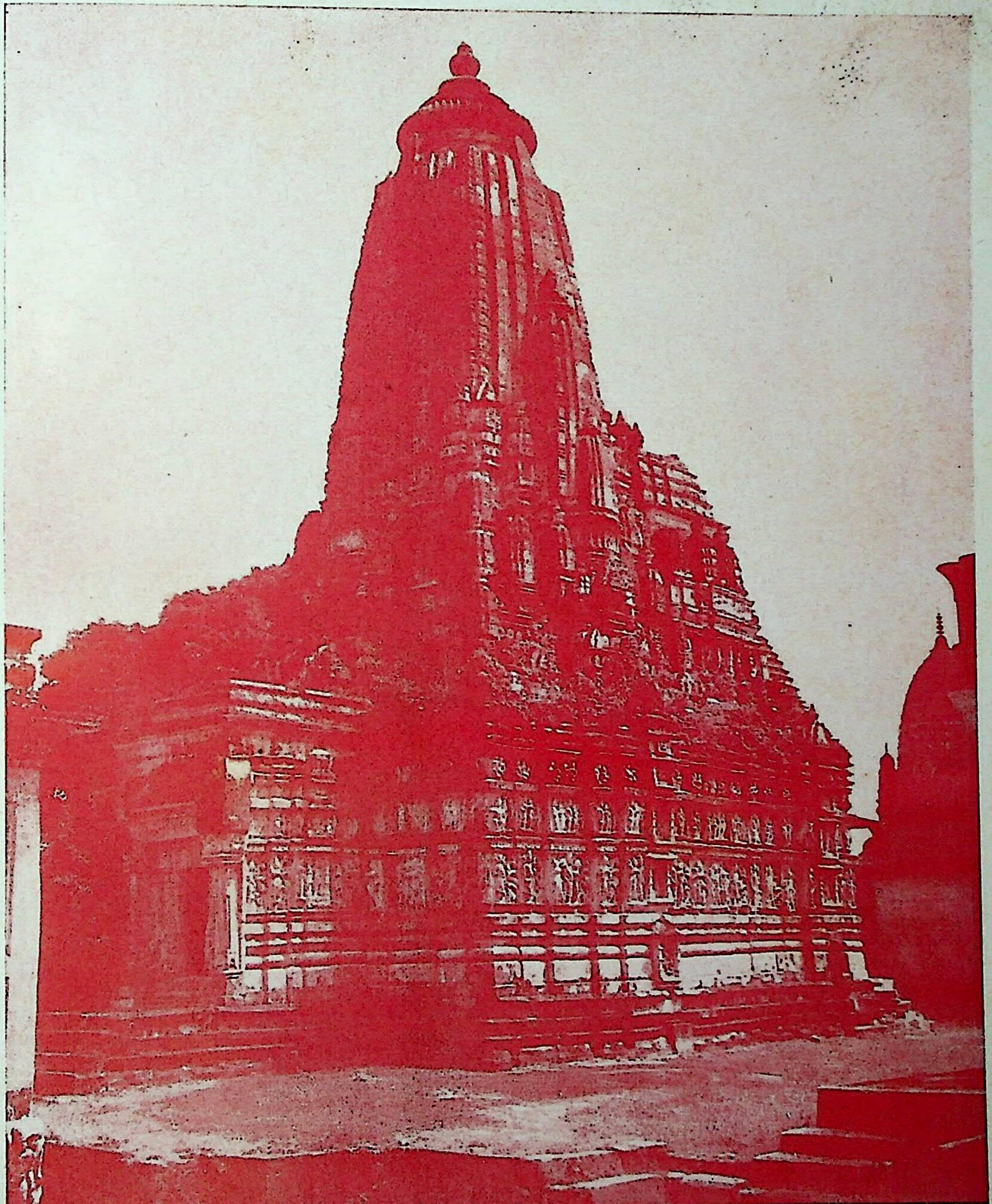

Temple of Pārśvanātha, Khajurāho

Photo : R. Bharadwaj]

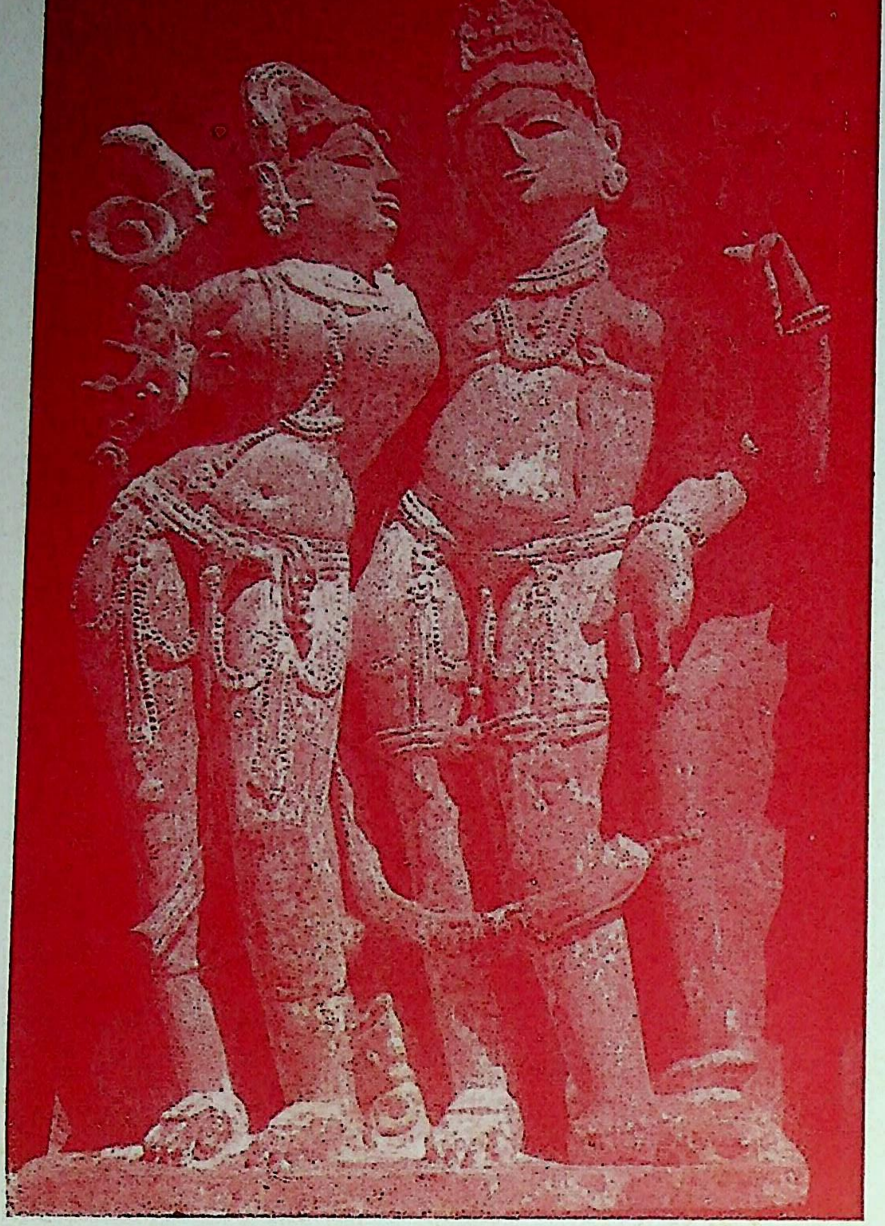

1. IV. 2^{1}

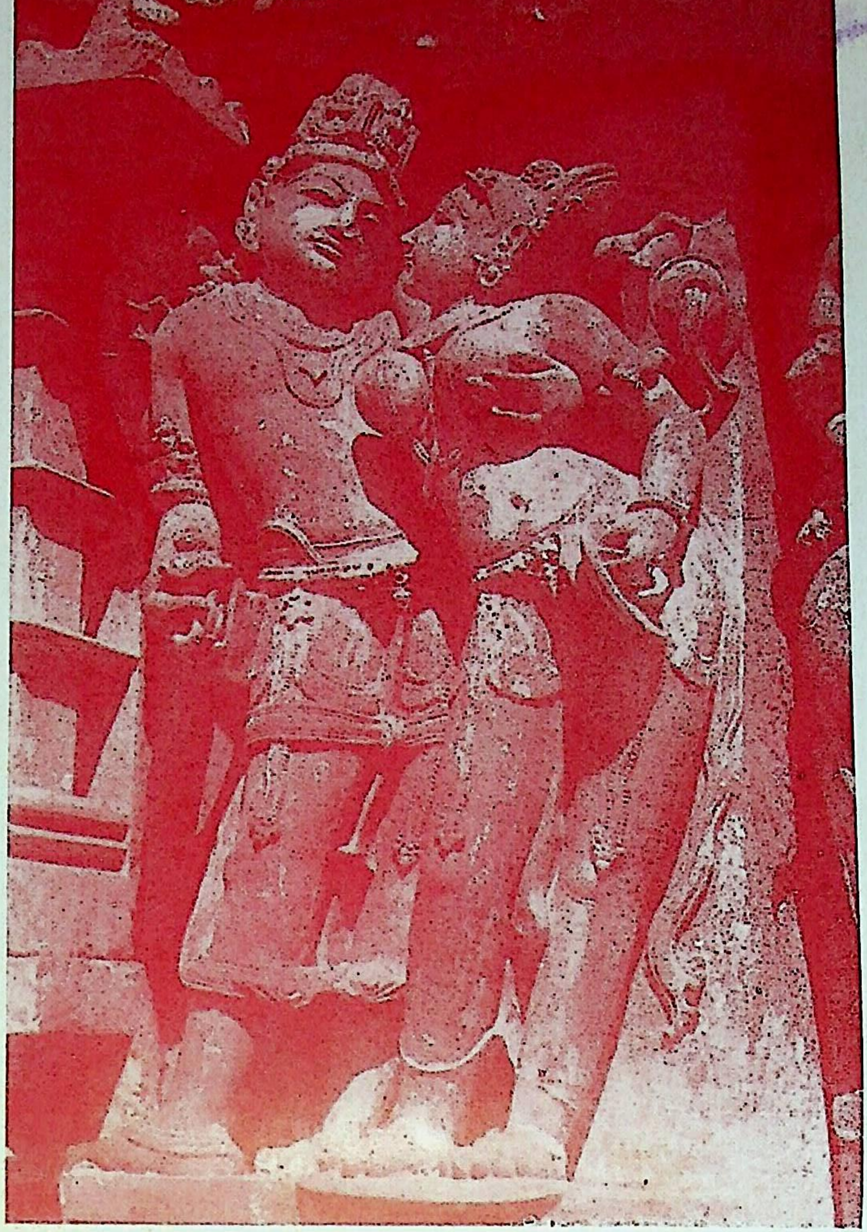

2. III. 19^{1}

The Figures of the two lower reliefs on the Pārśvanātha Temple at Khajurāho

Photos : Dr. Klaus Bruhn]

M = I (Nandi)
padma (rolled up, animal in calyx) /sarpa (3)
kaṭi/padma (bud)

IV 9 MF = 0
= II 5^{u}
V

IV 10 M = dwarf
creeper in both arms (padmapāṇi)
M = dikpāla (S) Yama (beard and moustache; skull and snakes on the head)
padma (bud) /pustaka
khaṭvānga (animal on top) /abhaya (bird on wrist)
mṛga (?)

V 1 M = II
abhaya/śankha
resting on gadā/ ./.
M = dikpāla (SW) Nirṛti (naked, snakes round the neck and round the arms)
padmasarpa/sarpa (1)
khaḍga/śiras
śvan

V 2 MF M = II F = 0
resting on gadā/ālingana//ālingana (kaṇṭha) /padmasarpa
V

V 3 MF M = IV F = 0
padma (half-opened) /padmasarpa//ālingana (kaṇṭha) /pustaka
bījapura/ālingana
M = I (Nandi)
padmasarpa/sarpa (3)
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging)

V 4 MF = 0
= II 5^{u}
V

V $5a^{u}$ MF M = II F = 0
gadā/padma (half-opened, stylized, stalk) //āl. (kaṇṭha) /downw.
bījapūra/ālingana

V $5b^{u}$ M = II
padmasarpa/cakra
resting on gadā/śankha

V 5a^{l} FM F = 0 M = II
padma (?) /n.r. // cakra/śankha
ālingana/resting on gadā

V 5b^{l} F = 0 (n.f.)
one long lotus-stalk (with bud) carried by both arms

V 6 MF M = VI F = 0
padma (half-opened, stalk) /padmas.//āl. (kaṇṭha) /darpaṇa
padma (bud) /ālingana
window

V 7 MF M = II F = 0
resting on gadā/l.shoulder (F) // n.r./padmasarpa
F = 0 (padmapāṇi)
bījapūra/downwards

VI (all figures smaller in size, refer to Introduction)

VI 1a^{u} M = 0
kaṭi/padma (bud) or bījapūra

VI 1b^{u} MF = 0
= II 5^{u}

VI 1^{l} FM F = 0 M = II
darpaṇa/ālingana (kaṇṭha) //cakra (ring) /padma (half-op., stalk)
ālingana/śaktighaṇṭa

VI 2 MF = 0
kaṭi/n.r. // n.r./padmasarpa
V

VI 3 F = 0
paṭa/padmasarpa
F = 0 (n.f.)
both hands holding braid of hair

VI 4 T (—.—) seated
T (—.—) standing

VI 5 F = 0
paṭa/padmasarpa or padma (full-blown, stalk)
F = 0
paṭa/hand bent downwards (with bird on wrist)

VI 6 MF = 0
touching his own chest/āl.//āl. (kaṇṭha) /between the legs
V

VI 7 F = 0
padmasarpa/kaṭi
F = 0
padmasarpa/kaṭi

VI $8a^{u}$ MF = 0
= II 5^{u}, but pustaka instead of padmasarpa

VI $8b^{u}$ MF = 0
= II 5^{u}, but kaṭi instead of padmasarpa

VI $8a^{l}$ V

VI $8b^{l}$ M = II (padmapāṇi)
śankha/padma (half-opened, stalk)
resting on gadā/cakra

VIII (all figures smaller in size, refer to Introduction)

VIII 1 no sculpture
F = 0 (n.f.)
?/pustaka

VIII 2 MF = 0
padma (bud) or bījapūra (with head of a snake upon it)/āl.//
ālingana (kaṇṭha) / ./.
V

VIII 3 MMM = 3 musicians
veṇu//raised/paṭa//ḍamaru
MF M = V F = 0
lotus-bundle/dhanus //āl. (kaṇṭha)/padmasarpa
sort of half-opened padma/āl.
lotus-bundle as in III $19a^{u}$, but with three human skulls on the stalks below the buds

IX 1 F = 0
./. / paṭa
F = 0
downwards/darpaṇa
to her left female attendant figure (with bījapūra in her right hand)

IX 2 MF = 0 (M with beard)
= II 5^{u}
window

IX $3a^{u}$ M = 0
padmasarpa/downwards

IX 3b^{u} F = 0 (animal to her right)
hand touching right cheek (fore-finger and middle finger stretched upwards) / pustaka

IX 3c^{u} M = III
padmasarpa/padmasarpa
bījapūra/kaṭi

IX 3a^{l} F = 0 (n.f.)
stick/collyrium vessel

IX 3b^{l} MF M = II F = 0
./. /cakra//ālingana (kaṇṭha) /padma (half-opened, stalk)
./. /ālingana

IX 4 MF = 0
= II 5^{u}
V

IX 5 MF = 0
bījapūra/ālingana // ālingana (kaṇṭha) /pātra (?)
M = I (Nandi)
padmasarpa/sarpa (1)
./. /kaṭi

IX 6 FM F = 0 M = ?
padmasarpa/ālingana//n r./padma (bud, stalk)
ālingana/kamaṇḍalu (resting)
V

IX 7 M = II
padmasarpa / ./.
resting on gadā / ./.
M = dikpāla (W) Varuṇa
pāśa/padmasarpa
kaṭi/kamaṇḍalu (hanging)

X 1 M = II (padmapāṇi)
padma (half-opened, stalk) /cakra (stalk)
abhaya/kaṭi
M = dikpāla (NW) Vāyu (mṛga)
ankuśa/pustaka (dhvaja ?)
varada/kamaṇḍalu (hanging)

X 2 MF M = II F = 0
śankha/sarpa //touching śankha (or neck) of M/padma
resting on gadā/n.r. (half-opened, stylized, stalk)
V

X 3 M = II
śankha/padma (half-opened)
resting on paraśu/cakra
M = I
triśūla/padmasarpa
bījapūra/kaṭi

X 4 MF M = II F = 0
dhanuṣkarṣaṇa/padma (half-opened) //āl. (kaṇṭha) /padmas.
resting on gadā/āliṅgana
window

X $5a^{u}$ FM = 0 (creeper between F and M, = padmapāṇi)
stick kept in pātra/r.l.arm (M) // pātra/padma (bud) (?)

X $5b^{u}$ M = III
padma (bud, stalk)/padma (bud, stalk)
kaṭi/bījapūra

X $5a^{l}$ MF M = Kumāra ? F = 0
śakti/āliṅgana //āliṅgana (kaṇṭha) /padmasarpa
kaṭi/śakti (one weapon in two arms)

X $5b^{l}$ F = 0 (n.f.)
engaged in her toilet

X 6 MF M = VI F = 0
padmasarpa/padma (bud, stalk) //āliṅgana (kaṇṭha) /padmasarpa
kaṭi/āliṅgana
V

X 7 MF M = I F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk) /sarpa (1) // āl. (k.) /bījap.
bījapūra/āliṅgana
F = 0 (n.f.)
removing a thorn

X 8 MF M = I F = 0
M = III 9^{u} // āliṅgana (kaṇṭha) /padmasarpa
V

X 9 FM F = 0 M = ?
padmasarpa/āliṅgana (kaṇṭha) //n.r./cakra
āliṅgana/kaṭi
either cakra with three snake-hoods on top or bundle of lotus-stalks (cf. VIII 3^{l}) with cakra below the buds
MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (3) //āliṅgana (kaṇṭha) /darpaṇa
padma (bud) /āliṅgana

XI 1
window
window

XI 2
MF M = VI F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk) /padmasarpa or padma (full-blown, stalk)
downwards/l. shoulder (F) //
ālingana (kaṇṭha) /bījapūra
FM F = 0 M = Brahma (3[= 4] heads, beard, padmap.)
padmasarpa/ālingana (kaṇṭha) //śakti (sruk?) /pustaka
ālingana/kaṭi

XI 3
MF = 0
l. hand (F) /r. hand (F) //beard/pustaka (?)
V

XI 4
MF = 0
= II 5^u
F = 0 (n.f., padmapāṇi)
engaged in her toilet

XI 5
MF = 0
= II 5^u
V

XI 6a^u
M = II
śankha/padmasarpa
bījapūra/resting on mace

XI 6b^u
MF = 0
= II 5^u

XI 6^l
MF M = Agni (beard) F = 0
daṇḍa/śikhā //ālingana (kaṇṭha) /padmasarpa
dhanuṣkarṣaṇa/ālingana

XI 7
MF = 0
= II 5^u
V

XI 8
MF = 0
= II 5^u, but pustaka instead of padmasarpa
M = I (Nandi)
sarpa (3) /padmasarpa
kaṭi/bījapūra

XI 9
MF M = ? F = 0
= II 5^u, but 'resting on ?' instead of 'kaṭi'
V

XI 10 M = II
kaṭi/śankha
M = VI ?
padmasarpa/padma (bud) (?)
abhaya/kaṭi

XI 11 MF = 0
= II 5^u, but pustaka instead of padmasarpa
V

XI 12 M = ?
pustaka (?)/abhaya
kaṭi/padmasarpa
M = II
padmasarpa/śankha
bījapūra/resting on gadā

XI 13 FM = 0
padma (?)/ālingana (kaṇṭha)//n.r./kaṭi
V

XI 14 M = II
padmasarpa/padma (half-opened, stalk)
resting on gadā in varada pose/bījapūra
M = IV
padma (bud)/padma (full-blown, stalk)
bījapūra/kaṭi

XI 15 F = 0 (n.f.)
shown from the back
V

XI 16 M = I (Nandi)
padma (half-opened) (?)/sarpa (3)
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
no sculpture

XI 17 M = I (Nandi)
gadā/sarpa (3)
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
F = 0
lekhanī/pustaka

XI 18 *s.p.* 24

XI 19 F = 0
paṭa/padmasarpa
F = 0 (n.f.)

XI 20 MF M = IV F = 0
padmasarpa/paṭa //āliṅgana (kaṇṭha)/darpaṇa
bījapūra/āliṅgana
V

XI 21 M = (Brahma)
śakti (sruk ?)/pustaka
sort of varada/kamaṇḍalu (hanging)
M = dikpāla (N) Kubera
padmasarpa/pustaka (?)
bījapūra/sarpa (1)

XII 1 M = I
triśūla/padmasarpa
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging)
M = dikpāla (NE) Īśāna (Nandi)
śakti/sarpa (3)
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging)

XII 2 MF = 0
l.hand (F)/āliṅgana (kaṇṭha)//āl. (kaṇṭha)/in right hand (M)
V

XII 3 F = 0
paṭa/padmasarpa
F = 0
padmasarpa/downwards

XII 4 window
window

XII 5 FMF = 0
bījapūra/l.shoulder (M)//āliṅgana (1st F)/āl. (k., 2nd F)//
r.shoulder (M)/bījapūra
MF M = II F = 0
./. / śankha // āliṅgana (kaṇṭha)/padmapāṇi (cakra before
kaṭi/āliṅgana creeper, cf. X 9^{u})

XII 6 F = ?
./. / bījapūra
no sculpture

XIII M = III
padma (half-opened)/padma (half-opened)
resting on gadā/bījapura
T(—.—) standing

B THE FIGURES ON THE OUTER WALLS OF THE GARBHAGṚHA

a. *The dikpālas* (order of succession : r.u. arm/l.u.//r.l./l.l.)

Indra : ankuśa/padma (half-opened, stalk)//kaṭi/vajra (gaja)
Agni : śakti (sruk?)/pustaka(?)//abhaya/kamaṇḍalu (hanging) (beard, meṣa)
Yama : pustaka/sarpa(1)//kaṭi/khaṭvānga (moustache, mṛga?)
Nirṛti : ./. /sarpa(1)//khaḍga(?)/śiras (sarpa on the head, round the neck, and round the arms; śvan)
Varuṇa : pustaka(?) / ./. // kaṭi/? (vāhana)
Vāyu : mālā (dhvaja?) kept in both upper arms// gadā (ankuśa?)/kamaṇḍalu (hanging) (hiraṇa)
Kubera padmasarpa/padma (half-opened)//kaṭi/nakula (vāhana)
Īśāna : sarpa/padma (half-opened)//triśūla / ./. (padmapāṇi, Nandi)

b. *The Śivas* (order of succession as in a.)

triśūla/sarpa(1), but I 2, I 13, II 11, III 12 : sarpa (3)
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging) (Nandi)

c. *The couples* (all [except II 10] MF, all = 0, all only two arms)

I 4^u	= II 5^u (of maṇḍapa), but paṭa instead of padmasarpa
I 6^u	kaṭi/ālingana (kaṇṭha)//n.r./beard of the male
I 10^u	= II 5^u, but padma (half-opened, stalk) instead of padmasarpa
I 12^u	right arm of the female/ālingana (kaṇṭha)//paṭa/abhaya
II 2^u	= II 5^u, but padma (bud, stalk) instead of padmasarpa
II 4^u	left arm of the female/āl. (kaṇṭha)//āl. (kaṇṭha)/śṛnkhalā(?)
II 8^u	left hand of the female/ālingana//āl. (kaṇṭha)/hand empty
II 10^u	(FM) right thigh of the male/paṭa//ālingana (kaṇṭha)/?
III 2^u	right arm of the female/ālingana (kaṇṭha)//touching her left breast/downwards
III 4^u	dhanuṣkarṣaṇa/ālingana//ālingana (kaṇṭha)/pustaka
III 8^u	maithuna
III 10^u	outer hands put into one another, inner h. on outer shoulders

d. *The female figures*: all = 0, all n.f.

e. *The tīrthaṁkaras etc.*

I 1	lower panel : T(—.—), upper panel : Bāhubalin
I 8	l.p. T(—.—), u.p. T(—.—)
II 6	l.p. T with ardhacandra (= Candraprabha), u.p. T with makara (?, = Suvidhi ?)
III 6	l.p. T with makara (?), u.p. T (—.—)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayū Trust/eGangotri

C THE FIGURES IN THE NICHES AND ON THE LINTELS

All figures are female, all except III 4^{u} (middle), III 4^{l}, XI 18^{u} (middle), and XI 18^{l} in lalitāsana.

a. *The figures in and below the two niches III 4^{u} and XI 18^{u} on the outer walls of the maṇḍapa*

III 4^{u}	*left figure* = Sarasvatī? padma (half-opened, stylized)/pustaka abhaya/bījapūra *middle figure* = Lakṣmī ? ./. / padmasarpa abhaya/kamaṇḍalu (hanging) *right figure* = Cakreśvarī? cakra (stick)/padma (half-opened, stylized) dhanuṣkarṣaṇa/kamaṇḍalu (resting)
III 4^{l}	= ? padmasarpa / ./. varada / ./.
XI 18^{u}	*left figure* = ? padma (?)/padma (half-opened, stalk) abhaya/bījapūra *middle figure* = Brahmāṇī (3 [= 4] heads) ./. / ./. ./. / ./. *right figure* = Lakṣmī ? padma (?)/padma (half-opened, stalk) abhaya/kamaṇḍalu (resting)
XI 18^{l}	= Lakṣmī ? padma (half-opened, stalk)/padma (half-opened, stalk) ./. / śankha

b. *The figures in the two niches below the reliefs*

south wall of the maṇḍapa	=Sarasvatī padma (half-opened, stalk)/pustaka vīṇā varada/kamaṇḍalu (hanging)
north wall of the maṇḍapa	= Sarasvatī (haṁsa) rolled up padma/rolled up padma ./. / ./. animals inside the two padmas

c. *The figures on the three door-lintels*

door-way of the maṇḍapa	*left figure* = Brahmāṇī (3 [= 4] heads, haṁsa) śakti/pustaka ./. / kamaṇḍalu (resting) *middle figure* = Cakreśvarī (Garuḍa) padma (?) /cakra cakra (ring) /dhanus gadā/kheṭaka khaḍga/gadā abhaya/śankha *right f.* = Brahmāṇī (3[= 4] heads, haṁsa?) śakti/pustaka bījapūra (?) /kamaṇḍalu (hanging)
door-way of the garbhagṛha (both figures on the walls in r. angle to the lintel)	*left figure* = Lakṣmī padma (full-blown, stalk) /padma (f., st.) abhaya/kamaṇḍalu (resting) (elephants on the padmas facing each other) *right figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka vīṇā
door-way of the back-shrine	*left figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka vīṇā *middle figure* = Lakṣmī padmasarpa/padmasarpa ./. / kamaṇḍalu (hanging) *right figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka varada/kamaṇḍalu (hanging)

STATISTICS

(The figures described under B c.-e. are left aside)

Type I (*Śiva*).

4 peculiar iconograms (Nandi not counted): 8 Śivas of the garbhagṛha, XII 1^{l} (= Īśāna), XII 1^{u}.

3 : III 1^{u}, V 3^{l}, XI 17^{u}.

2 : III 9^{l}, III 13^{l}, IV 7^{u}, XI 16^{u}.

1 : III 9^{u} (= X 8^{u}), III 11^{l}, IV $2b^{u}$, IV 4^{u}, IV 8^{l}, IV 8^{u}, X 7^{u}, X 9^{l}.

mutilated figures : (garbhagṛha) III 12^{l} (Īśāna), IX 5^{l}.

figures with bījapūra : X 3^{l}, X 7^{u}, IX 8^{l}.

Type II (*Viṣṇu*).

4 : V $5b^u$, VI $8b^l$, X 3^u.
3 : III 2u, III 19^l, IV $6a^l$, V $5a^l$.
2 : III $7b^u$, X 1^u, X 4^u.
1 : V 2^u, V 7^u, XI 10^u.
mutilated figures : V 1^u, IX $3b^l$, IX 7^u, XII
figures with sarpa or bījapūra : X 2^u (sarpa) ; V $5a^u$, XI $6a^u$, XI 12^l, XI 14^u.

Type III (male figures with two padmas of the same shape in the upper arms).

II 6^u (= IX $3c^u$), III 11^u (= III 17^u), X $5b^u$, XIII^u.

Type IV (male figures with padma and bījapūra). Cf. Type II last line and Type III No. 1, 2, 5, 6.—III 8^u, III $19b^u$, IV $6a^u$, V 3^u, XI 14^l, XI 20^u.

Type V (male figures with dhanuṣkarṣaṇa and/or dhanus).
(garbhagṛha) III 4^u, II 2^l, IV $6b^u$, VIII 3^l, XI 6^l (= Agni), X 4^u.
III 4^u ('Cakreśvarī').

Type VI (male figures which do not belong to type I - V with two or more padmas).

III $19a^u$, V 6^u, IX 2^u, X 6^u, XI 10^l.

Identified figures (except the 2 x 8 dikpālas).

Balarāma (III $15b^u$), Kubera (?, IV 2^l), Ambikā (IV 4^l), Kumāra (?, X $5a^l$), Brahma (XI 2^l), Agni (XI 6^l), Brahma (XI 20^u).

Figures neither identified nor entered into the lists.

II 1^u (F), III 7^l, III 14^u, IX 6^u, X 9^u, XI 12^u, XII 6^u (F).

NOTES

Explanation of the terms (ref. also to the Introduction)

The following system has been adopted for the description of the figures in A and C :

right upper arm (1st fig.) /left upper arm (1st fig.)
right lower arm (1st fig.) /left lower arm (1st fig.)

The 2nd (3rd) figure is described behind or below the preceding figure; the double oblique separates different figures forming a group : 1st fig. // 2nd fig. // 3rd fig.

?	denotes uncertainty due to mutilation or due to difficulties in the interpretation
./.	missing or broken
T (—.—)	tīrthaṁkara-image without cihna
āliṅgana	arm put round the hip (or hip and breast) of the other figure
āliṅgana (kaṇṭha)	arm put round the neck of the other figure
brackets	iconograms not kept in the hands are given in brackets behind the general definition, e.g. 'M = I (Nandi)'. If a hand of a figure touches a part of another figure, it is indicated thus: 'left hand (F)', i.e. touching the left hand of the accompanying female figure. Similarly 'beard' in the description of a female figure means 'grabbing the male by the beard'.
cakra (ring)	cakra in the simple form of a ring
dhanuṣkarṣaṇa	fore-finger touching the thumb; the interpretation dh. (instead of jñānamudrā or pravacanamudrā) is chosen because the iconogram occurs along with weapons
downwards	hand hanging down (with thumb inwards as distinguishing mark from varada where the thumb is shown outwards); hand described as resting on a particular object is in this position if not stated otherwise
kamaṇḍalu	either hanging (upper part grasped by the hand) or resting in the hand
kaṭi	kaṭy-avalambita-hasta
n.f.	not shown from the front
n.r.	not to be recognized (if in the case of āliṅgana one arm is hidden behind the figure which it embraces)
padmapāṇi	see note on (maṇḍapa) II 6^{u}
padmasarpa	blending of padma and sarpa: rolled up sarpa resembling a full-blown lotus with stalk
paṭa	hand keeping scarf or garment
sarpa (1) / (3)	snake with one or three hoods
śiras	head (kept by a tuft of hair) in opposition to skull

Remarks on single figures

Maṇḍapa

II 5^{1} etc. Ref. for vyālas (or śārdūlas) to St. Kramrisch, The Hindu Temple, II, p. 332 ff.

II 6^{u}. padmapāṇi motive. The old motive survives in later art in two forms: *a.* As a floral design (often influenced by animal motives) which generally does not reach the hand of the figure. It can be shown by the side of almost every statue, in temples of the northern and southern styles, Hindu and Jaina. *b.* In the form of two highly stylized leaves (always of the same shape) which the tīrthaṁkara keeps in either hand. In *a* the lower part, in *b* the upper part of the design has become independent. Of our drawings Fig. 1 shows the original complete form, 2 and 3 show the two later forms *a* and *b* (*a* in Fig. 2 in its simplest shape, but combined with *b; b* alone in Fig. 3), whereas in 4 an example of blending of motive *a* with another motive (tree) is given.

All the four drawings were prepared from photos: the first shows the Bodhisattva Vajrapāṇi (early 8th century, Naltigiri, Orissa). Taken from: The Art of India and Pakistan, Edited by Sir Leigh Ashton, Plate 40 Fig. 243, by courtesy of the publisher.[1] The second shows an ācārya on the Digambara Jaina Temple No. 1 at Deogaṛh (U. P.), the third the lower portion of the main image in Deogaṛh Temple No. 28, and the fourth (Photo U. P. Shah) the lower portion of a late tīrthaṁkara image in Baroda. See also our photo of IV 2^{l} which gives an idea of the usual form of the paḍmapāṇi-motive on our temple. The pattern is simply referred to as 'padmapāṇi' (form *a,* if not stated otherwise).

II 6^{l}. sarpa is not traceable for Indra.

III 1^{u}. kamaṇḍalu instead of the common kapāla? For the apasmārapuruṣa refer to G. Rao, Hindu Iconography II 1, 67.

IV 2^{l}. padma is not traceable for Kubera.

IV 10^{l}. Here and on the garbhagṛha Yama's vāhana looks like a deer, but probably we have to read 'buffalo' according to tradition. Padma is otherwise not found with Yama.

V 1^{l}. The iconography of the upper arms is probably modelled up from the Śiva-iconography ('Type I').

VI 1^{l}. For 'śaktighaṇṭa' compare the more common vajraghaṇṭa.

X 2^{u}. sarpa not found with Viṣṇu

XI 21^{l}. The reading 'Kubera' is required by the context, but the iconography does not fit him.

XII 1^{l}. The context permits here (and in III 12^{l} of the garbhagṛha) the reading 'Īśāna' (instead of mere 'I').

[1] Faber and Faber Ltd., London.

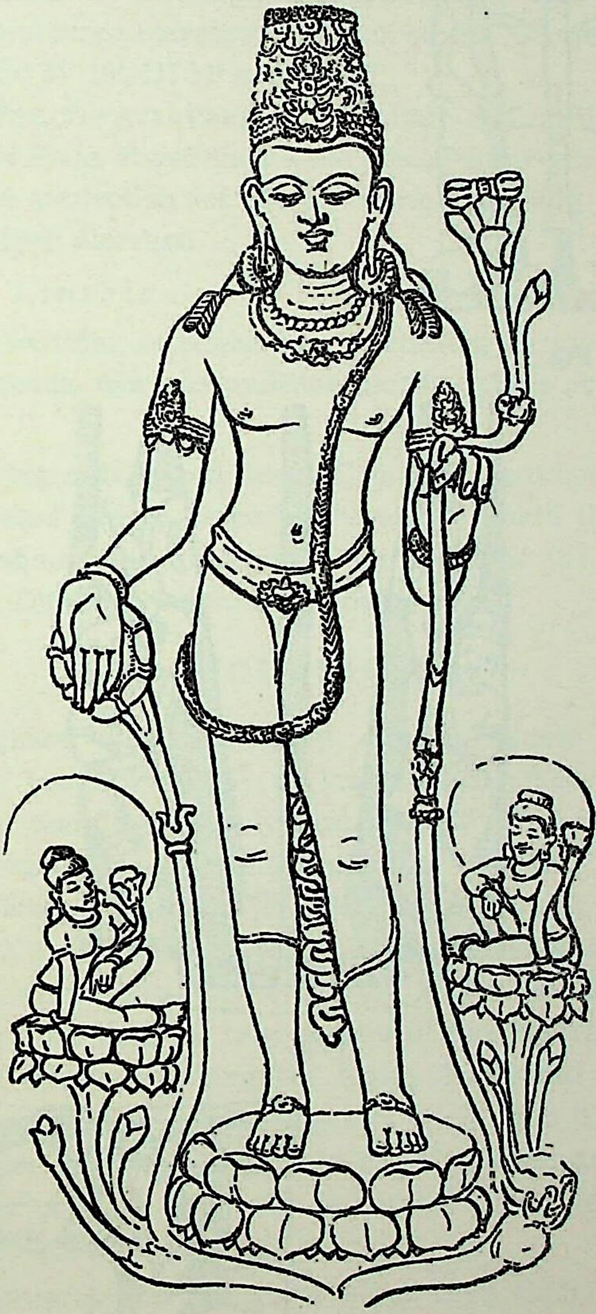

Fig. 1

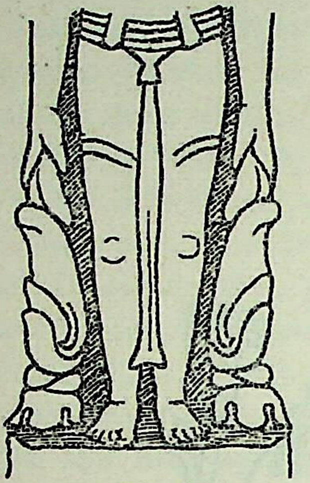

Fig. 2

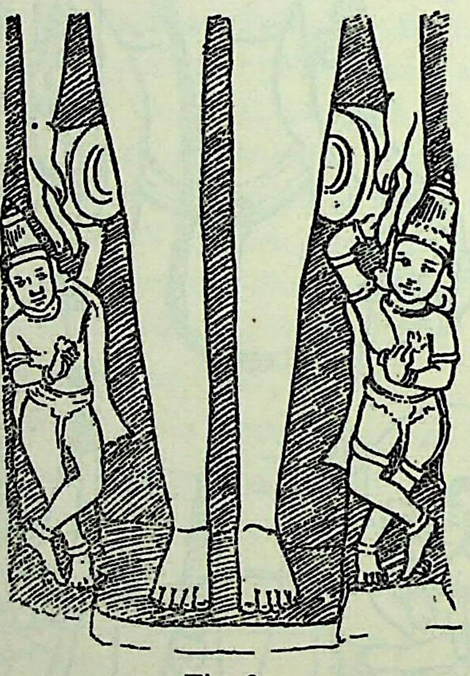

Fig. 3

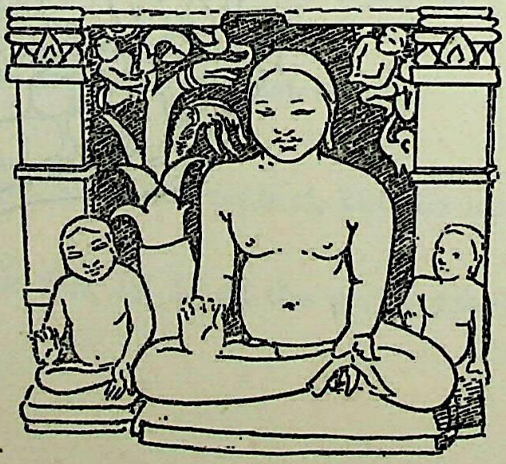

Fig. 4

Garbhagṛha

The reader may himself compare the dikpālas on the garbhagṛha with the dikpālas on the maṇḍapa. It is noteworthy that in some cases, it seems, padma and sarpa correspond to each other. Compare I 2^1 (g.) and II 6^1 (m.), I 13^1 and IV 10^1, III 11^1 and XI 21^1.

Indra and Īśāna, the guardians of the eastern and north-eastern direction—and the two Śivas above them—are placed transversely (i.e. on the side wall of the projection for the following/preceding figure) so that they face the proper direction.

Niches and Lintels

The figures identified as Brahmāṇī: According to my information no yakṣī has three heads, whereas tradition ascribes three or more heads to several yakṣas.

The second figure described under C b. and identified as Sarasvatī: I read the mutilated vāhana as haṁsa because I found the same animal as vāhana of Brahma (and his consort) on a slab of the Śiva temple at Chandpur (from Dhaura Station, Bina-Jhansi Line).

CONCLUSIONS

§ 1. Cunningham identified many of the figures on the Jaina temples more or less hesitatingly as brahmanical (ASI Reports Vol. X p. 17 on Ghaṇṭai temple "probably brahmanical", Vol. II p. 432 on two smaller Jaina temples "figure which looks like Lakṣmī", ibid. on Pārśvanātha temple "amongst which [statues] I recognized several of the brahmanical gods"). In Burnier's work 'Hindu Medieval Sculpture', however, the figures are simply called by the names of the brahmanical models. We shall see that the iconography of the Pārśvanātha temple is not brahmanical strictly speaking but highly influenced by brahmanical iconography. This solution almost suggests itself, but it is necessary to support it by such evidence which only a systematical analysis can give. The analysis has possibly also some general interest because investigations of this kind are comparatively rare.

§ 2. The interpretation of figures other than tīrthaṁkaras presents many difficulties. The artists were not bound to follow exactly the rules of the texts in the representation of *yakṣas, yakṣiṇīs*, etc. Art and theory influenced each other, and there was no one-sided dependence. What renders the books even more inapplicable is the stress laid upon features which are not typical or which are not actually represented by the artists[2]. The 'standard iconography' (U. P. Shah) has, therefore, to be found out by a combined study of art and literature. But local differences, differences even within one and the same temple, show that a general dictionary of iconography cannot be written so that it is at the end always the iconographical 'text' itself which must be utilized as dictionary.

The artists have not only changed the details of the iconographical system. Following visual rather than abstract principles they have transformed the character of the system. What is different for the theologian has been made similar or identical by the artist (lotus and *cakra*), and what is more or less identical for the theologian has been differentiated by the artist (lotus). We have tried in our description to do justice to the dogmatical as well as to the aesthetic system. But dogmatical data are more general than aesthetic features. The latter are, therefore, of greater importance, if one has to study the expansion of local styles.

§ 3. By a formal analysis we find that there are 4×2 separate male figures of a definite iconographical character on the four corners of the temple and of the *garbhagṛha* (always in the lower relief). They are the eight *dikpālas* who are thus all represented twice (with more or less important alterations). Moreover above each *dikpāla* of the *garbhagṛha* there are identical figures of Śiva. Otherwise no system can be traced in the arrangement of the sculptures, only a certain symmetry which makes it probable that the outer walls have not undergone too many changes in later times: All the three sides of the *garbhagṛha* are symmetrical and correspond to each other (plan 2). The sides of the *maṇḍapa* (and the *pradakṣiṇapatha*) are not symmetrical, but the northern and southern half of the lower relief correspond to each other and the two halves of the upper relief are corresponding on the eastern portion of the temple (up to III 4 and XI 18 respectively). See plan 1[3].

We have to distinguish between the figures of the *garbhagṛha* and those of the *maṇḍapa* (and the *pradakṣiṇapatha*) : in the case of the former there is a clear distinction of iconographical and non-iconographical statues, and only the latter (the *dikpālas* and *Śivas*) have four arms. This

---

[2] As beauty, facial expression on the one hand and colours on the other.

[3] Two slight irregularities in the correspondence of the two parts of the lower relief have been marked with an arrow. A line divides the figures of the upper relief which correspond to each other from the rest.

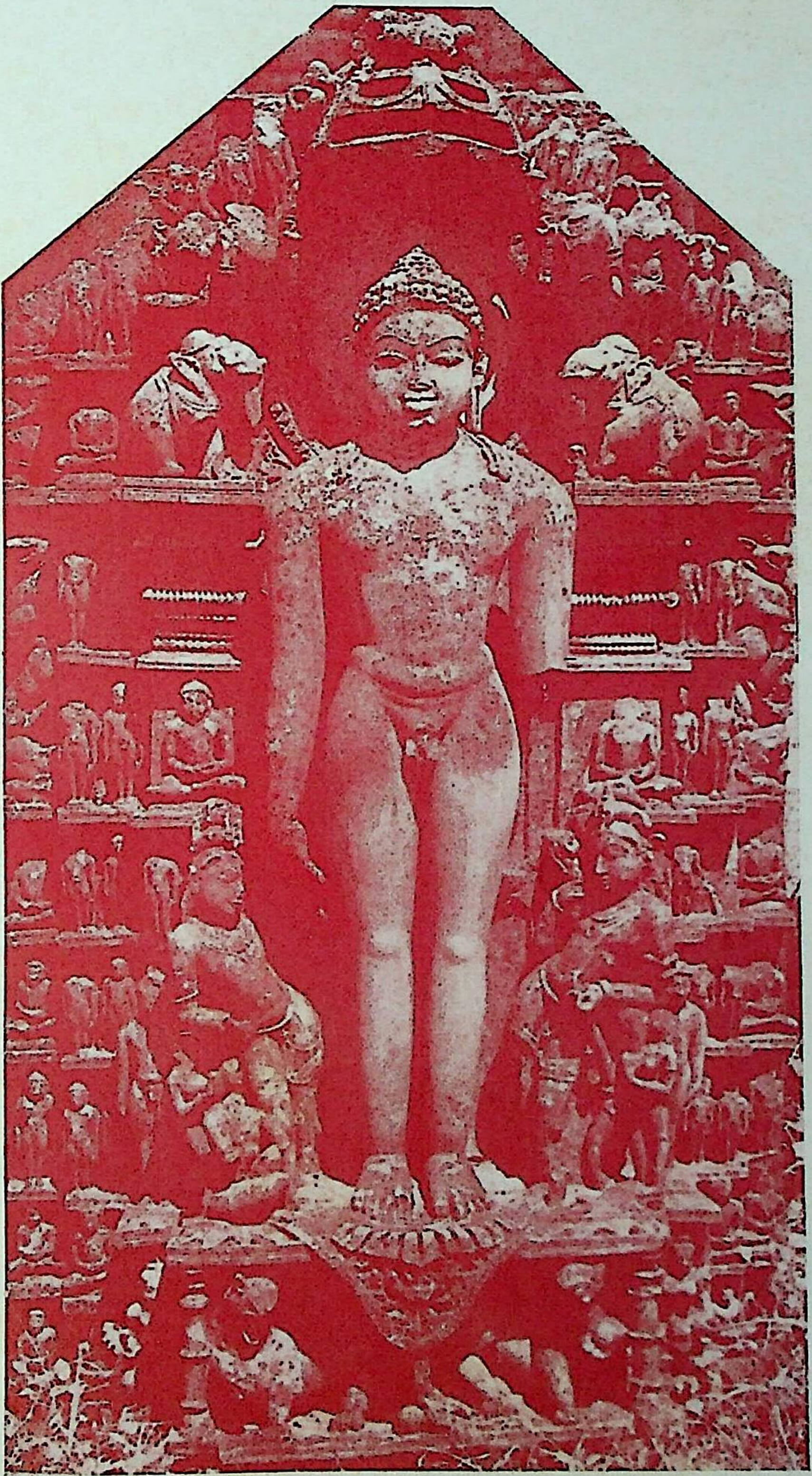

Ṛṣabhanātha, the first Tīrthaṅkara, Museum, Khajurāho

Photo : R. Bharadwaj]

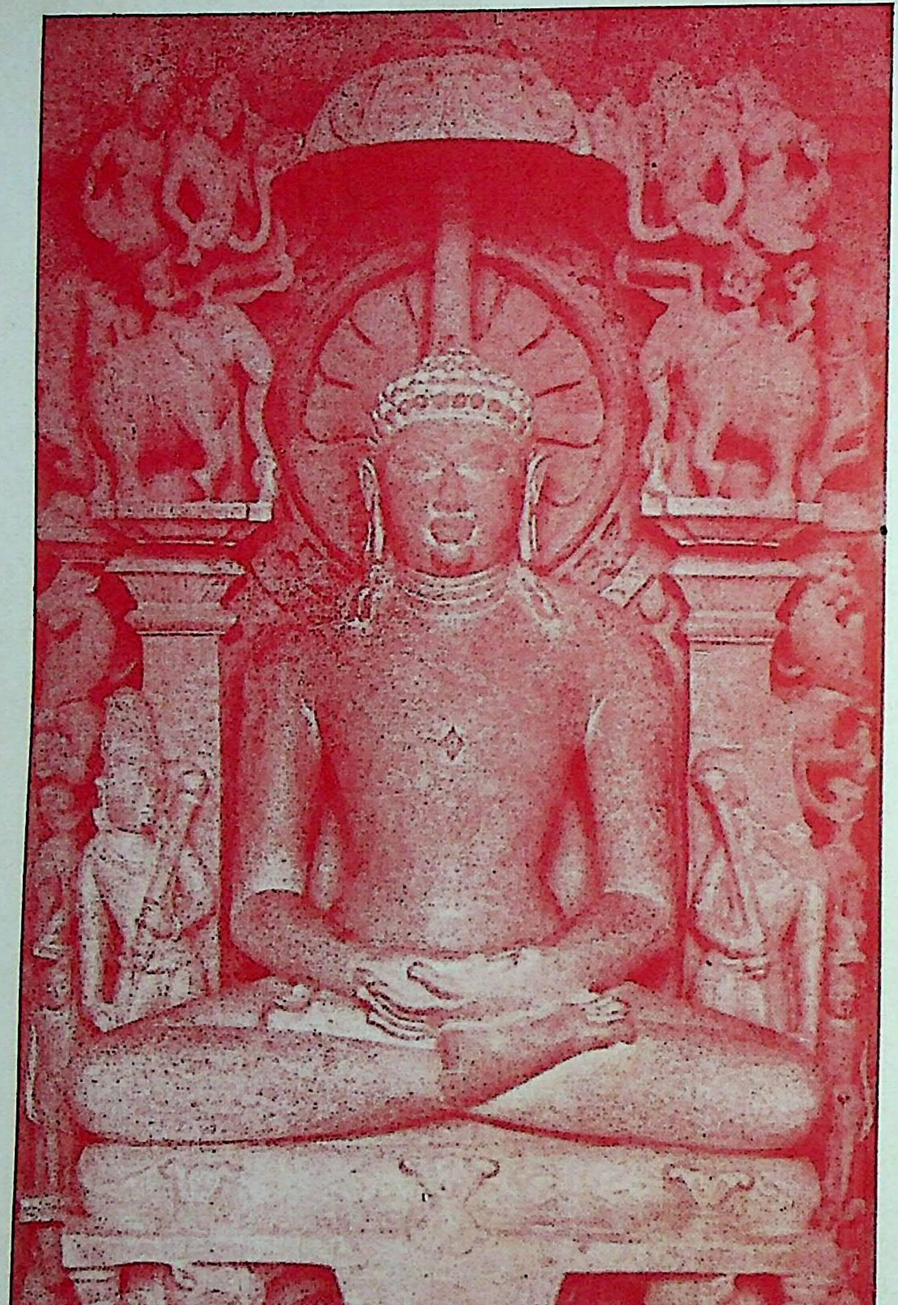

Ṛṣabhanātha, the first Tīrthaṅkara, Khajurāho

Photo : R. Bharadwaj]

clear distinction is absent in the case of the sculptures on the *maṇḍapa*[4]. Again the figures of the current panels must be kept separate from the figures in the two niches interrupting the upper panel (III 4^u and XI 18^u), below these two niches (III 4^l and XI 18^l), in the special niches below the reliefs on the north and south wall, on the three door-lintels (*maṇḍapa*, *garbhagṛha*, back-shrine). In the two current panels no female figure has more than two arms (except the just mentioned statues III 4^l and XI 18^l), and females with an iconographical character are an exception (IV 4^l !). Here, however, all the figures are females with more than two arms and have no doubt iconographical features.

The conception of the *garbhagṛha* is more systematic in symmetry and iconography than the conception of the *maṇḍapa*. Again the figures on the lintels etc. form the only group which is iconographical throughout. A correlation between the place and the general character of the figures is therefore obvious.

§ 4. Analysis of the iconography. If members of a certain group or class are being represented, we can expect among them the well known and characteristic representatives of that group. Amongst a series of *yakṣiṇīs* Cakreśvarī will not be missing, and she will facilitate the identification of the other group-members. even if their general character is not shown by systematical arrangement. As no prominent member of any class of Jaina deities appears in our reliefs (except an isolated Ambikā) we have to start in our interpretation from the many 'brahmanical' gods who catch the eye at once. An exact analysis of all the figures (as it is given above) shows that the majority of the sculptures can be explained as modelled up from brahmanical conceptions.[5] The degree of similarity differs a lot, only the impression of absolute identity was probably nowhere aimed at. The gods are shown either separately or together with uniconographical wives, but never together with the wives assigned to them by Hindu tradition[6]; they appear always in their simple form (no *avatāras* of Viṣṇu) and are never seen as engaged in an action (no Asurasūdana). It was, therefore, rather the intention of the artist to conceal than to stress the brahmanical nature of the figures.

---

[4] There are certain formal clues for the distinction of the iconographical and the non-iconographical sculptures on our temple. Figures with four arms and more are always iconographical. Non-iconographical are all figures shown from the side or from the back, and figures involved in an action.

[5] Our method of derivation finds support in a figure like XI 8^l where the artist added a Nandi-bull to a figure keeping snake, lotus, citron, thus showing that he kept in view the original conception.

[6] There is, however, in Jainism a general aversion against the sanction of divine couples. *Yakṣa* and *yakṣiṇī* are nowhere called husband and wife (U. P. Shah), and the 'happy twins', so common in Jaina art, have not found a dogmatical sanction which does justice to their actual importance.

The present article is very limited in its scope, and we would not like to say that the statues must be explained as brahmanical. An investigation into the iconography of all Khajurāho temples will possibly lead to different conclusions concerning the iconography of the Pārśvanātha temple. It can perhaps show that some of the less clear figures are representations of certain Jaina gods and that the figures with brahmanical character are not simple copies by the artists but adoptions with dogmatical background. But the difference between the last two alternatives concerns rather the form than the degree of brahmanization.

The identification of the female figures on the lintels etc. is easier. It seems they are all rather correct representations of the goddesses Cakreśvarī[7], Brahmāṇī, Sarasvatī, and Lakṣmī. These deities belong to the Jaina pantheon as well, both in theory and in art.

§ 5. Details of Interpretation. Although it was sometimes tempting to read a single figure as a particular *yakṣa*, the method explained in the last paragraph has always been followed: not to expect little known members of a class if there is no evidence for the class as such. The artists were not supposed to puzzle the worshippers but had to conform to the average knowledge of the educated lay-man. The *yakṣas* of the 19th-21st tīrthaṁkara and the *graha* Śani for example keep bow and lotus in their hands, but shall we for that connect figure II 2^1 with any of them ? Book, *abhaya*, citron are according to some Śvetāmbara authorities iconograms of Siddhāyikā, but can we identify the left subsidiary figure of III 4^u as *yakṣinī* of the 24th tīrthaṁkara? The context (refer to the end of the last paragraph) shows only one *yakṣiṇī*, and nothing has been done by the artist to suggest that the doubtful figure is a *yakṣiṇī* and not related to the Hindu goddesses in the niches and on the lintels.

Any attempt to identify the figures as particular adoptions has been avoided. A Śiva is always understood as Śiva (and not as Īśvara Yakṣa or *dikpāla* Īśāna [except *garbhagṛha* III 12^1 and *maṇḍapa* XII 1^1]), a Brahma always as Brahma (and not as Brahma Yakṣa, *dikpāla* Brahma or Brahmaśānti Yakṣa). The differences between the adoption and the model, between the various adoptions themselves, and especially between the Digambara and Śvetāmbara forms of the same adoption are so slight and so much obscured by the interfering of local peculiarities that generally the evidence of the context is required for a minute identification. On the other hand it is only in the context that such an identification gains importance. The principle of multiple adoption has led to an overlapping of the iconographical alphabets, and we cannot simply read a Brahma figure, we must know whether we shall read it according to the *dikpāla* or according to the *yakṣa* alphabet.

---

[7] Not to be taken as Vaiṣṇavī. Cakreśvari and Ambikā are the only Jaina deities which I found on the temple.

§ 6. What accounts for the two peculiarities of our figures, the semi-iconographical character and the Hindu influence? It is well possible that intermediate figures between *surasundarīs* etc. (who have no individuality) and *devas* or *yakṣas* are not restricted to Khajurāho but are represented at other places as well. The answer to the second part of the question, however, must be found in Khajurāho itself. Whereas elsewhere 'brahmanical' figures on Jaina temples conform to the official line of adoption (Sarasvatī, Lakṣmī etc.), such a limitation is not apparent here. The impact of contemporaneous Hindu art is a necessary but not a sufficient reason for the strong influence. And admitted that the few artists especially trained for Jaina sculpture could not cope with the abundance of figures which was required by the style of the time,[8] could they not at least prepare some statues of *yakṣas* and *yakṣiṇīs* to be placed on prominent parts of the structure to demonstrate the non-Hindu character of the temple?—It is also excluded that Hindu temples were converted into Jaina temples here : the present Jaina temples form a group of their own, show architectural peculiarities (due to the different forms of worship : Cunningham), and are different from the point of view of sculptural art (few indecent figures). After all the Hindu influence was stronger than the Jaina influence so that the conversion of a Hindu temple into a Jaina temple is less probable than a certain susceptibility to Hindu influences or even some concern not to stress the Jaina character of the temple more than necessary.

This paper could not have been written without the help of Dr. U. P. Shah who introduced me into the study of Jaina iconography and placed his unpublished material at my disposal.

---

[8] Moreover the *maithuna* groups generally had to be replaced by decent representations.

THE MESSAGE OF THE RELIGION OF AHIṀSA

Prof. A. CHAKRAVARTI, M.A., I.E.S., (Retd.)

Of all the Indian Darśanas, Jainism is the only one which has the principle of Ahiṁsā as its central doctrine. The other Darśanas also speak of Ahiṁsā whenever convenient but they never offer such loyalty to the principle of Ahiṁsā as is found in Jainism.

What is the message of Ahiṁsā to the modern world ?

Before answering this question we have to remember the important aspects of modern thought. The most dominant factor of modern thought is Science. It is clear nowadays that no idea which does not satisfy the bar of scientific reason has any chance of being accepted by modern thinkers. Religious ideas mainly based upon irrational traditions and superstitions will all be brushed aside as of no great importance. In this respect Jainism is on a safer ground. Jaina thinkers from the very beginning emphasise the importance of reason in all matters connected with religion. In fact, they prescribe as the first and most important condition of religious development, complete freedom from popular superstition. Samyak Darśana or Right Faith according to Jaina thinkers requires freedom from three types of superstitious beliefs or three moodahs. These are described as Loka Moodah, Deva Moodah and Pāṣaṇḍi Moodah,—popular superstition, superstition about popular deities, and faith in false ascetics. These three types of superstitious beliefs must be first got rid of by a person before he starts on his spiritual path. Unless he discards various superstitious beliefs he cannot begin his spiritual development freely unhampered. Belief that bathing in a particular river will wash off one's sins, going round a particular tree will promote one's virtue, or climbing up a particular hill will produce spiritual development are all avoidable impediments on the way of true belief in the nature of Reality. Whenever there is an epidemic in the society, people try to appease the deities by offering animal sacrifice. Such an attempt to propitiate certain deities is based upon the false belief that these deities are the real cause of the epidemic disease, such as Cholera, or Smallpox. Such practices are not only useless and ineffective but prevent men from discovering the true cause of such disease and preparing suitable and effective remedies. Hence this second type of false belief is extremely ruinous to society, if not completely eradicated. The third type of false belief is based upon superstitious faith in all sorts of Saṁnyāsins. Very often undesirable crooks put on kāṣāya, the robe of a saṁnyāsi, and trade upon the simplicity of unthinking people. These false ascetics very often mislead the people as to true form of religion. They cheat the people to secure their own benefits. Getting rid of all kinds of superstitious belief, a person gets firmly established on the foundation of Samyak Darśana, Right Faith. Getting firmly established in Right Faith or Samyak Darśana is the first step firmly established in Right Faith or Samyak Darśana is the first step in spiritual development. But that alone is not enough. Right Faith no doubt places a person on the correct path. But that alone cannot lead to complete spiritual development. This right faith must lead to Right Knowledge or Samyak Jñāna. Equipped with correct faith one must try to secure correct knowledge of things in reality. Unless one acquires an accurate knowledge of things and persons, unless one understands the true nature of oneself one cannot achieve anything.

Therefore, an accurate knowledge of the nature of Reality is a necessary condition to spiritual development. These two alone, right faith and right knowledge, would not be sufficient. Acquisition of correct knowledge must lead to correct action. What is the use of correct knowledge if it is not going to guide you in action? Hence correct action in the light of correct knowledge is a necessary condition for complete spiritual development. Hence Jainism maintains that all these three aspects must be present in a person if he is to reach his spiritual goal. This truth is expressed by the Jaina Thinkers in the following statement :

सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

"Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct together constitute the path of Salvation."

In this respect Jainism differs from other Darśanas, some of which emphasise only faith, some emphasise knowledge and some emphasise conduct. Faith or Bhakti alone is considered enough to lead to salvation. Knowledge alone is supposed to be sufficient to achieve salvation. Conduct or activity alone is considered to be enough to secure salvation. Such one-sided religious beliefs are dismissed by the Jaina Thinkers. They maintain that all the three must be present together to achieve the purpose. Very often the following analogy is quoted.

Salvation implies escape from Saṁsāra which is associated with birth, old age and death. Every person aims to reach a place which is free from birth and death. Such a desire is similar to the desire of a sick man to cure himself and attain normal health. Such a desire to be effective, the sick man must have implicit faith in his doctor, whom he consults. Next he must have a clear knowledge of the medicine prescribed by the doctor and thirdly he must take the medicine according to the instructions given by the doctor. Faith in the doctor, knowledge of the medicine, and taking the medicine as prescribed, all these three are necessary to eradicate the sickness and to secure normal health. Similar is the acquisition of spiritual health, which could be secured only by the co-operation of the three items of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct.

What is the conception of God in Jaina Religion ? What is the nature of God worshipped by the Jainas ?

Jaina Darśana, just as Sāṅkhya Darśana and Mīmāṁsā Darśana, does not believe in the doctrine of creation or a Creator, or an Īśvara, and yet believes in a Divine Being for whom the Jainas build temples and conduct religious worships. What is the nature of their God whom they worship ? He is worshipped because he is the Revealer of the path to salvation. One who reveals the path to salvation and leads man along that path towards the ultimate goal must certainly be adored.

What is the qualification of such a Leader and Revealer of the path to salvation ? He must first of all be pure and free from all spiritual defects. How does he acquire such freedom from spiritual defects ? Such freedom he acquires by completely eradicating and destroying all such root causes by adopting a strenuous path of spiritual discipline or yoga. He is able to destroy all infirmities associated with the pure spiritual self. After destruction of all karmas by yogic dhyāna and severe tapas he acquires, Omniscience. He becomes the Lord and the Revealer of Dharma. Being a sarvajña, an all-knowing Supreme Being, he qualifies himself to be the leader of Humanity. Directing man towards the goal of perfection, attaining omniscience and spiritual perfection for himself, he does not go self-satisfied. Since he is equipped with the supreme principle of Ahiṁsā, Universal Love, and unstinted reverence to life in general, the Lord, the Revealer of Truth, goes about the world preaching to people the spiritual truth that he achieved for himself. Such a divine person is interested in the welfare of all men irrespective of caste or race. Every person is entitled to learn truth. Therefore the Jaina leaders of Thought permitted all people irrespective of social distinctions to approach them for the acquisition of spiritual knowledge. Such a great leader of thought perfectly pure in himself, endowed with infinite knowledge and unbounded sympathy and love for all living beings is worshipped as the saviour of mankind. His spiritual purity is so sublime and grand that in his presence there is no evil or hatred. A tiger and a lamb move about in his presence without fear or ferocity. Such a divine person is worshipped by the Jainas as their God. He who is the leader on the path of salvation, he who is completely free from all karmas, and he who is all-knowing, such a person is worshipped by all.

The rules of conduct prescribed for the Jainas are all based upon the fundamental principle of Ahiṁsā or Universal Love. These are five in number. Ahiṁsā, Satya, Asteya, Brahmacarya and Aparigraha. Universal Love, Truth, Non-stealing, Sexual Purity, and Renunciation of all possessions. These five principles are prescribed for both the Ascetics as well as Laymen, the householders. In the case of the ascetics these five are called Mahāvratas, the five great vows which are to be observed absolutely without any limitation. In the case of the laymen or the householders these are prescribed with qualifications and limitations. The first and the most important is Ahiṁsā or Universal Love. This positive principle implies expression of reverence for Life without any limitation. All living beings deserve love and sympathy from man. Some people confine these to human beings alone. But in Jainism there is no such limitation. No life should be injured and a living being in suffering must obtain relief and safety from man. The present day practice among the Jainas is marked by a sincere endeavour to avoid harm to all living beings including insects. But the importance of man as such is almost forgotten by the modern Jainas. They have not realised the exact significance of Dharma Prabhāvana, propounding the dharma in which the Tīrthaṅkaras engaged themselves after obtaining Kevala jñāna or Omniscience. In preaching Dharma they did not confine themselves to a selected few. There were no chosen people for the Tīrthaṅkaras. All persons whether they were Suras or Asuras had equal opportunities of knowing the truth. Not only the Āryans but also the Rākṣasas had the privilege of knowing Ahiṁsā Dharma. It is clear that their object was to create a casteless society and also a classless society. The object of the founders of Jaina Dharma was to avoid as far as possible the economic distinction between the rich and the poor and the social distinction between the high and the low. These ideals have to be achieved by following the fifth vow prescribed for mankind, the vow of Aparigraha. The Jaina Ascetic according to this principle will not own any property as his own. Himself without any possession as his own, the ascetic depends upon the layman or the householder for his sustenance. Sustained by the society, the ascetic devotes his time and energy for promoting the cultural development of society as a whole. The layman or the householder is the main stay of social organisation. He maintains the economic stability of society. It is incumbent on him to see that wealth does not accumulate in a few hands. He must prevent poverty and misery in concentrated form. In order to secure such an economic harmony he is expected to follow the main economic principle based upon the moral idea of setting apart a small portion of his wealth for himself and devoting the rest of his possessions for the benefit of the society at large. Such a principle when strictly followed as a moral ideal will successfully avoid accumulation of wealth on the one hand and concentration of poverty on the other, and will promote a healthy social organisation based upon the principle of welfare of all human beings and the whole society. Such an ideal when sufficiently promoted and practised by all individuals will naturally lead to a social development, and there will be no possibility of a clash between Capitalism and Communism. In such a society there will be no clash between groups of people. Such a society will create a condition of Universal Peace and general happiness.

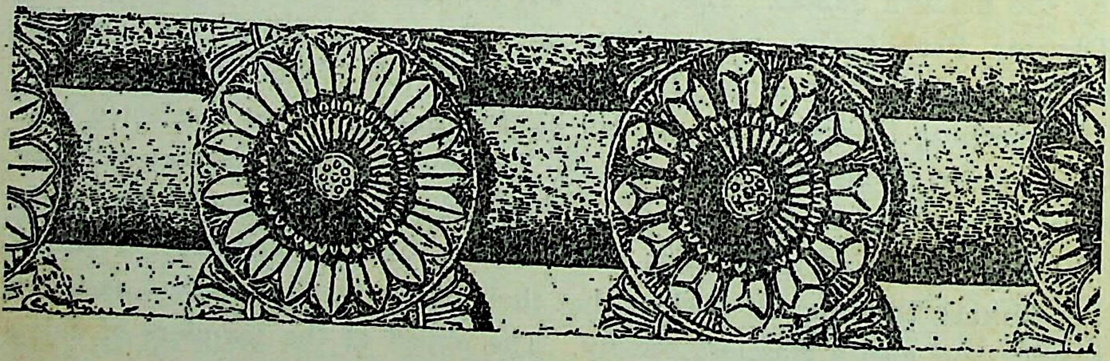

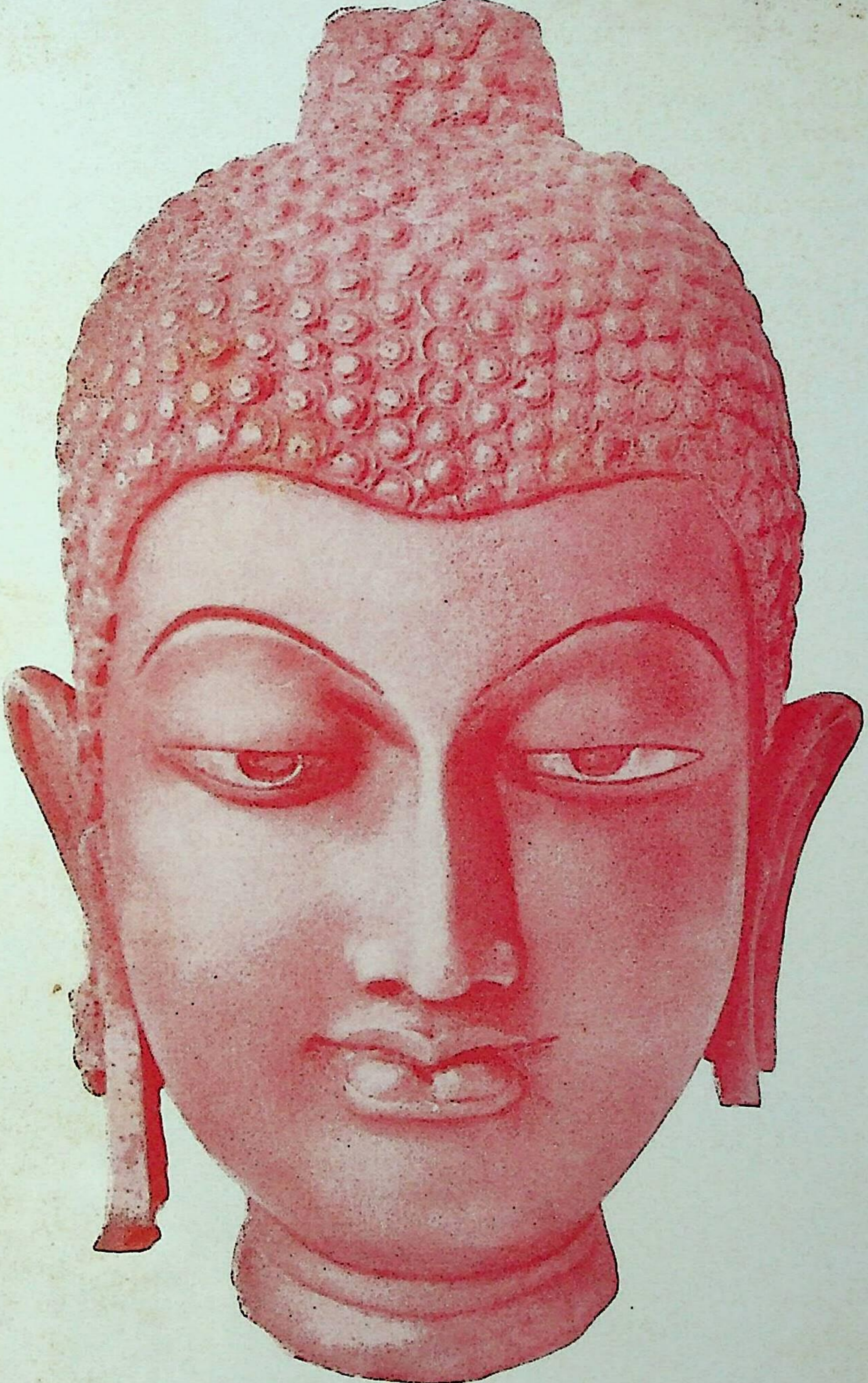

आदीश्वरप्रभुनी मुखमुद्रा : धातुप्रतिमा : अकोटा संग्रह (गुप्त समय)
Head of a bronze statue of Ādīśvara : Akoṭā hoard (Gupta Period)

वडोदरा म्युझियमना सौजन्यथी]

[तसवीर : डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह

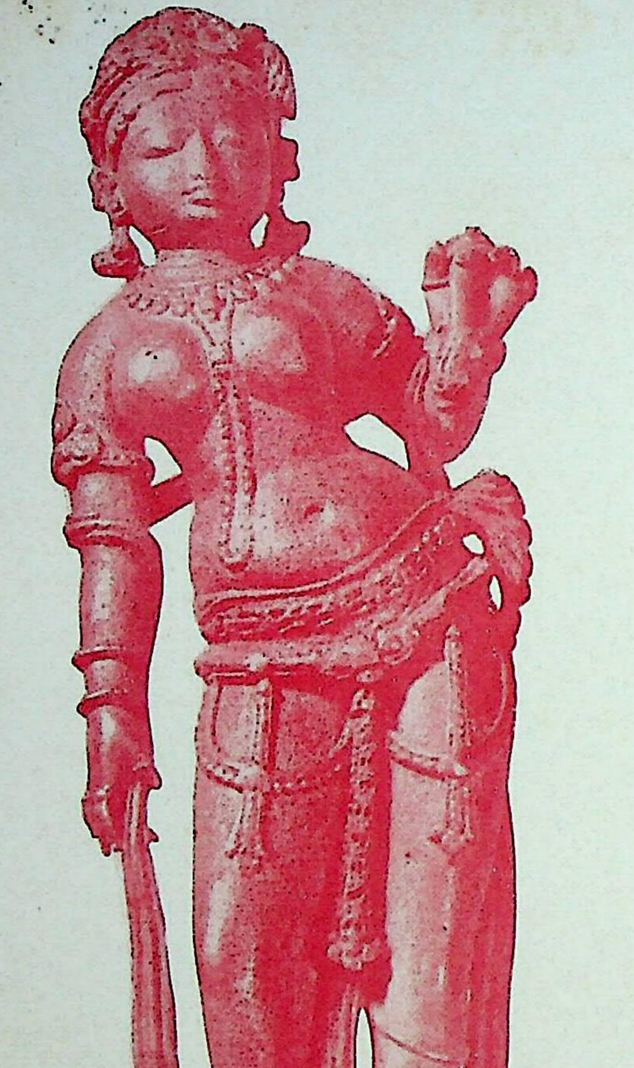

चामरधारिणी : धातु-प्रतिमा, अकोटा (आठमी सदी आसपास)
Female chauri-bearer, bronze, Akoṭa hoard c. 8th Century

वडोदरा म्युझियमना सौजन्यथी]

SOME ASPECTS OF JAINA MONASTIC JURISPRUDENCE

Dr. S. B. DEO, M.A., Ph.D.

Jaina monachism has a long career full of periods of progress as well as of days of adversity. Right from the days of Pārśvanātha to date it has developed and maintained its hold on a considerable mass of people, unlike Buddhist monachism which was wiped out from the land of its birth.

The development of any monachism depends principally on two factors, viz., the forces of its own internal development and the external forces of society trying to influence the monastic practices. The former includes philosophical dissension or slight deviation in the rules of monastic practices, each party justifying its own stand, or the impact of the zeal of a strong church-leader impelled by the idea of organising and stabilising the church. The social forces affecting monastic practices consist of royal interference, peculiar circumstances, orthodox social structure or a powerful laity.

It is to the credit of Jaina monachism that inspite of its tussle with both these factors it has maintained its orthodoxy in monastic practices and formulated the rules of its monastic jurisprudence retaining the orthodox core through centuries of its survival in India.

In dealing with the rules of Jaina monastic jurisprudence, however, two things may be borne in mind. First is that the entire Jaina canonical literature is said to have undergone series of redactions before it was finally reduced to a systematic grouping at the council of Valabhī. Moreover, there are differences about this version of the canon between the Digambaras and the Śvetāmbaras. This aspect handicaps a systematic study of the development of monastic jurisprudence from a historical point of view. Another thing is that in only a few cases we get circumstantial details that led to the formulation of rules of Jaina monastic jurisprudence. For instance, the *Cheda Sūtras* simply present a list of rules of monastic behaviour and punishments for their violation without giving us any other details. Of course, the commentaries do come to our help, but the actual texts dealing with monastic jurisprudence of the Jainas fail, in many cases, to provide us with the background that conspired to the formulation of a particular rule. The Buddhist texts, like

Mahāvagga and others, do give us details regarding the formulation of the rules of Buddhist monastic jurisprudence.

Inspite of these limitations, however, rules of Jaina monastic jurisprudence show a steady growth impelled by both internal and external influences. These influences increased as Jaina monks, giving up their isolation, came more in contact with the society at large.

The Aṅgas which are considered to be the oldest stratum of Jaina canonical literature, consist of some texts viz., *Ācārāṅga, Sūtrakṛtāṅga* etc., which depict Jaina monachism more as a philosophical and ethical system rather than as an organised and stabilised church, controlled by a church hierarchy. It was but natural in initial stages to concentrate more on ethical basis—as the Jaina church even now does—with a view not only to attract new recruits, but also to emphasise the purity of monastic behaviour in contrast with other prevailing systems. The Aṅgas, therefore, do not give many details about Jaina monastic jurisproduce as are found in the *Cheda Sūtras* and the *Niryuktis*.

What, then, is the picture that we get in the Aṅgas ?

The Aṅgas do mention various officers in the Jaina church hierarchy, such as *seha, sāmaṇera, thera, uvajjhāya, āyariyauvajjhāya, pavattī, āyariya* and *gaṇi*. Though the *Ṭhāṇaṅga* gives a list of ten different types of *Thera*,[1] the qualifications of an *āyariya*,[2] the five privileges of an *āyariyauvajjhāya*,[3] various types of *āyariya*,[4] and the *gaṇāvacchedaka*, nowhere do we get details regarding their church-duties and the legal position they held in church disputes. No doubt the qualifications of a *gaṇin, ācārya* and a *gaṇadhara* are found in these texts, but these qualifications are more of a general ethical nature rather than of a person equipped with the power of wielding his authority over his subordinates. As said above, in the initial stages of Jaina monachism, more emphasis was laid on ethical standards which were taken to be the primary qualifications of an officer of church hierarchy.

Regarding the persons disqualified to enter the monastic order, it is to be noted that the *Ṭhāṇaṅga*[5] gives but three such persons while the commentary adds seventeen more to the list.

Along with this, we do get references to various church units such as a *gaṇa, kula* and *saṁbhoga*. It is stated that *āyariyauvajjhāya* could leave his *gaṇa* under five reasons, to wit[6]: if he was unable to maintain moral discipline of the group, if he could not wield control over the members of the *gaṇa,* if he was unable to recollect and preach sacred lore in a proper manner and at the proper time, if he was attached to a nun, and lastly if he was unable to pull on due to his friends or relatives leaving the *gaṇa.* In this case also it is to be noted that inspite of these rules, the *Aṅga* texts do not give the actual process of the dismissal of an officer of the church. Moreover, the texts of the *Aṅgas* as also of the *Mūlasūtras* are not very much informative regarding the relation of these church units.

Within this framework of church units and church officers, the monks led their religious life. But sometimes they did commit transgressions. The *Bhagavatī*[7] says that the monks committed transgressions either out of pride, or carelessness, or under influence of bodily pains (*āure*), or under calamities, or in a place which had a mixed group of heretics and other (*saṅkiṇṇa*), or due to unexpected circumstances (*sahasakkāra*) or out of fear, or hatred.

Any transgression done out of any of the above reasons had to be confessed and a suitable *prāyaścitta* had to be taken for it. The *Bhagavatīsūtra*[8] and *Ṭhāṇaṅga*[9], out of the *Aṅga* group of texts, refer to the ten *prāyaścittas.* They are, *ālocanā* (confession), *pratikramaṇa* (condemnation of the transgression), *tadubhaya* (confession and condemnation), *viveka* (giving up of transgressions), *vyutsarga* (making kāyotsarga), *tapas* (undergoing fasts), *cheda* (cutting of the *paryāya* or the seniority), *mūla* (re-consecration), *anavasthāpya* (temporary expulsion) and *pārāñcita* (expulsion from the Order).

It is to be noted that inspite of these various prāyaścittas, the texts of the *Aṅgas* fail to give concrete examples of the actual execution or test cases of these rules of monastic jurisprudence. Moreover, whatever details are found regarding the prāyaścittas are to be found mostly in the commentaries. For instance, the confession of faults was to be done not in a way as to create sympathy in the mind of the teacher so that he might give less punishment (*ākampaittā*). The monks were not allowed to go to another guru who was known for his liberality in giving less punishment (*aṇumāṇaittā*). Confessing only those faults which were seen by the teacher (*jaṁ diṭṭhaṁ*), confessing only the major faults (*bāyara*) or only the minor ones (*suhuma*), confessing in a way as was not likely to let the ācārya hear properly (*channa*), doing so in a very loud voice (*saddāulayaṁ*), confessing the same fault before different ācāryas (*bahujaṇa*), doing so before a person who was not well-versed (*avvatta*), and confessing a fault before the guru who has done the same fault himself (*tassevī*)—all these were deemed as faults of improper *ālocanā*.[10]

Besides this, some details regarding the ninth prāyaścitta are found.[11] It (*aṇavaṭṭhappā*) was prescribed for committing the theft of co-religionists, or of heretics or for striking somebody with a slap. The last —*pārāñcita*—was threefold : *duṭṭha, pamatta and annamannaṁ karemāṇe.* The first was committed when a monk harassed or condemned the ācārya or the gaṇadhara or the sacred canon, or had intimacy with the nuns, or murdered the king or had illicit relations with the queen. The second was committed by a monk who was extremely careless regarding rules of food and sleep (*pañcamanidrāpramādavān*), and the third was done when the monk indulged in homo-sexuality. Besides these, masturbation, sexual intercourse, taking a night-meal and accepting food from the host or from a king were deemed major faults. It may be noted that these explanations are based on the commentaries. The texts proper do not give such details. They only refer to the various punishments.

The way of dealing with the transgressor who had again committed a fault while he was undergoing a punishment for a previous one, was called *ārovaṇā*. In this case, it seems, the punishment was increased either by a month (*māsiyā ārovaṇā*), or by thirty-five days (*sapañcarāi māsiyā*), or by forty days, or by two months, or by sixty-five days, or by three or four months. The maximum period was of six months. No details, however, regarding the faults under which this increase was made, or regarding the treatment given to the transgressor, are to be found.[12]

Another method of purifying the transgressor was called the '*parihāra-viśuddhi*'. The commentators explain it as follows :[13]

In a group of nine monks, four underwent the *parihāra*, the other four waited upon them (*anuparihārika*) and the ninth acted as the guru.

The undergoing of *parihāra* involved fasts of various magnitudes in different seasons for a total period of six months, and the whole group was purified in eighteen months.

From the foregoing details one thing is clear and that is that even though the ten forms of prāyaścittas are named in the texts of the *Aṅgas*, no detailed explanation about the nature of the punishment, the mode of implementing it and the authority vested with the power of implementing it, is to be found. Only the commentaries, which are later than the text, come to our help.

The picture changes and assumes a fullness when we come to the *Cheda-sūtras* and the *Niryuktis.* In these texts we have details about the qualifications of various officers, the standing (*paryāya*) necessary for different posts, the list of faults for which different punishments are to be given, the method of implementing these and so on. In short, these texts present—as the following discussion will show—an organised Jaina church with a codified manual of rules of monastic jurisprudence.

For instance, a monk of sixty years was called as *jāithera,* one well-versed in the *Ṭhāṇaṅga* and the *Samavāyaṅga* was termed as *suyathera,* and he who had twenty years of monk-life was designated as *pariyāya thera.*[14] Thus, considerations of age, learning and standing as a monk were at the basis of this classification. An *upādhyāya* was a person who had at least three years' standing in monkhood to his credit besides other academic and moral qualifications.[15] The *āyariyauvajjhāya* was one who had five years' standing and the knowledge of the *Cheda-sūtras* like *Dasā, Kappa* and *Vavahāra.*[16] Besides this, at the time of appointing an *āyariya-uvajjhāya,* if no other proper person was available, then a person who was fit for that office but whose standing in monkhood was cut short (*nivuḍḍhavāsa-pariyāe*) due to some transgression committed by him, was reinitiated the same day, and made the *āyariyauvajjhāya.* But he was to show good conduct and had to earn the confidence of other monks. Thus, conduct by the person as well as confidence in him by others were the chief items that were taken into consideration, and the principle of not imposing an officer unpopular to the rest of the members of the church was very wisely carried out.

Similarly, various other rules regarding the misbehaviour and the suspension or dismissal of *āyariyauvajjhāya* are to be found for the first time in the *Vavahārasutta.*[17] Thus, if he broke the vow of celibacy while holding office, then he was debarred from holding any post in the church hierarchy throughout his life. The same was the case if he became worldly while holding office, or turned out to be liar, deceitful, sinful or impure. If, however, he broke celibacy after leaving his office, then he was suspended for three years.

Similar details are to be found regarding the *Gaṇāvacchedaka.*[18] This officer and the *ācārya* required eight years standing, the knowledge of *Ṭhāṇaṅga* and *Samavāyaṅga* and excellent moral conduct. Further, a distinction was made between *ācāryas* some of whom either confirmed or initiated candidates.

The offers in the church hierarchy were bound by explicit rules of seniority and succession. The term used to denote seniority was *paryāya* and it was based on the number of years spent in the order as a monk. In order to avoid conflict between age and seniority, certain rules had to be framed to avoid bad feeling between different members of the church. With a view, therefore, to put this into practice, the *āyariyauvajjhāya* waited for four or five days if during that period another monk older in age completed his studies. Then he first confirmed the elder and then the younger even though the latter had completed his studies earlier. Such superiors who deliberately confirmed the younger earlier than the older monk even though both had completed their studies, had to undergo the punishment of *Cheda* or *Parihāra.*[19] So also if two monks of different *paryāyas* wandered together and if the monk with greater *paryāya* had no disciples while the other with less *paryāya* had, then the latter with his disciples had to remain under the control of the former who had greater *paryāya* to his credit.[20]

Inspite of these rules of seniority, the *ācārya* was allowed to appoint his successor if the former was seriously ill, or had entered householdership again. But in order to have no occasion for favouritism by which there was a chance of unfit persons stepping into the office, the rest of the monks were given supreme powers to ask the newly appointed successor to quit office if they thought that he was unfit for the post. If he quitted the office, well and good; then he was not to undergo any punishment for that. But, if inspite of the request of the rest of the monks, he persisted to hold on, then that person had to undergo *Cheda* or *Parihāra.*[21] Thus the working of the church went on on purely democratic lines in those days.

Besides this, changing the gaṇa also was confined within the framework of certain rules. For instance, those who wanted re-entry or had come from another gaṇa after committing moral faults, were first to undergo confession, condemnation of faults, had to determine not to repeat these faults again, undergo a prāyaścitta for it, and then be the member of the old gaṇa or a new one.[22]

The person who was punished with either the *aṇavaṭṭhappā* or *pārāñciya* could be consecrated again at the express desire of the gaṇa (*gaṇassa pattiyaṁ siyā*), irrespective of the fact whether that punished person had followed the life of a householder or otherwise after his dismissal. Thus a vote of confidence in him by the rest of the members of the gaṇa was taken as a sufficient qualification of that person for his claim to re-enter his old group. Along with this power of re-admitting a person to the gaṇa, the right of driving out (*nijjūhaṇa*) a person from the gaṇa was also exercised by the members of a gaṇa.[23]

As noted elsewhere, the same list of ten prāyaścittas is to be found even in the *Cheda-sūtras*. But the elaboration of the *vavahāra* (procedure towards a transgressor) is to be found in these *Cheda-sūtras* where concrete cases are cited and different prāyaścittas are prescribed for them. Especially, the last four, viz., *cheda, mūla, aṇavaṭṭhappā* and *pārāñciya* come to prominence.[24]

Cheda has been explained by Schübring as "the loss of a part of the monk's ecclesiastical rank among his brethren, which dates from his second reception, the definitive consecration to the vow".[25] This cut in the *paryāya* differed with the rank of the person in authority. For instance, the minimum cut in the case of a monk was of five days while for an *ācārya* it was fifteen days.

Complete *cheda* led to *mūla*. In the *mūla*, the monk lost all his period of monkhood right since his entering the order, and he had to begin anew his career as a monk.

It should be noted that the *Cheda-sūtras* seldom refer to *mūla*, while the *Jītakalpa* does not give much details about it.

Aṇavaṭṭhappā was that in which the monk's entire *paryāya* was wiped out. In this case, before the monk was re-initiated, a period was given to him in which he had to make sincere efforts for qualifying himself for re-entry to monkhood. If he failed to do so, then he was not allowed to enter monkhood again.

This "temporary excommunication" (*aṇavaṭṭhappā*) was inflicted on such monks who stole something belonging to their co-religionists, or belonging to persons of other sects, or those who struck others with a fist.[26]

Pārāñciya was the final and the greatest punishment. It denoted the expulsion of the monk from the order and thus putting an end to his life as a monk. Those who were of a criminal nature (*duṭṭha*), indifferent to rules of behaviour (*pamatta*), and sodomites were punished with *pārāñciya*.[27]

In this matter, three terms may be distinguished from one another, viz., *pārāñciya*, *samukkasaṇa* and *ṇijjūhaṇa*. The first denoted the driving out of a person from the order of monks, the second implied the expulsion of a person holding office if he lost the confidence of his followers, and the third term represented the omission of a person from a particular gaṇa or group of monks.

Another term often found in the *Cheda-sūtras* is "*parihāra*". It was twofold: *ugghāiya* and *aṇugghāiya*. These are explained by Schübring as follows: "The expressions *ugghāiya* and *aṇugghāiya* .... denote conditional sentences passed on persons for transgressions. They represent the intervention of a period (*udghāta*), in which the punishment is softened or made mild between the different periods of expiation, perhaps also the pronouncement of the sentence and its carrying out".[28]

The monk who was undergoing the *parihāra* was completely isolated from the rest of the monks. No common begging of alms or taking food together with other monks was allowed. One who did so had himself to undergo *parihāra* for a month.[29] Due consideration, however, was shown to the transgressor undergoing *parihāra* if he fell ill.[30]

It is to be noted that at every time, the accused was given the opportunity to explain his own position. Therefore, it was laid down that the church officers should put more faith in him who confessed the fault of his own accord rather than in some others who reported the fault to the elders. For it was said that the procedure of dealing with the transgressor was based fundamentally on truth (*saccapaiṇṇā vavahārā*).[31]

These rules were guiding the communal life of not only an ordinary monk as a member of an ascetic community, but more so the life of officers like an *upādhyāya* or an *ācārya*. For instance, deliberate postponement of confirmation of a novice, the violation of morals when holding office, refusing to leave office when others justifiably demand for it, changing the nature of a fault and giving less punishment for it—all these were liable for punishment.[32]

Thus the *Cheda-sūtras* and the *Niryuktis* supply us with more details about the rules of Jaina monastic jurisprudence and their actual application. These groups of canonical texts give us the impression that the Jaina church was organising itself on a planned basis.

The post-canonical texts present a still wider horizon, a still more consciousness for public opinion in the form of the laity and an admirable adjustment to circumstances.

Formerly, generally children below eight years of age were not allowed entry to the church. But the *Nisīha-cuṇṇi* expressly states that six types of children could be ordained, viz., if all the members of a family wanted to join the order, if all the relatives of a monk were dead and only a child was left over, an orphaned child, an orphaned issue of a *sejjāyari,* the issue of a raped nun, and if there were chances of benefitting the *kula, gaṇa* or the *saṁgha* through state officers, then also a child could be initiated.[33]

Eunuchs were not normally allowed entry to the church. But if he was dear to the king, or able to look after the welfare of the *gaccha* in cases of royal disfavour, or if such a one was an able physician who could look after the ill, then he was initiated. But even then by hook or crook he was to be driven out of the *gaccha*.[34]

It seems, therefore, that the church tried to please the ruling power and avoided, as far as possible, enmity with the king. On the contrary, it did not lose any opportunity of getting benefit out of it for the spread of the Order.

It is to be noted that, besides the moral and academic qualifications of various church officers, some other necessary qualifications were expected of them. For instance, an *ācārya* was to be a person, according to *Bṛhatkalpa-bhāṣya,* who had knowledge of regional etiquettes. He was expected to have toured through various regions at least for twelve years.[35]

The other officers seem to have remained the same, though there seems to have been a slight degradation in the academic qualifications in later period. For the *Bṛhatkalpa-bhāṣya* speaks of "half-instructed goblins" hurrying up to pose like an *ācārya*.[36] This might have been the case probably due to the rise of several *gacchas* which were headed by *ācāryas*.

These *gacchas* were also bound by certain rules. The *ācārya* looked to the upkeep of the morale of the members of the *gaccha*. If, inspite of repeated warnings, the disciples indulged in bad ways then they were driven out. If, however, they begged pardon, they were re-admitted after having undergone the punishment of *māsa-laghu.*

If the dissenters were in a majority, and they refused to fall out, the minority-group left the place without the knowledge of the majority group.[37]

The post-canonical texts, besides describing the principal ten prāyaścittas, bring to prominence an elaborate system of fasts (as punishment) like the *caturlaghu, māsalaghu, māsaguru* (which were further distinguished as *kālalaghu, kālaguru, tapolaghu* and *tapoguru* etc.), and the *pañcarāindiya* which the transgressor had to undergo for purification.

The *Cūrṇi* to the *Bṛhatkalpa-bhāṣya* (v. 359), according to Schübring,[38] explains *vavahāra* (the procedure of treating the transgressor), as expiatory fasts of varied durations which were divided into nine categories like the following:

Name of punishment	Duration	Nature of the fast
Guruo	1 month	*Aṭṭhameṇa*
Gurugatarāo	4 months	*Dasameṇa*
Ahā-guruo	6 months	*Duvālasameṇa*
Lahuo	30 days	*Chaṭṭheṇa*
Lahutarāo	25 days	*Cautthеṇa*
Ahā-lahuo	20 days	*Āyaṁbileṇa*
Lahusao	15 days	*Ega-ṭṭhaṇeṇa*
Lahusatarāo	10 days	*Purimaḍḍheṇa*
Ahā-lahusao	5 days	*Nivvīeṇa*

This system of expiatory fasts was further elaborated by complex distinctions as follows:

A monk was not expected to accept any raw fruit, but if he accepted it:
in a settlement (*niveśana*), then he had to face *catvāro laghavaḥ;*
in a *pāṭaka,* then *catvāro guravaḥ* ;
in a row of houses,.... *ṣaḍlaghavaḥ* ;
in a village,.... *ṣaḍguravaḥ* ;
at the gates of a village, ... *cheda* ;
outside the village,.... *mūla* ;
at the boundary of the village, ... *pārāñcika.*

Not only that but these punishments increased the more, the higher the position the person held in the church hierarchy. For instance,

Normally, monks were not allowed to stay in a place full of seeds. But if they stayed there then the following prāyaścittas were prescribed :[39]

Designation	Prāyaścitta	Nature
Ācārya	*Laghuko māsa*	*Tapasā kālena ca laghukah*
Upādhyāya	" "	*Tapasā gurukaḥ*
Vṛṣabha	" "	*Kalena* "
Bhikṣu	" "	*Tapasā kālena ca laghukaḥ*

The details regarding other types of prāyaścittas were more or less the same with the difference that the last three or four prāyaścittas are further elaborated. For instance,

Cheda was prescribed for the following offences :[40]

(a) getting proud of one's penance, (b) being unable to carry out penances, (c) having no faith in penance, (d) losing control over oneself even after penance, (e) indulging in sexual intercourse and (f) frequently breaking the *uttaraguṇas.*

Mūla was prescribed for the following offences :[41]

(a) breaking any of the five great vows, (b) constantly breaking the *mūla* and *uttarguṇas,* (c) accepting householdership or heretical faith out of pride, and (d) causing impregnation or abortion.

Anavasthāpya items remained the same, but the monk who was punished with this sentence had to undergo various fasts upto the fourth or the sixth meal. He had to undergo this mode of life for the maximum period of twelve years. Moreover, he had to bow down to all, had to live in one corner of the monastery and no verbal contact was allowed to him with other monks.

The *Bṛhatkalpa-bhāṣya*[42] gives details about *pārāñcika* which are the same as those given in the *Ṭhāṇaṅga.*

Both the *Jītakalpa-bhāṣya*[43] and the *Bṛhatkalpa-bhāṣya*[44] give more details about the implementation of *pārāñcika.* For instance, the monk who was accused of *āśatanā pārāñcika* stood out of the *gaccha* for a minimum period of six months and a maximum period of a year. On the other hand, he who had to face the *pratisevanā pārāñcika* had to go out for a minimum period of one year and a maximum period of twelve years.

It may be noted that only the *ācārya* could pronounce the punishment of *pārāñcika* against a monk. The defaulter had to lead a secluded life for twelve years. If, however, he fell ill, then either the *ācārya* or the *upādhyāya* had to wait upon him.

Under certain cases, the punishment of the monk punished with *pārāñcika*, was commuted. If such a monk was successful in pleasing the king who on that account stopped giving trouble to the monks, then at the request of the king, the Saṁgha could even go to the length of setting the defaulter free from the blot by cancelling the rest of the punishment.

The most important thing to be noted is that the *Jītakalpa* and its *Bhāṣya* seem to refer to the fact that *anavasthāpya* and *pārāñcika* went out of use after Bhadrabāhu, the *caturdaśapūrvadhārin.* This can be corroborated by the fact that these texts mostly refer to fasts of various magnitudes as punishments for transgressions of different types committed by the monk, and the *Bṛhatkalpa-bhāṣya* often refers to them. In cases of transgressions regarding improper company,[45] using improper roads,[46] seeking improper residence, selecting improper clothing,[47] wearing them improperly,[48] improperly coating the bowl,[49] and in several other matters we find that these smaller expiatory fasts were mostly prescribed. One instance[50] will suffice here. Normally a monk was not to eat raw fruit. But if he took with permission the fruit belonging to a heretic then he had to undergo *caturlaghavaḥ*, and

if belonging to the Bhogika.......	*Caturguru*
if belonging to the Grāma.......	*Ṣaḍlaghu*
if belonging to the Vaṇik........	*Ṣaḍguru*
if belonging to the Goṣṭhī........	*Cheda*
if belonging to the householder....	*Mūla*
if belonging to the police........	*Anavasthāpya*
if belonging to the king........	*Pārāñcika*

One more aspect of these later texts should be noted and that is that they give abundant exceptions to the general rule in cases of peculiar circumstances—either social, political or climatic. Due to these, the monks had to adjust their behaviour without transgressing the core of monastic life. It is quite likely, therefore, that due to that such a system of expiatory fasts for transgressions came in vogue. On this basis, rules of Jaina monastic jurisprudence took a new look, and they were made more accommodative.

Coming to the rules of jurisprudence as applicable to Jaina nuns, one finds that the nuns were always taken to be subordinate to the monks. It is laid down that "a monk of three years' standing may become the upādhyāya of a nun of thirty years' standing; and a monk of five years' standing can become the upādhyāya of a nun of sixty years' standing".[51] This reminds one of a similar rule from the Buddhist text *Cullavagga* (X, 1,4,) where it is stated that a nun even of a hundred years' standing should bow down to a monk who has quite recently been initiated. This explains the utterly subordinate position of the nuns of both these sects in their church organisation. The *Vavahāra-sutta*[52] again lays down that "the ācārya, upādhyāya and the pravartinī—these three are the protectors of the nuns".

The rules of jurisprudence as applied in the case of nuns were not radically different from those of the monks, hence they need not be repeated here again. One thing, however, may be noted, and that is regarding *parihāra*—i.e. keeping the transgressor separate from the group. According to the *Vavahāra-sutta* (5, 11-12), the nuns underwent this punishment while the *Bṛhatkalpa-bhāṣya* (V, p. 1561) prohibited the nuns from undergoing it.

A survey of these rules of Jaina monastic jurisprudence, however disconnected it may appear, brings one or two aspects to prominence. The first is that, unlike the Buddhist texts, the Jaina texts fail to give exhaustive details regarding the circumstances that led to the formulation of rules. Secondly, the list of the principal ten prāyaścittas is the same in both the canonical and non-canonical or later texts. But the *Cheda-sūtras* and later texts show attempts of codification of rules of monastic jurisprudence and possibly organisation of church. For details, however, we have to depend mostly on commentaries. Even in these, details regarding the process of appointing church officers, the method of trying a monk before an assembly of monks, etc. are not to be found exhaustively. Thirdly, later texts lay more emphasis on expiatory fasts. Possibly the major prāyaścittas were rarely used. Fourthly, the position of nuns always remained subordinate to monks. And lastly, whatever rules of Jaina monastic jurisprudence are to be found were formulated solely with a view to retain the core of orthodoxy and purity of monastic life undisturbed. This orthodoxy and purity are still the coveted merits of Jaina monachism.

REFERENCES

1. p. 516a.
2. *Bhag.* p. 382a; *Ṭhāṇ.* p. 142b.
3. *Ibid.*, p. 329ab.
4. *Ibid.*, pp. 239b, 240a.
5. p. 164b.
6. *Ṭhāṇ.* p. 331b.
7. p. 919ab; *Ṭhāṇ.* p. 484a.
8. p 920b.
9. p. 484a; 355b.
10. *Ṭhāṇ.* p. 484a.
11. *Ibid.*, pp. 162b-164b.
12. *Smv.* p. 47b; *Ṭhāṇ* pp. 199a ff.
13. *Bhag. comm.* pp. 351-52; *Ṭhāṇ. comm.* pp. 168ab.
14. *Vav.* 10, 14.
15. *Ibid.*, 3, 3-4.
16. Schübring, *Die Lehra der Jainas,* article 141.
17. 3, 9-25.
18. *Vav.* 3, 7.
19. *Ibid.*, 4, 15.
20. *Ibid.*, 4, 24.
21. *Ibid.*, 4, 13-14.
22. *Ibid.*, 6, 10-11.
23. *Ibid.*, 2, 6-17.
24. For exhaustive details, see the author's thesis *"The History of Jaina Monachism from Inscriptions and Literature"*.
25. *I.A.*, 39, p. 262, f.n. 25.
26. *Bṛh. Kalp.* 4, 3; *Jītakalpa* 87-89.
27. *Bṛh. Kalp.* 4, 2.
28. Introduction to German edition of *Vavahāra* and *Nisīha Sutta.*
29. *Nis.* 4, 112.
30. *Vav.* 2, 6.
31. *Ibid.*, 2, 24-25.
32. *Nis.* 16, 16-24.
33. *Nis. Cun.* 11, pp. 717ff.
34. *Bṛh. Kalp. bhā.* Vol. V, 5172-89.
35. Vol. III, 3005ff.
36. Vol. I, 373-75.
37. *Bṛh. Kalp. bhā.* II, 1272-73.
38. *I.A.*, 39, p. 267, f.n. 45.
39. *Bṛh. Kalp. bhā.* IV, 3304.
40. *Jīt. bhā.* 2280-87; *Vim.* 16, 13.
41. *Jīt. bhā.* 2288-2300; *Vim.* 16, 14.
42. Vol. V, 4971-84; *Jīt. bhā.* 2463ff.
43. 2578ff.
44. Vol. V, 5032ff.
45. *Bṛh. Kalp. bhā.* Vol. II, 886-888.
46. *Ibid.*
47. *Ibid.*, Vol. I, 607-31.
48. *Ibid.*, 758.
49. *Ibid.*, 471-529.
50. *Ibid.*, Vol. II, 906.
51. *Vav.* 7, 15-16.
52. 3, 12.

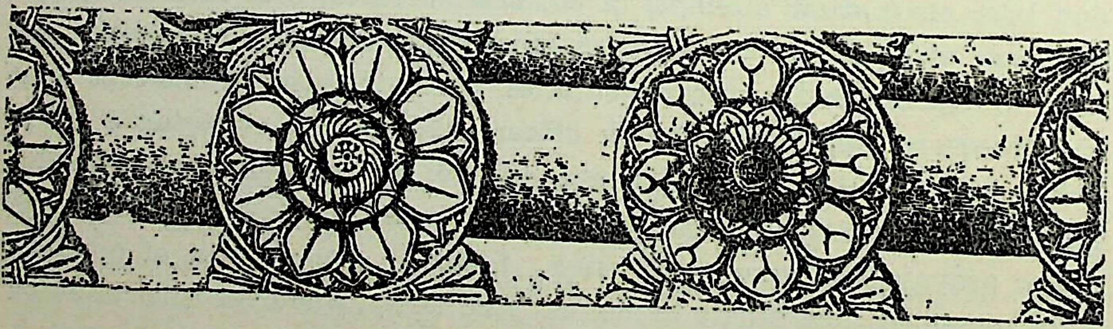

MATERIALS USED FOR JAINA INSCRIPTIONS

Prof. D. B. DISKALKAR, M.A.

The materials on which Jaina inscriptions are engraved are of two kinds only—stone and metal. The Jainas do not seem to have favoured clay as a suitable material for the purpose as the Buddhists and sometimes the Brahmanical Hindus had done.

Rocks and Rock temples : A few Jaina inscriptions incised on rocks and on walls of rock-cut temples have been found in some places in India. If the Ājīvika sect founded by Gośāla was of the Jainas, the earliest Jaina inscriptions incised on rock temple walls can be said to be those in the Barabar and Nagarjuni caves in the Gaya district which record the dedication of the caves to the monks of the Ājīvika sect by the Maurya emperors, Aśoka and his grandson Daśaratha. These inscriptions are dated in the middle and in the last quarter of the third century B.C., respectively. But if the Ājīvikas were different from the Jainas, the earliest Jaina inscriptions are those engraved on the walls of the Udayagiri, Khandagiri, and Nilgiri hill caves in Orissa, at a distance of six miles to the south-west of Bhuvaneshvar. Out of the fourteen inscriptions there which are of the time of the Kalinga king Khāravela and belong to the second or first century B.C., the long inscription in the Hāthigumphā cave in Udayagiri is the most important. It gives a detailed biography of the Jaina king.

The Pabhosa (in Bundelkhand) cave inscription of about the same time seems to be Jaina (E. I. II. 243).

Other important Jaina inscriptions in rock temples of later dates are found at the following places—Udayagiri near Bhilsa in Madhya Bharat where a Jaina inscription of G. S. 106 (425 A.D.) is found which records that an image of Pārśvanātha was set up by Ācārya Gośarman, at Badāmi and Ellora. The rock temple at Sittanavāsal near Madras, excavated in the seventh century A.D. by the Pallava King Mahendravarman when he was a follower of Jainism, has beautiful frescoes.

Two important rock inscriptions of the Jainas of the tenth century are found at Panch Pāṇḍavamalai, Vallimalai and Tirumalai in N. Arcot district, where there were flourishing Jaina settlements (A.R.S.E.I. 889-90, p. 140, 1890 p. 10 and E.I.4.136). The former is in the Tamil script and Tamil language and the latter is in the Grantha script and Kannad language.

Stūpas : The Jainas are not really builders of stūpas like the Buddhists, but from the vast remains of a Jaina stūpa found at Kankāli Ṭilā in Mathura which are indistinguishable from those of the Buddhist stūpas, it seems that in the early period the Jainas also erected stūpas surrounded by stone railings with reliefs of various kinds on which inscriptions were engraved. One of the beautiful Jaina Āyāgapaṭas found in the ruins gives a picture of a Jaina stūpa. The ruins of the Jaina stūpa at Mathura have given us a number of donatory inscriptions exactly like the Buddhist inscriptions. These can be assigned to the first or second century A.D. Since no Jaina stūpa of the kind of a later date is found anywhere in India, it seems that the Jainas had given up the practice of erecting stūpas and had adopted that of building śikhara temples.

Temples : The Jaina temples were dedicated to the Tīrthaṅkaras or other minor deities of Jaina mythology. Except for a few iconographical and sculptural details, the Jaina temples do not differ from the Bhahmanical temples. The sacred places of the Jainas are always crowded with temples and the temples with Jaina gods and goddesses which generally bear inscriptions. If the temple is very. important as at Śravaṇa Belgola it is always visited by pilgrims who leave behind records of their visits and donations. The constant repairs and additions to the old temple made sometimes by hereditary masons give opportunities for setting up inscriptions.

Stone images : The largest number of Jaina inscriptions are found inscribed on the pedestals of stone images of the Tīrthaṅkaras and minor Jaina deities set up from time to time in the Jaina temples. Idol worship being very popular with the Jainas, innumerable Jaina images made of stone and of different sizes, from colossal to miniature, have been found all over India even from Sindh (at Varavan) where at one time Jainism flourished. The origin of the Jaina image is uncertain though from the mention of a Jaina image in the Hathigumpha inscription of Khāravela of Kalinga of the first or second century B.C. as having been carried away as a war trophy by a Nanda king presupposes the existence of Jaina idol worship in the Nanda period, i.e. in the fourth century B.C. If the tradition, that images of Mahāvīra under the name of Jīvitasvāmi began to be worshipped even in his lifetime, is believed, idol worship can be said to have begun with the Jainas from the sixth century B.C. But Jaina images begin to appear only from the first century A.D. at Mathura and they became very popular only from the tenth century onwards as few

Jaina images dated in the intervening period of 800 years have been found. Naturally Jaina inscriptions of the intervening period are comparatively rare. The inscriptions which accompany the images are often useful for their identification and dating, though the *lāñchanas* carved on the pedestals in the centre and the symbols and designs auspicious to Jainas such as svastika, vajra, śaṅkha, bulls, elephant, goose, antelope, etc., are more helpful. The images of the Bodhisattvas and Tīrthaṅkaras found in Mathura are very similar. In that case the inscription on the pedestal is very helpful in identifying the image. In course of time Jaina iconography developed considerably and a number of minor deities began to be worshipped. Images of some of these are accompanied by a miniature figure of a seated Tīrthaṅkara carved over head. Setting up of an image being considered very meritorious by the Jainas the images were naturally inscribed recording the name of the donor, date and other details. What a large number of Jaina inscriptions must have existed can be imagined from this! Jaina images are generally made of black stone but sometimes of white marble also. They are very beautifully carved and sometimes very finely glossed. But they are of a stereotyped form devoid of anatomical details. They are standing erect or sitting with folded hands They are perfectly naked among the Digambara Jainas. The question of nudity, however, does not arise if the statues are in a seated posture. Jaina statues of gigantic size are sometimes carved out of rocks in rock temples on hills in many parts of India. Some of them bear inscriptions but being exposed to the inclemencies of weather they have now become almost illegible. Many nude standing images of Tīrthaṅkaras, the largest of them being of Ādinātha and measuring 54′ in height are carved on all sides of the Gwalior fort rocks. Some of them bear dated inscriptions which show that they were carved between 1440-1472 A.D. during the reigns of the Tomara kings, Dungarsimha and Kirtisimha.

Inscribed statues of Jaina saints and teachers and of rulers and Śreṣṭhis, who were great followers and patrons of Jainism are also found. Among the inscribed statues of Jaina saints may be mentioned the extraordinary colossal statue of Bāhubali or Gomateśvara in Mysore state—fifty-seven feet in height and cut from a single rock. It contains short inscriptions in Kannad, Tamil and Marathi of the eleventh century A.D. Many images of Jaina saints are set upon mount Abu. Among the images of teachers may be mentioned an image of Devasena, pupil of Bhavanandin, at Vallimalai (A.R.S.I.E. 1895, pr: 10) and among the inscribed statues of rulers may be mentioned the statue of the Cūḍāsamā ruler Mahīpāladeva on the Śatruñjaya Hill dated V. S. 1371 (Inscriptions of Kathiawad No. 247).

Pillars: Stone pillars set up in Jaina temples are another popular material on which Jaina inscriptions are found. On the four sides of the square base of the pillar are engraved or set up in niches, technically called *Kāṣṭha-pañjara*, the statues of Tīrthankaras. Sculptures of this kind are called *Sarvatobhadra pratimā* or Caturmukha and are found almost in every Jaina temple. The most beautiful and finely inscribed sculptures of this kind are found in Mathura. They were donated by Jaina devotees as the inscriptions on them record. The Kahaum (Gorakhpur District, U.P.) pillar bearing an inscription of G.S. 141 (460 A.D.) is noteworthy. It records the setting up by one Bhadra of a pillar with five figures of Ādikartṛs, i.e. Tīrthaṅkaras.

Another kind of tall stone or metal pillars called *mānastambhas* surmounted by a statue and having inscriptions at the base are raised in front of Jaina temples. Excellent specimens of these are seen in South India, e.g., at Karkal in South Kanara District. The Jaina tower at Chitorgad is 80 ft. high. Instead of pillars sometimes raised platforms are set up on which footprints are carved or images are set up. Such platforms with footprints are found in a large number on the Pārśvanātha hill. Worship of footprints of Tīrthaṅkaras and preceptors is quite in vogue with the Jainas.

A third kind of Jaina pillars bearing inscriptions are called *nisidhikalas* and are generally found in South India. They are raised to commemorate the fast upto death (*sallekhanā*) generally of a Jaina monk. In Jainism ascetisism is greatly stressed even to the point of voluntary death by refusal to take nourishment on the part of those who have obtained the highest knowledge or who are *Kevalins*. (*Potdar Comm. Vol.* p. 170). Like the *viragals* the *nisidhikalas* have three panels: the first from the bottom contains the figure of the man or woman who died; the second panel represents the person being carried in a *vimāna* accompanied by celestial dames to heaven; the third panel has the figure of a seated Jaina flanked by two female *Caurī*-bearers. The plain surface of the stone bears the inscription giving details of the person who died by *sallekhanā*. Sometimes the four faces of the square pillar bear sculptures and inscriptions. One of the most important pillars of the kind is at Śvetasarovara at Śravaṇa Belgola which records the *sallekhanā* of the Jaina preceptor Malliṣeṇa Maladhārideva in 1129 A.D. (E. I. III. 185).

Stone slabs: Jaina inscriptions incised on stone slabs record notices of the building of temples, panegyrics of Jaina sādhus and rulers and copies of Jaina religious texts. Some of the praśastis are very long and beautiful like the Dholka praśasti of the poet Rāmacandrasūri containing one hundred verses. A majority of the stone slab inscriptions record grants of land, money or cattle towards the maintenance of Jaina establishments, though the more common material for such grants is copper-plates. Land grants inscribed on stone slabs are generally found in South India. Like the Brahmanical land grants on stone, the Jaina land grants bear sculptures in panels from Jaina mythology and contain the figures of a Tīrthaṅkara in one or more niches of it.

Of the numerous statues and architectural pieces none perhaps are so worthy of attention as the beautifully carved stone slabs which bear the technical name 'Āyāgapaṭa'. They are peculiar to the early Jainas. (J.U.P. H.R.S. 1943, p. 58). Several of the Āyāgapaṭas bear votive inscriptions mentioning the name of the donor (Scythian period p. 147).

Metal inscriptions: A large number of Jaina inscriptions are found engraved on metal images made of copper or bronze. Such images are preserved almost in every temple of the Jainas. These images are also of a stereotyped form, one central image being placed on the pedestal and twenty-four or a smaller number of images being embossed on a metal plate fixed at the back of the main image. The inscribed portion is on the pedestal or on the back of the plate. Inscribed metal images are generally dated from the tenth century onwards though older images are at times found, e.g. the Jaina bronzes dated in V.S. 744 found at Aṅkoṭṭaka in N. Gujarat (J.O.I. Vol. I, 264).

Like the Brahmanical land grants, the Jaina land grants are incised on sheets of copper. Jaina copper-plate grants are in no way different from the Brahmanical land grants except in the invocatory verses.

Copper-plates containing copies of Jaina *yantras* or *Namokāra mantras* are peculiar to the Jainas.

Silver plates inscribed with Jaina sacred verses like the *Namokāra mantras* and Tāntrik formulas and *Ṛṣimaṇḍala mantras* are preserved in some Jaina *bhandaras*.

Silk and *cotton cloth* : Old writings on silk, cloth, palm-leaf and paper, though they strictly come under the class of manuscripts or archives, are often considered as epigraphical material and hence a short account is given here of such material used for Jaina records. Silk and cotton cloth seem to have been sometimes used for Jaina inscriptions. Bühler had found a silk band with the list of the Jaina sūtras written in ink at Jaisalmere while Peterson discovered a manuscript written on cloth dated V.S. 1418 at Anahilapāṭan. A Jaina cloth painting or *citrapaṭa* found in Bikaner is inscribed with the name of a Jaina teacher named Taruṇaprabhasūri who lived between V.S. 1360 and 1440.

Mss : A number of palm-leaf manuscripts of the Jainas are preserved in the Jaina *bhandaras* in the north and south India. According to Muni Puṇyavijayaji, who has made a deep study of the Jaina Mss in several *bhandaras*, the Jaina palm-leaf manuscripts are dated from the eighth to the fifteenth century A.D. He states to have seen at least 3000 Jaina palm-leaf manuscripts. Jaina mss on paper preserved in some of the Jaina *bhandaras* in Gujarat, Rajputana, Karnatak, etc. and maintained with a feeling of sanctity by the Jaina communities in those places are dated from the 12th century onwards. The earliest Jaina manuscript on paper seems to be that of the *Kathākośa* by Jineśvara dated V.S. 1234 and preserved in the Jaina *bhandara* at Khambhat. The total number of Jaina manuscripts preserved in the several *bhandaras* runs into many thousands. It is worth noting that equal attention has been given by the Jainas for the collection and preservation of even non-Jaina manuscripts, the result being that some rare Brahmanical and Buddhist manuscripts are found only in the Jaina *bhandaras*. The paper manuscripts are fashioned and written in such a way as to remind us that palm-leaves formed the writing material before paper was introduced for the purpose. Specially prepared black ink was commonly used for writing the manuscripts though sometimes silver and green ink was also used.

Some of the Jaina manuscripts on palm leaf and on paper contain beautiful paintings as illustrations. The earliest illustrated palm-leaf manuscript according to Prof. M. R. Majumdar is of *Niśīthacūrṇi* dated V. S. 1157 prepared in Broach (J. Ind. Soc. Ori. Art 1942, p. 4). They are preserved in beautiful boxes made of leather, cloth and paper. Jaina paintings seem to be the oldest known Indian paintings on paper.

JAMĀLI: HIS LIFE AND POINT OF DIFFERENCE FROM LORD MAHĀVĪRA

Prof. PRITHVI RAJ JAIN, M.A., Shastri

1. *Sources*

The particulars about the life of Jamāli, who was responsible for causing the first schism in the history of Jaina Church, are recounted mainly in the *Vyākhyāprajñapti*[1] or the *Bhagavatī Sūtra,* the fifth[2] *Aṅga* of the Jaina canon. The frequent references to his name are found in other scriptures as well where the descriptions of certain events are almost identical with those of Jamāli as narrated in the *Bhagavatī*. Such references, firstly, point out the process[3] through which a particular person comes to know about the arrival of a Tīrthaṅkara or an Ācārya in his home-town or a place nearby and gets ready for a visit in order to pay obeisance to him and after hearing the religious discourse resolves to enter the ascetic order on obtaining the consent of his parents. Secondly, they describe the order of grand procession[4], which is piloted through the principal streets and bazaars of the city with great eclat and show, on the auspicious occasion of one's renunciation. According to the *Sthānāṅga Sūtra*[5], the *Antakṛddaśā*, the eighth *Aṅga* of the canon contained as its sixth chapter "The Chapter on Jamāli", but unfortunately that is not extant. Exegetical literature on some scriptures, i.e., *the Sthānāṅga*, the *Uttarādhyayana* and the *Āvaśyaka,* etc., also provides information about Jamāli.

It is remarkable that all references in regard to Jamāli are narrated only in Śvetāmbara literature. The scriptures accepted by the Digambara sect of Jainas have not mentioned his name anywhere. It was a natural corollary that the Digambara Ācāryas could not refer to him as nephew or son-in-law of Lord Mahāvīra; they did not believe that Mahāvīra had a sister or that he ever married. What an impartial student of Jaina literature fails to explain is that the name of Jamāli is not mentioned by the Digambara Ācāryas even as one of the disciples and fellow-workers of Mahāvīra who ended by opposing him.

---

1. *Śataka* 9, *Uddeśaka* 33.
2. *Nandīsūtra* 44.
3. a. *Anuttaraupapātikadaśā section* 3, Story of Dhaṇṇa.
   b. *Nirayāvali section* 5, Chapter 1, Story of Prince Vīraṇga.
4. *Jñatādharmakathā part* 1, Chapter 8, Story of Malli Kumarī.
5. Sūtra 755.

2. *Birth-place, parents and family-circumstances*

According to the *Bhagavatī*, Jamāli was an aristocratic and supremely gifted prince of Kṣatriya-kuṇḍagrāma, home-town of Lord Mahāvīra, situated in the western direction of Brāhmaṇa-kuṇḍagrāma. These towns lay not very far off from each other and were separated by Bahuśāla-caitya, which stood midway. Scholars differ in regard to the exact location of these towns and their proximity to Vaiśālī. It seems that they were either suburbs of Vaiśālī or were situated near this famous historical city, the capital of Videha[1].

Strangely the *Bhagavatī* does not furnish any information regarding the names of Jamāli's parents, though it is they who took him to Mahāvīra and requested the Lord to initiate him into his fold, when they found that Jamāli was very keen on executing his resolve of renouncing the worldly life. According to a commentary[2] on the *Kalpasūtra,* Jamāli was the son of 'Pravara-narapati'. There is a belief[3] that Jamāli had the privilege of being the nephew (sister's son) of Lord Mahāvīra. Now Mahāvīra had only one sister (of course, elder) named Sudarśanā[4]. Hence it can be concluded that she was the mother of Jamāli.

Jamāli's father was a person of great opulence and influence, who enjoyed deferential esteem and courteous regard from all quarters. One thousand healthy and handsome young men, all belonging to his family, offered their services at his command to carry the palanquin in which Jamāli went to become the disciple of Lord Mahāvīra. He threw open his vast treasures on this auspicious occasion. The barber was rewarded with one lac of golden coins. Two lacs coins of gold were paid for a rajoharaṇa[5] and a mendicant's wooden bowl.

3. *Early life and marriage*

Born in a rich family and being the only son of his parents, Jamāli had all chances and facilities for leading a luxurious life in a gay and jovial manner. The account in the *Bhagavatī* evidently shows that he was blissfully ignorant of the vicissitudes of worldly life outside his lofty mansions. It is said that he used to keep himself steeped in mirth and joy day and night. His methods of enjoyment varied from season to season. He took keen delight in thirty-two kinds of dramatic representations to the accompaniment of music and dances performed by beautiful women. Thus there appears to have been nothing extra-ordinary in his early career except that he was a rich, healthy, influential and clever prince, who was brought up in affluence and luxury.

---

[1] '*Vaiśālī*', pp. 20 to 26 (by Vijayendrasūri).

[2] '*Subodhika*', p. 89A (by Vinayavijaya).

[3] a. *Kalpalatā* commentary on *Kalpasūtra* p. 121A (Samayasundra)
b. *Sthānāṅgavṛtti*, p. 389B.

[4] a. *Kalpasūtra*, 109. b. *Ācārāṅga* 400.

[5] A cloth to wipe off dust, which is kept by Jaina monks as a symbolic accessory.

Relying on purely canonical evidence, the marriage of Jamāli to the daughter of Mahāvīra seems to be of somewhat dubious character. It is obvious from the *Bhagavatī* that he had eight wives. All of them were young girls, born of noble families, refined, elegant, graceful and having practically identical complexion, age, appearance and beauty. But as regards their names and parentage, the account of the *Bhagavatī* is silent. There is not even a slight hint in this or any other canon, which may justify the general belief that Jamāli was the son-in-law of Mahāvīra. On the other hand, exegetical literature depicting Jamāli as nephew and son-in-law of Mahāvīra does not confirm the view of the *Bhagavatī* that he had more than one wife.

The Āgamic account concerning Jamāli's life is neither in accord nor in discord with the current belief, which represents him as nephew and son-in-law of Mahāvīra. The commentators of the *Kalpasūtra*[1], the *Sthānāṅga*[2], the *Uttarādhyayana*[3], the *Viśeṣāvaśyaka*,[4] etc., are unanimous in regarding him as closely related to Mahāvīra. There is some confusion as regards the names of Mahāvīra's sister and daughter. The *Ācārāṅga* (400) and the *Kalpasūtra* (109) name his sister as Sudarśanā and daughter as Anavadyāṅgī or Priyadarśanā. But in commentaries, we find the names Anavadyāṅgī or Jyeṣṭhā or even Sudarśanā.

Now the question arises how far we should regard the popular belief regarding worldly relation of Mahāvīra and Jamāli as authentic in the

1. *Kalpalatā* p. 121A : तया सह सुखमनुभवतो भगवत:प्रियदर्शनानाम्नी पुत्री जाता। सा निज-भागिनेयस्य जमालेः परिणायिता ।; p. 121B: भगवतो भगिनी सुदर्शना जमालेः माता।
2. *Sthānāṅgavṛtti* p. 389B : तत्र जमालिः क्षात्रियकुमारो, यो हि श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भागिनेयो भगवद्दुहितुः सुदर्शनाभिधानाया भर्ता ।
3. Commentary by *Śāntyācārya* p. 153B : तत्र स्वामिनो ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना नाम, तस्याः पुत्रो जमालिः, स स्वामिनो मूले प्रव्रजितः पञ्चभिशतैः समं तस्य च भार्या स्वामिनो दुहिताऽनवद्याङ्गी नाम्नी द्वितीयं नाम प्रियदर्शना ।
4. बृहद्वृत्तिः [मलधारी हेमचंद्र] p. 935 : तत्रभगवतः श्रीमहावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत्। तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता। तस्याश्च ज्येष्ठेति वा, सुदर्शनेति वा अनवद्याङ्गीति वा नामेति ।

absence of any definite canonical evidence. The commentators rely on an old tradition (वृद्धसंप्रदायात्, कथानकात्). It is difficult to find out he source of this tradition. But one thing is obvious. If we accept the list of names of Mahāvīra's relatives as given in the *Kalpasūtra* and *Ācārāṅga* to be reliable, we should admit the accuracy of this tradition. This list bears testimony to the fact that Mahāvīra was married, he had a daughter and a grand-daughter (daughter's daughter) who was named Śeṣavatī or Yaśovatī. Thus there is nothing to contradict that Priyadarśanā was married to Jamāli. The absence of any allusion in respect of this notable event in the canon seems to be a merely accidental one.

4. *The hearing of Lord's sermon*

Jamāli was leading a life of ease and pleasure, when one day he heard a great commotion from his elevated palace. Curiosity arose in his mind. At once, he called his chamberlain (Kañcukin) and asked him to inquire into the matter. The chamberlain acquainted him with the actual state of the scene. The Venerable Omniscient Lord Mahāvīra was staying in Bahuśāla caitya of Brāhmaṇa-kuṇḍagrāma. The people of different status and varying ages were rushing to that place to pay their respects to the Lord and hear his discourse.

Jamāli lost no time to make up his mind to visit the holy place. Having executed the formalities and preparations suitable for the occasion, Jamāli, accompanied by his friends and relatives, started towards the Bahuśāla caitya passing through the main roads of his town. Arriving at the spot, he solemnly circumambulated the Lord three times from the left to the right and bowing down saluted him.

He was profoundly impressed by the serenity and majesty of the Lord's appearance. He heard the discourse patiently and felt an intuition that there was a true solution of the knotty problem of life. The sermon moved him deeply. He realized that it was time for him to renounce the worldly life. After the dispersal of the congregation, Jamāli approached the venerable Lord and manifested to him his desire to become a monk in the following words :—

> 'Revered Sir, I have verily the faith in the preachings of *Nirgranthas* (outwardly and inwardly unfettered), I trust those preachings, I like them and am prepared to mould my life according to them. They are indeed so as you have explained them. They are true, correct and devoid of all doubts. I have only to take permission of

> my parents. After that I shall become the initiated disciple of you, the Venerable Lord and be a wandering monk instead of a householder.'

The Lord replied, 'Do not interrupt it, if it please you, O Beloved of gods.'

5. *Entering the order of Jaina Asceticism*

Jamāli returned home with his thoughts definitely crystallized to the renunciation of worldly ties as the world seemed to him essentially a vale of misery. He greeted his parents and said, "I heard the religious discourse from Lord Mahāvīra. I am moved by it. Hence, my dear mother and father, I feel depressed with the miseries of earthly life. I am afraid of birth, old age and death. Therefore, I desire, with your kind permission to renounce household life and enter the ascetic one being properly initiated by Lord Mahāvīra."[1]

No sooner had his mother heard these words, than she fainted. It was with great effort on the part of Jamāli and her attendants that she regained consciousness. A long discussion then followed between Jamāli and his parents. They tried in vain to persuade their beloved and only son to desist from adopting the course of a houseless monk. They reminded him of his extreme and vigorous youth, riches, beautiful wives and all the means of worldly enjoyments, which were ever at his command. But a firm resolution could not be altered. He told his parents the fleeting and transitory nature of earthly goods. He explained to them his total abhorrence of worldly pleasures and their non-finality. His parents, then, tried to discourage Jamāli from his resolve by the intolerable hardships and severe sufferings one has to meet in course of a mendicant's life. Even then, he was unmoved in his rocklike decision. He said that he was in search of undying bliss and wanted to escape from the never-ending cycle of births and deaths with all their concomitant experiences. Hence the privations of an ascetic life would not dissuade him from following the path he had chosen. The parents realized that they could not prevail upon Jamāli to lead the life of a householder. At last they yielded and gave their consent with great reluctance.

---

1. "समणस्स भगवस्स महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते जाव अभिरुइए, तह णं अहं अम्म-ताओ। संसार भयउविग्गे भीते जम्मजरामरणेण तं इच्छामि णं अम्म-ताओ। तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।"

The preparations were made on a grand scale for Jamāli's renunciation. The usual formalities were performed and Jamāli was taken to Lord Mahāvīra. His parents bowed and saluted the Lord and said thus: 'In this manner, Sir, the Kṣatriya prince Jamāli is verily our only son, beloved and charming. Whose mere name is scarce to be heard, how difficult is it to have a sight of him? Just as a lotus or a water lily sprouts in the mud, grows in the water but remains perfectly unsoiled with mud-dust or water-drops, in a similar manner, this Kṣatriya prince Jamāli is born and has been brought up in pleasures and sensual enjoyments. Even then, they have no power over him. Nor have friends, kinsmen and near and dear relatives any attraction for him. O You Beloved of gods, He is averse to these worldiy objects and afraid of the pains of birth and death. He wishes, after having got himself shaved bald to get himself initiated before you. Therefore, we offer you this gift of him. Please accept, Beloved of gods, the gift of a disciple'.

The formal ceremonies were performed and Jamāli, together with five hundred young men, all in the heyday of their youth, entered the Holy Order. Muni Kalyāṇa Vijaya holds the view that the initiation of Jamāli took place during the second year of Mahāvīra's attainment of Infinite Knowledge, i.e. Omniscience (499-498 B. V.)[1]

6. *Ascetic Life*

That was a time when asceticism was essentially combined with profound scholarship. The first and foremost duty of a young neophyte was, as usual, to study the eleven Aṅgas. Naturally Jamāli was instructed in in these holy scriptures. In due course he attained a position of distinction and influence. Mahāvīra then made him head of 500 monks and 1000 nuns who were under the supervision of Priyadarśanā, Jamāli's wife in worldly relations who also accepted the life of a female ascetic when her husband had renounced the world. It seems that the high rank held by Jamāli was not on account of his exceptional learning but due to his influence on his fellow monks, who had a great regard for him during his household life. The statement that he studied the eleven holy scriptures appears to be a tentative one because he could not claim mastery over them as will be evident from the questions put to him when he was bent on being regarded as Kevalin.

For about ten years he remained with Lord Mahāvīra. Definite account of his activities during this long period is available. The analysis of subsequent events confirms that he must have struggled hard to gain a high position among the Mahāvīra's ascetics and even aspired to obtain the coveted rank of a Kevalin.

---

[1] *Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra*, p. 79.

So far as the observation of rigid rules of ascetic life is concerned he followed a course of extreme self-discipline. From the very start he practised a rigorous form of austerity and used to fast until the fourth or sixth or eighth meal and onward, i.e. for one day or two days or three days and even more. Some times he gave up all food for a fortnight or even a month. Thus he wandered mortifying himself with peculiar penances and constraints. The excellence of his self-restraint and purity of conduct was made known to Gautama by Mahāvira after Jamāli's death. Gautama asked the Lord,[1] "Sir, did the houseless monk Jamāli take flavourless, tasteless, left-over, coarse, rough and inferior food? Did he live on such meals? Was he a man who had subdued his passions, lived peacefully and led a solitary as well as holy life?" "Yes, Gautama", was the reply.

7. *Severance of Jamāli from Mahāvīra*

One day during the 12th year[2] i.e. 489-488 B. V. of Mahāvīra's life as Kevalin, Jamāli approached the Lord and having praised him thus said, "I intend, Sir, being permitted by you to wander over various villages and towns together with five hundred monks." On hearing this request, Lord Mahāvīra remained perfectly silent.[3] The request was repeated for the second and even third time but it failed to bring out any tangible result. The commentator Abhaya Deva Sūri[4] assumes that Mahāvīra's silence on the request was due to his indifference to the proposal as it contained in itself the seeds of future disruption.

Then Jamāli, probably taking this silence as a form of approval,[5] bowed down, saluted the Lord, left the Bahuśāla caitya and began to tour independently along with 500 ascetics.

---

[1] "जमाली णं भंते ! अणगारे, अरसाहारे, विरसाहारे, अंताहारे, पंताहारे, लूहाहारे, तुच्छाहारे, अरसजीवी, निरसजीवी, जाव तुच्छजीवी, उवसंतजीवी, पसंतजीवी, विचित्तजीवी ?"
"हंता गोयमा !"

[2] *Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra*, p. 119.

[3] तह णं से समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो आढाइ णोपरिजाणाइ तुसिणीए संचिट्ठइ ।

[4] 'भाविदोषत्वनोपेक्षणीयत्वात्तस्य इति' अभयदेवीयावृत्तिः भगवतीसूत्र p. 893.

[5] Malayagiri in his commentary on *Āvaśyaka* (p. 402) says that Jamāli took permission of Mahāvīra. Śāntyācārya's commentary on उत्तराध्ययन (p. 153B) gives a similar account.

After wandering from village to village for about a period of three years, he arrived on a certain day at a town Śrāvastī by name, and resorted to Koṣṭhaka sanctuary of that place. It is here that an event, which proved to be a turning-point in his life took place. During his stay one day he took very tasteless, inferior, rough, stale and musty food which was brought after the time of taking meal was over, and was taken regardless of the quantity thereof. This resulted in his falling ill seriously. The disease took an acute form in no time and he felt that his whole body was burning due to bilious fever. He called his fellow monks and asked them to spread a bedding for him. They faithfully obeyed the order and engaged themselves with the work so that he might have a complete rest. But it could not be carried on expeditiously as he had wished and the severity of pain was increasing every moment. He called them again and said, "Has the bed been spread or is it being spread ?"[1] They replied,[2] "O beloved of gods, it is not spread yet, but is being spread."[3] Now doubt crept in Jamāli's mind. He said to himself, "Lord Mahāvīra has said and explained[4] thus : what is moving is called 'moved', what is rising or maturing is known 'risen' or 'matured', what is partially destroyed is said to be 'partially destroyed', etc. This statement is false. It is obviously seen that so long as the bedding is being spread, it is not spoken of as spread. Hence how can the above doctrine of Lord Mahāvīra be said to be held true ?" Then he gathered together other monks and proclaimed the falsity of Mahāvīra's preaching. Some of them expressed their faith in his conclusions, while others disliked it, and left his company and joined Lord Mahāvīra, who was at Pūrṇabhadra sanctuary of Campā City.

After some time, when Jamāli was completely cured of the disease, he also left Śrāvastī and wandering from village to village reached Campā. He kept himself standing neither near nor far from the Lord and spoke thus, "I do not abide like a 'Chadmastha' (a person possessing imperfect knowledge i.e. who has not gained omniscience) as many of your 'Chadmastha' houseless disciples do. I do tourings like an 'Arhat' or 'Jina' or 'Kevalin' who has attained infinite knowledge and infinite intuition". It shows that Jamāli, in emulation of other Kevalins, had an ambition to be venerated as Kevalin. But for lack of ability and profound scholarship, his ambition could not be fulfilled. On his bold assertion, Gautama said to him, "If you regard yourself as Kevalin, please answer two questions : (i) Is the world eternal or non-eternal ? (ii) Is the soul eternal or non-eternal ?" Jamāli was perplexed and could not reply. Mahāvīra said to him, "O Jamāli, many of my monk-disciples are in a state of 'Chadmastha'. Even then, like me, they are capable of answering these questions. But they do not speak in the terms you have just spoken i.e. I am 'Jina' or 'Kevalin'." Mahāvīra, then, explained to Jamāli the nature of the world and the soul in answer to these questions. Thus, it was known that many other monks in the Holy Order were more advanced in their studies and knowledge than Jamāli.

---

[1] सेज्जा संथारए णं किं कडे कज्जइ ?

[2] णो खलु देवाणुप्पियाणं सेज्जासंथारे कडे, कज्जइ !

[3] According to Śāntyācārya (p. 153B) reply was negative one as it is found in the *Bhagavatī*. But Ācārya Malayagiri (commentary on *Āvaśyaka*, p. 402B). Abhayadeva (*Sthānāṅgavṛtti*, p. 390) and Maladhārī Hemacandra (*Viśeṣāvaśyaka Vṛtti*, p. 936) hold that the monks replied that the bed was stretched although it was as yet being stretched or was only half-stretched.

[4] *Bhagavatī* 1.1.

Jamāli listened to Mahāvīra but could not repose faith in him. He left again, leading the life of an ascetic for a number of years. He misled himself and others by expounding a false doctrine under the influence of wrong belief. But he failed totally to gather followers and all his fellow-monks deserted him. Observing a fortnight's 'fast unto death' ('saṁlekhanā'), he emaciated his body and died without expiating his sins. Then, he was born in Lāntaka heaven as a 'low inferior god' (Kilbiṣika god)[1].

After his death, Gautama asked Lord Mahāvīra some questions regarding Jamāli and the Kilbiṣika gods. One of the questions was : 'Where would Jamāli be born after completing his duration of life as a god in the heaven ?' The Lord said, 'O Gautama, having wandered for four or five cycles of births and deaths in sub-human, human, heavenly and hellish lives, he would become 'Emancipated' and thus end all misery.'

The commentators on the *Bhagavatī* raise an interesting question[2] and try to answer it. 'Why was he (Jamāli) initiated by Lord Mahāvīra, who knew beforehand the future events as he was in possession of infinite knowledge?' In answer to this question, they state that even great persons are probably unable to turn the course of events, which are destined to take place. Or, the Lord regarded it, i.e., initiation of Jamāli, advantageous in a way. The Venerable Tīrthaṅkaras never engage in frivolous activities.

---

[1] "किल्बिषिका अंतस्थस्थानीया:" तत्त्वार्थभाष्य 4.4. Haribhadra says in his commentary on this Bhāṣya : "अन्तस्था: चण्डालादय:".

[2] अथ श्रीवीरेण सर्वज्ञत्वादमुं तद्व्यतिकरं जानतापि किमित्यसौ प्रव्राजित: ? उच्यते अवश्यंभाविभावानां महानुभावैरपि प्रायोल्लंघयितुमशक्यत्वाद् इत्थमेव वा गुणविशेषदर्शनात् भगवतोऽर्हन्तो न निष्प्रयोजनं क्रियासु प्रवर्तन्ते इति । *Bhagavatī-sūtra-vṛtti* by Dānaśekhara Sūri, p. 164 A.

8. *The significance of the controversy between Mahāvīra & Jamāli*

According to the *Bhagavatī,* having bid farewell for ever to Lord Mahāvīra, Jamāli preached many wrong tenets on account of his wrong faith. However, we do not come across any other adverse view except one stated before. The one and only controversial point between them as related in the canons was that Mahāvīra believed in the theory of 'कडेमाणे कडे' while Jamāli pinned his faith in 'कडे कडे'. Naturally, one may ask why did a unique personality like Lord Mahāvīra, regarded Omniscient, patient, a man of unequalled calm and of a quiet nature, the foremost expounder of the doctrine of Non-Absolution, oppose Jamāli on such an apparently insignificant matter and thus allow the monastic order to be split into two, may be for a short period only ? Did it not behove Mahāvīra to ignore the opposition of Jamāli and let him go his own way ? Or, did the Lord consider Jamāli's view detrimental to the holy order and the common people? Can the outstanding difference between them be cemented? These problems have been elaborately dealt with by the renowned scholar Pt. Sukhlalji, in one of his articles[1] and we may briefly note here his views on these points.

Lord Mahāvīra judged every thing from a Non-Absolutistic view. He said that the knowledge of an object remained incomplete or imperfect unless it was gained from various standpoints relative to one another. This principle should be applied to metaphysical or philosophical theories as well as to the everyday problems one has to face in life. Broadly we can divide the various standpoints about a particular thing into two— empirical or practical, transcendental or real. The former is based on direct experience while the latter on indirect one. The former contains variety of experience and the latter has unity of experience. The empirical standpoint takes into account the distinction lying between ends and means but the transcendental one makes no such distinction. Before we proceed to form our opinion about any principle or action, we must keep in mind both of these standpoints. The process of understanding the true nature of an object or an activity is possible only if we follow the practical without ignoring even for a moment the real. This is the background which made Mahāvīra oppose Jamāli.

---

[1] *"Jain Yuga"* Vol. I., No. 8.

Mahāvīra knew well that human nature in general lacks patience and perseverance. Every individual has a keen desire to have speedy and maximum result with the minimum of labour. It is not also unoften that a man is just near the point of enjoying the fruit of his labour when all of a sudden he comes across an obstacle or difficulty and being disappointed gives up the undertaking. He attributes the responsibility of his failure to extreme causes without having any idea of his own drawbacks like impatience and lack of sufficient effort, needed for the purpose. Many social and political activities remain only half-done owing to this significant fact about human nature.

Having in view the above datum, Mahāvīra proclaimed that an action whose process has been set on roll can be said to have been done from one standpoint. When our effort continues, it goes on achieving its end to the proportion in which it stands as accomplished. The result in view as a whole is attainable at the end of a long and continuous effort. But the amount of labour put in during the whole process cannot be regarded in vain as each and every part of that labour had its own role to play and the final result is nothing but the sum total of all those individual parts. If this fundamental truth is ignored no attempt either in spiritual matters or in worldly dealings can be carried on efficiently and steadily. Mahāvīra's doctrine inspires a man to proceed on his way and not to regard the utter futility of his effort or activity however slight it may be in quantity.[1] It promises him fruition of his undertaking at every step. It discourages him from running away from the responsibility thinking that the obstructions or a long period of time would defeat his purpose and not allow him to taste the sweet fruit of his arduous labour. He feels satisfaction at every moment during the performance of a particular action that he has been crowned with success so far.

[1] नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ The *Bhagawatgītā* II. 40. "In this path, no effort is ever lost and no obstacle prevails; even a little of this righteousness saves from great fear." Sir S. Radhakrishnan explains it in the following words :—"No step is lost, every moment is a gain. Every effort in the struggle will be counted as a merit." p. 116.

That is why the Lord preached the doctrine of 'कडेमाणे कडे'. It means that an action which is still going on or is not completed yet or whose final result seems to be far off, can be said to have been done or completed or to have attained its objective. It does not recognize any difference between the act and its result. The result or fruit is not same thing which is quite apart from the effort and is gained at the last moment of it but the whole series of an action from the commencement to the end is its fruit. Jamāli on the other hand held the theory of 'कडे कडे'. He meant thereby that the activity which is still going on cannot in any respect be said to have been completed unless its final result becomes obvious. The effort and the result are not identical but are altogether different. The long process of an effort as a whole is a means to an end which is attainable only at the last moment.

It can be seen that Mahāvīra could reconcile Jamāli's view from a practical point of view. But Jamāli refused to accept the transcendental standpoint underlying Mahāvīra's preaching and emphasised only the practical one. Deeper speculation and greater insight shows that Mahāvīra was justified in disowning Jamāli's absolute stand on the point as it was unfit for, perhaps even dangerous to, ordinary human minds who were apt to meet failures in their lives had they put their faith in Jamāli's propaganda.

9. *Ultimate Fate of Bahuratavāda*

Jamāli and his followers called Bahuratāḥ (आवश्यकनिर्युक्ति 779 ; उत्तरा० नि० 165). The reason for this is that they believed that an object which happens to be produced takes a long time before it is completed. According to them a thing is not produced the very first moment to which the activity is attributed, but it requires many moments for its completion and production.

Jamāli failed to attract any adherents to his new school and in the long run he was the solitary votary of his doctrine. But in the beginning many a monk put his trust in him. Particularly Sudarśanā or Priyadarśanā, Jamāli's wife and Mahāvīra's daughter in worldly relations, with her one thousand nuns could not keep apart from him and even used to induce others to adhere to the teachings of Jamāli.

At the time of the rift she was staying at the house of the Jaina layman Dhaṅka, a potter by caste. She tried to convince him of the significance of Bahuratavāda. But he was a man of firm conviction. He hit upon a plan to reconvert the dissenters to the True Path.

One day she was engaged in her usual studies and Dhaṅka was busy with his professional work. Suddenly he took a burning coal from his kiln and threw it upon her upper garment with the result that a small portion of it caught fire. She at once said, "O layman votary! You have burnt my upper garment." (*Viśeṣāvaśyaka Bhāṣya* 2324). He gave a quick reply, "The proposition, what is burning is burnt, is against your doctrine."

A minor discussion followed but the dialectics of Dhaṅka had the desirable effect upon her and others who were still under the influence of Jamāli. All of them uttered with one voice, "Oh noble man, we intend to follow your exhortation which is full of truth." Then they headed by Dhaṅka came to the Lord and rejoined him. Thus Jamāli was left all alone and died without any follower.

The Jaina philosophical school remained intact.

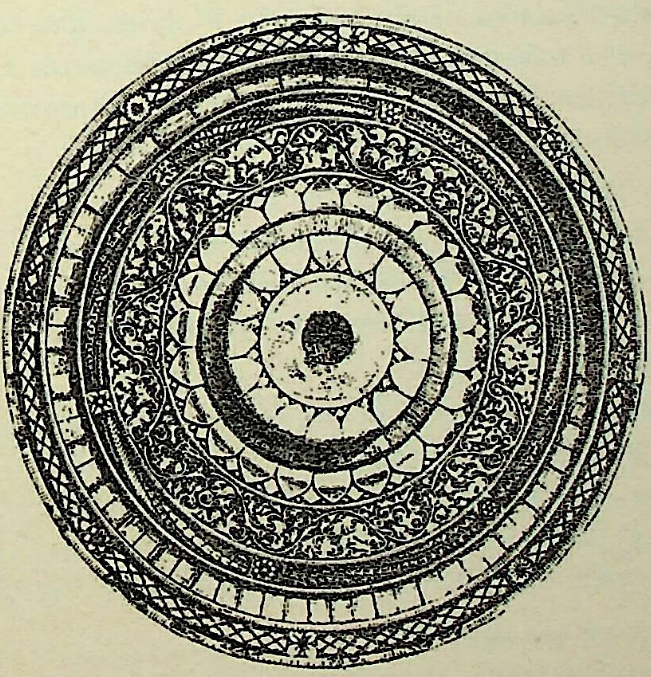

THE CONCEPT OF ARHAT

Prof. PADMANABH S. JAINI, M.A., Tripiṭakācārya

The *Arihanta* (Arhat) is the first of the Five Worthies cited by all Jainas in their daily salutation. Though this word is common to-day amongst the Jainas, it was very popular with all Śramaṇas of old. In the days of Gautama Buddha, it was common to apply this honorific term to the heads of various religious sects. All Teachers grouped under the Śramaṇas used this title and severe penances were indulged in to retain it. Such a claim by others was considered by the Buddhists as a vain boast and the Buddha is reported to have often challenged this claim.

The first chapter of the *Mahāvagga* of the Vinayapiṭaka depicts a scene of the meeting of the Buddha with an Ājīvaka named Upaka. The Buddha is on his way to Sārnāth to preach his first sermon. Upaka meets him somewhere near Gayā and impressed by the charming and illustrious personality of the latter asks him about his Teacher and Religion. The Buddha declares with a force of conviction, "I am the Arhat in the world, I am the Teacher Supreme, I alone am the Fully-enlightened one, I have become Tranquil, I have attained Nirvāṇa."[1] These words not only reveal the supreme self-confidence of the speaker but also throw a challenge to others, who claim to be Arhats.

When the Buddha approaches the five mendicants at Sārnāth, who are reluctant to receive him, he persuades them again by a solemn declaration, "O Monks, the Tathāgata Samyak-Sambuddha is an Arhat. Open your ears, O Monks, the Immortal is known, I shall instruct you, I shall preach the law."[2]

At a subsequent meeting with the leader of the five hundred Jaṭilas at Uruvelā, the Buddha demonstrates many supernatural powers to win over the former. The Jaṭila is impressed by the powers of the Buddha but still persists in thinking: "Indeed, the great Śramaṇa possesses great supernatural powers but he is not an Arhat as I am".[3] When the Buddha

[1] अहं हि अरहा लोके अहं सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मा सम्बुद्धो सीतिभूतोस्मि निब्बुतो ॥

[2] अरहं भिक्खवे तथागतो सम्मा सम्बुद्धो। ओदहथ भिक्खवे सोतं, अमतं अधिगतं, अहं अनुसासामि, अहं धम्मं देसामि।

[3] महिद्धिको खो महासमणो न त्वेव च खो अरहा यथा अहं।

reads this vain thought of the Jaṭila, he declares frankly, "O Kassapa, you are neither an Arhat nor you have attained the Path leading to Arhatship."[1] These outspoken words have the desired effect and the Buddha succeeds in bringing him to his fold as a disciple.

These are only a few illustrations to show how dogmatically the Buddhists asserted their superior claim to this title. This is quite significant, for, the word Arhat indicated a Teacher Perfect and it was necessary for the Buddhists to prove the singularity of the Buddha and his supremacy as a Teacher.

The word 'Arhat' means 'the worthy', one who is worthy of worship. This also means the Teacher Perfect, a Law-giver. The word 'Arhat' in the Jaina-*mantra* '*Namo Arihantāṇam*' means a Teacher, who is popularly known as a Tīrthaṅkara. The Jaina scriptures lay a specific rule that an aspirant for this title must cultivate supreme qualities like Purity of Vision, Perfect Humility, Righteousness, Constant Wakefulness of mind, Charity, Penance, Services to Worthies. etc. One of the essential qualities is *Pravacana-vatsalatva*—a benevolent love for preaching the Law, a love born of compassion for the suffering world.[2] It is the fulfilment of these perfections that turns an ordinary *Kevali* into a Tīrthaṅkara or an Arhat. No basic difference exists between a Kevali and a Tīrthaṅkara. Both are omniscient. Both have equal powers as regards the innate qualities of a Pure soul, viz. the Infinite Bliss, Infinite Power, Infinite Perception and Infinite Intuition.

Thus according to the Jaina theory, there are two kinds of Kevalis. One is Kevali and the other is Arhat-Kevali, i.e., a Tīrthaṅkara. Both are *Vītarāga* and *Sarvajña*. But the latter alone is a Teacher Perfect, as he is gifted with a special faculty, which is the result of the perfection of various meritorious qualities in his previous births.

When the Buddha found that the word 'Arhat' was used for Teachers Perfect, he too claimed it and founded an order of monks. In the beginning, this Order consisted of only those monks, who, according to the Buddhist theory, had completely destroyed their *Āsravas*, i.e. impurities

---

1. नेव खो त्वं, कस्सप, अरहा न पि अरहत्तमग्गंसमापन्नो ।
2. दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैय्यापृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकाऽरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलमिति तीर्थंकरत्वस्य। तत्त्वार्थसूत्र VI. 24 (Mysore edn.). Compare with this the various Pāramitās which a Bodhisattva fulfils in order to attain the Buddhahood.

like *rāga, dveṣa* and *moha,* and were entitled to be called Liberated or *Nibbuta.* These were the disciples of the Buddha and not Teachers themselves; nevertheless, they had attained perfection and the term 'Arhat', which was once used to be applied exclusively to Teachers, came to be used for them. The freedom of mind from the *Āsravas* is a state which is equivalent to what the Jainas know by the term *Vītarāga.* The *vītarāga* Buddhist monks were also designated as Arhats. Thus the word 'Arhat' which by tradition was applied only to Teachers was used by the Buddha in a general and more universal sense.[1] This not only raised the Buddha but also his disciples above other Teachers and established the superiority of the Buddhist religion.

But a word had to be found to denote the supremacy of Buddha over his disciples. If the taught was 'worthy', the Teacher was 'worthiest'. A new word gained currency to serve this purpose. The Buddha was now exclusively called *a Samyak-sambuddha,* i.e., fully enlightened one. This epithet is nowhere applied to a person other than a Buddha.

The Arhat and the Samyak-sambuddha of the Buddhists can be fairly compared respectively with the Jaina Kevali and Arhat (i.e. Tīrthaṅkara). The Buddhist Arhat is a Vītarāga and so is a Jaina Kevali. The Buddhist Samyak-sambuddha is a Vītarāga and a Teacher, and so is a Jaina Arhat or Tīrthaṅkara.

But there is a great difference between the Jaina Kevali and the Buddhist Arhat. The latter is a Vītarāga but not a Sarvajña. But according to the Jaina theory, a Vītarāga must necessarily be a Sarvajña. In consistency with this theory, the Jainas hold that their Kevali is Vītarāga as well as Sarvajña. The Buddhists, however, recognise the omniscience only in a Buddha—The Teacher.

From this we conclude that the word 'Arhat' was in the beginning applied only to the Teachers Perfect. In the wake of Buddhism, it began to be used to denote even the Non-teacher, and therefore the non-*sarvajña* but *vītarāga* monks. This resulted in lowering the status of Arhat in the eyes of Buddhists themselves and in the Mahāyāna scriptures, there is an open condemnation of the Arhat, who is said to be a Hīnayānist and whose claim for Perfection is not recognised.

[1] तेसं अनुपादाय आसवेहि चित्तानि दिमुच्चिंसु। तेन खो पन समयेन एकसट्ठि लोके अरहन्तो होन्ति। महावग्ग.

HISTORICAL POSITION OF JAINISM

Dr. J. S. JETLY, M.A., Ph.D.

Jainism as a sect is supposed to have its historical existence in the time of Mahāvīra, the twentyfourth Tīrthaṅkara of Jainas. Some scholars take it as far back as Pārśvanātha, the twentythird Tīrthaṅkara, who is generally placed in the 8th Century B.C.

In the history of Indian culture Jainas and Buddhists are known as Śramaṇas. A story of antagonism between Śramaṇas and Brāhmaṇas appears to have become a part of the old tradition. The compound श्रमणब्राह्मणम् according to Pāṇini's rule[1] येषां च विरोधः शाश्वतिकः is a clear indication of the same.

This item of our tradition requires some close consideration. For this purpose it would be interesting to note the rise of Śramaṇa sect in their early relation to Brāhmaṇical schools as well as historical developments of their churches. I shall of course limit myself to Jainas though the general problem of the rise of Śramaṇas pertains to all the Śramaṇa sects.

The *Sūtrakṛtāṅga*[2] of Jainas and *Brahmajāla-Sūtta*[3] of Buddhists refer to a great number of sects other than their own. Some of these may be Vedic while the others are non-vedic and Śramaṇa. Of these sects the historicity of the three Śramaṇa sects, viz. those of Jainas, Buddhists and Ājīvakas is generally accepted by the scholars.

There is, however, a controversy about the origin of these Śramaṇa sects. The older view is that these Śramaṇa sects were more or less so many protests against the orthodox Vedic cult. The strongest argument in favour of this view is that our oldest extant literature comprises of *Vedas* including *Brāhmaṇas* and *Upaniṣads*. The canoncial works of Jainas and Bauddhas are much later and presuppose the existence of Vedas and Vedism. Naturally, therefore, one becomes inclined to regard these sects represented by later literature as in some way related to the older Vedism.

---

[1] *Pātañjala Mahābhāṣya*, p. 539.

[2] Süt. refers to the creeds prevalent in the time of Mahāvīra, the 24th Tīrthaṅkara of Jainas. They are (१) क्रियावाद, (२) अक्रियावाद, (३) अज्ञानवाद and (४) विनयवाद. The same Sūt. states that these four great creeds comprise 363 schools. Vide Sūt. I.xii.1; also cf. Sth. 4.4.35, Bhag. 30.1.825, Uttar. 18-23 and Nandi 47.

[3] BJS. in DN enumerates 62 schools under the chief eight heads: viz., (१) सस्सतवादिन्, (२) एकच्चसस्सातिक, (३) अन्तानन्तिक, (४) अमरविक्खेपक, (५) अधिच्चसमुप्पान्निक, (६) उद्धमाघातिक, (७) उच्छेदवादिन्, (८) पिदिट्ठधम्मनित्वानवादिन् DN 1.12.39, also cf. Svt. 1-2. It enumerates (१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) नियतिवाद, (४) यदृच्छावाद, (५) भूतवाद, (६) पुरुषवाद and (७) ईश्वरवाद. It should be noted that according to the works referred to of Jaina canons all the five Vādas excepting यदृच्छावाद and भूतवाद come under the head of क्रियावाद whilst except भूतवाद all the six come under the head of अक्रियावाद also. For the detailed study vide SSJL by A. C. Sen.

However, a more critical and thorough examination of the Vedic as well as of Śramaṇa sacred texts has given birth to the hypothesis of the independent origin of these Śramaṇa sects. Not only that but this study has also suggested the possibility of some of the Vedic sects like Śaivism, schools like Sāṅkhya-Yoga and some of the Bhakti cults being non-Vedic in origin. The bases of this hypothesis are the latest archeological researches, philological findings and also the literary evidences. Let us briefly review these different sources of the history.

The archaelogical researches have now definitely proved the existence of a highly developed culture beside which the one reflected in the Vedas and Brāhmaṇas looks rural if not primitive. Here I refer, of course, to the City culture of the Indus Valley.[1] The existence of the images of Proto-Śiva and Śakti in the monuments at Mohenjo-daro and Harappa points in the direction of the image-worship which was later on accepted by all Indian sects. It should be noted here that in the Vedas there is very little evidence of the cult of image-worship.

Similarly philologists have now shown that the Sanskrit language that was codified by Pāṇini was not the pure Aryan Vedic language. Many non-Vedic words current in the languages of the different regions of this country were absorbed in the Sanskrit language with the assimilation of the different non-Vedic cults into Vedic cult. Here we are concerned with the word 'Pūjana'[2] used in the sense of worship. The Vedic Aryans used the word 'Yajana' in the sense of their daily worship. They had no concern with image-worship. The word 'Pūjana' indicates quite a different mode of worship, which was then prevalent among the people of non-Vedic civilisation. It must have involved some sort of image-worship. With the assimilation of this image-worship, the word 'Pūjana', also must have been assimilated in the language of the Aryans. In later times not only did 'Pūjana' become popular and the prevalent form of worship among all the classes of people but even in pure 'Yajana' of sacrifices image-worship was brought in, in one form or another. For example, the 'Pūjana' of Gaṇapati has got its priority in every type of 'Yajana'.

---

[1] "Mohenjo-Daro and the Indus Valley Civilisation" by John Marshall. Vide description of plate No. XII-17.

[2] "Indo-Aryan and Hindi", p. 64.

D. R. Bhandarkar[1] deals with the problem of non-Vedic sects in some details in his "Some Aspects of Ancient Indian Culture". In this work, he draws upon archaeological researches as well as literary works like Vedas, Brāhmaṇas, Sūtras, Piṭakas and Āgamas. There he shows the origin of Śaivism to lie in non-Vedic Vrātya cult. Similarly according to him Jainism and Buddhism have their origin in a Vṛṣala tribe. This tribe had its own independent civilization and gave stubborn resistance to the imposition of Brāhmaṇic culture by the Aryans. This tribe chiefly resided in the north-east part of the country which is now known as Bihar and which is the birthplace of Jainism and Buddhism. In fact he has ably discussed the relation of the non-Vedic cultures with that of Vedic ones and has shown how some of the non-Vedic cults like Yoga and others were assimilated in Vedic cult.

The findings of D. R. Bhandarkar strengthen the older hypothesis of Winternitz pertaining to the independent origin of the Śramaṇa sects. Winternitz has discussed the problem in some detail in his lectures on 'Ascetic Literature in Ancient India'.[2] He has paid tributes to the scholars like Rhys David, E. Lenmann and Richard Garbe who combated the older view of Vedic origin of the Śramaṇa sects. His chief grounds are the constant occurrence of the term Śramaṇa-Brāhmaṇa in Buddhist Piṭakas and in Aśoka's inscriptions; legends, poetic maxims and parables found in the *Mahābhārata* as well as in *Purāṇas*. He closely examines the Pitā-Putra Saṁvāda, Tulādhāra-Jājali Saṁvāda. Madhubindu parable and such other Saṁvādas and compares them with their different versions found in Jaina *Āgamas* and Buddhist *Jātakas*. Thus examining thoroughly the different passages referring to asceticism and showing their contrast with those referring to ritualism, he concludes, "The origin of such ascetic poetry found in the *Mahābhārata* and *Purāṇas* may have been either Buddhist or Jaina or the parable passages may all go back to the same source of an ascetic literature that probably arose in connection with Yoga and Sāṅkhya teaching."[3] The Sāṇkhya and Yoga schools, as we have

---

1. "Some Aspects of Ancient Indian Culture", pp. 40-52.
2. "Some Problems of Indian Literature", p. 21.
3. *Ibid.*, page 40.

seen above, may have been non-Vedic in origin. When some of the Vedic Brāhmaṇas were convinced of the Nivṛttipara path or asceticism and left ritualism, the schools which accepted the authority of Vedas and also the superiority of Brāhmaṇas by birth got slowly assimilated to the Vedic cult. Probably amongst Śramaṇa sects, Sāṅkhyas were the first to accept the authority of the Vedas and the superiority of Brāhmaṇas by birth; and perhaps this may be the reason why we find Sāṅkhya teachings reflected in the early Upaniṣads.

Whatever may be the case, this brief survey points out to one fact and that is that by the time of Mahāvīra and Buddha the Śramaṇas were a powerful influence affecting the spiritual and ethical ideas of the people. Even though by process of assimilation the Nivṛtti outlook became a common ideal both among the thinkers of the earlier Upaniṣads as well as among the Śramaṇa thinkers, the fact of the Śramaṇa thinkers (that is, Jainas and Bauddhas) rejecting the authority of Vedas, the superiority of Brāhmaṇas by birth and their repugnance to animal-sacrifice as a form of worship, made them socially distinct and an antagonistic force with which the powerful and well-established Vedic sects had to contest. Here it may be noted that references in the earlier Buddhist *Piṭakas* and Jaina *Āgamas* as well as in Aśoka's inscriptions to Śramaṇa-Brāhmaṇa do not indicate any enmity but imply that both are regarded as respectable. It is only in Patañjali's *Mahābhāṣya* which is later than Aśoka, that we find the compound Śramaṇa-Brāhmaṇam suggesting enmity. This may be the result of a contest of centuries between Śramaṇas and Brāhmaṇas.

Whether we accept this protestant-theory of the origin and rise of the Śramaṇa or the theory of their independent pre-Vedic origin, one thing is clear that there was a great ferment of Śramaṇa thought in or about the period of the earliest Upaniṣads and Āraṇyakas, i.e., about 800 B.C. As we have said above, the history of Jaina church also does not start with Mahāvīra but it goes as far back as Pārśva, i.e., 800 B.C.

The Jaina Āgamas which are the earliest source for life and teachings of Mahāvīra point to one fact very clearly and that is that the Jñātaputra Vardhamāna had to make his way through a crowd of Śramaṇa and Vedic "Titthiyas" or "Tīrthikas". Another point which becomes clear from Āgamas is that Vardhamāna's method was to harmonise and assimilate as much of different contending sects as was consistent with his main ideal of Mokṣa. This peculiar trait of Mahāvīra's method seems to be responsible for giving his school the name and character of Anekāntavāda and Syādvāda. The essence of these Vādas lies in harmonising the different ways of thought by regarding them as so many different points of viewing reality and grasping truth. This character of Jainism explains why throughout its history it has always studied carefully the religio-philosophical ideas of other schools and developed the Anekānta doctrine in relation to the growth of various Darśanas.

JAINISM : ITS DISTINCTIVE FEATURES AND THEIR IMPACT ON OUR COMPOSITE CULTURE

PROF. KR. DE. KARNATAKI, M.A.

The researches of many devoted savants, both Western and Eastern, have established beyond any doubt that Jainism is a very, very old tradition. It is now generally recognised that Mahāvīra is not the original founder, but only a great reformer who induced fresh blood into the already existing body of Jainism by his work of organising and renovating the Jaina institutions. Prior to him, there was the great Pārśva; even he was not the founder of Jainism. Ṛṣabha of the hoary past, belonging most probably to the pre-Vedic age, was the first promulgator and founder of the Jaina tradition. He is unanimously held by both the Jaina and the Brāhmaṇa traditions to have existed in very early times. Thus the roots of Jainism go very deep into our history and Jainism undoubtedly is an indigenous system which was prevalent in our country —at least in entire north India—even before the advent of the Vedic Aryans to the Panjab or Brahmāvarta.

It is one of the most fascinating and inspiring tasks for a thinker to follow the majestic course of Vedic Aryanism coming into contact with the indigenous currents flowing in our country even before its rise here and mingling with them, being influenced by them and emerging, after ages of dynamic assimilation, as the wonderful composite culture, Bhāratīya saṁskṛti, which is even now a very much live and day-to-day practised tradition amidst one-fifth of mankind inhabiting our country. If we take up the two most predominant currents in this stream of Bhāratīya saṁskṛti, the Brahmanical and the Jaina, they seem to be distinguishable even now (as Jainism has a very considerable following in our country) as Gaṅgā and Yamunā mingling their different-hued waters into one composite river. We shall try to sketch, necessarily in outline, how Jainism has influenced the Vedic-Brahmanic tradition and, thereby, contributed to our composite Bhāratīya culture. Before we embark on this, we shall very briefly note the most salient features of Jainism.

Jainism is generally clubbed along with Buddhism under *śramaṇa-sampradāya.* This does not bring out its essential nature in entirety. From times immemorial, it is exclusively termed *nirgrantha sampradāya.* This appellation brings out the fundamentals of Jainism. Of all traditions, Jainism emphatically lays stress on the nivṛtti attitude towards life in this world. It considers that the life of an individual in this world is something basically deplorable and that, therefore, it should be unwaveringly brought to an end. We need not go into details regarding how the *Jīva* gets into bondage and becomes entangled, etc. Suffice it to say that Jainism—true to its *nirgrantha* origin—looks upon the task of the *Jīva* mainly to consist in bringing cessation to this life in this world. It does not aim at *sukha* or happiness in any other world; it does not aim at continuation of this worldly life in any other form, anywhere else in other worlds. It definitely turns away from the pravṛtti attitude towards life which consists in zestful indulgence in life characterising the Vedic-Brahmanic tradition expressed in prayers for living a full hundred years, for begetting valiant sons, for having plenty of cows, for destruction of enemies, etc. The characteristic attitude towards life that consists in seeking for a cessation of the same, in considering that the life-process is essentially one to be detested and put an end to and that all our endeavours should mainly be guided by this supreme purpose—undoubtedly is the pivoted core of Jainism in its *nirgrantha* origin.

The basic nivṛtti stand-point characterising Jainism is laid as the foundation on which the entire Jaina structure of its salient features is raised up systematically and homogeneously. *Tapas* or the sustained mortification and control over the body as related with the *Jīva* is elaborated and insisted on in the Jaina canons. Even the harsh and rigorous features of *tapas* are stressed. *Upavasatha* (or fasting) and *sallekhanā* (or the forcible casting off of the body) and *brahmacarya* (or refusal to marry and insisting on strictly remaining single) have been the distinctive features of Jainism. Detailed instructions regarding the several steps to be gone through in these processes are all neatly and thoroughly laid down in the Jaina canons. Even during the times of Alexander, the Macedonian king, we have very many instances of Jaina yatis or tāpasis. Probably the order of yatis or saṁnyāsis is indigenous to Jaina tradition.

Ahiṁsā has been the sheet-anchor of Jainism. Nowhere else in the other traditions has this basic virtue so scientifically, scrupulously and thoroughly integrated with the main doctrine. Jainism is the only tradition which has consistently made this tenet soak into the very vitals of its teachings and practices. The strict vegetarianism that is enforced and the injunction to taking food before dusk in the evening show how elaborately and practically Āhiṁsā has been made to enter into the day-to-day lives of its votaries. The singular uncompromising insistence on Ahiṁsā is the special and exclusive feature of Jainism.

The ethical code of Jainism is a most beautiful blend of *ācāra* and *vicāra* (conduct and reflection). Almost all the members of the usual group of virtues adumbrated regarding conduct or *ācāra* (like *satya, ahiṁsā, brahmacarya, asteya, aparigraha*) owe their immense importance mainly to Jaina tradition. Jainism tackles the inculcation of all these virtues in its votaries through a very wise and practical hierarchical scale of aṇu-vratas, mahā-vratas, etc. On the side of reflection or *vicāra,* it is Jainism which has stressed right from its very beginning *tattva-cintana.* Probably, it was Jainism which originally instituted the order of yati-munis wholly devoted to *tattva-cintana* to the exclusion of all other activities. It is due to this insistence on *vicāra or tattva-cintana* in Jainism that we find that it is Jainas who have been almost the sole originators in literary compositions in most of our languages. Especially is this so in Kannada, the language of Karnatak; invariably the history of Kannada literature starts with a Jaina-yuga or Jaina-period. Moreover, we have a very creditable and pleasing practice amidst the Jainas to encourage production and propagation of literature through liberal grants of land and money: this is solely due to the ever-insistent tone of Jainism on *tattva-cintana.* Very recently, in Kannada, the work, *Jaina-dharma*, a compendium or a fairly detailed manual on Jainism (a pioneer and laudable publication in 1952) by Aṇṇārāya Miraji has seen the light of day owing to śāstra-dāna of very many Jaina men and women. There have been great luminaries amidst Jainism who have contributed ably and subtly to very many chapters in the history of Indian philosophy. Mention may be made here of the distinctive and very able elaboration of the doctrine of Karma in Jaina metaphysics.

Such seem to be the salient features of Jainism as a distinct tradition stretching its roots into the dim past of our country's history. It is true that during its very long existence and development, Jainism has necessarily been influenced by its contact with other traditions and, consequently, it has grafted on to its stem some other branches. All these later additions and modifications we have not touched upon nor stressed as our purpose is mainly to grasp the essentials of Jaina standpoint. We shall now turn to note how Jainism, through its distinctive features, has contributed to the formation of Bhāratīya saṁskṛti through its influence and modification of the other elements equally and simultaneously present therein.

The typical Jaina nivṛtti attitude to life, exemplified in *nigrantha sampradāya,* has been very largely responsible for sobering down and modifying the Vedic-Brahmanic pravṛtti attitude. Saṁsāra or the cycle of births and deaths, construed as essentially detestable and, hence, to be got rid of, owes most probably its roots to Jaina influence. Pravṛtti to be indulged in only with an eye to facilitate nivṛtti was probably the first compromise effected by the impact of Jainism. Later, as the second and last stage, the *Gītā* conception of niṣkāma-karma attitude was evolved out of the original naive, pravṛtti attitude of the Vedic people. In both these stages, Jainism must have played a very significant part.

Attachment of Jainism to its tenet of Ahiṁsā and thorough practice and propagation thereof, must have had a tremendous influence on the Vedic-Brahmanic cult of animal sacrifices and practice of taking non-vegetarian food. By its immense faith, Jainism slowly and steadily corroded into the bloody practices of the Vedic people and changed them over triumphantly into the common prevailing vegetarianism and the almost complete abandonment of the animal sacrifices. This significant change in the Vedic-Brahmanic practices and reform thereby is the most telling testimonial to the role of Jainism in the evolution and development of Bhāratīya saṁskṛti.

Our people during the Vedic-Brahmanic period were mainly engrossed in rituals; they were not much attracted towards speculation about the perennial problems of life and the universe. The recurrent Ātmavidyā of later Upaniṣadic times was yet to be born and evolved, at least in its conspicuous singular aspect. Jainism seems to have turned the tide of the order of rituals into speculative channels of Ātmavidyā; it is undeniable that it must have played a major part in this process of the shift of emphasis on speculation. This surmise is supported by the fact that it is persons like Janaka, etc.—who most probably belonged to or at least were influenced largely by *nirgrantha saṁpradāya*—who were the first initiators of the Vedic karmakāṇḍa people into the secret doctrines of the Ātman. The very striking feature of Jainism in stressing *vicāra* or *tattva-cintana* naturally was the very fitting instrument in forging the speculative slant in the Vedic people. This is the legacy that Jainism has left to all subsequent development of our culture.

The consistently and elaborately systematised code of ethics—comprising the *āntara* (the internal) and the *bāhya* (the outer) aspects—built up by the Jaina tradition could not but percolate into the Vedic-Brahmanic core surely and subtly. Especially the Yoga system seems to have been mightily influenced by Jainism. It is no wonder that these strands have been woven over into the texture of Bhāratīya saṁskṛti that we have inherited. The distinct order of saṁnyāsis or yati-munis, leading a rigorous and pure life based on celibacy and wholly devoting themselves to *tattva-cintana,* and thereby infusing an elevating tone into the body-politic of the society, has been an intermittent feature of Jainism since time immemorial. The Vedic people mostly had ṛṣis who lived their ordinary lives of house-holders devoted to teaching Vedic lore. Necessarily, the Jaina order of saṁnyāsis, with its elaborate and rigorous rules of conduct and organisation, strongly appealed to our people in the Vedic period by its thoroughness and usefulness. Hence, we find that the order of saṁnyāsis, together with definite religious institutions, became incorporated and thus was evolved and developed the definite functioning limb of our tradition. This also is one of the greatest contributions that must have been, to a great extent, made by Jainism to our composite culture.

We have pitched upon the essential features of Bhāratīya saṁskṛti and singling out the distinct elements of Jaina tradition, which admittedly stretches into the dimmest past of our country's history and, moreover, is undoubtedly indigenous, have tried to trace the patterns of influence and contribution to the common stream that has taken rise, being swollen to what it is by very many tributaries flowing their waters into it over all the ages gone by. Naturally and necessarily, ours has been a line of exposition largely summary and suggestive. But, sufficient reflection, it is hoped, is offered to point to the unchallengeable and significant contribution of Jainism, along with other strands, in the evolution and development of our composite culture.

FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF JAINISM

DR. B. C. LAW, M.A., LL.B., PH.D., D. LITT., F.R.A.S.B., F.R.A.S. (HONY.)

Jainism has many distinctive characteristics of its own and historically it occupies a place mid-way between Brahmanism on the one hand and Buddhism on the other. The Jaina motto of life is ascetic or stoic. The path to happiness and prosperity lies through self-denial, self-abnegation and self-mortification. The fundamental principle of Jainism is *ahiṁsā* or non-harming, which is the first principle of higher life, which Mahāvīra inculcated to his disciples and followers. Pārśva laid stress on the doctrine of *ahiṁsā*. Its visible effect was sought to be shown how the brute creation happily responded to the non-harming and compassionate attitude of men. The attainment of *nirvāṇa* is the highest goal. The practice of *tapas* or austerities marks and characterises all the prescriptions, practices, and disciplines in Jainism. By purity of heart one reaches *nirvāṇa,* which consists in peace.[1] *Nirvāṇa* is freedom from pain and is difficult of approach.[2] It is the safe, happy, and quiet place which the sages reach. An ascetic will by means of his simplicity enter the path of *nirvāṇa.* He who possesses virtuous conduct and life, who has practised the best self-control, who keeps himself aloof from sinful influences, and who has destroyed '*karma*' will surely obtain *mukti* or salvation or deliverance. In Buddhism *nirvāṇa* is declared by the Buddhas as the highest condition (*paramaṁ*). It is the greatest happiness (*paramaṁ sukhaṁ*). With the vision of nirvāṇa, the sinful nature vanishes for ever (*atthaṁ gacchanti āsavā*). With the Jainas *parinirvāṇa* is the last fruit or final consummation of the highest perfection attained by man or attainable in human life.[3] But with them *parinirvāṇa* is the same term as *nirvāṇa,*[4] or *mokṣa* meaning final liberation that comes to pass on the complete waning out or exhaustion, of the accumulated strength or force of *karma.* The liberation is not anything unreal but the best thing. It can be realised by a man in the highest condition of aloofness and transcen-

---

1. *Sūtrakṛtāṅga,* I, 8.18.
2. Cf. *Visuddhimagga,* p. 612; *Vinaya,* I, 8; *Ibid.,* II, 156; *Dhammapada,* V. 204.
3. *Kalpasūtra,* Jacobi's Ed., 120—*Tassaṇaṁ .. anuttareṇaṁ nāṇeṇaṁ .. daṁsaneṇaṁ .. caritteṇaṁ .. āloeṇaṁ .. vihāreṇaṁ .. virieṇaṁ .. ajjoveṇaṁ .. maddaveṇaṁ .. lāghaveṇam .. khaṁtie .. muttīe .. guttīe .. tuṭṭhīe .. buddhīe .. sacca— saṁyama — tavasucariya — sovacīya — phala — parinivvāṇa ..*
4. *Ibid.,* p. 187—*tammi samae Mahāvīro nivvuo.*

dentality of himself.[1] *Mokṣa* is the essential point in the teachings of Mahāvīra which is generally understood as emancipation. It really means the attainment of the highest state of sanctification by the avoidance of pains and miseries of worldly life. Even at this stage the soul appears to be the same without the least change in its condition. It is the state of perfect beatitude as attained. It may also mean final deliverance or liberation from the fetters of worldly life and total annihilation or extinction of human passion.[2]

In Jainism, however, *nirvāṇa* or *mokṣa* is not a dreadful or terrible term like the Buddhist *parinirvāṇa* which suggests at once an idea of the complete annihilation of the individuality of a saint after death by the simile of the total extinction of a burning lamp on the exhaustion of the oil and the wick.[3] So the point is discussed in the Jaina *Mokṣasiddhi*. "Would you really think (with the Buddhist) that *nirvāṇa* is a process of extinction of human soul which is comparable to the process of extinction of a burning lamp (on the exhaustion of the oil and the wick)?"[4] The hearer is advised not to think like that. For with the Jainas *nirvāṇa* is nothing but a highly special or transcendental condition of human soul in which it remains eternally and absolutely free from passion, hatred, birth, decay, disease and the like because of the complete waning out of all causes of *dukkha* or suffering (*śato vidyamānasya jīvasya viśiṣṭā kācid avasthā. Kathaṁbhūtā? Rāga-dveṣa-janmajarārogādiduḥkhakṣayarūpā*.

Jainism cherishes a theory of soul as an active principle in contradistinction to the Vedānta or Sāṁkhya doctrine of soul as a passive principle. Buddhism repudiates it. The plurality of souls is a point in Jaina philosophy, which is the same as in the Sāṁkhya system. The main point of difference between the two is that in Jainism the souls with consciousness as their fundamental attribute are vitally concerned with our actions, moral and immoral, virtuous and wicked, in which sense they are active principles; while in the Sāṁkhya system the *puraṣas* with consciousness as their fundamental attribute are passive principles in as much as their nature is not affected by any and all of the activities relegated to *Prakṛti* or evolvent. In Jainism the souls or substances do not undergo any change. They are liable to changes due to changes in circumstances. Both the systems necessitate a careful consideration of the cosmical, biological, embryological, physical, mental and moral positions of the living individuals (*jīvas*) of the world as a whole. These constitute the scientific background of the two systems of thought. These constitute also the scientific background of Vedānta and Buddhism. The Jainas developed a cosmographical gradation of beings, more or less in agreement with those adopted in other systems. But the Jainas followed a tradition of Indian thought which took a hylozoistic view of nature that there is nothing formed even in the world of matter, nothing which exists in space and time, which does not represent some kind or form or type of *jīva*. It is assumed that all of them are in the process of development or evolution in the physical structures, modes of generation, foods, and drinks, deportments, behaviours, actions, thoughts, ideas, knowledge, intelligence and the like. So we need not be astonished when Jainism speaks of earth-lives, water-lives, fire-lives and wind-lives, each with its numerous subdivisions. The *Bhagavatī Sūtra* points out that soul in Jainism as in most of the Indian systems is the factor which polarizes the field of matter and brings about the organic combination of the elements of existence. If the position be that death means an event which takes place when the soul leaves the body, the question arises whether it passes off in some form of corporeality (*sasarīrī*) or without any such corporeality (*asarīrī*). Here too the traditional Jaina position is, it may be that it goes out in some form of corporeality and it may equally be that it does so without any form of corporeality (*Siya sarīrī vakkamai, siya asarīrī vakkamai*). With reference to the gross body characterised as *audārika, vaikriya* and *āhāraka,* the soul goes out without any corporeality, while with reference to the subtle body characterised as *taijasa* and *kārmaṇa* (*karmic*), it departs in its subtle body. The Jainas deny not the existence of soul but the unalterable character of soul.[1] The Jaina belief is a belief in the transmigration of souls, a point in which it differs from the Buddhist conception of rebirth without any transmigration of soul from embodiment to embodiment.

---

[1] *Sūtrakṛtāṅga*, I, 10.12.

[2] *Uttarādhyayana Sūtra*, XXVIII, 30

[3] Cf. Aśvaghoṣa's *Saundarananda Kāvya*, 16. vv. 28-29.

[4] Mannasi kiṁ dīvassa ca nāso nivvanaṁ assa jivassa? quoted in the *Abhidhāna-Rajendra, sub voce Nibbāna.*

Puggala, attā, satta and *jīva* are the four terms which occur in Buddhism in connection with all discussions relating to individual, individuality, personality, self and soul.[1] As a biological term *puggala* is nowhere used to deny the existence of an individual being or a living person. The particular individual or individuals are beings that exist in fact, grow in time and ultimately die. The individuals are signified by some names arbitrarily fixed. The personal name is only a conventional device to denote an individual and to distinguish him from other individuals. It has no connotation beyond this symbolism. In the Abhidhamma literature of the Buddhists *puggala* is equal to character or soul. According to the Buddhists an individual has no real existence. The term *puggala* does not mean anything real. It is only apparent truth (*sammutisacca*) as opposed to real truth (*paramattha sacca*). A *puggalavādin's* view is that the person is known in the sense of real and ultimate fact. But he is not known in the same way as other real and ultimate facts are known. He or she is known in the sense of a real or ultimate fact and his or her material quality is also known in the sense of a real or ultimate fact. But it cannot truly be said that the material quality is one thing and that the person another, nor can it be truly predicted that the person is related or absolute, conditioned or unconditioned, eternal or temporal, or whether the person has external features or whether he is without any. One who has material quality in the sphere of matter is a person, but it cannot be said that one who experiences desires of sense in the sphere of sense-desire, is a person. The genesis of the person is apparent, his passing away and duration are also distinctively apparent. But it cannot be said that the person is conditioned.[2] According to the *Tattvārthādhigama sūtra, puggala* is one of the non-soul extensive substances. The other non-soul extensive substances are *dharma, adharma, ākāśa* and *kāya*. Kāya is taken here in the sense of 'extensive', having extent like the body.

---

[1] Cf. *Sūtrakṛtāṅga*, I, 12.21; *Majjhima*, I, *Sutta* No. XIV; cf. *Sutta* No. LXXVI; *Sūtrakṛtāṅga*, I, 6.27; I, 10.17.

According to the *Bhagavatī Sūtra* (XV. 1), the organic world is characterised by six constant and opposed phenomena, viz., gain and loss, pleasure and pain, life and death. It clearly presupposes the development of atomic theory (*paramāṇuvāda*) in Indian philosophy. Each atom is the smallest unitary whole of matter (*pudgala*). Each of them is characterised by its internal cohesion (*siṇeha*). We cannot speak of half

---

1. *Kathāvatthu,* I, p. 26.
2. Cf. *Kathāvatthu* on *Puggala*; Law, *Designation of Human Types,* Introduction, P.T.S. publication; Law, *Concepts of Buddhism* Chap. VII.

an atom (*arddha*) since an atom is an indivisible unit of matter. With division it ceases to be an atom (*paramāṇoḥ ardhīkaraṇe paramāṇutvābhāvaprasaṅgāt*).

A molecule (*aṇu*) is a combination of more atoms than one. An aggregate of matter (*skandha*) results from an organic combination of five molecules. Disintegration of a corporeal aggregate results from the separation of the molecules and atoms. Here one may realise the force of the Jaina argument for regarding even material beings, the earth-lives, water-lives etc. as distinct forms of life, each appearing as an individual with its internal cohesion so long as it exists as such. So through the process of organic development or evolution, we pass through the different degrees and forms of internal cohesion.

Karma plays an important part in the Jaina metaphysics. In Jainism *karma* may be worked off by austerity, service rendered to the ascetics or to the poor, the helpless and the suffering by giving them food, water, shelter or clothing. It does not mean a deed or some invisible mystical force. It is the deed of the soul. It is a material forming a subtle bond of extremely refined matter which keeps the soul confined to its place of origin or the natural abode of full knowledge and everlasting peace. The Jainas believe *karma* to be the result of actions, arising out of four sources :

(1) The first source of *Karma* is attachment to worldly things.

(2) *Karma* is produced by uniting one's body, mind and speech with worldly things; *karma* is endangered by giving the rein to anger, pride, deceit or greed; and lastly false belief is a fruitful source of *karma*. In Hinduism we find that God inflicts punishment for evil *karma*, whereas in Jainism, *karma* accumulates energy and automatically works it off without any outside intervention. The Hindus think of *karma* as formless while the Jainas think of it as having form. *Karma* is divided in Jainism according to its nature, duration, essence, and content. According to the Jainas there are eight kinds of *karma* : The first kind hides knowledge from us (*Jñānāvaraṇīya karma*); the second kind prevents us from holding the true faith (*darśanāvaraṇīya*); the third kind causes us to experience either the sweetness of happiness or the bitterness of misery (*vedanīya karma*); the fourth kind known as *mohanīya karma* bemuses all the human faculties; it results from worldly attachments and indulgence of the passions; the fifth kind determines the length of time

which a *jīva* must spend in the form with which his *Karma* has endowed him (*āyu karma*). The sixth karma known as the *nāma-karma* decides which of the four states or conditions shall be our particular *gati*. *Nāma karma* has many divisions. The seventh kind is *gotra-karma*. It is the *gotra* or the caste which determines a man's life, his occupation, the locality in which he may live, his marriage, his religious observances and even his food. There are two chief divisions of this *Karma*. It decides whether a living being shall be born in a high or in a low caste family. The *Antarāya* karma is the last and the eighth kind.[1] Here *karma* always stands as an obstacle, e.g., *lābhāntarāya, bhogāntarāya, upabhogāntarāya* and *vīryāntarāya*.[2] There are four kinds of *ghātiyakarma* (destructive *karma*) which retain the soul in mundane existence.

The Jainas hold that the soul while on the first step (*mithyātvaguṇasthānaka*) is completely under the influence of *karma* and knows nothing of the truth. The soul whirling round and round in the cycle of rebirth, loses some of its crudeness and attains to the state which enables it to distinguish between what is false and what is true. A soul remains in an uncertain condition, one moment knowing the truth and the next doubting it. A man has either through the influence of his past good deeds or by the teachings of his preceptor obtained true faith. He then realises the great importance of conduct and can take the twelve vows. The Jainas believe that, as soon as the man reaches the state of an *ayogīkevalīguṇasthānaka*, all his *karma* is purged away and he proceeds at once to *mokṣa* (salvation) as a *siddha* or the perfected one.

The Jaina *Sūtrakṛtāṅga* (1.6.27; 1.10.17) speaks of various types of *kriyāvāda* then current in India. Buddhism was promulgated as a form of *kriyāvāda* or *karmavāda*. According to Mahāvīra, *kriyāvāda* of Jainism is sharply distinguished from *akriyāvāda* (doctrine of non-action), *ajñānavāda* (scepticism) and *vinayavāda* (formalism) precisely as in the words of the Buddha. The *kriyāvāda* of Buddhism is distinguished from *Sathāyadṛṣti* involving various types of *akriyā, vicikitsā* (scepticism) and *śīlavrataparāmarśa* (Pali *Sīlabbataparāmāsa,* formalism).[1] To arrive at a correct understanding of the doctrinal significance of *kriyāvāda* of Jainism, it is necessary not only to know how it has been distinguished from *akriyāvāda, ajñānavāda* and *vinayavāda* but also from other types of *kriyāvāda.* The *Sūtrakṛtāṅga* mentions some types of *akriyāvāda*:

---

[1] *Aṭṭha kammāiṁ vocchāmi āṇupubbiṁ jahakamaṁ*
jehiṁ baddho ayaṁ jīvo saṁsāre parivaṭṭai
nāṇassāvaraṇijjaṁ daṁsanāvaraṇaṁ tahā
veyaṇijjaṁ tahā moham āukammaṁ taheva ya
nāmakammaṁ ca goyaṁ ca antarāyaṁ taheva ya
evaṁeyāi kammāiṁ aṭṭheva u samāsao
(*Uttarādhyayanasūtra*, xxxiii, 1-3).

Antarāya is fivefold as preventing gifts, profits, momentary enjoyment, continuous enjoyment and power.
S. Stevenson, *The Heart of Jainism*, p. 183.

(1) On the dissolution of the five elements (earth, water, fire, wind and air), living beings cease to exist. On the dissolution of the body the individual ceases to be. Everybody has an individual soul. The soul exists as long as the body exists.

(2) When a man acts or causes another to act, it is not his soul which acts or causes to act.[2]

(3) The five elements and the soul which is a sixth substance are imperishable.

(4) Pleasure, pain, and final beatitude are not caused by the souls themselves but individual souls experience them.

(5) The world has been created or is governed by gods. It is produced from chaos.[3]

(6) The world is boundless and eternal. It may be noted here that all these views which are reduced to four main types correspond to those associated in the Buddhist *Nikāyas* with four leading thinkers of the time, e.g., atheism like that of Ajita, eternalism like that of Kātyāyana, absolutism like that of Kāśyapa and fatalism like that of Gośāla. Makkhali Gosāla was the propounder of the theory of evolution of individual things by natural transformation. Ajita was to point out that the particular object of experience must be somehow viewed as an indivisible whole.[4] The *Sūtrakṛtāṅga* (1.1.13) states that his was really a theory of the passivity of soul. The logical postulate of Kavandin Kātyāyana's philosophy was no other than the Permenedian doctrine of being. Nothing comes out of nothing.[5] From nothing comes nothing, what is does not perish.[6]

Ātman is a living individual, a biological entity. The whole self does

---

1. *Suttanipāta,* V. 231 (*Sīlabbataṁ vā pi yad atthi kiñci*); *Khuddakapāṭha,* p. 5.
2. *Sūtrakṛtāṅga,* 1.1.3.5-8.
3. *Sūtrakṛtāṅga,* 1.1.1.13.
4. *Sūtrakṛtāṅga* II, 1.15-17.
5. *Noya uppajjae asaṁ.*
6. *asato nacci saṁbhavo, sato nacci vināso.*

not outlast the destruction of the body. With the body ends life. No soul exists apart from the body. The five substances with the soul as the sixth are not directly or indirectly created. They are eternal. From nothing comes nothing. All things have the *ātman,* self or ego for their cause and object; they are produced by the self; they are manifested by the self; they are infinitely connected with the self, and they are bound up in the self. One man admits action and another does not admit it. Both men are alike. Their case is the same because they are actuated by the same force, i.e., by fate. It is their destiny that all beings come to have a body to undergo the vicissitudes of life and to experience pleasure and pain. Each of these types stands as an example of *akriyāvāda* in as much as it fails to inspire moral and pious action or to make an individual responsible for an action and its consequences.[1] According to the *Uttarādhyayana-sūtra, ajñānavāda* is nothing but the inefficiency of knowledge. Some think that the upholders of *ajñānavāda* pretend to reason incoherently and they do not get beyond the confusion of their ideas.[2] The *Vinayavāda* may be taken to have been the same doctrine as the *sīlabbataparāmāsa* in Buddhism. The *sīlabbataparāmāsa* is a view of those who hold that the purity of oneself may be reached through the observance of some moral precepts or by means of keeping some prescribed vows. According to the *Sūtrakṛtāṅga* (1.12.4) the upholders of *Vinayavāda* assert that the goal of religious life is realised by conformation to the rules of discipline.

It is interesting to know the types of *Kriyāvāda* that do not come up to the standard of Jainism. The soul of a man who is pure, will become free from bad *karma* on reaching beatitude but in that state it will again become defiled through pleasant excitement or hatred.

If a man with the intention of killing a body hurts a gourd mistaking it for a baby, he will be guilty of murder. If a man with the intention of roasting a gourd roasts a baby, mistaking him for a gourd, he will not be guilty of murder. Mahāvīra holds that the painful condition of the self is brought about by one's own action and not by any other cause. Pleasure and pain are brought about by one's own action. Individually a man is born, individually he dies, individually he falls and individually he rises. His passions, consciousness, intellect, perceptions and impressions belong to the individual exclusively. All living beings owe their present form of

---

1. *Sūtrakṛtāṅga* II. 1.5-34.
2. *Sūtrakṛtāṅga* 1.12.2.

existence to their own *karma*. According to the *Sūtrakṛtāṅga* (1.12.15), the sinners cannot annihilate their work by new work; the pious annihilate their work by abstention from work. *Karma* consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on the nature of soul. The soul is susceptible to the influences of *karma*. The Jaina doctrine of nine terms (*navatattva*) developed from the necessity for a systematic exposition of *kriyāvāda,* which is in its essential feature only a theory of soul and *karma*. The categories of merit and demerit comprehend all acts, pious and painful, which keep the soul confined to the circle of births and deaths. The *Uttarādhyayanasūtra* (XXVIII, 11) points out that the wearing out of the accumulated effects of *karma* on the soul by the practice of austerities lies in *nirjarā* (*tapasā nirjarā ca*).

All the Indian systems believe that whatever action is done by an individual, leaves behind it some sort of potency, which has the power to ordain for him joy or sorrow in the future, according as it is good or bad. According to the *Saṁhitās* he who commits wicked deeds suffers in another world, whereas he who performs good deeds, enjoys the highest material pleasures.[1] According to the popular Hindu belief *karma* is a sum-total of man's action in a previous birth, determining his future destiny which is unalterable. Its effect remains until it is exhausted through suffering or enjoyment. The doctrine of *karma* is accepted in all the main systems of Indian philosophy and religion as an article of faith. The Buddha is generally credited with the propounding of the doctrine, but there is a clear statement in the *Majjhima Nikāya* (Vol. I, p. 483) to show that the doctrine had not originated with the Buddha. It was propounded before his advent by an Indian teacher who was a householder. In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* and in the teachings of *Yājñavalkya*, we meet with a clear formulation of the doctrine of *karma*. The Buddhist doctrine of *karma* is nothing but a further elucidation of that in the *Upaniṣad*. According to the *Majjhima Nikāya* (III, p. 203), the doctrine is emphatically formulated thus : '*Karma* is one's own, a man is an inheritor of his *karma*, one finds one's birth according to his or her *karma, karma* is one's own kith and *karma* is one's own refuge, *karma* divides beings into higher or lower.' The Buddhists approached the problem from a purely mental point of view. The *Mahāniddesa* (I, pp. 117-118) points out that a man need not be afraid of the vast accumulation of *karma* through a long

---

1. Das Gupta, *History of Indian Philosophy,* pp. 71-72.

cycle of births and deaths. For consideration from the point of view of mind, the whole of such accumulation may be completely undone by a momentary action of mind. Mind is in its own place and as such can make and unmake all such accumulations of *karma*. On the whole Buddhism shifted the emphasis to the action and the state of the mind. Accordingly *karma* came to be defined as *cetanā* or volition. A person cannot be held morally or legally responsible for his own action, if it is not intentional. Thus the Buddhist teachers tried to define *karma* on a rational and practical basis. This viewpoint has been criticised in the Jaina *Sūtrakṛtāṅga*.[1] It is quite clear that in Buddhism the world exists through *karma* and people live through *karma* (*karmaṇā vattati loko, kammaṇā vattati pajā*).

In the *Sūtrakṛtāṅga* (1.12.11) we find that the painful condition of the self is brought about by one's own action; it is not brought about by any other cause, such as, fate, creator, chance or the like (*Sayaṁkaḍañca dukkham, nāṇṇakaḍaṁ*). According to Śīlāṅka the kriyāvādins contend that works alone by themselves without knowledge lead to *mokṣa*.[2] The same idea is found in the Buddhist *Nikāyas—Sukhadukhaṁ sayaṁkataṁ* in contradistinction to *sukhadukkhaṁ paraṁkataṁ*. In Buddhism pleasure and pain are brought about by one's own action.[3] *Sukha* and *dukkha* (pleasure and pain) are conceived as two distinct principles, one of attraction, integration and concord and the other of repulsion, disintegration or discord. *Sukha* is taken to be the principle of harmony and *dukkha* that of discord. In Buddhism *dukkha* is taken in a most comprehensive sense so as to include in it danger, disease, waste, and all that constitutes the basis or the cause of suffering. *Roga* (disease) which is an instance of *dukkha* is defined as that condition of the self, physical self, when the different organs do not function together in harmony and which are attended with a sense of uneasiness. *Ārogya* or health, the opposite of disease, is defined as that condition of self when all the organs function together in harmony and are attended with a sense of ease. Thus we see that the problem of suffering is essentially rooted in the feeling of discord or disparity. Birth, decay or death is not in itself *dukkha* or suffering. These are only a few contingencies of human experience which upset the expectations of men. From the psychological point of view *dukkha* is a feeling or *vedanā* which is felt by the mind either in respect of the body or in respect of itself and as a feeling it is conditioned by certain circumstances. Whether a person is affected by suffering or not depends on the view he takes of things. If the course of common reality is this that, being once in life, one cannot escape either decay or death and if the process of decay sets in or death actually takes place, there is no reason why that person should be subject to *dukkha* by trying to undo what cannot be undone. Thus we see that *dukkha* is based on the misconstruction of the law of things (*dhammatā*) or the way of happening in life. If the order of things cannot be changed, two courses are open to individuals to escape from suffering: (1) to view and accept the order as it is, and (2) to enquire if there is any state of consciousness, on the attainment of which, an individual is no longer affected by the vicissitudes of life. *Dukkha* is nowhere postulated as a permanent feature of reality. It is entertained only as a possible contingency in life as it is generally lived. Happiness lies in the association with the Elect and in the sight of them. The association with the wise brings happiness. It is always desirable to follow the wise, intelligent, learned, dutiful, the enduring and the Elect (*Dhammapada,* Sukhavagga). There is no happiness higher than tranquillity. Health is the greatest gain, contentment is the best wealth, trust is the best of relationships but *nirvāṇa* is the highest happiness.[1] He is happy who has tasted the sweetness of solitude and tranquillity and who is free from fear and sin.

---

[1] *Jaina Sūtras* Part II, S.B.E.

[2] *Ibid.*, II, S.B.E., p. 317 n.

[3] *Aṅguttara Nikāya*, III, 440 (*Sayaṁkatañca paraṁ katañca sukhadukkhaṁ*); *Saṁyutta Nikāya*, II, p. 22.

The Jainas like the Buddhists believe that hiṁsā or life-slaughter is the greatest sin. As a man kills a *jīva,* so will he be killed in hell. Dishonesty, covetousness, conceit, avarice, attachment, hatred, quarrelsomeness, slander, fault-finding and lack of self-control are considered as sins in Jainism, which lead people to suffer. *Mokkha* according to the Jainas is the highest happiness. One who has attained it, is called a *siddha* or a perfected one. A *siddha* is a being self-controlled, without caste, unaffected by smell, without the sense of taste, without feeling, without form, without hunger, without pain, without sorrow, without joy, without birth, without old age, without death, without body, without *karma,* enjoying an endless and unbroken tranquillity because of the complete waning out of all causes of suffering or *dukkha.*

---

1. *"Ārogyā paramā lābhā, santuṭṭhi paramaṁ dhanaṁ*
   vissāsa paramā ñāti nibbānaṁ paramaṁ sukhaṁ." (*Dhammapada,* V. 204).

By performing meritorious deeds (*puṇṇa*) on earth people obtain pleasures and comforts. By giving a seat and a bed (*śayanapuṇya*) one gets a very high position; by bestowing food (*annapuṇya*) one secures health and wealth; by the gift of clothes (*vastrapuṇya*) one acquires good complexion and property; the gift of conveyance procures for the giver special happiness and that of light begets power of vision. Besides there are other kinds of *puṇya*: *pānapuṇya* (merit acquired by giving water to the thirsty), *layanapuṇya* (merit acquired by building or lending a house to a monk), *manaḥpuṇya* (merit acquired by thinking good of everybody), *kāyapuṇya* (merit acquired by saving a life or rendering service), *vacanapuṇya* (merit acquired by speech) and *namaskārapuṇya* (merit acquired by reverent salutation).

Pāpa (demerit) and *puṇṇa* (merit) are equally reprehensible for the aspirant after the highest stage of saintship and *nirvāṇa*. When the fruits of a good deed are consumed, the man has again to come down to this earth to be buffetted by the waves of *pāpa* and *puṇṇa*.

We may note here that in Buddhism or in Jainism or Brahmanical system and in fact in every Indian religious system, there is no conception of eternal never-ending suffering in hell like the Christian or rather the Hebrew eschatological conception of *Gehenna*, the abode of the wicked, where they suffer endless torments by fire. Some of the Christian fathers hold that ultimately there would be an end to the punishment of the most wicked ; but this is not the idea of either the early or mediaeval church, and even Protestant divines stick to the idea of the never-ending punishment of the damned. This is quite foreign to the Indian conception, according to which, every act either good or bad, produces happiness or suffering for a limited period, though the period may be considerably long according to the nature of the deed.

In Jainism *dharma, adharma,* space, time, matter, and soul are the six substances. They are imperishable and eternal by their very nature.[1] Each of them is a substance but time, matter, and soul form an infinite number of substances. The characteristic of *dharma* is motion. That of *adharma* is immobility,[2] and that of *ākāśa* (space) is to make room. The characteristic of time is duration, that of soul is a realisation of knowledge, faith, conduct, austerities, energy and realisation of its development.

---

[1] *Sūtrakṛtāṅga*, I, 1; 1.15-16,

[2] *Ibid.*, I, 1.2,3; I, 1.4.2,

These six substances are known as the six *astikāyas* or terms comprehending and characterising the world of existence. The three terms, *dravya, guṇa* and *paryāya* characterise the six *astikāyas*.

Under *navatattva* or the doctrine of nine terms come *jīva* and *ajīva*.[1] The *Jīvājīvābhigama*, which is the third Jaina *Upāṅga*, really contains the doctrine of living and non-living things. It mainly points out the various classifications of *jīva* and *ajīva*. The former comprises all entities endowed with life, while the latter includes those which are devoid of life. These two terms comprehend the world of existence as known and experienced. The world of life is represented by the six classes of living things and beings. The earth-lives, water-lives and plants are immovable beings while the movable beings are the fire-lives, wind-lives and those with an organic body. Through the gradation of living beings and things one can trace the evolution of senses, the lowest form of beings being provided with only one sense, namely the sense of touch.[2]

In Buddhism *jīva* and *ajīva* convey the same meaning as in Jainism. In the *Mahālisutta* of the *Dīghanikāya* (I. p. 159—*taṁ jīvaṁ taṁ sarīraṁ udāhu aññaṁ jīvaṁ aññaṁ sarīraṁ*), Buddha raises the question whether *jīva* and *sarīra* are the same, but he does not answer the question. He simply leads the discourse upto saintship along with the series of mental states set out in the *Sāmaññaphalasutta* of the *Dīgha*, I. *Jivītindriya* mentioned in the *Pali Vinaga*, III, 73; *Saṁyutta*, V. 204; *Milinda*, 56, is the faculty of life. *Jīva* in the sense of living being or soul occurs in the *Milindapañha*.[3]

Jīva (soul), *ajīva* (the inanimate things), the binding of the soul by *karma, merit* (puṇya), demerit (*pāpa*), that which causes the soul to be affected by sins (*āśrava*), the prevention of sins by watchfulness (*saṁvara*), annihilation of *karma* (*karmakṣaya*) and final deliverance (*mokṣa*) are the nine truths. The nine main terms of Jainism which became widely known as early as the time of the Buddha include *nirjarā* and *mokkha*.

Purāṇānaṁ kammānaṁ tapasā vyantibhāvā, navānaṁ kammānaṁ akaraṇā āyatiṁ anavassavo, āyatin anavassavā kammakkhayo kammakkhayā dukkhakkhayo dukkhakkhayā vedanākkhayo vedanākkhayā sabbaṁ dukkhaṁ nijjiṇṇaṁ bhavissatīti.[4]

---

1. *Uttarādhyayana*, XXVIII, 14.
2. Cf. *Majjhima* I, 157; *Aṅguttara* II, 41.
3. Trenckner Ed. p. 31.
4. *Majjhima*, II, p. 214.

Here *nijjiṇṇaṁ* implies the idea of *nijjarā* (*nirjarā*).

Nirjarā lies in the wearing out of the accumulated effects of *karma* on the soul by the practice of austerities. Austerities are internal and external. Internal austerities are the following:

Expiation, veneration, service to saints, concentration, abandonment of bodily attachment and study.[1] According to the *Tattvārthādhigama sūtra* the external austerities are the following:

Fasting, eating less, sitting and sleeping in a lonely place, mortification of the body, daily renunciation of one or more of the six kinds of delicacies, taking a mental vow to accept food from a householder, if a certain condition is fulfilled.

The ten virtues are the following:

Forgiveness (*uttama-kṣamā*), humility (*uttama-mārdava*), honesty (*uttama-ārjava*), purity (*uttama-śauca*), truthfulness (*uttama-satya*), restraint (*uttama-saṁyama*), austerities (*uttama tapas*), renunciation (*uttama-tyāga*), selflessness (*uttama-ākiñcanya*) and chaste life (*uttama-brahmacarya*).

The causes of bondage (*bandha*) are the following: (1) wrong belief, (2) perverse belief, (3) doubt, scepticism, (4) veneration, (5) wrong belief caused by ignorance and (6) inborn error.

Saṁvara is the principle of self-control by which the influx of sins is checked. The category of *saṁvara* comprehends the whole sphere of right conduct. It is an aspect of *tapas*. Some hold that it is the gradual cessation of the influx into the soul along with the development of knowledge.

Faith is produced by nature (*nisarga*), instruction (*upadeśa*), command (*ājñā*), study of the sūtras, suggestion (*bīja*), comprehension of the meaning of sacred love (*abhigama*), complete course of study (*vistāra*), religious exercise (*kriyā*), brief exposition (*saṁkṣepa*) and reality (*dharma*).[2] According to the Buddhists, faith is the basic principle of all good deeds. It is the germinating principle of human culture. It is characterised by two marks: (1) tranquilising in the sense of making all obstacles disappear and rendering consciousness clear; and (2) leaping high to achieve what has not been achieved, to master what has not been mastered, and to realise what has not been realised. Faith is nothing but trust in the *Buddha, Dharma,* (Doctrine) and *Saṅgha* (Order). The celebrated Pali Scholiast Buddhaghoṣa points out that faith is transforming itself into *bhakti* or devotion. It is associated with *prema* or love. The noble eightfold path (*ariya aṭṭhaṅgiko maggo*) is the development of the five controlling faculties and powers, one of which is faith or *śraddhā.*

---

[1] *Uttarādhyayana*, XXVIII, 34.

[2] *Uttarādhyayana sūtra*, XXVIII, 16: *Nisagguvaesaruī āṇaruī suttaviyaruimeva Abhigama—Vitthāraruī kiriyā—saṁkhevadhammaruī.*

Dharma has been translated by Jacobi as 'Law' (*Jaina sūtras*, II, SBE., p. 154).

In Jainism we find that being possessed of the right view (*Samyak-darśana*), one should bear all disagreeable feeling, giving up everything worldly. *Samyak-darśana* may be understood as right faith which consists in an insight into the meaning of truths as proclaimed and taught, a mental perception of the excellence of the system as propounded, a personal conviction as to the greatness and goodness of the teacher and a ready acceptance of some articles of faith for one's own guidance. It is intended to remove all doubt and scepticism from one's mind and to establish or re-establish faith. It is no doubt a form of faith which inspires action by opening a new vista of life and its perfection. Right faith on the one hand and inaction, vacillation, on the other, are incompatible. Take the Buddhist word *sammādiṭṭhi* which conveys the sense of faith or belief. It is precisely in some such sense that the Jainas use the term *sammādaṁsana.*[1] There cannot be right faith unless there is a clear pre-perception of the moral, intellectual or spiritual situation which is going to arise. Right faith is that form of faith which is only a stepping stone to knowledge (*paññā*).

Right belief, right knowledge, right conduct, and right austerities are called the *ārādhanās* in Jainism. Some think that right knowledge (*samyak jñana*), right faith (*samyak darśana*) and right conduct (*samyak cāritra*) are the three jewels in Jainism.[2] The *Uttarādhyayana Sūtra* (XXVIII. 2) points out that *jñāna, darśana, cāritra* and *tapas* together constitute the road to final deliverance (*mokṣamārga*). Tapas must be included as a part of *cāritra* or conduct (vide in this connection *Umāsvāti's Tattvārthādhigamasūtra,* I.1). Right belief is the belief or conviction in things ascertained as they are. Right belief depends on the acquaintance with truth, on the devotion of those who know the truth and on the avoidance of heretical tenets. There is no right conduct without right belief. It must be cultivated for obtaining right faith; righteousness and conduct originate together.[3] The right belief is attained by intuition and acquisition of knowledge from external sources. It is the result of subsidence (*upaśama*), destruction-subsidence (*kṣayopaśama*) and destruction of right belief deluding karmas (*darśana-mohanīya-karmopaśama*). The right belief is not identical with faith. It is reasoned knowledge. *Adhigama* is knowledge which is derived from intuition, external sources, e.g., precepts and scriptures. It is attained by means of *pramāṇa* and *naya*. *Pramāṇa* is nothing but direct or indirect evidence for testing the knowledge of self and non-self. *Naya* is nothing but a standpoint which gives partial knowledge of a thing in some of its aspects.

---

[1] Cf. *Majjhima,* I. pp. 285 ff.

[2] S. Stevenson, *Heart of Jainism,* p. 245.

[3] *Uttarādhyayana,* XXVIII, 28.29.

Samyak-darśana is of two kinds: (1) belief with attachment, the signs of which are the following: calmness (*praśama*), fear of mundane existence in five cycles of wanderings (*saṁvega*), substance (*dravya*), place (*kṣetra*), time (*kāla*), thought-activity (*bhāva*), compassion towards all living beings (*anukampā*) and (2) belief without attachment (the purity of the soul itself).

Right knowledge is of five kinds: (1) knowledge through senses, i.e., knowledge of the self and non-self through the agency of the senses of mind; (2) knowledge derived from the study of the scriptures; (3) direct knowledge of matter in various degrees with reference to subject-matter, time, space, and quality of the object known; (4) direct knowledge of the thoughts of others, simple or complex and (5) perfect knowledge. It should be noted here that the Buddhists recognise right knowledge (*sammāñāṇa*) as one of the additional factors in the noble eightfold path. Obstruction to knowledge is five-fold: (a) obstruction to knowledge derived from sacred books (*sūtra*); (*b*) obstruction to perception (*ābhinibodhika*); obstruction to supernatural knowledge (*avadhijñāṇa*),[1] knowledge of the thoughts of others (*manaḥparyāya*) and the highest and unlimited knowledge (*kevala*).[2]

The first kind of knowledge corresponds to the Buddhist *sutamayāpaññā*; the second kind to *cintāmayāpaññā*, the third kind to *vilokana*; the fourth kind to *cetopariyāyañāna* and the fifth kind to

---

[1] Knowledge of the distant non-sensible in time or space possessed by divine and internal souls. *Antavantajñāna* in Buddhism (*Aṅguttara*, IV, p. 428) is evidently the same term as Jaina *Avadhijñāna* which is knowledge co-extensive with the object rather than supernatural knowledge (*antavantena ñānena antavantaṁ lokaṁ jānaṁ passaṁ*).

[2] Vide *Kalpasūtra*, 156-59 .... *anaṇte aṇuttare nivvāghāe nirāvaraṇe jāva kevala-vara-nāṇadaṁsaṇe samupanne* .... It is just the synonym of Buddhist *aparisesa.*

sabbaññutā or omniscience consisting in three faculties : of reviewing and recalling to mind all past existences with details, of seeing the destiny of other beings according to their deeds and of being conscious of the final destruction of sins.[1]

Kevala means that which is limited by the object, that which is sufficient to survey the field of observation.[2] *Manaḥparyāyajñāna* is defined in the *Ācārāṅga Sūtra* (II, 15.23) as a knowledge of the thoughts of all the sentient beings. *Kevalajñāṇa* is defined in it as omniscience enabling a person to comprehend all objects and to know all conditions of the worlds of gods, men and demons.[3] As defined in the *Anuyogadvāra* the *ābhinibodhika* knowledge is one which is directed to the objects (*atthābhimuho*) and determined (*niyao*). It is perceptual in its character in so far as the objects are known through the sense-perception. The *śrutajñāna* is also a kind of *ābhinibodhika* knowledge which is indirect. The *avadhijñāna* implies the internal perception of the objects from different angles, each implying a particular *modus operandi.* (For further details *vide,* Law, *Some Jaina Canonical Sūtras,* pp. 105-107).

The different kinds of obstruction to right faith are sleep, activity, very deep sleep, a high degree of activity and a state of deep-rooted greed.

Syādvāda consists of certain *nayas* or viewpoints from which assertions are made as to truth. The number of *nayas* was finally fixed as seven, but the canonical texts are reticent about their exact number. According to the doctrine of *Syādvāda* there are seven forms of metaphysical propositions and all contain the word *Syāt*, e.g., *Syād asti sarvaṁ, Syād nāsti sarvaṁ.* In deciding all questions the admirable way was one of *Syādvāda.* If the question was mooted like this : Is the world eternal or not? The Master's advice to his disciples was neither to side with those who maintained that the world is eternal nor with those who maintained that it is not eternal. The reason seems to be this that from neither of these alternatives they could arrive at truth. By proceeding exclusively from either side they would only be led to error. The *syād* mode was the real way of escape from the position of the dogmatist and that of the sceptic, from both of which Mahāvīra recoiled. *Syāt* means 'may be' and it is explained as *kathaṁcit* (somehow).

Leśyā is a term signifying colour according to the *Sūtrakṛtāṅga*

---

[1] Cf. *Tattvārthādhigama sūtra*, I. 9.
[2] Cf. *Kalpasūtra,* 15.
[3] *Ācārāṅgasūtra,* II, 15.25.

(1.6.13). The classification of living beings in terms of six colours may be traced in Pārśva's doctrine of six jīvanikāyas.[1] *Leśyā* is said to be that by means of which the soul is tinted with merit and demerit. It arises from *yoga* or *kaṣāya*, namely the vibrations due to the activity of body, mind or speech or passions.[2] Pārśva's doctrine of the six classes of living beings served as the basis of Mahāvīra's doctrine of six *leśyās*. The *leśyās* are different conditions produced in the soul by the influence of different *karma*. They are, therefore, not dependent on the nature of the soul but on the *karma* which influences the soul. They are named in the following order: black, blue, grey, red, yellow and white. The black (*kṛṣṇa*) *leśyā* has the colour of a rain cloud, a buffalo's horn. The blue (*nīla*) *leśyā* has the colour of the blue *Aśoka* (*Jonesia Aśoka*) having red flowers. The grey (*kāpota*) *leśyā* has the colour of the flower of *atasi* (*Linum usitatissimum*) having blue flowers. The red (*rakta*) *leśyā* has the colour of vermilion. The yellow (*padma*) *leśyā* has the colour of orpiment. The white (*śukla*) *leśyā* has the colour of conch-shell.[3]

The taste of the black *leśyā* is more bitter than that of *tumbaka* (*Lagenaria vulgaris*). The taste of the blue *leśyā* is more pungent than black pepper and dry ginger. The taste of grey *leśyā* is more pleasant than that of ripe mango. The degrees of the *leśyās* are three or nine or twenty-seven or eighty-one or two hundred and forty-three. Each of these degrees is threefold: low, middle and high. A man who acts on the impulse of the five sins, who commits cruel acts, who is wicked and mischievous, develops the black *leśyā*. A monk who has anger, ignorance, hatred, wickedness, deceit, greed, carelessness, love of enjoyment etc., develops the blue *leśyā*. A man who is dishonest in words and acts, a thief, a deceiver, develops the grey *leśyā*. A man who is humble, restrained, well disciplined, free from deceit, and law-abiding, develops the red *leśyā*. A man who controls himself, who is attentive to his study and duties, develops the yellow *leśyā*. A man who controls himself, who subdues his senses, who is free from passion, develops the white *leśyā*. The black, blue and grey *leśyās* are the lowest *leśyās*, through them the soul is brought into misery. The red, yellow, and white *leśyās* are the good *leśyās*, through them the soul is brought into happiness. In the first and last moment of all these *leśyās*, when they are joined with the soul, the latter is not born

---

1. *Ācārāṅga*, II, 15.16.
2. Law, *Mahāvīra, His Life and Teachings*, p. 104.
3. *Vide* in this connection S. Stevenson, *Heart of Jainism*, pp. 102 ff.

into a new existence.[1] Those who cherish right views, do not commit sins and are enveloped in white *leśyā,* will reach enlightenment at the time of death.

The Buddhist idea of contamination of mind by the influx of impurities from outside, illustrated by the simile of a piece of cloth dyed blue, red, yellow or the like, would seem to have some bearing on the Jaina doctrine of the six *leśyās,* which is merely hinted at in the *Sūtrakṛtāṅga* (1.4.21), where a Jaina saint is described as a person whose soul is in a pure condition and fully explained in the *Uttarādhyayana* (XXXIV). The Jaina religious efforts are directed towards the acquisition of pure *leśyā.*[2] The black *leśyā* is the worst of the three bad emotions colouring soul. The blue *leśyā* is an emotion which is less evil than the last. The grey *leśyā* may lead men to do evil. A man under its command becomes crooked in thought and deed. The *tejo leśyā* removes all evil thoughts from the *jīva* under its sway. The *padma leśyā* is good emotion. A man controls anger, pride, deceit and avarice through its power. When a man is under the influence of the white *leśyā,* love and hatred disappear. Black, blue and grey are the three bad emotions; yellow, pink and white are the three good emotions. Cf. Maskarin's division of souls into six colour types (*abhijātis*) reduced according to the *Mahābhārata* (XII, 279, 33-68) into the *Sāṅkhya* division of souls in three colour types, viz., the white, the red and the black. Leumann defines *leśyā* as the soul type.

The *Paṇhāvāgaranāiṁ* (*Praśna-vyākaraṇāni*), also known as the *Praśna Vyākaraṇadaśā,* which is the tenth *áṅga* of the Śvetāmbara *Āgama,* explains the great moral vows of the Jainas. The first four represented the four principles of self-restraint as prescribed by Pārśva for his followers. Although the enumeration of the principles is somewhat different, they are all important to both the Jaina and Buddhist systems. In the Jaina presentation a greater emphasis is laid on the side of the abstinence from impious acts, while in the Buddhist presentation much stress is laid on the positive aspect of virtues. It is not enough that a person abstains from doing a misdeed in as much as a progressive man is expected to cultivate and develop friendliness, truthfulness, honest life, etc. The difference seems to be one of degree and not of kind. (Vide Law, *Jaina Canonical Sūtras,* pp. 62-63). According to Pārśva there were four vows. To these four vows of Pārśva the vow of chastity was later added by Mahāvīra. This he did by dividing the vow of property into two parts: one relating to women and the other relating to material possessions. The Ājīvika leader Gosāla's conduct led Mahāvīra to add the vow of chastity to the four vows of Pārśva.

---

[1] *Uttarādhyayana,* XXXV.

[2] *Sūtrakṛtāṅga,* 1.10.15.

Cātuyāma or cāujjāma (Pali *cātuyāmasaṁvara*)[1] denoting four vows of Pārśva was undoubtedly a phraseology of the religion of Pārśva, but it acquired altogether a new connotation with the followers of Mahāvīra.

The first great vow of the Jainas is abstinence from killing living beings. (Cf. Buddhist *Pāṇātipātāveramaṇi*) The second great vow is avoidance of falsehood (Cf. Buddhist *Musāvādāveramaṇi*). A Jaina speaks after deliberation. He comprehends and renounces anger, greed, fear and mirth. The third great vow is avoidance of theft (Cf. Buddhist *Adinnādāveramaṇi*). A Jaina begs after deliberation for a limited space. He consumes his food and drink with the permission of his superiors. He who has taken possession of some space should always take possession of a limited part of it, and for a fixed period.[2] He may beg for a limited space for his co-religionists after deliberation. The next vow is avoidance of sensual pleasures (Cf. Buddhist *Abrahmacariyāveramaṇi*). The last great vow is freedom from possessions (Cf. Buddhist *Jātarūparajatapaṭiggahaṇāveramani*).[3] The non-hankering after worldly possessions may be internal and external. The external hankering is an obstacle to religious practice and the internal hankering leads a person to the incorrectness of method, recklessness, thoughtlessness and moral contaminations according to the *Paṇhāvāgaranāiṁ*.

The *Āvaśyaka sūtra* (*Āvassaya suya*) refers to the *Sāmāyika* vow which means the maintenance of a balanced state of mind with regard to all blamable actions, passions and hatred. The *Sāmāyika vow* as a preliminary to the Jaina religious practices primarily means *virati* or abstinence.

The *Ṭhānaṅga* which is the third Aṅga of the Jain Canon, mentions four kinds of mental concentration (*jhāṇa*) each with its four varieties. The *jhāna* is defined in Jainism as the resting of consciousness on a single object even for a moment (*anto muhuttamattaṁ cittāvatthānaṁ egavatthummi*). The first is called *artadhyāna* of which the characteristic mark

---

1. *Cātuyāma saṁvara saṁvuto* (*Saṁ.* I, 66; *Dīgha.* III, 49).
2. Cf. *Aṅguttara* I, 205—This is known in southern Buddhism as *Nigaṇṭhūposatho.*
3. *Sūtrakṛtāṅga*, II, 7.17.

is self-mortification or that which is resorted to by a person who is oppressed by the fear of the world. The second is terrific (*raudra*) as it is attended by the worst cruelties to life. The third is *dharmya* or pious, as it is not bereft of the practices of piety as enjoined in the scriptures. The fourth is *śukla* or purificatory, as it serves to purge all impurities due to the karmic effect.

It is interesting to note that in Jainism there are twelve meditations on transitoriness, helplessness, mundaneness, loveliness, separateness, impurity, inflow, stoppage, relinquishment, universe, rarity of right path, and nature of right path.

The *Āvaśyaka* sūtra (*Āvassaya suya*) refers to *kāyotsarga* which is an ascetic mode of atoning for the excess in sinful indulgences (*aticāra*). It implies the idea of particular bodily postures to be adopted in keeping oneself unmoved on suitable spot. It is a Jaina mode of *dhyāna* (*jhāṇa*) practice. He who practises this mode is required to keep his body, mind, and speech under perfect restraint. His mind is to be kept intent on the particular object of meditation. Jainism lays stress on the practice of self-mortification as a means of checking one's passion as well as of inducing mental concentration. From *sāmāyika to kāyotsarga* all the modes are to be carefully studied and methodically practised with a view to clearing the path of progress of aspirant towards the attainment of emancipation.

There are five *samitis* and three *guptis* which constitute eight means of self-control. They are also known as the eight articles of Jaina creed. In Buddhism the ideas of *samiti* and *gutti* are found to be the same.[1] The *samitis* are the following : (1) going by paths trodden by men, carts, and beasts, etc. and looking carefully so as not to cause the death of living beings; (2) using sweet, gentle and righteous speech; (3) receiving alms in a manner to avoid forty-two faults; (4) receiving and keeping things necessary for religious exercises; and (5) performing the operation of Nature in an unfrequented place.[2] *Gutti* is vedic *gupti* meaning protection, defence, guard, watchfulness.[3] The three *guttis* are the following :— (1) preventing mind from sensual pleasures by engaging it in contemplation, study etc.; (2) preventing the tongue from saying bad things by

---

1. Cf. *Dīgha*, I, p. 172.
2. *Dīgha*, II, 292.
3. *Ibid.*, III, 148; *Aṅguttara*, IV, 106 ff.; Cf. *Uttarādhyayana Sūtra*, XXIV, 1 : *aṭṭa pavayanamāyāo Samiigutti taheva ya paṇceva* ya samiio tao guttio āhiyā.

taking the vow of silence; and (3) putting the body in an immovable posture.[1] The walking of a well disciplined monk should be pure in respect to the ends, time, road and effort. Knowledge, faith and right conduct are the ends; the time is day-time; the road excludes bad ways; the effort is fourfold as regards substance, space, time and condition of mind. A well disciplined monk should work carefully; he should avoid pride, greed, deceit etc. He should use blameless and concise speech at the right time. For a detailed discussion of the subject, vide my '*Some Jaina Canonical Sūtras*, p. 204.

In Jainism the five sinful deeds that one commits due to innate proneness to sin stand as opposed to five great vows (*pañcamahāvratas*) that follow from the principle of *saṁvara* or restraint. The five sinful deeds are: (1) harming life (*hiṁsā*); (2) lying (*mosa*); (3) thieving (*adatta*); (4) incontinence (*abambha*), and (5) hankering after worldly possessions (*pariggaha*). The harming of life is deprecated by the Jainas. This sinful deed serves to generate delusion and great fear and brings about mental distress. This is the first road to impiety. The second road to impiety is lying which is defined and characterised as telling an untruth, which makes a person light and fickle. This road to impiety also includes the preaching and promulgation of false doctrines and misleading philosophical views of life. The third door to impiety is taking away what is not given. It is defined as an act of stealing, oppressing, bringing death and fear, a terrifying iniquity and a sinful deed rooted in covetousness and greed. The fourth door to impiety is known as incontinence. It is defined as a sexual dalliance coveted in the worlds of gods, men and demons, which is a net and noose of amour, which is a hindrance to the practice of austerities, self-restraint and chaste life. The fifth and last door to impiety is hankering after worldly possessions, such as, gems, jewels, gold, landed properties, opulence, wealth, etc. It is rooted in greed and it is an expression of craving and thirst for worldly things.

To compress all that is knowable about the following tenets of Jainism as a practical religion within the bounds of a few pages will be welcome.

(1) Longing for liberation (*saṁvega*): By it the soul obtains an intense desire of the law.

(2) Disregard of worldly objects (*nivveda*): By it the soul quickly feels disgust for pleasures enjoyed by gods, men and animals.

---

[1] *Uttarādhyayana Sūtra*, Ed. J. Charpentier, pp. 178-181.

(3) Desire of the law (*dhammasaddhā*): By it the soul becomes indifferent to pleasures.

(4) Obedience to co-religionists and to the Guru (*gurusādhammiyasussūsaṇā*) : By obedience to them the soul obtains discipline.

(5) Confession of sins before the Guru (*āloyaṇā*) : By this the soul gets rid of the thorns of deceit, wrong belief, etc.

(6) Repenting for one's sins to oneself : By this the soul obtains repentance and becoming indifferent by repentance he prepares himself for an ascending scale of virtues by which he destroys *karma*.

(7) Repenting for one's sins before the Guru : By this the soul obtains humility.

(8) Moral and intellectual purity of the soul (*sāmāyika*): The soul ceases from sinful occupations by such purity.

(9) Adoration of the 24 Jinas : The soul arrives at purity of faith by this adoration.

(10) Paying reverence to the Guru (*vandanā*) : By this the soul destroys the *karma* leading to birth in low families.

(11) By expiation of sins the soul obviates transgressions of the vows (*paḍikkamaṇa*).

(12) By a particular posture of the body (*kāussagga*) the soul gets rid of past and present transgressions which require expiatory rites.

(13) By self-denial (*paccakkhāṇa*) the soul shuts the doors against sins.

(14) By praises and hymns (*thavathuimaṅgala*) he obtains wisdom consisting in knowledge, faith and conduct.

(15) By keeping the right time he destroys *karma* which obstructs right knowledge.

(16) By practising penance (*pāyacittakaraṇa*) he gets rid of sins and commits no transgressions.

(17) By begging forgiveness he obtains happiness of mind.

(18) By study he destroys *karma* which obstructs right knowledge.

(19) By the recital of the sacred texts he preserves the sacred lore and obtains destruction of *karma*.

(20) By questioning the teachers he arrives at a correct comprehension of the *sūtra* and its meaning.

(21) By repetition he commits the sounds or syllables to memory.

(22) By pondering on what he has learnt, he loosens the firm hold

which the seven kinds of *karma* have upon the soul.

(23) By religious discourses he exalts the creed and by exalting the creed he acquires *karma* for future bliss.

(24) By the acquisition of sacred knowledge he destroys ignorance.

(25) By concentration of his thoughts he obtains stability of the mind.

(26) By control he obtains freedom from sins.

(27) By austerities he cuts off *karma.*

(28) By cutting off *karma* he obtains freedom from actions.

(29) By renouncing pleasures he obtains freedom from false longing.

(30) By mental independence (*appaḍibaddha*) he gets rid of attachment.

(31) By using unfrequented lodgings and beds he obtains conduct.

(32) By turning away from the world he strives to do no bad actions.

(33) By giving up collections of alms in one district only he overcomes obstacles.

(34) By abandoning articles of use he obtains successful study.

(35) By not taking forbidden food he ceases to act for the sustenance of his life.

(36) By conquering his passions he becomes free from passions.

(37) By renouncing activity he obtains inactivity.

(38) By renouncing his body he acquires the pre-eminent virtue of the perfected ones.

(39) By shunning company he obtains singleness and avoids disputes, quarrels, passions, etc.

(40) By giving up all food he prevents his birth many times.

(41) By perfect renunciation he enters the final stage of pure meditation.

(42) By conforming to the standard of a monk's life he obtains ease and will be careful.

(43) By doing service he acquires *karma* which brings about for him the name and family name of a *Tīrthaṇkara.*

(44) By fulfilling all virtues he will not be born again.

(45) By freedom from passions he destroys the ties of attachment and desire.

(46) By patience he overcomes troubles.

(47) By freedom from greed he obtains voluntary poverty.[1]

---

1. *Muttīe ṇaṁ bhante jīve kiṁ jaṇayai. Muṁ akiñcaṇaṁ janayai akiñcaṇe ya jīve atthalolāṇaṁ apatthāṇijjo bhavai.*

By simplicity he will become upright; by humility he will acquire freedom from self-conceit, by sincerity of mind he will obtain purity of of mind; by sincerity in religious practice he will become proficient in it; by sincerity of action he will become pure in his action; by watchfulness of his mind he concentrates his thought; by guarding the speech he will be free from prevarication; by watchfulness of the body he obtains restraint; by discipline of the mind he obtains concentration of his thoughts; by discipline of the speech he obtains development of faith; by discipline of the body he obtains development of conduct; by possession of knowledge he acquires an understanding of words and their meanings; by possession of faith he destroys wrong belief; by possession of conduct he obtains stability; by subduing the organ of hearing he overcomes his delight in all pleasant and unpleasant sounds. There is the subduing of the organs of sight, smell, taste and touch with regard to pleasant colours, smells, tastes and touches. By conquering anger he obtains patience; by conquering pride he obtains simplicity; by conquering deceit he obtains humility; by conquering greed he obtains content; by conquering love, hatred, and wrong belief, he exerts himself for right knowledge, faith and conduct. By the motionless state of the self (*śaliesī*) he first stops the functions of his mind, then those of the speech, then those of the body, at last he ceases to breathe. Freedom from *karma.* The soul after having got rid of *audārika kārmaṇa* bodies takes the form of a straight line, goes in a moment without touching anything and taking up no space, and then the soul develops into the real form and obtains perfection. [*Uttarādhyayana,* XXIX, 73; S. Stevenson, *Heart of Jainism,* p. 206; Cf. the Brahmanical conception of the *sthūla* (*gross*), *sūkṣma* (subtle or also called *liṅga*) and *kārmaṇa* bodies assumed by the soul].

A 13TH CENTURY INSCRIBED METAL-BELL FROM PATAN (N. GUJARAT)

DR. M. R. MAJUMDAR, M.A., PH.D., LL.B.

The discovery of a metal-bell acquired from Pāṭan (N. Gujarāt) and now deposited in the Central Asian Antiquities Museum, New Delhi, is interesting as a material evidence for the art of metal-casting in Gujarāt for objects used in worship.

Even to-day we find simple ordinary articles of daily use satisfying in their artistic completeness, like the things of household and temple furniture—the elaborately worked out wooden bedstead, the swing with fancy brasschains, the water-jugs, highly ornamented pitchers, jars and the utensils for worship, the canopy, hangings on the wall or from the ceiling, brass lamp-trees and the like. These articles were beautiful and delicate pieces of art relegated to the everyday life of the people.

To come to the place of a bell in our everyday life:

A bell is a hollow metallic vessel used for making a more or less loud noise. Bells are usually cup-like in shape, and are constructed so as to give one fundamental note when struck. The term does not strictly include gongs, cymbals, metalplates, resonant bars of metal or wood, or tinkling ornaments, such as, e.g., "bells" like the common variety of cow-bells or bells on the belt worn by bullocks, camels or elephants. The main interest of bells has reference to church, temple or tower-bells.

The history of bells is full of romantic interest. In civilized times, they have been intimately associated, not only with all kinds of religious and social uses, but with almost every important historical event. Their influence upon architecture is not less remarkable, for to them indirectly we probably owe most of the famous towers in the world. Church-towers at first, perhaps, scarcely rose above the roof, being intended as lanterns for the admission of light, and addition to their height was in all likelihood suggested by the more common use of bells.

There are a few bells of world-wide renown, and several others more or less celebrated. The great bell at Moscow, "Tsar Kolokol" which according to the inscription was cast in 1733, was in the earth for 103 years and was raised by the Emperor Nicholas in 1836. The present bell seems never to have been actually hung or rung, having been cracked in the furnace; and it now stands on a raised platform in the middle of a square. It is

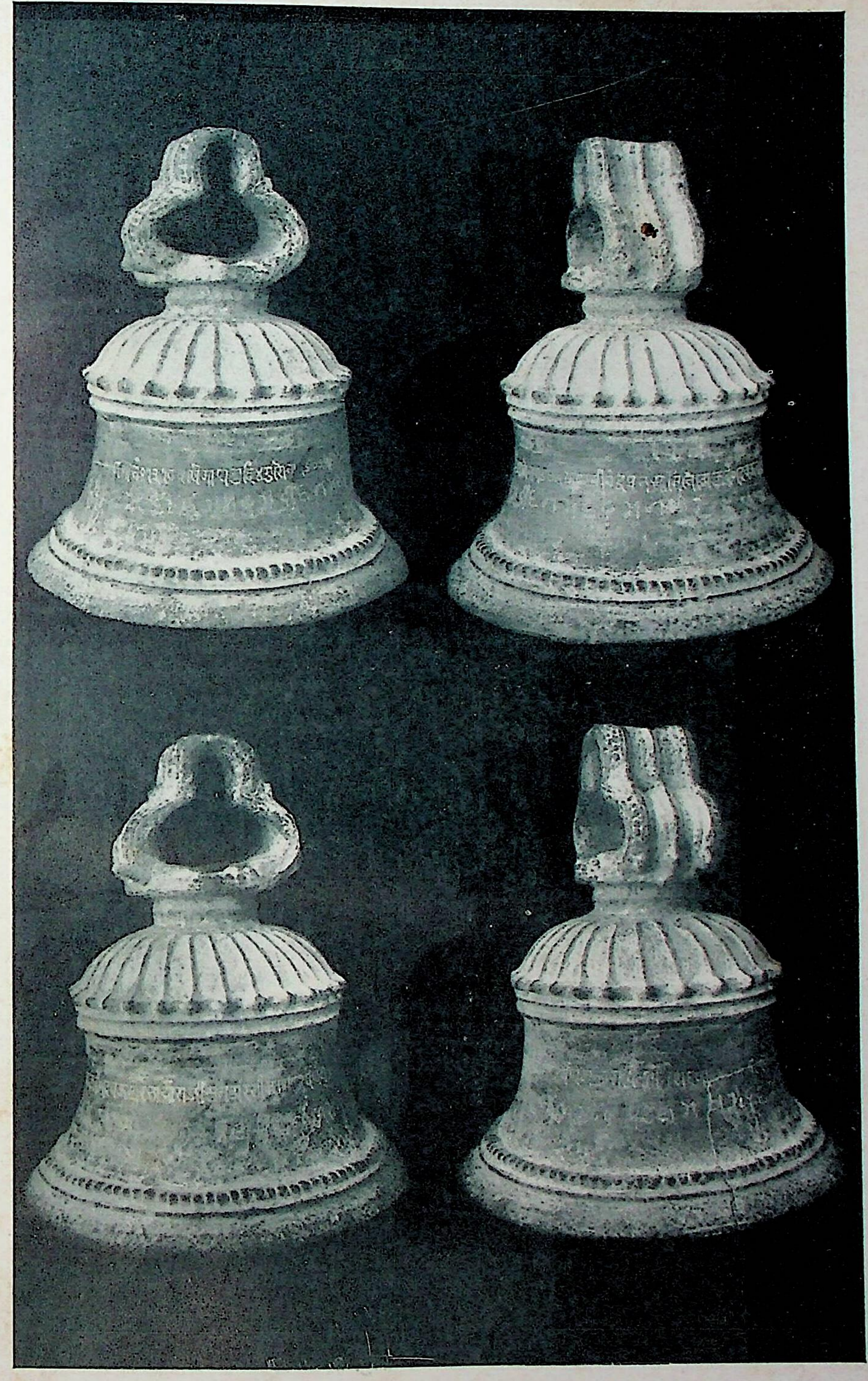

A 13th Century inscribed metal bell from Patan

Copyright : Archaelogical Department of India]

DIGAMBARA JAINA TIRTHANKARAS FROM MAHESHWAR AND NEVĀSĀ

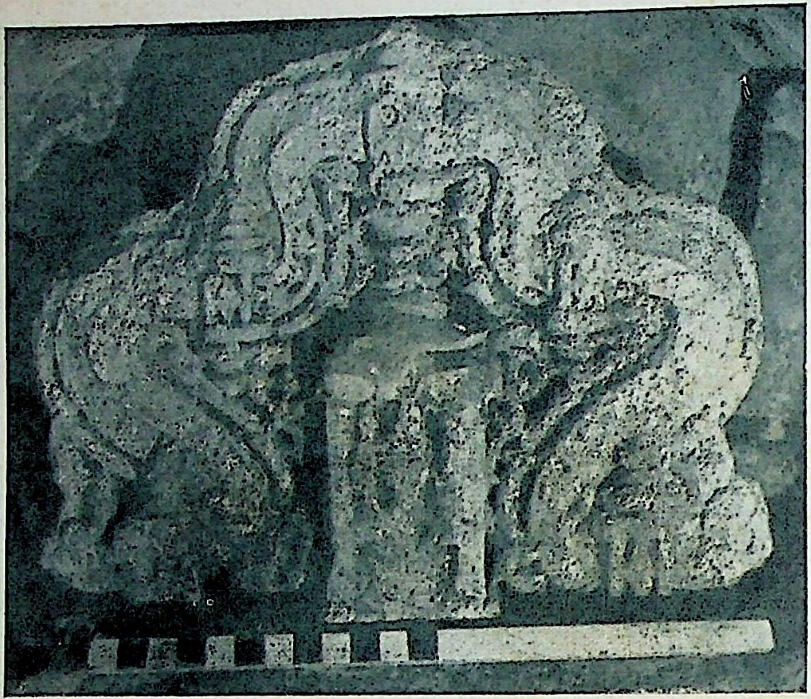

Fig. 1

Prabhāvali from Bhartṛhari Gufā, Maheshwar

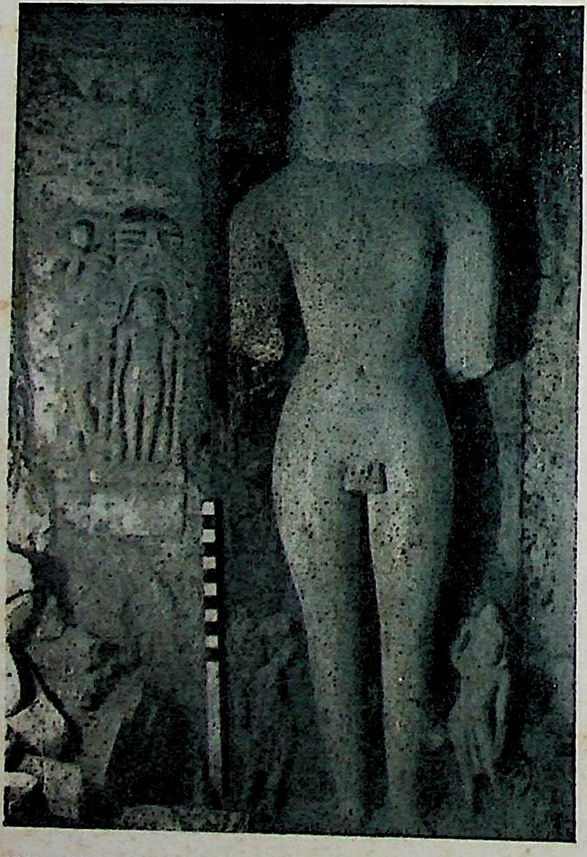

Fig. 2

Jaina Tirthaṅkara in Kāyotsarga from Bhartṛhari Gufā, Maheshwar

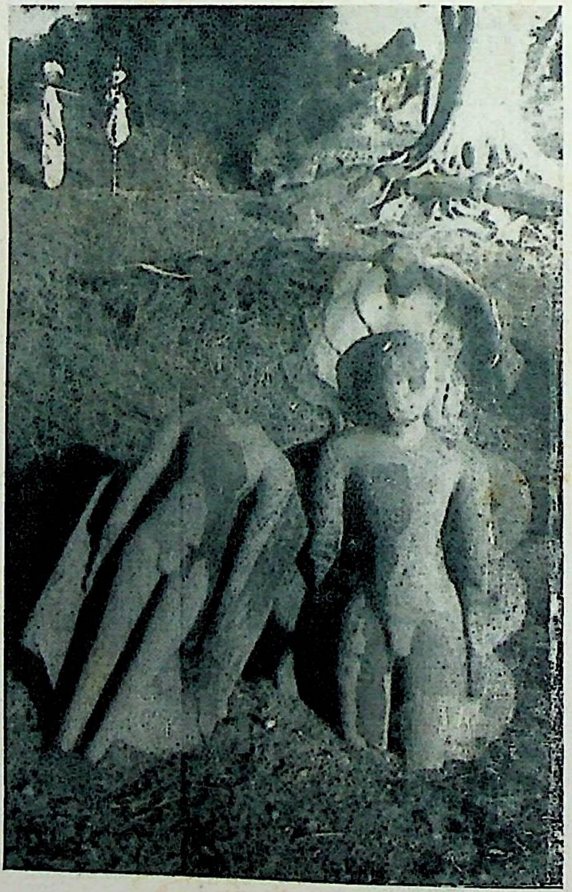

Fig. 3

Parsvanātha and another Tirthaṅkara from Nevāsā

Photos : Dr. H. D. Sankalia

used as a chapel. It weighs about 180 tons, height 19 ft. 3 in., circumference 60 ft. 9 in., thickness 2 ft., weight of broken piece 11 tons. The second Moscow bell, the largest in the world in actual use, weighs 128 tons.

In a pagoda in Upper Burma hangs a bell 16 ft. in diameter, weighing about 80 tons. The great bell at Peking weighs 53 tons; Nanking, 22 tons; Olmutz, 17 tons; Vienna (1711), 17 tons; Notre Dame (1680), 17 tons; Paul's cathedral, 16¾ tons; Great Tom at Oxford, 7½ tons; Big Ben of the Westminster Clock Tower weighs 13½ tons; it was first cast by George Mears under the direction of the first Lord Grimthorpe in 1858.

These large bells are either not moved at all, or only slightly swung to enable the clapper to touch their side; in some cases they are struck by a hammer or beam from outside. The earliest bells known to the Western World were probably not cast, but made of plates rivetted together, like the bells of St. Gall or Belfast.

The bell-founder's art, originally practised in the monasteries, passed gradually into the hands of a professional class, by whom were gradually worked out the principles of construction, mixture of metals, lines and proportions. In England, some of the early founders were peripatetic artificers, who travelled about the country, setting up a temporary foundry to cast bells wherever they were wanted. In old church-wardens accounts are found notices of payments for casting of bells at places where no regular foundry is known to have existed.

Bell-metal is a mixture of copper and tin in the porportion of 4 to 1. The thickness of the bell's edge is about one-tenth of its diameter and its height is twelve times its thickness.

The names of bells were often stamped upon them in the casting; whence arose inscriptions upon church-bells. The character of the lettering, and the foundry-marks upon old bells, are of great assistance in determining their date.[1]

The chief centres of this art of metal-foundry in Gujarat were known to flourish in Sīhor (Saurāṣṭra), Visnagar (N. Gujarāt) and Ḍabhoi (Central Gujarat).

The earliest dated metal-bell from Gujarat is taken to be the one, found at Ajārā, one *krośa* from Ūnā (Saurāṣṭra) now a very small village, but formerly a big city adorned by a number of Jaina temples. The

---

1. For further information, see article on 'Bell' in *Encyclopaedia Brittanica*, Vol. III, p. 687-692.

bell under notice weighs 35 lbs. and is dated V. S. 1034. The inscription 'श्री अजारा पार्श्वनाथ सं १०३४। शा. रायचंद जेचंद।:' (Vide *Jaina Tīrtha Sarva-Saṅgraha* Vol. I., Pt. I., pp. 137, 138); it has, however, been looked upon with great suspicion about the digit for hundred in the date which very probably reads much later.

Dr. Vasudeva Sharana Agrawala, was kind enough to send me four photographic prints of the Pāṭāṇa temple-bell in June 1951 which bears an inscription.

The inscription as read from the four side-views of the bell gives the following information : The use of *Pṛṣṭha-mātrā* is noteworthy :—

(I) ॐ सं १३१८ वार्षे माघ शु दि ४ गुरो वागड उद्वथारो
(II) श्री चंद्रप्रभस्वामि चाचेत्य कुदुादवकुमार
(III) ——भार्या राजीसुत रसीहश्रावेघ्रनाथ
(IV) Not legible.

The inscription records that this temple-bell was presented to the Caitya of Śrī Candraprabha Svāmi, situated in the Vāgaḍa district, in Saṁvat 1318 (1262 A.D.) on the fourth day of the bright half of the month of Māgha.

The height of this bell is 15 inches, outer diameter at the bottom is 13½ inches and it weighs 45 lbs.[2]

Later dated specimens of the 17th and 18th century bells have been known to be in existence at the summit of Dattātreya on Mt. Girnār and also on Mt. Ābu.

The bell introduced through this note is the earliest dated specimen from Gujarat, beyond any doubt.

It is worthwhile to investigate into the earlier history of metal-casting in Gujarat as is in evidence from the Akoṭā hoard of bronzes, which probably is in a line with the "School of Ancient West" as noted by the Buddhist historian Tāranāth in 1609.

---

[2] This detailed information is due to the courtesy of Dr. T. N. Rāmachandran, Deputy Director of Archaeology, New Delhi.

WHAT JAINISM OFFERS TO THE WORLD

SHRI C. S. MALLINATH

We live in a world of social inequalities, economic difficulties, multifarious diseases, over-population and atomic bombs. Can Jainism offer any solution for the above problems? Yes. It can and it does offer. But one has to follow and apply its teachings in actual practice as an earnest patient would follow the prescriptions of his doctor.

Social inequalities: It is really regrettable that even in the civilised countries of Europe, prejudice due to colour, race, or nationality still continues to exist and keep the people divided amongst themselves. Experience teaches that colour or racial arrogance cannot continue to exist long. Humanity has to be told again and again that the entire human race is but one family irrespective of differences due to colour, race or nationality. "All humanity is one", is one of the fundamental teachings that Jainism offers.

Economic difficulties: Whatever might be the economic conditions obtaining in other countries, the economic position in India is still far from satisfactory. Indians are still starving. Thousands of men, women and children are found suffering from heat and cold, completely exposed to changing conditions of weather without proper shelter and sufficient clothing. The Haves must come to the rescue and protection of the Have-nots. Jainism enjoins that everyman must put a limit to the acquisition of property and then entirely devote his time for public good. People engaged in independent professions such as lawyers, doctors, merchants, engineers etc. must retire when they reach the limits fixed for them and thus give room for others to earn. *Dig-vrata* and *Desá-vrata,* limiting one's activities, within certain prescribed directions and within certain boundaries in a country and abstaining from the use of things got from beyond the limits or sending things to such places, also contribute in a way to mitigate economic difficulties. It is expected of every well-to-do person to give *abhaya-dāna,* the gift of fearlessness to all those who are afflicted with fear as to, "What shall we eat, where shall we stay, and with what shall we cover ourselves?" The sacred books say that on the day when the Blessed Lord Bhagavān Mahāvīra renounced the world, He distributed His great wealth among the needy and the indigent. The Bhūdāna and the Sampattidāna movements launched and conducted by

Acharya Vinoba Bhave go a long way to solve the economic difficulties. "Live and let live", is the formula offered by Jainism. *Kṣemaṁ sarva-prajānāṁ,* 'may all people be happy', is the daily prayer of the Jainas.

Diseases: It is the opinion of the common people that in proportion to advancement of civilization and the new methods of living, the number of diseases also has increased. No doubt scientific research has eliminated the threat of death from infectious diseases. But still there are instances of cases which baffle even expert medical men. And the treatment of some of the diseases is so costly that it is beyond the reach of the common may. *Auṣadha-dāna,* gift of medicine, is one of the charities, which a Jaina householder is asked to give in order to provide relief to the sick.

Over-population: The rapid growth of population is a great problem for the leaders of all nations. In India, too, the population has considerably increased during the last decade. Several devices are suggested and advices given to check the growth. Birth-control clinics have been started in many places and the people are advised to use appliances. But any attempt to go against Nature is not only injurious to health but also sinful. Therefore, Jainism advises the practice of celibacy (*Brahmacarya*) as the only non-injurious method to control birth. It helps men and women to keep their bodies healthy and strong and makes them pure and edifying.

Atom Bombs: With the advancement of scientific research, many marvellous things have been invented for the convenience, comfort and enjoyment of man. The use of steam and electricity, telegraph and telephone and improved methods of printing have revolutionised modern life. Through radio and television, man sitting at his desk can hear the voices of people at distant places and see visions of events happening far away from him. Science has contributed to the development of industry and agriculture on a very large scale. Automobiles, steamships and aeroplanes enable the speedy movement of men and goods. Time and distance have been conquered. But side by side with the application of his scientific knowledge for beneficial purposes, man has discovered horrible weapons of destruction also.

Prof. M. Oliphant, Director of Physical Laboratories, Australian National University, in his lecture on "Science and Mankind", recently delivered at the University of Madras, said, "At the present time we face a crisis in the use of science which is of far greater immediate importance and which must be surmounted if our present civilization is to endure. This is the threat of war which has been for mankind a sort of undulant fever of increasing malevolence which now threatens his very existence. Man stands on the brink of a precipice of his own devising.

"If world war should come again it is certain that most that we value will be destroyed, hundreds of millions will die and the surface of the earth be so despoiled that a recovery may take a million years.

"The banning of weapons of mass destruction offers no solution, for any nation facing defeat abandons all scruples and uses every weapon which could decimate the enemy. Excuses can always be found for the use of any diabolical weapon in retaliation".

The world itself looks as though it is on the verge of complete destruction. Man with the help of his scientific knowledge has rolled the globe and placed it on the jaws of death. In the light of this situation, what is the solution that Jainism can offer to avoid war and establish permanent peace ? Jainism has been teaching that soul *or ātman* is the only precious thing in the whole world. Nothing is comparable to it. The scientist himself who has discovered so many wonderful things was able to do so only because of his own soul which is, in other words, his knowledge. The Jaina conception of soul and knowledge being identical is analogous to Einstein's theory of matter and energy being equivalent, which is again the teaching of Jaina metaphysics. Where there is knowledge there is soul; and where there is soul there is knowledge. The unique nature of soul and all its wonderful qualities have been taught to the world by the great teachers. Lord Mahāvīra emphasized the supreme value of soul as a thing which must be protected and developed at any cost. Man should not only care for the welfare and advancement of his soul but also help the souls of all sentient beings by giving them protection and by helping them to march on the path of salvation. He who loses his soul loses everything. Jesus Christ who came five centuries later than Mahāvīra also drew the attention of mankind to the value and importance of *ātman* or soul. "What shall it profit a man", he asks, "if he gains the whole world and loses his own soul ?" The pious Christians who live in America, Russia and other countries where the deadly weapons are being manufactured may as well ask their own countrymen, "What shall we gain if we get supremacy of the earth and lose our own souls ?" Unfortunately there will be no getting the supremacy of the earth also, since the atom bombs will destroy everything.

In order to establish peace in the world the importance of soul and the necessity for the practice of *Ahiṁsā* should be taught throughout the world in every village and town. Man must be made to become conscious of the supreme value of his soul and the utter uselessness of the result of inventing and using of the atom bombs.

Nowadays people seem to think that religion is of no use in modern life, and that it cannot play any part in shaping the character of the people. In reply we can only say in the words of Joseph Gaer, "Those who have lived among the Jainas find them a very kindly people, and better men because of their religion."

DIGAMBARA JAINA TĪRTHAṄKARAS FROM MAHESHWAR AND NEVĀSĀ

DR. H. D. SANKALIA, M.A., Ph.D. (LONDON)

Maheshwar is a well-known town situated on the northern bank of the Narmadā in the present State of Madhya Bhārat. It is about 50 miles south of Indore. Here, just overlooking the river, and adjoining the temple of Viṭṭhala, is a place called the "Gufā (Cave of Bhartṛhari)". There is no rock in the vicinity, and I wondered how a cave could exist in the area. On examining the so-called "Gufā", it was noticed that it was a submerged temple, situated on an old mound, going back to the 3rd century B.C. and even earlier. Further study showed that the temple might have been built during the Paramāra period, about 1100 A.D. This is particularly suggested by the *prabhāvali,* (Fig. 1) which is carved in the form of a *toraṇa.* Similar *toraṇa* is seen in the *toraṇas* at Sidhpur, Vadnagar and Kapadvanj in Gujarat which were erected in the time of Siddharāja Jayasiṁha and his successor.[1]

In one of the niches of this temple there is a huge, large, nude, standing male figure (Fig. 2), with arms thrown on its sides, now partly broken. The head and the face were broken anciently and are now replaced by a different one. The figure is worshipped as Rājā Bhartṛhari, but in fact it is a Jaina Tīrthaṅkara standing in Kāyotsarga pose. Since the *lāñchana* and the *vāhana* as well as the attendant Jaina Yakṣas and Yakṣīs are no longer present, it is not possible to identify the image as of a particular Tīrthaṅkara. But its presence indicates that once a large Jaina temple stood on the bank of the Narmadā, probably in the 12th century.

Nevāsā is also a holy town, and equally old as Maheshwar, though its recorded antiquity does not go beyond the time of Śrī Jñāneśvara, that is A. D. 1290. It lies on both the banks of the Pravarā river; the older town on the northern side is called Nevāsā Budruk, and that on the southern side is known as Nevāsā Khūrd. It is also a taluka town, and situated at a distance of about 36 miles north of Ahmadnagar.

Pillars, capitals, door-frames, and images of the mediaeval period are found scattered about, completely uncared for, on both the sides of the town. Among these we found, lying right on the river bank, on the northern side, that is Nevāsā Budruk, two stone images of Jaina Tīrthaṅkaras (Fig. 3). The lower parts of both the images are broken, but since the upper part of one, with a canopy of seven cobra hoods survives, it is possible to identify it as the figure of the 23rd Tīrthaṅkara Pārśvanātha. Both stood in Kāyotsarga pose.

---

[1] See Sankalia, H. D., *The Archaeology of Gujarat,* Figs. 55-57.

It is interesting to note that the Maheshwar as well as the Nevāsā images are Digambara. It is well known that Digambara Jainism was patronized by the Western Chālukyas, Rāṣṭrakūṭas, the Hoysalas and the Yādavas. Since no structural monuments of the first two dynasties are hitherto known from the Deccan, it is likely that the images in question belong to the mediaeval period, that is after 1,000 A. D. From the existence of the Jaina caves belonging to the Digambara School at Triṅgalvāḍi[2] and at Chāndor[2] in the Nasik district of the early (?) Yādava period, it is possible to say that Digambara Jainism was in a flourishing state at this period in the Deccan. And the Nevāsā figures should belong to this period.

---

[2] Cousens, Henry, *Mediaeval Temples of the Dakhan, ASI., Imperial Series*, Vol. XLVIII, (Calcutta, 1931), pp. 48-50, pl. LXV.

GLORY OF JAINISM

Shri CHIMANLAL J. SHAH, M.A.

Of all Indological studies, Jainism has been particularly unfortunate in that the little that is done for it stands in vivid contrast with the vast undone.

We shall not attempt to relate here, neither shall we venture to sketch in outline, the mighty developments of the dogmas, the institutions and the doctrines of this great religion. Ours will be an attempt to follow the fortunes of a people, stout and sturdy, great and glorious, both in making a history for themselves and for their religion, and to estimate, in however tentative and fragmentary a fashion, the intrinsic worth of their contribution, particularly to the rich and fruitful cultural stream of India.

"The history of ancient India," says a modern historian, "is a history of thirty centuries of human culture and progress. It divides itself into several distinct periods, each of which, for a length of several centuries, will compare with the entire history of many a modern people."[1] In these "thirty centuries of human culture and progress", the Jaina contribution is a solid synthesis of many-sided developments in art, architecture, religion, morals and the sciences; but the most important achievement of the Jaina thought is its ideal of *Ahiṁsā*—non-violence—towards which, as the Jainas believe, the present world is slowly, though imperceptibly, moving. It was regarded as the goal of all the highest practical and theoretical activities, and it indicated the point of unity amidst all the diversities which the complex growth inhabited by different peoples produced.

It is really difficult, nay impossible, to fix a particular date for the origin of Jainism. To the Jainas, Jainism has been revealed again and again in every one of these endless succeeding periods of the world by innumerable Tīrthaṅkaras. Of the present age the first Tīrthaṅkara was Ṛṣabha and the last two were Pārśva and Mahāvīra. Nevertheless, modern research has brought us at least to that stage, wherein we can boldly proclaim all these worn-out theories about Jainism being a latter offshoot of Buddhism or Brahmanism as gross ignorance or, to repeat, as erroneous misstatements. On the other hand, we have progressed a step further, and it would be now considered a historical fallacy to say that Jainism originated with Mahāvīra. This is because it is now a recognized fact that Pārśva, the twenty-third Tīrthaṅkara of the Jainas, is a historical person, and Mahāvīra like any other Jaina enjoyed no better position than that of a reformer in the galaxy of the Tīrthaṅkaras of the Jainas.

---

[1] Dutt, *Ancient India*, p. 1.

Coming to the reformed Jaina Church of Mahāvīra or Jainism as such, it spread slowly among the poor and the lowly, for it was then a strong protest against caste privileges. It was a religion of equality of man. Mahāvīra's righteous soul rebelled against the unrighteous distinction between man and man, and his benevolent heart hankered after a means to help the humble, the oppressed and the lowly. The Brāhmaṇa and the Śūdra, the high and the low, were the same in his eyes. All could equally effect their salvation by a holy life, and he invited all persons to embrace his catholic religion of love. It spread slowly—as Christianity spread in Europe in the early days—until Śreṇika, Kūṇika, Candragupta, Samprati, Khāravela, and others embraced Jainism during the first few glorious centuries of Hindu rule in India.

If by atheism we understand the belief that there is no eternal supreme God, creator and Lord of all things, Jainism is atheistic. The Jainas flatly deny such a supreme God, but they believe in the eternity of existence, universality of life, immutability of the Law of *Karma,* and supreme intelligence as the means of self-liberation.

The other characteristic feature of Jainism is the doctrine of *syādvāda* or *anekāntavāda.* This unique feature of Jaina philosophy has been considered as the outstanding contribution of the Jainas to Indian logic. "The doctrine of *Nayas* or standpoints is a peculiar feature of the Jaina logic."[2] It is common with all religions to insist upon and provide for perfect knowledge. Every religion tries to teach man to go beyond the phenomenon. Jainism does the same, and with this difference, that it does not recognise the real from a restricted point of view. No better example of the clarity, subtlety and profundity of the Jaina intellect could be given.

Regarding the literary contribution of the Jainas, it would take a fairly big volume to give a history of all that they have contributed to the treasures of Indian literature. They have developed at all times a

---

2. Radhakrishnan, *Indian Philosophy,* I, p. 298.

rich literary activity. They have contributed their full share to the religious, ethical, poetical and scientific literature of ancient India. All the species are respected in it, not only those which have an immediate bearing on the canonical writings—that is to say, the dogmatic, the moral, the polemic and the apologetic—but also history and legend, epic and romance and lastly the sciences, such as astronomy and above all sciences like astrology and divination.

In the realm of art, the elaborately carved friezes in the cave temples and dwellings on the Udayagiri and Khaṇḍagiri Hills, the richly decorated *Āyāgapaṭas* and *Toraṇas* of the Mathurā find, the beautiful free-standing pillars on the mountain masses of Girnār and Śatruñjaya, the admirable architecture of the Jaina temples of Mount Abu and elsewhere, and the pictorial remains evolved under the austere influence of Jainism are sufficient to evoke the interest of any student of Indian history. They combine in them the Triune Entity of Indian art—a sublime union of the purely decorative, the realistic and the purely spiritual. In the words of Dr. Guerinot, "The Hindi art owes to them a great number of its most remarkable monuments. In the domain of architecture, they have reached a degree of perfection which leaves them without a rival."[3]

In conclusion, if *Ahiṁsā* may be generalised as the fundamental ethical virtue of Jainism, *Syādvāda* may be described as the central and unique feature of Jaina metaphysics, and the explicit denial of the possibility of a perfect being from all eternity with the message of "Man! thou art thine own friend", as the centre round which circles the Jaina ritual. All this combined with the ideal of *Ahiṁsā* teaches:

He prayeth well, who loveth well
Both man and bird and beast
He prayeth best who loveth best
All things both great and small
Coleridge

and that is why a Jaina always says:

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

"I forgive all souls; let all souls forgive me. I am on friendly terms with all; I have no enmity with anybody."

---

[3] Guerinot, *La Religion Djaina*, p. 279.

JAYĀ-GROUP OF GODDESSES

DR. UMAKANT PREMANAND SHAH, M.A., Ph.D.

Jayā, Vijayā, Ajitā or Jayantā and Aparājitā seem to form a group of goddesses, since in the Jaina literature they are usually assigned similar functions and are often invoked together. Sometimes four more goddesses, much less popular, are also included in this group; these latter ones are Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī. The first four are also included amongst Pratīhāras or door-keepers. It is necessary to treat them in their other aspects also.

According to the *Nirvāṇakalikā*,[1] Jayā is the superintending deity of the gate in the eastern quarter and is worshipped along with Vijayā, Ajitā and Aparājitā amongst the dvārapālas (door-keepers) of the first prākāra (circle in a circular diagram and of any other shape in other yantras) in the diagram of Nandyāvarta drawn and worshipped in the pratiṣṭhāvidhi. According to this text, the iconography of these four goddesses is as under :—

Jayā :— White in complexion, and guarding the eastern quarters, she shows the *abhaya*, the pāśa, the goad and the *mudgara* (mace) in her four hands.

Vijayā :— Red in appearance, and door-keeper of the southern-quarter, she carries the same symbols as Jayā.

Ajitā :— Same symbols as above. Ajitā is golden, and is assigned the western gate.

Aparājitā:—Black in appearance and guarding the northern-quarter, Ajitā shows the same symbols as are carried by the other three goddesses.

It may be noted that Hemacandra speaks of them as door-keepers of the second rampart in the Samavasaraṇa and gives them the same symbols and complexion.[2]

The *Ācāradinakara* does not give the iconography of any of these goddesses discussed here, but merely refers to Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā in the Dhvajapratiṣṭhāvidhi.[3]

Jayā and Vijayā are said to hold the cāmaras (fly-whisks) on two sides of Pārśvanātha in the Mantrādhirāja-Yantra, according to Sāgaracandra,[4] and in the yantra on the last verse of the *Bhayaharastotra.*[5] According to Sāgaracandra, Jayā is white, four-armed and shows the chowrie, the rosary, the *varada mudrā* and the fruit (*bījapūraka* = citron). Putting on white garments, she rides on the elephant.[6]

---

[1] *Nirvāṇakalikā*, p. 20.

[2] *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita* (GOS), Vol. I, p. 192.

[3] *Ācāradinakara*, pp. 203 ff.

Jayā is also worshipped in the third sthāna,[7] called Vijjāpada (Vidyāpada) in the Sūrividyā-diagram, along with Vijayā, Jayantī, Nandā and Bhadrā, as attendants of Śrī.[8]

Jayā, Vijayā, Jayantī and Aparājitā are called Upavidyās of the Bāhubali Mahāvidyā in the *Sūrimantra-Durgapadavivaraṇa.* They are worshipped in the second pīṭha of the Sūrimantra, which contains the Bāhubalividyās used for Nimittakathana. Works on Sūrimantra refer to mantras which they assign to Jayādividyās (i.e. Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā).[9]

In the diagram (maṇḍala) for the propitiation of Sarasvatī, in the tradition (āmnāya) of Bappabhaṭṭi Sūri, Nandā, Mohā, Jayā, Vijayā, Aparājitā, Jambhā and Stambhā are invoked and worshipped.[10]

Thus these goddesses are included as the parivāradevatās of both Śrī and Sarasvatī.

Jayā, Vijayā, Ajitā (same as Jayantā or Jayantī of other texts) and Aparājitā are invoked by Mānadeva Sūri in his Laghuśāntistava and the Śāntimantra given therein.[11] They are supposed to bestow peace and

---

4. *Mantrādhirājakalpa,* in the *Mantrādhirājacintāmaṇi,* p. 232.
5. *Mantrādhirājacintāmaṇi,* p. 29.
6. *Ibid.* pp. 258, 265. For a mantra of Jayā and Vijayā see, *ibid.* p. 264.
7. Sthāna here conveys a meaning similar to that of prākāra noted above. Pada in the expression Vijjāpada also means the same.
8. *Sūrividyā-stotra, Bhairava-Padmāvatī-Kalpa,* app. 29, p. 112.

पउमद्दहपउमनिलया चउसट्ठिसुराहिंवाण महमहनी ।
सव्वङ्गभुसणधरा पणमंती गोयममुणिन्दं ॥ ४
विजया-जया-जयन्ती-नन्दा-भद्दासमन्निया तइए ।
विज्जापए निविट्ठा सिरिसिरिदेवी सुहं देउ ॥ ५ ॥

द्वितीयपीठे–ॐ नमो भगवओ इत्यादि विज्जा-यावत् अक्षर ३३ एषा बाहुबलीविद्या स्वप्नार्थम् । ततो वग्गु वग्गु महुमहुरे यावद् वर्णाः २२ सौभाग्यविद्या । ततो हिलि हिलि इत्यादि आयरियकालि यावद् वर्णाः ३० जयादि विद्याः। अस्य पीठस्य अधिष्ठात्री मानुषोत्तरशिखरवासिनी सहस्रभुजा त्रिभुवनस्वामिनी ।

9. *Sūrimantramukhyakalpa* in *Sūrimantra-kalpa-sandoha,* p. 14. Also see *Sūrimantra-Durgapada-Vivaraṇa,* in *ibid.,* pp. 45 ff.
10. *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa* app. 11, pp. 61 ff.
11. *Ibid.,* app. 31, pp. 131 ff.

prosperity. These four are also worshipped in the Cintāmaṇi or Pārśvacintāmaṇi-yantra described by Dharmaghoṣa Sūri.[12]

Jayā, Ajitā, Aparājitā, Jambhā, Mohā and Vijayā are also invoked in the yantra according to the Vṛddhasampradāya on the Upasargaharastotra, verse 2,[13] and also in the Cintāmaṇi Cakra on the same verse.[14]

Jayā, Vijayā, Jayantā, Aparājitā and Anāhitā are famous in the Vardhamāna-Vidyā.[15] Elsewhere the present writer has suggested that Anāhitā probably signifies some form of *Anaitis* or Anihatā.[16] Jayā Vijayā and Ajitā are included in the list of mahādevīs in the famous *Ṛṣimaṇḍalastotra.*[17]

Vijayā and Jambhinī are also referred to as Vidyās in the *Paumacariyam.*[18]

In the Digambara tradition, the *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa* calls Jayā, Vijayā, Ajitā and Aparājitā as Dig-devīs (goddesses of quarters) while Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are said to be Vidig-devīs (goddesses of intermediate points).[19] The text prescribes their worship for Vaśya-rites.

According to the *Pratiṣṭhāsāroddhāra* of *Āśādhara, Jayā, Vijayā,* Aparājitā, Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are to be worshipped in the bahirmaṇḍalapūjā.[20] They are invoked for obtaining Śānti (peace) and bliss.[21] But the author does not give their symbols.

Nemicandra in his *Pratiṣṭhātilaka* calls them Sādhu-devis.[22] They are said to protect the Jaina Faith and give victory over rival faiths and enemies.

It will be seen that in both the Śvetāmbara and the Digambara traditions, the four goddesses are invoked for Śānti; Vijayā later on came to be worshipped as Śāntidevatā. The various texts on Sūrimantra and the Vardhamānavidyā further show that they were regarded as giving victory. But their special inclusion in the Vardhamānavidyā is significant. The Vidyā is used with certain changes as mantras by different types of Jaina monks, especially the Upādhyāyas and Vācakas. We have no means to ascertain that the worship of these deities was introduced in Jainism by Vardhamāna Mahāvīra or his immediate successors. It is, however, quite reasonable to suppose that the Vardhamānavidyā and the Sūrimantra existed in the age of Vajrasvāmī in the first or second century A.D. and both the Jaina Tantric practices should probably date from (at least) a century or two before Christ. Their association with Śri, Sarasvatī and Anaitis or Anāhita suggests that they may be ancient goddesses, and probably evolved from them.

---

[12] *Mantrādhirāja-Cintāmaṇi*, pp. 30 ff., 7 ff.

[13] *Jaina-Stotra-Sandoha*, Śrī Cintāmaṇikalpa, pp. 6-7.

[14] *Ibid.*, p. 9.

[15] Two Vardhamānavidyā-kalpas of Śrī Siṁhatilakasūri, published in *Sūrimantrakalpasandoha*, pp. 1-22.

Shah, U. P., *Foreign Elements in Jaina Literature*, IHQ. Sept. 1953.

[17] *Mahāprabhāvika-Navasmaraṇa*, p. 516.

[13] *Paumacariyam*, 7.141, 144.

[19] *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa*, p. 19, verses 1-4; Pp. pp. 12-13, verses 17-18.

[20] *Pratiṣṭhā-Sāroddhāra*, pp. 79-81.

[21] *Ibid.*, p. 81, verses 225-26.

[22] *Pratiṣṭhātilaka*, pp. 179-80, also cf. p. 215, verse 8.

With the growth of the later yakṣiṇīs and the popularity of Ambikā, Padmāvatī and Cakreśvarī, their worship seems to have receded into background and practically disappeared.

It is also certain, on account of their associations with the above mentioned goddesses, as also with Nandā and Bhadrā, that they are not exclusively Jaina, and their origins should be traced into some other deities commonly worshipped in ancient times, before the Christian era.

Eight Dik-Kumārīs, living on the Eastern Rucaka mountains coming to perform the birth ceremonies of a Jina, are called Nandā, Nandottarā, Ānandā, Nandivarddhanā, Vijayā, Vaijayantī, Jayantī and Aparājitā.[23] It should be remembered that the lists of fifty-six Dik-Kumārīs include names of such ancient goddesses as Ilā-devī, Pṛthivī, Ekanāsā (corruption of Ekānaṁsā (?), Bhadrā, Śrī, etc. It is, therefore, probable that Nandā, Bhadrā etc., and Jayā, Vijayā etc., shown as attendants of Śrī, the Adhiṣṭhātṛ-devī of the third pāṭha of the Sūrimantra, were ancient goddesses and that they were incorporated in Jainism at a very early date.

That the Jayā, Vijayā, Jayantī and Aparājitā are treated as door-keepers in the Śvetāmbara tradition is significant though only indirectly. Vijayā, Vaijayantī, Jayantā and Aparājitā are four well known door-keepers of the Jagatī of the Jambudvīpa according to Jaina canon like the Jambudvīpaprajñapti.[24] Their female counterparts seem to have been evolved as door-keepers in a Samavasaraṇa. Male deities of those names were installed in a fortified town in centre, according to a well known passage from Kauṭilya's Arthaśāstra,[25] which fact shows that Vijaya, Vaijayanta, Jayanta and Aparājita are old deities.

---

[23] *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita*, I (GOS), p. 106. Lists of Dik-Kumārīs are available in Jaina Canonical Works, in the Vasūdevahiṇḍi, in the Aṅgavijjā, and in Śvetāmbara and Digambara works on Cosmography.

[24] *Jambudvīpa-prajñapi*, sū. 7 ff., pp. 45 ff.

[25] Banerji, J. N., Development of Hindu Iconography, pp. 94 ff.

A RARE SCULPTURE OF MALLINATH

DR. UMAKANT PREMANAND SHAH, M.A., Ph.D.

The Provincial Museum, Lucknow preserves a unique Jaina sculpture (size 1′-4″ x 1′-7½″) of black stone. It is a headless statue (No. J. 885) of a Tīrthaṅkara sitting in the *padmāsana,* dhyāna mudrā, (see plate attached). The central part of the seat probably contained a small representation of the cognizance of the Tīrthaṅkara, but the lāñchana is now defaced.

The open palm of the right hand placed in dhyāna mudrā shows a lotus-mark but there is no *Śrī-vatsa* mark on the chest. However, the developed breasts are so prominent that it is natural to regard this as a female figure. The nineteenth Tīrthaṅkara Mallinātha was a princess according to Śvetāmbara Jaina traditions represented in the *Nāyādhammakahāo* and other texts like the Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita of Hemacandra. The Digambara sect does not advocate belief in the liberation (mukti or nirvāṇa) of women. Hence, according to the Digambaras, Mallinātha was a Prince and not a Princess.

According to Śvetāmbara Jaina tradition, all other Tīrhaṅkaras except Mallinātha were males. Hence we must identify this sculpture as representing the nineteenth Tīrthaṅkara Mallinātha according to the Śvetāmbara traditions.

Almost all the other known sculptures of Mallinātha in Śvetāmbara temples represent the Jina without developed breasts and hence looking like a male. Thus this is a unique sculpture faithfully following the Śvetāmbara Jaina traditions.

The usual cognizance of Mallinātha is the water-jar. The central part of the seat of the Jina shows a very defaced figure of the water-jar (not clearly visible in the photograph). The identification of the Jina is unmistakable. The sculpture is assignable to early mediaeval period.[1]

---

[1] I am thankful to the Curator, Provincial Museum, Lucknow for a photograph of this sculpture.

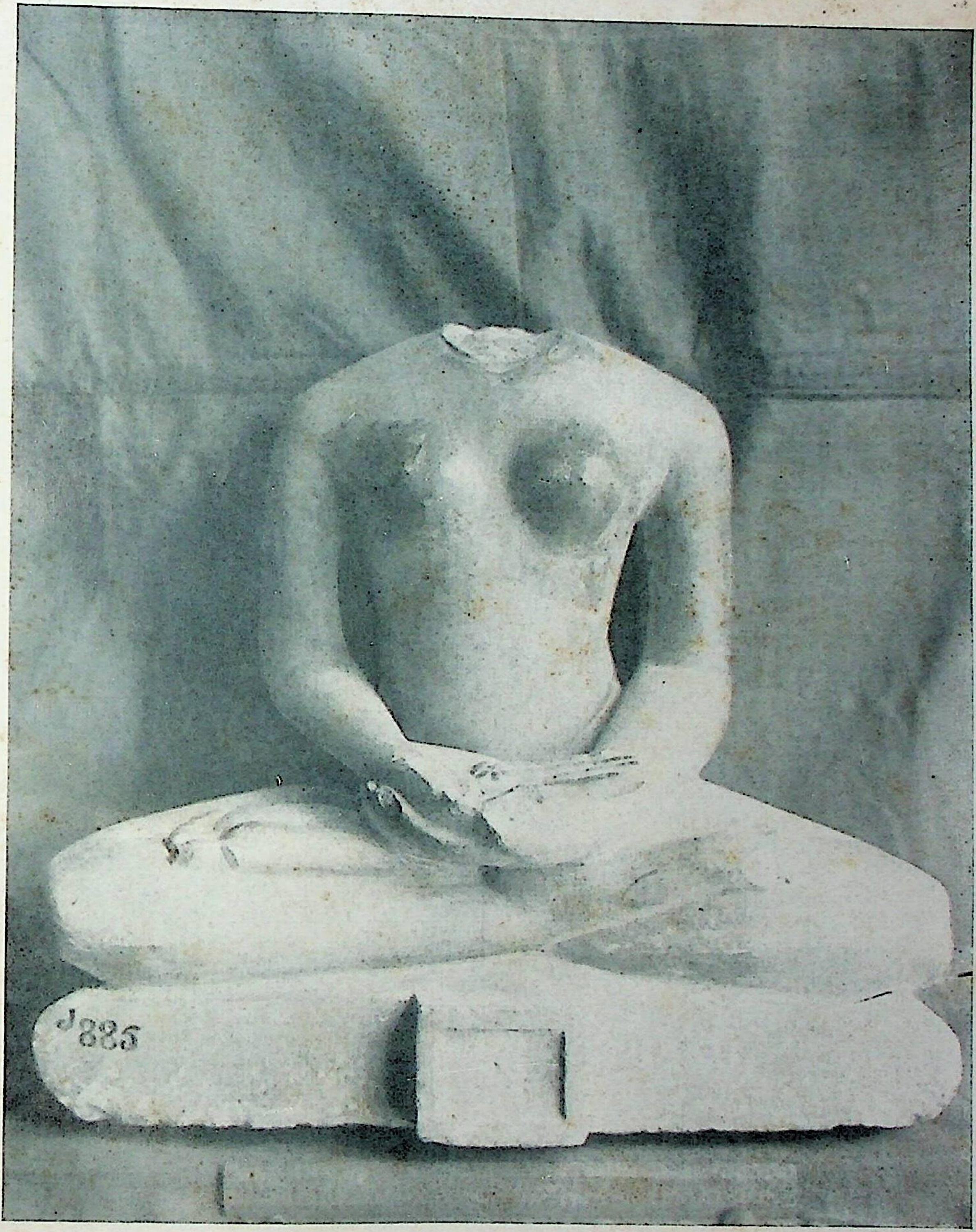

भगवान मल्लिनाथनी अप्रतिम शिल्पप्रतिमा
A unique sculpture of Mallināth in the Provincial Museum, Lucknow

लखनौ प्रॉविन्शियल म्युझियमना सौजन्यथी]

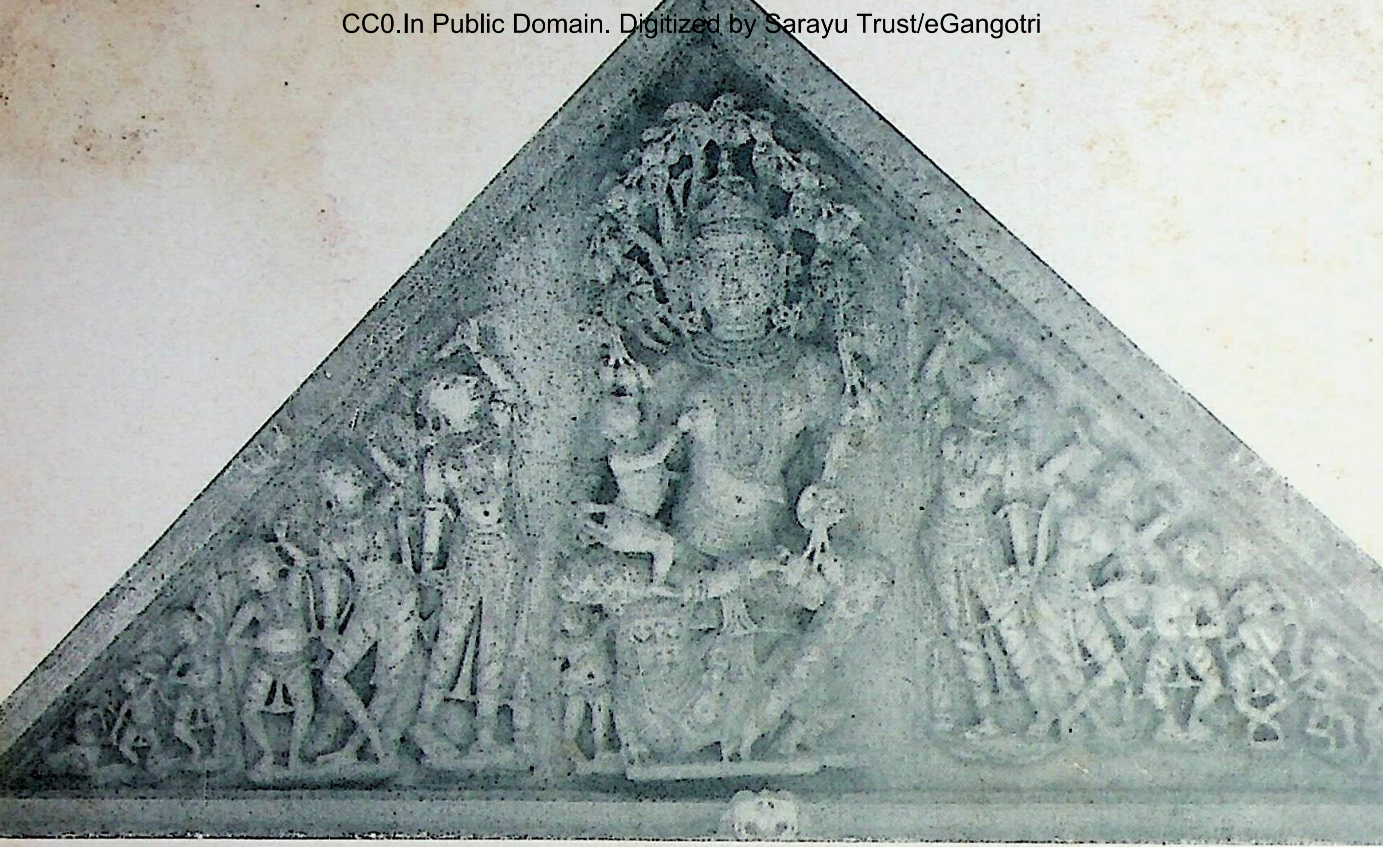

अम्बिका देवी, विमल-वसहीमांना रंगमंडपनी एक छतनी कीतरणी, देलवाडा, (बारमी सदी)
Ambikā Devī in ceiling corner of the Rangamaṇḍapa, Vimala-Vasahī, (Ābu), 12th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]

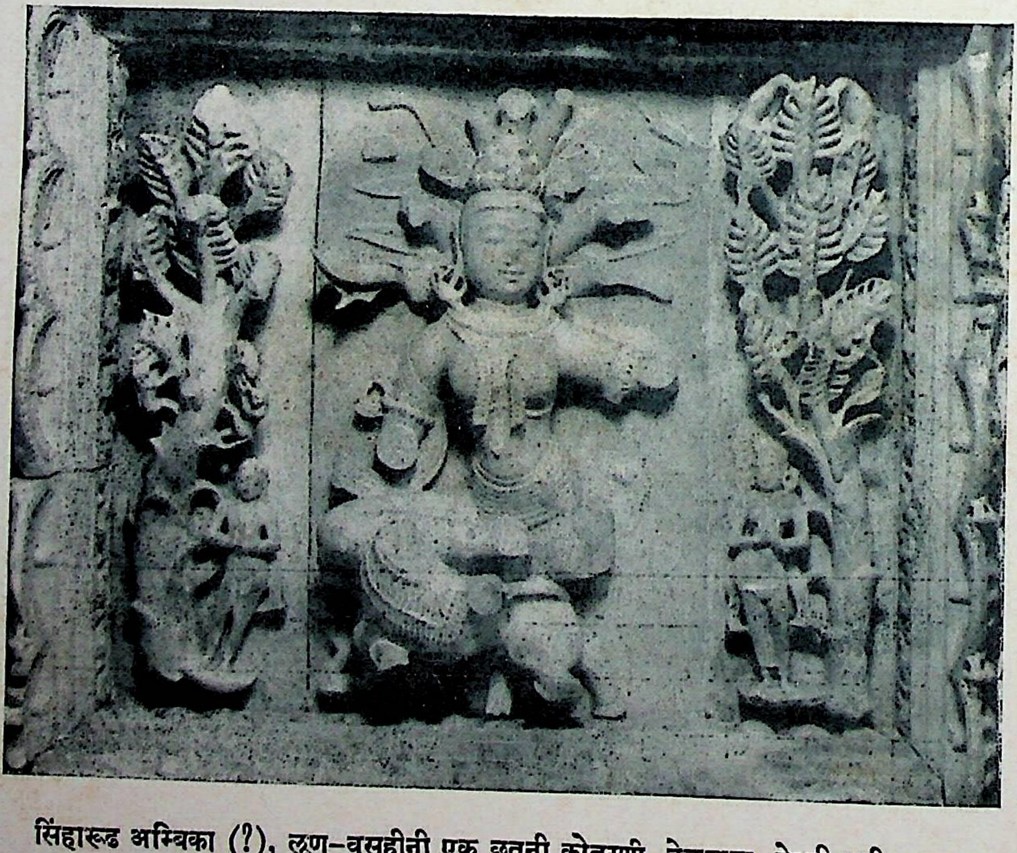

सिंहारूढ अम्बिका (?), लूण–वसहीनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा, तेरमी सदी
Ambikā (?) on Lion in the ceiling of Lūṇa-Vasahī, (Ābu), 13th Century

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nana, Varanasi

ĀCĀRYA HARIBHADRA'S COMPARATIVE STUDIES IN YOGA

Dr. N. M. Tatia, M.A., D. Litt.

Ācārya Haribhadra is a Jaina author of the 8th Century A.D. He is said to have composed fourteen hundred works, some of which are still available. It can be said that he is one of those ancient authors who had unique mastery of all the branches of Indian philosophy and religion and at the same time were masters of clear and lucid style. A student of comparative philosophy is struck with wonder and surprise to find in his works a correct estimate and a fair criticism of the rival systems of thought and a critical search for the unity underlying them. In this paper I have made an attempt to summarize the contents of his works on *yoga* and show the comprehensiveness of his vision and the depth of his insight.

Haribhadra made a very valuable contribution to the comparative study of *yoga*. He composed a number of works on the subject. His *Yogabindu* and *Yogadṛṣṭisamuccaya* are very valuable works. The *Yogaviṁśikā* and the *Ṣoḍaśakas* also deserve notice. Upādhyāya Yaśovijaya revived the studies of Haribhadra. We shall therefore advert to his works as well for the sake of a better understanding of Haribhadra's works. We shall begin with the *Yogaviṁśikā* and the *Ṣoḍaśakas*, and then come to the *Yogabindu* and the *Yogadṛṣṭisamuccaya*. We shall refer, where necessary, to the other works of Haribhadra as well.

All spiritual and religious activities that lead towards final emancipation are considered by Haribhadra as *yoga*. But special importance should be attached, he says in his *Yogaviṁśikā*, to these five kinds of activities:

(1) practice of proper posture (*sthāna*),
(2) correct utterance of sound (*ūrṇa*),
(3) proper understanding of the meaning (*artha*),
(4) concentration of the image (*ālambana*) of a *Tīrthaṅkara* in his full glory and perfection, and
(5) concentration on his abstract attributes (*anālambana*).

Of these five, the first two constitute the external spiritual activity (*karmayoga*) and the rest the inward spiritual urge (*jñānayoga*).[1]

---

[1] *YV*, 1-2; *ṢP*, XIII.4; for *sālambana* and *nirālambana yoga* see *ṢP*, XIV.I.

These activities can be properly practised only by those individuals who have attained to the fifth or a still higher stage of spiritual development (*guṇasthāna*).[2] One reaches the consummation of these activities in the following order. At the outset one develops an interest in these activities, and comes to have a will (*icchā*) for practising them. Then he takes an active part in them, and begins actual practice (*pravṛtti*). Gradually he becomes steadfast in them and achieves stability (*sthairya*). Finally he gains mastery (*siddhi*) over the activities.[3] Each of the five activities is mastered in this order. First of all one is to master the posture (*sthāna*), then correct utterance (*ūrṇa*), then the meaning (*artha*). After that one should practise concentration upon an image (*ālambana*), and finally one should attempt at mastery over the concentration upon the abstract attributes of an emancipated soul. This is a full course of yogic practice. One may practise these spiritual activities either out of fancy (*prīti*), or reverence (*bhakti*), or as an obligatory duty prescribed by scriptures (*āgama* or *vacana*), or without any consideration (*asaṅga*).[4] When a spiritual activity is done out of fancy or reverence it leads to worldly and other worldly prosperity (*abhyudaya*). And when it is done as a duty or without any consideration whatsoever it leads to final emancipation.[5] Of the five-fold activities mentioned above, the last two, *viz.*, concentration of the mind upon the image of a *tīrthaṅkara*, or upon the abstract attributes of him are the most important. We shall therefore deal with them in some detail.

When one has practised posture (*sthāna*), correct utterance (*ūrṇa*), and the correct understanding of the meaning, one is qualified for concentration (*dhyāna*). The beginner is to practise concentration on an image of a *tīrthaṅkara* in his full glory and splendour. When one has perfected this practice and has achieved steadfastness, one begins the practice of concentration on the abstract attributes of a *tīrthaṅkara*. This concentration is known as *anālambana* inasmuch as its object is not a concrete entity perceptible by a sense-organ.[6] The soul at this stage concentrates upon the abstract attributes which are not the objects of sensuous perception. By this time the soul has reached the seventh stage of spiritual development (*guṇasthāna*). The concentration is, however, only in its primary stage even in the seventh *guṇasthāna*. The soul develops an irresistible urge for the realization of the transcendental self and reaches the eighth stage of spiritual development on the ladder of annihilation (*kṣapakaśreṇi*).[7] The concentration becomes more steadfast at this stage. The soul has now achieved full detachment from the world, and earnestly proceeds onward to the realization of the truth. It now does not rest until it has reached the consummation. The soul is then in the ninth *guṇasthāna* and is pressing forward to the twelfth on the ladder of annihilation. It has now revealed its full capacity (*sāmarthyayoga*)[8] for spiritual development and is bound to reach the twelfth stage and attain the knowledge of the transcendental self. In this state the soul attains concentration on the abstract attributes. Of course, it has not realized those attributes. But it has an ardent spiritual urge for the realization of them. This is *anālambana yoga.*[9] The soul is detached from the world and is on the verge of realizing the self. It has not yet realized the self, but is only striving for it. And so it is not concentrated on any object whatsoever at this stage. This is the reason why the concentration is without any object.[10] The soul is here compared with an archer, the ladder of annihilation with the bow, the realization of the self with the target and the concentration with the arrow. The *anālambana yoga* lasts until the arrow is shot. The arrow is sure to pierce the target. The soul immediately attains realization of the self as the consummation of the concentration.[11] The soul, as we have stated, concentrates upon the abstract formless (*arūpin*) attributes of the transcendental self in the *anālambana dhyāna*. The distinction therefore between the *sālambana* and the *anālambana yoga* is this that in the former one concentrates upon an object having from (*rūpin*) while in the latter on a formless object

---

[2] *Vide* author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp. 268-80 for the conception of fourteen *guṇasthānas*.

[3] *YV*, 4.

[4] *YV*, 18; *ṢP*, X.I.

[5] *ṢP*, X.9.

[6] The word *anālambana* does not mean 'devoid of any *ālambana* (object)' but only 'devoid of a concrete *ālambana*'. The prefix *a(n)* here means 'abstract' or 'subtle' (*sūkṣma*). *Cf.* sūkṣmo 'tīndriyaviṣayatvād anālambano nāma yogaḥ—Yaśovijaya's Ṭīkā on *YV*, 19; also cf. *ṢP*, XIV.1.

---

[7] For the conception of *kṣapakaśreṇi*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, p. 275.

[8] It is a technical term for the meaning whereof *vide infra*, p. 137.

[9] Cf. sāmarthyayogato yā tatra didṛkṣe 'ty asaṅgaśaktyāḍhyā
sā 'nālambana-yogaḥ proktas taddarśanaṁ yāvat.—*ṢP*, XV.8.

[10] Cf. tatrāpratiṣṭhito 'yaṁ yataḥ pravṛttaś ca tattvatas tatra
..........tenā 'nālambano gītaḥ.—*ṢP*, XV.9.

[11] Cf. drāg asmāt taddarśanam iṣupāta-jñāta-mātrato jñeyam
etac ca kevalaṁ taj jñānaṁ yat tat paraṁ jyotiḥ—ṢP, XV. 10.

(*arūpin*).[12] Yaśovijaya, following Haribhadra, says that this *anālambana yoga* resembles the *samprajñāta samādhi* of another (that is, Patañjali's) system.[13] The consummation of this *anālambana* concentration is omniscience which, according to Yaśovijaya, resembles the state of *asamprajñata samādhi* of Patañjali's system. There is no activity of the mind and the sense-organs when omniscience is achieved, and so there is annihilation of all the transformations of the mind (*aśeṣavṛttinirodha*). And so it is not improper to compare the state of omniscience with the *asamprajñāta samādhi* of the *Sāṅkhya-Yoga*.[14] There is, however, another higher stage of this *samādhi*. The soul attains that stage in the fourteen *guṇasthāna*[15] where, all activities, gross and subtle, are totally stopped. The soul is now devoid of all vibrations caused by its association with matter. It has now annihilated all the residual *karmans* and immediately attains final emancipation. This stage of concentration, says Yaśovijaya, resembles the *dharmamegha* of Patañjali's system, to *amṛtātman* of yet another system, to *bhavaśatru* of a third system, to *śivodaya* of yet another, to *sattvānanda* of yet others, and to *para* of a still another school.[16]

The above study is mainly based on the *Yogaviṁśikā*. Now we come to the *Ṣoḍaśakas*. There are some primary defects of the mind which are to be removed before practising the yogic processes. The minds of the uninitiated (*pṛthagjanacitta*) are vitiated by these defects. Haribhadra enumerates them as eight *viz.* inertia (*kheda*), anxiety (*udvega*), unsteadiness (*kṣepa*), distraction (*utthāna*), lapse of memory (*bhrānti*), attraction for something else (*anyamud*), mental disturbance (*ruk*), and attachment (*āsaṅga*).[17] The mind of a yogin should always be free from these defects. It should be calm and quiet (*śānta*), noble and great (*udātta*). It should be free from all impurities and intent on the well-being of others (*parārthaniyata*).[18] Such minds are capable of concentration of the highest

---

12. Cf. rūpi-dravyaviṣayaṁ dhyānaṁ sālambanam arūpiviṣayaṁ ca nirālambanam iti—Yaśovijaya's Tīkā on YV, 19.
13. eṣa eva samprajñātaḥ samādhis tīrthāntarīyair gīyate—*Ibid*. *YV*, 20.
14. Cf. kevalajñāne śeṣavṛttyādi-nirodhāl labdhātma-svabhāvasya mānasavijñānavaikalyād asamprajñātatvasiddhiḥ—*Ibid*.
15. ayaṁ cā 'samprajñāta-samādhir dvidhā—sayogikevalibhāvī ayogikevalibhāvī ca. ādyo manovṛttīnāṁ vikalpajñānarūpāṇām atyantocchedāt sampadyate, antyaś ca parispandarūpāṇām—*Ibid*.
16. ayaṁ ca dharmamegha iti Pātañjalair gīyate, amṛtātme 'tyanyaiḥ, bhavaśatrur ityaparaiḥ, śivodaya ityanyaiḥ, sattvānanda ityekaiḥ, paraś ce 'tyaparaiḥ—*Ibid*. See *YBi*, 422.
17. *ṢP*, XIV. 2-3.
18. *ṢP*, XIV. 1-2.

order, and are known as *pravṛttacakra*[19] (engaged in yogic practices day and night). Gradually by practising the concentration of mind the soul realizes itself. This self-realization is known as 'supreme bliss' (*paramānanda*) and freedom from nescience in the Vedānta; it is known as freedom from the specific qualities (in the *Nyāya-Vaiśeṣika* system); it is the extinguished lamp (*vidhmātadīpa*) of the Buddhists; it is extinction of animality (*paśutvavigama*), end of suffering (*duḥkhānta*), and detachment from the elements (*bhūtavigama*).[20] Haribhadra thus tries to show the unanimity of the conceptions of final self-realization of all the systems of thought. He then asks the enquirers to keep their minds open and investigate the truth with perfect detachment and freedom from prejudices. For this purpose he enumerates eight virtues which are necessary for the pursuit of truth. They are : freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*śuśrūṣā*), attentive hearing (*śravaṇa*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāṁsā*), clear conviction (*pariśuddhā pratipatti*), and earnest practice (*pravṛtti*) for self-realization.[21]

Now we come to the *Yogabindu.* The object and purpose of *yoga* is the realization of truth. And as there is no controversy about this object and purpose of *yoga* there should be none regarding the nature of *yoga* as well.[22] The worldly existence is a fact accepted by all. And freedom from it is the *summum bonum* of every spiritual system. The problem before us is only the means to that end. Haribhadra says that the same principle is expressed by different terms in different systems. Thus the selfsame principle of consciousness is known as *puruṣa* in the *Vedānta* as well as the Jaina system, as *kṣetravit* in the Sāṅkhya system, as *jñāna* in the Buddhist school. Similarly the fundamental ground of worldly existence is known as *avidyā* in the Vedānta and the Buddhist system, *prakṛti* in the Sāṅkhya school, and *karman* in the Jaina system. Moreover, the relation between matter and spirit is known as *bhrānti* in the Vedānta and the Buddhist system, *pravṛtti* in the Sāṅkhya school, and *bandha* in the Jaina system.[23] There is thus fundamental unity among all the apparently conflicting systems of thought. There ought to be no real controversy among them about the fundamental things. Truth is truth. It is our different ways of looking at it that are responsible for the building up of different systems. Haribhadra does not favour cheap and superfluous compromise, but only tries to show the fundamental unity of all thought. Every earnest student of philosophy has his own way of looking at the truth. And the result is the origination of different systems. Haribhadra asks us to see unity in difference. For a spiritual aspirant it is necessary to avoid conflict and strive for a comprehensive understanding. About the course of self-realization there is absolutely no controversy among the otherwise mutually conflicting systems. Haribhadra lays down these five steps as a complete course of yoga : *adhyātma* or contemplation of truth accompanied by moral conduct, *bhāvanā* or repeated practice in the contemplation accompanied by the steadfastness of the mind, *dhyāna* or concentration of the mind, *samatā* or equanimity, and *vṛttisaṁkṣaya* or the annihilation of all the influences of *karman*.[24] But one is not capable of this *yoga* until and unless one has worked out the requisite purification of the self. The soul naturally moves towards emancipation. It is because of this inherent capacity that the soul comes face to face with the Gordian knot (*granthi*)[25] of passions and cuts it asunder. The worldly existence of a soul falls into two periods viz. dark (*kṛṣṇa*), and white (*śukla*). The soul in the period preceding the cutting of the knot is known as belonging to the dark period (*kṛṣṇapākṣika*), and it is known as belonging to the white period (*śuklapākṣika*), when it has cut asunder the knot. The length of the white period is very small in comparison with the length of the dark period.[26] Only a soul belonging to the white period and following the moral conduct is capable of the first stage called *adhyātma*.[27] From the viewpoint of the stages of spiritual development, only the souls in the fifth or some higher stage are capable of it. But the problem is why should a soul cross into the white period at all? Or, why should not all the souls do so? Haribhadra says that it is all due to the inherent nature of things.[28] He also refers to

---

[19] For the technical meaning of the term see *YDS*, 210.

[20] *ṢP*, XVI. 1-4.

[21] *ṢP*, XVI. 14.

[22] *Cf.* mokṣahetur yato yogo bhidyate na tataḥ kvacit
sādhyābhedāt tathābhāve tū 'ktibhedo na kāraṇam.—*YBi*, 3.

[23] *YBi*, 17-18 with Svopajñavṛtti.

[24] *YBi*, 31.

[25] For the conception of *granthi*, *vide* author's *Studies in Jaina Philosophy*, p. 270.

[26] The length of the white period is only less than even one *pudgalaparāvarta* while the length of the dark period covers an infinite number of such *pudgalaparāvartas*. A *pudgalaparāvarta* is the time required by a soul to absorb as *karman* at least once all the atoms of the universe and release them after they have come to fruition.

[27] *YBi*, 72.

[28] *Cf*. *YBi*, 77.

the view of an exponent of the Sāṅkhya system, named Gopendra, who holds that the *puruṣa,* the principle of consciousness, does not even enquire about the path of realization unless and until the *prakṛti* has turned her face from him.[29] It is the nature of the spirit to get disentangled from matter. But this disentanglement is possible only when its conditions are fulfilled. However pious and virtuous and spiritually advanced one may appear to be, one is not capable of *yoga* unless one has cut the knot and attained the requisite purification of the soul. After such state has been achieved the soul is fit for the preliminary preparation (*pūrvasevā*) for *yoga.* This preliminary preparation consists in the worship of the preceptor and the gods, good conduct, austerity, and absence of hatred for the final emancipation.[30] The soul now attains right attitude and becomes a *bodhisattva.*[31] All the characteristics of a *bodhisattva* are present in such soul. Thus the soul henceforth does no more fall to the depth wherein heretofore it had been. A *bodhisattva* does not commit an evil act from the depth of his heart, but if he does so at all he does only physically. There is no more spiritual degeneration.[32] The soul which has cut the knot fulfils this characteristic. It now takes interest exclusively in the well-being of others, acquires wisdom, treads upon the right path, becomes noble, and appreciates merits.[33] It has now attained enlightenment (*bodhi*). But if the conception of a *bodhisattva* is narrowed down and made to include only those rare souls who are destined to redeem the world from sin and suffering, Haribhadra says that the Jaina conception of a *tīrthaṅkara* fulfils that ideal.[34] There are some souls who are naturally inclined towards universal well-being and are destined to be *tīrthaṅkaras* (founders of religion). Such souls are *bodhisattvas* in the true sense of the term.

In this connection, Haribhadra distinguishes three categories of souls destined to be emancipated. The first category comprises such souls who, as soon as they experience the first dawn of enlightenment on the annihilation of the knot, make determination to redeem the world of its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with

---

29. *Ibid.*, 100-101.
30. pūrvasevā tu tantrajñair gurudevādipūjanam
    sadācāras tapo muktyadveṣaś ce ha prakīrtitāḥ—*YBi*, 109.
31. *YBi*, 270.
32. *Cf. Ibid.*, 271.
33. *Cf. Ibid.*, 272.
34. *Ibid.*, 274.

the determination. These souls are destined to become *tīrthaṅkaras.*[35] The second category comprises those souls who are intent upon the well-being of only a limited circle of relatives by means of the enlightenment. These souls become *gaṇadharas* (literally the possessors of the *gaṇa* 'group' of virtues of transcendant intuition, knowledge, and the like), that is, the chief disciples of the *tīrthaṅkaras.*[36] The third category comprises those souls who strive for the well-being of themselves with little care for others. These souls are destined to become ordinary kevalins (*muṇḍakevalin*).[37]

Let us revert to the topic of preliminary preparation for *yoga.* After such preparation the soul becomes fit for the first stage of *yoga* called *adhyātma.* The soul now observes the five vows and meditates upon the truth. It now cultivates universal friendship, appreciates merits of others, develops sympathy for the suffering, and remains indifferent to the wicked. By these practices the soul overcomes the *karmans,* reveals its spiritual energy, improves its power of self-concentration, and becomes wise.[38] It then becomes fit for the second stage called *bhāvanā.* This stage is the consummation of the first. The soul now maintains steady progress. Its power of concentration increases. It now desists from bad habits and develops good ones.[39] The third stage is *dhyāna.*[40] Then we come to the fourth stage of equanimity (*samatā*). Here the soul makes correct estimate of the nature and value of things, and consequently loses attachment for them. The soul is now disillusioned and does not attach any importance to the supernormal powers that it might have acquired by means of the *yoga.*[41] Then it reaches the fifth stage called annihilation of the residual karmans (*vṛttisaṁkṣaya*). It now gradually destroys the accumulated *karmans* once for ever. On the annihilation of the obscuring *karmans,* the soul attains omniscience. Then in due time it attains final emancipation.[42] This is in brief the plan of the *Yogabindu.*[43]

Next we come to Haribhadra's famous work *Yogadṛṣṭisamuccaya.* The

---

35. *Ibid.*, 284-8.
36. *Ibid.*, 289.
37. *Ibid.*, 290.
38. *Ibid.*, 358-9.
39. *Ibid.*, 360-1.
40. For the conception of *dhyāna, vide* author's *Studies in Jaina Philosophy,* pp. 281-93.
41. *Ibid.*, 364-5.
42. *Ibid.*, 366-7.
43. Upādhyāva Yaśovijaya has followed this plan in his *Dvātriṁśikās* No. 12 to 18 as contained in the *Dvātriṁśad-dvātriṁśikā* published by Shri Jaina-Dharma Prasāraka Sabhā, Bhāvanagar.

author here distinguishes eight stages of yogic development. The work records quite a novel plan of classification of yogic stages. The most important feature of spiritual development is acquisition of *samyagdṛṣṭi* (love of truth). The soul undergoes gradual purification and along with the purification its *dṛṣṭi* (love of truth) becomes progressively steady and reaches consummation in the realization of the truth. This gradual development of the *dṛṣṭi* has been classified into eight stages, *viz.*, *mitrā, tārā, balā, dīprā, sthirā, kāntā, prabhā, and parā.* Before coming to the description of these *dṛṣṭis* we shall refer in brief to the threefold *yoga* with the description of which the *Yogadṛṣṭisamuccaya* opens.

A qualified yogic practitioner passes through a number of stages before he reaches the consummation of the practice. Sometimes even in spite of his knowledge and will he falters in his practice on account of spiritual inertia (*pramāda*). The faltering practice is called *icchāyoga.*[44] The practice of one who has revealed spiritual energy and does never falter in his yogic practices, strictly follows the scriptural injunctions, and has developed penetrating insight, is called *śāstrayoga.*[45] The practice of one who has fully mastered the scriptural injunctions and has developed the power to transcend them is called *sāmarthyayoga.*[46] This latter *yoga*, again, is of two kinds *viz.* (1) that which is accompanied by the dissociation of all the acquired virtues (*dharmasaṁnyāsa*), and (2) that which effects the stoppage of all activity (*yoga-saṁnyāsa*).[47] The first kind occurs at the time when the soul undergoes the process of *apūrva-karaṇa*[48] for the second time in the ninth stage of spiritual development while the second occurs in the last stage of spiritual development immediately after which the soul attains final emancipation.[49] These, *viz.*, *icchāyoga, śāstrayoga,* and *sāmarthyayoga*, are the three broad divisions of all the possible stages of *yoga*. The eight *dṛṣṭis* which we shall now describe are only the elaboration of these three.[50]

Dṛṣṭi means attitude towards truth. This attitude is wrong and perverse so long as the soul has not cut the knot and attained purification. The perverse attitude is known as *darśanamoha* or *mithyātva* or *avidyā.* The attitude of the soul which has not cut the knot is known as *oghadṛṣṭi* (literally commonplace attitude). The opposite of this is *yogadṛṣṭi* or the attitude of the spiritually advanced soul. It is also known as *saddṛṣṭi,* that is, right attitude. The *oghadṛṣṭi* is held to be responsible for the origination of the mutually conflicting systems of thought.[51] The eight *dṛṣṭis* that we have enumerated above are *yogadṛṣṭis* and not *oghadṛṣṭis.* Of course, of these eight the first four belong to those who have not cut the Gordian knot of passions. But even then they are not *oghadṛṣṭis* in view of the fact that they are destined to lead to the *yogadṛṣṭi.* It is only those souls who are destined to cut the knot and attain final emancipation that are capable of these *dṛṣṭis.* The eight *dṛṣṭis* have respectively been compared to the sparks of straw-fire (*tṛṇāgni*), cowdung fire, wood fire, the light of a lamp, the lustre of a gem, the light of a star, the light of the sun, and the light of the moon.[52] The first four *dṛṣṭis* are unsteady and fallible. The last four are steady and infallible.[53] The eight dṛṣṭis respectively correspond to the eight famous stages of *yoga, viz.*, vows (*yama*), self-control (*niyama*), posture (*āsana*), regulation of breath (*prāṇāyāma*), withdrawal of the senses (*pratyāhāra*), fixing of the mind (*dhāraṇā*), concentration (*dhyāna*), and *samādhi* (ecstasy) found in the system of Patañjali. They are respectively free from inertia (*kheda*), anxiety (*udvega*), unsteadiness (*kṣepa*), distraction (*utthāna*), lapse of memory (*bhrānti*), attraction for something else (*anyamud*), mental disturbance (*ruk*), and attachment (*āsaṅga*). They are respectively accompanied with freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*śuśrūṣā*), attentive hearing (*śravaṇa*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāṁsā*), clear conviction (*pariśuddhā pratipatti*), and earnest practice (*pravṛtti*).[54] This is about the general features of the *dṛṣṭis.* Now let us state in brief the specific characteristics of them one by one.

---

[44] *YDS*, 3.
[45] *Ibid.*, 4.
[46] *Ibid.*, 5.
[47] *Ibid.*, 9.
[48] For the conception of *apūrvakaraṇa* see author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp. 271-2.
[49] *Ibid.*, 10.
[50] *Ibid.*, 12.

In the first *dṛṣṭi* called *mitrā* the soul achieves very faint and indistinct enlightenment. It here accumulates the seeds of yoga (*yogabīja*) which eventually fructify into emancipation.[55] The soul is now attracted towards the founders of religion and worships them with reverence. It now earnestly and sincerely does the service of his preceptors and other sincere ascetics. The soul now develops fear for worldly existence. It now performs great and noble deeds. It develops sympathy for the suffering multitude. The soul is now free from the envy of the meritorious. It now gets good opportunities for spiritual development. The soul is now just in front of the knot (*granthi*) and is undergoing the process of *yathāpravṛttakaraṇa.*[56]

---

[51] *Ibid.*, 14 with Svopajñavṛtti........etannibandhano 'yaṁ darśanabheda iti yogācāryāḥ.

[52] *Ibid.*, 15.

[53] *Ibid.*, 19.

[54] *Ibid.*, 16 with Svopajñavṛtti. Haribhadra here refers to the concensus of opinions of a number of authors regarding the stages of *yoga*.

[55] *Ibid.*, 22.

Now we come to the second *dṛṣṭi* known as *tārā*. The enlightenment becomes a bit distinct here, and the soul is capable of some sort of self-restraint as well. It now attains some sort of steadiness in spiritual activity, and becomes inquisitive about truth. It now develops steady love for the discussions in *yoga* and has respect for the *yogins*. The soul is now not so much desperate and does not indulge in evil activities so frequently. It now aspires for spiritual progress and is conscious of its shortcomings. The soul is now earnestly anxious to get rid of the worldly existence.[57]

Next we come to the *dṛṣṭi* called *balā*. Here the enlightenment becomes more distinct. There is now strong desire for hearing the truth. The evil desire automatically disappears at this stage and the soul gains control over posture.[58]

In the fourth *dṛṣṭi* called *dīprā* one gets control over breath and is free from the lapse of *yoga*. One has now heard about the truth but has not developed the power of understanding its subtlety. The individual at this stage regards his religion dearer than his life and is always ready to give up his life in order to save his religion.[59]

Real spiritual progress however has not set in as yet. The truth has not dawned as yet. The soul is only trying to capture the image of the truth instead of the truth itself. The truth has not yet been realized. The above four *dṛṣṭis* thus are not attended with the knowledge of the truth (*avedyasaṁvedyapada*).[60] It is only the next four *dṛṣṭis* that are 'attended with the knowledge of the truth' (*vedyasaṁvedyapada*). The *avedyasaṁ*-

---

56. Ibid., 22-40. For the conception of *yathāpravṛttakaraṇa*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp. 269-271.
57. *Ibid.*, 41-48.
58. *Ibid.*, 49-50.
59. *Ibid.*, 57-8.
60. *Ibid.*, 67.

vedyapada is to be transcended by means of the companionship of the virtuous and the study of the scriptures.[61] One makes various conjectures about truth until one sees it face to face. This leads to a number of speculative systems based on fallacious logic (*kutarka*).[62] Haribhadra, in conformity with our ancient tradition asks us to realize the truth by means of all these three organs, *viz.*, the scripture, the logical argument, and the practice of *yoga*. One must utilize the store of knowledge inherited from one's ancestors, one's own logical understanding, and the vision gained by spiritual discipline and culture for the ascertainment of truth.[63] The truth is one. It cannot be many. There is only the difference of terminology.[64] The state of final realization is known as *sadāśiva* in one system, as *parabrahman* in another, as *siddhātman* in the third, and as *tathatā* in yet another system.[65] There can be no controversy when the truth has been realized.[66] If it is a fact that those who have revealed the truth have realized it, then there is no reason why there should be controversy among them. The various revelations therefore are to be understood in their relevant contexts. They can in no way be considered as false assertions. The enlightened souls have revealed the truth in accordance with the needs of the spiritual aspirants.[67] The selfsame revelation appears as different to different persons.[68] It is necessary to understand a revelation in its proper context. One should cultivate faith in spiritual revelations. This is most necessary for spiritual progress. This faith is wanting in all the four *dṛṣṭis* described above. It is only when the soul has properly cultivated this faith that it cuts the knot (*granthi*) and comes to possess the fifth *dṛṣṭi* known as *sthirā*.

The soul has now cut the knot. The enlightenment has now dawned. It is now infallible (*nitya*). The soul is now capable of subtle thinking and sinless conduct. It now looks upon the worldly things as the toys made of sand. The world now appears to be a worthless show.[69]

Next we come to the sixth *dṛṣṭi* known as *kāntā*. Here the individual

[61] *Ibid.*, 85.
[62] *Cf. Ibid.*, 90-8.
[63] *Ibid.*, 101.
[64] *Ibid.*, 127.
[65] *Ibid.*, 128.
[66] *Ibid.*, 130.
[67] *Ibid.*, 132-3.
[68] *Ibid.*, 134.
[69] *Ibid.*, 152-4.

develops personality and attracts others. He is now engrossed in spiritual contemplation and has his mind firmly concentrated on the virtues. The world now loses all attraction for him.[70]

The seventh *dṛṣṭi* is known as *prabhā*. The soul has now developed the capacity for self-concentration and is free from all mental disturbances. It has now achieved peace of mind (*śama*). The soul has now fully developed the power of discrimination.[71] It now practises spiritual discipline without any ulterior motive (*asaṅgānuṣṭhāna*). It is now in the seventh stage of spiritual development and is preparing to rise up to the eighth stage on the ladder of annihilation. The soul is now marching on the great path (*mahāpathaprayāṇa*) which leads to the place from which one does never return (*anāgāmipadāvaha*). Haribhadra remarks that this *dṛṣṭi* is known as *praśāntavāhitā* in the Sāṅkhya system, as *visabhāga-parikṣaya* in the Buddhist school, as *śivavartman* in the Śaiva system, and as *dhruvādhvan* according to the Mahāvratikas.[72]

We now come to the eighth *dṛṣṭi* called *parā*. The soul is now completely free from all attachment to the world. It now achieves ecstasy (*samādhi*), the consummation of *dhyāna*. The activities of the soul in this stage are free from all transgressions of the vows, and as such are pure and perfect. The soul now dissociates itself from all the acquired virtues and has its purpose fulfilled.[73] This occurs in the ninth stage of spiritual development. The soul then gradually attains omiscience on the annihilation of all the obscuring *karmans*. Now the final emancipation is attained by means of the last *yoga* known as *ayoga*.[74]

Haribhadra distinguishes four types of *yogins, viz., gotrayogin, kulayogin, pravṛttacakrayogin*, and *niṣpannayogin*. The *yogins* of the fourth type have already achieved their objective and so do not need any instruction in *yoga*. It is only the *yogins* of the second and the third type that need instruction.[75]

---

70. *Ibid.*, 160-2.
71. *Ibid.*, 168-9.
72. *Ibid.*, 173-4.
73. *Ibid.*, 179.
74. *Ibid.*, 184.
75. *Ibid.*, 206-7 with Svopajñavṛtti. About the definitions of these types see *ibid.*, 208-210.

ABBREVIATIONS

ṢP = *Ṣoḍaśaka-prakaraṇa* of Haribhadra with Yaśobhadra's Ṭīkā. Jamnagar (v. s. 1992).

YBi = *Yoga-bindu* of Haribhadra, Jaina Grantha Prakāśaka Sabhā Series No. 25. Ahmedabad, 1940.

YDS = Yoga-dṛṣṭi-samuccaya (ed. Prof. L. Suali, Ahmedabad).

YV = *Yoga-viṁśikā* of Haribhadra with Yaśovijaya's Vyākhyā. Agra, 1922.

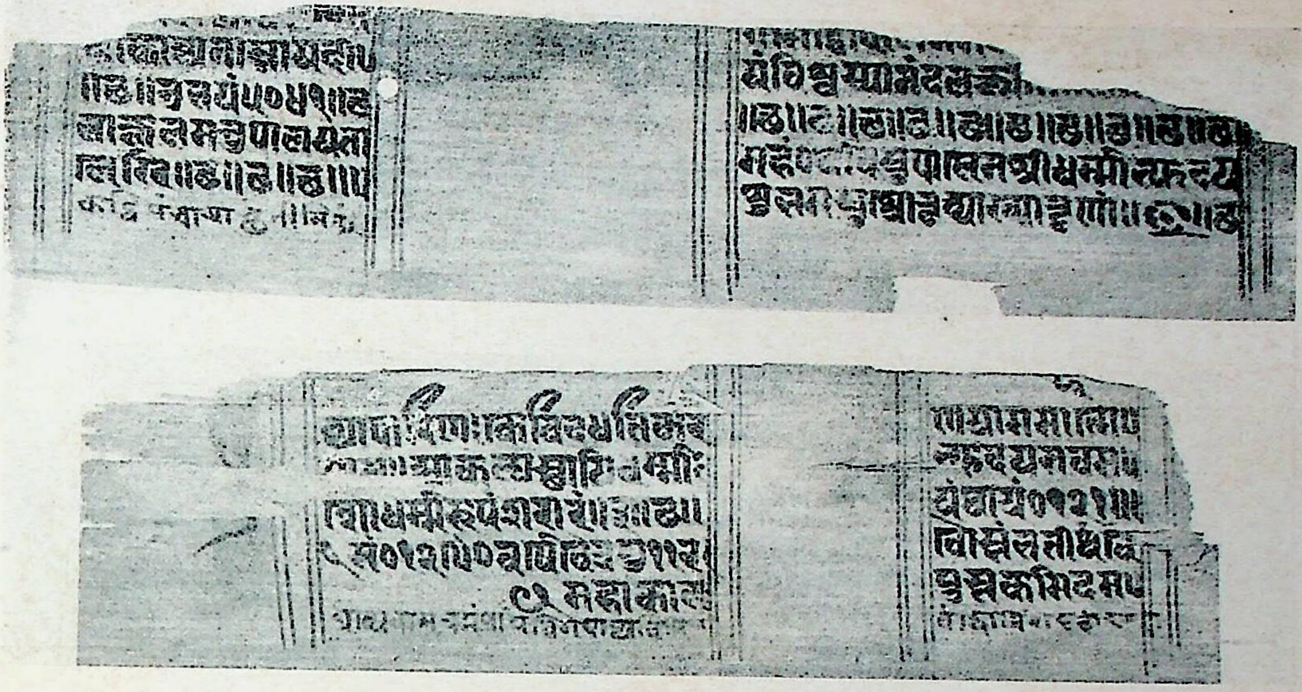

श्रीउदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्यनी प्रतिमांनुं गुर्जरेश्वर महामात्य वस्तुपालना हस्ताक्षरवाळुं पानुं–आ प्रति खंभातना श्रीशान्तिनाथ ज्ञानभंडारमां छे.

A page of Dharmābhyudaya Mahākāvya written by Vastupāla

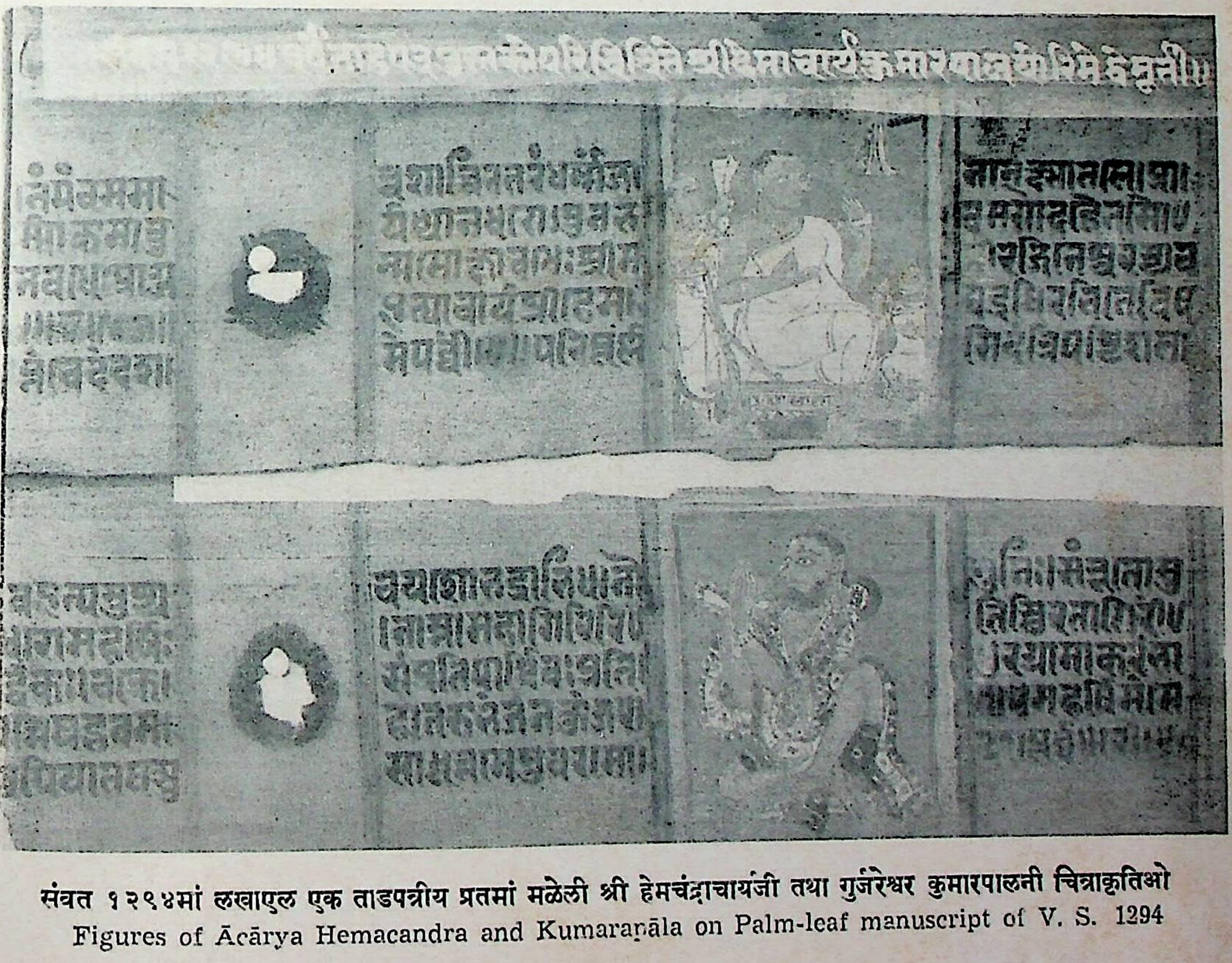

संवत १२९४मां लखाएल एक ताडपत्रीय प्रतमां मळेली श्री हेमचंद्राचार्यजी तथा गुर्जरेश्वर कुमारपालनी चित्राकृतिओ

Figures of Ācārya Hemacandra and Kumarapāla on Palm-leaf manuscript of V. S. 1294

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी

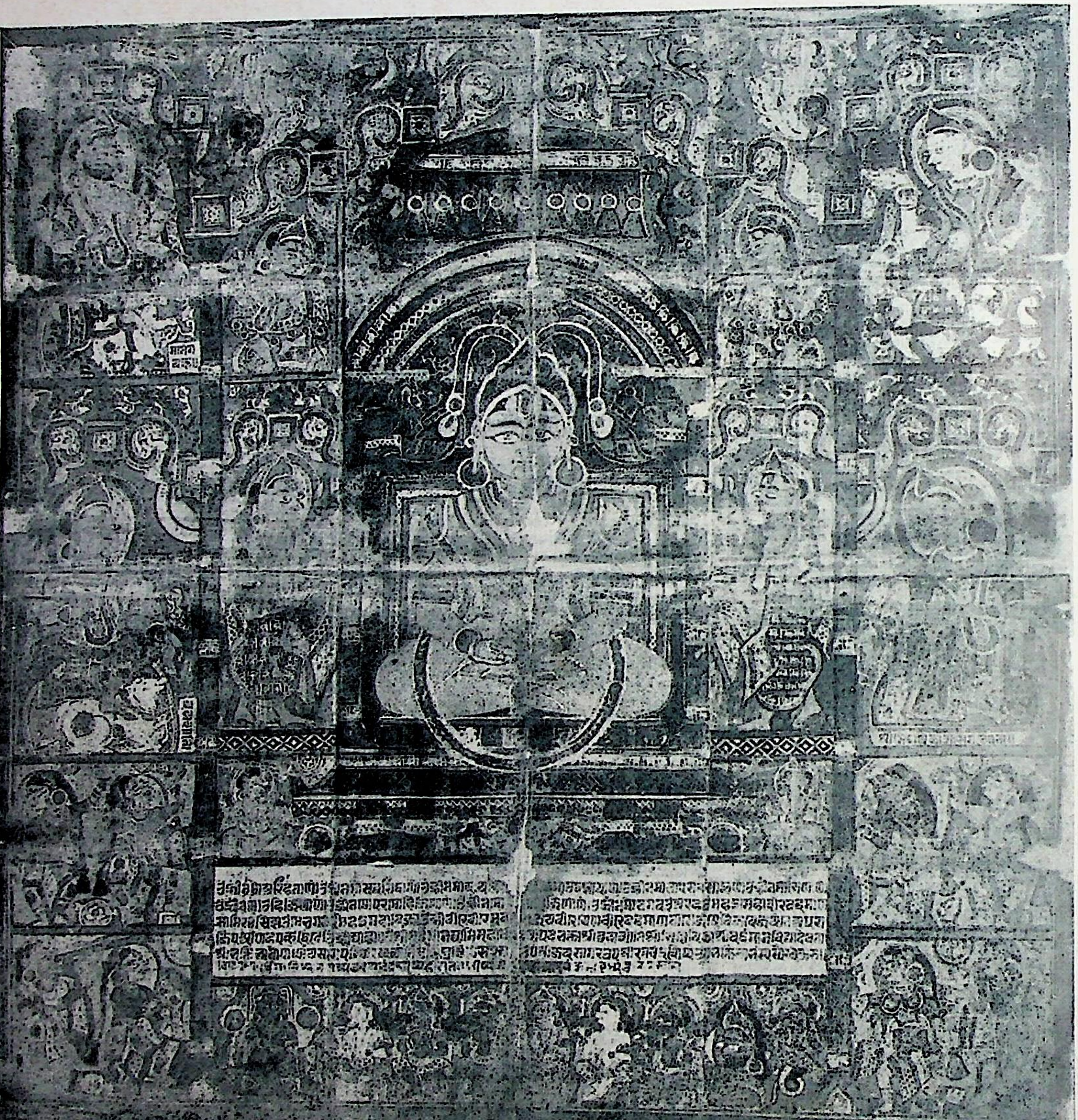

१५मी सदीमां कापडपर चितरायेल वर्धमान-विद्यापट

Vardhamāna-Vidyā-Paṭa on cloth, 15th Century

सवीर : डॉ० उमाकान्त प्रे० शाह]

[श्री अमृतलाल पंडितना संग्रहमांथी

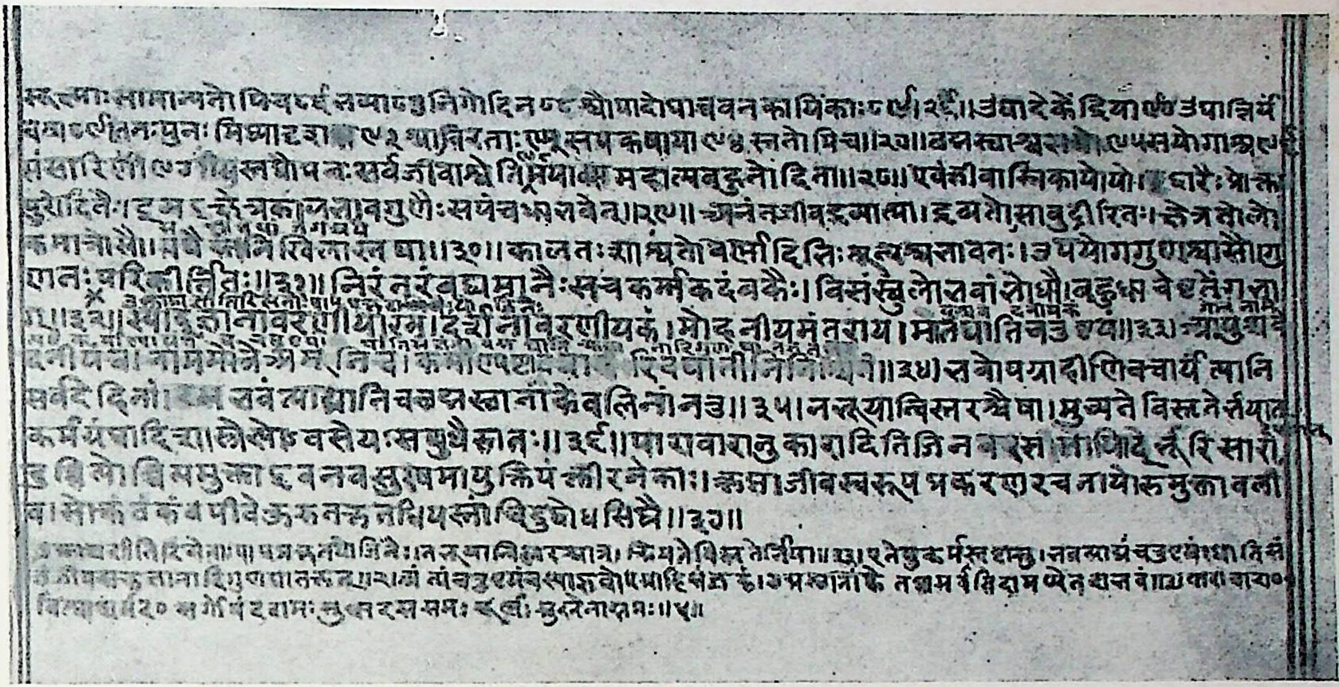

श्री विनयविजयोपाध्यायना हस्ताक्षर, लोकप्रकाश ग्रंथनी प्रथम नकलमांथी

Handwriting of Śrī Vinayavijayopādhyāya—First copy of *Lokprakash*

सूरिसम्राट श्रीविजयजीनेमिसूरीश्वरजी महाराजना ज्ञानभंडारमांथी]

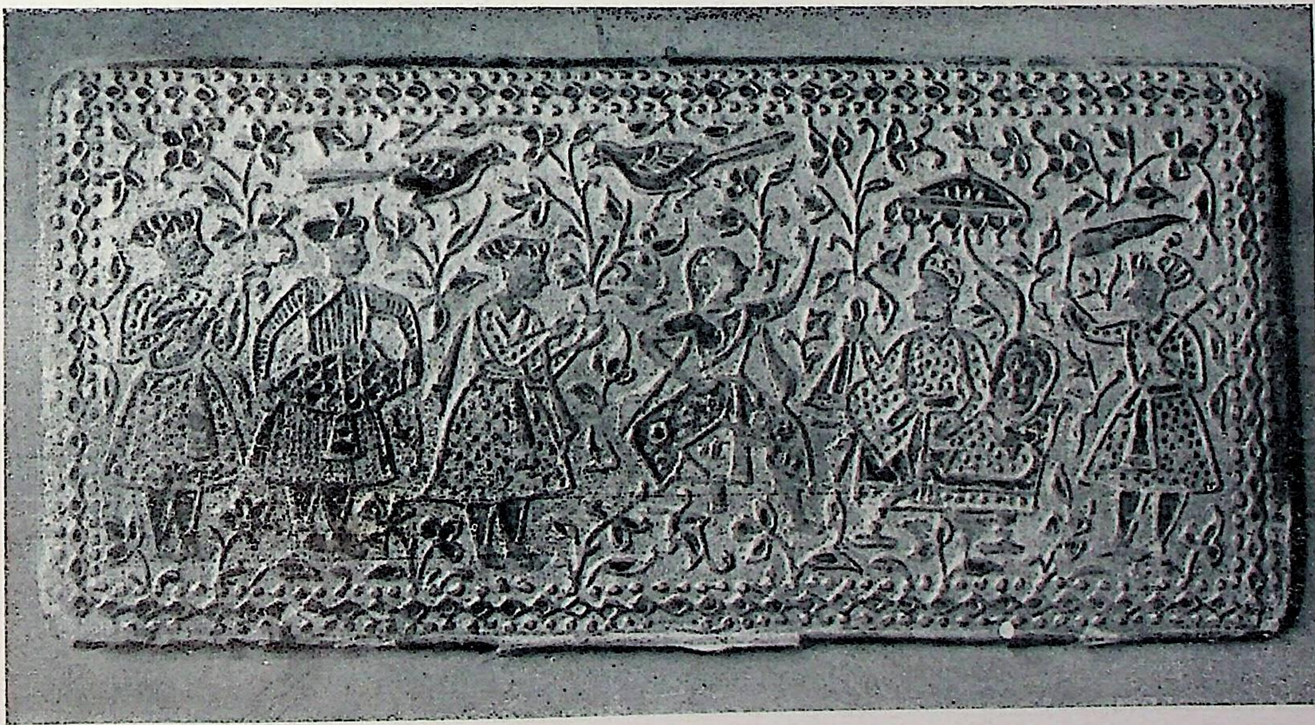

लाख उपर दोरेलुं सोनेरी चित्र

A picture drawn in gold on sealing wax

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]

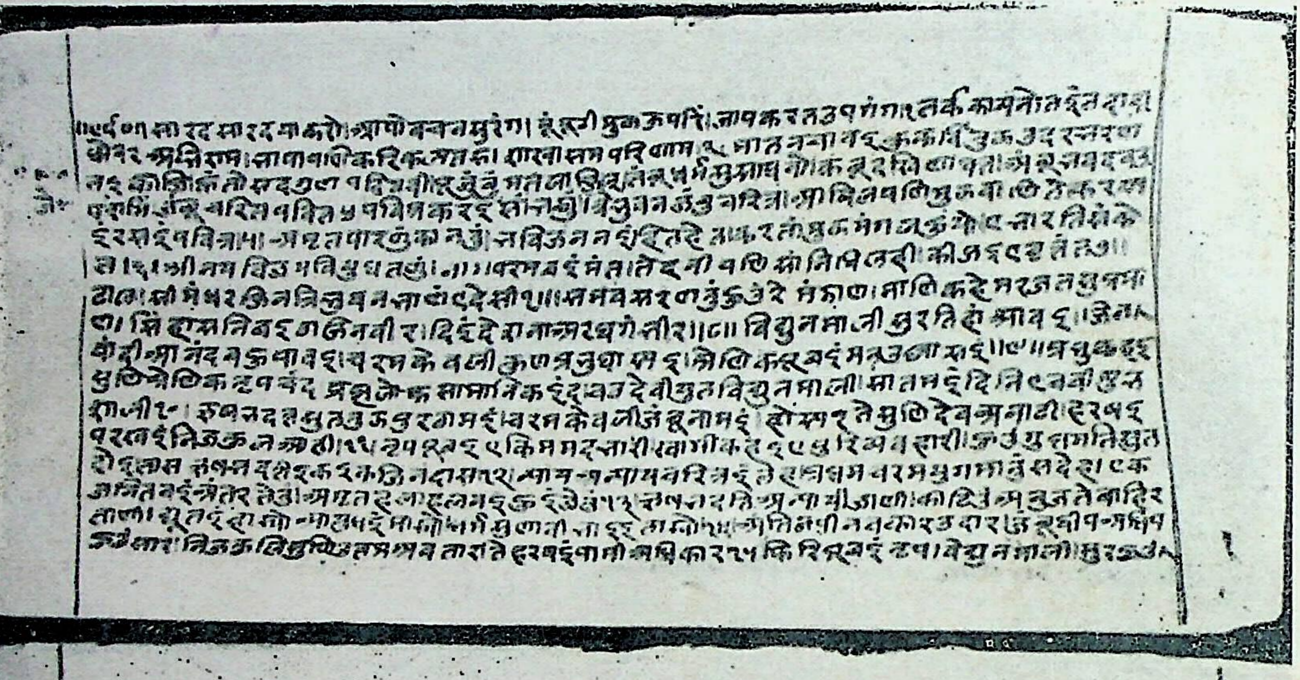

न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षर (जंबुस्वामीरास)
Handwriting of Mahopadhyāya Śrī Yashovijayajī Mahārāja in *Jambusvāmirās*

श्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]

DHŪRTĀKHYĀNA IN THE NIS'ĪT'HA-CŪRṆĪ

Dr. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

When I wrote my essay "The Dhūrtākhyāna : a Critical Study"[1], I knew from a reference that the *Niśītha-cūrṇī* of Jinadāsa-gaṇi Mahattara contained some information about the rogue Elāṣāḍha. Prof. J. C. Jain, Bombay, later on informed me that he had read something like the *Dhūrtākhyāna* in that Cūrṇī to the text of which unluckily I had no access. It is lately that my friends Dr. B. J. Sandesara and Dr. U. P. Shah, Baroda, kindly made available to me the necessary extracts from the N.-cūrṇī, cyclostyled-type-script-ed. by Ācārya Śrī Vijayapremasūri (Bombay V. S. 1995), vol. I, pp. 92-95. The following observations are based on these extracts, which are given at the close of this essay in an Appendix.

To begin with there are the following three gāthās of the *Niśīṭha-bhāṣya* (nos. 294-6) which give the requisite clue words of the illustrative tale:

ससएलासाढमूलदेवखंडा य जुण्णउज्जाणे ।
सायंतणे को भत्तं अक्खातं जो ण सद्दहति ॥ २९४ ॥
चोरभया गावीओ पोट्टलए बंधिऊण आणेमि ।
तिलअइरूढकुहाडे वणगय मल्गा य तेल्लोदा ॥ २९५ ॥
वणगयपाटणकुंडिय छम्मासा हत्थिलग्गणं पुच्छे ।
रायरयग मो वादे जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ॥ २९६ ॥

After these gāthās, the Cūrṇī gives in Prākrit prose with a couple of metrical quotations in Sanskrit a fully developed story of the Dhūrtas. At the end we have a sentence like this :

सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो ।

Looking at the clue words in the gāthās, one can say that the Cūrṇī has given all that is obviously hinted in them; but the concluding colophon says that something is remaining and that it should be known from, or completed according to, the *Dhuttakkhāṇaga*.

The story given in the *N.-cūrṇī* may be analysed thus : Many Dhūrtas assembled in the Old Park to the north of Ujjainī in the territory of Avanti. Three of them, males : Śasaka, Elāṣāḍha, Mūladeva, and the fourth, a female, Khaṇḍapāṇā : every one of them had five hundred rogues as their pupils, of their own sex. Once during the rains, it was pouring down for a week; oppressed by hunger these rogues wondered who would give them food. Mūladeva said: 'Let every one narrate his experience or information; one who does not believe it should give a feast to all, but one who confirms it with parallels from the *Bhārata*, the *Rāmāyaṇa* and other scriptures is not to give anything.' All of them said, 'Very well.'

---

[1] This is included in the edition of the *Dhūrtākhyāna* by Jinavijaya Muni, Singhji Jain Series No. 19, Bhāratīya Vidyā Bhavan, Bombay. 1944.

Elāṣāḍha narrated this incident: 'When I went to the forest with cows, I saw some robbers coming. I packed the cows in my blanket, and returned to my village with that luggage to witness the sports of villagers. The robbers rushed in there. The entire village, all men and animals, entered a cucumber. The robbers went away. A goat swallowed that cucumber; a boa gulped that goat; a crane picked up that boa and perched on a Vaṭa tree, with one of its legs dangling down. An elephant from the king's military camp was tied to it. The crane started flying; the elephant was pulled up; there was a hue and cry; and consequently skilled archers shot the crane down. Its body was vivisected at king's orders; the boa, the goat, the cucumber were taken one from inside the other. The whole village came out of the cucumber along with myself and my cows. They all went to their respective places and I came here. Now tell me whether this is true.' When they said that this is all true, Elāṣāḍha asked, 'How can a blanket contain all the cows, and a cucumber, the village?' Others added that in the *Bhārata* it is said that the whole universe was under one ocean; there was an Egg in the waters, and the entire universe was contained in that egg; if so, why could not your cows be contained in the blanket, and why could not the village be contained in a cucumber. Secondly, the entire universe was in Viṣṇu's stomach; he was in Devakī's womb; and she lay on her bed; similarly, the cucumber, goat, boa and crane could each be contained in the belly of the next.

Śaśaka started narrating: 'After ploughing the field, sesamum seeds were sown during winter, and they grew into big trees. When a wild elephant pursued me, I climbed a sesamum tree. It shook the tree and rushed round, showering the seeds and crushing them under its feet. There was a stream of oil and lot of mud in which the animal got stuck and died. I prepared a bag from its skin and filled it with oil. I ate a load of sesamum cakes and drank pots of oil. Putting that bag on the branch of a tree, I reached home; my son pulled the tree and took the bag. This is my experience: one who does not accept it should give the feast.' Others added thus:

'These ideas are found in scriptures like the *Bhārata* and the *Rāmāyaṇa*. A stream in which the entire army was plunged is described. Secondly, a big sesamum plant is not impossible, for it is said that at Pāṭaliputra a drum was carved out of a māṣa plant.'

Mūladeva then narrated: 'As a youth, yearning for prosperity, I proceeded to the abode of Īśvara for a bath with a gourd-kettle and an umbrella in hand. A wild elephant rushed against me. There being no other alternative I entered the gourd-kettle through the spout. The elephant also followed me, but I could delude and evade it for six months inside. Then I escaped through the spout; the elephant also pursued me, but its tail-end was caught there. I reached the Ganges which I crossed easily, and took the stream of it on my head for six months. Then I saluted Mahāsena, came back here and met you all. Either accept this as true or give a feast to all the rogues.' Others added thus: 'What you say is true and reasonable. Brāhmaṇas, etc., came out from the different parts of Brahmā's body in which the entire population was contained; similarly, the elephant and yourself could be contained in a gourd-kettle. Secondly, Brahmā and Viṣṇu could not reach the terminus of the Liṅga even after many years; still Umā's body could accommodate it; similarly an elephant and yourself could be contained in the kuṇḍikā. Thirdly, when Viṣṇu was reposing in the ocean, Brahmā came out of his navel, but the lotus (stalk) was stuck at it; similarly the tip of the tail could be stuck even when you both came out of the spout. Fourthly, Rāma ordered Sugrīva to get news about Sītā; Hanūmat was entrusted with this mission which he fulfilled by crossing the ocean by his arms; similarly you also could cross the Ganges. Lastly, when Gaṅgā was invited on the earth, Paśupati received her in his matted hair for years together; similarly you could receive the stream of the Ganges for six months.'

In reply to Khaṇḍapāṇā's suggestion, the Dhūrtas said that they would not sacrifice their self-respect for a meal. She smiled and started narrating thus: 'I am the daughter of a king's washerman. Accompanied by my retinue I went to the river with a cart-load of clothes to be washed. All the clothes spread in the sun were blown off by the wind. Being afraid of the king, I became a lizard and entered the garden where I changed myself into a mango tree. I heard one day that washermen were all forgiven; so I became myself once more. The ropes and stripes of the cart were eaten by jackals; so my father got them prepared from a buffalo's tail. Tell me whether you accept all this as true.' Others said in this manner: 'If it is true that Brahmā and Keśava could not reach the terminus of the Liṅga, how is it that your statement is not true. Secondly, it is heard in the *Rāmāyaṇa* that Hanūmat had a long tail, which, covered with rags and sprinkled with oil, was lit up and thereby Laṅkā was burnt; similarly ropes could be prepared from a buffalo's tail. Thirdly, we hear in the scripture that King Gandharva became a dwarf, that Kimaśva became a boa at Indra's curse, and that a boa asked with a human voice seven questions to Dharma who answered them and rescued his brother and then became King Ravi on the termination of the curse. Similarly, that you became a lizard and then again yourself is quite believable.'

Then Khaṇḍapānā suggested to them to submit to her lest they might be humiliated, but they were proud of their dignity. She smiled and continued: 'With king's permission I went out in search of my slave-servants who had run away; I visited many villages and towns; and here I find that those slave servants are yourselves and those clothes are on your body; if true, give the clothes; if false, give the feast. What is said is significant'.

It is necessary to compare Jinadāsa's Dhūrtākhyāna (JD) with Haribhadra's Dhūrtākhyāna (HD). In JD there are only four Dhūrtas while in HD there are five, the additional name being that of Kaṇḍarīka. The order of their enumeration is slightly different, and Mūladeva does not occupy a very prominent position in JD as he does in HD. In JD Elāṣāḍha, Śaśaka, Mūladeva and Khaṇḍapānā narrate their experiences one after the other, their experiences being confirmed by all the rogues and not by any one specifically as in HD. What Elāṣāḍha narrates as his experience in JD is put in the mouth of Kaṇḍarīka in HD where Elāṣāḍha confirms it with Purāṇic stories. The patterns of the stories narrated by Śaśaka, Mūladeva and Khaṇḍapānā are the same in both, with the difference that Mūladeva is given the third turn in JD and the narration of Khaṇḍapānā is substantially longer in HD with the result that the whole tale assumes a different form at the close in HD. That which is put in the mouth of Elāṣāḍha by HD is absent in JD.

What Elāṣāḍha narrates in JD has some additional details in HD. It is confirmed by other rogues by only two parallel events from the *Bhārata* etc. in JD, but by six parallel stories in HD. The patterns of experiences of Śaśaka and Mūladeva are basically the same in both; but, if JD confirms them with two and five similar contexts from the śrutis, HD gives ten and eight parallels. Thus it is obvious that HD draws upon a wider range of mythology and gives meticulously more episodes to confirm the obviously incredible details of personal experiences.

Comparing similar contexts one finds that the narration in JD is uniformly simple and direct. Words and phrases from it are bodily found in HD. It is interesting to compare common expressions in JD and HD in similar contexts. A few passages[2] are reproduced below:

JD	HD
(१) उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं णाम उज्जाणं । तत्थ बहवे धुत्ता समागया ।...एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसता, धुत्तीणं पंचसयं खंडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताणं इमेरिसी कहा संवुत्ता । को अम्हं देज्ज भत्तं ति । मूलदेवो भणति । जं जेणणुभूयं सुयं वा सो तं कहयतु । जो तं ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं । etc.	(१) ...उज्जेणी णाम णामेणं ॥ २ ॥ तीसे उत्तर पासे...उज्जाणं ॥ ३ ॥ तत्थ...... धुत्ताण सयाणेगा समागया... ॥ ४ ॥ ...इक्किक्कस्स य तेसिं धुत्ताणं पंच पंच सया ॥ ७ ॥ धुत्तीणं पंचसया खंडवणाए...॥ ८ ॥...सत्ताहदुद्दिणम्मि ...॥१०॥...सीअवद्दलाभिहया । भुक्खत्ता बिंति तहिं को अम्हं दिज्ज भत्तं ति ॥ ११ ॥ अह भणइ मूलदेवो जं जेण सुअं च समणुभूअं वा । सो तं कहेउ सव्वं... ॥ १२ ॥ जो तं न पत्तिइज्जा...तेण सव्वेसिं । धुत्ताणं ...दायव्वं भत्तपाणं ति ॥ १३ ॥
(२) चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवतिता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्कं वालुंकं पविट्ठो...... वडपायवे णिलीणा...सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता... पतंगसेणा इव भूबिलाओ सो गामो वालुंकातो निग्गंतुमारद्धो ।	(२) कलयलरवं करिंता पडिया चोरा णवरि तत्थ ॥ २-१०॥ तो सो सबालवुड्ढो सइत्थिओ जणवओ सपसुवग्गो । अह घोडएहिं सहिओ वालुंकं अइगओ सव्वो ॥ ११ ॥...सा तत्थेव णिलीणा तुंगे वडपायवे विउले ॥ १४ ॥...संपत्ता सद्दवेहिणो जोहा । इसुचावगहियहत्था...॥ १७ ॥...जह सलभाण य सेणा रेप्फबिलाओ विणिक्खमइ ॥ २३ ॥
(३) तरुणत्तणे अहं इच्छियसुहाभिलासी धाराधरणट्ठताए सामिगिहं पट्ठितो छत्तकमंडलहत्थो पेच्छामि य वणगयं मम वहाए एज्जमाणं, ततो अहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणट्ठाणं अपस्समाणो दगच्छड्डुणणालएण कमंडलं अतिगओ म्हि । सो वि गयवरो मम वहाए तेणेव[णालए-]ण अतिगतो । ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतोकुंडीयाए वामोहिओ etc.	(३) तरुणत्तणम्मि अहयं इच्छिअसुहसंपयं अहिलसंतो धाराधरणट्ठाए सामिगिहं पत्थिओ सुइरं ॥ १-१८ ॥ छत्तकमंडलुहत्थो...पिच्छामि अ गयवरं इंतं ॥ १९ ॥ अत्ताणो अ असरणो कत्थ णिलुक्कामि हं ति चिंतंतो तो सहसा य अइगओ कमंडलुं...॥ २१ ॥...मज्झाणुमग्गलग्गो कमंडलुं अइगओ सिग्घं ॥ २२ ॥... हत्थिं कमंडलुम्मी वामोहेऊण छम्मासे etc.

---

2. The Prākrit passages reproduced in this paper are exactly as they are in the extracts supplied to me. I am aware, they present some difficulties of interpretation in some places.

The two Sanskrit quotations found in JD are also there in the same context in HD (namely, *teṣāṁ* etc. HD 4-20, and *tava prasādāt* etc. HD1-87*1). HD adds more dignified descriptions here and there, and additional details are presented in it in smooth gāthās. JD wants just an illustration of Laukika-musāvāda, and whatever is given by the Cūrṇī serves that purpose.

HD has its own characteristics. It is an independent treatise put in a well thought-out satirical frame: the opening and concluding portions fully bear out this. The satirical effect in HD is worked out more logically and in a subtle and effective manner, which is conspicuously absent in JD. What HD adds after 5-76 has nothing corresponding to it in JD; and it may not be just an accident that the major portion of it is composed in a heavy style. In its concluding portion HD puts together a number of detached episodes, especially from the *Bhārata* and *Rāmāyaṇa*, and asserts that all of them are incredible.

From the extract I am inclined to believe that the Cūrṇī gives all that is hinted in the Bhāṣya-gāthās. The colophon: *śeṣaṁ dhuttakkhāṇagāṇusāreṇa neyam iti,* if it is genuine and belongs to the author of the Cūrṇī, would lead us to the conclusion that there was a longer *Dhuttakkhāṇa* in Prākrit prose from which the major portion is extracted by the Cūrṇī.

The objective comparison of JD and HD leads me to the conclusion that HD is an elaborated and perfected work based on JD or its predecessor as postulated above. The reasons for this may be stated as below:

(1) JD is uniformly shorter in its pattern tales and confirmatory episodes from the Purāṇas all of which are better worked out with supplementary details in HD.

(2) HD incorporates everything in JD and adds more details to it.

(3) The simple and narrative details of JD are presented in a more elaborate manner and polished style in HD.

(4) The number of characters and of references to Purāṇic tales increases in HD, which presents them more logically and effectively.

(5) What is a simple narrative illustration in JD is enlarged into an effective satire in HD with seeds of religious propaganda which are later on elaborated in the *Dharmaparīkṣā* texts.

Thus Haribhadra has built his satirical masterpiece incorporating or using both words and ideas from an earlier *Dhuttakkhāṇa* preserved in the Cūrṇī. By his literary genius, logical acumen and wide learning he has shaped the simple stuff into a dignified literary masterpiece, unique in Indian literature.

The above objective comparison of the two versions in the JD and HD and the conclusion that Haribhadra used for his *Dhūrtākhyāna* the story given in the Cūrṇī does not in any way violate the relative chronology of the two authors, Jinadāsa and Haribhadra. Jinadāsagaṇi Mahattara, the author of *N. Cūrṇī,* has also written a Cūrṇī on the *Nandīsūtra* which was composed by him in Śaka 598 or 677 A. D.[3] and Haribhadra is assigned to a period about 750 A.D.[4]

APPENDIX

[The story from the *N. Cūrṇī* is presented here with minor corrections, adjustments in punctuation etc.]

अवंती । उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं णाम उज्जाणं। तत्थ बहवे धुत्ता समागय ससगो, एलासाढो, मूलदेवो, खंडपाणा य इत्थिया। एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसता, धुत्तीणं पंचसयं खंडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताणं इमेरिसी कहा संवुत्ता । 'को अम्हं देज्ज भत्तं' ति। मूलदेवो भणति 'जं जेणणुभूयं सुयं वा सो तं कहयतु, जो तं ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं । जो पुण भारहरामायणसुतीसमुत्थाहिं उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिति सो मा किंचि दलयतु'। एवं मूलदेवेण भणिते सव्वेहिं वि भणियं 'साहु साहु' त्ति। ततो मूलदेवेण भणियं 'को पुव्वं कहयति'। एलासाढेण भणियं 'अहं मे कहयामि'।

ततो सो कहिउमारद्धो । "अहं गावीओ गहाय अडविं गओ, पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे । तो मे पावरणी-कंबली पत्थरिऊणं तत्थ गावीओ छुभिऊणाहं पोट्टलयं बंधिऊण गाममागतो, पेच्छामि य गाममज्झयारे गोद्दहे रममाणे । ताहं गहिय गावो ते पेच्छिउमारद्धो । खणमेत्तेण य चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवतिता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्कं वालुंकं पविट्ठो । ते य चोरा पडिगया । तं पि वालुंकं एगाए अजियाए गसियं । सा वि अइआ चरमाणा अयगलेण गसिया । सो वि अयगलो एक्काए ढंकाए गहितो । सा उड्डिउं वडपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ वलंबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खंधावारो ठिओ । तंमि य ढेंकापाए गयवरो आगलितो । सा उड्डिउं पयत्ता । आगासिउ पाओ, गयवरो कड्ढिउमारद्धो । डोवेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता । तेहिं सा जमगसमगं सरेहिं पूरिता मता । रण्णा तीए पोट्टं फाडावियं । अयगरो दिट्ठो, सो वि फाडाविओ । अजिया दिट्ठा, सा वि फाडाविआ । वालुंकं दिट्ठं रमणिज्जं । एत्थंतरे ते गोद्दहा उपरता । पतंगसेणा इव भूम्बिलाओ सो गामो वालुंकातो निग्गंतु-

---

3. Shri Jinavijaya: The Date of Haribhadrasūri, A Paper read at the First Oriental Conference, Poona 1919, p. 144; H. Jacobi: *Samarāiccakahā*, Calcutta 1926, Intro. p. iii.
4. A portion of this essay was presented to the Prākrit and Jainism Section of the XVII Session of the All-India Oriental Conference, Ahmedabad.

मारद्धो । अहं पि गहिय गाओ णिग्गतो । सव्वो सो जणो सट्ठाणाणि गतो । अहं पि अवउज्झिय गाओ इहमागतो । तं भणइ कहं सच्चं ।" सेसगा भणंति 'सच्चं सच्चं'। एलासाढो भणति 'कहं गावीओ कंत्रलीए मायाओ, गामो वा वालुंके'। सेसगा भणंति 'भारहसुतीए सुव्वति जहा पुव्वं आसी एगण्णवं जगं सव्वं, तम्मि य जले अंडं आसी । तम्मि य अंडगे ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जति मायं तो [P. 93] तुह कंत्रलीए गावो वालुंके वा गामो ण माहिति । जं भणसि जहा ढेंकूदरे अयगलो तस्स य अतिआ तीए वालुंकं एत्थ वि भण्णति उत्तरं । ससुरासुरं सनारकं ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जह विण्हुस्सुदरे मातं, सो वि य देवती-उदरे मातो, सा वि य सयणिज्जे माता, जइ एयं सच्चं तो तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सति ।'

ततो ससगो कहितुमारद्धो । "अम्हे कक्कुंविपुत्ता, कयाइं च करिसणातिं । अहं सरयकाले खेत्तं अहिगतो । तम्मि य छेत्ते तिलो वुत्तो । सो य एरिसो जातो जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्वो । तं समंता परिभमामि, पेच्छामि य आरण्णं गयवरं । तेणम्हि उच्छित्तो, पलातो, पेच्छामि य अइप्पमाणं तिलरुक्खं, तम्मि विलग्गो पत्तो य गयवरो । सो मं अपावंतो कुलालचक्कं व तं तिलरुक्खं परिभमति, चालेति तत्थ तिलरुक्खं । तेण य चालिते जलहरो विव तिलो तिलवुट्ठिं मुंचति । तेण य भमंतेण चक्कतिला विव ते तिला पिलिता । तओ तेल्लोदा णाम णदी वूढा । सो य गयो तत्थेव तिलचलणीए खुत्तो मओ य । मया वि से चम्मं गहियं दतितो कतो, तेल्लरसभरितो । अहं पि खुधितो खलभारं भक्खयामि, दस तेल्लघडा तिसितो पियामि । तं च तेल्लपडिपुण्णं दइयं घेत्तुं गामं पट्ठिओ । गामबहिया रुक्खसालाए णिक्खिविउं तं दइयं गिहमतिगतो । पुत्तो य मे दइयस्स पेसिओ । सो तं जाहे ण पावइ ताहे रुक्खं पाडेउं गेण्हेत्था । अहं पि गिहाओ उओट्ठि परिभमंतो इहमागओ । एयं पुण मे अणुभूतं । जो ण पत्तियति सो देउ भत्तं ।" सेसगा भण्णंति 'अत्थि एसो य भावो भारहरामायणे सुतीसु णज्जति ।

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः ।
प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥

जं भणसि कहं एमहंतो तिलरुक्खो भवति । एत्थ भण्णति—पाडलिपुत्ते किल मासपादवे भेरी णिम्मविया, तो किह तिलरुक्खो एमहंतो ण होज्जाहि ।'

ततो मूलदेवो कहिउमारद्धो । सो भणति "तरुणत्तणे अहं इच्छियसुहाभिलासी धाराधरणट्ठताए सामिगिहं पट्ठितो छत्तकमंडलहत्थो, पेच्छामि य वणगयं मम वहाए एज्जमाणं । ततो अहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणट्ठाणं अपस्समाणो दगच्छड्डणणालएणं कमंडलं अतिगओ म्हि । सो वि गयवरो मम वहाए तेणेवंतं अतिगतो। ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतोकुंडीयाए वामोहिओ । तओ हं छम्मासंते कुंडियगीवाए णिग्गतो । सो वि य गयवरो तेणवंतेण णिग्गतो, णवरं वालग्गं ते कुंडियगीवाते लग्गो । अहमवि पुरतो पेच्छामि अणोरपारं गंगं । सा मे गोपयमिव तिण्णा । गतो म्हि सामिगिहं । तत्थ मे तण्हाछुहासमे अगणेमाणेण छम्मासा धारिया धारा । ततो पणमिऊणं महासेणं पयाओ संपत्तो उज्जेणिं, तुब्भं च इहं मिलिओ इति । तं जइ एयं सच्चं तो मे हेऊहिं पत्तियावेह। अहमण्णह अलियं ति धुत्ताणं देह तो भत्तं।" तेहिं भणियं 'सच्चं'। मूलदेवो भणइ 'कहं सच्चं'। ते भणंति 'सुणेह। जह पुव्वं बंभाणस्स मुहातो विप्पा णिग्गया, बाहओ खत्तिया, ऊरूसु वइस्सा, पदेसु सुद्दसुद्दा । जइ इत्तिओ जणवओ तस्सुदरे माओ तो तुमं हत्थी य कुंडियाए ण माहिह । अण्णं च किल बंभाणो विण्हू य उड्ढाहं धावंता गता दिव्ववाससहस्सं तहा वि लिंगस्संतो ण पत्तो । तं जइ एमहंतं लिंगं उमाए सरीरे मातं तो तुहं हत्थी य कुंडियाए ण माहिह । जं भणसि वालग्गे हत्थी कहं लग्गो, तं सुणसु । विण्हू जगस्स कत्ता [P. 94] एगण्णवे तप्पति तवं जलसयणगतो, तस्स य णाभीओ बंभा पउमगब्भणिभो णिग्गतो णवरं पंकयणाभीए लग्गो, एवं जइ तुमं हत्थी य विणिग्गतो हत्थी

वालग्गे लग्गो को दोसो । जं भणसि गंगा कहं उत्तिण्णो, रामेण किल सीताए पव्वतिहेउं सुग्गीवो आणत्तो, तेणावि हणुमंतो, सो बाहाहिं समुद्दं तरिउं लंकापुरिं पत्तो, दिट्ठा सीता, पडिणियत्तो । सीयाभत्तुणा पुच्छितो कहं समुद्दो तिण्णो भणाति ।

तव प्रसादात् तव च प्रसादाद् भर्तुश्च ते देवि तव प्रसादात् ।
साधून्नते येन पितुः प्रसादात्तीर्णो मया गोष्पद्वत्समुद्रः ॥

जइ तेण तिरिएण समुद्दो बाहाहिं तिण्णो तुमं कहं गंगं ण तरिस्ससि । जं भणसि कहं छम्मासे धारा धरिता, एत्थ वि सुणसु । लोगहितत्था सुरगणेहिं गंगा अब्भत्थिता 'अवतराहि मणुयलोगं'। तीए भणियं 'को मे धरेहिति णिवडिंतीं'। पसुवतिणा भणियं 'अहं ते एगजडाए धारयामि'। तेण सा दिव्वं वाससहस्सं धरिता । जइ तेण सा धरिता तुमं कहं छम्मासं ण धरिस्ससि।'

अह एत्तो खंडपाणा कहितुमारद्धा। सा य भण्णइ। 'ओलंबितं ति अम्हेहिं जइ अंजलिं करिथ सीसे ओसप्पेह जति न ममं तो भत्तं देमि सव्वेसिं।' तो ते भणंति 'धुत्ती, अम्हे सव्वं जगं तुलेमाणा किह एवं दीणवयणं तुब्भ सगासे भणिहामो।' ततो ईसिं हसेऊण खंडपाणा कहयति "अहगं रायरजकस्स धूया। अहं अण्णया सह पित्रा वत्थाण महासगडं भरेऊण पुरिससहस्सेण समं णदिं सलिलपुण्णं पत्ता। धोयाणि वत्थाइं, तो आयवदिण्णाणि उव्वायाणि। आगतो महावातो। तेण ताणि सव्वाणि वत्थणि अवहरिताणि। ततो हं रायभया गोहारूवं काऊण रयणीए णगरुज्जाणं गता। तत्थ हं चूयलया जाता। अण्णया य सुणेमि जहा रयगा उम्मिट्टंतु अभयो सिं। पडहसद्दं सोऊण पुण णवसरीरा जाया। तस्स य सगडस्स णाडग वरत्ता य जंबुएहिं छागेहिं भक्खिताओ। तओ मे पिउणा णाडगवरत्ताओ अण्णिस्समाणेण महिसपुच्छा लद्धा, तत्थ णाडगवरत्ता वलिता। तं भणह किमेत्थ सच्चं।" ते भणंति। 'बंभकेसवा अंतं न गता लिंगस्स जति तं सच्चं, तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सइ'त्ति। रामायणे वि सुणिज्जति जह हणुमंतस्स पुच्छं महंतं आसी, तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊण पलीवियं, तेण किल लंकापुरी दड्ढा। एवं जति महिसस्स वि महंतपुच्छेण णाडगवरत्ताओ जायाओ को दोसो। अण्णं च इमं सुई सुव्वति जहा। गंधारो राया रण्णे कुडवत्तणं पत्तो, अवरो वि राया किमस्सो णाम महाबलपरक्कमो, तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ, ततो तेण देवरायेण सावसत्तो रण्णे अयगलो जातो, अण्णया य पंडुसुआ रज्जयभट्ठा रण्णे ट्ठिता, अण्णया य एगागि णीग्गतो भीमो, तेण य अयगरेण गसितो, धमसुतो य अयगरस्स मूलं पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए तं धम्मसुतं सत्त पुच्छातो पुच्छति, तेण य कहितातो संत्त पुच्छातो, ततो भीमं णिग्गिलइ, तस्स सावस्स अंतो जातो, जातो पुण रविराया। जइ एयं सच्चं, तो तुमं पि सब्भूतं गोहाभूय सभावं गंतूण पुणण्णवा जाता।' तो खंडपाणा भणति 'एवं गते वि मज्झ पणामं करेह, जइ कहंचि जिप्पह, तो काणा वि कव्वडिया तुब्भं मुल्लं ण भवति।' ते भणंति 'को म्हे सत्तो णिज्जिऊण'। तो सा हसिऊण भणति 'तेसिं वातहरियाण वत्थाण गवेसणाय णिग्गया रायाणं पुच्छिऊणं, अण्णं च मम दासचेडा णट्ठा, ते य अण्णिस्सामि, ततो हं गामणगराणि अडमाणी इहं पत्ता, तं ते दासचेडा तुब्भे, ताणि वत्थाणिमाणि जाणि तुब्भ परिहियाणि, जइ सच्चं तो देह वत्था, अह अलियं तो देह भत्तं।' असुण्णत्थं भणियमिणं।

सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो।

THE PLACE OF JAINISM IN INDIAN THOUGHT[1]

Dr. FELIX VALYI

The study of Jainism has been neglected for a long time. It was considered to be an insignificant offshoot of Hinduism. In France only Guerinot dedicated his life to the analysis of the original sources of Jaina Philosophy. The Indologists of France were absorbed by the study of orthodox Brahmanism with a few exceptions, such as the great Burnouf, whose "Introduction to the History of Buddhism" is a classic, and Emile Senart, who made a deep study of Aśoka's Inscriptions, while Sylvain Levi specialized in the Sanskrit sources of Buddhist Philosophy. Guerinot's monograph on Jainism is an outstanding work, a monument of erudition and philosophical appreciation.

In Germany, an important group of Indologists with Herman Jacobi at their head took up a scientific investigation of the Jaina Tradition, but in France the Sorbonne and the College de France neglected Jainism as a field of study, although Sylvain Levi repeatedly warned his disciples that the unexplored field of Jaina Studies deserves the attention of Indian scholars.

Undoubtedly the originality of Mahāvīra's philosophy which dominates the Jaina community appears of the highest importance from the point of view of Indian Culture. The fact that a small minority of Jainas, not exceeding one and a half million, is submerged among the hundreds of millions of Hindus, should not close our eyes to the significance of Jaina Philosophy for the origins of Indian Thought.

Mahāvīra, the 24th Tīrthaṅkara, is now recognized as one of the greatest thinkers of Ancient India, the equal of the Buddha in virtue of his profundity and his character. The contamporaneity of the two greatest sages of Ancient India is accepted as a historic fact: the two lived in the same 6th Century before Christ, in the same province of Magadha, preaching in the same towns and villages, at Rājagṛha and Vaiśāli. They must have met and exchanged ideas according to all psychological probabilities, although we do not possess textual evidence concerning their personal relations.

---

[1] The French Original of this article was broadcast to Europe by the All India Radio from New Delhi on June 16th, 1955, as part of a series on Indian Thought and its influence on the European Mind. Reproduced by permission of the All India Radio.

The objective analysis of Mahāvīra's and Buddha's Thought shows the many common points which characterize Jainism and Buddhism. *Ahiṁsā* and *Nirvāṇa* are concepts which belong to both systems. If we go deeply into the origins of these concepts, we are bound to accept the Jaina Tradition as the source of these specific aspects of Indian Thought. Jainism with its pre-historic background and its 24 Tīrthaṅkaras preceded Buddhism by several centuries, although we cannot accept Jaina mythology which obscured the history of the community. Nevertheless the historicity not only of Mahāvīra, but of Pārśva, the 23rd Tīrthaṅkara, who lived 250 years before Mahāvīra, in the 8th century before Christ, the very century which gave birth to the first authentic Upaniṣads, is now beyond doubt. Even the name of Neminātha, the 22nd Tīrthaṅkara, was found on a copper-plate, which authorizes the historians of Ancient India to accept the probability of the existence of pre-historic Tīrthaṅkaras, however fantastic the chronology attributed by Jaina mythology seems to the scientific mind.

The historic existence of two Jaina Orders at the time of the Buddha has been verified; both had preceded Buddhism as monastic institutions. The Order founded by Mahāvīra was a simple organizational reform reorganizing the Order of Pārśva. The Jaina communities were long divided and still quarrel about the authenticity of their sects.

Both Mahāvīra and Buddha were princes of the kṣatriya tribes, in revolt against the privileges of the Brahmin priesthood. Jainism represents the first social revolution in Indian history, opening the gates of knowledge to the ordinary people, accepting in the *Saṅgha* whoever was willing to submit to the severe discipline of the Order. The Buddha himself must have experimented with the Jaina discipline of self-mortification during the years of meditation under the Bodhi Tree, before proclaiming the Middle Path as the way to Enlightenment between self-torture and pleasure-seeking.

The essential difference between Jainism and Buddhism is just this extreme severity which Mahāvīra has imposed upon the monks of his order, who must renounce all pleasures and live a life of total abstention from every point of view. They were forbidden to eat even tomatoes, onions, potatoes as containing germs of living creatures, and the respect for All Life, for all that grows and lives on earth and in the air, became an orthodox dogma. The most severe form of *Ahiṁsā* is the principle which unites all the four sects of Jainism in their horror of war. Their division into "Digambaras" and "Śvetāmbaras", into multi-pūjā sects and the two sects which reject all image-worship, Stānakavāsīs and Terāpanthīs, should not hide their essential allegiance to the principle of non-violence as the common ground of all Jainas.

Mahatma Gandhi's mother was a Jaina, his guru at Porbandar, in his native city, was an eminent Jaina sage, and his heart was since childhood impressed by the Jaina tradition of *Ahiṁsā* which became the guiding star of all his life. The historians of contemporary India should not forget this decisive influence in Gandhiji's career which determined the destiny of the nation.

Mediaeval Hinduism has proclaimed both Jainism and Buddhism "heresies" opposed to the Vedic culture. The Brahmin priesthood saw a danger to their privileges in the fact that both Jainism and Buddhism gave access to the lower castes to higher knowledge, and wanted to monopolize the wisdom of ancient India for themselves as a source of prestige and income. Recent research has dissipated the false pretenses of mediaeval orthodoxy as the sole custodians of Indian Wisdom. The reactionary paṇḍits are fighting a losing battle against the enlightened opinion of critical scholarship which now recognizes that the original spirit of Ancient India is to be found in the teachings of Mahāvīra and Buddha, who might differ in the way *Ahiṁsā* should be applied in daily life, but fully agree in rejecting the monopoly of Orthodox Brahmanism, as misinterpreted by the mediaeval commentators. Philosophical Brahmanism is an integral part of a common heritage of all the great sages of the Upaniṣadic Age, in which both Jainism and Buddhism share, accepting the ideal of universality and rejecting the excesses of ritualism. Both insist on the necessity for the individual to develop his mind through his own spiritual effort and to ascend to a higher level without any intermediary between himself and the Divine Powers.

The discipline of body and mind prescribed by Ancient Indian Thought constitutes the most original contribution of India to human psychology. Its basis is Yoga and Jainism is pure Yoga in its attempt to liberate the spirit from all earthly forces. There is Jaina Yoga, as there is Buddhist Yoga and Hindu Yoga, with this difference : Mediaeval Orthodoxy corrupted the original spirit of Yoga which became a tool of fakes, thousands of fakes who abuse religion for personal aggrandizement.

Both Mahāvīra and Buddha must be understood as Masters of Yoga, who laid the foundations of Indian Psychology—showing the way towards spiritual perfection, raising human nature to a higher level and demonstrating the possibility of attaining Enlightenment which means cosmic consciousness, self-identification with all life, with the Universe in the service of the highest ideal ever attained in history : Selflessness.

The Jaina System of philosophy has developed a theory of Karma of immense interest : according to Jainism, the soul is originally pure, but it becomes contaminated by material particles through contact with the world. The task of the Jaina saint is to liberate his soul from all these particles through absolute renunciation and to recover the purity of his soul. Purity and perfection are the ideals which India borrowed from the Jaina tradition. Only the methods vary, but the ideal is the same.

Modern psychology refuses to assent to this contempt of all matter. Human nature is considered to-day as one single entity, divided into body and mind, but trying to integrate the two aspects of man into a harmonious whole. Like the Christian doctrine, Hindu thought separated body and mind as two incompatible entities and looked upon the soul as a slave of physiology to be liberated by religious training. The modern view of mankind does not accept this radical division of the material and the spiritual. Nevertheless the ideal of spiritual freedom, freedom from all the contingencies of the industrial civilization which have enslaved the Western world, makes the study of Indian thought very instructive for modern man eager to disentagle his inner life from the shackles of materialism. Ancient India has proved the potentiality of such perfect spiritual freedom, even if we concede that only exceptional individuals of immense will-power have ever attained the highest form of Liberation of the spirit.

The Jainas themselves recognize that the 24th Tīrthaṁkara was the last in this cycle of earthly existence and that it is impossible today to attain the highest spiritual level. The Jaina saints with all their rigorous discipline are still in bondage to physiology, although they demonstrate every day the possibility of reducing such bondage to the absolute minimum. Mahāvīra is essentially interesting from the psychological point of view as the incarnation of Will Power, Spiritual Will in its purest form.

Ahiṁsā is a principle of universal love, for the single purpose of transforming human nature from the animal plane into a spiritual sphere such as all historic religions tried to promote. Jainism served as a ferment in the history of India, fertilizing the noblest elements in Indian character. Although the Jaina communities have degenerated and share in the moral decay of mankind, Mahāvīra's personality shines high above the vulgarity of our age and deserves to be recognized as one of the greatest sages of all history.

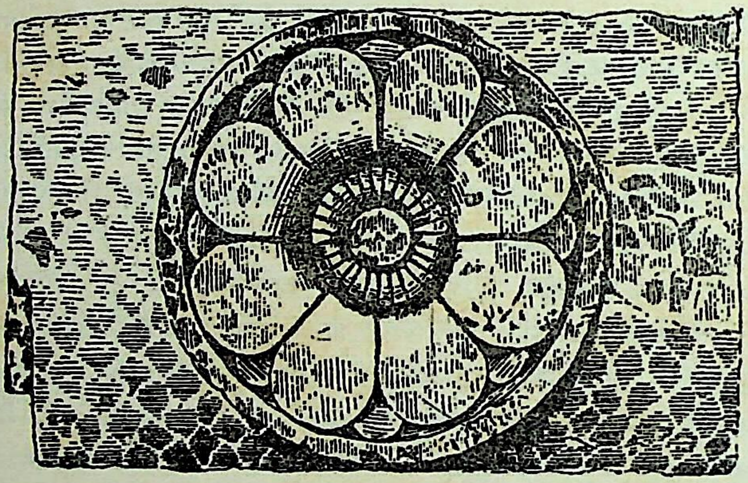

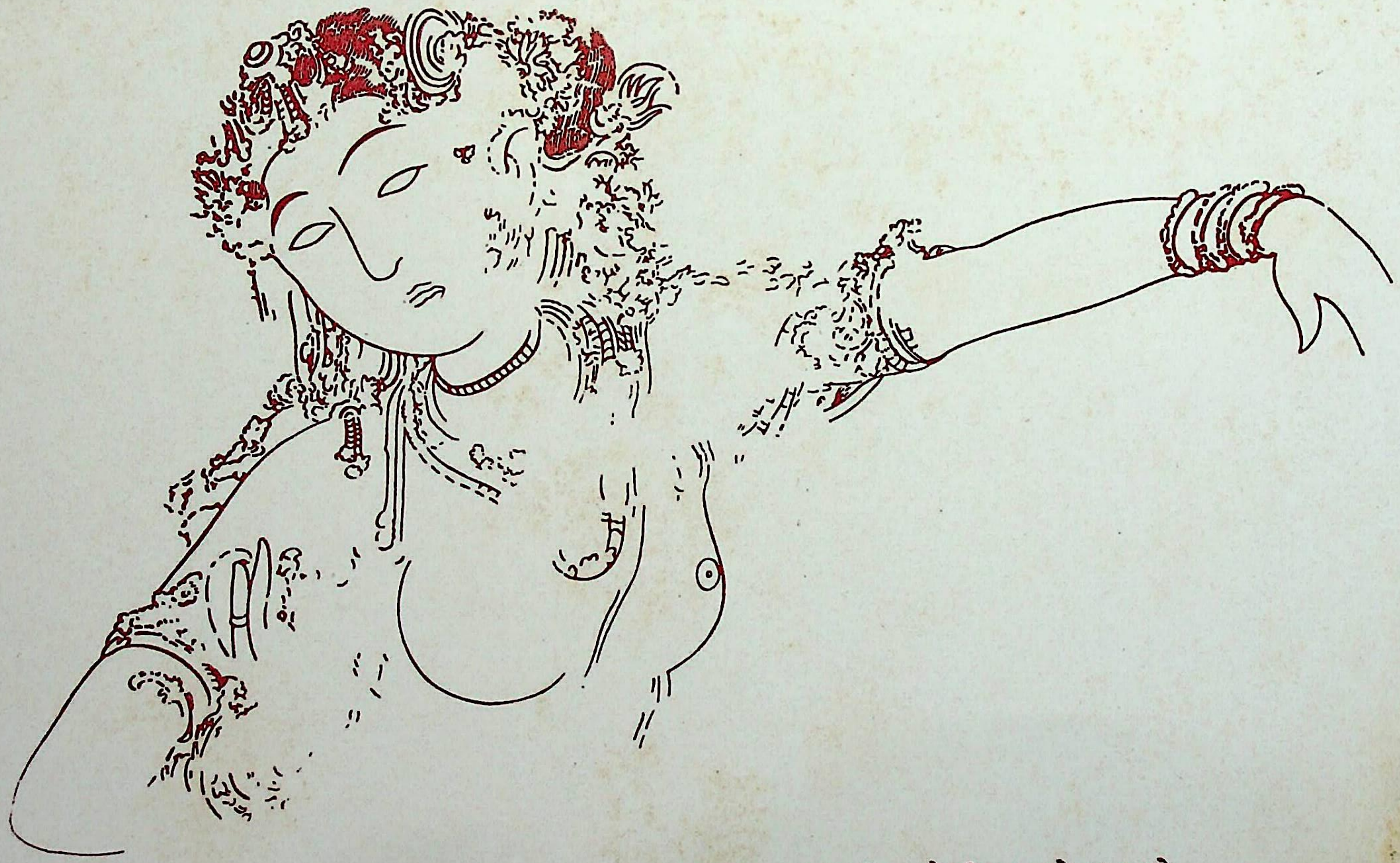

नर्तिका : सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनुं विश्वविख्यात रंगीन चित्र : जैनाश्रित कळानो एक नमूनो

Painted figure of a dancing girl on pillar of Sittannavasal temple (Pudukota), c. 7th Century

[कॉपीराइट : आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ]

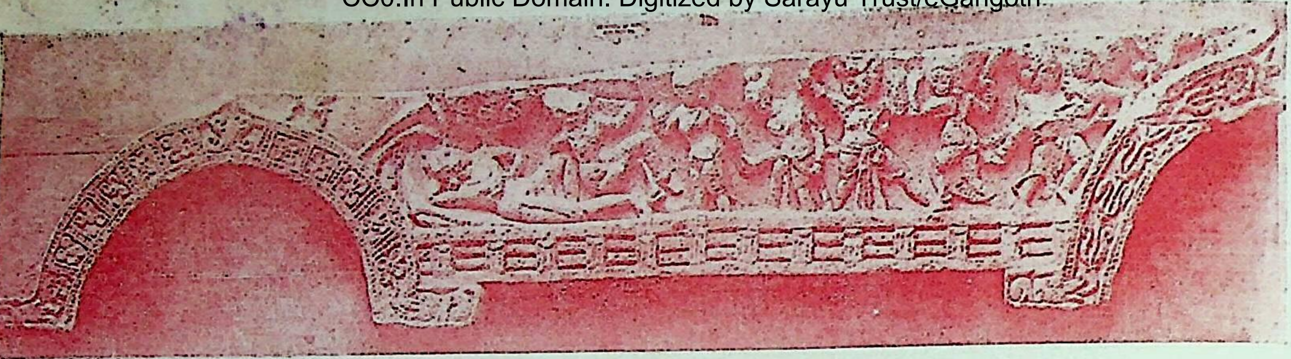

उदयगिरिनी गणेशगुफानी केवाळनो नमूनो

Part of a frieze from Ganeśagufā, Udayagiri

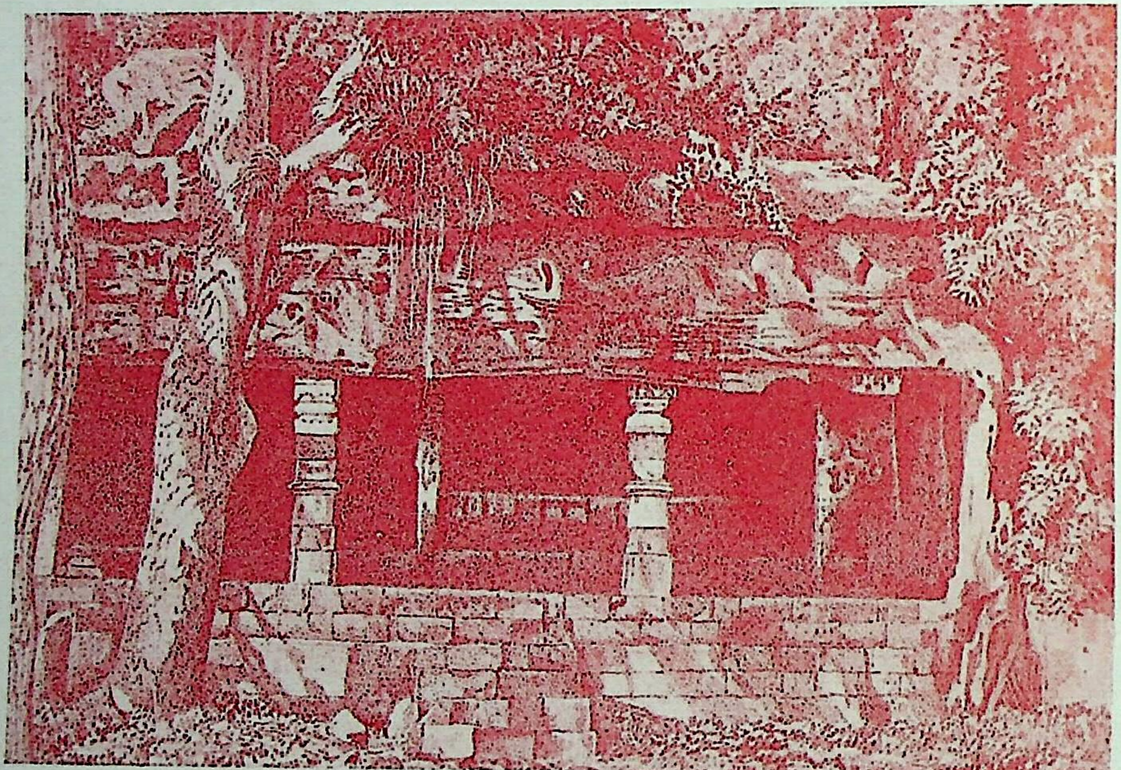

खंडगिरि उपरनी जैन-गुफा

Jaina Gufā, Khaṇḍagiri

उदयगिरिनी रानिगुफानी केवाळनो नमूनो

Part of a frieze in the upper verandah of Ranigufā, Udayagiri

A HISTORICAL OUTLINE OF THE LANGUAGES OF WESTERN INDIA

PROF. K. B. VYAS, M.A., F.R.A.S.

I

There are several languages spoken in Western India, of which Gujarātī, Western Rājasthānī, Māḷavī, Cutchī, Sindhī and Koṅkaṇī are the principal ones. Of these Cutchī and Sindhī are allied and so are Gujarātī, Rājasthānī and Māḷavī. Koṅkaṇī, however, stands apart. It has no affinity with its northern neighbours. In this brief historical outline of the languages of Western India, we shall restrict ourselves mainly to Gujarātī which is admittedly the most outstanding and the richest of these languages.

The area in which Gujarātī is spoken may be roughly outlined thus:— In the north, Gujarātī is spoken as far as Cutch, where it is the court-language and the language of culture. From there it extends to the north up to Mithi, 30 miles to the North of the desert of Cutch. From here it extends to the East to Deesā, Pālaṇpur, and Mount Ābu. Beyond Mount Ābu, the speech is Gujarātī or its dialectal form mixed with Mārwāḍī. From this northernmost point, the boundary of Gujarātī descends south-eastward including within itself Mahikānṭhā, Iḍar, Dohad and Luṇāwāḍā, Chhoṭā Udepur and Rājpiplā. To the east and south of the Panchmahāls, Chhoṭā Udepur and Rājpiplā, Gujarātī slowly merges into the Bhillī dialects. From Rājpiplā the boundary sharply descends southward covering the entire Surat District and a major portion of the Dāngs where it touches the area of Khāndeśī. From here further south upto Umbergāon and Ḍahāṇu, Gujarātī is spoken as the principal speech. Beyond this to the south the Koṅkaṇī language is spoken which is claimed to be a dialect of Marāṭhī.

These are then the limits of the area of the Gujarātī speech—from Mount Ābu in the north to the Dāngs and Umbergāon in the south, and from Dvārkā in the west to Dohad in the east. Roughly it includes the whole of Saurāṣṭra and almost the entire northern division of the Bombay State which is popularly known as Gujarāt.

The number of persons speaking Gujarātī in Gujarāt and Saurāṣṭra alone comes to over 1,33,00,000. To these must be added 35,00,000 speaking

Gujarātī in the border-lands of Gujarāt and in Cutch. Gujarātī is also the speech of a large and influential section of the population in Bombay. The Gujarātī-speaking population is not negligible in Calcutta, Karachi, Madras, Nagpur, Hyderabad and other important commercial and industrial centres of India. Gujarātī colonies are also to be found in Burma, South Africa, East Africa, Indonesia, and several other parts of the world, where they speak Gujarātī and follow Gujarātī traditions and culture.

II

Gujarātī is thus a very important language indeed both culturally and politically on the western coast-line of India. It is one of the few languages of the world which has a continuous history with full documentary evidence for every stage of its evolution, from the time of its inception right up to the present age. From about 1200 A.D., the date of the first Gujarātī work discovered so far, till the time of the advent of the English when printing was introduced, we find countless works belonging to various subjects composed in Gujarātī. They have been preserved in the various Jaina Jñāna-Bhaṇḍāras or manuscript-libraries attached to Jaina temples and Upāśrayas. Several important cities of Gujarāt are celebrated for their rich manuscript-libraries dating from very early times. In Pātaṇ alone, there are Bhaṇḍāras which house no less than 40,000 old manuscripts of different ages, some of which are very rare on account of their antiquity, wealth of illustrations and historical data. Cambay is known for its collection of palm-leaf manuscripts. The other cities in Gujarāt too have such manuscript-libraries, but the rarest manuscript-collection is found to have been preserved in the Baḍā Bhaṇḍāra of Jesalmer situated deep in the heart of Rājasthān. Only a part of this great store of ancient literature, both religious and secular, has come to light so far. Numerous works of great antiquity and literary merit are still awaiting publication.

The fact that Gujarāt was the great commercial centre of India from early times and enjoyed comparative peace and political security for long periods, contributed to the development of the Gujarātī language and literature in no small measure. In this process of development, as we shall presently see, Gujarātī came in contact with several foreign languages and cultures like the Persian, Arabic, Portuguese and English, and was influenced by them to a certain degree.

III

It would be very interesting to trace the history of the language of Gujarāt from the earliest times. We must, however, remember that in earlier times the boundaries of Gujarāt were not the same as they are today. Northern Gujarāt and Southern Rājasthān along with a part of Māḷvā then formed the territory known as the Gurjara deśa. Southern Gujarāt was then known as Lāṭa and remained for a long time under the influence of the south.

Situated as the gateway of India, maritime Gujarāt witnessed from early times several immigrations—of Greeks, Bactrians, Śakas, Kṣatrapas, Gurjaras, Hūṇas, Arabs, Turks and Mughals, many of whom made it their home.

In the earliest times known to history the language spoken in Gujarāt and Saurāṣṭra was a dialect the conventionalized form of which is known as Vedic Sanskrit. But of this speech we have no written evidence before the Aśokan Inscriptions.

Then—i.e. from 1000 B.C. to 600 B.C.—three or four dialects existed: Udīcyā or the northern, Madhyadeśīyā or the midland, Prācyā or the eastern, and the Pratīcyā or the western. The northern dialect was the nearest to the Vedic and was standardized by Pāṇini in the present-day classical Sanskrit. From the early eastern speech developed the Prakrit dialect spoken by Buddha and Mahāvīra, which was popularly known as the Māgadhī Prākrit. A close examination of the inscriptions of Aśoka (250 B.C.) reveals, besides the eastern Māgadhī, at least two other distinct dialects—the northern, allied to Paiśācī, and the midland or western, allied to Śaurasenī. The western dialect as recorded in the rock-edicts of Girnār contains several linguistic traits (such as the preservation of 'r' in consonant-clusters) which characterized Gujarātī speech from very early times.

These spoken Prakrit speeches fossilized in course of time and resulted in a classical standardized form of common Prakrit which became the medium of literature and was treated by grammarians as the principal Prākrit. This form of Prākrit became later known as Mahārāṣṭrī Prākrit or the language of a large portion of the country (Mahārāṣṭra). The popular speeches of the north, midland and east came to be considered as the dialects of this speech and were termed as Paiśācī, Śaurasenī and Māgadhī. The language Avantijā or Āvantī which Bharata mentions in his *Nāṭyaśāstra* must be the speech then current in Śaurāṣṭra, Ānarta, Lāṭa and Maru (i.e. the present-day Gujarāt and Rājasthān). This speech may have been identical with or closely allied to the Śaurasenī of the Prākrit grammarians.

IV

From these early Prākrit speeches developed the Apabhraṁśa, the language current in a considerable portion of northern India, from the 5th to the 10th century A.D. Some philologists lean to the view that there existed several regional Apabhraṁśas from which New Indo-Āryan speeches or Modern Indian Languages gradually evolved. On the other hand, other authorities believe that there was only one Apabhraṁśa current in Western India with slight dialectal variations.

From the evidence of early grammarians and rhetoricians, Apabhraṁśa has been connected with the Ābhīras. It was that speech that developed into Apabhraṁśa. Their abode extended from the Indus delta to Cutch and Saurāṣṭra. They adopted the general Prākrit language, vigorously infusing into it the characteristics of their own speech, resulting in a powerful speech known as Apabhraṁśa. Three varieties of Apabhraṁśa are mentioned, but Hemacandra, the greatest and the most celebrated grammarian of the Middle Indo-Aryan languages, treats Apabhraṁśā as one homogeneous speech, and cites instances from the current folk-literature of the period. This Apabhraṁśa is basically the Apabhraṁśa of Gujarāt (the Gurjara Apabhraṁśa), though there are traces of dialectal variations in this material. Some call this Apabhraṁśa Śaurasena, while others term it as Nāgara.

Apabhraṁśa too became, in course of time, a standard stylized speech in which considerable literature was composed. For instance, works like *Paumacariaya, Kumārapālacarita, Bhavisayatta-Kahā, Vilāsavaī-Kahā* are all composed in Apabhraṁśa. But linguistically, the specimens from folk-literature cited by Hemacandra in *'Siddha Hemacandra'*, his Prākrit Grammar, reflect the speech more faithfully than the stylized form used in literary works. These verses of Hemacandra are remarkable also from another point of view. Some of them reveal a striking freshness of imagination and a rare poetic charm. Several of these verses are erotic; a few are didactic; while a large number of them are heroic.

The following erotic verses have a rare poetic charm about them :

ढोल्ला सामला धण चंपावण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ॥
(Ḍhollā sāmalā dhaṇa caṁpāvaṇṇī/
Ṇāi suvaṇṇareha kasavaṭṭai diṇṇī//)

"The husband is dark in complexion, while the wife is fair as a *campaka* flower : (she appears) like a streak of gold on the black touch-stone."

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वल्या महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥
(Vāyasu uḍḍāvantiae piu diṭṭhau sahasatti/
Addhā valayā mahihi gaya addhā phuṭṭa taḍatti//)

"While frightening away the crows the lady suddenly saw her husband coming home; half of her bracelets slipped down (while waving away the crow before she sighted her husband), while the remaining cracked with a noise (as a result of the joy which filled her when she saw her husband)."

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥
(Jai keṁvai pāvīsu piu akiyā kuḍḍa karīsu/
Pāṇiu navai sarāvi jivaṁ savvaṅge paisīsu//)

"If ever I meet my husband again, I shall do a wonderful thing never done before : I shall enter into all his limbs even as water permeates a new earthen vessel."

The heroic verses cited below from Hemacandra's Apabhraṁśa fully reveal the glory that was early Gujarāt :

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गयकुंभइं दारन्तु ॥
(Saṅgarasaehiṁ ju vaṇṇiai dekkhu amhārā kantu/
Aimattahaṁ cattaṁkusahaṁ gayakuṁbhaiṁ dārantu//)

"Behold my husband : whose prowess requires mention of hundreds of battles; who breaks the temples of elephants excessively maddened and beyond all control."

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥
(Bhallā huā ju māriā bahiṇi mahārā kantu/
Lajjejjantu vayaṁsiahu jai bhaggā gharu entu//)

"It is well, O Sister, that my husband is killed in battle; for, if he had fled the battlefield and returned home I would have died of shame among my women-friends."

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥
(Jai bhaggā pārakkaḍā to sahi majjhu pieṇa/
Aha bhaggā amhahaṁ taṇā to teṁ māriaḍeṇa//)

"If enemies are fleeing (from the battlefield), it must be, O friend, because of my husband's valour; but if our men are running away, then it must be that he has been killed in the battle."

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किजउँ कन्तस्सु ॥
(Pāi villaggī antraḍī siru lhasiuṁ khandhassu/
To vi kaṭārai hatthaḍau bali kijjauṁ kantassu//)

"The entrails hang down and entangle the feet; the head, severed from the trunk, is drooping sidewards; yet the hand is firmly on the dagger—I bow to this husband of mine."

The heroism of these verses captures our imagination and wins our heart.

V

From Apabhraṁśa slowly evolves the New Indo-Āryan Languages. This is not surprising because Apabhraṁśa was always so near and akin to the rising regional languages than to the Prākrit which was nearer to Sanskrit. For instance, the following Apabhraṁśa verse easily turns into old Gujarātī with only slight phonological changes:

सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥
(Siri jara-khaṅḍī loaḍī gali maṇiyaḍā na vīsa/
To vi goṭṭhaḍā karāviā muddhāe uṭṭha-baīsa//)
(Apabhraṁśa)

सिरि जीर्ण-खंडी लोबडी गलि मणियडा न वीस ।
तोइ गोठडा कराविया मुग्धाए ऊठबईस ॥
(Siri jīrṇakhaṅḍī lobadī gali maṇiyaḍā na vīsa/
Toi goṭhaḍā karāviyā mugdhāe ūṭhabaīsa//)
(Old Gujarātī version)

"Though she has only a tattered *lobaḍī* (woollen cloth) on her head, and hardly twenty glass-beads round her neck—still the beautiful maiden agitated the young men of the hamlet."

It is not easy always to demarcate the point where Apabhraṁśa ends and old Gujarātī begins. There are, however, some characteristics such as the simplification of conjunct consonants, substitution of post-positions for inflections, and most of all the use of the auxiliary verb *achai-chai,* the precursor of the modern Gujarātī *che,* which indicate the termination of Apabhraṁśa and the evolution of Gujarātī.

VI

The earliest literary work in old Gujarātī that has come to light so far is the *Bharateśvara Bāhubalī Rāsa* of Śālibhadra Sūri, composed in V.S. 1241 (1185 A.D.). The following quotation will reveal how the new speech has just left the Apabhraṁśa stage and started on its career towards modern Gujarātī.

रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी,
नमवि निरंतर गुरुचलणा ॥
भरह नरिंदह तणुं चरित्तो, जं जुगी वसहांवलय वदीतो,
बार वरस बिहुं बंधवहं ॥
हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं, तं जनमनहर मनआणंदिहिं,
भाविहिं भवीयण संभलेउ ॥

(Risaha Jiṇesara paya paṇamevī, sarasati sāmiṇi mani
samarevī, namavi norantara gurucalaṇā//
Bharaha narindaha taṇuṁ caritto, jaṁ jugi vasahāṁvalaya
vadīto, bāra varasa bihuṁ bandhavahaṁ//
Huṁ hiva pabhaṇisu rāsaha chandihiṁ, taṁ jaṇamanahara
manaāṇandihiṁ, bhāvihiṁ bhavīyaṇa saṁbhaleu//)

"Having bowed to the feet of Ṛṣabha Jineśvara, having remembered Goddess Sarasvatī, and saluting always the feet of the *guru;*

"The life history of King Bharata, famous in this world from times of yore, (the war between) the two brothers which lasted for twelve years;

"(This) I shall sing in the form of a *rāsā* in verse, so fascinating to the minds of people; may the religious-minded hear it with delight!"

In the century which followed, Gujarātī was developed further and became the vehicle of over a dozen works in poetry. The following verse in the *Revantagirirāsu* of Vijayasenasūri which describes Saurāṣṭra, will indicate the extent to which the language has evolved.

> गामागरपुरवणगहण सरिसरवरि सुपएसु ।
> देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठदेसु ॥
> जिणु तहिं मंडलमंडणउ मरगयमउडमहंतु ।
> निम्मलसामलसिहरभरे रेहइ गिरि रेवंतु ॥
>
> (Gāmāgarapuravaṇagahaṇa sarisaravari supaesu/
> Devabhūmi disi pacchimaha maṇaharu soraṭhadesu//
> Jiṇu tahiṁ maṇḍalamaṇḍaṇau maragayamauḍamahantu/
> Nimmalasāmalasiharabhare rehai giri Revantu//

"Attractive with its towns and villages, imposing because of its forests, and charming on account of its rivers and lakes, is the beautiful Soraṭha deśa, the abode of gods, situated in the western direction.

"There stands out the charming Revanta mountain, the ornament of the world : its dark summits forming a majestic emerald green crown."

With the dawn of the next century (14th century) Gujarātī emerges into the limelight as a fully developed mature language with immense possibilities. Several works are composed in this period, some of which reveal a rare poetic beauty. Of these works the anonymous *Vasanta Vilāsa*, the *Thūlibhadda Phāgu* of Jinapadmasūri, the *Neminātha Phāgu* of Maladhārī Rājaśekharasūri, are most outstanding. The following description of spring found in *Vasanta Vilāsa* is singularly beautiful both in its style and in its conception :

> कामुकजनमनजीवनु ती वनु नगर सुरंग ।
> राजु करइ अवभंगिहि रंगिहिं राउ अनंगु ॥
> अलिजन वसइं अनंत रे वसंतु तिहां परधान ।
> तरुअर वासनिकेतन केतन किशलसंतान ॥
>
> (Kālā bhūñcha teḍīyā bhoī, gāḍe liṅga caḍāvyauṁ/
> Rāju karai avabhaṅgiṁhi raṅgihiṁ rāu anaṅgu//
> Alijana vasaiṁ ananta re vasantu tihāṁ paradhāna/
> Taruara vāsaniketana ketana kiśalasantāna//)

"That forest, the life of the hearts of lovers, is (like) a charming city; (there) rules in full splendour the King Anaṅga (the God of Love).

"Innumerable bees dwell there; spring is there the minister; the trees are the dwelling places, and the mass of tender sprouts the banners."

Another remarkable work composed towards the close of this century is the *Raṇamalla Chanda* of Śrīdhara Vyāsa, written in a style which is the parent of the *Dingala* or Cāraṇī poetry.

चडि चंचलि चाउद्दिशि चंपि थिरथिर थाणदार अरि कंपिइ ।
कमधजकरि धरि लोह लहक्किइ बिबहरि बूंब बूंब बहक्किइ ॥
निशि खंभनयर उध्रकिइ धुंधलि धुंस पडिइ धुलक्किइ ।
प्रहि पोकार पडिइ पट्टणतलि रे रणमल्ल धाडि तव संभलि ॥
(Caḍi cañcali cāuddiśi campi thirathira thāṅadāra
ari kaṁpii/
Kamadhajakari dhari loha lahakkii bibahari
būṁba būṁba bahakkii//
Niśi khaṁbhanayara udhrakii dhundhali dhuṁsa
padii dhulakkii//
Prahi pokāra paḍii Paṭṭaṇatali re Raṇamalla dhāḍi
tava saṁbhali//)

"When he mounts his horse and invades the four quarters, the generals of the enemies tremble with fear. As soon as the sword flashes in the hand of Kamadhajja (Rāṭhoḍa) Raṇamalla, wails resound in the harems of the enemies.

"At night Cambay trembles; in the early morning Dholkā is struck with terror; in the morning Pāṭaṇ wakes up with screams—when, O Raṇamalla, people hear of your attacks."

The 15th century is remarkable for its wealth of old Gujarātī literature. Among the works of this century the pre-eminent in literary merit is the *Kāhnaḍade Prabandha* of Padmanābha, which is a rare saga of Rajput heroism that has ever come down in the Indian Languages. The verses given below from that great mediaeval epic will testify to its great poetic beauty.

काला भूंछ तेडीया भोई, गाडे लिंग चडाव्यउं ।
आगलि घणी जोतरी त्रीयल, ढीली भणी चलाव्यउं ॥
आगइ रुद्र घणइ कोपानलि, दैत्य सवे तइं बाल्या ।
तइं पृथ्वी मांहि पुण्य वरताव्यां, देवलोकि भय टाल्या ॥
तइं बालिउ काम त्रिपुर विध्वंसिउ, पवनवेगि जिम तूल ।
पद्मनाभ पूछइ सोमईया केथूं करयउं त्रिसूल ॥
(Kālā bhūñcha teḍīyā bhoī, gāḍe liṅga caḍāvyauṁ/
Āgali ghaṇī jotarī trīyala, Ḍhīlī bhaṇī calāvyauṁ//
Āgai Rudra ghaṇai kopānali, daitya save taiṁ bālyā/
Taiṁ Pṛthvī māṁhi puṇya varatāvyāṁ, devaloki bhaya
ṭālyā/

Taiṁ bāliu Kāma Tripura vidhvaṁsiu, pavanavegi jima tūla/
Padmanābha pūchai Somaīyā Kethūṁ Karayauṁ trisūla//)

"Dark Bhois were called for; and the pieces of Śiva's liṅga were hauled up in the cart. Several pairs of bullocks were made to draw it; it was thus removed to Delhi.

"O Rudra, in the times of yore you consumed the demons in the fire of your wrath; you spread *puṇya* in the world and removed the terror which oppressed the gods.

"You burnt down Kāma and destroyed Tripura just as wind blows away cotton. Padmanābha (the poet) asks you, O Somanātha, where have you laid up your *triśula* now ?"

The other outstanding poets of this period are Narsiṁha, the poet-saint, and Mirāṁbāi the immortal poetess of Rājasthān, whose poetry is the cherished heritage of India; Bhālaṇa, the celebrated scholar who set *Kādaṁbarī* to verse; and the great Jaina writers Lāvaṇyasamaya and Māṇikyasundara Sūri. Of the latter writers Māṇikyasundara Sūri is celebrated for his remarkable prose classic *Pṛthvīcandracaritra,* which is an ornament of the Old Gujarātī prose. It stands unique in the entire Old Gujarātī literature on account of its dignified and mellifluous prose-style and the remarkable beauty of its composition. Numerous specimens of Old Gujarātī prose have come to light, but of the ornate literary prose used by scholars of the mediaeval times, *Pṛthvīcandracaritra* is almost the solitary example.

VII

From the 16th century A.D. Gujarātī assumes almost its present linguistic form. This period is remarkable for its wealth of literature—the well-known *Ākhyānas* of Premānanda, reflecting the contemporary Gujarātī life, the poetical romances of Śāmala, reminding us of the *Kathāsaritsāgara* and the *Arabian Nights*, and the great philosophical poems of Akho, and the delicately melodious and almost etherial lyrics of Dayārām.

From the middle of the 19th century Gujarātī language and literature undergo a fateful change on account of the influence of the English language and literature. The prose now became, under the influence of English, more cultivated and complex in nature, capable of expressing involved thoughts. The prose style could now vary from the declamatory and the narrative to the reflective. In content, the literature, which was so far restricted only to religion and allied topics, now embraced every topic on earth. In respect of form, lyrics, ballads, sonnets and elegies in poetry, and essay, fiction, short story, drama, autobiography, and travel literature now came into existence as a direct consequence of contact with western literature. The still newer forms of literature like the short story, one-act plays and radio-plays have recently come into greater vogue and achieved success.

Such is modern Gujarātī language and literature.

VIII

Besides its standard form in which literature is composed Gujarātī has several interesting dialects which are only spoken forms of speech, though almost universally current among the masses of Gujarāt. They are the Kāṭhīāwāḍī, Paṭṭanī or north Gujarātī, Carotarī or middle Gujarātī, and Suratī or south Gujarātī.

The Bhils on the eastern border speak their own dialect—the Bhillī, which bears a close affinity to Gujarātī. To the north beyond Mount Ābu is spoken a language which has traces of Gujarātī within its predominantly Rājasthānī corpus. To the south-east in the Dāṅga area the speech is an intermixture of Gujarātī and Marāṭhī—predominantly Gujarātī on the western side, and leaning more to Marāṭhī on the eastern side.

There are also racial dialects of Gujarātī which are spoken by particular communities. For example, Kāṭhis and Āhirs of Saurāṣṭra speak an archaic dialect nearer to Apabhraṁśa than to modern Gujarātī. The Khārvās of the coast-line of Saurāṣṭra have their special dialect known as Khārvī. Parsīs speak Parsī-Gujarātī, while Vohrās of north Gujarāt, Memoṇs of Saurāṣṭra, and Bāraiyās and Dhāraḷās of middle Gujarāt speak Gujarātī with their characteristic dialectal traits. Some of these dialects are given a place in modern Gujarātī creative literature—particularly in the short-story and fiction—in order to impart local colour to the work.

Gujarātī in its long history stretching over a thousand years as outlined above came in contact with several external influences and assimilated some of them. Thus it is that Arabic words like *umdā*,* *insāf*, *javāb*, *kharca*, *taiyār*, *makān*, *vatan*, *śarbat*; and the Persian words like *gulāb*, *gumāsto*, *cālāk*, *jakham*, *dago*, *dastāvej*, *darji*, *fudino*, *bakhṣīs*, *bāju*, *majūr*, *hajār*, etc.; and the Turki words like *kalgī*, *kābu*, *cakmak*, *camco*, *jājam*,

---

* These and other loan-words are reproduced in their characteristically Gujarātī form.

top, begum, mughal; and the Portuguese words like *āfūs, ananās, ingrej, ijaner, kāju, tamākū, baṭāṭā, mej, mosaṁbi*, have found a place in Gujarātī and have been almost completely naturalized. More recently Gujarātī borrowed several loan-words from English such as *office, appeal, court, doctor, pencil, boot, master, station, hotel*, etc., and gave them a completely indigenous Gujarātī form. This process of borrowing continues even to-day as Gujarātī does not hesitate in borrowing several words from Indian or foreign languages if they are found to express sense in a particularly effective manner in reference to corresponding words of indigenous origin. Herein lies its strength, because this process increases the potentiality of the language. Gujarātī has also improved by being relieved from a surfeit of Sanskrit words which marred its innate beauty and made it heavy and pedantic as in the writings of some of the scholars of the latter part of the last century. This purification owes its origin to Gandhiji. Gandhiji insisted on using the simple and forceful speech of the masses living in the country-side as the standard form of language to be used in all literary compositions. Gandhiji demonstrated in his world-famous 'Autobiography' the inherent strength of this simple speech which could be adapted to the highest literary purposes. A whole school of writers followed his foot-steps and wielded the folk-speech with considerable power and charm even in serious literary works of philosophy, economics, politics and social sciences.

This is the Gujarātī of to-day, full of strength and promise, awaiting a future even more glorious than its hoary past.

JAINISM : A WAY OF LIFE

SHRI B. P. WADIA

> *If one is always humble, steady, free from curiosity and deceit; if he abuses nought; if he holds not to his wrath; if he listens to friendly advice; if he is not proud of his learning; if he finds no fault with any or ought; if he is patient with friends; if he speaks well even of a bad friend when he is absent; if he abstains from quarrels; if he is polite, gracious, calm and endeavours to gain enlightenment—then he is named "the well-behaved".*
>
> —*Uttarādhyayana Sūtra*

The two wars have made the world very different. Those of us who lived and laboured before 1914 and after 1918 saw a great change in human outlook. With the end of the second war a different kind of world emerged in which the human individual has been deprived of his initiative to a very great extent. Karl Capek's visionary robot of the twenties is now strutting on the world stage. Men are not able to call their souls their own; they are made to think along lines drawn for them; they are invited to feel and use emotions for the glory of their State; the citizen in many countries exists for the benefit of his own government and his personal life is greatly narrowed and restricted. Hitler, who is reported to have committed suicide after his defeat, seems to have emerged a victor. Hitlerism is to the fore in the countries which won the war. Russia's roots in totalitarian soil have gained strength. The concept of the Welfare State is founded upon the idea that what is good for or bad for the citizen is to be decided by the State. What does he know about his own welfare !

The dignity of the human individual has fallen. Alas, man himself has contributed substantially to the loss of his liberty; he has allowed himself to be cajoled and pushed into the almost slavish position which now is his. He has done this for the most part not self-consciously. The starting point is traceable to his false attitude to his religion. Loss of knowledge of religion and its true principles has brought in blind belief, superstition and irreligious living. Instead of becoming a way of life man's religion has become largely ritualistic observances, gesticulations and mummery. His spiritual and secular life are two different compartments. He is exploited by the politician today because he has allowed himself to be exploited by his priest for numerous yesterdays.

A better world will not be built until a sufficient number of men and women turn away from the outer religion of rites and ceremonies to the inner religion of life. Not church-going but living by the precepts of the Sermon on the Mount constitutes true Christianity. And what is true of Christianity is equally true of every religion, including Jainism.

Time is precious; we cannot afford to neglect or to postpone the refashioning of our religious life. By "we" the human individual is meant. Popes or purohits or sadhus are not to be depended upon for religious reformation. They have their own vested interests. Priests are the opponents of the Prophets and the human individual needs Mahāvīra and the Tīrthaṅkaras, and their peers of other religious schools. Men and women have to recognize that true religion is the Way of Life. What they feel and think, what they say and do must be according to the precepts of the Elder Brothers, the Christs, the Buddhas, the Tīrthaṅkaras. Along this line alone must true religious renovation take place.

Is Jainism capable of imparting instruction in the science and art of living the life ? We answer—Yes; emphatically—Yes. Of all the existing formal religious creeds Buddhism and Jainism contain the very best elements to enable men and women most promptly to become religious in the true sense of that word. It must be remembered, however, that both of these have a holy and hoary lineage.

The duty of the Jainas is to uphold the pure teachings of Mahāvīra and His illustrious predecessors. The world of today is in dire need of the moral precepts of those mighty philanthropists. The Jainas can do this, if a few Jainas, both men and women, combine to study together their own religious lore with a view to the personal application of the grand precepts, and then to promulgate by the spoken and written word what they have learnt, understood and practised. The old sayings and propositions have to be shown to be practical and profitable. The high standard of Jaina living must be shown to be superior to a standard of living depending on gadgets and the consuming of rich food and questionable drinks. The Jaina standard of high living would consist in simple living founded upon noble thinking.

Let us turn and point to some of the teachings of Jainism which are applicable even under modern conditions and which carry within themselves the seeds of betterment not only for the individual practitioner but for the masses also. This war-torn world, governed by men of ambition and greed, will be saved in spite of itself by men of peace who carry in their hearts the instruction of the sages.

Ahiṁsā Paramo Dharmaḥ
Non-Violence is the Highest Religion.

The central teaching of Jainism may be quoted in the words of *Puruṣārtha Siddhyupāya* : "*Ahiṁsā* is the non-appearance of attachment and other passions. Their appearance is *Hiṁsā*—violence."

This is called "the summary of the Jaina scripture."

In our personal life, as in collective life everywhere, violence, open or disguised, is at work. War will never be banished and Peace will never be ushered in while violence courses in men's brains. Jainism makes a unique contribution not in proclaiming a Religion with Non-Violence as its centre, but in fully elaborating the technique of becoming non-violent. This is what the world needs today. There is a genuine appreciation of Gandhiji's Satyāgraha; but to understand and live it, some wise practical instruction is necessary. Similarly the creed of Ahiṁsā held up by Jainism is known to the world at large. But the world needs men and women who have practised *Ahiṁsā*, who live by it daily in all the affairs of life. Jainism has precepts which the world will more readily and enthusiastically accept when these are demonstrated by a few men and women who live the precepts without becoming monks or nuns.

The world of today does not need orders of monks and nuns; people are not willing to abandon the ties of home for those of heaven; they want to rise in their minds and hearts heavenward and live in the world to permeate it with the immortal influence. Therefore it is necessary for Jaina men and women to transform their homes into *Havalis* where the Power and the Learning and the Compassion of Mahāvīra and His illustrious predecessors can shine.

Next to the central doctrine of Ahiṁsā Jainism facilitates a life of self-exertion because it rejects logically the pernicious belief in an anthropomorphic personal God. Believers in an extra-cosmic personal God naturally fall into the sin of dependance on such a God, pray to Him, try to propitiate Him and seek favours from Him, thus debasing their moral propensities and their willpower. No blind believer in a personal God can say as the *Ratna-Karaṇḍa-Śrāvakācāra* asserts :—"A dog becomes a Deva by virtue. A Deva becomes a dog by vice. From Dharma a living being attains prosperity and even such grandeur as beggars description."

If Jainism rejects the false doctrine of the personal God, it holds aloft the mighty and majestic truth of men becoming Perfect and Immortal God-Men, Tīrthaṅkaras—those who have crossed over the ford. Not god and gods and godlings teach and help mortals, but Jinas, those who have conquered their mortality by destroying ignorance and passion. What Tīrthaṅkaras have done, men can do today.

My Jaina brothers, you need to activate your inherent faith that Mahāvīra and the other 23 Jinas are alive and are able to help us. A more penetrating consideration into the subject of Tīrthaṅkaras as Living Men who now and here love and labour for humanity will enlighten your faith and enable you to help yourselves and humanity in a rich way.

The Jaina community is well known for its wealth; it lacks not the spirit of charity. It has used its millions of rupees for alleviating suffering and misery; it has also not overlooked the spreading of the wealth of the Jaina-Dharma by publishing its texts and tomes; but something more fundamental and vital needs to be done. We need living of the Dharma not by monks but by lay men, not only in secluded monasteries but in homes, in shops and marts. To the financial gifts and the spreading of books which aid the human mind, should be added the active and vital power which emanates from pious men and women who study the lofty philosophy of the Jinas and practise its tenets. What does the *Uttarādhyayana Sūtra* say? "Self is the one invincible foe, together with the four cardinal passions, (viz. anger, pride, deceit, and greed) making five, and with the five senses making ten."

Pride is the seed from which sprout numerous vices. It is the first-born of Egotism. The *Sūtrakṛtāṅga Sūtra* refers to sins committed by the proud; pride of caste, of family, of beauty, of intelligence, of success, of power, even pride of knowledge and, note, pride even of piety are condemned.

Who does not know that man has a dual nature—the lower is proud and selfish; its way of life is violent; the higher is non-violent—embodied *Ahiṁsā*. We have to fight, defeat and overcome the lower and the soldier who will wage war and vanquish the enemy is our own higher nature which is of the substance of the Holy Jinas, the Enlightened Tīrthaṅkaras. They have developed the powers of that substance; we have still to do so.

"Though a man should conquer thousands and thousands of valiant foes, greater will be his victory if he conquers nobody but himself.

"Fight with your self; why fight with external foes? He who conquers himself through himself, will obtain happiness."—*Uttarādhyayana Sūtra*

Now the *Ācārańga Sūtra* has a very strange but encouraging teaching : "He who conquers one passion conquers many. And he who conquers many, conquers one."

It is a strange law which all true mystics have pointed to : one moral weakness overcome and transmuted pushes out numerous cognate vices. Equally strange but true is the second clause. When numerous weaknesses are overcome our main, fundamental, moral and sin-creating weakness not only weakens but disappears.

Each man, each woman has in the lower, violence-fraught nature a foundational vice—pride, or lust, or vanity, or anger, or greed, or ambition, etc. For a whole incarnation the one besetting weakness works havoc. In the higher nature is wisdom with its dual aspect—knowledge and intuition (*Jñāna* and *Darśana* according to Jaina psycho-philosophy). It is by this Wisdom-Nature that the foibles, the frailties and the falsehoods of the carnal being are vanquished.

Now, in waging this greatest of all wars there comes a temptation : because we do not like to fight our own vices, the force of violence (*Hiṁsā*) inherent in our lower nature finds ways and means to gain expression and outlet and so we become violent to others. Violence in deeds and words, in emotions and thoughts. Myriad are the expressions of violence. In many ways we use violence : there is violence at home and at places of business as well as in recreation; there is civic violence; there is social and political violence; there is violence against classes and castes and creeds. National and international violence means wars. All widespread expressions of violence spring from the seed of violence in the lower man. And because we have within our carnal mind the seed of *Hiṁsā*—Violence, we attract to ourselves many types of violence from others—relatives and friends, employers and employees, and also from organized groups who use violence.

The Jaina foundational teaching is *Ahiṁsā*, and so it advocates very clearly the doctrine of "Resist not evil;" or, better-phrased, "Resist without resisting." Others may be and are violent; true Jainas are prohibited from retaliation. So, the *Daśa-Vaikālika Niryūktī* instructs definitely : "Subdue anger by forgiveness; conquer vanity by humbleness; overcome fraud with honesty; vanquish greed through contentment."

The most prolific source of violence precipitating retaliation and generating hatred is speech. Words are living messengers and should be used thoughtfully. Angry speech, falsehood, bragging and the like are bad; but more dangerous, because more subtle and unrecognizable in their evil influence, are the words of persons who use religious lore for selfish ends.

"Though many leave the house, some of them arrive but at a middling position between house-holder and monk; they merely talk of the path to perfection. The force of sinners is talking."—*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

And again says the *Uttarādhyayana Sūtra*: "Clever talking will not work salvation; how could philosophical disputation do it? Fools, though sinking lower and lower through their sins, believe themselves to be wise men."

So the greatest of all wars is with our selfish deeds, our false speech, our lustful feelings, our proud thoughts. And the warrior within, the Pure Kṣatriya, is our own spiritual soul—the possessor of knowledge and of intuitive perception. In this idea we gain an explanation as to why Mahāvīra and the other Tīrthaṅkaras were of Kṣatriya caste. The victorious Warrior attains to Brāhmaṇahood and so the *Ācārāṅga Sūtra* says that "the Noble Ones preach the Law impartially."

Now, our ordinary human nature likes to postpone the commencement of the Inner Life. When this inclination arises we must repeat the *Sūtrakṛtāṅga Sūtra*:—

"Know that the present time is the best opportunity to mend.

"The strength to start the Holy War against our lower and violent self is within.

"Freedom from bonds is in your innermost heart."

—*Ācārāṅga Sūtra*

He who does not undertake this Holy Mission is not a Jaina, though he be born of Jaina parents and observe Jaina rules of eating and drinking and such outer manifestations.

"The virtuous heroes of faith have chosen the great road, the right and certain path to perfection."—*Sutrakṛtāṅga Sūtra*

To entrench ourselves in right practice and develop right faith we must acquire the knowledge of true doctrine and, further, develop and feel devotion to those who know the Truth of *Ahiṁsā*.

Another excuse brought forward by men and women is this: "We have our obligations, our dharma to parents and children, to earn our livelihood, etc." The Jaina teachers answer: Make karma and dharma avenues to practise daily and hourly *Ahiṁsā*.

"Not desirous of fine things, he should wander about, exerting himself; not careless in his conduct, he should bear whatever pains he has to suffer.

"If beaten, he should not be angry; if abused, he should not fly into a passion; with a placid mind he should bear everything and not make a great noise.

"He should not enjoy pleasures though they offer themselves; for thus he is said to reach discernment. He should always practise what is right to do in the presence of the enlightened ones."—*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

It is fully recognized that to practise all this is most difficult. Our old habits, our educational and social upbringing etc., put many obstacles in our way but Jainism teaches that we could and should "practise the very difficult Law according to the faith." (*Uttarādhyayana Sūtra*)

And how clearcut and strong is the *Puruṣārtha Siddhyupāya* :—

"Right belief is conviction in one's own self. Knowledge is a knowledge of one's own self. Conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these?

Sometimes people think that only when a Jaina man or woman gives up the world and becomes a monk or a nun can the Inner Life be lived. That is not the teaching. The householder, who earns his livelihood, and the housewife, who is the queen of the home, can and should attain to heavenly heights. Anyway, that ought to be a new dispensation, a new way of living the higher life.

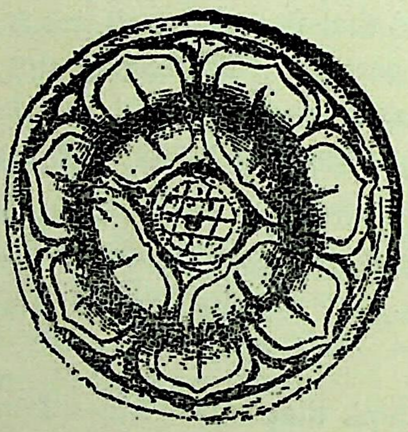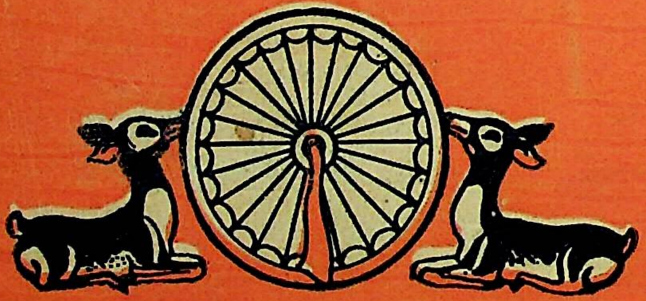This volume is published to honour the memory of a saintly teacher and reformer. The work of Shri Mahāvīra Jaina Vidyālaya owes a great debt to the Ācāryaji. As a devout follower of the great Masters of Jainism, he set an example which all of us should follow—by practising *Ahiṁsā*. Non-violence, with the Tīrthaṅkaric *Vīrya*, the dauntless energy that fights its way to the supernal Truth.